नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारों से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सान्निध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्मिलत है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरों की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

AryaMantavya
Make The Whole World Noble

यजुर्वेदभाष्यम्

परमहंसपरिव्राजकाचार्य

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितम्

संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्वितम्

प्रथमाध्यायतो दशाध्यायपर्यन्तम्

अजमेरनगरे वैदिकयन्त्रालये मुद्रितम्

(प्रथमो भागः)

संवत् १९६६

मूल्यं ४) डाक व्ययम् ।)

चारों भाग २६)

ओ३म्

॥ अथ यजुर्वेदभाष्यारम्भः क्रियते ॥

यो जीवेषु दधाति सर्वसुकृतज्ञानं गुणैरीश्वर-
स्तं नत्वा क्रियते परोपकृतये सद्यः सुबोधाय च ॥
ऋग्वेदस्य विधाय वै गुणगुणिज्ञानप्रदानुर्वरं
भाष्यं कार्य्यमयो क्रियामययजुर्वेदस्य भाष्यं मया ॥ १ ॥
चतुर्ष्यङ्केन्द्वयनिमिताह्निविक्रमसमये
शुभे पौषे मासे सितदलभविश्वोन्मिततिथौ ॥
गुरौ वारे प्रातः प्रतिपदमतीष्टं सुविदुषां
प्रमाणैर्निर्बद्धं शतपथनिरुक्तादिभिरपि ॥ २ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥ य० ३०।३।

ईश्वरेण जीवानां गुणगुणिविज्ञानोपदेशाय ह्यृग्वेदे सर्वान् पदार्थान् व्याख्यायेदानीं मनुष्येभ्यस्तेषां यथायथोपकारग्रहणाय क्रियाः कथं कर्त्तव्या इत्युपदिश्यते । तत्र यथाङ्गं यत्साधनं चापेक्षितं तत्तदत्र यजुर्वेदे प्रकाश्यते । कुतः । यावत् क्रियानिष्ठं ज्ञानं न भवति नैव तावत्केनापि सुखं जायते । विज्ञानस्य क्रियाहेतुत्वप्रकाशकारकत्वादविद्यानिवर्त्तकत्वाद्धर्मप्रवर्त्तकत्वाद्धर्मपुरुषार्थयोः संयोजकत्वात् । यद्यत्कर्म विज्ञाननिमित्तं भवति तत्तत्सुखजनकं संपद्यते । तस्मान्मनुष्यैर्विज्ञानपुरःसरमेव कर्मानुष्ठानं कर्त्तव्यम् । कुतः । जीवस्य चेतनत्वादकर्मतयास्थातुमशक्यत्वात् । नैव कश्चिदात्ममनःप्राणेन्द्रियचालनेन विना क्षणमपि स्थातुमर्हति । यजुर्भिर्यजन्तीत्यु-

क्तप्रामाण्यात् । येन मनुष्या ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति सर्वचेष्टासांगत्यं शिल्पविद्यासंगतिकरणं शुभविद्यागुणदानं यथायोग्यतया सर्वोपकारे शुभे व्यवहारे विद्वत्सु च द्रव्यादिव्ययं कुर्वन्ति तद्यजुः । अन्यत्सर्वं भूमिकायां प्रकाशितं तत्र द्रष्टव्यम् ॥ सा भूमिका चतुर्णां वेदानामेकैव वर्त्तते ॥

अस्मिन् यजुर्वेदे चत्वारिंशदध्यायाः सन्ति तत्रैकैकस्मिन्नध्याये मंत्राः संख्यायन्ते ॥

अध्यायः	मंत्रः	अ०	मं०	अ०	मं०	अ०	मं०
१	३१	११	८३	२१	६१	३१	२२
२	३४	१२	११७	२२	३४	३२	१६
३	६३	१३	५८	२३	६५	३३	९७
४	३७	१४	३१	२४	४०	३४	५८
५	४३	१५	६५	२५	४७	३५	२२
६	३७	१६	६६	२६	२६	३६	२४
७	४८	१७	९९	२७	४५	३७	२१
८	६३	१८	७७	२८	४६	३८	२८
९	४०	१९	९५	२९	६०	३९	१३
१०	३४	२०	९०	३०	२२	४०	१७

चत्वारिंशदध्यायस्थाः सर्वे मंत्रा एतावन्तः १९७५ एकोनविंशतिः शतानि पंचसप्ततिश्च सन्ति ॥

भाषार्थ—अब यजुर्वेदके भाष्यका आरंभ किया जाता है ॥ जो निर्गुण गुणपुंजसे देत सुहृत विज्ञान । प्रणतपाल जगदीश्वरहि करि प्रणामनितिहि ध्यान ॥ १ ॥ ज्ञानदापि ऋग्वेदका भाष्याभीष्ट विधाय । पर उपकार विचारिकरि शीघ्र सुवेश निधाय ॥ २ ॥ शतपथ ब्राह्मण आदि पुनि निघंटु निरुक्त निहारि । यजुर्वेद जो क्रियापर वर्णों ताहि विचारि ॥ ३ ॥ एक सहस्र नवशत अधिक विक्रमसर चौंतीस ॥ पौष शुक्ल तेरसि तिथी दिन अधीश वागीश ॥ ४ ॥ विक्रमके संवत् १९३४ पौष शुदि १३ गुरुवारके दिन यजुर्वेदके भाष्य बनानेका आरम्भ किया

जाता है ॥ (विश्वानि०) इस मंत्रका अर्थ भूमिकामें कर दिया है । ईश्वरने ऋग्वेदमें गुण और गुणीके विज्ञानके प्रकाशद्वारा सब पदार्थ प्रसिद्ध किये हैं उन मनुष्योंको पदार्थोंसे जिस जिस प्रकार यथायोग्य उपकार लेनेके लिये क्रिया करनी चाहिये तथा उस क्रियाके जो जो अंग वा साधन हैं सो सो यजुर्वेदमें प्रकाशित किये हैं क्योंकि जबतक क्रिया करनेका दृढ ज्ञान न हो तबतक उस ज्ञानसे श्रेष्ठ सुख कभी नहीं हो सकता और विज्ञान होनेके ये हेतु हैं कि जो क्रियाप्रकाश अविद्याकी निवृत्ति अधर्ममें अप्रवृत्ति तथा धर्म और पुरुषार्थका संयोग करना है । जो कर्मकांड है सो विज्ञानका निमित्त और जो विज्ञानकांड है सो क्रियासे फल देनेवाला होता है कोई जीव ऐसा नहीं है कि जो मन प्राण वायु इन्द्रिय और शरीरके चलाये विना एक क्षणभर भी रह सके क्योंकि जीव अल्पज्ञ एकदेशवर्त्ती चेतन है इसलिये जो ईश्वरने ऋग्वेदके मंत्रोंसे सब पदार्थोंके गुणागुणीका ज्ञान और यजुर्वेदके मंत्रोंसे सब क्रिया करनी प्रसिद्ध की है क्योंकि (ऋक्) और (यजुः) इन शब्दोंका अर्थ भी यही है कि जिससे मनुष्य लोग ईश्वरसे लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थोंके ज्ञानसे धार्मिक विद्वानोंका संग सब शिल्पक्रियासहित विद्याओंकी सिद्धि श्रेष्ठ विद्या श्रेष्ठ गुण वा विद्याका दान यथायोग्य उक्त विद्याके व्यवहारसे सर्वोपकारके अनुकूल द्रव्यादि पदार्थोंका खर्च करें इसलिये इसका नाम यजुर्वेद है । और भी इन शब्दोंका अभिप्राय भूमिकामें प्रगट कर दिया है वहां देख लेना चाहिये क्योंकि उक्त भूमिका चारों वेदकी एकही है ॥ इस यजुर्वेदमें सब चालीस अध्याय हैं उन एक एक अध्यायमें कितने कितने मंत्र हैं सो पूर्व संस्कृतमें कोष्ठा बनाके सब लिख दिया है और चालीसों अध्यायके सब मिलके १९७५ उन्नीसौ पचहत्तर मंत्र हैं ॥

इषे त्वेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । इषे त्वेत्यारभ्य भागंपर्यन्तस्य स्वराड्बृहतीछन्दः । मध्यमः स्वरः । अग्रे सर्वस्य ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

॥ अथोत्तमकर्मसिध्यर्थमीश्वरः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते ॥

ऋग्वेदके भाष्य करनेके पश्चात् यजुर्वेदके मंत्रभाष्यका आरंभ किया जाता है । इसके प्रथम अध्यायके प्रथम मंत्रमें उत्तम उत्तम कामोंकी सिद्धिके लिये मनुष्योंको ईश्वरकी प्रार्थना करनी अवश्य चाहिये इस बातका प्रकाश किया है ॥

इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आ प्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥ १ ॥

इषे । त्वा । ऊर्जे । त्वा । वायवः । स्थ । देवः । वः । सविता । प्र । अर्पयतु । श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय । कर्मणे । आ । प्यायध्वम् । अघ्न्याः । इन्द्राय । भागं । प्रजावतीरिति प्रजाऽवतीः । अनमीवाः । अयक्ष्माः । मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघशंस इत्यघऽशंसः । ध्रुवाः । अस्मिन् । गोपताविति गोऽपतौ । स्यात । बह्वीः । यजमानस्य । पशून् । पाहि ॥ १ ॥

पदार्थः— (इषे) अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये । इषमित्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २।७। इषतीति गतिकर्मसु पठितम् । निघं० २।१४। अस्माद्धातोः क्विपि कृते पदं सिध्यति । (त्वा) विज्ञानस्वरूपं परमेश्वरम् । (ऊर्जे) पराक्रमोत्तमरसलाभाय । ऊर्गसः। श० ५।१।२।८। (त्वा) अनन्तपराक्रमानन्दरसघनम् । (वायवः) सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः स्पर्शगुणा भौतिकाः प्राणादयः । वायुरिति पदनामसु पठितम् । निघं० ५।४। अनेन प्राप्तिसाधका वायवो गृह्यन्ते । वा गतिगन्धनयोरित्यस्मात् । कृवापा० उ० १ । १ । अनेनाप्युक्तार्थो गृह्यते । (स्थ) सन्ति । अत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमपुरुषस्य स्थाने मध्यमपुरुषः । (देवः) सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्याद्योतकः । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता । निरु० ७।१५। (वः) युष्माकं ।

(सविता) सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्य्यवान् जगदीश्वरः । (प्रार्पयतु) प्रकृष्टतया संयोजयतु । (श्रेष्ठतमाय) अतिशयेन प्रशस्तः सोऽतिशयितस्तस्मै यज्ञाय । (कर्म्मणे) कर्तुं योग्यत्वेन सर्वोपकारार्थाय । (आप्यायध्वम्)आप्यायामहे वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः । (अघ्न्याः) वर्धयितुमर्हा हन्तुमनर्हा गाव इन्द्रियाणि पृथिव्यादयः पशवश्च । अघ्न्या इति गोनामसु पठितम् । निघं॰ २।११। (इन्द्राय) परमैश्वर्य्ययोगाय । (भागं) सेवनीयं भागानां धनानां ज्ञानानां वा भाजनम् । (प्रजावतीः) भूयस्यः प्रजा वर्त्तन्ते यासु ताः । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । (अनमीवाः) अमीवो व्याधिर्न विद्यते यासु ताः । अम रोगे इत्यस्माद्बाहुलकादौणादिक ईवन्प्रत्ययः । (अयक्ष्माः) न विद्यते यक्ष्मा रोगराजो यासु ताः । यक्ष इत्यस्मात् । अर्त्तिस्तु॰ उ॰ १। १३८। अनेन मन्प्रत्ययः । (मा) निषेधार्थे । (वः) ताः । अत्र पुरुषव्यत्ययः । (स्तेनः) चोरः । (ईशत) ईष्टां समर्थो भवतु । अत्र लोडर्थे लङ् । बहुलं छन्दसीति शपो लुगभावः । (मा) निषेधार्थे । (अघशंसः) योऽघं पापं शंसति सः । (ध्रुवाः) निश्चलसुखहेतवः । (अस्मिन्) वर्त्तमाने प्रत्यक्षे । (गोपतौ) यो गवां पतिः स्वामी तस्मिन् । (स्यात) भवेयुः । (बह्वीः) बह्व्यः अत्र । वा छन्दसि । अ॰ ६।१।१०६। अनेन पूर्वसवर्णदीर्घादेशः । (यजमानस्य) यः परमेश्वरं सर्वोपकारं धर्मं च यजति तस्य विदुषः । (पशून्) गोऽश्वहस्त्यादीन् श्रियः प्रजा वा । श्रीर्हि पशवः । श॰ १।८। ३।१६। प्रजा वै पशवः । श॰ १।४।६।१७। (पाहि) रक्ष ॥ अयं मंत्रः । श॰ १।७।१।१–८ व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या अयं सविता देवो भगवान् वायवस्थ यान्यस्माकं वो युष्माकं च प्राणान्तःकरणेन्द्रियाणि सन्ति तानि श्रेष्ठ-

तमाय कर्मणे प्रार्पयतु । वयमिषेऽन्नायोत्तमेच्छायै सवितारं देवं त्वा त्वां तथोर्ज्जे पराक्रमोत्तमरसप्राप्तये भागं भजनीयं त्वा त्वां सततमाश्रयामः । एवं भूत्वा यूयमाप्यायध्वं वयं चाप्यायामहे । हे परमेश्वर भवान्कृपयाऽस्माकमिन्द्राय परमैश्वर्य्यप्राप्तये श्रेष्ठतमाय कर्मणे चेमाः प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा गाः सदैव प्रार्पयतु । हे परमात्मन् भवत्कृपयास्माकं मध्ये कश्चिदघशंसः पापी स्तेनश्चोरश्च मेशत कदाचिन्मोत्पद्यताम् । तथा त्वमस्य यजमानस्य जीवस्य पशून्पाहि सततं रक्ष । यतो वः ता गा इमान्पशूंश्चाघशंसः स्तेनो मेशत । हर्तुं समर्थो न भवेद्यतोऽस्मिन् गोपतौ पृथिव्यादिरक्षणमिच्छुकस्य धार्मिकमनुष्यस्य समीपे बह्वीर्बह्व्यो गावो ध्रुवाः स्यात भवेयुः ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदैव धर्म्यं पुरुषार्थमाश्रित्यर्ग्वेदाध्ययनेन गुणगुणिनौ ज्ञात्वा सर्वपदार्थानां संप्रयोगेण पुरुषार्थसिद्धये श्रेष्ठतमाभिः क्रियाभिः संयुक्तैर्भवितव्यम् । यत ईश्वरानुग्रहेण सर्वेषां सुखैश्वर्य्यस्य वृद्धिः स्यात् । तथा सम्यक् क्रियया प्रजाया रक्षणशिक्षणे सदैव कर्त्तव्ये । यतो नैव कश्चिद्रोगाख्यो विघ्नश्चोरश्च प्रबलः कदाचिद्भवेत् प्रजाश्च सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयुः । येनेयं विचित्रा सृष्टी रचिता तस्मै जगदीश्वराय सदैव धन्यवादा वाच्याः । एवं कुर्वतो भवतः परमदयालुरीश्वरः कृपया सदैव रक्षयिष्यतीति मन्तव्यम् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयभाषा— हे मनुष्य लोगो जो (सविता) सब जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाला संपूर्ण ऐश्वर्य्ययुक्त । (देवः) सब सुखोंके देने और सब विद्याके प्रसिद्ध करनेवाला परमात्मा है । सो । (वः) तुम हम और अपने मित्रोंके जो । (वायवः) सब क्रियाओंके सिद्ध करानेहारे स्पर्शगुणवाले प्राण अन्तःकरण और इन्द्रियां । (स्थ) हैं उनको । (श्रेष्ठतमाय) अत्युत्तम । (कर्मणे) करने योग्य सर्वोपकारक यज्ञादि कर्मोंके लिये । (प्रार्पयतु) अच्छी प्रकार संयुक्त करे । हम लो-

ग । (इषे) अन्न आदि उत्तम उत्तम पदार्थों और विज्ञानकी इच्छा और । (ऊर्जे) पराक्रम अर्थात् उत्तम रसकी प्राप्तिके लिये । (भागं) सेवा करने योग्य धन और ज्ञानके भरे हुए । (त्वा) उक्तगुणवाले और (त्वा) श्रेष्ठ पराक्रमादि गुणोंके देनेहारे आपका सब प्रकारसे आश्रय करते हैं । हे मित्र लोगो तुम भी ऐसे होकर । (आप्यायध्वम्) उन्नतिको प्राप्त हों तथा हम भी हों । हे भगवन् जगदीश्वर हम लोगोंके। (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य्यकी प्राप्तिके लिये। (प्रजावतीः) जिनके बहुत संतान हैं । तथा जो (अनमीवाः) व्याधि और । (अयक्ष्माः) जिनमें राजयक्ष्मा आदि रोग नहीं हैं वे । (अघ्न्याः) जो २ गौ आदि पशु वा उन्नति करने योग्य हैं जो कभी हिंसा करने योग्य नहीं कि जो इन्द्रियां वा पृथिवी आदि लोक हैं उनको सदैव । (प्रार्पयत) नियत कीजिये । हे जगदीश्वर आपकी कृपासे हम लोगोंमेंसे दुःख देनेके लिये कोई । (अघशंसः) पापी वा (स्तेनः) चोर डांकू । (मा ईशत) मत उत्पन्न हो । तथा आप इस । (यजमानस्य) परमेश्वर और सर्वोपकार धर्मके सेवन करनेवाले मनुष्यके । (पशून्) गौ घोड़े और हाथी आदि तथा लक्ष्मी और प्रजाकी । (पाहि) निरंतर रक्षा कीजिये जिससे इन पदार्थोंके हरनेको पूर्वोक्त कोई दुष्ट मनुष्य समर्थ न हो । (अस्मिन्) इस धार्मिक । (गोपतौ) पृथिवी आदि पदार्थोंकी रक्षा चाहनेवाले सज्जन मनुष्यके समीप । (बह्वीः) बहुतसे उक्त पदार्थ । (ध्रुवाः) निश्चल सुखके हेतु । (स्यात) हों । इस मंत्रकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मणमें की है उसका ठिकाना पूर्व संस्कृत भाष्यमें लिख दिया और आगे भी ऐसाही ठिकाना लिखा जायगा जिसको देखना हो वह उस ठिकानेसे देख लेवे ॥१॥

भावार्थभाषा— विद्वान् मनुष्योंको सदैव परमेश्वर और धर्मयुक्त पुरुषार्थके आश्रयसे ऋग्वेदको पढ़के गुण और गुणीको ठीक २ जानकर सब पदार्थोंके संप्रयोगसे पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये अत्युत्तम क्रियाओंसे युक्त होना चाहिये कि जिससे परमेश्वरकी कृपापूर्वक सब मनुष्योंको सुख और ऐश्वर्यकी वृद्धि हो सब लोगोंको चाहिये कि अच्छे अच्छे कामोंसे प्रजाकी रक्षा तथा उत्तम उत्तम गुणोंसे पुत्रादिकी शिक्षा सदैव करें कि जिससे प्रबल रोग विघ्न और चोरोंका अभाव होकर प्रजा और पुत्रादि सब सुखोंको प्राप्त हों यही श्रेष्ठ काम सब सुखोंकी खान है। हे मनुष्य लोगो आओ अपने मिलके जिसने इस संसारमें आश्चर्यरूप पदार्थ रचे हैं उस जगदीश्वरके लिये सदैव धन्यवाद देवें । वही परम दयालु ईश्वर अपनी कृपासे उक्त कामोंको करते हुए मनुष्योंकी सदैव रक्षा करता है ॥१॥

वसोः पवित्रमित्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । स्वराडार्षी
त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

स यज्ञः कीदृशो भवतीत्युपदिश्यते ।

॥ वह यज्ञ किस प्रकारका होता है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि ।
परमेण धाम्ना दृꣳहस्व माह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ २ ॥

वसोः । पवित्रं । असि । द्यौः । असि । पृथिवी । असि । मातरिश्वनः । घर्मः । असि । विश्वधा इति विश्वधाः । असि ॥ परमेण । धाम्ना । दृꣳहस्व । मा । ह्वाः । मा । ते । यज्ञपतिरिति यज्ञऽपतिः । ह्वार्षीत् ॥ २ ॥

पदार्थः—(वसोः) वसुः । अत्रार्थाद्विभक्तेर्विपरिणाम इति प्रथमा विभक्तिर्विपरिणम्यते । यज्ञो वै वसुः । श० १।५।४।१। (पवित्रं) पुनाति येन कर्मणा तत् । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (द्यौः) विज्ञानप्रकाशहेतुः । (असि) भवति । (पृथिवी) विस्तृतः । (असि) भवति । (मातरिश्वनः) मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति आश्वसितीति वा तस्य वायोः । श्वनुक्षन्० उ० १।१५७ । अनेनायं शब्दो निपातितः । मातरिश्वा वायुर्मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्य्याश्वनितीति वा । निरु० ७।२६। (घर्मः) अग्नितापयुक्तः शोधकः । घर्म इति यज्ञनामसु पठितम् । निघं० ३।१७। (असि) भवति । (विश्वधाः) विश्वं दधातीति । (असि) भवति । (परमेण) प्रकृष्टसुख-

युक्तेन। (धाम्ना) सुखानि यत्र दधाति तेन। बाहुलकाद्धुधाञ्धातो-र्मनिन् प्रत्ययः।(दृंहस्व) वर्धते। अत्र पुरुषव्यत्ययो लडर्थे लोट् च। (मा.) निषेधार्थे।(ह्वाः) ह्वरतु। अत्र लोडर्थे लुङ्। (मा) निषेधार्थे। (ते) तव। (यज्ञपतिः) यज्ञस्य स्वामी यज्ञकर्त्ता यजमानः। धात्वर्थो-यज्ञार्थस्त्रिधा भवति। विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामै-हिकपारमार्थिकसुखसंपादनाय सत्करणं सम्यक्पदार्थगुणसंमेलविरो-धज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति। (ह्वार्षीत) ह्वरतु ह्वर वा। अत्रापि लोडर्थे लुङ्। अयं मंत्रः (श० १।५।४।९–११। व्याख्यातः ॥ २ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्मनुष्य त्वं यो वसोर्वसुर्यो यज्ञः पवित्रमसि प-वित्रकारकोऽस्ति। द्यौरसि सूर्यरश्मिस्थो भवति। पृथिव्यसि वायुनास्मह विस्तृतो भवति। तथा मातरिश्वनो घर्मोऽसि वायोः शोधको भवति। विश्वधा असि संसारस्य सुखधारको भवति। परमेण धाम्नासह दृंहस्व दृंहते वर्धते। तमिमं यज्ञं मा ह्वार्मा त्यज। तथा ते तव यज्ञपतिस्तं मा ह्वार्षीत् मा त्यजतु ॥ २ ॥

भावार्थः— मनुष्याणां विद्याक्रियाभ्यां सम्यगनुष्ठितेन यज्ञेन प-वित्रता प्रकाशः पृथिवी राज्यं वायुप्राणवद्राज्यनीतिः प्रतापः सर्वरक्षा अस्मिँल्लोके परलोके च परमसुखवृद्धिः परस्परमार्जवेन वर्त्तमानं कु-टिलतात्यागश्च जायते। अतएव सर्वैर्मनुष्यैः परोपकाराय विद्यापुरु-षार्थाभ्यां प्रीत्या यज्ञो नित्यमनुष्ठातव्य इति ॥ २ ॥

पदार्थः—हे विद्यायुक्त मनुष्य तू जो। (वसोः) यज्ञ। (पवित्रं) शुद्धिका हेतु। (असि) है। (द्यौः) जो विज्ञानके प्रकाशका हेतु और सूर्यकी किरणोंमें स्थिर होनेवाला। (असि) है। जो (पृथिवी) वायुके साथ देशदेशान्तरोंमें फैलनेवाला। (असि) है। जो (मातरिश्वनः) वायुको। (घर्मः) शुद्ध करनेवाला। (असि) है।

जो (विश्वधाः) संसारका धारण करनेवाला । (असि) है । तथा जो (परमेण) उत्तम । (धाम्ना) स्थानसे । (दृꣳहस्व) सुखका बढानेवाला है । इस यज्ञका । (मा) मन । (ह्वाः) त्याग कर । तथा । (ते) तेरा । (यज्ञपतिः) यज्ञकी रक्षा करनेवाला यजमान भी उसको । (मा) न । (ह्वार्षीत्) त्यागे । धात्वर्थके अभिप्रायसे यज्ञ शब्दका अर्थ तीन प्रकारका होता है अर्थात् एक जो इस लोक और परलोकके सुखके लिये विद्या ज्ञान और धर्मके सेवनसे वृद्ध अर्थात् बडे बडे विद्वान् हैं उनका सत्कार करना । दूसरा अच्छी प्रकार पदार्थोंके गुणोंके मेल और विरोधके ज्ञानसे शिल्पविद्याका प्रत्यक्ष करना और तीसरा नित्य विद्वानोंका समागम अथवा शुभ गुण विद्या सुख धर्म और सत्यका नित्य दान करना है ॥२॥

भावार्थः— मनुष्य लोग अपनी विद्या और उत्तम क्रियासे जिस यज्ञका सेवन करते हैं उससे पवित्रताका प्रकाश, पृथिवीका राज्य, वायुरूपी प्राणके तुल्य राजनीति, प्रताप, सबकी रक्षा, इस लोक और परलोकमें सुखकी वृद्धि, परस्पर कोमलतासे वर्तना, और कुटिलताका त्याग इत्यादि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं इस लिये सब मनुष्योंको परोपकार तथा अपने सुखके लिये विद्या और पुरुषार्थके साथ प्रीतिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान नित्य करना चाहिये ॥ २ ॥

वसोः पवित्रमित्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता ।
भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
॥ पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर उक्त यज्ञ कैसा सुख करता है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् ।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः ॥ ३ ॥

वसोः । पवित्रं । असि । शतधारमिति शतऽधारम् । वसोः । पवित्रं । असि । सहस्रधारमिति सहस्रऽधारम् ॥

देवः । त्वा । सविता । पुनातु । वसोः । पवित्रेण । शतधारेणेति शतऽधारेण । सुप्वेति सुऽप्वा । काम् । अधुक्षः ॥ ३ ॥

पदार्थः— (वसोः) वसुर्यज्ञः । (पवित्रं) शुद्धिकारकं कर्म । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (शतधारं) शतं बहुविधमसंख्यातं विश्वं धरतीति तं । शतमिति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३।१ । (वसोः) वसुर्यज्ञः । (पवित्रं) शुद्धिनिमित्तं । (असि) अस्ति । (सहस्रधारं) बहुविधं ब्रह्मांडं धरतीति तं यज्ञम् सहस्रमिति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३।१ । (देवः) स्वयंप्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः । (त्वा) तं यज्ञं । (सविता) सर्वेषां वसूनामग्निपृथिव्यादीनां त्रयस्त्रिंशतां देवानां प्रसविता । सविता वै देवानां प्रसविता । श० १।१।२।१७ । (पुनातु) पवित्रीकरोतु । (वसोः) पूर्वोक्तो यज्ञः । (पवित्रेण) पवित्रनिमित्तेन वेदविज्ञानकर्मणा । (शतधारेण) बहुविद्याधारकेण परमेश्वरेण वेदेन वा । (सुप्वा) सुष्ठुतया पुनाति पवित्रहेतुर्वा तेन । (काम्) कां कां वाचं । (अधुक्षः) दोग्धुमिच्छसीति प्रश्नः । अत्र लडर्थे लुङ् । अयं मंत्रः । श० १।५।४ १२—१६ । व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः— यो वसोर्वसुर्यज्ञः शतधारं पवित्रमसि शतधा शुद्धिकारकोस्ति सहस्रधारं पवित्रमसि सुखदोस्ति त्वा तं सविता देवः पुनातु । हे जगदीश्वर भवान् तेनास्माभिरनुष्ठितेन पवित्रेण शतधारेण सुप्वा यज्ञेनास्मान् पुनातु । हे विद्वन् जिज्ञासो वा त्वं कां वाचमधुक्षः प्रपूरयसि वा प्रपूरयितुमिच्छसि ॥ ३ ॥

भावार्थः— ये मनुष्याः पूर्वोक्तं यज्ञमनुष्ठाय पवित्रा भवन्ति तान् जगदीश्वरो बहुविधेन विज्ञानेन सहवर्त्तमानान्कृत्वैतेभ्यो बहुविधं सुखं ददाति परन्तु ये क्रियावन्तः परोपकारिणः सन्ति ते सु-

स्वमाप्नुवन्ति नेतरेऽलसाः । अत्र कामधुक्ष इति प्रश्नोस्ति ॥ ३ ॥

पदार्थः— जो (वसोः) यज्ञ । (शतधारं) असंख्यात संसारका धारण करने । और (पवित्रं) शुद्धि करनेवाला कर्म । (असि) है तथा जो । (वसोः) यज्ञ । (सहस्रधारं) अनेक प्रकारके ब्रह्मांडको धारण करने और । (पवित्रं) शुद्धिका निमित्त सुख देनेवाला है । (त्वा) उस यज्ञको । (देवः) स्वयंप्रकाशस्वरूप । (सविता) वसु आदि तेतीस देवोंका उत्पत्ति करनेवाला परमेश्वर । (पुनातु) पवित्र करे । हे जगदीश्वर आप हम लोगोंसे सेवित जो । (वसोः) यज्ञ है उस । (पवित्रेण) शुद्धिके निमित्त वेदके विज्ञान । (शतधारेण) बहुत विद्याओंका धारण करनेवाले वेद और । (सुप्वा) अच्छी प्रकार पवित्र करनेवाले यज्ञसे हम लोगोंको पवित्र कीजिये । हे विद्वान् पुरुष वा जाननेकी इच्छा करनेवाले मनुष्य तू । (काम्) वेदकी श्रेष्ठ वाणियोंमेंसे कौन २ वाणीके अभिप्रायको । (अधुक्षः) अपने मनमें पूरण करना अर्थात् जाना चाहता है ॥ ३ ॥

भावार्थः— जो मनुष्य पूर्वोक्त यज्ञका सेवन करके पवित्र होते हैं उन्हींको जगदीश्वर बहुतसा ज्ञान देकर अनेक प्रकारके सुख देता है परंतु जो लोग ऐसी क्रियाओंके करनेवाले वा परोपकारी होते है वेही सुखको प्राप्त होते हैं आलस्य करनेवाले कभी नहीं । इस मंत्रमें (कामधुक्ष) इन पदोंसे वाणीके विषयमें प्रश्न है ॥ ३ ॥

सा विश्वायुरित्यस्य ऋषिः स एव । विष्णुर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

। अथ त्रिविधस्य प्रश्नस्य क्रीण्युत्तराण्युपदिश्यन्ते ।

जो पूर्वोक्त मंत्रमें तीन प्रश्न कहे हैं उनके उत्तर अगले मंत्रमें क्रमसे प्रकाशित किये हैं ॥

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः ।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेना तनच्मि विष्णो हव्यꣳ रक्ष ॥ ४ ॥

सा । विश्वायुरिति विश्वऽआयुः । सा । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । सा । विश्वधाया इति विश्वऽधायाः ॥
इन्द्रस्य । त्वा । भागं । सोमेन । आ । तनच्मि । विष्णो इति विष्णो । हव्यं । रक्ष ॥ ४ ॥

पदार्थः— (सा) वाक् । वागु वै यज्ञः । श० १।१।४।११। (विश्वायुः) पूर्णमायुर्यस्यां सा ग्रहीतव्या । (सा) शिल्पविद्यासंपादिका । (विश्वकर्मा) विश्वं संपूर्णं क्रियाकाण्डं सिध्यति यया सा । (सा) संपूर्णविद्याप्रकाशिका । (विश्वधायाः) या विश्वं सर्वं जगद्विद्यागुणैः सह दधाति सा । विश्वोपपदं डुधाञ्धातोरसुन्प्रत्ययः बाहुलकाण्णिच्च । (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य यज्ञस्य वा । (त्वा) तं । अत्र पुरुषव्यत्ययः । (भागं) भजनीयं शुभगुणभाजनं यज्ञं । (सोमेन) शिल्पविद्यया संपादितेन रसेनानन्देन वा । (आ) समन्तात् । (तनच्मि) संकोचयामि दृढीकरोमि । (विष्णो) वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं विश्वं तत्संबुद्धौ परमेश्वर । (हव्यं) पूर्वोक्तयज्ञसंबन्धि दातुं ग्रहीतुं योग्यं द्रव्यं विज्ञानं वा । (रक्ष) पालय । अयं मंत्रः । श० १।५।४।१७—२१ व्याख्यातः ॥ ४ ॥

अन्वयः— हे विष्णो व्यापकेश्वर भवता या वाग्धार्य्यते सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधाया अस्ति । तया त्रिविधया गृहीतयैवाहं यमिन्द्रस्य भागं यज्ञं सोमेनातनच्मि तं हव्यं यज्ञं त्वं सततं रक्ष ॥ ४ ॥

भावार्थः— त्रिविधा वाग्भवति । या ब्रह्मचर्य्याश्रमे पूर्णविद्यापठनाय पूर्णायुःकरणाय च सेव्यते सा प्रथमा । या गृहाश्रमेऽनेकक्रिययोद्योगसुखप्रापकफला विस्तार्यते सा द्वितीया । या च सर्वमनुष्यैः सर्वमनुष्येभ्यः शरीरात्मसुखवर्धनायेश्वरादिपदार्थविज्ञानप्रकाशिका वानप्रस्थसंन्यासाश्रमे खलूपदिश्यते सा तृतीया । नचैनया विना कस्यापि सर्वं सुखं भवितुमर्हति । अनयैव मनुष्यैः पूर्वोक्तो यज्ञोनुष्ठातव्यः । व्यापकेश्वरः स्तोतव्यः प्रार्थनीय उपासनीयश्च भवति । अनुष्ठितोऽयं यज्ञो जगति रक्षाहेतुः प्रेम्णा सत्यभावेन प्रार्थितश्चेश्वरस्तान् सर्वदा रक्षति । परंतु ये क्रियाकुशला धार्मिकाः परोपकारिणो जनाः सन्ति

त ईश्वरं धर्मं च विज्ञाय सम्यक् क्रियया साधनेनैहिकं पारत्रिकं च सुखं प्राप्नुवन्ति नेतरे ॥ ४ ॥

पदार्थः— हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर आप जिस वाणीका धारण करते हैं। (सा) वह। (विश्वायुः) पूर्ण आयुकी देनेवाली। (सा) वह जिससे कि। (विश्वकर्मा) संपूर्ण क्रियाकांड सिद्ध होता है और। (सा) वह। (विश्वधायाः) सब जगत्को विद्या और गुणोंसे धारण करनेवाली है। पूर्व मंत्रमें जो प्रश्न है उसके उत्तरमें यही तीन प्रकारकी वाणी ग्रहण करनेयोग्य है इसीसे मैं। (इन्द्रस्य) परमेश्वरका। (भागं) सेवा करने योग्य यज्ञको। (सोमेन) विद्यासे सिद्ध किये रस अथवा आनंदसे। (आतनच्मि) अपने हृदयमें दृढ़ करता हूं तथा हे परमेश्वर। (हव्यं) पूर्वोक्तयज्ञसंबन्धि देनेलेनेयोग्य द्रव्य वा विज्ञानकी। (रक्ष) निरंतर रक्षा कीजिये ॥ ४ ॥

भावार्थः— तीन प्रकारकी वाणी होती है अर्थात् प्रथम वह जो कि ब्रह्मचर्यमें विद्या पढने वा पूर्ण आयु होनेके लिये सेवन की जाती है। दूसरी वह जो गृहाश्रममें अनेक क्रिया वा उद्योगोंसे सुखोंकी देनेवाली विस्तारसे प्रगट की जाती है। और तीसरी वह जो इस संसारमें सब मनुष्योंके शरीर और आत्माके सुखकी वृद्धि वा ईश्वर आदि पदार्थोंके विज्ञानको देनेवाली वानप्रस्थ और संन्यास आश्रममें विद्वानोंसे उपदेश की जाती है इन प्रकारकी वाणीके विना किसीको सब सुख नहीं हो सकते। क्योंकि इसीसे पूर्वोक्त यज्ञ तथा व्यापक ईश्वरकी स्तुति प्रार्थना और उपासना करना योग्य है ईश्वरकी यह आज्ञा है कि जो नियमसे किया हुआ यज्ञ संसारमें रक्षाका हेतु और प्रेमसत्यभावसे प्रार्थनाको प्राप्त हुआ ईश्वर विद्वानोंकी सर्वदा रक्षा करता है वही सबका अध्यक्ष है परंतु जो क्रियामें कुशल धार्मिक परोपकारी मनुष्य है वेही ईश्वर और धर्मको जानकर मोक्ष और सम्यक् क्रियासाधनोंसे इस लोक और परलोकके सुखको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

अग्ने व्रतपतइत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता।
आर्चीत्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।
। किंच तद्वाचो व्रतमित्युपदिश्यते।

उक्त वाणीका व्रत क्या है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे रा-
ध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ ५ ॥

अग्ने। व्रतपत इति व्रतऽपते। व्रतं। चरिष्यामि। तत्।
शकेयं। तत्। मे। राध्यताम्॥
इदं। अहं। अनृतात्। सत्यं। उप। एमि॥ ५॥

पदार्थः— (अग्ने) हे सत्योपदेशकेश्वर। (व्रतपते) व्रतानां सत्यभाषणादीनां पतिः पालकस्तत्संबुद्धौ। (व्रतं) सत्यभाषणं सत्यकरणं सत्यमानं च। (चरिष्यामि) अनुष्ठास्यामि। (तत्)व्रतमनुष्ठातुं। (शकेयं) यथा समर्थो भवेयम्। (तत्) तस्यानुष्ठानं पूर्त्तिश्च। (मे) मम। (राध्यतां) संसेध्यतां। (इदं) प्रत्यक्षमाचरितुं सत्यं व्रतं। (अहं) धर्मादिपदार्थचतुष्टयं चिकीर्षुर्मनुष्यः। (अनृतात्) न विद्यते ऋतं यथार्थमाचरणं यस्मिन् तस्मान्मिथ्याभाषणान् मिथ्याकरणान्मिथ्यामानात्पृथग्भूत्वा। (सत्यं) यद्वेदविद्यया प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः सृष्टिक्रमेण विदुषां संगेन सुविचारेणात्मशुद्ध्या वा निर्भ्रमं सर्वहितं तत्त्वनिष्ठं सत्प्रभवं सम्यक् परीक्ष्य निश्चीयते तत्। सत्यं कस्मात् सत्सुतायते सत्प्रभवं भवतीति वा। निरु० ३।१३। (उप)क्रियार्थे। (एमि) ज्ञातुं प्राप्तुमनुष्ठातुं प्राप्नोमि ॥ अयं मंत्रः श० १।१।१।१—६। व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः— हे व्रतपते अग्ने सत्यधर्मोपदेशकेश्वर अहं यदिदमनृतात्पृथग्वर्त्तमानं सत्यं व्रतमाचरिष्यामि तन्मे मम भवता स्वकृपया राध्यतां संसेध्यतां यदुपैमि प्राप्नोमि यच्चानुष्ठातुं शकेयं तदपि सर्वं राध्यतां संसेध्यताम् ॥ ५ ॥

भावार्थः— ईश्वरेण सर्वमनुष्यैरनुष्ठेयोऽयं धर्म उपदिश्यते । यो न्यायः पक्षपातरहितः सुपरीक्षितः सत्यलक्षणान्वितः सर्वहिताय वर्त्तमान ऐहिकपारमार्थिकसुखहेतुरस्ति स एव सर्वमनुष्यैः सदाचरणीयः । यश्चैतस्माद्विरुद्धो ह्यधर्मः स नैव केनापि कदाचिदनुष्ठेयः । एवं हि सर्वैः प्रतिज्ञा कार्य्या । हे परमेश्वर वयं वेदेषु भवदुपदिष्टमिमं सत्यधर्ममाचरितुमिच्छामः । येयमस्माकमिच्छा सा भवत्कृपया सम्यक् सिध्येत् । यतो वयमर्थकाममोक्षफलानि प्राप्तुं शक्नुयाम । यथा चाधर्मं सर्वथा त्यक्त्वाऽनर्थकुकामबन्धदुःखफलानि पापानि त्यक्तुं त्याजयितुं च समर्था भवेम । यथा भवान् सत्यव्रतपालकत्वाद्व्रतपतिर्वर्त्तते तथैव वयमपि भवत्कृपया स्वपुरुषार्थेन यथाशक्ति सत्यव्रतपालका भवेम । एवं सदैव धर्मं चिकीर्षवः सत्क्रियावन्तो भूत्वा सर्वसुखोपगताः सर्वप्राणिनां सुखकारकाश्च भवेमेति सर्वैः सदैवेष्टितव्यम् । शतपथब्राह्मणेऽस्य मंत्रस्य व्याख्यायामुक्तं मनुष्याणां द्विविधमेवाचरणं सत्यमनृतं च तत्र ये वाङ्मनःशरीरैः सत्यमेवाचरन्ति ते देवाः । ये चैवानृतमाचरन्ति ते मनुष्या अर्थादसुरराक्षसाः सन्तीति वेद्यम् ॥ ५ ॥

पदार्थः— हे (व्रतपते) सत्य भाषण आदि धर्मोंके पालन करने और । (अग्ने) सत्य उपदेश करनेवाले परमेश्वर मैं । (अनृतात्) जो झूंठसे अलग । (सत्यं) वेदविद्या, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, सृष्टिक्रम, विद्वानोंका संग, श्रेष्ठ विचार तथा आत्माकी शुद्धि आदि प्रकारोंसे जो निर्भ्रम, सर्वहित, तत्त्व अर्थात् सिद्धांतके प्रकाश करानेहारोंसे सिद्ध हुआ, अच्छी प्रकार परीक्षा किया गया । (व्रतं) सत्य बोलना सत्य मानना और सत्य करना है उसका । (उपैमि) अनुष्ठान अर्थात् नियमसे ग्रहण करने वा जानने और उसकी प्राप्तिकी इच्छा करता हूं । (मे) मेरे । (तत्) उस सत्य व्रतको आप । (राध्यतां) अच्छी प्रकार सिद्ध कीजिये जिससे कि । (अहं) मैं उक्त सत्य व्रतके नियम करनेको । (शकेयं) समर्थ होऊं । और मैं (इदं) इसी प्रत्यक्ष सत्य व्रतके आचरणका नियम । (चरिष्यामि) करूंगा ॥ ५ ॥

भावार्थः— परमेश्वरने सब मनुष्योंको नियमसे सेवन करनेयोग्य धर्मका उ-

पदेश किया है जो कि न्याययुक्त परीक्षा किया हुआ सत्य लक्षणोंसे प्रसिद्ध और सबका हितकारी तथा इस लोक अर्थात् संसारी और परलोक अर्थात् मोक्षसुखका हेतु है यही सबको आचरण करने योग्य है और उससे विरुद्ध जो कि अधर्म कहाता है वह किसीको ग्रहण करने योग्य कभी नहीं हो सकता क्योंकि सर्वत्र उसीका त्याग करना है इसी प्रकार हमको भी प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि हे परमेश्वर हम लोग वेदोंमें आपके प्रकाशित किये सत्य धर्मकाही ग्रहण करें तथा हे परमात्मन् आप हम लोगोंपर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग उक्त सत्य धर्मका पालन करके अर्थ काम और मोक्षरूप फलोंको सुगमतासे प्राप्त हो सकें। जैसे सत्यव्रतके पालनेसे आप व्रतपति हैं वैसेही हम लोग भी आपकी कृपा और अपने पुरुषार्थसे यथाशक्ति सत्य व्रतके पालनेवाले हों तथा धर्म करनेकी इच्छासे अपने सत्कर्मके द्वारा सब सुखोंको प्राप्त होकर सब प्राणियोंको सुख पहुंचानेवाले हों ऐसी इच्छा सब मनुष्योंको करनी चाहिये ॥ शतपथ ब्राह्मणके बीच इस मंत्रकी व्याख्यामें कहा है कि मनुष्योंका आचरण दो प्रकारका होता है एक सत्य और दूसरा झूठका अर्थात् जो पुरुष वाणी मन और शरीरसे सत्यका आचरण करते हैं वे देव कहाते और जो झूठका आचरण करनेवाले हैं वे असुर राक्षस आदि नामोंके अधिकारी होते हैं ॥ ५ ॥

कस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । प्रजापतिर्देवता आर्चीपंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ।

केन सत्यमाचरितुमसत्यं त्यक्तुमाज्ञा दत्तेत्युपदिश्यते ।

किसने सत्य करने और असत्य छोडनकी आज्ञा दी है सो अगले मंत्रमें उपदेश किया है ।

कस्त्वा॑ युनक्ति॒ स त्वा॑ युनक्ति॒ कस्मै॑ त्वा युनक्ति॒ तस्मै॑ त्वा युनक्ति । कर्म॑णे वां॒ वेषा॑य वाम् ॥ ६ ॥

कः । त्वा॒ । यु॒न॒क्ति॒ । सः । त्वा॒ । यु॒न॒क्ति॒ । कस्मै॑ । त्वा॒ । यु॒न॒क्ति॒ । तस्मै॑ । त्वा॒ । यु॒न॒क्ति॒ ॥ कर्म्म॑णे । वा॒म् । वेषा॑य । वा॒म् ॥ ६ ॥

पदार्थः— । (कः) को हि सुखस्वरूपः । (त्वा) क्रियानुष्ठा-

तारं मनुष्यं पुरुषार्थे । (युनक्ति) नियुक्तं करोति । (सः) परमेश्वरः । (त्वा) विद्यादिशुभगुणानां ग्रहणे विद्यार्थिनं विद्वांसं वा । (युनक्ति) योजयति अत्र सर्वत्रान्तर्गतो ण्यर्थः प्रयोजनाय । (त्वा) त्वां सुखमिच्छुकं । (युनक्ति) योजयति । (तस्मै) सत्यव्रताचरणाय यज्ञाय । (त्वा) धर्मं प्रचारयितुमुद्योगिनं । (युनक्ति) योजयति । (कर्मणे) पूर्वोक्ताय यज्ञाय । (वां) कर्त्ता कारयितारौ । (वेषाय) सर्वशुभगुणविद्याव्याप्तये । (वां) अध्येत्रध्यापकौ । अयं मंत्रः । श० १।१।१–२।१३–२२।१। व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अन्वयः— हे मनुष्य कस्त्वां युनक्ति स त्वां युनक्ति कस्मै त्वां युनक्ति तस्मै त्वां युनक्ति स एव वां कर्मणे नियोजयति । एवं च वां वेषायाज्ञापयति ॥ ६ ॥

भावार्थः— अत्र प्रश्नोत्तराभ्यामीश्वरो जीवेभ्य उपदिशति । कश्चित् कंचित्प्रति ब्रूते । को मां सत्यक्रियायां प्रवर्त्तयतीति सोऽस्योत्तरं ब्रूयात् । ईश्वरः पुरुषार्थक्रियाकरणाय त्वामादिशतीति । एवं कश्चिद्विद्यार्थी विद्वांसं प्रति पृच्छेत् को मदात्मन्यन्तर्यामिरूपतया सत्यं प्रकाशयतीति । स उत्तरं दद्यात् सर्वव्यापको जगदीश्वर इति। कस्मै प्रयोजनायेति केनचित्पृच्छ्यते । सुखप्राप्तये परमेश्वरप्राप्तये चेत्युत्तरं ब्रूयात् । पुनः कस्मै प्रयोजनाय मां नियोजयतीति पृच्छ्यते । सत्यविद्याधर्मप्रचारायेत्युत्तरं ब्रूयात् । आवां किं करणायेश्वर उपदिशति । यज्ञानुष्ठानायेति परस्परमुत्तरं ब्रूयाताम् । पुनः स किमाप्तय आज्ञापयतीति । सर्वविद्यासुखेषु व्याप्तये तत्प्रचारायेत्युत्तरं ब्रूयात् । मनुष्यैर्द्वाभ्यां प्रयोजनाभ्यां प्रवर्त्तितव्यम् । एकमत्यंतपुरुषार्थशरीरारोग्याभ्यां चक्रवर्त्तिराज्यश्रीप्राप्तिकरणम् । द्वितीयं सर्वा विद्याः सम्यक् पठित्वा ता-

सां सर्वत्र प्रचारीकरणं चेति । नैव केनचिदपि कदाचित्पुरुषार्थं त्यक्त्वाऽलस्ये स्थातव्यमिति ॥ ६ ॥

पदार्थः—(कः) कौन । (त्वां) तुझको अच्छी २ क्रियाओंके सेवन करनेके लिये । (युनक्ति) आज्ञा देता है । (सः) सो जगदीश्वर । (त्वा) तुझको विद्या आदिक शुभ गुणोंके प्रगट करनेके लिये विद्वान् वा विद्यार्थी होनेको । (युनक्ति) आज्ञा देता है । (कस्मै) वह किस २ प्रयोजनके लिये । (त्वा) मुझ और तुझको । (युनक्ति) युक्त करता है । (तस्मै) पूर्वोक्त सत्य व्रतके आचरणरूप यज्ञके लिये । (त्वा) धर्मके प्रचार करनेमें उद्योगीको । (युनक्ति) आज्ञा देता है । (सः) वही ईश्वर । (कर्म्मणे) उक्त श्रेष्ठ कर्म करनेके लिये । (वाम्) कर्म करने और करानेवालोंको नियुक्त करता है । (वेषाय) शुभ गुण और विद्याओंमें व्याप्तिके लिये (वां) विद्या पढने और पढानेवाले तुम लोगोंको उपदेश करता है ।

भावार्थः—इस मंत्रमें प्रश्न और उत्तरसे ईश्वर जीवोंके लिये उपदेश करता है जब कोई किसीसे पूछे कि मुझे सत्य कर्मोंमें कौन प्रवृत्त करता है इसका उत्तर ऐसा दे कि प्रजापति अर्थात् परमेश्वरही पुरुषार्थ और अच्छी २ क्रियाओंके करनेकी तुम्हारे लिये वेदके द्वारा उपदेशकी प्रेरणा करता है इसी प्रकार कोई विद्यार्थी किसी विद्वानसे पूछे कि मेरे आत्मामें अन्तर्यामिरूपसे सत्यका प्रकाश कौन करता है तो वह उत्तर देवे कि सर्वव्यापक जगदीश्वर । फिर वह पूछे कि वह हमको किस २ प्रयोजनके लिये उपदेश करता और आज्ञा देता है । उसका उत्तर देवे कि सुख और सुखस्वरूप परमेश्वरकी प्राप्ति तथा सत्यविद्या और धर्मके प्रचारके लिये मैं और आप दोनोंको कौन २ काम करनेके लिये वह ईश्वर उपदेश करता है । इसका परस्पर उत्तर देवें कि यज्ञ करनेके लिये । फिर वह कौन २ पदार्थकी प्राप्तिके लिये आज्ञा देता है । इसका उत्तर देवें कि सब विद्याओंकी प्राप्ति और उनके प्रचारके लिये ॥ मनुष्योंको दो प्रयोजनोंमें प्रवृत्त होना चाहिये अर्थात् एक तो अत्यंत पुरुषार्थ और शरीरकी आरोग्यतासे चक्रवर्त्ती राज्यलक्ष्मीकी प्राप्ति करना और दूसरे सब विद्याओंको अच्छी प्रकार पढके उनका प्रचार करना चाहिये । किसी मनुष्यको पुरुषार्थको छोडके आलस्यमें कभी नहीं रहना चाहिये ॥ ६ ॥

प्रत्युष्टमित्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । प्राजापत्या जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।

॥ सर्वैर्दुष्टगुणानां दुष्टमनुष्याणां च निषेधः कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते ॥

सब मनुष्योंको उचित है कि दुष्ट गुण और दुष्ट स्वभाववाले मनुष्योंका निषेध करें इस बातका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो नि-ष्टप्ता अरातयः ॥ उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ७ ॥

प्रत्युष्टमिति प्रतिऽउष्टम् । रक्षः । प्रत्युष्टा इति प्रतिऽउष्टाः । अरातयः । निष्टप्तम् । निस्तप्तमिति निःऽतप्तम् । रक्षः । निष्टप्ताः । निस्तप्ता इति निःऽतप्ताः । अरातयः ॥ उरु । अन्तरिक्षम् । अनुऽएमि ॥ ७ ॥

पदार्थः— । (प्रत्युष्टं) यत्प्रतीतं च मदुष्टं दग्धं च तत । (रक्षः) रक्षःस्वभावो दुष्टो मनुष्यः । (प्रत्युष्टाः) प्रत्यक्षतया उष्टा दग्धव्यास्ते । (अरातयः) अविद्यमाना रातिर्दानं येषु ते शत्रवः । (निष्टप्तं) नितरां तप्तं संतापयुक्तं च कार्य्यम् । (रक्षः) स्वार्थी मनुष्यः । (निष्टप्ताः) पूर्ववत् । (अरातयः) कपटेन । विद्यादानग्रहणरहिताः । (उरु) बहुविधं सुखं प्राप्तुं प्रापयितुं वा । उर्विति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३।१। (अन्तरिक्षं) सुखसाधनार्थमवकाशं । (अन्वेमि) अनुगतं प्राप्नोमि ॥ अयं मंत्रः । श० १।१।२।२—४। व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः— मया रक्षः प्रत्युष्टमरातयः प्रत्युष्टा रक्षो निष्टप्तमरातयो निष्टप्ताः पुरुषार्थेन सदैव कार्य्याः । एवं कृत्वान्तरिक्षमुरु बहु सुखं चान्वेमि ॥ ७ ॥

भावार्थः— । इदमीश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैः स्वकीयं दुष्टस्वभावं त्यक्त्वाऽन्येषामपि विद्याधर्मोपदेशेन त्याजयित्वा दुष्टस्वभावान् मनुष्यांश्च निवार्य्य बहुविधं ज्ञानं सुखं च संपाद्य विद्याधर्मपुरुषार्थी-

न्विताः सुखिनः सर्वे प्राणिनः सदा संपादनीयाः॥ ७ ॥

पदार्थः— मुझको चाहिये कि पुरुषार्थके साथ । (रक्षः) दुष्ट गुण और दुष्ट स्वभाववाले मनुष्यको । (प्रत्युष्टं) निश्चय करके निर्मूल करूं तथा । (अरातयः) जो राति अर्थात् दान आदि धर्मसे रहित दयाहीन दुष्ट शत्रु हैं उनको । (प्रत्युष्टाः) प्रत्यक्ष निर्मूल । (रक्षः) वा दुष्ट स्वभाव दुष्ट गुण विद्याविरोधी स्वार्थी मनुष्य और (निष्टप्तं) (अरातयः) । छलयुक्त होके विद्याका ग्रहण वा दानसे रहित दुष्ट प्राणियोंको (निष्टप्ताः) निरंतर संतापयुक्त करूं।इस प्रकार करके (अन्तरिक्षं) सुखके सिद्ध करनेवाले उत्तम स्थान और (उरु) अपार सुखको (अन्वेमि) प्राप्त होऊं॥७॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्योंको अपना दुष्ट स्वभाव छोड़कर विद्या और धर्मके उपदेशसे औरोंको भी दुष्टता आदि अधर्मके व्यवहारोंसे अलग करना चाहिये तथा उनको बहु प्रकारका ज्ञान और सुख देकर सब मनुष्य आदि प्राणियोंको विद्या धर्म पुरुषार्थ और नानाप्रकारके सुखोंसे युक्त करना चाहिये॥७॥

धूरसीत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । अतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ।

अथ सर्वविद्याधारकेश्वरो विद्यासाधनीभूतो भौतिकोऽग्निश्चोपदिश्यते।

सबके धारण करनेवाले ईश्वर और पदार्थ विद्याकी सिद्धि हेतु भौतिक अग्निका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

धूर॑सि धूर्व॒ धूर्व॑न्तं॒ धूर्व॒तं योऽस्मान्धूर्व॑ति॒ तं धू॑र्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः॥
दे॒वाना॑मसि॒ वह्नि॑तम॒ꣳ सस्नि॑तमं॒ पप्रि॑तमं॒ जुष्ट॑तमं दे॒वहू॑तमम्॥ ८ ॥

धूः । असि । धूर्व॑ । धूर्व॑न्तं । धूर्व॑ । तं । यः । अ॒स्मान् । धूर्व॑ति । तं । धूर्व॑ । यं । व॒यं । धूर्वा॑मः ॥
दे॒वाना॑म् । असि । वह्नि॑तम॒मिति॒ वह्नि॑ऽतमम् । सस्नि॑तम॒मिति॒ सस्नि॑ऽतमम् । पप्रि॑तम॒मिति॒ पप्रि॑ऽतमम् । जुष्ट॑तम॒मिति॒ जुष्ट॑ऽतमम् । दे॒वहू॑तम॒मिति॑ दे॒वहू॒ऽतमम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—। (धूः) सर्वदोषनाशकोऽन्धकारनाशको वा । (असि) अस्ति वा । अत्र सर्वत्र भौतिकपक्षे व्यत्ययेन प्रथमपुरुषो गृह्यते । (धूर्व) हिंसय धूर्वति हिनस्ति वा । (धूर्वंतं) हिंसाशीलं प्राणिनं । (धूर्व) हिंसय हिनस्ति वा । (तं) सर्वभूताभिद्रोग्धारं । (यः) अस्मद्द्वेष्टा । (अस्मान्) धार्मिकान् सर्वेभ्यः सुखोपकर्तॄन् । (धूर्वति) हिनस्ति । (तम्) दुष्टं दस्युं चोरं वा । (धूर्व) हिंसय हिनस्ति वा । (यं) पापिनं । (वयं) विद्वांसः । सर्वमित्राः । (धूर्वामः) हिंसामः । (देवानां) विदुषां पृथिव्यादीनां वा । (असि) उत्पादको वर्त्तसे प्रकाशको वर्त्तते वा । (वह्नितमं) वहति प्रापयति यथायोग्यं सुखानि स वह्निः सोतिशायितस्तम् । (सस्नितमं) अतिशयेन शुद्धं शुद्धिकारकं च । तथा शुद्धिहेतुं भौतिकं वा । अथवा स्वव्याप्त्या सर्वजगद्विष्टपितारमीश्वरं शिल्पविद्याहेतुं व्यापनशीलं भौतिकं वा । स्ना शौचे । अथवा ष्णौ वेष्टने । इत्यस्य रूपम् । (पप्रितमं) प्राति प्रपूरयति सर्वाभिर्विद्याभिरानन्दैश्च जनान् स्वव्याप्त्या जगद्वा मूर्त्तं वस्तु शिल्पविद्यासाध्याङ्गानि च यः सोतिशायितस्तम् । (जुष्टतमं) धार्मिकैर्भक्तजनैः शिल्पिभिश्च यो जुष्यते स जुष्टः । अतिशयेन जुष्टस्तम् । (देवहूतमम्) देवैर्विद्वद्भिः स्तूयते शब्द्यते सोऽतिशायितस्तं । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे चेत्यस्य रूपम् । अयं मंत्रः । श० १।१।२।१०—१२ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर यतस्त्वं धूरसि सर्वाभिरक्षकश्चासि तस्माद्वयमिष्टबुद्ध्या देवानां वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमं त्वां नित्यमुपास्महे । योऽस्मान् धूर्वति यं च वयं धूर्वामस्तं त्वं धूर्व । यश्च सर्वद्रोही तमपि धूर्वन्तं सर्वहिंसकं सदैव धूर्व । इत्येकः हे शिल्पविद्यां चिकीर्षो त्वं यो भौतिकोग्निर्धूः सर्वपदार्थच्छेदकत्वाद्धिंसकोस्ति तं क-

लाकौशलेन यानेषु सम्प्रयोजनीयं देवानां वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतममग्निं वयं धूर्वामस्ताडयामः । योऽयुक्त्या सेवितोऽस्मान् धूर्वति तं धूर्वन्तमग्निं धूर्व ॥ हे वीर त्वं यो दुष्टशत्रुरस्मान् धूर्वति तमप्याग्नेयास्त्रेण धूर्व यश्च दस्युरस्ति तमपि धूर्व ॥ ८ ॥

भावार्थः— यो धातेश्वरः सर्वं जगद्धाति पापिनो दुष्टान् जीवान् तत्कृतपापफलदानेन ताडयति धार्मिकांश्च रक्षति । सर्वसुखप्रापक आत्मशुद्धिकारकः पूर्णविद्याप्रदाता विद्वद्भिः स्तोतव्यः प्रीत्युत्बुद्ध्या च सेवनीयोस्ति ॥ स एव सर्वैर्मनुष्यैर्भजनीयः । तथैव योग्निः सकलशिल्पविद्याक्रियासाधकतमः पृथिव्यादिपदार्थानां मध्ये प्रकाशकप्रापकतमतया श्रेष्ठोस्ति । यस्य प्रयोगेणाग्नेयास्त्रादिविद्यया शत्रूणां पराजयो भवति स एव शिल्पिभिर्विद्यायुक्त्या होमयानक्रियासिध्यर्थं सेवनीयः ॥८॥

पदार्थः— हे परमेश्वर आप । (धूः) सब दोषोंके नाश और जगतकी रक्षा करनेवाले । (असि) हैं इस कारण हम लोग इष्ट बुद्धिसे । (देवानां) विद्वानोंको विद्या मोक्ष और सुखमें (वह्नितमं) यथायोग्य पहुंचाने । (सस्नितमं) अतिशय करके शुद्ध करने । (पप्रितमं) सब विद्या और आनन्दसे संसारको पूर्ण करने । (जुष्टतमं) धार्मिक भक्त जनोंको सेवा करने योग्य और । (देवहूतमं) विद्वानोंको स्तुति करने योग्य आपकी नित्य उपासना करते हैं । (यः) जो कोई द्वेषी छली कपटी पापी कामक्रोधादियुक्त मनुष्य । (अस्मान्) धर्मात्मा और सबको सुखसे युक्त करनेवाले हम लोगोंको । (धूर्वति) दुःख देता है और । (यं) जिस पापी जनको । (वयं) हम लोग । (धूर्वामः) दुःख देते हैं । (तं) उसको आप । (धूर्व) शिक्षा कीजिये तथा जो सबसे द्रोह करने वा सबको दुःख देता है उसको भी आप सदैव । (धूर्व) ताड़ना कीजिये ॥ हे शिल्प विद्याको जाननेकी इच्छा करनेवाले मनुष्य तू जो भौतिक अग्नि । (धूः) सब पदार्थोंका छेदन और अन्धकारका नाश करनेवाला । (असि) है तथा । जो कला चलानेकी चतुराईसे यानोंमें विद्वानोंको । (वह्नितमं) सुख पहुंचाने । (सस्नितमं) शुद्धि होनेका हेतु । (पप्रितमं) शिल्पविद्याका मुख्य साधन । (जुष्टतमं) कारीगर लोग जिसका सेवन करते हैं तथा जो । (देवहूतमं) विद्वानोंको स्तुति करने योग्य अग्नि है उसको । (वयम्) हमलोग । (धूर्वामः) ताड़ते हैं

और जिसका सेवन युक्तिसे न किया जाय तो । (अस्मान्) हम लोगोंको । (धूर्वति) पीड़ा करता है । (तं) उस । (धूर्वन्तं) पीड़ा करनेवाले अग्निको । (धूर्व) यानादिकोंमें युक्त कर ॥ तथा हे वीर पुरुष तुम । (यः) जो दुष्ट शत्रु । (अस्मान्) हम लोगोंको । (धूर्वति) दुःख देता है । (तं) उसको । (धूर्व) नष्ट कर । तथा जो कोई चोर आदि है उसका भी । (धूर्व) नाश कीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थः-- जो ईश्वर सब जगत्को धारण कर रहा है वह पापी दुष्ट जीवोंको उनके किये हुए पापोंके अनुकूल दंड देकर दुःखयुक्त और धर्मात्मा पुरुषोंको उत्तम कर्मोंके अनुसार फल देके उनकी रक्षा करता है वही सब सुखोंकी प्राप्ति आत्माकी शुद्धि करने और पूर्ण विद्याका देनेवाला विद्वानोंके स्तुति करने योग्य तथा प्रीति और इष्ट बुद्धिसे सेवा करने योग्य है दूसरा कोई नहीं । तथा यह प्रत्यक्ष भौतिक अग्नि भी संपूर्ण शिल्पविद्याओंकी क्रियाओंका सिद्ध करने तथा उनका मुख्य साधन और पृथिवी आदि पदार्थोंमें अपने प्रकाश अथवा उनकी प्राप्तिसे श्रेष्ठ है ॥ क्योंकि जिससे सिद्धकी हुई आग्नेय आदि उत्तम शस्त्रास्त्रविद्यासे शत्रुओंका पराजय होता है इससे यह भी विद्याकी युक्तियोंसे होम और विमान आदिके सिद्ध करनेके लिये सेवा करनेके योग्य है ॥ ८ ॥

अह्रुतमसीत्यस्य ऋषिः स एव । विष्णुर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

अथ यजमानभौतिकाग्निकृत्यमुपदिश्यते ।

अब यजमान और भौतिक अग्निके कर्मका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व माह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳ रक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥ ९ ॥

अह्रुतम् । असि । हविर्धानमिति हविःऽधानम् । दृꣳहस्व । मा । ह्वाः । मा । ते । यज्ञपतिरिति यज्ञऽपतिः । ह्वार्षीत् ॥ विष्णुः । त्वा । क्रमताम् । उरु । वाताय । अपहतमित्यपऽ

हतम् । रक्षः । यच्छन्ताम् । पंच ॥ ९ ॥

पदार्थः— (अह्रुतं) कुटिलतारहितम् । (असि) अस्ति । अत्र व्यत्ययः । (हविर्धानं) हविषां धानं स्थित्यधिकरणं । (दृंहस्व) वर्धयस्व वर्धयति वा । अत्रपक्षे व्यत्ययः । (मा ह्वाः) मा त्यजेः । अत्र लिङर्थे लुङ् । (मा) क्रियार्थे निषेधवाची । (ते) तव । (यज्ञपतिः) पूर्वोक्तस्य यज्ञस्य पतिः पालकः (ह्वार्षीत्) त्यजतु । अत्र लोडर्थे लुङ् । (विष्णुः) व्यापनशीलः सूर्य्यः । (त्वा) तद्धोतव्यं द्रव्यं । (क्रमतां) चालयति । अत्र लडर्थे लोट् । (उरु) बहु । उर्विति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३।१। (वाताय) वायोः शुद्धये सुखवृद्धये वा । (अपहतं) विनाशितम् । (रक्षः) दुर्गन्धादिदुःखजालं । (यच्छन्ताम्) निगृह्णन्तु ।(पंच) पंचभिरुत्क्षेपणादिभिः कर्मभिः। उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुंचनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि । वैशे० १।७ । अत्र सुपां सुलुगिति भिसो लुक् । अयं मंत्रः । श० १।१।२।१२—१६ व्याख्यातः ॥९॥

अन्वयः— हे ऋत्विक् त्वं यदग्निना दृंहितमह्रुतं हविर्धानमस्यस्ति तद्दृंहस्व किंतु तत्कदाचिन्मा ह्वार्मा त्यजेरिदं ते तव यज्ञपतिर्दृंहतां मा ह्वार्षीन्मा त्यजतु । एवं भवन्तः सर्वे मनुष्याः पंचभिरुत्क्षेपणादिभिः कर्मभिर्यदग्नौ हूयते तन्नियच्छन्तां निगृह्णन्तु । यद्द्रव्यं विष्णुर्व्यापनशीलः सूर्य्योऽपहतं रक्षो यथा स्यात्तथोरु वाताय क्रमयति चालयति । त्वा तत्सर्वं मनुष्या अग्नौ होमद्वारा यच्छन्तां निगृह्णन्तु ॥ ९ ॥

भावार्थः— यदा मनुष्याः परस्परं प्रीत्या कुटिलतां विहाय शिक्षकशिष्या भूत्वेमामग्निविद्यां विज्ञानक्रियाभ्यां ज्ञात्वाऽनुतिष्ठंति तदा महतीं शिल्पविद्यां संपाद्य शत्रुदारिद्र्यनिवारणपुरःसरं सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्तीति ॥ ९ ॥

पदार्थः— हे ऋत्विग् मनुष्य तुम जो अग्निसे बढ़ा हुआ । (अह्रुतं) कुटिलता-

रहित । (हविर्धानं) होमके योग्य पदार्थोंका धारण करना है उसको । (दृंहस्व) बढ़ाओ किंतु किसी समयमें । (मा ह्वाः) उसका त्याग मत करो तथा यह । (ते) तुम्हारा । (यज्ञपतिः) यजमान भी उस यज्ञके अनुष्ठानको न छोड़े ॥ इस प्रकार तुम लोग । (पंच) एक तो ऊपरको चेष्टा होना दूसरा नीचेको तीसरा चेष्टासे अपने अंगोंको संकोचना चौथा उनका फैलाना पांचमा चलना फिरना आदि इन पांच प्रकारके कर्मोंसे हवनके योग्य जो द्रव्य हो उसको अग्निमें । (यच्छन्तां) हवन करो । (त्वा) वह जो हवन किया हुआ द्रव्य है उसको । (विष्णुः) जो व्यापनशील सूर्य्य है वह । (अपहतं) (रक्षः) दुर्गंधादि दोषोंका नाश करता हुआ । (उरु वाताय) अत्यंत वायुकी शुद्धि वा सुखकी वृद्धिके लिये । (क्रमतां) चढ़ा देता है ॥९॥

भावार्थः— जब मनुष्य परस्पर प्रीतिके साथ कुटिलताको छोड़कर शिक्षा देनेवालेके शिष्य होके विशेष ज्ञान और क्रियासे भौतिक अग्निकी विद्याको जानकर उसका अनुष्ठान करते हैं तभी शिल्पविद्याकी सिद्धिके द्वारा सब शत्रु दारिद्र और दुःखोंसे छूटकर सब सुखोंको प्राप्त होते हैं इस प्रकार विष्णु अर्थात् व्यापक परमेश्वरने सब मनुष्योंके लिये आज्ञा दी है, जिसका पालन करना सबको उचित है ॥९॥

देवस्य त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता । भुरिग्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ।

तस्य यज्ञफलस्य ग्रहणं केन कुर्वन्तीत्युपदिश्यते ॥

उस यज्ञके फलका ग्रहण किस करके होना है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥१०॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् ॥
अग्नये । जुष्टम् । गृह्णामि । अग्नीषोमाभ्याम् । जुष्टम् । गृह्णामि ॥१०॥

पदार्थः— (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य सर्वसुखदातुरीश्वरस्य । (त्वा) तत् । (सवितुः) सविता वै देवानां प्रसविता । श० १।१। २।१७। तस्य सर्वजगदुत्पादकस्य सकलैश्वर्य्यप्रदातुः । (प्रसवे) सवितृप्रसूतेऽस्मिन् जगति । (अश्विनोः) सूर्य्याचन्द्रमसोरश्वयवौवा सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके । निरु० १२।१। (बाहुभ्यां) बलवीर्य्याभ्याम् । वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू । श० ५।३।३।१७। (पूष्णः) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य । (हस्ताभ्यां) ग्रहणविसर्जनाभ्यां । (अग्नये) अग्निविद्यासंपादनाय । (जुष्टं) विद्यां चिकीर्षुभिः सेवितं कर्म । (गृह्णामि) स्वीकरोमि । (अग्नीषोमाभ्यां) अग्निश्च सोमश्च ताभ्यामग्निजलविद्याभ्यां । (जुष्टं) विद्वद्भिः प्रीतं फलम् । (गृह्णामि) पूर्ववत् ॥ अयं मंत्रः । श० १।१।२।१७—१९। व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः— यत्सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टमस्ति त्वा तत् कर्माहं गृह्णामि । एवं च यद्विद्वद्भिरग्नीषोमाभ्यां जुष्टं प्रीतं चारु फलमस्ति तदहं गृह्णामि ॥ १० ॥

भावार्थः— विद्वद्भिर्मनुष्यैर्विद्वत्संगत्या सम्यक् पुरुषार्थेनेश्वरेणोत्पादितायामस्यां सृष्टौ सकलविद्यासिद्धये सूर्य्याचन्द्राग्निजलादिपदार्थानां सकाशात् सर्वेषां बलवीर्य्यवृद्धये च सर्वा विद्याः संसेव्यप्रचारणीयाः । यथा जगदीश्वरेण सकलपदार्थानामुत्पादनधारणाभ्यां सर्वोपकारः कृतोऽस्ति तथैवास्माभिरपि नित्यं प्रयतितव्यम् ॥ १० ॥

पदार्थः— मैं । (सवितुः) सब जगतके उत्पन्नकर्त्ता सकल ऐश्वर्य्यके दाता तथा । (देवस्य) संसारका प्रकाश करनेहारे और सब सुखदायक परमेश्वरके । (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए इस संसारमें । (अश्विनोः) सूर्य्य और चन्द्रमाके । (बाहुभ्यां) बल और वीर्य्यसे तथा । (पूष्णः) पुष्टि करनेवाले प्राणके । (हस्ताभ्यां) ग्रहण और त्यागसे । (अग्नये) अग्निविद्याके सिद्धकरनेके लिये । (जुष्टं) विद्या पढ़नेवाले जिस कर्मकी सेवा करते हैं । (त्वा) उसे । (गृह्णामि) स्वीकार

करता हूं । इसी प्रकार । (अग्नीषोमाभ्यां) अग्नि और जलकी विद्या करके । (जुष्टं) विद्वानोंने जिस कर्मको चाहा है उसके फलको । (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं ॥१०॥

भावार्थः—विद्वान् मनुष्योंको उचित है की विद्वानोंका समागम वा अच्छे प्रकार अपने पुरुषार्थसे परमेश्वरकी उत्पन्न की हुई प्रत्यक्ष सृष्टि अर्थात् संसारमें सकल विद्याकी सिद्धिके लिये सूर्य्य चन्द्र अग्नि और जल आदि पदार्थोंके प्रकाशसे सबके बल वीर्य्यकी वृद्धिके अर्थ अनेक विद्याओंको पढ़के उनका प्रचार करना चाहिये अर्थात् जैसे जगदीश्वरने सब पदार्थोंकी उत्पत्ति और उनकी धारणासे सबका उपकार किया है वैसेही हम लोगोंको भी नित्य प्रयत्न करना चाहिये ॥ १० ॥

भूताय त्वेति ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । स्वराड्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।

। यज्ञशालादिगृहाणि कीदृशानि रचनीयानीत्युपदिश्यते ।

उन यज्ञशाला आदिक घर कैसे बनाने चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

भूताय॑ त्वा नारा॑तये॒ स्व॑रभि॒विख्ये॑षन्दृꣳह॑न्तां दु॒र्याः॑ । पृ॒थि॒व्याम॒र्वन्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि ॥
पृ॒थि॒व्यास्त्वा॒ नाभौ॑ सादयाम्यदि॑त्या उ॒पस्थे॑ऽग्ने ह॒व्यꣳ र॑क्ष ॥ ११ ॥

भू॒ताय॑ । त्वा॒ । न । अरा॑तये । स्वः॑ । अ॒भि॒विख्ये॑ष॒मित्य॑ऽभि॒विख्ये॑षम् । दृꣳह॑न्ताम् । दु॒र्याः॑ ।
पृ॒थि॒व्याम् । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् । अनु॑ । ए॒मि ।
पृ॒थि॒व्याः । त्वा॒ । नाभौ॑ । सा॒द॒या॒मि॒ । अदि॑त्याः । उ॒पस्थ॒ इत्यु॒पऽस्थे॑ । अग्ने॑ । ह॒व्यम् । र॒क्ष॒ ॥ ११ ॥

पदार्थः—(भूताय) उत्पन्नानां प्राणिनां सुखाय । (त्वा) तं कृषिशिल्पादिसाधिनं । (न) निषेधार्थे । (अरातये) रातिर्दानं न विद्यते यस्मिन् तस्मै शत्रवे बहुदानकरणार्थं दारिद्र्यविनाशाय वा ।(स्वः)

सुखमुदकं वा। स्वरिति सुखनामसु पठितम्। निघं० ३।६। उदकनामसु च १।१२। (अभिविख्येषम्) अभितः सर्वतो विविधं पश्येयम् अत्राभिव्योरुपपदे चक्षिङ् इत्यस्याशीर्लिङ्यार्धधातुकसंज्ञामाश्रित्य ख्याञ् आदेशः। लिङ्याशिष्यङित्यङ् सार्वधातुकसंज्ञामाश्रित्य च या इत्यस्य इय् आदेशः। सकारलोपाभाव इति। (दृंहन्तां) दृंहन्तां वर्धयन्ताम्। अत्रांतर्गतो ण्यर्थः। (दुर्य्याः) गृहाणि। दुर्य्या इति गृहनामसु पठितम्। निघं० ३।४। (पृथिव्यां) विस्तृतायां भूमौ। (उरु) बहु। (अन्तरिक्षं) अवकाशं सुखेन निवासार्थं। (अनु) क्रियार्थे। (एमि) प्राप्नोमि। (पृथिव्याः) शुद्धाया विस्तृताया भूमेः। (त्वा) तं पूर्वोक्तं यज्ञं। (नाभा) मध्ये। (सादयामि) स्थापयामि। (अदित्याः) विज्ञानदीप्तेर्वेदवाचः सकाशादन्तरिक्षे मेघमंडलस्य मध्ये अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति मंत्रप्रामाण्यात। ऋ० १।८९।१०। अदितिरिति वाङ्नामसु पठितम्। निघं १।११। पदनामसु च। निघं० ४।१। (उपस्थे) समीपे। (अग्ने) परमेश्वर। (हव्यं) दातुं ग्रहीतुं योग्यं क्रियाकौशलं सुखं वा। (रक्ष) पालय। अयं मंत्रः। श० १।१।२।२०—२३। व्याख्यातः॥ ११॥

अन्वयः— अहं यं भूतायारातयेऽदानायादित्या उपस्थे यज्ञं सादयामि तं कदाचिन्न त्यजामि। हे विद्वांसो भवन्तः पृथिव्यां दुर्य्या दृंहन्तां वर्धयन्ताम्। अहं पृथिव्या नाभौ मध्ये येषु गृहेषु स्वरभिविख्येषं यस्यां पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षं चान्वेमि। हे अग्ने जगदीश्वर त्वमस्माकं हव्यं सर्वदा रक्षेत्येकोऽन्वयः। हे अग्ने परमेश्वराहंभूतायारातये पृथिव्या नाभौ ईश्वरत्वोपास्यत्वाभ्यां स्वः सुखरूपं त्वामभिविख्येषम्। प्रकाशयामि भवत्कृपयेमेऽस्माकं दुर्य्या गृहादयः पदार्थास्तत्रस्था मनुष्यादयः प्राणिनो दृंहन्तां नित्यं वर्धन्ताम्। अहं पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षं

व्यापकमुपस्थे त्वा त्वामन्वेमि नित्यं प्राप्नोमि न कदाचित्त्वा त्वां त्यजामि त्वमिममस्माकं हव्यं सर्वदा रक्ष । इति द्वितीयः । अहं शिल्पविद्यजमानो भूतायारातये पृथिव्या नाभौ त्वा तमग्निं होमार्थं शिल्पविद्यार्थं च सादयामि । यतोऽयमग्निरदित्या अन्तरिक्षस्योपस्थे हुतं हव्यं द्रव्यं रक्षति तस्मात्तं पृथिव्यां स्थापयित्वोर्वन्तरिक्षमन्वेमि । अत एव त्वा तं पृथिव्यां सादयामि । एवं कुर्वन्नहं स्वरभिविख्येषम् । तथैवेमे दुर्य्याः प्रासादास्तत्स्था मनुष्याश्च दृंहन्तां शुभगुणैवर्धन्तामिति मत्वा तमिममग्निं कदाचिन्नाहं त्यजामि इति तृतीयोऽन्वयः॥११॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालंकारः । ईश्वरेण मनुष्य आज्ञाप्यते । हे मनुष्य अहं त्वां सर्वेषां भूतानां सुखदानाय पृथिव्यां रक्षयामि त्वया वेदविद्याधर्मानुष्ठानयुक्तेन पुरुषार्थेन सुन्दराणि सर्वर्तुसुखयुक्तानि सर्वतो विशालावकाशसहितानि गृहाणि रचयित्वा सुखं प्रापणीयम् । तथा मत्सृष्टौ यावन्तः पदार्थाः सन्ति । तेषां सम्यग्गुणान्वेषणं कृत्वाऽनेका विद्याः प्रत्यक्षीकृत्य तासां रक्षणं प्रचारश्च सदैव संभावनीयः । मनुष्येणात्रैवं मन्तव्यं सर्वत्राभिव्यापकं सर्वसाक्षिणं सर्वमित्रं सर्वसुखवर्धकमुपास्यतमं सर्वशक्तिमन्तं परमेश्वरं ज्ञात्वा सर्वोपकारो विविधविद्यावृद्धिर्धर्मोपस्थानमधर्माद्दूरं स्थितिः क्रियाकौशलसंपादनं यज्ञक्रियानुष्ठानं च कर्त्तव्यमिति । अत्र महीधरेण भ्रान्त्या अभिविख्येषमिति पदं ख्या प्रकथने इत्यस्य दर्शनार्थे गृहीतं तत् धात्वर्थादेव विरुद्धम् ॥ ११ ॥

पदार्थः— मैं जिस यज्ञको । (भूताय) प्राणियोंके सुख तथा । (अरातये) दारिद्र्य आदि दोषोंके नाशके लिये । (अदित्या) वेदवाणी वा विज्ञानप्रकाशके । (उपस्थे) गुणोंमें । (सादयामि) स्थापन करता हूं और । (त्वा) उसको कभी (न) नहीं छोड़ता हूं । हे विद्वान् लोगो तुमको उचित है कि । (पृथिव्यां) विस्तृत भूमिमें । (दुर्य्याः) अपने घर । (दृंहन्तां)बढ़ाने चाहिये मैं । (पृथिव्याः) (नाभौ) पृथि-

बीके बीचमें जिन गृहोंमें । (स्वः) जल आदि सुखके पदार्थोंको । (अभिविख्येषम्) सब प्रकारसे देखूं और । (उर्वन्तरिक्षं) उक्त पृथिवीमें बहुतसा अवकाश देकर सुखसे निवास करनेके योग्य स्थान रचकर । (अन्वेमि) प्राप्त होता हूं । हे (अग्ने) जगदीश्वर आप। (हव्यम्) हमारे देने लेने योग्य पदार्थोंकी । (रक्ष) सर्वदा रक्षा कीजिये ॥ यह प्रथम पक्ष हुआ ॥ अब दूसरा पक्ष । हे अग्ने परमेश्वर मैं । (भूताय) संसारी जीवोंके सुख तथा । (अरातये) दरिद्रका विनाश और दान आदि धर्म करनेके लिये । (पृथिव्याः) पृथिवीके ।(नाभौ) बीचमें ईश्वरकी सत्ता और उसकी उपासनासे । (स्वः) सुखस्वरूप । (त्वा) आपको । (अभिविख्येषम्) प्रकाश करता हूं । तथा आपकी कृपासे मेरे घर आदि पदार्थ और उनमें रहनेवाले मनुष्य आदि प्राणि । (दृंहन्तां) वृद्धिको प्राप्त हों और मैं । (पृथिव्याम्) विस्तृत भूमिमें । (उरु) बहुतसे । (अंतरिक्षं) अवकाशयुक्त स्थानको निवासके लिये । (अदित्या उपस्थे) सर्वत्र व्यापक आपके समीप सदा । (अन्वेमि) प्राप्त होता हूं । कदाचित् (त्वा) आपका त्याग । (न) नहीं करता हूं । हे जगदीश्वर आप मेरे । (हव्यं) अर्थात् उत्तम पदार्थोंको सर्वदा । (रक्ष) रक्षा कीजिये ॥ यह दूसरा पक्ष हुआ ॥ तथा तीसरा और भी कहते हैं । मैं शिल्पविद्याका जाननेवाला यज्ञको करता हुआ । (भूताय) सांसारिक प्राणियोंके सुख और । (अरातये) दरिद्र आदि दोषोंके विनाश वा सुखसे दान आदि धर्म करनेकी इच्छासे । (पृथिव्या नाभौ) इस पृथिवीपर शिल्पविद्याकी सिद्धि करनेवाला जो । (अग्ने) अग्नि है उसको हवन करने वा शिल्पविद्याकी सिद्धिके लिये । (सादयामि) स्थापन करता हूं क्योंकि उक्त शिल्पविद्या इसीसे सिद्ध होती है । (अदित्याः) तथा जो अन्तरिक्षमें स्थित मेघमंडलमें होमद्वारा पहुंचे हुए उत्तम उत्तम पदार्थोंकी रक्षा करनेवाला है इस लिये इस अग्निको । (पृथिव्याः) पृथिवीमें स्थापन करके । (उर्वन्तरिक्षं) बड़े अवकाशयुक्त स्थान और विविध प्रकारके सुखोंको प्राप्त होता हूं अथवा इसी प्रयोजनके लिये इस अग्निको पृथिवीमें स्थापन करता हूं इस प्रकार श्रेष्ठ कर्मोंको करता हुआ । (स्वः) अनेक सुखोंको । (अभिविख्येषम्) देखूं तथा मेरे । (दुर्याः) घर और उनमें रहनेवाले मनुष्य (दृंहन्ताम्) शुभ गुण और सुखसे वृद्धिको प्राप्त हों इस लिये इस भौतिक अग्निका भी त्याग मैं कभी । (न) नहीं करता हूं ॥ यह तीसरा अर्थ हुआ ॥ ११ ॥

भावार्थः— इस मंत्रमें श्लेषालंकार है और ईश्वरने आज्ञा दी है कि हे मनुष्य लोगो मैं तुम्हारी रक्षा इस लिये करता हूं कि तुम लोग पृथिवीपर सब प्राणियोंको

सुख पहुंचाओ तथा तुमको योग्य है कि वेदविद्या धर्मके अनुष्ठान और अपने पुरुषार्थद्वारा विविध प्रकारके सुख सदा बढ़ाने चाहिये तुम सब ऋतुओंमें सुख देनेके योग्य बहुत अवकाशयुक्त सुन्दर घर बनाकर सर्वदा सुख सेवन करो और मेरी सृष्टिमें जितने पदार्थ हैं उनसे अच्छे अच्छे गुणोंको खोजकर अथवा अनेक विद्याओंको प्रगट करते हुए फिर उक्त गुणोंका संसारमें अच्छे प्रकार प्रचार करते रहो कि जिससे सब प्राणियोंको उत्तम सुख बढ़ता रहे तथा तुमको चाहिये कि मुझको सब जगह व्याप्त सबका साक्षी सबका मित्र सब सुखोंका बढ़ानेहारा उपासनाके योग्य और सर्व शक्तिमान जानकर सबका उपकार विविध विद्याकी वृद्धि धर्ममें प्रवृत्ति अधर्मसे निवृत्ति क्रियाकुशलताकी सिद्धि और यज्ञक्रियाके अनुष्ठान आदि करनेमें सदा प्रवृत्त रहो ॥ इस मंत्रमें महीधरने भ्रांतिसे । (अभिविख्येषं) यह पद (ख्या प्रकथने) इस धातुका दर्शन अर्थमें माना है यह धातुके अर्थसेही विरुद्ध होने करके अशुद्ध है ॥ ११ ॥

पवित्रे स्थ इत्यस्य ऋषिः स एव । अप्सवितारौ देवते । स्वराट् त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

॥ अग्नौ हुतं द्रव्यं मेघमंडलं प्राप्य कीदृशं भवतीत्युपदिश्यते ॥

अग्निमें जिस द्रव्यका होम किया जाता है वह मेघमंडलको प्राप्त होके किस प्रकारका होकर क्या गुण करता है इस बातका उपदेश ईश्वरने अगले मंत्रमें किया है ।

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः ॥
देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्र इममद्ययज्ञन्नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम् ॥ १२ ॥

पवित्रे इति पवित्रे । स्थः । वैष्णव्यौ । सवितुः । वः । प्रसव इति प्रऽसवे । उत् । पुनामि । अच्छिद्रेण । पवित्रेण । सूर्य्यस्य । रश्मिभिरिति रश्मिऽभिः ॥

देवीः । आपः । अग्रेगुव इत्यग्रेऽगुवः । अग्रेपुव इत्यग्रेऽपुवः ।

अग्ने । इमम् । अद्य । यज्ञम् । नयत । अग्ने । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । सुधातुमिति सुधाऽतुम् । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । देवयुवमिति देवऽयुवम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(पवित्रे) पवित्रकरणहेतू प्राणापानगती । (स्थः) भवतः । अत्र व्यत्ययः । (वैष्णव्यौ) यज्ञस्येमौ व्याप्तिकर्त्तारौ पवनपावकौ तौ । (सवितुः) जगदुत्पादकस्येश्वरस्य । (वः) ताः । अत्र पुरुषव्यत्ययः । (प्रसवे) उत्पन्नेऽस्मिन् जगति । (उद्) धात्वर्थे । उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १।३। (पुनामि) पवित्रीकरोमि । (अच्छिद्रेण) छिद्ररहितैः । (पवित्रेण) शुद्धिकरणहेतुभिः । (सूर्य्यस्य) प्रत्यक्षलोकस्य । (रश्मिभिः) किरणैः । (देवीः) दिव्यगुणयुक्ताः । अत्र सुपां सुलुगिति पूर्वसवर्णादेशः । (आपः) जलानि । (अग्रेगुवः) अग्ये समुद्रेऽन्तरिक्षे गच्छन्तीति ताः । (अग्रेपुवः) प्रथमां पृथिवीस्थसोमौषधिं सेविकाः । (अग्रे) पुरःसरत्वे क्रियासंबंधे । (इमं) प्रत्यक्षं । (अद्य) अस्मिन्नहनि । (यज्ञं) पूर्वोक्तं । (नयत) प्रापयत । (अग्रे) (यज्ञपतिं) यज्ञस्यानुष्ठातारं स्वामिनं । (सुधातुं) शोभना धातवः शरीरस्था मनआदयः सुवर्णादयो वा यस्य तम् । (यज्ञपतिं) यज्ञस्य कामयितारं । (देवयुवं) देवान् विदुषो दिव्यगुणान्वा यौति प्राप्नोति प्रापयतीति वा तम् । अयं मंत्रः श० १।१ ३।१—७। व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो यथा सवितुः परमेश्वरस्य प्रसवेऽस्मिन् संसारेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः पवित्रे शुद्धौ वैष्णव्यौ पवनपावकौ स्थो भवतः । यथा चैतैरग्रेगुवोऽग्रेपुवो देवीरापः पवित्रा भवेयुस्तथा शुद्धानि द्रव्याण्यग्नौ प्रापयत तथैवाहमग्रेमं यज्ञमग्रे नीत्वाऽग्रे सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवं यज्ञपतिं चोत्पुनामि ॥ १२ ॥

भावार्थः— अत्र लुप्तोपमालंकारः । ये पदार्थाः संयोगेन विकारं प्राप्नुवन्ति । अग्निना छिन्नाः पृथक् पृथक् परमाणवो भूत्वा वायौ विहरन्ति ते शुद्धा भवन्ति यथा यज्ञानुष्ठानेन वायुजलानामुत्तमे शुद्धिपुष्टी जायेते । न तथाऽन्येन भवितुमर्हतः तस्माद्धोमक्रियाशुद्धैर्वाय्वग्निजलादिभिः शिल्पविद्यया यानानि साधयित्वा कामनासिद्धिं कुर्य्युः कारयेयुश्च या आपोऽस्मात्स्थानादुत्थाय समुद्रमन्तरिक्षं गच्छन्ति ततः पुनः पृथिव्यादिपदार्थानागच्छन्ति । ताः प्रथमाः संख्यायन्ते या मेघस्थास्ता द्वितीया इति । शतपथब्राह्मणे मेघस्य वृत्रस्य सूर्य्यलोकस्य च युद्धाख्यायिकयाऽस्य मंत्रस्य व्याख्याने मेघविद्योक्ता ॥ १२ ॥

पदार्थः— हे विद्वान् लोगो तुम जैसे । (सवितुः) परमेश्वरके । (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए इस संसारमें । (अच्छिद्रेण) निर्दोष और । (पवित्रेण) पवित्र करनेका हेतु जो । (सूर्य्यस्य) सूर्य्यकी । (रश्मिभिः) किरण हैं उनसे । (वैष्णव्यौ) यज्ञसंबंधी प्राण और अपानकी गती । (पवित्रे) पदार्थोंके भी पवित्र करनेमें हेतु । (स्थः) हो और जैसे (उन सूर्य्यकी किरणोंसे । (अग्रेगुवः) आगे समुद्र वा अन्तरिक्षमें चलें । (अग्रेपुवः) प्रथम पृथिवीमें रहनेवाली सोम ओषधिके सेवन करने तथा । (देवीः) दिव्यगुणयुक्त । (आपः) जल पवित्र हो । वैसे (नयत) पवित्र पदार्थोंका होम अग्निमें करो वैसेही मैं भी । (अद्य) आजके दिन । (इमं) इस । (यज्ञं) पूर्वोक्त क्रियासंबंधी यज्ञको प्राप्त करके । (अग्रे) जो प्रथम । (सुधातुं) श्रेष्ठ मन आदि इन्द्रिय और सुवर्ण आदि धनवाला । (यज्ञपतिं) यज्ञका नियमसे पालक तथा । (देवयुवं) विद्वान् और श्रेष्ठ गुणोंको प्राप्त होने वा उनको प्राप्त कराने । (यज्ञपतिं) यज्ञकी इच्छा करनेवाला मनुष्य है उसको । (उत्पुनामि) पवित्र करता हूं ॥ १२ ॥

भावार्थः— इस मंत्रमें लुप्तोपमालंकार है । जो पदार्थ संयोगसे विकारको प्राप्त होते हैं वे अग्निके निमित्तसे अति सूक्ष्म परमाणुरूप होकर वायुके बीच रहा करते हैं और कुछ शुद्ध भी हो जाते हैं परन्तु जैसी यज्ञके अनुष्ठानसे वायु और वृष्टि जलकी उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती हैं वैसी दूसरे उपायसे कभी नहीं हो सक-

ती इससे विद्वानोंको चाहिये कि होमक्रिया और वायु अग्नि जल आदि पदार्थ वा शिल्पविद्यासे अच्छी अच्छी सवारी बनाके अनेक प्रकारके लाभ उठावें अर्थात् अपनी मनोकामना सिद्धि करके औरोंकी भी कामनासिद्धि करें । जो जल इस पृथिवीसे अन्तरिक्षको चढ़कर वहांसे लौटकर फिर पृथिवी आदि पदार्थोंको प्राप्त होते हैं वे प्रथम और जो मेघमें रहनेवाले हैं वे दूसरे कहाते हैं । ऐसी शतपथ ब्राह्मणमें मेघका वृत्र तथा सूर्य्यका इन्द्र नामसे वर्णन करके युद्धरूप कथाके प्रकाशसे मेघविद्या दिखलाई है ॥ १२ ॥

युष्मा इन्द्रो वृणीतेत्यस्य ऋषिः पूर्वोक्तः। इन्द्रो देवता । निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः । अग्नये त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । विराड्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । दैव्याय कर्म्मण इत्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ।

॥ पुनस्ताः कथंभूता आप इन्द्रवृत्रयुद्धं चेत्युपदिश्यते ॥

उक्त जल किस प्रकारके हैं वा इन्द्र और वृत्रका युद्ध कैसे होता है सो अगले मंत्रमें कहा गया है ॥

युष्मा इन्द्रो॑ऽवृणीत वृत्रतू॑र्य्ये यूयमिन्द्र॑मवृणीध्वं वृत्रतू॑र्य्ये प्रोक्षि॑ताः स्थ ॥ अग्नये॑ त्वा जुष्टम्प्रोक्षा॑म्यग्नीषोमा॑भ्यां त्वा जुष्टम्प्रोक्षा॑मि ॥ दैव्या॑य कर्म॑णे शुन्धध्वं देवयज्या॑यै यद्वो शुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ १३ ॥

युष्माः । इन्द्रः । अवृणीत । वृत्रतूर्य्य इति वृत्रऽतूर्य्ये । यूयम् । इन्द्रम् । अवृणीध्वम् । वृत्रतूर्य्य इति वृत्रऽतूर्य्ये । प्रोक्षिता इति प्रऽउक्षिताः । स्थ । अग्नये । त्वा । जुष्टम् । प्र उक्षामि । अग्नीषोमाभ्याम् । त्वा । जुष्टम् । प्रऽउक्षामि ॥ दैव्याय । कर्मणे । शुन्धध्वम् । देवयज्याया इति देवय-

ज्यायै । यत् । वः । अशुद्धाः । पराजघ्नुरिति पराऽजघ्नुः । इदम् । वः । तत् । शुन्धामि ॥ १३ ॥

पदार्थः— (युष्माः) ताः पूर्वोक्ता आपः । अत्र व्यत्ययो वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति शसः सकारस्य नत्वाभावश्च । (इन्द्रः) सूर्य्यलोकः । (अवृणीत) वृणीते । अत्र लडर्थे लङ् । (वृत्रतूर्य्ये) वृत्रस्य मेघस्य तूर्य्यो वधस्तस्मिन् । वृत्र इति मेघनामसु पठितम् । निघं० १।१० । तूरी गतित्वरणहिंसनयोरित्यस्मात्कर्मणि ण्यत् । वृत्रतूर्य्य इति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २।१७। (यूयम्) विद्वांसो मनुष्याः । (इन्द्रं) वायुम् । इन्द्रेण वायुना । ऋ० १।१४।१०। इतीन्द्रशब्देन वायोर्ग्रहणम् । (अवृणीध्वं) वृणते स्वीकुरुध्वम् । अत्र प्रथमपक्षे लडर्थे लङ् । (वृत्रतूर्य्ये) वृत्रस्य तूर्य्ये शीघ्रवेगे । (प्रोक्षिताः) प्रकृष्टतया सिक्ताः सेचितावा । (स्थ) भवन्ति । अत्रापि व्यत्ययः । (अग्नये (भौतिकाय परमेश्वराय वा । (त्वा) तं यज्ञम् । (जुष्टम्) विद्याप्रीतिक्रियाभिः सेवितम् । (प्रोक्षामि) सेचयामि । (अग्नीषोमाभ्यां) अग्निश्च सोमश्च ताभ्यां । (त्वा) तं वृष्ट्यर्थं । (जुष्टं) प्रीतं प्रीत्या सेवनीयम् । (प्रोक्षामि) प्रेरयामि । (दैव्याय) दिवि भवं दिव्यं तस्य भावस्तस्मै । (कर्मणे) पंचविधलक्षणचेष्टामात्राय । उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुंचनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि । वैशे० १ । ७ । इत्यत्र पंचविधं कर्म गृह्यते । (शुन्धध्वम्) शुन्धन्ति शोधयत वा । अत्रापि व्यत्ययः आत्मनेपदं च । (देवयज्यायै) देवानां विदुषां दिव्यगुणानां वा यज्या सत्क्रिया तस्यै । छन्दसि निष्टर्क्य० अ० ३ । १ । १२३ । इति देवयज्याशब्दो निपातितः । (यत्) यस्माद्यज्ञेन शोधितत्वात् । (वः) तासां युष्माकं वा । (अशुद्धाः) न शुद्धा अशुद्धा गुणाः । (पराजघ्नुः) प-

राहता विनष्टा भवेयुः। अत्र लिङर्थे लिट्। (इदं) शोधनम्। (वः) तासां युष्माकं वा। (तत्) तस्मादशुद्धिनाशेन सुखार्थत्वात्। (शुन्धामि) पवित्रीकरोमि ॥ अयं मंत्रः। श० १।१।३।८—१२ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः— यथाऽयमिन्द्रो वृत्रतूर्य्ये युष्मास्ताः पूर्वोक्ता आप अवृणीत वृणीते। यथा ता इन्द्रं वायुमवृणीध्वं वृणते तथैव ता आपो यूयं वृत्रतूर्य्ये प्रोक्षिता वृणीध्वम्। यथा ता आपः शुद्धाः स्थो भवेयुरेतदर्थमहं यज्ञानुष्ठाता दैव्याय कर्मणे देवयज्यायां अग्नये जुष्टं त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि। एवमग्नीषोमाभ्यां त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि। एवं यज्ञशोधितास्ता आपः शुन्धध्वं शुन्धन्ति यद्वस्तासामशुद्धा गुणास्ते पराजघ्नुस्तत् तस्मात् वस्तासामिदं शोधनं शुन्धामि। इत्येकोऽन्वयः ॥ हे यज्ञानुष्ठातारो मनुष्या यद्यदिन्द्रो वृत्रतूर्य्ये युष्मा इन्द्रमवृणीत यद्यस्माच्चेन्द्रेण वृत्रतूर्य्ये ताः प्रोक्षिताः स्थ भवन्ति। तस्माद्यूयं त्वा तं यज्ञं सदा वृणीध्वम्। एवं च सर्वो जनोऽहं दैव्याय कर्मणे देवयज्याया अग्नये त्वा तं जुष्टं यज्ञं प्रोक्षामि तथा चाग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि एवं कुर्वन्तो यूयं सर्वान् पदार्थान् जनांश्च शुन्धध्वं शोधयत। यद्वोऽशुद्धा दोषास्ते सदैव पराजघ्नुर्निवृत्ता भवेयुस्तत्तस्मात्कारणादहं वो युष्माकमिदं शोधनं शुन्धामि ॥ इति द्वितीयोन्वयः ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालंकारः। ईश्वरेणाग्निसूर्य्यावेतदर्थौ रचितौ यदिमौ सर्वेषां पदार्थानां मध्ये प्रविष्टौ जलौषधिरसान् छित्वा। वायुं प्राप्य मेघमण्डलं गत्वा गत्य च शुद्धिसुखकारका भवेयुस्तस्मान्मनुष्यैरुत्तमसुखलाभायाग्नौ सुगन्ध्यादिपदार्थानां होमेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा दिव्यसुखानामुत्पादनाय संप्रीत्या नित्यं यज्ञः करणीयः। यतः सर्वे दोषा नष्टा भूत्वाऽस्मिन् विश्वे सततं शुद्धा गुणाः प्रकाशि-

ता भवेयुः । एतदर्थमहमीश्वर इदं शोधनमादिशामि यूयं परोपकारार्थानि शुद्धानि कर्माणि नित्यं कुरुतेति । एवं रीत्यैव वाय्वग्निजलगुणग्रहणप्रयोजनाभ्यां शिल्पविद्ययाऽनेकानि यानानि यंत्रकलाश्च रचयित्वा पुरुषार्थेन सदैव सुखिनो भवतेति ॥ १२ ॥

पदार्थः— यह । (इन्द्रः) सूर्य्यलोक । (वृत्रतूर्य्ये) मेघके बधके लिये । (युष्माः) पूर्वोक्त जलोंको । (अवृणीत) स्वीकार करता है जैसे जल । (इन्द्रं) वायुको । (अवृणीध्वम्) स्वीकार करते हैं वैसेही । (यूयं) हे मनुष्यो तुम लोग उन जल ओषधी रसोंको शुद्ध करनेके लिये । (वृत्रतूर्य्ये) मेघके शीघ्रवेगमें । (प्रोक्षिताः) संसारि पदार्थोंके सींचनेवाले जलोंको । (अवृणीध्वं) स्वीकार करो और जैसे वे जल शुद्ध । (स्थ) होते हैं वैसे तुम भी शुद्ध हो । इसलिये मैं यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला । (दैव्याय) सबको शुद्ध करनेवाले । (कर्मणे) उत्क्षेपण—उछालना । अवक्षेपण—नीचे फेंकना । आकुंचन—सिमेटना । प्रसारण—फैलाना । गमन—चलना आदि पांच प्रकारके कर्म हैं उनके और । (देवयज्यायै) विद्वान् वा श्रेष्ठ गुणोंकी दिव्य क्रियाके लिये । तथा (अग्नये) भौतिक अग्निसे सुखके लिये । (जुष्टम्) अच्छी क्रियाओंसे सेवन करने योग्य । (त्वा) उस यज्ञको । (प्रोक्षामि) करता हूं तथा । (अग्नीषोमाभ्यां) अग्नि और सोममें वर्षाके निमित्त । (जुष्टं) प्रीति देनेवाला और प्रीतिसे सेवने योग्य । (त्वा) उक्त यज्ञको । (प्रोक्षामि) मेघमंडलमें पहुंचाताहूं इस प्रकार यज्ञसे शुद्ध किये हुए जल । (शुन्धध्वं) अच्छे प्रकार शुद्ध होते हैं । (यत्) जिसकारण यज्ञकी शुद्धिसे । (वः) पूर्वोक्त जलोंके अशुद्धि आदि दोष । (पराजघ्नुः) निवृत्त हों । (तत्) उन जलोंकी शुद्धिको मैं । (शुंधामि) अच्छे प्रकार शुद्ध करताहूं । यह इस मंत्रका प्रथम अर्थ है । हे यज्ञ करनेवाले मनुष्यो । (यत्) जिस कारण । (इन्द्रः) सूर्य्यलोक । (वृत्रतूर्य्ये) मेघके बधके निमित्त । (युष्माः) पूर्वोक्त जल और । (इन्द्रं) पवनको । (अवृणीत) स्वीकार करता है तथा जिस कारण सूर्य्यने । (वृत्रतूर्य्ये) मेघकी शीघ्रताके निमित्त । (युष्माः) पूर्वोक्त जलोंको । (प्रोक्षिताः) पदार्थ सींचनेवाले । (स्थ) किये हैं इससे । (यूयं) तुम । (त्वा) उक्त यज्ञको सदा स्वीकार करके । (नयत) सिद्धिको प्राप्त करो इस प्रकार हम सब लोग । (दैव्याय) श्रेष्ठ कर्म वा (देवयज्यायै) विद्वान् और दिव्य गुणोंकी श्रेष्ठ क्रियाओंके तथा । (अग्नये) परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये । (जुष्टं) प्रीति करानेवाले यज्ञको । (प्रोक्षामि) सेवन करें तथा । (अग्नीषोमाभ्यां) अग्नि और सोमसे प्र-

काशित होनेवाले । (त्वा) उक्त यज्ञको । (प्रोक्षामि) मेघमंडलमें पहुंचावें हे मनुष्यो इस प्रकार करते हुए तुम सब पदार्थ वा सब मनुष्योंको । (शुन्धध्वम्) शुद्ध करो । (यत्) और जिससे । (वः) तुम लोगोंके अशुद्धि आदि दोष हैं वे सदा । (पराजग्मुः) निवृत्त होते रहें । वैसेही मैं वेदका प्रकाश करनेवाला तुम लोगोंके शोधन अर्थात् शुद्धि प्रकारको । (शुन्धामि) अच्छे प्रकार बढ़ाताहूं ॥ १३ ॥

भावार्थः— परमेश्वरने अग्नि और सूर्यको इस लिये रचा है कि वे सब पदार्थोंमें प्रवेश करके उनके रस और जलको छिन्न भिन्न कर दें जिससे वे वायुमंडलमें जाकर फिर वहांसे पृथिवीपर आके सबको सुख और शुद्धि करनेवाले हों । इससे मनुष्योंको उत्तम सुख प्राप्त होनेके लिये अग्निमें सुगंधित पदार्थोंके होमसे वायु और वृष्टि जलकी शुद्धिद्वारा श्रेष्ठ सुख बढ़ानेके लिये प्रीतिपूर्वक नित्य यज्ञ करना चाहिये जिससे इस संसारके सब रोग आदि दोष नष्ट होकर उसमें शुद्ध गुण प्रकाशित होते रहें इसी प्रयोजनके लिये मैं ईश्वर तुम सभोंको उक्त यज्ञके निमित्त शुद्धि करनेका उपदेश करताहूं कि हे मनुष्यो तुम लोग परोपकार करनेके लिये शुद्ध कर्मोंको नित्य किया करो तथा उक्त रीतिसे वायु अग्नि और जलके गुणोंको शिल्पक्रियामें युक्त करके अनेक यान आदि यंत्रकला बनाकर अपने पुरुषार्थसे सदैव सुखयुक्त हो ॥ १३ ॥

शर्मासीत्यस्य पूर्वोक्त ऋषिः । यज्ञो देवता । स्वराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।

पुनः स यज्ञः कीदृशोऽस्ति कथं कर्तव्यश्चेत्युपदिश्यते ।

उक्त यज्ञ किस प्रकारका है और किस प्रकारसे करना चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु ।
अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ १४ ॥

शर्म । असि । अवधूतमित्यवधूतम् । रक्षः । अवधूता इत्य-

वऽधूताः । अरातयः । अदित्याः । त्वक् । असि । प्रति । त्वा । अदितिः । वेत्तु ॥

अद्रिः । असि । वानस्पत्यः । ग्रावा । असि । पृथुबुध्न इति पृथुबुध्नः । प्रति । त्वा । अदित्याः । त्वक् । वेत्तु ॥ १४ ॥

पदार्थः– (शर्म) सुखकारकं गृहं । शर्म इति गृहनामसु पठितम् । निघं० ३।४। (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (अवधूतम्) दूरीकृतं विचालितम् । (रक्षः) दुष्टस्वभावो जन्तुः । (अवधूताः) दूरीभूताः । (अरातयः) दानशीलतारहिताः शत्रवः । (अदित्याः) पृथिव्याः । अदितिरिति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं० १।१। (त्वक्) त्वग्वत् । (असि) भवति । (प्रति) क्रियार्थे पश्चादर्थे । प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १।३। (त्वा) तत्तं वा । (अदितिः) नाशरहितो जगदीश्वरः । अदितिरिति पदनामसु पठितम् । निघं० ५।५। अनेन ज्ञानस्वरूपोऽर्थो गृह्यते । अन्तरिक्षं वा । (वेत्तु) जानातु ज्ञापयतु वा । (अद्रिः) मेघा अद्रिरिति मेघनामसु पठितम् । निघं० १।१०। (असि) अस्ति । (वानस्पत्यः) वनस्पतेर्विकारो रसमयः । (ग्रावा) जलगृहीतो मेघः । ग्रावेति मेघनामसु पठितम् । निघं० १।१०। (असि) अस्ति । (पृथुबुध्नः) पृथु विस्तीर्णं बुध्नमन्तरिक्षं निवासार्थं यस्य स पृथुबुध्नो मेघः । बुध्नमन्तरिक्षं बद्धा अस्मिन् धृता आप इति । निरु० १०।४४। (प्रति) उक्तार्थे । (त्वा) तं । (अदित्याः) अन्तरिक्षस्य । (त्वक्) त्वग्वत् सेवितं । (वेत्तु) जानातु ज्ञापयतु वा । अयं मंत्रः । श० १।१।४। ४–७। व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः– हे मनुष्या युष्मद्गृहं शर्मासि भवतु तस्माद्गृहाद्रक्षोऽवधूतमरातयोऽवधूता भवन्तु । तच्च गृहमदित्यास्त्वगसि पृथिव्यास्त्व-

ग्वदस्त्विति सर्वो जनः प्रतिवेत्तु । यो वानस्पत्योऽद्रिः पृथुबुध्नो ग्रावा मेघोसि वर्त्तते । एतद्विद्यामदितिर्जगदीश्वरस्तुभ्यं वेत्तु कृपया वेदयतु । विद्वानप्यदित्यास्त्वग्वत्त्वा तं व्यवहारं प्रतिवेत्तु ॥ १४ ॥

भावार्थः— ईश्वरेणाज्ञाप्यते मनुष्यैः शुद्धायाः सर्वतोऽवकाशयुक्तायाः पृथिव्या मध्ये सर्वेष्वृतुषु सुखदायकं गृहं रचयित्वा तत्र सुखेन स्थातव्यम् । तस्मात्सर्वे दुष्टा मनुष्या दोषाश्च निवारणीयास्तत्र सर्वाणि साधनान्यपि स्थापनीयानि । तत्रैव वृष्टिहेतुर्यज्ञोऽनुष्ठाय सुखानि संपादनीयानि । एवं कृते वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा जगति महत्सुखं सिध्यतीति ॥ १४ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो तुम्हारा घर । (शर्म) सुख देनेवाला । (असि) हो । उस घरसे । (रक्षः) दुष्टस्वभाववाले प्राणी । (अवधूतं) अलग करो और । (अरातयः) दान आदि धर्मरहित शत्रु । (अवधूताः) दूर हों । उक्त गृह । (अदित्याः) पृथिवीकी । (त्वक्) त्वचाके तुल्य । (असि) हो । (अदितिः) ज्ञानस्वरूप ईश्वरहीसे उस घरको (प्रतिवेत्तु) सब मनुष्य जानें और प्राप्त हों तथा जो । (वानस्पत्यः) वनस्पतीके निमित्तसे उत्पन्न होने । (पृथुबुध्नः) अतिविस्तारयुक्त अन्तरिक्षमें रहने तथा । (ग्रावा) जलका ग्रहण करनेवाला । (अद्रिः) मेघ । (असि) है उस और इस विद्याको । (अदितिः) जगदीश्वर तुम्हारे लिये । (वेत्तु) कृपा करके जनावें । विद्वान् पुरुष भी । (अदित्याः) पृथिवीकी । (त्वक्) त्वचाके समान । (त्वा) उक्त घरकी रचनाको (प्रतिवेत्तु) जानें ॥ १४ ॥

भावार्थः— ईश्वर मनुष्योंको आज्ञा देता है कि तुम लोग शुद्ध और विस्तारयुक्त भूमिके बीचमें अर्थात् बहुतसे अवकाशमें सब ऋतुओंमें सुख देने योग्य घरको बनाके उसमें सुखपूर्वक वास करो । तथा उसमें रहनेवाले दुष्ट स्वभावयुक्त मनुष्यादि प्राणी और दोषोंको निवृत्त करो फिर उसमें सब पदार्थ स्थापन और वर्षाका हेतु जो यज्ञ है उसका अनुष्ठान करके नानाप्रकारके सुख उत्पन्न करना चाहिये क्योंकि यज्ञके करनेसे वायु और वृष्टिजलकी शुद्धिद्वारा संसारमें अत्यंत सुख सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

अग्नेस्तनूरित्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । निचृज्जगती

छन्दः । निषादः स्वरः । हविष्कृदिति याजुषी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः कीदृशो भवतीत्युपदिश्यते ।

उक्त यज्ञ किस प्रकारका होता है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि वा॒चो वि॒सर्ज॑नन्दे॒ववी॑तये त्वा गृह्णामि बृ॒हद्ग्रा॑वासि वानस्प॒त्यः स इ॒दन्दे॒वेभ्यो॑ ह॒विः श॑मीष्व सु॒शमि॒ शमीष्व ॥ ह॒वि॒ष्कृ॒देहि॑ हवि॒ष्कृ॒देहि॑ ॥ १५ ॥

अ॒ग्नेः । त॒नूः । अ॒सि॒ । वा॒चः । वि॒सर्ज॑न॒मिति॑ वि॒ऽसर्ज॑नम् । दे॒ववी॑तय॒ इति॑ दे॒वऽवी॑तये । त्वा॒ । गृ॒ह्णा॒मि॒ । बृ॒हद्ग्रा॒वेति॑ बृ॒हत्ऽग्रा॑वा । अ॒सि॒ । वा॒न॒स्प॒त्यः । सः । इ॒दम् । दे॒वेभ्यः॑ । ह॒विः । श॒मी॒ष्वेति॑ श॒मी॒ष्व । सु॒शमीति॑ सु॒ऽश॒मि॒ । श॒मी॒ष्वेति॑ शमी॒ष्व । ह॒वि॒ष्कृ॒दिति॑ ह॒विः॒कृत् । आ । इ॒हि॒ । ह॒वि॒ष्कृ॒दिति॑ ह॒विः॒ऽकृत् । आ । इ॒हि॒ ॥ १५ ॥

पदार्थः—(अग्नेः) भौतिकस्य । (तनूः) शरीरवत्तस्य संयोगेन विस्तृतो यज्ञः । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (वाचः) वेदवाण्याः । (विसर्जनम्) यजमानेन होतृभिश्च हविषस्त्यागो मौनं वा । (देववीतये) देवानां विदुषां दिव्यगुणानां वा वीतिर्ज्ञानं प्रापणं प्रजनं व्याप्तिः प्रकाशः। अन्येभ्य उपदेशनं विविधभोगो वा यस्यां तस्यै । वी गतिव्याप्तिप्रजनकांत्यसनखादनेषु । (त्वा) तमिमं सम्यक् शोधितं हविःसमूहं । (गृह्णामि) स्वीकरोमि । (बृहद्ग्रावा) बृहच्चासौ ग्रावा च सः । (असि) अस्ति । (वानस्पत्यः) यो वनस्पतेर्विकारस्तं हविःसंस्कारार्थं । (सः) त्वं यज-

मानः। (इदं) यत् प्रत्यक्षं हुतं तत्। (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्योवा। (हविः) संस्कृतं सुगंध्यादियुक्तं द्रव्यम्। (शमीष्व) दुःखनिवृत्तये सुखसंपादनार्थं कुरुष्व। शमु उपशमे इत्यस्माद्बहुलं छन्दसीति श्यनो लुक्। तुरुस्तु शम्यमः० अ० ७।३।९५। इतीडागमः। महीधरेणात्र शपो लुगित्यशुद्धं व्याख्यातम्। (सुशमि) सुष्ठु दुःखं शमितुं शीलं धर्मः पदार्थानां साधुकरणं वा यस्य तत्। शमित्यष्टा० अ० ३।२।१४१। अनेन शमेर्घिनुण्। इदमपि पदमुवटमहीधराभ्यामन्यथैव व्याख्यातम्। (शमीष्व) पुनरुच्चारणं हविषोऽत्यन्तसंस्कारद्योतनार्थम्। (हविष्कृत्) हविः करोति। अनया वेदवाण्या सा हविष्कृद्वाक्। (एहि) अध्ययनेनैति प्राप्नोति। (हविष्कृत्) अत्र यज्ञसंपादनाय ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्विधा वेदाध्ययनसंस्कृता सुशिक्षिता वाग् गृह्यते। अयं मंत्रः। श० १।१।४।८—१७ व्याख्यातः॥ १५॥

अन्वयः— अहं सर्वो जनो यस्य हविषः संस्काराय। वृहद्ग्रावास्यस्ति वानस्पत्यश्च यदिदं देवेभ्यो भवति तं देववीतये गृह्णामि। हे विद्वन् स त्वं देवेभ्यो विद्वद्भ्यः सुशमि तद्धविः शमीष्व शमीष्व। ये मनुष्या वेदादीनि शास्त्राणि पठन्ति पाठयन्ति च तानेवेयं वाग् हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीत्याह॥ १५॥

भावार्थः— यदा मनुष्या वेदादिशास्त्रद्वारा यज्ञक्रियां फलं च विदित्वा सुसंस्कृतेन हविषा यज्ञं कुर्वन्ति तदा स सुगंध्यादिद्रव्यहोमद्वारा परमाणुमयो भूत्वा वायौ वृष्टिजले च विस्तृतः सन् सर्वान् पदार्थानुत्तमान् कुर्वन् दिव्यानि सुखानि संपादयति। यश्चैवं सर्वेषां प्राणिनां सुखाय पूर्वोक्तं त्रिविधं यज्ञं नित्यं करोति तं सर्वे मनुष्या हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति सत्कुर्य्युः॥ १५॥

पदार्थः— मैं सब जनोंकेसहित जिस । हवि अर्थात् पदार्थके संस्कारके लिये । (बृहद्ग्रावासि) बडे२ पत्थर । (असि) हैं और । (वानस्पत्यः) काष्ठके मूसल आदि पदार्थ । (देवेभ्यः) विद्वान् वा दिव्य गुणोंके लिये उस यज्ञको । (देववीतये) श्रेष्ठ गुणोंके प्रकाश और श्रेष्ठ विद्वान् वा विविध भोगोंकी प्राप्तिके लिये । (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करताहूं । हे विद्वान मनुष्य तुम । (देवेभ्यः) विद्वानोंके सुखके लिये । (सुशमि) अच्छे प्रकार दुःख शांत करनेवाले । (हविः) यज्ञ करने योग्य पदार्थको । (शमीष्व) (शमिष्व) अत्यंत शुद्ध करो । जो मनुष्य वेद आदि शास्त्रोंको प्रीतिपूर्वक पढ़ते वा पढ़ाते हैं उन्हींको यह । (हविष्कृत्) हविः अर्थात् होममें चढ़ाने योग्य पदार्थोंका विधान करनेवाली जो कि यज्ञको विस्तार करनेके लिये वेदके पढ़नेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोंकी शुद्ध सुशिक्षित और प्रसिद्ध वाणी है सो प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

भावार्थः— जब मनुष्य वेद आदि शास्त्रोंके द्वारा यज्ञक्रिया और उसका फल जानके शुद्धि और उत्तमताके साथ यज्ञको करते हैं तब वह सुगंधी आदि पदार्थोंके होमद्वारा परमाणु अर्थात् अति सूक्ष्म होकर वायु और वृष्टि जलमें विस्तृत हुआ सब पदार्थोंको उत्तम करके दिव्य सुखोंको उत्पन्न करता है । जो मनुष्य सब प्राणियोंके सुखके अर्थ पूर्वोक्त तीन प्रकारके यज्ञको नित्य करता है उसको सब मनुष्य हविष्कृत् अर्थात् यह यज्ञका विस्तार करनेवाला, यज्ञका विस्तार करनेवाला उत्तम मनुष्य है ऐसा वारंवार कहकर सत्कार करें ॥ १५ ॥

कुक्कुटोऽसीत्यस्य ऋषिः स एव । वायुर्देवता । ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

देवो वः सवितेत्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता । विराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

॥ पुनः स यज्ञः कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते ॥

फिर भी यह यज्ञ कैसा है सो अगले मंत्रमें उपदेश किया है ।

कुक्कुटोसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वयꣳ संघातꣳसंघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतꣳ रक्षः परापूता अरातयोऽपहतꣳ र-

त्तो वायुर्वो विविंनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपा-
णिः प्रतिंगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥ १६ ॥

कुक्कुटः । असि । मधुंजिह्व इति मधुंऽजिह्वः । इषम् । ऊर्ज-
म् । आ । वद । त्वया । वयं । संघात॑ऽसंघातमिति सं-
घात॑ऽसंघातम् । जेष्म । वर्षवृद्धमिति वर्षऽवृद्धम् । असि ।
प्रति । त्वा । वर्षवृद्धमिति वर्षऽवृद्धम् । वेत्तु । परापूतमि-
ति पराऽपूतम् । रक्षः । परापूता इति पराऽपूताः । अरा-
तयः । अपहतमित्यपऽहतम् । रक्षः । वायुः । वः । वि ।
विनक्तु । देवः । वः । सविता । हिरण्यपाणिरिति हिरण्यऽ
पाणिः । प्रति । गृभ्णातु । अच्छिद्रेण । पाणिना ॥१६॥

पदार्थः— (कुक्कुटः) कुकं परद्रव्यादातारं चोरं शत्रुं वा कुटति येन स यज्ञः । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (मधुजिह्वः) मधुरगुणयुक्ता जिह्वा ज्वाला प्रयुज्यते यस्मिन् सः । (इषम्) अन्नादिपदार्थसमूहं । इषमित्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २।७। (ऊर्जं) विद्यादिपराक्रममनुत्तमरसं वा । (आ) क्रियायोगे । (वद) उपदिश । (त्वया) परमेश्वरेण विदुषा वीरेण वा सह संगत्य । (संघातंसंघातम्) सम्यग्घन्यन्ते जना यस्मिन् तं संग्रामं । संघात इति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २।१७। अत्र वीप्सायां द्विरुक्तिः । (जेष्म) जयेम । अत्र लिङर्थे लुङ् । अड्भावश्च । (वर्षवृद्धम्) शस्त्रास्त्राणां वर्धयितारं । (असि) भवति । (प्रति) क्रियायोगे । (त्वा) त्वां तं यज्ञं वा ।(वर्षवृद्धं) वृष्टेर्वर्धकं यज्ञं । (वेत्तु) जानातु । (परापूतं) परागतं पूतं पवित्रत्वं यस्मात्तत् । (रक्षः) दुष्टस्वभावो मूर्खः । (परापूताः) परागतः पूतः पवित्रस्वभावो येभ्यस्ते ।

(अरातयः) परपदार्थग्रहीतारः शत्रवः । (अपहतं) अपहन्यते यत् तत् । (रक्षः) दस्युस्वभावः । (वायुः) योऽयं भौतिको वाति । (वः) तान् हुतान् परमाणुजलादिपदार्थान् । (वि) विशेषार्थे । (विनक्तु) वेचयति वेचयतु वा अत्राद्ये पक्षे लडर्थे लोडन्तर्गतो एयर्थश्च । (देवः) प्रकाशस्वरूपः । (सविता) वृष्टिप्रकाशद्वारा दिव्यगुणानां प्रसवहेतुः । (हिरण्यपाणिः) हिरण्यं ज्योतिः पाणिर्हस्तः किरणव्यवहारो वा यस्य सः । ज्योतिर्हि हिरण्यम् । श० ४।३।१। २१। (प्रतिगृभ्णातु) प्रतिगृह्णाति । अत्र हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम् । अ० ५।२।३२। इति हकारस्य स्थाने भकारः लडर्थे लोट् । (अच्छिद्रेण) छिद्ररहितेनैकरसेन । (पाणिना) किरणसमूहेन व्यवहारेण । अयं मंत्रः । श० । १।१।४।१८—२४। व्याख्यातः ॥१४॥

अन्वयः— यतोऽयं यज्ञो मधुजिह्वः कुक्कुटोस्यस्तीपमूर्ज्जं च प्रापयति तस्मात्स सदैवानुष्ठेयः । हे विद्वन् त्वमस्य त्रिविधस्य यज्ञस्यानुष्ठानस्य गुणानां च वेपितासि तस्मात्प्रतिवद प्रयत्नमुपदिश । यतो वयं त्वया सह संघातं संघातमाजेष्य सर्वान्संग्रामान्विजयेमहि । सर्वो मनुष्यो वर्षवृद्धं त्वा त्वां तं वर्षवृद्धं यज्ञं वा प्रतिवेतु । एवं कृत्वा सर्वैर्जनैः परापूतं रक्षः परापूता अरातयोऽपहतं रक्षः सदैव कार्य्यम् । यथायं हिरण्यपाणिर्वायुरच्छिद्रेण पाणिना यज्ञे संसारेऽग्निना सूर्य्येण विच्छिन्नान् पदार्थकणान् प्रतिगृभ्णाति । यथा च हिरण्यपाणिः सविता देवस्तान् विविनक्ति पृथक्करोति तथैव परमेश्वरो विद्वान् मनुष्यश्चाच्छिद्रेण पाणिना सर्वा विद्या विविनक्तु । प्रतिगृभ्णातु तथैव कृपया संप्रीत्या चैतो वो युष्मानानन्दकरणाय प्रतिगृह्णीतः ॥ १६ ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालंकारः । ईश्वरः सर्वान्मनुष्यानाज्ञापयति मनुष्यैर्यज्ञानुष्ठानं संग्रामे दुष्टशत्रूणां विजयो गुणज्ञानं विद्यावृद्धसेव-

नं दुष्टानां मनुष्याणां दोषाणांवा निराकरणं सर्वपदार्थच्छेदकोऽग्निः सूर्य्योवा तथा सर्वपदार्थधारको वायुश्चास्तीति विज्ञानं परमेश्वरोपासनां विद्वत्समागमं च कृत्वा सर्वा विद्याः प्राप्य सदैव सर्वार्था सुखोन्नतिः कार्य्येति ॥ १६ ॥

पदार्थः— जिस कारण यह यज्ञ। (मधुजिह्वः) जिसमें मधुर गुणयुक्त वाणी हो। तथा (कुक्कुटः) चोर वा शत्रुओंका विनाश करनेवाला। (असि) है। और (इषं) अन्न आदि पदार्थ वा। (ऊर्ज) विद्या आदि बल और उत्तमसे उत्तम रसको देता है इसीसे उसका अनुष्ठान सदा करना चाहिये। हे विद्वान् लोगो तुम उक्त गुणोंको देनेवाला जो तीन प्रकारका यज्ञ है उसका अनुष्ठान और हम लोगोंकी प्रति उसके गुणोंका। (आवद) उपदेश करो जिससे। (वयं) हम लोग। (त्वया) तुम्हारे साथ। (संघातंसंघातं) जिनमें उत्तम रीतिसे शत्रुओंका पराजय होता है अर्थात् अति भारी संग्रामोंको वारंवार। आ (जेष्म) सब प्रकारसे जीतें क्योंकि आप युद्धविद्याके जाननेवाले। (असि) है इसीसे सब मनुष्य। (वर्षवृद्धं) शस्त्र और अस्त्रविद्याकी वर्षाको बढ़ानेवाले। (त्वा) आप तथा (वर्षवृद्धम्) वृष्टिके बढ़ानेवाले उक्त यज्ञको। (प्रतिवेत्तु) जानें इस प्रकार संग्राम करके सब मनुष्योंको। (परापूतं) पवित्रता आदि गुणोंको छोडनेवाले। (रक्षः) दुष्ट मनुष्य। तथा। (परापूताः) शुद्धिको छोडनेवाले और। (अरातयः) दान आदि धर्मसे रहित शत्रुजन तथा। (रक्षः) डाकूओंका जैसे। (अपहतं) नाश हो सके वैसा प्रयत्न सदा करना चाहिये जैसे यह। (हिरण्यपाणिः) जिसका ज्योति हाथ है ऐसा जो। (वायुः) पवन है। यह (अच्छिद्रेण) एकरस। (पाणिना) अपने गमनागमन व्यवहारसे यज्ञ और संसारमें अग्नि और सूर्य्यसे अति सूक्ष्म हुए पदार्थोंको। (प्रतिगृभ्णातु) ग्रहण करता है। (हिरण्यपाणिः) वा जैसे किरण हैं हाथ जिसके वह। (हिरण्यपाणिः) किरणव्यवहारसे। (सविता) वृष्टि वा प्रकाशके द्वारा दिव्य गुणोंके उत्पन्न करनेमें हेतु। (देवः) प्रकाशमय सूर्य्यलोक। (वः) उन पदार्थोंको (विविनक्तु) अलग अलग अर्थात् परमाणुरूप करता है वैसेही परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष। (अच्छिद्रेण) निरन्तर। (पाणिना) अपने उपदेशरूप व्यवहारसे सब विद्याओंको। (विविनक्तु) प्रकाश करें वैसेही कृपा करके प्रीतिके साथ। (वः) तुमको अत्यन्त आनन्द करनेके लिये। (प्रतिगृभ्णातु) ग्रहण करते हैं ॥१६॥

भावार्थः— इस मंत्रमें श्लेषालंकार है परमेश्वर सब मनुष्योंको आज्ञा देता

है कि यज्ञका अनुष्ठान संग्राममें शत्रुओंका पराजय अच्छे अच्छे गुणोंका ज्ञान विद्वानोंकी सेवा दुष्ट मनुष्य वा दुष्ट दोषोंका त्याग तथा सब पदार्थोंको अपने तापसे छिन्न भिन्न करनेवाला अग्नि वा सूर्य्य और उनका धारण करनेवाला वायु है, ऐसा ज्ञान और ईश्वरकी उपासना तथा विद्वानोंका समागम करके और सब विद्याओंको प्राप्त होके सबके लिये सब सुखोंकी उत्पन्न करनेवाली उन्नति सदा करनी चाहिये॥ ॥ १६ ॥

धृष्टिरसीत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

अथाग्निशब्देन किं किं गृह्यते तेन किं किं च भवतीत्युपदिश्यते

अब अग्निशब्दसे किसकिसका ग्रहण किया जाता और इससे क्या क्या कार्य्य होता है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

धृष्टिरस्यपाऽग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादꣳ सेधा देवयजं वह ॥
ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥ १७ ॥

धृष्टिः । असि । अप । अग्ने । अग्निम् । आमादमित्यामऽअदम् । जहि । निष्क्रव्यादमिति निष्क्रव्यऽअदम् । सेध । आ । देवयजमिति देवऽयजम् । वह ॥
ध्रुवम् । असि । पृथिवीम् । दृꣳह । ब्रह्मवनीति ब्रह्मऽवनि । त्वा । क्षत्रवनीति क्षत्रऽवनि । सजातवनीति सजातऽवनि । उपऽदधामि । भ्रातृव्यस्य । वधाय ॥ १७ ॥

पदार्थः—(धृष्टिः) प्रगल्भइव यजमानः । (असि) भवसि भवति वा अत्र पक्षे व्यत्ययः । (अप) क्रियायोगे । (अग्ने) परमेश्वर धनुर्वेदविद्वान्वा । (अग्निं) विद्युदाख्यं । (आमादं) आमान-

पक्वानत्ति तं। (जहि) हिंसय। (निष्क्रव्यादं) क्रव्यं पक्वमांसमत्ति तस्मान्निर्गतस्तं। (सेध) शास्त्राणि शिक्षय। (आ) क्रियायोगे। (देवयजं) देवान् विदुषो दिव्यगुणान् यजति संगतान् करोति येन यज्ञेन स देवयट् तं। अत्र अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त इति सूत्रेण। कृतो बहुलमिति वार्त्तिकेन करणे विच् प्रत्ययः।। (वह) प्रापय प्रापयति वा। अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः। (ध्रुवं) निश्चलं सुखं। (असि) भवति। (पृथिवीं) विस्तृतां भूमिं तत्स्थान्प्राणिनश्च। (दृंह) उत्तमगुणैर्वर्धय वर्धयति वा। (ब्रह्मवनि) ब्राह्मणं विद्वांसं वनति तं। छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। अ॰ ३।२।२७। अनेन ब्रह्मोपपदे वनधातोरिन्प्रत्ययः। सुपां सुलुगित्यमो लुक् च। (त्वा) त्वां तं वा। (क्षत्रवनि) क्षत्रं संभाजिनं वनति तं। अत्राप्यमो लुक्। (सजातवनि) जातं जातं वनति स जातवनिः समानश्चासौ जातवनिस्तम्। समानस्य छन्दस्य मूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु। अ॰ ६।३।८४। अनेन समानस्य सकारादेशः। (उपदधामि) हृदये वेद्यां विमानादियानेषु वा धारयामि। (भ्रातृव्यस्य) द्विषतः शत्रोः। (वधाय) नाशाय हननाय। अयं मंत्रः श॰ १।१।५।३—८ व्याख्यातः॥

अन्वयः—हे अग्ने परमेश्वर त्वं धृष्टिरसि। अतो निष्क्रव्यादमामादं देवयजमग्निं सेध। एवं मंगलाय शास्त्राणि शिक्षित्वा दुःखमपजहि सुखं चावह। तथा हे परमेश्वर त्वं ध्रुवमसि। अतः पृथिवीं दृंह। हे जगदीश्वराग्ने यत ईदृशो भवान् तस्मादहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनिं क्षत्रवनिं सजातवनिं त्वा त्वामुपदधामीत्येकोऽन्वयः। हे यजमान विद्वन् यतोऽयमग्निर्धृष्टिरस्यस्ति तथा चामान्निष्क्रव्याद्देवयजं यज्ञमावहति तस्मात्त्वमिममामादं निष्क्रव्यादं देवयजमग्निमावह। सेध। अन्येभ्यस्तमेवं शिक्षय तदनुष्ठानेन दोषानपजहि। यतोऽयमग्निः सूर्य्य-

रूपेण ध्रुवोस्यस्ति तस्मादयमाकर्षणेन पृथिवीं दृंह दृंहति धरति त-स्मात्तमहं ब्रह्मवनिं क्षत्रवनिं सजातवनिं भ्रातृव्यस्य वधायोपदधामीति द्वितीयः ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः।सर्वशक्तिमतेनेश्वरेण यतोऽयमामाद्दाहकस्वभावोऽग्नी रचितस्ततो नायं भस्मादिकं दग्धुं समर्थो भवति। येनामान्पदार्थान् पक्काऽदन्ति येनोदरस्थमन्नं पच्यते येन च मनुष्या मृतं देहं दहन्ति स क्रव्यात् संज्ञोऽग्निर्येनायं दिव्यगुणप्रापको विद्युदाख्यश्च रचितस्तथा येन पृथिवीधारणाकर्षणप्रकाशकः सूर्यो रचितः । यश्च ब्रह्मभिर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैः क्षत्रियैः समानजन्मभिर्मनुष्यैश्च वन्यते संसेव्यते । तथा यः सर्वेषु जातेषु पदार्थेषु वर्त्तमानः परमेश्वरो भौतिकोऽग्निर्वा । स एव सर्वैरुपास्यो भौतिकश्च क्रियासिध्यर्थं सेवनीय इति ॥ १७ ॥

पदार्थः— हे (अग्ने) परमेश्वर आप । (धृष्टिः) प्रगल्भ अर्थात् अत्यंत निर्भय । (असि) हैं इस कारण । (निष्क्रव्यादं) पके हुए भस्म आदि पदार्थोंको छोड़के । (आमादं) कच्चे पदार्थ जलाने और । (देवयजं) विद्वान् वा श्रेष्ठ गुणोंसे मिलाप करानेवाले । (अग्निं) भौतिक वा विद्युत् अर्थात् बिजलीरूप अग्निको आप । (सेध) सिद्ध कीजिये इस प्रकार हम लोगोंके मंगल अर्थात् उत्तम उत्तम सुख होनेके लिये शास्त्रोंकी शिक्षा करके दुःखोंको । (अपजहि) दूर कीजिये और आनन्दको (आवह) प्राप्त कीजिये तथा हे परमेश्वर आप । (ध्रुवं) निश्चल सुख देनेवाले । (असि) हैं इससे । (पृथिवीं) विस्तृतभूमि वा उसमें रहनेवाले मनुष्योंको । (दृंह) उत्तम गुणोंसे वृद्धियुक्त कीजिये । हे (अग्ने) जगदीश्वर जिस कारण आप अत्यंत प्रशंसनीय हैं इससे मैं । (भ्रातृव्यस्य) दुष्ट वा शत्रुओंके । (वधाय) विनाशके लिये । (ब्रह्मवनिं) (क्षत्रवनिं) (सजातवनिं) ब्राह्मण क्षत्रिय तथा प्राणिमात्रके । सुख वा दुःख व्यवहारके देनेवाले । (त्वा) आपको । (उपदधामि) हृदयमें स्थापन करता हूं । यह इस मंत्रका प्रथम अर्थ हुआ । तथा हे विद्वान् यजमान जिस कारण यह । (अग्ने) भौतिक अग्नि । (धृष्टिः) अति ती-

क्षण। (असि) है तथा निकृष्ट पदार्थोंको छोड़कर उत्तम पदार्थोंसे। (देवयजं) विद्वान् वा दिव्य गुणोंको प्राप्त करानेवाले यज्ञको। (आवह) प्राप्त कराता है इससे तुम। (निष्क्रव्यादं) पके हुए भस्म आदि पदार्थोंको छोड़के। (आमादं) कच्चे पदार्थ जलाने और। (देवयजं) विद्वान् वा दिव्य गुणोंके प्राप्त करानेवाले। (अग्निं) प्रत्यक्ष वा बिजलीरूप अग्निको। (आवह) प्राप्त करो तथा उसके जाननेकी इच्छा करनेवाले लोगोंको शास्त्रोंकी उत्तम २ शिक्षाओंके साथ उसका उपदेश। (सेध) करो तथा उसके अनुष्ठानमें जो दोष हों उनको। (अपजहि) विनाश करो जिस कारण यह अग्नि सूर्य्यरूपसे। (ध्रुवं) निश्चल। (असि) है इसी कारण यह आकर्षणशक्तिसे। (पृथिवीं) विस्तृत भूमि वा उसमें रहनेवाले प्राणियोंको। (दृंह) दृढ़ करता है इसीसे मैं उस। (ब्रह्मवनि) (क्षत्रवनि) (सजातवनि) ब्राह्मण क्षत्रिय वा जीवमात्रके सुखदुःखको अलग २ करनेवाले भौतिक अग्निको। (भ्रातृव्यस्य) दुष्ट वा शत्रुओंके। (वधाय) विनाशके लिये हवन करनेकी वेदी वा विमान आदि यानोंमें। (उपदधामि) स्थापन करता हूं। यह दूसरा अर्थ हुआ॥

भावार्थः— इस मंत्रमें श्लेषालंकार है और सर्वशक्तिमान् ईश्वरने यह भौतिक अग्नि आम अर्थात् कच्चे पदार्थ जलानेवाला बनाया है इस कारण भस्मरूप पदार्थोंके जलानेको समर्थ नहीं है जिससे कि मनुष्य कच्चे कच्चे पदार्थोंको पकाकर खाते हैं तथा जिस करके सब प्राणियोंका खाया हुआ अन्न आदि द्रव्य पकता है और जिस करके मनुष्य लोग मरे हुए शरीरको जलाते हैं वह क्रव्यात् अग्नि कहाता है और जिससे दिव्य गुणोंको प्राप्त करानेवाली विद्युत् बनी है तथा जिससे पृथिवीका धारण और आकर्षण करनेवाला सूर्य्य बना है और जिसे वेदविद्याके जाननेवाले ब्राह्मण वा धनुर्वेदके जाननेवाले क्षत्रिय वा सब प्राणीमात्र सेवन करते हैं तथा जो सब संसारी पदार्थोंमें वर्त्तमान परमेश्वर है वहि सब मनुष्योंका उपास्य देव है तथा जो क्रियाओंकी सिद्धिके लिये भौतिक अग्नि है यह भी यथायोग्य कार्य्यद्वारा सेवा करनेके योग्य है॥ १७॥

अग्ने ब्रह्मेत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता सर्वस्य। पूर्वस्य ब्राह्मी उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः। धर्त्रमसीति मध्यस्यार्च्ची त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः। विश्वाभ्य इत्युत्तरस्यार्च्ची पंक्तिश्छन्दः पंचमः स्वरः॥

॥ पुनरग्निशब्देनोक्तावर्थावुपदिश्येते॥

फिर भी अग्निशब्दसे अगले मंत्रमें फिर दोनों अर्थोंका प्रकाश किया है ।

अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षन्दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य बधाय॥ धर्त्रमसि दिवन्दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य बधाय॥ विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि चितस्थोर्ध्वचितो भृगूणामंगिरसां तपसा तप्यध्वम्॥ ॥ १८ ॥

अग्ने । ब्रह्म । गृभ्णीष्व । धरुणम् । असि । अन्तरिक्षम् । दृꣳह । ब्रह्मवनीति ब्रह्मऽवनि । त्वा । क्षत्रवनीति क्षत्रऽवनि । सजातवनीति सजातऽवनि । उप । दधामि । भ्रातृव्यस्य । बधाय ॥ धर्त्रम् । असि । दिवम् । दृꣳह । ब्रह्मवनीति ब्रह्मऽवनि । त्वा । क्षत्रवनीति क्षत्रऽवनि । सजातवनीति सजातऽवनि । उपऽदधामि । भ्रातृव्यस्य । बधाय ॥ विश्वाभ्यः । त्वा । आशाभ्यः । उपदधामि । चितः । स्थ । ऊर्ध्वचित इत्यूर्ध्वऽचितः । भृगूणां । अंगिरसाम् । तपसा । तप्यध्वम् ॥ १८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर भौतिको वा । (ब्रह्म) वेदं । (गृभ्णीष्व) ग्राहय गृह्णाति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । हृग्रहोर्भश्छंदसीति हकारस्य भकारः । (धरुणं) धरति सर्वलोकान् यत्तत् तेजश्च । (असि) अस्ति । अत्र पक्षे प्रथमार्थे मध्यमः । (अन्तरिक्षं) आकाशस्थान् पदार्थान् । अन्तरात्मस्थमक्षयं ज्ञानं वा । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरे मे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा ।

निरु० २।१०। (दृंह) दृढीकुरु करोति वा । (ब्रह्मवनि) वेदं वनयति तं । (त्वा) त्वां । (क्षत्रवनि) राज्यं वनयति तं । (सजातवनि) समाना जाता विद्याः समानं जातं राज्यं वा वनयति येन तं। (उपदधामि) धारयामि। (धर्त्रं) धरति यत् येन वा। वायुर्वा व धर्त्रं चतुष्टोमः । स आभिश्चतसृभिर्दिग्भिः स्तुतेतद्यत्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रं। वायुरु सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेव तद्रूपमुपदधाति स वै वायुमेव प्रथममुपदधाति वायुमुत्तमं वायुनैव तदेतानि सर्वाणि भूतान्युभयतः परिगृह्णाति। श० ८।२।४।२६। अनेन प्रमाणेन धर्त्र-शब्देन वायुरीश्वरश्च गृह्येते। (असि) अस्ति वा। (दिवं) ज्ञानप्रकाशं सूर्य्यलोकं वा। (दृंह) सम्यग्वर्धय वर्धयति वा। (ब्रह्मवनि) सर्वमनुष्यार्थं ब्रह्मणो वेदस्य विभाजितारम् । ब्रह्माण्डस्य मूर्त्तद्रव्यस्य प्रकाशकं वा। (त्वा) त्वां तं वा। (क्षत्रवनि) राजधर्मप्रकाशस्य विभाजितारं राजगुणानां दृष्टान्तेन प्रकाशयितारं वा। (सजातवनि) समानान् जातान वेदान् क्षत्रधर्मान् मूर्त्तान् जगत्स्थान् पदार्थान्वा वनयति प्रकाशयति तं। (विश्वाभ्यः) सर्वाभ्यः। (त्वा) त्वां तं वा। (आशाभ्यः) दिग्भ्यः। आशा इति दिङ्नामसु पठितम्। निघं० १।६। (उपदधामि) उपदधाति वा सामीप्ये धारयामि तेन पुष्णामि वा। (चितः) चेतयन्ति संजानन्ति ये ते चितः। अत्र वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्य इति वार्त्तिकेन विसर्जनीयलोपः। (स्थ) भवथ भवन्ति वा। (ऊर्ध्वचितः) ऊर्ध्वानुत्कृष्टगुणान् चेतयन्ति ते मनुष्याश्चितानि कपालानि वा। (भृगूणां) भृज्जन्ति यैस्तेषां। (अंगिरसां) प्राणानामङ्गाराणां वा। प्राणो वा अंगिराः। श० ६।३।७।३। अङ्गारेष्वंगिरा अंगारा अंकना अंचना। निरु० ३।१७। (तपसा) धर्मविद्याऽनुष्ठानेन तापेन तेजसा वा। (तप्यध्वं) तपन्तु तापयत

वा । अयं मंत्रः । श० १।१।५।९—१३ व्याख्यातः ॥

अन्वयः— हे अग्ने परमेश्वर त्वं धरुणमसि कृपयाऽस्मत्प्रयुक्तं ब्रह्म गृभ्णीष्व तथाऽस्मास्वन्तरिक्षमक्षयं विज्ञानं दृंह वर्धय । अहं भ्रातृव्यस्य बधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वोपदधामि । हे सर्वधातर्जगदीश्वर त्वं सर्वेषां लोकानां धर्त्रमसि कृपयाऽस्मासु दिवं ज्ञानप्रकाशं दृंह । अहं भ्रातृव्यस्य बधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा त्वामुपदधामि । त्वां सर्वव्यापकं ज्ञात्वा विश्राभ्य आशाभ्य उपदधामि । हे मनुष्या यूयमथैवं विदित्वा चित ऊर्ध्वचितः कपालानि कृत्वा भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वं यथा तपन्तु तथा तापयतेत्येकः ॥ हे विद्वन् येनाग्निना धरुणं ब्रह्मान्तरिक्षं गृह्यते दृह्यते च तं त्वं होमार्थं शिल्पविद्यासिध्यर्थं च गृभ्णीष्व दृंह च । तथैवाहमपि भ्रातृव्यस्य वधाय तं ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि । एवं सोऽग्निर्धत्तः सन्सुखमुपदधाति । एवं यो वायुर्धर्त्रं सर्वलोकधारकोस्यस्ति दिवं च दृंह दृंहति तमहं यथा भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि । तथैव त्वमप्येतं तस्मै प्रयोजनायोपदृंह । हे शिल्पविद्यां चिकीर्षो विद्वन् येन वायुना पृथिवी द्यौः सूर्यलोकश्च धार्य्यते दृह्यते च तं त्वं जीवनार्थं शिल्पविद्यायै च धारय दृंह च ब्रह्मवनि इत्यादि पूर्ववत् । हे मनुष्या यथाऽहं वायुविद्याविस्त्वा तमग्निं वायुं च विश्राभ्य आशाभ्य उपदधामि तथैव यूयमप्युपधत्त । यज्ञार्थं शिल्पविद्यार्थमुपरिचित ऊर्ध्वचितः कपालानि कला धारितवन्तः सन्तो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वं तापयत च ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालंकारः । ईश्वरेणेदमादिश्यते भवन्तो विद्वदुन्नतये मूर्खत्वविनाशाय सर्वशत्रूणां निवारणेन राज्यवर्धनाय च वेदविद्यां गृह्णीयुः । योऽग्नेर्वृद्धिहेतुः सर्वाधारको वायुरग्निमयः सूर्य्य

ईश्वरश्च रथ सन्ति तान् सर्वासु दिक्षु विस्तृतान् व्यापकान् विदित्वा यज्ञसिद्धिं विमानादियानरचनं तानि चालयित्वा दुःखानि निवार्य शत्रून् विजयन्ताम् ॥ १८ ॥

पदार्थः— हे (अग्ने) परमेश्वर आप । (धरुणं) सबके धारण करनेवाले । (असि) हैं इससे मेरी (ब्रह्म) वेदमंत्रोंसे की हुई स्तुतिको (गृभ्णीष्व) ग्रहण कीजिये तथा । (अन्तरिक्षं) आत्मामें स्थित जो अक्षय ज्ञान है उसको । (दृंह) बढ़ाइये मैं (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओंके । (वधाय) विनाशके लिये । (ब्रह्मवनि) सब मनुष्योंके सुखके निमित्त वेदके शाखाशाखान्तरद्वारा विभाग करनेवाले ब्राह्मण तथा । (क्षत्रवनि) राजधर्मके प्रकाश करनेहारे । (सजातवनि) जो परस्पर समान क्षत्रियोंके धर्म और संसारी मूर्तिमान् पदार्थ हैं उन प्राणियोंके लिये अलग अलग प्रकाश करनेवाले । (त्वा) आपको । (उपदधामि) हृदयके बीचमें धारण करता हूं । हे सबके धारण करनेवाले परमेश्वर जो आप । (धर्त्रम्) लोकोंके धारण करनेवाले हैं इससे कृपा करके हम लोगोंमें । (दिवं) अत्युत्तम ज्ञानको । (दृंह) बढ़ाइये और मैं । (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओंके । (वधाय) विनाशके लिये । (ब्रह्मवनि) (क्षत्रवनि) (सजातवनि) उक्त वेद राज्य वा परस्पर समान विद्या वा राज्यादि व्यवहारोंको यथायोग्य विभाग करनेवाले (त्वा) आपको । (उपदधामि) वारंवार अपने हृदयमें धारण करता हूं । तथा मैं । (त्वा) आपको सर्वव्यापक जानकर । (विश्वाभ्यः) सब । (आशाभ्यः) दिशाओंमें सुख होनेके निमित्त वारंवार । (उपदधामि) अपने मनमें धारण करता हूं । हे मनुष्यो तुम लोग उक्त व्यवहारको अच्छी प्रकार जानकर । (चितः) विज्ञानी तथा । (ऊर्ध्वचितः) उत्तम ज्ञानवाले पुरुषोंकी प्रेरणासे कपालोंको अग्नि पर धरके तथा (भृगूणां) जिनसे विद्या आदि गुणोंको प्राप्त होते हैं ऐसे । (अंगिरसां) प्राणोंके । (तपसा) प्रभावसे । (तप्यध्वं) तपो और तपाओ । यह इस मंत्रका प्रथम अर्थ हुआ ॥ अब दूसरा भी कहते हैं । हे विद्वान् धर्मात्मा पुरुष जिस । (अग्ने) भौतिक अग्निसे । (धरुणं) सबका धारण करनेवाला तेज । (ब्रह्म) वेद और । (अन्तरिक्षं) आकाशमें रहनेवाले पदार्थ ग्रहण वा वृद्धियुक्त किये जाते हैं । (त्वा) उसको तुम होम वा शिल्पविद्याकी सिद्धिके लिये । (गृभ्णीष्व) ग्रहण करो । (दृंह) वा विद्यायुक्त क्रियाओंसे बढ़ाओ और मैं भी । (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओंके । (वधाय) विनाशके लिये । (त्वा) उस । (ब्रह्मवनि) (क्षत्रवनि) (सजातवनि) सं-

सारी मूर्तिमान् पदार्थोंके प्रकाश करने वा राजगुणोंके दृष्टांतरूपसे प्रकाश करानेवाले भौतिक अग्निको शिल्पविद्या आदि व्यवहारोंमें । (उपदधामि) स्थापन करता हूं । ऐसे स्थापन किया हुआ अग्नि हमारे अनेक सुखोंको धारण करता है । इसी प्रकार सब लोगोंका । (धर्त्रं) धारण करनेवाला वायु । (असि) है तथा (दिवं) प्रकाशमय सूर्य्य लोकको । (दृंह) दृढ करता है हे मनुष्यो जैसे उसको मैं । (भ्रातृव्यस्य) अपने शत्रुओंके । (वधाय) विनाशके लिये । (ब्रह्मवनि) (क्षत्रवनि) (सजातवनि) वेद राज्य वा परस्पर समान उत्तम२ शिल्पविद्याओंको यथायोग्य कार्य्योंमें युक्त करनेवाले उस भौतिक अग्निको (उपदधामि) स्थापन करता हूं वैसे तुम भी उत्तम२ क्रियाओंमें युक्त करके विद्याके बलसे । (दृंह) उसको बढाओ । हे विद्या चाहनेवाले पुरुष जो पवन पृथिवी और सूर्य्य आदि लोकोंको धारण कर रहा है जैसे तुम अपने जीवन आदि सुख वा शिल्पविद्याकी सिद्धिके लिये यथायोग्य कार्योंमें लगाकर उनकी विद्यासे । (दृंह) वृद्धि करो तथा जैसे हम अपने शत्रुओंके विनाशके लिये । (ब्रह्मवनि) (क्षत्रवनि) (सजातवनि) अग्निके उक्त गुणोंके समान वायुको शिल्पविद्या आदि व्यवहारोंमें । (उपदधामि) संयुक्त करते हैं वैसेही तुम भी अपने अनेक दुःखोंके विनाशके लिये उसको यथायोग्य कार्य्योंमें संयुक्त करो । हे मनुष्यो जैसे मैं वायुविद्याका जाननेवाला । (त्वा) उस अग्नि वा वायुको । (विश्वाभ्यः) सब । (आशाभ्यः) दिशाओंसे सुख होनेके लिये यथायोग्य शिल्पव्यवहारोंमें । (उपदधामि) धारण करता हूं । वैसे तुम भी धारण करो । तथा शिल्पविद्या वा होम करनेके लिये । (चितः) (ऊर्ध्वचितः) पदार्थोंके भरे हुए पात्र वा सवारियोंमें स्थापन किये हुए कलायंत्रोंको । (भृगूणाम्) जिनसे पदार्थोंको पकाते हैं उन अंगारोंके । (तपसा) तापसे । (तप्यध्वम्) उक्त पदार्थोंको तपाओ ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें श्लेषालंकार है । ईश्वरका यह उपदेश है कि हे मनुष्यो तुम विद्वानोंकी उन्नति तथा मूर्खपनका नाश वा सब शत्रुओंकी निवृत्तिसे राज्य बढ़नेके लिये वेदविद्याको ग्रहण करो तथा वृद्धिका हेतु अग्नि वा सबका धारण करनेवाला वायु, अग्निमय सूर्य्य और ईश्वर इन्हें सब दिशाओंमें व्याप्त जानकर यज्ञसिद्धि वा विमान आदि यानोंकी रचना धर्मके साथ करो तथा इनसे इनको सिद्ध करके दुःखोंको दूर करके शत्रुओंको जीतो ॥ १८ ॥

शर्मासीत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता निचृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

॥ अथ यज्ञस्य स्वरूपमंगानि चोपदिश्यन्ते ॥
इसके अनन्तर ईश्वरने यज्ञका स्वरूप और इसके अंग अगले मंत्रमें उपदेश किये हैं ॥

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातयोदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु ॥
धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिवस्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु ॥ १९ ॥

शर्म । असि । अवधूतमित्यवऽधूतम् । रक्षः । अवधूता इत्यवऽधूताः । अरातयः । अदित्याः । त्वक् । असि । प्रति । त्वा । अदितिः । वेत्तु ॥
धिषणा । असि । पर्वती । प्रति । त्वा । अदित्याः । त्वक् । वेत्तु । दिवः । स्कम्भनीः । असि । धिषणा । असि । पार्वतेयी । प्रति । त्वा । पर्वती । वेत्तु ॥ १९ ॥

पदार्थः— (शर्म) सुखहेतुः । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (अवधूतं) विनाशितम् । (रक्षः) दुःखं निवारणीयम् । (अवधूताः) निवारणीया विचालिता हताः । अवेति विनिग्रहार्थीयः । निरु० १।३। (अरातयः) अदानस्वभावाः कृपणाः । (अदित्याः) अंतरिक्षस्य । (त्वक्) त्वग्वत् । (असि) भवति । (प्रति) क्रियार्थे । (त्वा) तं यज्ञं । (अदितिः) यज्ञस्यानुष्ठाता यजमानः । अदितिरिति पदनामसु पठितम् । निघं० ५।५। इति यज्ञस्य ज्ञाता पालकार्थो गृह्यते । (वेत्तु) जानातु । (धिषणा) वाक् वेदवाणी ग्राह्या ।

धिषणेति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११। धृष्णोति सर्वा विद्या यया सा। धृषेर्धिष् च संज्ञायाम्। उ० २।८०। अनेनायं शब्दः सिद्धः। महीधरेण धिषणेदं पदं धियं बुद्धिं कर्म वा सनाति व्याप्नोतीति भ्रान्त्या व्याख्यातम्। (असि) भवति। (पर्वती) पर्वणं पर्वं बहुत्वानं विद्यतेऽस्यां क्रियायां सा पर्वती। अत्र संपदादित्वात् क्विप्। भूम्नि मतुप्। उगितश्चेति ङीप्। (प्रति)वीप्सार्थे। (त्वा) तां तां। (अदित्याः) प्रकाशस्य। (त्वक्) त्वचति संवृणोत्यनया सा। (वेत्तु) जानातु। (दिवः) प्रकाशवतः सूर्यादिलोकस्य। (स्कम्भनीः) स्कम्भं प्रतिबद्धं नयतीति सा। (असि) भवति। (धिषणा) धारणावती द्यौः। धिषणेति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम्। निघं० ३।३०। (असि) अस्ति। (पार्वतेयी) पर्वतस्य मेघस्य दुहितेव या सा पार्वतेयी। पर्वत इति मेघनामसु पठितम्। निघं० १।१०। पर्वतस्येयं घनपंक्तिः पार्वती तस्यापत्यं दुहितेव पार्वतेयी वृष्टिः। स्त्रीभ्यो ढक्। अ० ४।१।१२०। अनेन ढक्। (प्रति) इत्थंभूताख्याने। (त्वा) तामीदृशीं। (पर्वती) पः प्रशस्तं प्रापणं यस्यां सा अत्र प्रशंसार्थे मतुप्। (वेत्तु) जानातु। अयं मंत्रः। श० १।१।५।१४—१७। व्याख्यातः॥ १९॥

अन्वयः— हे मनुष्या भवन्तो योयं यज्ञः शर्मासि सुखदोऽदितिनाशरहितोस्ति येन रक्षोऽवधूतं दुःखमरातयोऽवधूता विनष्टाश्च भवन्ति योऽदित्या अन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्च त्वग्वदस्यस्ति। त्वा तं वेत्तु विदन्तु येन विद्याख्येन यज्ञेन पर्वती दिवः स्कंभनीः पार्वतेयी धिषणाऽदित्यास्त्वग्वद्दिस्ताद्यं ते तं प्रतिवेत्तु यथावज्जानन्तु येन सत्संगत्याख्येन पर्वती ब्रह्मज्ञानवती धिषणा प्राप्यते तमपि प्रतिवेत्तु जानन्तु॥ १९॥

भावार्थः— मनुष्यैर्यो विज्ञानेन सम्यक् सामग्रीं संपाद्य यज्ञोऽनुष्ठीयते। यश्च वृष्टिबुद्धिवर्धकोऽस्ति सोऽग्निना मनसा च संसाधितः सूर्यप्रकाशं त्वग्वत्सेवते ॥ १९ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो तुम लोग जो यज्ञ। (शर्म) सुखका देनेवाला। (असि) है और। (अदितिः) नाशरहित है तथा जिससे। (रक्षः) दुःख और दुष्ट स्वभावयुक्त मनुष्य। (अवधूतं) विनाशको प्राप्त तथा। (अरातयः) दान आदि धर्मोंसे रहित पुरुष। (अवधूताः) नष्ट। (असि) होते हैं और जो। (अदित्याः) अन्तरिक्ष वा पृथिवीके। (त्वक्) त्वचाके समान। (असि) है। (त्वा) उसे। (वेत्तु) जानो और जिस विद्यारूप उक्त यज्ञसे (पर्वती) बहुत ज्ञानवाली। (दिवः) प्रकाशमान सूर्य्यादि लोकोंकी। (स्कंभनीः) रोकनेवाली तथा। (पार्वतेयी) मेघकी कन्या अर्थात् पृथवीके तुल्य धिषणा वेदवाणी। (अदित्याः) पृथिवीके (त्वक्) शरीरके तुल्य विस्तारको प्राप्त होती है। (त्वा) उसे। (प्रतिवेत्तु) यथावत् जानो और जिस सत्संगतिरूप यज्ञसे। (पर्वती) उत्तम २ ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेवाली। (धिषणा) द्यौः अर्थात् प्रकाशरूपी बुद्धि प्राप्त होती है। (त्वा) उसे भी। (प्रतिवेत्तु) जानो ॥ १९ ॥

भावार्थः— मनुष्योंको अपने विज्ञानसे अच्छी प्रकार पदार्थोंको इकट्ठा करके उनसे यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये जो कि वृष्टि वा बुद्धिके बढानेवाला है वह अग्नि और मनसे सिद्ध किया हुआ सूर्य्यके प्रकाशको त्वचाके समान सेवन करता है ॥ १९ ॥

धान्यमसीत्यस्य ऋषिः स एव। सविता देवता। विराड्-
ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

॥ कस्मै प्रयोजनाय स यज्ञः कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते ॥

॥ किस प्रयोजनके लिये उक्त यज्ञ करना चाहिये सो अगले मंत्रमें प्रकाश किया है ॥

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा ॥ दीर्घामनुप्रसितिमायुषेधान्देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण

प्राणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोसि ॥ २० ॥

धान्यम् । असि । धिनुहि । देवान् । प्राणाय । त्वा । उदानायेत्युत्ऽआनाय । त्वा । व्यानायेति विऽआनाय । त्वा । दीर्घाम् । अनु । प्रसितिमिति प्रऽसितिम् । आयुषे । धाम् । चक्षुषे । त्वा । महीनाम् । पयः । असि ॥ २० ॥

पदार्थः—(धान्यं) धातुमर्हं यत् यज्ञात् शुद्धम् । रोगनाशेन स्वादिष्ठतमेन सुखकारकमन्नं तत् अत्र दधातेर्यत् नुट् च । उ० । ५ । ४४ अनेन यत्प्रत्ययो नुडागमश्च । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (धिनुहि) धिनोति प्रीणाति । अत्र लडर्थे लोट् । (देवान्) विदुषो जीवानिन्द्रियाणि च । (प्राणाय) प्रकृष्टमन्यते जीव्यते येन तस्मै जीवनधारणहेतवे बलाय । (त्वा) तत् । (उदानाय) स्फूर्त्तिहेतव ऊर्ध्वमन्यते चेष्ट्यते येन तस्मै उत्क्रमणपराक्रमहेतवे । (त्वा) तत् । (व्यानाय) विविधमन्यते व्याप्यते येन तस्मै सर्वेषां शुभगुणानां कर्म्मविद्याङ्गानां च व्याप्तिहेतवे । (त्वा) तत् । अत्र त्रिषु प्रथमार्थे मध्यमः । (दीर्घां) विस्तृतां । (अनु) पश्चादर्थे । (प्रसितिं) प्रकृष्टं सिनोति बध्नात्यनया तां । (आयुषे) पूर्णायुर्वर्धनेन सुखभोगाय । (धाम्) दधाति । अत्र छन्दसि लुङ्लङ्लिट इति वर्त्तमाने लुङ् डभावश्च । (देवः) प्रकाशमानः प्रकाशहेतुर्वा । (वः) अस्मानेतान् जगत्स्थान् स्थूलान् पदार्थांश्च । (सविता) सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्य्यदातेश्वरः सूर्य्यलोको वा । (हिरण्यपाणिः) हिरण्यस्यामृतस्य मोक्षस्य दानाय व्यवहारो यस्य सः । अमृतं२ हिरण्यम् श० ७।३।१।१५। यद्वा हिरण्यं प्रकाशार्थं ज्योतिः पाणिर्व्यवहारो यस्य सः । (प्रतिगृभ्णातु) प्रतिगृह्णातु प्रतिगृह्णाति वा । अत्र हृग्रहोरिति हस्य भः । पक्षे लडर्थे लोट् च ।

(अच्छिद्रेण) निरंतरेण व्यापनेन प्रकाशेन वा । (पाणिना) स्तुतिसमूहेन । (महीनां) महतीनां वाचां पृथिवीनां वा । महीति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११। पृथिवीनामसु च । निघं० १।१। (पयः) अन्नं जलं च येन शुद्धम् । पय इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२। अयं मंत्रः । श० १।१।५।१८—२२। व्याख्यातः ॥

अन्वयः— यदिदं यज्ञशोधितं धान्यमस्ति यच्च यज्ञशोधितं पयोस्ति तत देवान् धिनुहि धिनोति तस्माद्यथाऽहं तत्प्राणाय तदुदानाय तद्व्यानाय दीर्घां प्रसितिमायुषे दधामि तथैव यूयं सर्वमनुष्यास्तस्मै प्रयोजनायैतन्नित्यं धत्त । यथा योऽस्माकं हिरण्यपाणिर्देवः सविता जगदीश्वरोऽच्छिद्रेण पाणिना महीनां चक्षुषे प्रत्यनुगृह्णातु प्रकृष्टतयानुगतं गृह्णाति । तथैव वयं तम् । यथा च हिरण्यपाणिर्देवः सविता सूर्य्यलोको महीनां चक्षुषेऽच्छिद्रेण पाणिना पयो गृहीत्वा धान्यं पोषयति तथैव तं वयमप्यच्छिद्रेण पाणिना महीनां चक्षुषे प्रतिगृह्णीमः ॥

भावार्थः— अत्र लुप्तोपमालंकारः । ये यज्ञेन शोधिता अन्नजलवाय्वादयः पदार्था भवन्ति । ते सर्वेषां शुद्धये बलपराक्रमाय दृढाय दीर्घायुषे च समर्था भवन्ति तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैरेतद्यज्ञकर्म नित्यमनुष्ठेयम् । तथा च परमेश्वरेण या महती पूज्या वाक् प्रकाशितास्तयस्याः प्रत्यक्षकरणायेश्वरानुग्रहापेक्षा स्वपुरुषार्थता च कार्य्या । यथेश्वरः परोपकारिणां नृणामुपर्य्यनुग्रहं करोति तथैवाऽस्माभिरपि सर्वेषां प्राणिनामुपरि नित्यमनुग्रहः कार्य्यः । यथाऽयमन्तर्यामीश्वरः सूर्य्यलोकश्चात्मनि वेदेषु च सत्यं ज्ञानं मूर्त्तद्रव्याणि च नैरन्तर्य्येण प्रकाशयति तथैव सर्वैरस्माभिर्मनुष्यैः सर्वेषां सुखायाऽखिला विद्याः प्रत्यक्षीकृत्य नित्यं प्रकाशनीयाः । ताभिः पृथिवीराज्यसुखं नित्यं कार्य्यमिति ॥ २० ॥

पदार्थः— जो (धान्यम्) यज्ञसे शुद्ध उत्तम स्वभाववाला सुखका हेतु रोग-का नाश करने तथा चावल आदि अन्न वा । (पयः) जल । (असि) है वह । (देवान्) विद्वान् वा जीव तथा इन्द्रियोंको । (धिनुहि) तृप्त करता है इस कारण हे मनुष्यो मैं जिस प्रकार । (त्वा) उसे । (प्राणाय) अपने जीवनके लिये वा । (त्वा) उसे । (उदानाय) स्फूर्ति बल और पराक्रमके लिये वा । (त्वा) उसे । (व्यानाय) सब शुभ गुण शुभ कर्म वा विद्याके अंगोंके फैलानेके लिये तथा । (दीर्घाम्) बहुत दिनों तक । (प्रसितिं) अत्युत्तम सुखबन्धनयुक्त । (आयुषे) पूर्ण आयुके भोगनेके लिये । (धाम्) धारण करता हूं वैसे तुम भी उक्त प्रयोजनके लिये उसको नित्य धारण करो जैसे । हम विद्वान् लोगोंको (हिरण्यपाणिः) जिसका मोक्ष देनाही व्यवहार है ऐसा सब जगत्का उत्पन्न करनेहारा (सविता) सब ऐश्वर्यका दाता ईश्वर । (अच्छिद्रेण) अपनी व्याप्ति वा उत्तम व्यवहारसे । (महीनां) वाणियोंके प्रत्यक्ष ज्ञानको । (प्रत्यनुगृभ्णातु) अपने अनुग्रहसे ग्रहण करता है वैसेही हम भी उस ईश्वरको । (अच्छिद्रेण) निरन्तर । (पाणिना) स्तुतियोंसे ग्रहण करें और जैसे । (हिरण्यपाणिः) पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला । (सविता) सूर्य्य लोक । (महीनां) लोकलोकांतरोंकी पृथिवियोंमें नेत्रव्यवहारके लिये । (अच्छिद्रेण) निरन्तर तीव्र प्रकाशसे । (पयः) जलको । (प्रतिगृभ्णातु) ग्रहण करके अन्न आदि पदार्थोंको पुष्ट करता है वैसेही हम लोग भी उसे । (अच्छिद्रेण) निरन्तर । (पाणिना) व्यवहारसे (महीनां) पृथिवीके । (चक्षुषे) पदार्थोंकी दृष्टिगोचरताके लिये स्वीकार करते हैं ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें लुप्तोपमालंकार है । जो यज्ञसे शुद्ध किये हुए अन्न जल और पवन आदि पदार्थ हैं वे सबकी शुद्धि बल पराक्रम और दृढ दीर्घ आयुके बढ़ानेके लिये समर्थ होते हैं इससे सब मनुष्योंको यज्ञकर्मका अनुष्ठान नित्य करना चाहिये तथा परमेश्वरकी प्रकाशित की हुई जो वेदचतुष्टयी अर्थात् चारों वेदकी वाणी है उसके प्रत्यक्ष करनेके लिये ईश्वरके अनुग्रहकी इच्छा तथा अपना पुरुषार्थ करना चाहिये और जिस प्रकार परोपकारी मनुष्योंपर ईश्वर कृपा करता है वैसेही हम लोगोंको भी सब प्राणियोंपर नित्य कृपा करनी चाहिये अथवा जैसे अन्तर्यामी ईश्वर वा सूर्य लोक संसार आत्मा और वेदोंमें सत्य ज्ञान तथा मूर्तिमान् पदार्थोंका निरंतर प्रकाश करता है वैसेही हम सब लोगोंको परस्पर सबके सुखके लिये संपूर्ण विद्या मनुष्योंको दृष्टिगोचर कराके नित्य प्रकाशित करनी चा-

लिये और उनसे हमको पृथिवीका चक्रवर्त्ति राज्य आदि अनेक उत्तम२ सुखोंको उत्पन्न निरंतर करना चाहिये ॥ २० ॥

देवस्य त्वेत्यस्यर्षिः स एव । यज्ञो देवता सर्वस्य । आदौ संवपामीत्यन्तस्य गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । अन्त्यस्य विराट्पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

॥ ईश्वरेण याभ्य ओषधिभ्योऽन्नादिकं जायते ताः कथं शुद्धा जायन्त इत्युपदिश्यते ॥

जिन ओषधियोंसे अन्न बनता है वे यज्ञादि करनेसे कैसे शुद्ध होती हैं इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ संवपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन स॰ रेवतीर्ज्जगतीभिः पृच्यन्ता॰ संमधुमतीर्म्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् । सम् । वपामि । सम् । आपः । ओषधीभिः । सम् । ओषधयः । रसेन । सम् । रेवतीः । जगतीभिः । पृच्यन्ताम् । सम् । मधुमतीरिति मधुऽमतीः । मधुमतीभिरिति मधुऽमतीभिः । पृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—(देवस्य) विधातुरीश्वरस्य द्योतकस्य सूर्य्यस्य वा । (त्वा) तं त्रिविधं यज्ञं । (सवितुः) सवति सकलैश्वर्य्यं जनयति तस्य । (प्रसवे) उत्पादितेऽस्मिन् संसारे । (अश्विनोः) प्रकाशभूम्योः । द्यावापृथिव्यावित्येके । निरु॰ १२।१। (बाहुभ्यां) तेजोदृढ-

त्वाभ्यां । (पूष्णः) पुष्टिकर्त्तुर्वायोः । पूषेति पदनामसु पठितम् । निघं० ५।६। अनेन पुष्टिहेतुर्गृह्यते । (हस्ताभ्यां) प्राणापानाभ्याम् । (सम्) सम्यगर्थे । (वपामि) विस्तारयामि । (सं) संमेलने । समित्येकीभावं प्राह । निरु० १।३। (आपः) जलानि । आप इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२। (ओषधीभिः) यवादिभिः । ओषधय ओषध्धयन्तीति वौषत्येनाधयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा । निरु० ९।२७। (सम्) सम्यगर्थे । (ओषधयः) यवादयः । ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । मनुस्मृतौ । अ० १। श्लो० ४६। (रसेन) सारेणार्द्रेणानन्दकारकेण । (सम्) प्रशंसार्थे । (रेवतीः) रेवत्य आपः अत्र सुपां सुलुगिति पूर्वसवर्णादेशः । (जगतीभिः) उत्तमाभिरोषधीभिः । (पृच्यन्ताम्) मेल्यन्ताम् । पृच्यन्ते वा । (सम्) श्रैष्ठ्ये । (मधुमतीः) मधुः प्रशस्तो रसो विद्यते यासु ता मधुमत्य आपः । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । सुपां सुलुगिति पूर्वसवर्णादेशश्च । (मधुमतीभिः) मधुर्बहुविधो रसो वर्त्तते यासु ताभिरोषधीभिः । अत्र भूमार्थे मतुप् । (पृच्यन्ताम) युक्त्या वैद्यकशिल्पशास्त्ररीत्या मेल्यन्ताम् । अयं मंत्रः । श० १।१।६।१—२ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः— हे मनुष्या यथाऽहं सवितुर्देवस्य परमात्मनः प्रसवे सवितृमण्डलस्य प्रकाशे चाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां यमिमं यज्ञं संवपामि । तथैव त्वा तं यूयमपि संवपत । यथैतस्मिन्प्रसवे प्रकाशे चौषधीभिराप ओषधयो रसेन । जगतीभिरेवत्यश्च संपृच्यन्ते । यथा च मधुमतीभिर्मधुमत्यः संपृच्यन्ते । तथैवौषधीभिरोषधय ओषधयो रसेन जगतीभिः सह रेवत्यश्चास्माभिः संपृच्यन्ताम् । एवं मधुमतीभिः सह मधुमत्यो नित्यं संपृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

भावार्थः— अत्र लुप्तोपमालंकारः । विद्वद्भिर्मनुष्यैरीश्वरोत्पादिते

सूर्य्यप्रकाशितेऽस्मिन् जगति बहुविधानां संप्रयोक्तव्यानां द्रव्याणां संप्रयोक्तुमर्हैर्बहुविधैर्द्रव्यैःसह संमेलनेन त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेयः। यथा जलं स्वरसेनौषधीर्वर्धयति ता उत्तमरसयोगाद्रोगनाशकत्वेन सुखदायिन्यो भवन्ति। यथेश्वरः कारणात्कार्य्यं यथावद्रचयति। सूर्य्यः सर्वं जगत्प्रकाश्य सततं रसं भित्त्वा पृथिव्याद्याकर्षति। वायुश्च धारयित्वा पुष्णाति तथैवाऽस्माभिरपि यथावत्संस्कृतैः संप्रयोजितैर्द्रव्यैर्विद्वत्संगविद्योन्नतिहोमशिल्पाख्यैर्यज्ञैर्वायुवृष्टिजलशुद्धयश्च सदैव कार्य्या इति ॥ २१ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो जैसे मैं। (सवितुः) सकल ऐश्वर्य्यके देनेवाले। (देवस्य) परमेश्वरके। (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए प्रत्यक्ष संसारमें वा सूर्य्य लोकके प्रकाशमें। (अश्विनोः) सूर्य्य और भूमिके तेजकी। (बाहुभ्यां) दृढतासे। (पूष्णः) पुष्टि करनेवाले वायुके। (हस्ताभ्यां) प्राण और अपानसे। (त्वा) पूर्वोक्त तीन प्रकारके यज्ञको। (संवपामि) विस्तार करता हूं वैसेही तुम भी उसको विस्तारसे सिद्ध करो। अथवा जैसे इस उत्पन्न किये हुए संसारमें वा सूर्य्यके प्रकाशमें। (ओषधीभिः) यवादि ओषधियोंसे। (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधी। (रसेन) आनन्दकारक रससे तथा। (जगतीभिः) उत्तम ओषधियोंसे। (रेवत्यः) उत्तम जल और जैसे। (मधुमतीभिः) अत्यंत मधुर रसयुक्त ओषधियोंसे। (मधुमतीः) अत्यंत उत्तम रसरूप जल ए सब मिलकर वृद्धियुक्त होते हैं वैसे हम सब लोगोंको भी ओषधियोंसे जल और ओषधी उत्तम जलसे तथा सब उत्तम ओषधियोंसे उत्तम रसयुक्त जल तथा अत्युत्तम मधुर रसयुक्त ओषधियोंसे प्रशंसनीय रसरूप जल इन सबोंको यथायोग्य परस्पर। (संपृच्यंतां) युक्तिसे वैद्यक वा शिल्प शास्त्रकी रीतिसे मेल करना चाहिये ॥ २१ ॥

भावार्थः— इस मंत्रमें लुप्तोपमालंकार है। विद्वान् मनुष्योंको ईश्वरके उत्पन्न किये हुए वा सूर्य्यसे प्रकाशको प्राप्त हुए इस संसारमें अनेक प्रकारसे संप्रयुक्त करने योग्य पदार्थोंको अर्थ मिलानेके योग्य पदार्थोंसे मेल करके। उक्त तीन प्रकारके यज्ञका अनुष्ठान नित्य करना चाहिये जैसे जल अपने रससे ओषधियोंको बढ़ाता है और वे उत्तम रसयुक्त जलके संयोगसे रोग नाशकरनेसे सुखदायक होती हैं। और जैसे ईश्वर कारणसे कार्य्यको यथावत् रचता है तथा सूर्य्य

सब जगत्को प्रकाशित करके और निरंतर रसको भेदन करके पृथिवी आदि पदार्थोंका आकर्षण करता है तथा वायु रसको धारण करके पृथिवी आदि पदार्थोंको पुष्ट करता है वैसे हम लोगोंको भी यथावत् संस्कारयुक्त संयुक्त किये हुए पदार्थोंसे विद्वानोंका संग तथा विद्याकी उन्नतिसे वा होम शिल्प कार्य्यरूपी यज्ञोंसे वायु और वर्षा जलकी शुद्धि सदा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

जनयत्यैत्वेत्यस्यर्षिः पूर्वोक्तः । प्रथतामितिपर्य्यन्तस्य यज्ञो देवता । स्वराट्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः । अन्त्यस्याग्निसवितारौ देवते । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

॥ स यज्ञः कस्मै प्रयोजनाय संपादनीय इत्युपदिश्यते ॥

उक्त यज्ञ किस प्रयोजनके लिये करना चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

जनयत्यै त्वा सं यौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिंसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधिनाके ॥ २२ ॥

जनयत्यै । त्वा । सम् । यौमि । इदम् । अग्नेः । इदम् । अग्नीषोमयोः । इषे । त्वा । घर्मः । असि । विश्वायुरितिं विश्वऽआयुः । उरुप्रथाइत्युरुऽप्रथाः । उरु । प्रथस्व । उरु । ते । यज्ञपतिरितिं यज्ञऽपतिः । प्रथताम् । अग्निः । ते । त्वचम् । मा । हिंसीत् । देवः । त्वा । सविता । श्रपयतु । वर्षिष्ठे । अधि । नाके ॥ २२ ॥

पदार्थः—(जनयत्यै) सर्वसुखोत्पादिकायै राज्यलक्ष्म्यै । (त्वा) तं त्रिविधं यज्ञं । (सम्) सम्यक् । (यौमि) मिश्रयामि । अग्नौ प्रक्षिप्य वियोजयामि वा । (इदं) संस्कृतं हविः । (अग्नेः) मध्ये ।

(इदं) यदुक्तं तत् । (अग्नीषोमयोः) अग्निश्च सोमश्च तयोर्मध्ये । (इषे) अन्नाद्याय । (त्वा) तं वृष्टिशुद्धिहेतुं । (घर्मः) यज्ञः । घर्म इति यज्ञनामसु पठितम् । निघं० ३।१७। (असि) भवति । अत्र व्यत्ययः । (विश्वायुः) विश्वं पूर्णमायुर्यस्मात्सः । (उरुप्रथाः) बहुः प्रथः सुखस्य विस्तारो यस्मात्सः । उर्विति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३।१। (उरु प्रथस्व) बहु विस्तारय । (उरु) बहु । (ते) तुभ्यं । (यज्ञपतिः) यज्ञस्य स्वामी पालकः । (प्रथतां) विस्तारयतु । (अग्निः) भौतिको यज्ञसंबन्धी शरीरस्थो वा । (ते) तव तस्य वा । युष्मत्ततक्षुष्वन्तः पादम् । अ० ८।३।१०३। अनेन मूर्द्धन्यादेशः । (त्वचम्) कंचिदपि शरीरावयवं सुखहेतुं । (मा) निषेधार्थे । (हिंसीत्) हिनस्तु । अत्र लोडर्थे लुङ् । (देवः) सर्वप्रकाशकः परमेश्वरः सूर्य्यलोको वा । (त्वा) त्वां तं वा । (सविता) अन्तःप्रेरको वृष्टिहेतुर्वा । (श्रपयतु) श्रपयति पाचयति । अत्र लडर्थे लोट् । (वर्षिष्ठे) अतिशयेन वृद्धो वर्षिष्ठस्तस्मिन् विशाले सुखस्वरूपे । (अधि) अधीत्युपरिभावमैश्वर्य्यं प्राह । निरु० १।३। (नाके) अकं दुःखं न विद्यते यस्मिन्नसौ नाकस्तस्मिन् । अयं मंत्रः श० १।१।६।३—१४। व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः— हे मनुष्या यथाऽहं जनयत्यै यं यज्ञं संयौमि तथैव स भवद्भिरपि संयूयताम् । अस्माभिर्यदिदं संस्कृतं हविरग्नेर्मध्ये प्रक्षिप्यते तदिदं विस्तीर्णं भूत्वाऽग्नीषोमयोर्मध्ये स्थित्वेषे भवति । यो विश्वायुरुरुप्रथा घर्मो यज्ञोस्ति यथाऽयं मया उरु प्रथ्यते तथैव प्रतिजनस्त्वं तमेतमुरु प्रथस्व । एवं कृतवते ते तुभ्यमयं यज्ञपतिरग्निः सविता देवो जगदीश्वरश्चोरु सुखं प्रथताम् । ते तव त्वचं मा हिंसीत् नैव हिनस्ति । स खलु त्वां वर्षिष्ठेऽधिनाके सुखयुक्तं करोतु । इत्येकः । हे म-

नुष्य यथाऽहं मनुष्यो यो विश्वायुरुरुप्रथा घर्मो यज्ञोऽस्यस्ति त्वा तं जनयत्या इषे संयौमि तत्सिध्यर्थमिदमग्नेर्मध्य इदमग्नीषोमयोर्मध्ये संस्कृतं हविः संवपामि प्रक्षिपामि तथा त्वमप्येतमुरुप्रथस्व बहु विस्तारय यतोऽयमग्निस्ते तव त्वचं मा हिंसीत् न हिंस्यात् । यथा च देवः सविता वर्षिष्ठेऽधिनाके यं यज्ञं श्रपयेत् । तथा भवानपि त्वा तं संयौतु श्रपयतु । ते तव यज्ञपतिश्च तमुरु प्रथतां ॥ इति द्वितीयः॥२२॥

भावार्थः— अत्र लुप्तोपमालंकारो वेद्यः । मनुष्यैरेवंभूतो यज्ञः सदैव कार्य्यः । यः पूर्णां श्रियं सकलमायुरन्नादिपदार्थान् रोगनाशं सर्वाणि सुखानि च प्रथयति स केनापि कदाचिन्नैव त्याज्यः । कुतः । नैवैतेन वायुवृष्टिजलौषधिशुद्धिकारकेण विना कस्यापि प्राणिनः सम्यक् सुखानि सिध्यन्तीत्यतः । एवं स जगदीश्वरः सर्वान् प्रत्याज्ञापयति ॥ २२ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो जैसे मैं । (जनयत्यै) सर्व सुख उत्पन्न करनेवाली राज्यलक्ष्मीके लिये । (त्वा) उस यज्ञको । (संयौमि) अग्निके बीचमें पदार्थोंको छोड़कर युक्त करता हूं वैसेही तुम लोगोंको भी अग्निके संयोगसे सिद्ध करना चाहिये । जो हम लोगोंका । (इदं) यह संस्कार किया हुआ हवि । (अग्नेः) अग्निके बीचमें छोडा जाता है । (इदं) वह विस्तारको प्राप्त होकर । (अग्नीषोमयोः) अग्नि और सोमके बीच पहुंचकर । (इषे) अन्न आदि पदार्थोंके उत्पन्न करनेके लिये होता है और जो । (विश्वायुः) पूर्ण आयु और । (उरुप्रथाः) बहुत सुखका देनेवाला । (घर्मः) यज्ञ । (असि) है उसको जैसे मैं अनेक प्रकार विस्तार करता हूं वैसे । (त्वा) उसको हे पुरुषो तुम भी । (उरु प्रथस्व) विस्तृत करो । इस प्रकार विस्तार करनेवाले । (ते) तुम्हारे लिये । (यज्ञपतिः) यज्ञका स्वामी । (अग्निः) यज्ञसंबंधी अग्नि । (ते) (सविता) अन्तर्यामी । (देवः) जगदीश्वर (उरु प्रथताम्) अनेक प्रकार सुखको बढावे । (मा हिंसीत्) कभी नष्ट न करे तथा वह परमेश्वर । (वर्षिष्ठे) अतिशय करके वृद्धिको प्राप्त हुआ । (अधिनाके) जो अत्युत्तम सुख है उसमें । (त्वा) तुमको । (श्रपयतु) सुखसे युक्त करे । यह इस मंत्रका प्रथम अर्थ हुआ ॥ अब दूसरा कहते हैं । हे मनुष्य जैसे मैं । जो (वि-

आयुः) पूर्ण आयु । तथा (उरुप्रथाः) बहुत सुखका देनेवाला । (घर्मः) यज्ञ । (असि) है । (त्वा) उस यज्ञको । (जनयत्यै) राज्यलक्ष्मी तथा । (इषे) अन्न आदि पदार्थोंके उत्पन्न करनेके लिये । (संयौमि) संयुक्त करता हूं तथा उसकी सिद्धिके लिये । (इदं) यह । (अग्नेः) अग्निके बीचमें और । (इदं) यह । (अग्नी-षोमयोः) अग्नि और सोमके बीचमें संस्कार किया हुआ हवि छोड़ता हूं वैसे तुम भी उस यज्ञको । (उरु प्रथस्व) विस्तारको प्राप्त करो जिस कारण यह (अग्निः) भौतिक अग्नि । (ते) तुम्हारे । (त्वचं) शरीरको । (मा हिंसीत्) रोगोंसे नष्ट न करे और जैसे । (देवः) जगदीश्वर । (सविता) अन्तर्यामी । (वर्षिष्ठे) अतिशय करके वृद्धिको प्राप्त हुआ जो । (अधिनाके) अत्युत्तम सुख है उसमें । (त्वा) उस यज्ञको अग्निके बीचमें परिपक्व करता है वैसे तुम भी उस यज्ञको । (श्रपयतु) परिपक्व करो और । (ते) तुम्हारे । (यज्ञपतिः) यज्ञका स्वामी भी उस यज्ञको । (उरुप्रथताम्) विस्तारयुक्त करे ॥ २२ ॥

भावार्थः— इस मंत्रमें लुप्तोपमालंकार जानना चाहिये । मनुष्योंको इस प्रकारका यज्ञ करना चाहिये कि जिससे पूर्ण लक्ष्मी सकल आयु अन्न आदि पदार्थ रोगनाश और सब सुखोंका विस्तार हो उसको कभी नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि उसके विना वायु और वृष्टि जल तथा ओषधियोंकी शुद्धि नहीं हो सकती और शुद्धिके विना किसी प्राणीको अच्छी प्रकार सुख नहीं हो सकता इसलिये ईश्वरने उक्त यज्ञ करनेकी आज्ञा सब मनुष्योंको दीई है ॥ २२ ॥

माभेर्मेत्यस्यर्षिः स एव । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः॥

॥ निःशंकतया सर्वैः स यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते ॥

॥ निःशंक होकर उक्त यज्ञ सबको करना चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

मा भेर्मा सं विक्था अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्त्रितायं त्वा द्वितायं त्वैकतायं त्वा ॥२३॥

मा । भेः । मा । सम् । विक्थाः । अतमेरुः । यज्ञः । अतमेरुः । यजमानस्य । प्रजेति प्रऽजा । भूयात् । त्रितायं । त्वा । द्वितायं । त्वा । एकतायं । त्वा ॥ २३ ॥

पदार्थः— (मा) निषेधार्थे । (भेः) विभीहि । अत्र लोडर्थे लङ् बहुलं छन्दसीति शपो लुक् । (मा) निषेधार्थे । (सम्) एकीभावे । (विक्थाः) चल । ओविजी । भयचलनयोरित्यस्माल्लोडर्थे लङ् । थासि मध्यमैकवचने बहुलं छन्दसीति विकरणाभावश्च । (अतमेरुः) न ताम्यति येन यज्ञेन सः । तमुधातोर्बाहुलकादेरुः प्रत्ययः । (यज्ञः) इज्यते यस्मिन् सः । (अतमेरुः) न ताम्यति यः स यज्ञकर्ता मनुष्यः । (यजमानस्य) यज्ञस्यानुष्ठातुः । (प्रजा) सन्ताना यज्ञसंपादिका (भूयात्) भवेत् । (त्रिताय) त्रयाणामग्निकर्महविषां भावाय । (त्वा) तं । (द्विताय) द्वयोर्वायुवृष्टिजलशुद्ध्योर्भावाय । (त्वा) तं । (एकताय) एकस्य सुखस्य भावाय । (त्वा) त्वाम् । अयं मंत्रः । श० । १।१—२।१५—१८। तथा १—९ व्याख्यातः ॥२३॥

अन्वयः— हे विद्वन् त्वमतमेरुः सन् यजमानस्य यज्ञस्यानुष्ठानात्मा भेर्भयं मा कुरु । एतस्मान्मा संविक्था मा विचल । एवं यज्ञं कृतवतस्तेऽतमेरुः प्रजा भूयात् । अहं त्वां तमग्निं यज्ञाय त्रिताय द्वितायैकताय च सुखाय संयौमि ॥ २३ ॥

भावार्थः— ईश्वरः प्रतिमनुष्यमाज्ञापयत्याशीश्च ददाति नैव केनापि मनुष्येण यज्ञसत्याचारविद्याग्रहणस्य सकाशाद्भेतव्यम् । विचलितव्यं वा । कस्माद्युष्माभिरेतैरेव सुप्रजाशारीरवाचिकमानसानि निश्चलानि सुखानि प्राप्तुं शक्यानि भवन्त्यस्मादिति ॥ २३ ॥

पदार्थः— हे विद्वान् पुरुषो तुम । (अतमेरुः) श्रद्धालु होकर । (यजमानस्य) यजमानके यज्ञके अनुष्ठानमें । (मा भेः) भय मत करो और उससे । (मा संविक्थाः) मत चलायमान हो इस प्रकार । (यज्ञ) यज्ञ करते हुए तुमको उत्तमसे उत्तम । (अतमेरुः) ग्लानिरहित श्रद्धावान् । (प्रजा) संतान । (भूयात्) प्राप्त हो और मैं । (त्वा) भौतिक अग्निको । (एकताय) (द्विताय) (त्रिताय) उत्तमगुणयुक्त तथा सत्य सुखके लिये वायु तथा वृष्टि जलकी शुद्धि तथा अग्नि-

कर्म और हविके होनेके लिये (संयौमि) निश्चल करता हूं ॥ २३ ॥

भावार्थः — ईश्वर सब मनुष्योंको आज्ञा और आशीर्वाद देता है कि किसी मनुष्यको यज्ञ सत्याचार और विद्याके ग्रहणमें डरना वा चलायमान होना कभी न चाहिये क्योंकि मनुष्योंको उक्त यज्ञ आदि अच्छे कामोंमेंही उत्तम संसार शारीरिक वाचिक और मानस त्रिविध प्रकारके निश्चल सुख प्राप्त हो सकते हैं ॥ २३ ॥

देवस्य त्वेत्यस्यर्षिः स एव । द्यौर्विद्युतौ देवते । स्वराड्ब्राह्मी-पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

॥ पुनः स यज्ञः कीदृशोऽस्ति किमर्थश्चानुष्ठेय इत्युपदिश्यते ॥

फिर भी उक्त यज्ञ कैसा और क्यों उसका अनुष्ठान करना चाहिये सो अगले मंत्रमें उपदेश किया है ।

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ॥ आद॑देऽध्वर॒कृतं॑ दे॒वेभ्य॒ इन्द्र॑स्य बा॒हुर॑सि दक्षि॒णः स॒हस्र॑भृष्टिः श॒तते॑जा वा॒युर॑सि ति॒ग्मते॑जा द्वि॒ष॒तो व॒धः ॥ २४ ॥

दे॒वस्य॑ । त्वा॒ । स॒वि॒तुः । प्र॒स॒वइति॑ प्र॒ऽस॒वे । अ॒श्विनोः॑ । बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म् । पू॒ष्णः । हस्ता॑भ्याम् ॥ आ । द॒दे॒ । अ॒ध्व॒र॒कृत॒मित्य॑ध्वर॒ऽकृत॑म् । दे॒वेभ्यः॑ । इन्द्र॑स्य । बा॒हुः । अ॒सि॒ । द॒क्षि॒णः । स॒हस्र॑भृष्टि॒रिति॑ स॒हस्र॑ऽभृष्टिः । श॒तते॑जा॒इति॑ श॒तऽते॑जाः । वा॒युः । अ॒सि॒ । ति॒ग्मते॑जा॒इति॑ ति॒ग्मऽते॑जाः । द्वि॒ष॒तः । व॒धः ॥ २४ ॥

पदार्थः— (देवस्य) सर्वानन्दप्रदस्य । (त्वा) तं । (सवितुः) प्रेरकस्येश्वरस्य सूर्य्यस्य वा । (प्रसवे) प्रेरणे ऐश्वर्य्यहेतौ वा । (अश्विनोः) सूर्य्याचन्द्रमसोरध्वर्य्वोर्वा । अश्विनावध्वर्य्यू । श० १।२।

२।४। (बाहुभ्यां) बलवीर्य्याभ्यां । (पूष्णः) पुष्टिहेतोर्वायोः । वृषा । पूषा श० २।४।२।११। (हस्ताभ्यां) ग्रहणत्यागहेतुभ्यामुदानापानाभ्याम् । (आददे) आसमन्तात्स्वीकरोमि । (अध्वरकृतं) अध्वरं करोति येन सामग्रीसमूहेन तम् । अत्र कृतो बहुलमिति वार्त्तिकेन करणे क्विप् । अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतम् । श० १।२।२।४। (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा । (इन्द्रस्य) सूर्य्यस्य । (बाहुः) वीर्य्यवत्तमकिरणसमूहस्थो यज्ञः । (असि) भवति । (दक्षिणः) प्राप्तः । दक्ष गतिहिंसनयोरित्यस्मात् । द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २।४९। इतीनन्प्रत्ययः । अनेन गतेरन्तर्गतः प्राप्त्यर्थो गृह्यते । (सहस्रभृष्टिः) सहस्राणि बहूनि भृष्टयः पाका यस्मात्सः सूर्य्यस्य प्रकाशः । सहस्रमिति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३।१। (शततेजाः) शतानि बहूनि तेजांसि यस्मिन्स सूर्य्यः । शतमिति बहुनामसु पठितम् । निघं ३।१। (वायुः) गमनागमनशीलः पवनः । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (तिग्मतेजाः) तिग्मानि तीक्ष्णानि तेजांसि भवन्ति यस्मात्सः । युजिरुजितिजां कुश्च । उ० १। १४५। अनेन तिज निशाने इत्यस्मान्मक्प्रत्ययः कुत्वादेशश्च । तथैव । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४।१९६। अनेन तिजइत्यस्मादसुन्प्रत्ययः । (द्विषतः) शत्रोः । (वधः) नाशः । अयं मंत्रः श० १।२।२। ३—७ व्याख्यातः ॥ २४ ॥

अन्वयः— अहं सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां देवेभ्योऽध्वरकृतमाददे यो मयाऽनुष्ठितो यज्ञ इन्द्रस्य सहस्रभृष्टिः शततेजा दक्षिणो बाहुरसि भवति । यस्येन्द्रस्य सूर्य्यलोकस्य मेघस्य वा तिग्मतेजा वायुर्हेतुरस्ति तेन सुखानि द्विषतो वधश्च कार्य्यः ॥२४॥

भावार्थः— ईश्वर आज्ञापयति । मनुष्यैः सम्यक् संपादितोऽयं

यज्ञोऽग्निनोर्ध्वं प्रक्षिप्तद्रव्यः सूर्य्यकिरणस्थो वायुना धृतः सर्वोपकारी भूत्वा सहस्राणि सुखानि प्रापयित्वा दुःखानां नाशकारी भवतीति॥२४॥

पदार्थः— मैं (सवितुः) अन्तर्यामी प्रेरणा करने । (देवस्य) सब आनन्द के देनेवाले परमेश्वरकी । (प्रसवे) प्रेरणामें । (अश्विनोः) सूर्य्य चन्द्र और अध्वर्युओंके बल और वीर्य्यसे तथा । (पूष्णः) पुष्टिकारक वायुके । (हस्ताभ्यां) जो कि ग्रहण और त्यागके हेतु उदान और अपान हैं उनसे । (देवेभ्यः) विद्वान् वा दिव्य सुखोंकी प्राप्तिके लिये । (अध्वरकृतं) यज्ञसे सुखकारक कर्मको । (आददे) अच्छे प्रकार ग्रहण करता हूं और मेरा किया हुआ जो यज्ञ है सो । (इन्द्रस्य) सूर्य्यका । (सहस्रभृष्टिः) जिसमें अनेक प्रकारके पदार्थोंके पचानेका सामर्थ्य वा (शततेजाः) अनेक प्रकारका तेज तथा । (दक्षिणः) प्राप्त करनेवाला । (बाहुः) किरणसमूह । (असि) है और जिस (इन्द्रस्य) सूर्य वा मेघमंडलका । (तिग्मतेजाः) तीक्ष्ण तेजवाला । (वायुः) हेतु । (असि) है उससे हमको अनेक प्रकारके सुख तथा । (द्विषतः) शत्रुओंका । (वधः) नाश करना चाहिये ॥ २४॥

भावार्थ— ईश्वर आज्ञा करता है कि मनुष्योंको अच्छी प्रकार सिद्ध किया हुआ यज्ञ जिसमें भौतिक अग्निके संयोगसे करके अच्छे२ पदार्थ छोड़े हैं वह सूर्यकी किरणोंमें स्थिर होता है तथा पवन उसको धारण करता है और वह सबके उपकारके लिये हजारों सुखोंको प्राप्त करके दुःखोंका विनाश करनेवाला होता है ॥ २४ ॥

पृथिवीत्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता । विराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

। पुनः स यज्ञः क्व गत्वा किंकारी भवतीत्युपदिश्यते ।

फिर उक्त यज्ञ कहां जाके क्या करनेवाला होता है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलम्मा हिꣳसिषं व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २५ ॥

पृथिवि । देवयजनीति देवऽयजनि । ओषध्याः । ते । मूलम् । मा । हिꣳसिषम् । व्रजम् । गच्छ । गोस्थानमिति गोऽस्थानम् । वर्षतु । ते । द्यौः । बधान । देव । सवितरिति सवितः । परम् । अस्याम् । पृथिव्याम् । शतेन । पाशैः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः । तम् । अतः । मा । मौक् ॥ २५ ॥

पदार्थः— (पृथिवि) विस्तृताया भूमेः । (देवयजनि) देवा यजन्ति यस्यां सा । (ते) अस्याः । (ओषध्याः) यवादेः । (ते) अस्याः । अत्र सर्वत्र विभक्तेर्विपरिणामः क्रियते । (मूलम्) वृद्धिहेतुकम् । (मा) निषेधार्थे । (हिंसिषम्) उच्छिद्याम् । अत्र लिङर्थे लुङ् । (व्रजं) व्रजन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्त्यापो यस्मात् यस्मिन् वा तं व्रजं मेघम् । व्रज इति मेघनामसु पठितम् । निघं० १ । १० । (गच्छ) गच्छतु । अत्र व्यत्ययः ॥ (गोष्ठानम्) गवां सूर्य्यरश्मीनां पशूनां वा स्थानम् । गाव इति रश्मिनामसु पठितम् । निघं० १।५। (वर्षतु) स्पष्टार्थः (ते) तस्य । अत्र संबन्धार्थे षष्ठी । (द्यौः) सूर्य्यप्रकाशः । (बधान) बन्धय । (देव) सूर्य्यादिप्रकाशकेश्वर । (सवितः) राज्यैश्वर्य्यप्रद । (परं) शत्रुम् । (अस्याम) प्रत्यक्षायाम् । (पृथिव्याम्) बहुसुखप्रदायाम् । (शतेन) बहुभिः ।(पाशैः) बंधनसाधनैः । पश बंधनइत्यस्य रूपम् । (यः) अधर्मात्मा दस्युः शत्रुश्च । (अस्मान्) सर्वोपकारकान धार्मिकान् । (द्वेष्टि) विरुध्यति । (यं) दुष्टं शत्रुम् । (च) समुच्चये । (वयं) धार्मिकाः शूराः । (द्विष्मः) विरुद्ध्यामः । (तं) पूर्वोक्तं । (अतः) बन्धात् कदाचित् । (मा) निषेधार्थे । (मौक्) मोचय । मुच्लृ मोक्षणे इत्यस्माल्लोडर्थे लुङ्यडभावे च्लेः सिजादेशो बहुलं छन्दसीतीडभावः ।

वदव्रजेति वृद्धिः । संयोगांतस्य लोप इति सिजूलुक् । अयं मंत्रः । श० १।२।२।१६। व्याख्यातः ॥

अन्वयः— हे देव सवितः परमात्मन् ते तव कृपयाऽहं देवयजनि देवयज्ञाधिकरणायास्तेऽस्याः पृथिवि भूमेर्मूलं वृद्धिहेतुं मा हिंसिषं मया पृथिव्यां योऽयं यज्ञोऽनुष्ठीयते स व्रजं मेघं गच्छ गच्छतु गत्वा गोष्ठानं वर्षतु द्यौर्वर्षतु। हे वीर त्वमस्यां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं परं शत्रुं शतेन पाशैर्बधान बन्धय। तमतो बन्धनात् कदाचिन्मा मौक् मा मोचय ॥

भावार्थः— ईश्वर आज्ञापयति विद्वद्भिर्मनुष्यैः पृथिव्यां राज्यस्य तस्यां त्रिविधस्य यज्ञस्यौषधीनां च हिंसनं कदाचिन्नैव कार्य्यम्। योऽग्नौ हुतद्रव्यस्य सुगंध्यादिगुणविशिष्टो धूमो मेघमंडलं गत्वा सूर्य्यवायुभ्यां छिन्नस्याकर्षितस्य धारितस्य जलसमूहस्य शुद्धिकरो भूत्वाऽस्यां पृथिव्यां वायुजलौषधिशुद्धिद्वारा महत्सुखं संपादयति। तस्मात्सयज्ञः केनापि कदाचिन्नैव त्याज्यः। ये दुष्टा मनुष्यास्तानस्यां पृथिव्यामनेकैः पाशैर्बध्वा दुष्टकर्मभ्यो निवर्त्य कदाचित्ते न मोचनीयाः। अन्यच्च परस्परं द्वेषं विहायान्योन्यस्य सुखोन्नतये सदैव प्रयतितव्यमिति॥२५॥

पदार्थः— हे (देव) सूर्य्यादि जगत्के प्रकाश करने तथा। (सवितः) राज्य और ऐश्वर्य्यके देनेवाले परमेश्वर। (ते) आपकी कृपासे मैं। (देवयजनि) विद्वानोंके यज्ञ करनेकी जगह। (ते) यह जो। (पृथिवी) भूमि है उसका। (मूलं) वृद्धि करनेवाले मूलको। (मा हिंसिषम्) नाश न करूं और मैं। (पृथिव्यां) अनेक प्रकार सुखदायक भूमिमें (यः) जिस यज्ञका अनुष्ठान करता हूं वह (व्रजं) जलवृष्टिकारक मेघको। (गच्छ) प्राप्त हो वहां जाकर। (गोष्ठानं) सूर्य्यकी किरणोंके गुणोंसे। (वर्षतु) वर्षावता है और। (द्यौः) सूर्यके प्रकाश। (वर्षतु) वर्षाता है। हे वीर पुरुषो आप। (अस्यां) इस पृथिवीमें (यः) जो कोई अधर्मात्मा डांकू। (अस्मान्) सबके उपकार करनेवाले धर्मात्मा सज्जन हम लोगोंसे। (द्वेष्टि) विरोध करता है। (च) और। (यं) जिस दुष्ट शत्रुसे। (वयं) धार्मिक शूर

हम लोग । (द्विष्मः) विरोध करें । (तं) उस दुष्ट । (परं) शत्रुको । (शतेन) अनेक । (पाशैः) बन्धनोंसे । (बधान) बांधो और उसको । (अतः) इस बंधनसे कभी । (मा मौक्) मत छोडो ॥ २५ ॥

भावार्थः— ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् मनुष्योंको पृथिवीका राज्य तथा उसी पृथिवीमें तीन प्रकारके यज्ञ और ओषधियां इनका नाश कभी न करना चाहिये जो यज्ञ अग्निमें हवन किये हुए पदार्थोंका धूम मेघमंडलको जाकर शुद्धिके द्वारा अत्यंत सुख उत्पन्न करनेवाला होता है इससे यह यज्ञ किसी पुरुषको कभी छोड़ने योग्य नहीं है तथा जो दुष्ट मनुष्य हैं उनको इस पृथिवीपर अनेक बन्धनोंसे बांधे और उनसे कभी न छोड़े जिससे कि वे दुष्ट कर्मोंसे निवृत्त हों और सब मनुष्यों-को चाहिये कि परस्पर ईर्षा द्वेषसे अलग होकर एक दूसरेकी सब प्रकार सुखकी उन्नतिके लिये सदा यत्न करें ॥ २५ ॥

अपाररुमित्यस्य सर्वस्य ऋषिः स एव । सविता देवता । पूर्वार्द्धे स्वराड्ब्राह्मीपंक्तिश्छन्दः । उत्तरार्धे भुरिग्ब्राह्मीपंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

। पुनरेतेन यज्ञेन किं किं सिध्यतीत्युपदिश्यते ।

फिर इस यज्ञसे क्या२ कार्य्य सिद्ध होता है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳬं शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳬं शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २६ ॥

अप । अररुम् । पृथिव्यै । देवयजनादिति देवऽयजनात् । वध्यासम् । व्रजम् । गच्छ । गोस्थानमिति गोऽस्थानम् । वर्षतु । ते । द्यौः । बधान । देव । सवितरिति सवितः । परम् । अस्याम् । पृथिव्याम् । शतेन । पाशैः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यं । च । वयम् । द्विष्मः । तम् । अतः । मा । मौक् ॥ अररोइत्यररो । दिवं । मा । पप्तः । द्रप्सः । ते । द्याम् । मा । स्कन् । व्रजम् । गच्छ । गोस्थानमिति गोऽस्थानम् । वर्षतु । ते । द्यौः । बधान । देव । सवितरिति सवितः । परमस्याम् । पृथिव्याम् । शतेन । पाशैः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः । तम् । अतः । मा । मौक् ॥ २६ ॥

पदार्थः– (अप) धात्वर्थे । (अररुं) असुरराक्षसस्वभावशत्रुम् । अर्त्तेररुः । उ० ४।८० । अर्तेर ऋधातोररुः प्रत्ययः । (पृथिव्यै) पृथिव्याम् । अत्र सुपां सुलुगिति सप्तमीस्थाने चतुर्थी । (देवयजनात्) देवा यजन्ति यस्मिंस्तस्मात् । (वध्यासम्) हन्याम् । (व्रजं) व्रजन्ति जानन्ति जना येन तं सत्संगम् । (गच्छ) प्राप्नुहि गच्छतु वा । (गोष्ठानं) गौर्वाणी तिष्ठति यस्मिन्नध्ययनाध्यापने तं व्यवहारम् । गौरिति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११। (वर्षतु) शब्दविद्याया वृष्टिं करोतु । (ते) तव । (द्यौः) विद्याप्रकाशः । दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । निरु० १३।२५। (बधान) बंधय । (देव) सर्वानन्दप्रदेश्वरव्यवहारहेतुर्वा । (सवितः) सर्वेषु जीवेष्वन्तर्यामितया सत्यप्रेरकव्यवहारप्रेरणाहेतुर्वा । (परं) शत्रुभूतम् । (अस्याम्) आधारभूतायाम् । (पृथिव्याम्) बहुपदार्थप्रदायाम् । (शतेन) बहुभिः । (पाशैः) बन्धनैः । (यः) मूर्खः । (अस्मान्) विद्यासत्प्रचारकान् । (द्वेष्टि) अप्रीणाति । (यं) विद्याविरोधिनम् । (च)

पुनरर्थे । (वयं) विद्वांसः । (द्विष्मः) अप्रीणीमः । (तम्) पूर्वोक्तं विद्याशत्रुं । (अतः) अस्माद्बन्धनादुपदेशाद्वा । (मा) निषेधार्थे । (मौक्) त्यज । (अररो) दुष्टमनुष्य । (दिवं) प्रकाशम् । (मा) निषेधार्थे । (पप्तः) पततु । अत्र लोडर्थे लुङ् । (द्रप्सः) हर्षकारी रसः । दृप हर्षणमोहनयोरित्यस्मादौणादिकः सः प्रत्ययः । अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् । अ० ६।१।५९। अनेनामागमः । (ते) तव तस्याः पृथिव्या वा । (द्यां) आनन्दं । दिवुधातोर्बाहुलकाड्डो प्रत्ययष्टिलोपे प्राप्ते वकारलोपश्च । (मा) निषेधार्थे । (स्कन्) निस्सारयतु अत्र लोडर्थे लङ् । बहुलं छन्दसीति शपो लुक् । (व्रजं) व्रजन्ति विद्वांसो यस्मिन्सन्मार्गे तम् । (गच्छ) गच्छतु गमय वा । (गोष्ठानं) गौः पृथिवी तिष्ठति यस्मिन् तदन्तरिक्षम् । (वर्षतु) सिंचतु । (ते) तव (द्यौः) कान्तिः । द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम् । श० १४।२।३।८। (बधान) बध्नाति वा पक्षे व्यत्ययः । (देव) विजयप्रदविजयहेतुर्वा । (सवितः) सर्वोत्पादक व्यवहारोत्पत्तिहेतुर्वा । (परं) शत्रुम् । (अस्यां) सर्वप्रजापोषणार्थायाम् । (पृथिव्याम्) बहुप्रजायुक्तायाम् । (शतेन) बहुभिः । (पाशैः) सामदामदण्डभेदादिकर्मभिः । (यः) न्यायविरोधी । (अस्मान्) न्यायाधीशान् । (द्वेष्टि) कोपयति । (यं) अन्यायकारिणम् । (च) पुनरर्थे । (वयं) सर्वहितसंपादिनः । (द्विष्मः) कोपयामः (तं) अधर्मप्रियम् । (अतः) शिक्षणात । (मा) निषेधे । (मौक्) त्यजतु । अयं मंत्रः । श० १। २।२।१३—२१। व्याख्यातः ॥

अन्वयः—हे देव सवितर्भवत्कृपया वयं परस्परं विद्यामेवोपदिशामः। यथायं सविता देवः सूर्य्यलोकोऽस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बंधनहेतुभिः किरणैराकर्षणेन पृथिव्यादीन् सर्वान् पदार्थान् बध्नाति । तथैव त्वम-

पि दुष्टान् बध्वा शुभगुणान् प्रकाशय। हे विद्वांसो यथाहं पृथिव्यां देव-यजनादररुमपवध्यासं तथैव तं यूयमप्यपाघ्नत। यथाऽहं व्रजं गच्छामि तथैव त्वमप्येतं गच्छ। यथाहं गोष्ठानं वर्षामि तथैव भवानपि वर्षतु। यथा मम द्यौर्विद्या प्रकाशः सर्वान् प्राप्नोति तथैव ते तवापि प्राप्नोतु। यथाऽहं योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्नित्यं बध्नामि कदाचित्तं न त्यजामि तथैव हे वीर तं त्वमिमं बधान तं चातः कदाचिन्मा मौक्। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो बंधनात्कोपि मा मुंचतु। एवं च तं प्रति सर्व उपदिशन्तु। हे अररो त्वं दिवं मा पप्तस्तथा ते तव द्रप्सो द्यां माऽस्कन्। हे सन्मार्गजि-ज्ञासो यथाऽहं व्रजं सन्मार्गं गच्छामि तथैव त्वमप्येतं गच्छ। यथेयं द्यौर्गोष्ठानं वर्षति तथैवेश्वरो विद्वान् वा ते तव कामान् वर्षतु। य-थायं सविता देवः सूर्य्यलोकोऽस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बन्धनहेतुभिः किरणैराकर्षणेन पृथिव्यादीन् सर्वान्पदार्थान् बध्नाति। तथैव त्वमपि च पुनर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं परं शत्रुमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बधान। यथाऽहं तं द्वेष्टारं शत्रुं शतेन पाशैर्बध्वा न क-दाचिन्मुंचामि तथैव त्वमप्येनं सदा बधान कदाचिन्मा मौक् ॥

भावार्थः— अत्र लुप्तोपमालंकारः। ईश्वर आज्ञापयति हे मनु-ष्या युष्माभिर्विद्वत्कार्य्यानुष्ठाने विघ्नकारिणो दुष्टाः प्राणिनः सदा-ऽपहन्तव्याः। सत्समागमेन विद्यावृद्धिर्नित्यं कार्य्या। यथाऽनेकोपायैः श्रेष्ठानां हानिर्दुष्टानां च वृद्धिर्न स्यात् तथैवानुष्ठेयम्। सदा श्रेष्ठाः स-त्कार्य्या दुष्टास्ताडनीया बन्धनीयाश्च। परस्परं प्रीत्या विद्याशरीरबलं संपाद्य क्रियया कलायंत्रैरनेकानि यानानि रचयित्वा सर्वेभ्यः सुखं देयं निरंतरमीश्वरस्याज्ञापालनं स एवोपासनीयश्चेति ॥ २६ ॥

पदार्थः— हे (देव) सर्वानन्दके देनेवाले जगदीश्वर । (सवितः) सब प्राणियोंमें अन्तर्यामी सत्य प्रकाश करनेहारे आपकी कृपासे हम लोग परस्पर उपदेश करें कि जैसे यह सबका प्रकाश करनेवाला सूर्य्य लोक इस पृथिवीमें अनेक बंधनके हेतु किरणोंसे खैंचकर पृथिवी आदि सब पदार्थोंको बांधता है वैसे तुम भी दुष्टोंको बांधकर अच्छे२ गुणोंका प्रकाश करो और जैसे मैं । (पृथिव्यै) पृथिवीमें (देवयजनात्) विद्वान् लोग जिस संग्रामसे अच्छे२ पदार्थ वा उत्तम२ विद्वानोंकी संगतीको प्राप्त होते हैं उससे । (अररुं) दुष्टस्वभाववाले शत्रु जनको । (अपबध्यासं) मारता हूं वैसेही तुम लोग भी उसको मारो तथा जैसे मैं । (व्रजं) उत्तम२ गुण जनानेवाले सज्जनोंके संगको प्राप्त होता हूं वैसे तुम भी उसको । (गच्छ) प्राप्त हो जैसे मैं । (गोष्ठानं) पठन पाठन व्यवहारकी बनानेवाली मेघकी गर्जनाके समतुल्य वेदवाणीको अच्छे२ शब्दरूपी बूंदोंसे वर्षाता हूं वैसे तुम भी । (वर्षतु) वर्षाओ जैसे मेरी विद्याकी । (द्यौः) शोभा सबको दृष्टिगोचर है वैसे । (ते) तुम्हारी भी विद्या सुशोभित हो जैसे मैं । (यः) जो पूर्व । (अस्मान्) विद्याका प्रचार करनेवाले हम लोगोंसे । (द्वेष्टि) विरोध करता है । (च) और । (यं) जिस विद्याविरोधि जनको । (वयं) विद्वान् हम लोग । (द्विष्मः) दुष्ट समझते हैं । (तं) उस । (परं) विद्याके शत्रुको । (अस्यां) इस सब पदार्थोंकी धारण करने और । (पृथिव्यां) विविध सुख देनेवाली पृथिवीमें । (शतेन) बहुतसे । (पाशैः) बन्धनोंसे नित्य बांधता हूं कभी उससे उसको नहीं त्यागता वैसे हे वीर लोगो, तुम भी उसको (बधान) बांधो कभी उसको । (अतः) उस बन्धनसे । (मा मौक्) मत छोड़ो और जो दुष्ट जन हम लोगोंसे विरोध करे तथा जिस दुष्टसे हम लोग विरोध करें उसको उस बन्धनसे कोई मनुष्य न छोड़े इस प्रकार सब लोग उसको उपदेश करते रहें कि हे । (अररो) दुष्ट पुरुष तूं । (दिवं) प्रकाश उत्पत्तिको । (मा पप्तः) मत प्राप्त हो तथा । (ते) तेरा । (द्रप्सः) आनन्द देनेवाला विद्यारूपी रस । (द्यां) आनन्दको । (मा स्कन्) मत प्राप्त करे । हे श्रेष्ठोंके मार्ग चाहनेवाले मनुष्यो जैसे मैं (व्रजं) विद्वानोंके प्राप्त होनेयोग्य श्रेष्ठ मार्गको प्राप्त होता हूं वैसे तुम भी । (गच्छ) उसको प्राप्त हो जैसे यह । (द्यौः) सूर्यका प्रकाश । (गोष्ठानं) पृथिवीका स्थान अन्तरिक्षको सींचता है वैसेही ईश्वर वा विद्वान् पुरुष तुम्हारी कामनाओंको । (वर्षतु) वर्षावें अर्थात् क्रमसे पूरी करें । जैसे यह । (देवः) व्यवहारका हेतु । (सविता) सूर्य्यलोक । (अस्यां) इस वीजवोने योग्य । (पृथिव्यां) बहुत प्रजायुक्त पृथिवीमें । (शतेन) अनेक । (पाशैः) बंधनके हेतु

किरणोंसे आकर्षणके साथ पृथिवी आदि सब पदार्थोंको बांधता है वैसे तुम भी दुष्टोंको बांधो और। (यः) जो न्यायविरोधी। (अस्मान्) न्यायाधीश हम लोगोंसे (द्वेष्टि) कोप करता है। (च) और। (यं) अन्यायकारी जनपर। (वयं) संपूर्ण हित संपादन करनेवाले हम लोग। (द्विष्मः) कोप करते हैं। (तं) उस। (परं) शत्रुको। (अस्यां) इस। (पृथिव्यां) उक्त गुणवाली पृथिवीमें। (शतेन) अनेक। (पाशैः) साम दाम दंड और भेद आदि उद्योगोंसे बांधता हूं और जैसे मैं उसको उस दण्डसे बांधकर कभी नहीं छोडता वैसेही तुम भी। (बधान) बांधो अर्थात् बंधनरूप दण्ड सदा दो। कभी उसको (मा मौक्) मत छोडो ॥२६॥

भावार्थः— इस मंत्रमें लुप्तोपमालंकार है। ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्यो तुम लोगोंको विद्याके सिद्ध करनेवाले कार्य्योंके नियमोंमें विघ्नकारी दुष्ट जीवोंको सदा मारना चाहिये। और सज्जनोंके समागमसे विद्याकी वृद्धि नित्य करनी चाहिये जिस प्रकार अनेक उद्योगोंसे श्रेष्ठोंकी हानि दुष्टोंकी वृद्धि न हो सो नियम करना चाहिये और सदा श्रेष्ठ सज्जनोंका सत्कार तथा दुष्टोंको दंड देनेके लिये उनका बंधन करना चाहिये परस्पर प्रीतिके साथ विद्या और शरीरका बल संपादन करके क्रिया तथा कलायंत्रोंसे अनेक यान बनाकर सबको सुख देना ईश्वरकी आज्ञाका पालन तथा ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये ॥ ॥२६॥

गायत्रेणेत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता। ब्राह्मीत्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

॥ केन स यज्ञो ग्राह्योऽनुष्ठातव्यश्चेत्युपदिश्यते ॥

। उक्त यज्ञका ग्रहण वा अनुष्ठान किससे करना चाहिये सो अगले मंत्रमें प्रकाश किया है।

गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॥ सु॒क्ष्मा चासि॑ शि॒वा चा॑सि स्यो॒ना चासि॑ सु॒षदा॑ चा॒स्यूर्ज॑स्वती॒ चासि॒ पय॑स्वती च॥ २७॥

गा॒य॒त्रेण॑। त्वा॒। छन्द॑सा। परि॑। गृ॒ह्णा॒मि॒। त्रैस्तु॑भेनेति॒ त्रै-

स्तुभेन । त्वा । छन्दसा । परि । गृह्णामि । जागतेन । त्वा। छन्दसा । परि । गृह्णामि॥ सुक्ष्मा । च । असि । शिवा । च। असि । स्योना । च । असि । सुषदा । सुसदेति सुऽसदा । च । असि । ऊर्जस्वती । च । असि । पयस्वती । च ॥ २७॥

पदार्थः– गायत्रेण गायत्र्येव गायत्रं तेन । छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसकात् स्वार्थ उपसंख्यानम् । अ० ४।२।५५। अनेन गायत्रशब्दे अण् त्रैष्टुभादिषु अञ् च । (त्वा) परमात्मानं तमिमं यज्ञं वा । (छन्दसा) आल्हादकारिणा । चन्देरादेश्च छः । उ० ४।२२६। अनेनासुन् प्रत्ययः । (परि) सर्वतो भावे । परीति सर्वतोभावं प्राह । निरु० १।३। (गृह्णामि) संपादयामि । (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुब्वेव त्रैष्टुभं तेन । (त्वा) त्वां सर्वानन्दमयं तं पदार्थसमूहं वा । (छन्दसा) स्वातंत्र्यानन्दप्रदेन । (परि) अभितः । (गृह्णामि) संपादयामि । (जागतेन) जगत्येव जागतं तेन । (त्वा) त्वां सुखस्वरूपं तमग्निं वा । (छन्दसा) अत्यानन्दप्रकाशेन । (परि) समन्तात् । (गृह्णामि) स्वीकरोमि । (सुक्ष्मा) शोभना चासौ क्ष्मेयं पृथिवी च सा । क्ष्मेति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं० १।१। (च)समुच्चयार्थे । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (शिवा) मंगलप्रदा । (च) समुच्चये । (असि) भवति । (स्योना) सुखप्रदा । स्योनमिति सुखनामसु पठितम् । निघं० ३।६। (च)समुच्चये । (असि) भवति । (सुषदा) सुष्ठु सीदन्ति यस्यां सा । (च) समुच्चये । (असि) भवति । (ऊर्जस्वती) अन्नवती । ऊर्गित्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २।७। ऊर्ग्बहुविधमन्नं यस्यां सेति भूम्नि मतुप् । ज्योत्स्नातमिस्रा० अ० ५।२।११४। इति निपातितः । (च) समुच्चये । (असि) भवति । (पयस्वती) पयः प्रशस्तो रसो विद्यतेऽस्यां सा । अत्र प्र-

शंसार्थे मतुप्। पयस्वती रसवती। श० १।२।३।११। (च) समुच्चये। अयं मंत्रः। श० १।२।३।१—११। व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अन्वयः— येन यज्ञेन चोत्तमैः पदार्थैः सह सुक्ष्मासि भवति। येन च कल्याणकारिभिर्गुणैर्मनुष्यैश्चेयं शिवासि भवति। येन चोत्तमैः सुखैः सहेयं स्योनासि भवति। येन चोत्तमाभिः सुखकारिकाभिः स्थितिगतिभिः सहेयं सुषदासि भवति। येन चोत्तमैर्यवादिभिरन्नैः सहेयमूर्जस्वत्यसि भवति। येन चोत्तमैर्मधुरादिरसवद्भिः फलैर्युक्तेयं पृथिवी पयस्वती च जायते। अहं यज्ञविद्याविन्मनुष्यो गायत्रेण छन्दसा त्वा तं यज्ञं परिगृह्णामि। अहं त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा तमिमं पदार्थसमूहं परिगृह्णामि। अहं जागतेन छन्दसा त्वा तमिममग्निं परिगृह्णामि। ॥ २७ ॥

भावार्थः— वेदप्रकाशकेश्वरोऽस्मान् प्रत्यभिवदति युष्माभिर्न चान्तरेण वेदमंत्राणां पठनं तदर्थज्ञानं यज्ञानुष्ठानं सुखफलं प्राप्तुं सर्वशुभगुणाढ्याः सुखकारिणोऽग्निजलवाय्वादयः पदार्थाः शुद्धाश्च कर्तुं शक्यन्ते। तस्मादेतस्य त्रिविधस्य यज्ञस्य सिद्धिं प्रयत्नेन निष्पाद्य सुखे स्थातव्यम्। ये चाऽस्या वायुजलौषधिदूषका दुर्गन्धादयो दोषा दुष्टाश्च मनुष्याः सन्ति ते सर्वदा निवारणीयाः ॥ २७ ॥

पदार्थः— जिस यज्ञसे उत्तम पदार्थोंके साथ। (सुक्ष्मा) यह पृथिवी शोभायमान। (असि) होती है। (च) तथा जिससे सुखकारक गुण (च) अथवा मनुष्योंके साथ यह। (शिवा) मंगलको देनेवाली। (असि) होती है। (च) तथा जिस करके उत्तमसे उत्तम सुखोंके साथ यह पृथिवी। (स्योना) सुख उत्पन्न करनेवाली (असि) होती है। (च) और जिससे उत्तम २ सुख करनेवाले और चलनेके साथ यह (सुषदा) सुखसे स्थिति करनेयोग्य (असि) होती है। तथा जिन उत्तम यव आदि अन्नोंके साथ यह। (ऊर्जस्वती) अन्नवाली (असि) होती है। (च) और जिन उत्तम मधुर आदि रसवाले फलों करके यह पृथिवी। (पयस्वती) प्रशंसा करने योग्य रसवाली। (असि) होती है। (त्वा) उस यज्ञको

में यज्ञविद्याका जाननेवाला मनुष्य । (गायत्रेण) गायत्री । (छन्दसा) जो कि चित्तको प्रफुल्लित करनेवाला है उससे । (परिगृह्णामि) सब प्रकारसे सिद्ध करता हूं और मैं । (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् । (छन्दसा) जो कि स्वतंत्रतारूपसे आनन्दका देनेवाला है उससे । (त्वा) पदार्थसमूहको । (परिगृह्णामि) सब प्रकारसे इकट्ठा करता हूं । तथा मैं । (जागतेन) जगती जो कि । (छन्दसा) अत्यन्त आनन्दका प्रकाश करनेवाला है उससे (त्वा) उस भौतिक अग्निको । (परिगृह्णामि) अच्छी प्रकार स्वीकार करता हूं ॥ २७ ॥

भावार्थः— वेदका प्रकाश करनेवाला ईश्वर हम लोगोंके प्रति कहता है कि हे मनुष्यो तुम लोगोंको वेदमंत्रोंके विना पढे और उनके अर्थोंके विना जाने यज्ञका अनुष्ठान वा सुखरूप फलको प्राप्त होना और सब शुभ गुणयुक्त सुखकारी अन्न जल और वायु आदि पदार्थ हैं उनको शुद्ध नहीं कर सकते इससे यह तीन प्रकारके यज्ञकी सिद्धि यत्नपूर्वक संपादन करके सदा सुखही में रहना चाहिये और जो इस पृथिवीमें वायु जल तथा ओषधियोंको दूषित करनेवाले दुर्गंध अपगुण तथा दुष्ट मनुष्य हैं वे सर्वदा निवारण करने चाहिये ॥ २७ ॥

पुरा क्रूरस्येत्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । विराड् ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

॥ ते दोषाः कथं निवारणीयास्तत्र मनुष्यैः पुनः किं करणीयमित्युपदिश्यते ॥

। वे दोष कैसे निवारण करने और वहां मनुष्योंको फिर क्या करना चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

पुरा क्रूरस्य॑ विसृपो॑ विरप्शिन्नुदादाय॑ पृथिवीं जीवदा॑नुम् ॥ यामैर॑यँश्चन्द्रम॑सि स्वधाभिस्तामु धीरा॑सो अनुदिश्य॑ यजन्ते ॥ प्रोक्षणीरासा॑दय द्विषतो व॒धो॑ऽसि ॥ २८ ॥

पुरा । क्रूरस्य॑ । विसृपइति॑ विऽसृपः॑ । विरप्शिन्निति॑ विऽरप्शिन् । उदादायेत्यु॑त्ऽआदाय॑ । पृथिवीम् । जीवदा॑नुमिति॑

जीवऽदानुम् । याम् । ऐरयन् । चन्द्रमसि । स्वधाभिः । ताम् । ऊंइत्युं । धीरासः । अनुदिश्येत्यनुऽदिश्य । यजन्ते । प्रोक्षणीरिति प्रऽउक्षणीः । आ । सादय । द्विषतः । वधः । असि ॥ २८ ॥

पदार्थः– (पुरा) पुरस्तात् । (क्रूरस्य) कृन्तन्त्यंगानि यस्मिन् तस्य युद्धस्य । कृतेश्छः क्रूच । उ० २।२१। अनेन कृततेरक् प्रत्ययः । क्रूइत्यादेशश्च । (विसृपः) योद्धृभिर्विविधं यस्सृप्यते । तस्य । सृपितृदोः कसुन् । अ० ३।४।१७। अनेन भावलक्षणे सृपिधातोः कसुन् । (विरप्सिन्) महागुणविशिष्टेश्वर वा महैश्वर्य्यमिच्छुकमनुष्य । विरप्शीति महन्नामसु पठितम् । निघं० ३।३। (उदादाय) ऊर्ध्वं समन्ताद्गृहीत्वा । (पृथिवीं) विस्तृतप्रजायुक्तां (जीवदानुम्) या जीवेभ्यो जीवनार्थं वस्तु ददाति तां । (यां) पृथिवीम् । (ऐरयन्) राज्याय प्राप्नुवन्ति । अत्र लडर्थे लङ् । (चन्द्रमसि) चन्द्रलोकसमीप आल्हादे वा । (स्वधाभिः) अन्नैः सह वर्त्तमानां । स्वधेत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २।७। (तां) एतल्लक्षणाम् । (उ) वितर्के । (धीरासः) मेधाविनः । धीर इति मेधाविनामसु पठितम् । निघं० । ३।१५। (अनुदिश्य) प्राप्तुं शोधयितुमनुलक्ष्य । (यजन्ते) पूजयन्ति संगतिं कुर्वते (प्रोक्षणीः) प्रकृष्टतया सिंचन्ति याभिः क्रियाभिः पात्रैर्वा ताः । (आ) समन्तात् । (सादय) स्थापय । (द्विषतः) शत्रोः । (वधः) हननम् । (असि) भवेत् । अत्रापि पुरुषव्यत्ययो लिडर्थे लट् च । अयं मंत्रः । श० १।२।३।१८–२६। व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः– हे विरप्शिन् जगदीश्वर भवतैव यां स्वधाभिर्युक्तां जीवदानुं पृथिवीमुदादाय चन्द्रमसि स्थापिता तस्माद्धीरासस्तामिमां

पृथिवीं प्राप्य भवन्तमनुदिश्य सेनां शस्त्राण्युदादाय विसृपः क्रूरस्य मध्ये शत्रून् जित्वा राज्यमैश्यन् प्राप्नुवन्ति । यथा चैवं कृत्वा धीरासः पुरा प्रोक्षणीश्चासादितवन्तस्तथैव हे विरप्शिन् त्वमपि उ इति वितर्के तां प्राप्येश्वरं यज प्रोक्षणीश्चासादय यथा च द्विषतो बधोऽसि भवेत् । तथाकृत्वाऽऽनन्दे नित्यं प्रवर्त्तस्व ॥ २८ ॥

भावार्थः— येनेश्वरेणान्तरिक्षे पृथिव्यस्तत्समीपे चन्द्रास्तत्समीपे पृथिव्योऽन्योन्यं समीपस्थानि नक्षत्राणि सर्वेषां मध्ये सूर्य्यलोका एतेषु विविधाः प्रजाश्च रचयित्वा स्थापिताः सर्वैस्तत्रस्थैर्मनुष्यैः स एवोपासितुं योग्योस्ति । न यावन्मनुष्या बलक्रियाभ्यां युक्ता भूत्वा शत्रून् विजयन्ते नैव तावत्स्थिरं राज्यसुखं प्राप्नुवन्ति । नैव युद्धबलाभ्यां विना शत्रवो बिभ्यति । नैव च विद्यान्यायविनयैर्विना यथावत् प्रजाः पालयितुं शक्नुवन्ति तस्मात्सर्वैर्जितेन्द्रियैर्भूत्वैतत्समासाद्य सर्वेषां सुखं कर्तुमनुलक्ष्य नित्यं प्रयतितव्यम् ॥ २८ ॥

पदार्थः— हे (विरप्शिन्) अत्यंत महागुणवान् जगदीश्वर आपने । (यां) जिस । (स्वधाभिः) अन्न आदि पदार्थोंसे युक्त । और (जीवदानुम्) प्राणियोंको जीव देनेवाले पदार्थ तथा । (पृथिवीम्) बहुतसी प्रजायुक्त पृथिवीको । (उद्दादाय) ऊपर उठाकर । (चन्द्रमसि) चन्द्रलोकके समीप स्थापन की है इस कारण उस पृथिवीको । (प्रगमः) धीर बुद्धिवाले पुरुष प्राप्त होकर आपके अनुकूल चलकर यज्ञका अनुष्ठान नित्य करते हैं जैसे । (चन्द्रमसि) आनन्दमें वर्त्तमान होकर । (धीरासः) बुद्धिमान् पुरुष । (यां) जिस (जीवदानुं) जीवोंकी हितकारक । (पृथिवीं) पृथिवीके आश्रित होकर सेना और शस्त्रोंको (उदादाय) क्रमसे लेकर । (विसृपः) जो कि युद्ध करनेवाले पुरुषोंके प्रभाव दिखाने योग्य और । (क्रूरस्य) शत्रुओंके अंग विदीर्ण करनेवाले संग्रामके बीचमें शत्रुओंको जीतकर राज्यको प्राप्त होते हैं तथा जैसे इस उक्त प्रकारसे धीर पुरुष । (पुरा) पहिले समयमें प्राप्त हुए जिन क्रियाओंसे । (प्रोक्षणीः) अच्छी प्रकार पदार्थोंको सींचके उनको संपादन करते हैं वैसेही हे । (विरप्शिन्) महाऐश्व-

र्य्यकी इच्छा करनेवाले पुरुष तू भी उसको प्राप्त होके ईश्वरका पूजन तथा पदार्थ-सिद्धि करनेवाली उत्तम२ क्रियाओंका संपादन कर । जैसे । (द्विषतः) शत्रुओं-का । (बधः) नाश । (असि) हो वैसे कामोंको करके नित्य आनन्दमें वर्त्तमान रह ॥ २८ ॥

भावार्थः— जिस ईश्वरने क्रमसे अन्तरिक्षमें पृथिवी पृथिवीयोंके समीप च-न्द्रलोक चन्द्रलोकोंके समीप पृथिवी । एक दूसरेके समीप तारालोक और सबके बीचमें अनेक सूर्य्यलोक तथा इन सबमें नानाप्रकारकी प्रजा रचकर स्थापन की है-वही परमेश्वर सब मनुष्योंको उपासना करने योग्य है । जबतक मनुष्य बल और क्रियाओंसे युक्त होकर शत्रुओंको नहीं जीतने तबतक राज्यसुखको नहीं प्राप्त हो सकते क्योंकि विना युद्ध औ बलके शत्रु जन कभी नहीं डरते । तथा वि-द्वान् लोग विद्या न्याय और विनयके विना यथावत् प्रजाके पालन करनेको समर्थ नहीं हो सकते इस कारण सबको जितेन्द्रिय होकर उक्त पदार्थोंका संपादन करके सबके सुखके लिये उत्तम २ प्रयत्न करना चाहिये ॥ २८ ॥

प्रत्युष्टमित्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता सर्वस्य ।
पूर्वार्द्धे भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः । उत्तरार्द्धे
त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

॥ पुनः स संग्रामः किं कृत्वा जेतव्यो यज्ञश्चानुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते ॥

। फिर उक्त संग्राम कैसे जीतना और यज्ञका अनुष्ठान कैसे करना
चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

प्रत्युष्ट॒ꣳ रक्षः॒ प्रत्यु॑ष्टा॒ अरा॑तयो॒ निष्ट॑प्त॒ꣳ रक्षो॒ नि-ष्ट॑प्ता॒ अरा॑तयः ॥ अनि॑शितोसि सपत्न॒क्षिद्वा॒जिनं॑ त्वा॒ वाजे॒ध्यायै॑ सम्मा॑र्ज्मि ॥ प्रत्यु॑ष्ट॒ꣳ रक्षः॒ प्रत्यु॑ष्टा॒ अरा॑तयो॒ निष्ट॑प्त॒ꣳ रक्षो॒ निष्ट॑प्ता॒ अरा॑तयः ॥ अनि॑शितासि सपत्न॒क्षिद्वा॒जिनीं॑ त्वा॒ वाजे॒ध्यायै॑ सम्मा॑र्ज्मि ॥ २९ ॥

प्रत्यु॑ष्टमिति॒ प्रति॑ऽउष्टम् । रक्षः॑ । प्रत्यु॑ष्टा॒ इति॒ प्रति॑ऽउष्टाः ।

अरातयः । निस्तप्तमिति निःऽतप्तम् । रक्षः । निष्टप्ताः । निस्तप्ताइति निःऽतप्ताः । अरातयः । अनिशित इत्यनिऽशितः । असि । सपत्नक्षिदिति सपत्नऽक्षित् । वाजिनं । त्वा । वाजेध्यायाइति वाजऽइध्यायै । सम् । मार्ज्मि । प्रत्युष्टमिति प्रतिऽउष्टम् । रक्षः । प्रत्युष्टाइति प्रतिऽउष्टाः । अरातयः । निष्टप्तम् । निस्तप्तमिति निःऽतप्तम् । रक्षः । निष्टप्ताः । निस्तप्ताइति निःऽतप्ताः । अरातयः । अनिशितेत्यनिऽशिता । असि । सपत्नक्षिदिति सपत्नऽक्षित् । वाजिनीम् । त्वा । वाजेध्यायाइति वाजऽइध्यायै । सम् । मार्ज्मि ॥ २९ ॥

पदार्थः— (प्रत्युष्टम्) प्रतिदग्धव्यम् । (रक्षः) विघ्नकारी प्राणी । (प्रत्युष्टाः) प्रतिदग्धव्याः । (अरातयः) सत्यविरोधिनोऽरयः । (निष्टप्तम्) यन्नितरां तप्यते तत् । (रक्षः) बन्धनेन रक्षयितव्यम् । (निष्टप्ताः) नितरां तप्यन्ते ये ते । (अरातयः) विद्याविघ्नकारिणः । (अनिशितः) न विद्यते नितरां शिता तीव्रा क्रिया यस्मिन्स संग्रामो यज्ञपात्रं वा । (असि) भवति । अत्र पुरुषव्यत्ययः (सपत्नक्षित्) सपत्नान् शत्रून् क्षयति येन सः । अत्र कृतो बहुलमिति वार्त्तिकेन करणकारके क्विप् । क्षि क्षये । इत्यस्य रूपम् । एतद्‌वटमहीधराभ्यां क्षिणु हिंसायामित्यस्य भ्रांत्या व्याख्यातम् । (वाजिनं) अन्नवन्तं वेगवन्तं वा । वाज इत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० । २।७॥ (त्वा) तम् । (वाजेध्यायै) वाजेनान्नेन युद्धेन वा इध्या दीपनीया सेना यज्ञपात्रं वा यया क्रियया तस्यै । (संमार्ज्मि) सम्यक् शोधयामि । (प्रत्युष्टम्) नित्यं प्रजापालनाय तापनीयः । (रक्षः) परसुखासहो मनुष्यः । (प्रत्युष्टाः) प्रत्यक्षं ज्वालनीयाः । (अरातयः) परसुखासो-

द्वारः । (निष्टप्तम्) निःसारणीयः । (अरातयः) अन्येभ्यो दुःखप्रदाः । (अनिशिता) अतिविस्तीर्णा सेना कार्य्या वेदिर्वा । (असि) अस्ति । अत्रापि व्यत्ययः । (सपत्नाक्षित्) सपत्नान् क्षयति यया सा । (वाजिनीम्) बलवेगवतीम् । (त्वा) त्वां । (वाजेध्यायै) वाजेन बहुसाधनसमूहेन संग्रामेण सेनया यज्ञेन वा प्रकाशनीयायै सत्यनीत्यै । (संमार्ज्मि) सम्यक् शिक्षया शोधयामि । अयं मंत्रः । श० १।२।४।१—११ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः— अहं येनाशितेन सपत्नक्षिता संग्रामेण प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयो भवन्ति तं वाजिनं वाजेध्यायै युद्धांगानि संमार्ज्मि । अहं यया सपत्नक्षिता निशितया सेनया प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयो भवन्ति तां वाजिनीं सेनां शिक्षया वाजेध्यायै संमार्ज्मि । अहं येनाशितेन सपत्नक्षिता यज्ञेन प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयो भवन्ति तं वाजिनं यज्ञं वाजेध्यायै संमार्ज्मि ॥२९॥

भावार्थः— ईश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्याशुभगुणदीप्त्या दुष्टशत्रुनिवारणाय नित्यं पुरुषार्थः कर्त्तव्यः । सुशिक्षया शस्त्रास्त्रसत्पुरुषाढ्यसेनया श्रेष्ठानां रक्षणं दुष्टानां ताडनं च नित्यं कर्त्तव्यम् । यतोऽशुद्धिक्षयात्सर्वत्र पवित्रता प्रवर्त्तेत ॥ २९ ॥

पदार्थः— मैं जिस अति विस्तृत शत्रुओंके नाश करनेवाले संग्रामसे । (प्रत्युष्टं रक्षः) विघ्नकारी प्राणी और । (प्रत्युष्टा अरातयः) जिसमे सत्यविरोधी अच्छी प्रकार दाहदण्डको प्राप्त होते हैं वा । (निष्टप्तं रक्षः) जिस बंधनसे बांधने योग्य । (निष्टप्ता अरातयः) विद्याके विघ्न करनेवाले निरंतर संतापको प्राप्त होते हैं । (त्वा) उस (वाजिनं) वेग आदि गुणवाले संग्रामको । (वाजेध्यायै) जो कि अन्न आदि पदार्थोंसे बलवान् करनेके योग्य सेना है उसके लिये युद्धके साधनोंको । (संमार्ज्मि) अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूं अर्थात् उनके दोषोंका विनाश करता हूं और मैं जिस । (सपत्नक्षित्) शत्रुका नाश करनेवाले और (अशिता) अति विस्तार-

युक्त सेनासे । (प्रत्युष्टं रक्षः) परसुखका न सहनेवाला मनुष्य वा । (प्रत्युष्टा अरातयः) उक्त अपगुणवाले अनेक मनुष्य । (निष्टप्तं रक्षः) जुआ खेलने और परस्त्रीगमन करने तथा । (निष्टप्ता अरातयः) औरोंको सब प्रकारसे दुःख देनेवाले मनुष्य अच्छी प्रकार निकाले जाते हैं । (त्वा) उस । (वाजिनीं) बल और वेग आदि गुणवाली सेनाको । (वाजेध्यायै) बहुत साधनोंसे प्रकाशित करनेके लिये । (संमार्ज्मि) अच्छी प्रकार उत्तम २ शिक्षाओंसे शुद्ध करता हूं और जो कि । (अनिशितः) बडी क्रियाओंसे सिद्ध होने योग्य वा । (सपत्नक्षित्) दोषों वा शत्रुओंके विनाशकरनेहारे यज्ञ वा युद्धको (वाजेध्यायै) अन्न आदि पदार्थोंके प्रकाशित होनेके लिये । (संमार्ज्मि) शुद्धतासे सिद्ध करता हूं ॥ २९ ॥

भावार्थः— ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्योंको विद्या और शुभ गुणोंके प्रकाश और दुष्ट शत्रुओंकी निवृत्तिके लिये नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये तथा सदैव श्रेष्ठ शिक्षा शस्त्र अस्त्र और सत्पुरुषयुक्त उत्तम सेनासे श्रेष्ठोंकी रक्षा दुष्टोंका विनाश करना चाहिये जिस करके अशुद्धि आदि दोषोंके विनाश होनेसे सर्वत्र शुद्ध गुण प्रवृत्त हो सकते हैं ॥ २९ ॥

अदित्या इत्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । स्वराट्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

॥ पुनः स यज्ञः कीदृशः किंफलो भवतीत्युपादिश्यते ॥

। फिर उक्त यज्ञ किस प्रकारका और कौन फलका देनेवाला होता है सो अगले मंत्रमें प्रकाशित किया है ।

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोस्यूर्ज्जे त्वादब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि ॥ अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने भव यजुषे यजुषे ॥ ३० ॥

अदित्यै । रास्ना । असि । विष्णोः । वेष्पः । असि । ऊर्ज्जे । त्वा । अदब्धेन । त्वा । चक्षुषा । अव । पश्यामि ॥ अग्नेः । जिह्वा । असि । सुहूरिति सुऽहूः । देवेभ्यः । धाम्ने । धाम्नइति धाम्ने । भव । यजुषे । यजुषइति यजुषे । यजुषे॥३०॥

पदार्थः— (अदित्यै) पृथिव्या अन्तरिक्षस्य वा । अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । अदितिरिति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं॰ १।१। पदनामसु च । निघं॰ । ४।१। अनेन गमनागमनव्यवहारप्राप्तिहेतुरवकाशोऽन्तरिक्षं गृह्यते । (रास्ना) रसहेतुभूता क्रिया । रास्ना सास्ना स्थूणा वीणाः । उ॰ ३।१५। अनेन रसधातोर्निपातनान्नः प्रत्ययः । (असि) अस्ति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । (विष्णोः)व्यापकेश्वरस्य यज्ञस्य वा । यज्ञो वै विष्णुः । श॰ १।१।२।१३। (वेष्पः) वेवेष्टि व्याप्नोति पृथिवीमन्तरिक्षं वा स यज्ञोऽर्थो वाष्पो ज्ञानसमूहो वा । पानीविषिभ्यः पः । उ॰ ३।२३। अनेन विषेः पः प्रत्ययः। (असि) अस्ति वा । (ऊर्जे) अन्नाय रसाय पराक्रमाय च । (त्वा) त्वां तं वा । (अदब्धेन) सुखयुक्तेन । (त्वा) त्वां तं वा । (चक्षुषा) विज्ञानेन प्रत्यक्षप्रमाणेन नेत्रेण । (अव) क्रियार्थे । अवेति विनिग्रहार्थीयः । निरु॰ १।३। (पश्यामि) संप्रेक्षे । (अग्नेः) भौतिकस्य । (जिह्वा) जिहीते विजानाति रसमनया सा । शेवयह्वजिह्वा॰ उ॰ १। १५२ । अनेनायं निपातितः । (असि) अस्ति वा । (सुहूः) सुष्ठु हूयते यो या वा सा कृतो बहुलमिति कर्मणि ह्वेञ् इत्यस्य क्विबन्तः प्रयोगः । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा । (धाम्नेधाम्ने) दधति वस्तूनि सुखानि च यस्मिन् तस्मै प्रत्यधिकरणप्राप्तये । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति । निरु॰ ९।२८ अत्र वीप्सायां द्वित्वम् । (भव) भवति वा । (यजुषेयजुषे) यजन्ति येन तस्मै प्रति यजुर्वेदमन्त्रम् । अयं मंत्रः । श॰ १।२।४।१२—१९ व्याख्यातः ॥ ३० ॥

अन्वयः— हे जगदीश्वर यस्त्वमदित्या रास्नासि विष्णुरसि सर्वस्य वेष्पोऽस्यग्नेर्जिह्वासि देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे सुहूरासि ।

एवंभूतं त्वामहमदब्धेन चक्षुषा ऊर्ज्जेऽदित्यै देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे चावपश्यामि। स च त्वमस्माभिः सर्वत्र कृपया विदितः पूजितश्च भवेत्येकः॥ यतोऽयं यज्ञोऽदित्या रास्नास्ति विष्णोर्वेष्पोऽस्त्यग्नेर्जिह्वास्ति देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे सुहूर्भवति तस्मात्तमहमदब्धेन चक्षुषोर्ज्जेऽवपश्यामि तथाऽदित्यै देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे हितायावपश्यामि॥ ३० ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालंकारः। सर्वैर्मनुष्यैरयं जगदीश्वरः प्रतिवस्तुषु स्थितः प्रतिपादितः पूज्यश्च भवतीति मन्तव्यम्। तथा चायं यज्ञः प्रतिमंत्रेण सम्यगनुष्ठितः सर्वप्राणिभ्यः प्रतिवस्तुषु पराक्रमबलप्राप्तये भवतीति॥ ३० ॥

पदार्थः— हे जगदीश्वर, जो आप। (अदित्यै) पृथिवीके। (रास्ना) रस आदि पदार्थोंके उत्पन्न करनेवाले। (असि) हैं। (विष्णोः) (असि) व्यापक। (वेष्पः) पृथिवी आदि सब पदार्थोंमें प्रवर्त्तमान भी। (असि) हैं तथा। (अग्नेः) भौतिक अग्निके। (जिह्वा) जीभरूप। (असि) हैं वा। (देवेभ्यः) विद्वानोंके लिये। (धाम्ने धाम्ने) जिनमें कि वे विद्वान् सुखरूप पदार्थोंको प्राप्त होते हैं जो तीनों धाम अर्थात् स्थान नाम और जन्म है उन धर्मोंकी प्राप्तिके तथा। (यजुषे यजुषे) यजुर्वेदके मंत्र २ का आशय प्रकाशित होनेके लिये। (सुहूः) जो श्रेष्ठतासे स्तुति करनेके योग्य है इस प्रकारके। (त्वा) आपको मैं। (अदब्धेन) प्रेमसुखयुक्त। (चक्षुषा) विज्ञानसे। (ऊर्ज्जे) पराक्रम। (अदित्यै) पृथिवी तथा। (देवेभ्यः) श्रेष्ठगुणों वा। (धाम्ने धाम्ने) स्थान नाम और जन्म आदि पदार्थोंकी प्राप्ति तथा। (यजुषे यजुषे) यजुर्वेदके मंत्र २ के आशय जनानेके लिये। (अवपश्यामि) ज्ञानरूपी नेत्रोंसे देखता हूं आप भी कृपा करके मुझको विदित और मेरे पूजनको प्राप्त। (भव) हूजिये। यह इस मंत्रका प्रथम अर्थ हुआ। अब दूसरा कहते हैं। जिस कारण यह यज्ञ। (अदित्यै) अन्तरिक्षके। (रास्ना) संबन्धी रसादि पदार्थोंकी क्रियाका कारण। (असि) है। (विष्णोः) यज्ञसंबन्धी कार्य्योंका। (वेष्पः) व्यापक। (असि) है। (अग्नेः) भौतिक अग्निका। (जिह्वा) जिह्वारूप। (असि) है। (देवेभ्यः) तथा दिव्य गुण। (धाम्ने धाम्ने) कीर्ति स्था-

न और जन्म इनकी प्राप्ति वा। (यजुषे यजुषे) यजुर्वेदके मंत्र २ का आशय जाननेके लिये। (सुहूः) अच्छी प्रकार प्रशंसा करने योग्य। (असि) होता है इस कारण (त्वा) उस यज्ञको मैं। (अदब्धेन) सुखपूर्वक। (चक्षुषा) प्रत्यक्ष प्रमाणके साथ नेत्रोंसे। (अवपश्यामि) देखता हूं तथा। (त्वा) उसे। (अदित्यै) पृथिवी आदि पदार्थ। (देवेभ्यः) उत्तम २ गुण। (धाम्ने धाम्ने) स्थान २ तथा। (यजुषे यजुषे) यजुर्वेदके मंत्र २ से हित होनेके लिये। (अवपश्यामि) क्रियाकी कुशलतासे देखता हूं॥ ३०॥

भावार्थः— इस मंत्रमें श्लेषालंकार है सब मनुष्योंको जैसे यह जगदीश्वर वस्तु २ में स्थित तथा वेदके मंत्र २ में प्रतिपादित और सेवा करने योग्य है वैसेही यह यज्ञ वेदके प्रतिमंत्रसे अच्छी प्रकार सिद्ध प्रतिपादित विद्वानोंने सेवित किया हुआ सब प्राणियोंके लिये पदार्थ २ में पराक्रम और बलके पहुंचानेके योग्य होता है॥ ३०॥

सवितुस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता सर्वस्य। पूर्वार्द्धे जगती छन्दः। निषादः स्वरः। तेजोऽसीत्यस्याऽनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

॥ स यज्ञः कथं पवित्रीकरोतीत्युपदिश्यते ॥

। उक्त यज्ञ कैसे पवित्र होता है सो अगले मंत्रमें उपदेश किया है।

स॒वि॒तुस्त्वा॑ प्रस॒व उत्पु॑नाम्यच्छिद्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑। स॒वि॒तुर्वः॑ प्रस॒व उत्पु॑नाम्यच्छिद्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑॥ तेजो॑ऽसि शु॒क्रम॑स्य॒मृत॑मसि॒ धाम॒ नामा॑सि प्रि॒यन्दे॒वाना॒मना॑धृष्टं दे॒व॒यज॑नमसि॥ ३१॥

स॒वि॒तुः। त्वा॒। प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे। उत्। पु॒ना॒मि॒। अच्छि॑द्रेण। प॒वित्रे॑ण। सूर्य॑स्य। र॒श्मिभि॒रिति॑ र॒श्मिऽभिः॑। स॒वि॒तुः। वः॒। प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे। अच्छि॑द्रेण। प॒वित्रे॑ण। सूर्य॑स्य। र॒श्मिभि॒रिति॑ र॒श्मिभिः॑। तेजः॑। अ॒सि॒।

शुक्रम् । असि । अमृतम् । असि । धामं । नामं । असि । प्रियम् । देवानाम् । अनाधृष्टम् । देवयजनमिति देवऽयजनम् । असि ॥ ३१ ॥

पदार्थः— (सवितुः) परमेश्वरस्य सूर्य्यलोकस्य वा । (त्वा) त्वां जगदीश्वरं तं यज्ञं वा । (प्रसवे) प्रकृष्टतयोत्पद्यन्ते सर्वे पदार्था यस्मिँस्तस्मिन्संसारे । (उत) उत्कृष्टार्थे । उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १।३। (पुनामि) पवित्रीकरोमि । (अच्छिद्रेण) न विद्यते छिद्रं छेदनं यस्मिन् तेन । (पवित्रेण) शुद्धेन । (सूर्य्यस्य) चराचरात्मनः परमेश्वरस्य प्रकाशमयस्य सूर्य्यलोकस्य वा । सरति जानाति प्रकाशयति चराचरं जगदिति । राजसूय सूर्य्य० अ० ३। १।११४। अनेन निपातितः । (रश्मिभिः) प्रकाशकगुणैः किरणैर्वा । (सवितुः) उक्तार्थस्य । (वः) युष्मानेतांश्च । (प्रसवे) उक्तार्थे । (अच्छिद्रेण) निरन्तरेण । (पवित्रेण) शुद्धिकारकेण । (सूर्य्यस्य) यः सुवत्यैश्वर्य्यं ददाति । ऐश्वर्य्यहेतुत्वं प्रसूयति सः परमेश्वरः प्राणो वा तस्य । (रश्मिभिः) अन्तःप्रकाशकगुणैः । (तेजः) स्वप्रकाशः प्रकाशहेतुर्वा । (असि) अस्ति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । (शुक्रं) शुद्धं शुद्धिहेतुर्वा । (असि) अस्ति वा । (अमृतं) अमृतात्मकं मोक्षसुखं प्रकाशकं वा । (असि) अस्ति वा । (धाम) धीयन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन् तत् । (नाम) नमस्करणीयो जलहेतुर्वा । नाम इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२। (असि) अस्ति वा । (प्रियम्) प्रीतिकारकम् । (देवानाम्) विदुषां दिव्यगुणानां वा । (अनाधृष्टम्) यन्न समन्ताद्धृष्यते इत्यनाधृष्टम् । (देवयजनम्) देवैर्यजयते येन वा देवानां यजनं देवयजनं तत् । (असि) अस्ति वा । अयं मंत्रः । श० । १।२।४।२२—२८।५।१—१८। व्याख्यातः ॥

अन्वयः—यो यज्ञोऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिःसह सर्वान्पदार्थान्पुनाति तमहमुत्पुनामि । त्वां यजमानं वा । एवं च सवितुः प्रसवेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिर्वो युष्मानेतांश्च पदार्थान् यज्ञेनोत्पुनामि । हे ब्रह्मन् यतस्त्वं तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसि धामासि नामासि देवानां प्रियमस्यनाधृष्टमसि देवयजनमसि तस्मात्त्वामेवाहमाश्रयामीत्येकः ॥ यतोऽयं यज्ञस्तेजोस्ति शुक्रमस्त्यमृतमस्ति धामास्ति नामास्ति देवानां प्रियमनाधृष्टं देवयजनमस्ति तेनानेन यज्ञेनाहं सवितुर्जगदीश्वरस्य प्रसवेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिर्वो युष्मानेतान् सर्वान् पदार्थांश्चोत्पुनामि ॥ इति द्वितीयः ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालंकारः । ईश्वरो यज्ञविद्याफलं ज्ञापयति युष्माभिर्यथावदनुष्ठितो यज्ञः सूर्य्यस्य रश्मिभिर्विहरति स स्वकीयेन पवित्रेणाच्छिद्रेण गुणेन सर्वान् पदार्थान् पवित्रयति । स च तद्द्वारा सूर्य्यस्य रश्मिभिस्तेजस्विनः शुद्धानमृतरसान् सुखहेतुकान् प्रसन्नताजनकान् दृढान् यज्ञहेतून् पदार्थान् करोति यतस्तद्भोजनाच्छादनद्वारा वयं शरीरपुष्टिबुद्धिबलादीन् शुद्धगुणांश्च संपाद्य नित्यं सुखयाम इति ॥ ३१ ॥ ईश्वरेणास्मिन्नध्याये मनुष्यान् प्रति शुद्धकर्मानुष्ठातुं दोषान् शत्रूंश्च निवारयितुं यज्ञक्रियाफलं ज्ञातुं सम्यक् पुरुषार्थं कर्त्तुं विद्यां विस्तारयितुं धर्मेण प्रजाः पालयितुं धर्मानुष्ठाने निर्भयतया स्थातुं सर्वैः सह मित्रतामाचरितुं वेदाध्ययनाध्यापनाभ्यां सर्वा विद्या ग्रहीतुं ग्राहयितुं शुद्धये परोपकाराय च प्रयतितुमाज्ञा दत्तास्ति सेयं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावदनुष्ठातव्येति ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्यश्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना सुविरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभिभूषिते यजुर्वेदभाष्ये प्रथमोऽध्यायः संपूर्णः ॥ १ ॥

पदार्थः—जो यज्ञ (अच्छिद्रेण) निरंतर । (पवित्रेण) तथा पवित्र । (सूर्य्यस्य) प्रकाशमय सूर्य्यकी । (रश्मिभिः) किरणोंके साथ मिलके सब पदार्थोंको शुद्ध करता है (त्वा) उस यज्ञ वा यज्ञकर्त्ताको । मैं (उत्पुनामि) उत्कृष्टताके साथ पवित्र करता हूं इसी प्रकार । (सवितुः) परमेश्वरके (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसारमें । (अच्छिद्रेण) निरन्तर । (पवित्रेण) शुद्धिकारक । (सूर्य्यस्य) जोकि ऐश्वर्य्य हेतुओंके प्रेरक प्राणके । (रश्मिभिः) अन्तराशयके प्रकाश करनेवाले गुण हैं उनसे । (वः) तुम लोगोंको तथा प्रत्यक्ष पदार्थोंको यज्ञ करके । (उत्पुनामि) पवित्र करता हूं । हे ब्रह्मन् जिस कारण आप (तेजोसि) स्वयंप्रकाशवान् । (शुक्रमसि) शुद्ध । (अमृतमसि) नाशरहित । (धामासि) सब पदार्थोंका आधार । (नामासि) वंदना करने योग्य । (देवानां) विद्वानोंके । (प्रियं) प्रीतिकारक । (अनाधृष्टम्) तथा किसीकी भयतामें न आनेके योग्य । वा ।(देवयजनमसि) विद्वानोंके पूजा करने योग्य हैं इससे मैं (त्वा) आपकाही आश्रय करता हूं ।यह इस मंत्रका प्रथम अर्थ हुआ।। जिस कारण यह यज्ञ । (तेजोसि) प्रकाश और (शुक्रमसि) शुद्धिका हेतु । (अमृतमसि) मोक्ष सुखका देने तथा (धामासि) सब अन्न आदि पदार्थोंकी पुष्टि करने वा (नामासि) जलका हेतु । (देवानां ; श्रेष्ठ गुणोंकी (प्रियम्) प्रीति कराने तथा । (अनाधृष्टम्) किसीको खण्डन करनेके योग्य नहीं अर्थात् अत्यंत उत्कृष्ट और । (देवयजनम्) विद्वान् जनोंको परमेश्वरका पूजन करानेवाला । (असि) है इस कारण इस यज्ञसे मैं (सवितुः) जगदीश्वरके । (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसारमें । (अच्छिद्रेण) निरंतर । (पवित्रेण) अति शुद्ध यज्ञ वा । (सूर्य्यस्य) ऐश्वर्य्य उत्पन्न करनेवाले परमेश्वरके गुण अथवा ऐश्वर्य्यके उत्पन्न करानेवाले सूर्य्यकी । (रश्मिभिः) विज्ञानादि प्रकाश वा किरणोंसे । (वः) तुम लोग वा प्रत्यक्ष पदार्थोंको । (उत्पुनामि) पवित्र करता हूं । यह दूसरा अर्थ हुआ ॥ ३१ ॥

भावार्थः— इस मंत्रमें श्लेषालंकार है । परमेश्वर यज्ञ विद्याके फलको जनाता है कि जो तुम लोगोंसे अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ है वह सूर्य्यकी किरणोंके साथ रहकर सबको निरंतर शुद्ध गुणसे सब पदार्थोंको पवित्र करता है तथा वह उसके द्वारा सब पदार्थोंको सूर्य्यकी किरणोंसे तेजवान् शुद्ध उत्तम रसवाले सुखकारक प्रसन्नताका हेतु दृढ और यज्ञ करानेवाले पदार्थोंको करके उनके भोजन वस्त्रो शरीरकी पुष्टि बुद्धि और बल आदि शुद्ध गुणोंको संपादन करके सब जीवोंको सुख देता है ॥ ३१ ॥ ईश्वरने इस अध्यायमें मनुष्योंको शुद्ध कर्मके अनुष्ठान दोष और शत्रुओंकी निवृत्ति यज्ञक्रियाके फलको जानने अच्छी प्रकार

पुरुषार्थ करने विद्या के विस्तार करने धर्म के अनुकूल प्रजापालने धर्म के अनुष्ठान में निर्भयता से स्थित होने सब के साथ मित्रता से वर्त्तने वेदों से सब विद्याओं का ग्रहण करने और कराने की शुद्धि तथा परोपकार के लिये प्रयत्न करने की आज्ञा दी है सो यह सब मनुष्यों को अनुष्ठान करने के योग्य है ॥ ॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

———o———

॥ अथ द्वितीयाध्यायारम्भः ॥

ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव ।
यद्भ॒द्रं तन्न॒ आसु॑व ॥ १ ॥ य० ३० । ३ ।

ईश्वरेणैतत् सर्वमाद्येऽध्याये विधायेदानीं द्वितीयेऽध्याये प्राणिनां सुखायोक्तार्थस्य सिद्धिं कर्त्तुं विशिष्टा विद्याः प्रकाश्यन्ते ॥
कृष्णोऽसीत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः । यज्ञो देवता ।
निचृत्पंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥
॥ तत्रादौ वेद्यादिरचनमुपदिश्यते ॥

अब दूसरे अध्याय में परमेश्वर ने उन विद्याओं की सिद्धि करने के लिये विशेष विद्याओं का प्रकाश किया है कि जो २ प्रथम अध्याय में प्राणियों के सुख के लिये प्रकाशित की हैं । उनमें से वेदि आदि पदार्थों के बनाने को हस्तक्रियाओं के सहित विद्याओं के प्रकार प्रकाशित किये हैं उन में से प्रथम मन्त्र में यज्ञ सिद्ध करने के लिये साधन अर्थात् उन की सिद्धि के निमित्त कहे हैं ।

कृ॒ष्णो॑ऽस्याखरे॒ष्ठो॒ऽग्नये॑ त्वा॒ जुष्टं॒ प्रोक्षा॑मि॒ वेदि॑रसि ब॒र्हिषे॑ त्वा॒ जुष्टां॒ प्रोक्षा॑मि ब॒र्हिर॑सि स्रु॒ग्भ्यस्त्वा॒ जुष्टं॒ प्रोक्षा॑मि ॥ १ ॥

कृष्णः । असि । आखरेष्ठः । आखरेस्थ इत्याखरेऽस्थः । अग्नये । त्वा । जुष्टम् । प्रऽउक्षामि । वेदिः । असि । बर्हिषे । त्वा । जुष्टाम् । प्रऽउक्षामि । बर्हिः । असि । स्रुग्भ्य इति स्रुक्ऽभ्यः । त्वा । जुष्टम् । प्रऽउक्षामि ॥ १ ॥

पदार्थः—(कृष्णः) अग्निना छिन्नो वायुनाऽऽकर्षितो यज्ञः । (असि) । भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (आखरेष्ठः) समन्तात्खनन्ति यं तस्मिन् तिष्ठतीति सः । खनोडडरेके कवकाः । अ० ३ । ३ । १२५ अनेन वार्तिकेनाऽऽखरः सिध्यति । (अग्नये) हवनार्थाय । (त्वा) तद्धविः । (जुष्टम्) प्रीत्या संशोधितम् । (प्रोक्षामि) शोधितेन घृतादिनाऽऽर्द्रीकरोमि । (वेदिः) विन्दति सुखान्यनया सा । (असि) भवति । (बर्हिषे) अन्तरिक्षगमनाय । बर्हिरित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघं० १ । ३ । (त्वा) तां वेदिम् । (जुष्टाम्) प्रीत्या संपादिताम् । (प्रोक्षामि) प्रकृष्टतया घृतादिना सिंचामि । (बर्हिः) शुद्धमुदकम् । बर्हिरित्युदकनामसु पठितम् । निघं० १ । १२ । (असि) भवति । (स्रुग्भ्यः) स्रावयन्ति गमयन्ति हविर्येभ्यस्तेभ्यः । अत्र स्रुगतावित्यस्मात् । चिक् च । उ० २ । ६१ । अनेन चिक् प्रत्ययः । (त्वा) तत् । (जुष्टम्) पुष्ट्यादिगुणयुक्तं प्रीतिकरं जलं पवनं वा । (प्रोक्षामि) शोधयामि । अयं मंत्रः । श० १ । २ । ६ । १–३ व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः—यतोऽयं यज्ञ आखरेष्ठः कृष्णो भवति तस्मात्त्वा तमहमग्नये जुष्टं प्रोक्षामि । यत इयं वेदिरन्तरिक्षस्थास्ति भवति तस्मादहं त्वा तामिमां बर्हिषे जुष्टां प्रोक्षामि । यत इदं बर्हिरुदकमन्तरिक्षस्थं सच्छुद्धिकारि भवति तस्मात्त्वा तच्छोधितं जुष्टं हविः स्रुग्भ्योऽहं प्रोक्षामि ॥ १ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति सर्वैर्मनुष्यैर्वेदिं रचयित्वा पात्रादिसामग्रीं गृहीत्वा सम्यक् शोधित्वा तद्धविरग्नौ हुत्वा कृतो यज्ञः शुद्धेन वृष्टिजलेन सर्वा ओषधीः पोषयति । तेन सर्वे प्राणिनो नित्यं सुखयितव्या इति ॥ १ ॥

पदार्थः—— जिस कारण यह यज्ञ । (आखरेष्ठः) वेदी की रचना से खुदे हुए

स्थान में स्थिर होकर । (कृष्णः) भौतिक अग्नि से छिन्न अर्थात् सूक्ष्म रूप और पवन के गुणों से आकर्षण को प्राप्त । (असि) होता है इस से मैं । (अग्नये) भौतिक अग्नि के बीच में हवन करने के लिये । (जुष्टम्) प्रीति के साथ शुद्ध किये हुए (त्वा) उस यज्ञ अर्थात् होमकी सामग्री को । (प्रोक्षामि) घी आदि पदार्थों से सींचकर शुद्ध करता हूं और जिस कारण यह वेदी अन्तरिक्ष में स्थिर होती है इस से मैं । (बर्हिषे) होम किये हुए पदार्थों को अन्तरिक्ष में पहुंचाने के लिये । (जुष्टाम्) प्रीति से संपादन की हुई । (त्वा) उस वेदी को (प्रोक्षामि) अच्छे प्रकार घी आदि पदार्थों से सींचता हूं तथा जिस कारण यह (बर्हिः) जल अन्तरिक्ष में स्थिर होकर पदार्थों की शुद्धि करने वाला होता है इससे । (त्वा) उसकी शुद्धि के लिये जो कि शुद्ध किया हुआ । (जुष्टम्) पुष्टि आदि गुणों का उत्पन्न करनेहारा हवि है उसको मैं । (स्रुग्भ्यः) स्रुवा आदि साधनों से अग्नि में डालने के लिये । (प्रोक्षामि) शुद्ध करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थः— ईश्वर उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को वेदी बनाकर और पात्र आदि होम की सामग्री ले के उस हवि को अच्छे प्रकार शुद्ध कर तथा अग्निमें होम करके किया हुआ यज्ञ वर्षा के शुद्ध जल से सब ओषधियों को पुष्ट करता है उस यज्ञ के अनुष्ठानसे सब प्राणियों को नित्य सुख देना मनुष्यों का परम धर्म है ॥ १ ॥

अदित्या इत्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । स्वराड्जगती-
छन्दः । निषादः स्वरः ॥

॥ एवं कृतो यज्ञः किंहेतुको भवतीत्युपदिश्यते ॥

इस प्रकार किया हुआ यज्ञ क्या सिद्ध करानेवाला होता है सो
अगले मंत्र में उपदेश किया है ।

अदित्यै व्युन्दनमसि विष्णोस्तुपो ऽस्यूर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थान् देवेभ्यो भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानाम्पतये स्वाहा ॥ २ ॥

अदि॑त्यै । व्यु॒न्दन॒मिति॑ वि॒ऽउन्द॑नम् । अ॒सि॒ । वि॒ष्णोः॑ । स्तु॒पः । अ॒सि॒ । ऊर्णम्र॑दस॒मित्यूर्णऽम्र॑दसम् । त्वा॒ । स्तृ॒णा॒मि॒ । स्वा॒स॒स्थामिति॑ सुऽआ॒स॒स्थाम् । दे॒वेभ्यः॑ । भु॒व॒प॑तय॒ इति॑ भुव॑ऽपतये । स्वाहा॑ । भुव॑नप॒तय॒ इति॑ भुव॑नऽपतये । स्वाहा॑ । भू॒तानां॑म् । पत॑ये । स्वाहा॑ ॥ २ ॥

पदार्थः—(अदित्यै) पृथिव्याः । अत्र चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । अ० २।३।६२। इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । (व्युन्दनम्) विविधतया जलौषध्यादीनामुन्दनं क्लेदनं येन तत् । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (विष्णोः) यज्ञस्य । (स्तुपः) शिखा । यज्ञो वै विष्णुस्तस्यैतदेव शिखा स्तुपः । श० १।२।६।५। (असि) अस्ति । (ऊर्णम्रदसम्) ऊर्णानि धान्याच्छादनानि तुषाणि मृदयति येन तं पाषाणमयम् । (त्वा) तम् । (स्तृणामि) आच्छादयामि । (स्वासस्थाम्) सुष्ठु आसाः मनुष्यास्तिष्ठन्ति यस्यां सा वेदिस्ताम् । अत्र घञर्थेकविधानम् । अ० ३।३।५८। इति वार्त्तिकेन कः प्रत्ययः । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा ॥ (भुवपतये) भवन्त्युत्पद्यन्ते भूतानि यस्मिन् संसारे तस्य पतिस्तस्मै जगदीश्वराय । आहवनीयाख्याग्नये वा । अत्र बाहुलकात् ख्यातोरौणादिकः कः प्रत्ययः । (स्वाहा) सत्यभाषणयुक्ता वाक् । स्वाहेति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११। स्वाहाशब्दस्यार्थं निरुक्तकार एवं समाचष्टे । स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा । निरु० ८।२०। यत् शोभनं वचनं सत्यकथनं स्वपदार्थान् प्रति ममत्ववचो मंत्रोच्चारणेन हवनं चेति स्वाहाशब्दार्था विज्ञेयाः । (भुवनपतये) भुवनानां सर्वेषां लोकानां पतिः । पालक ईश्वरः । पालनहेतुर्भौतिको वा तस्मै । (स्वाहा) उक्तार्थः । (भूतानां पतये) भूतान्युत्पन्नानि यावन्ति वस्तूनि सन्ति तेषां यः पतिः स्वामीश्वर ऐश्वर्य्यहेतुर्भौतिको वा तस्मै । (स्वाहा) उक्तार्थः । अयं मंत्रः । श० १।२।६।४—२० व्याख्यातः ॥ २ ॥

अन्वयः—यतोऽयं विष्णुर्यज्ञोऽदित्या व्युन्दनकार्य्यसि भवति तस्माद-

महमनुतिष्ठामि । अस्य विष्णोर्यज्ञस्य स्नुपः प्रस्तर उलूखलाख्यः साधकोस्य ऽस्ति तस्यामममूर्णम्रदसं स्तृणामि । वेदिर्देवेभ्यो हितासि भवति तस्मात्तामहं स्वासस्थां रचयामि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह । यतोऽयं भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिरीश्वरः प्रसन्नो भवति । भौतिको वा । सुखसाधको भवति । तस्मै भुवपतये स्वाहा विधया भुवनपतये स्वाहा वाच्या भूतानां च पतये स्वाहा प्रमोज्या भवतीत्यस्मै प्रयोजनाय ॥ २ ॥

भावार्थः—ईश्वरः सर्वमनुष्येभ्य इदमुपदिशति युष्माभिर्वेद्यादीनि यज्ञसाधनानि संपाद्य सर्वप्राणिनां सुखाय परमेश्वरप्रीतये च सम्यक् क्रियायज्ञः कार्यः । सदैव सत्यमेव वाच्यम् । यथाऽहं न्यायेन सर्वं विश्वं पालयामि । तथैव युष्माभिरपि पक्षपातं विहाय सर्वेषां पालनेन सुखं संपादनीयमिति ॥ २ ॥

पदार्थः—जिस कारण यह यज्ञ । (अदित्यै) पृथिवी के (व्युन्दनम्) विविध प्रकार के ओषधी आदि पदार्थों का सींचनेवाला । (असि) होता है इस से मैं उसका अनुष्ठान करता हूं । और विष्णोः) इस यज्ञ की सिद्धि करानेहारा । (स्तुपः) शिखारूप । (ऊर्णम्रदसं) उलूखल । (असि) है इस से मैं । (त्वा) उस अन्न के छिल के दूर करनेवाले पत्थर और उलूखल को । (स्तृणामि) पदार्थों से ढांपता हूं तथा वेदी । (देवेभ्यः) विद्वान् और दिव्य गुणों के हित कराने के लिये (असि) होती है इस से उस को मैं । (स्वासस्थां) ऐसी बनाता हूं कि जिस में होम किये हुए पदार्थ अच्छी प्रकार स्थिर हों और जिस से संसार का पति भुवन अर्थात् लोकलोकान्तरों का पति संसारी पदार्थों का स्वामी और परमेश्वर प्रसन्न होता है तथा भौतिक अग्नि सुखों का सिद्ध करानेवाला होता है इस कारण (भुवपतये) (स्वाहा), (भुवनपतये) (स्वाहा), (भूतानां पतये) (स्वाहा) उक्त परमेश्वर की प्रसन्नता और आज्ञा पालन के लिये उस वेदी के गुणों से जो कि सत्य भाषण अर्थात् अपने पदार्थों को मेरे हैं यह कहना वा श्रेष्ठ वाक्य आदि उत्तम वाणी युक्त वेद है उसके मंत्रों के साथ स्वाहा शब्द का अनेक प्रकार उच्चारण करके यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों का विधान किया जाता है इस प्रयोजन के लिये भी वेदी को रचता हूं ॥ २ ॥

भावार्थः—परमेश्वर सब मनुष्यों के लिये उपदेश करता है कि हे मनुष्यो तुमको वेदी आदि यज्ञ के साधनों का संपादन करके सब प्राणियों के सुख तथा परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये अच्छी प्रकार क्रिया युक्त यज्ञ करना और सदा सत्यही बो-

लना चाहिये और जैसे मैं न्याय से सब विश्व का पालन करता हूं वैसे ही तुम लोगों को भी पक्षपात छोड़कर सब प्राणियों के पालन से सुख संपादन करना चाहिये ॥ २ ॥

गंधर्वस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता सर्वस्य । आद्यस्य भुरिगार्षीत्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः । मध्यभागस्यार्षी पंक्तिश्छन्दः । अन्त्यस्य पंक्तिश्छन्दः । उभयत्र पंचमः स्वरः ॥

॥ स यज्ञोऽग्न्यादिभिर्धार्य्यत इत्युपदिश्यते ॥

उक्त यज्ञ अग्नि आदि पदार्थों से धारण किया जाता है सो अगले मंत्र में प्रकाशित किया है ।

गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परि दधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः ॥ इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः ॥ मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परि धत्तान्ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः ॥ ३ ॥

गन्धर्वः । त्वा । विश्वावसुः । विश्वावसुरिति विश्वऽवसुः । परि । दधातु । विश्वस्य । अरिष्ट्यै । यजमानस्य । परिधिरिति परिऽधिः । असि । अग्निः । इडः । ईडितः । इन्द्रस्य । बाहुः । असि । दक्षिणः । विश्व-

स्य । अरिष्ट्यै । यजमानस्य । परिधिरिति परिऽधिः । असि । अग्निः । इडः । ईडितः । मित्रावरुणौ । त्वा । उत्तरतः । परि । धत्ताम् । ध्रुवेण । धर्मणा । विश्वस्य । अरिष्ट्यै । यजमानस्य । परिधिरिति परिऽधिः । असि । अग्निः । इडः । ईडितः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(गन्धर्वः) यो गां पृथिवीं वाणीं वा धरति धारयति वा स गन्धर्वः सूर्यलोकः । (त्वा) तं । (विश्वावसुः) विश्वं वासयति यः सः । (परि) सर्वतोभावे । (दधातु) दधाति वा । अत्र लडर्थे लोट् । (विश्वस्य) सर्वस्य जगतः । (अरिष्ट्यै) दुःखनिवारणेन सुखाय । (यजमानस्य) यज्ञानुष्ठातुः । (परिधिः) परितः सर्वतः सर्वाणि वस्तूनि धीयन्ते येन सः । (असि) भवति । अत्र चतुर्षु प्रयोगेषु पुरुषव्यत्ययः । (अग्निः) (इडः) स्तोतुमर्हः । अत्र वर्णव्यत्ययेन ह्रस्वादेशः । (ईडितः) स्तुतः । (इन्द्रस्य) सूर्यस्य । (बाहुः) बलं बलकारी वा । (असि) अस्ति । (दक्षिणः) वृद्धेः प्रापकः । दक्षधातोर्गत्यर्थत्वादत्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते । (विश्वस्य) सर्वप्राणिसमूहस्य । (अरिष्ट्यै) सुखाय । (यजमानस्य) शिल्पविद्यां चिकीर्षोः (परिधिः) विद्यापरिधानम् । (असि) भवति । (अग्निः) विद्युत् । (इडः) दाहप्रकाशादिगुणाधिक्येन स्तोतुमर्हः । (ईडितः) अध्येषितः । (त्वा) तम् । (उत्तरतः) उत्तरकाले । (परिधत्ताम्) सर्वतो धारयतां वा । अत्र लडर्थे लोट् (ध्रुवेण) निश्चलेन । (धर्मणा) स्वाभाविकधारणशक्त्या । (विश्वस्य) चराचरस्य । (अरिष्ट्यै) सुखहेतवे । (यजमानस्य) सर्वमित्रस्य । परिधिः, विद्यावधिः । (अग्निः) प्रत्यक्षो भौतिकः । (इडः) विद्याप्राप्तये स्तोतुमर्हः । (ईडितः) विद्यामीप्सुभिः सम्यगध्येषितव्यः । अयं मंत्रः । श० १ । ३ । १ । १-९ व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः—विद्वद्भिर्योऽयं गन्धर्वो विश्वावसुरिडोऽग्निरीडितोऽस्यस्ति स

विश्वस्य यजमानस्य चारिष्ट्यै यज्ञं परिदधाति तस्मात् विद्यासिद्ध्यर्थं मनुष्यो यथावत् परिदधातु । विदुषा यो वायुरिन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणः परिधिरिड ईडितोऽग्निश्चास्यस्ति स सम्यक् प्रयोजितो यजमानस्य विश्वस्यारिष्ट्यै भवति । यौ ब्रह्माण्डस्थौ गमनागमनशीलौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ स्तस्तौ । ध्रुवेण धर्मणोत्तरतो विश्वस्य यजमानस्यारिष्ट्यै तं यज्ञं परिधत्तां सर्वतो धारयतः । यो विद्भिरिडः परिधिरीडितोऽग्निर्विद्युदस्ति । सोऽपीमं यज्ञं सर्वतः परिदधात्येतम्मनुष्यो यथागुणं सम्यग्दधातु ॥ ३ ॥

भावार्थः—ईश्वरेण यः सूर्य्यविद्युतप्रत्यक्षरूपेण त्रिविधोऽग्निर्निर्मितः स मनुष्यैर्विद्यया सम्यग्योजितः सन् बहूनि कार्य्याणि साधयतीति ॥ ३ ॥

पदार्थः—विद्वान् लोगों ने जिस । (गन्धर्वः) पृथिवी वा वाणी के धारण करने वाले । (विश्वावसुः) विश्व को वसाने वाले । (इडः) स्तुति करने योग्य । (अग्निः) सूर्य्यरूप अग्नि की । (ईडितः) स्तुति । (असि) की है, जो । (विश्वस्य) संसार के वा विशेष करके । (यजमानस्य) यज्ञ करने वाले विद्वान् के । (अरिष्ट्यै) दुःखनिवारण से सुख के लिये इस यज्ञ को । (परिदधातु) धारण करता है इससे विद्वान् उसको विद्या की सिद्धि के लिये । (परिदधातु) धारण करे और विद्वानों से जो वायु । (इन्द्रस्य) सूर्य्य का । (बाहुः) बल और (दक्षिणः) वर्षा की प्राप्ति कराने अथवा । (परिधिः) शिल्पविद्या का धारण कराने वाला तथा । (इडः) दाह प्रकाश आदि गुण होने से स्तुति के योग्य (ईडितः) खोजा हुआ और । (अग्निः) प्रत्यक्ष अग्नि । (असि) है वे वायु वा अग्नि अच्छी प्रकार शिल्प विद्या में युक्त किये हुए। (यजमानस्य) शिल्प विद्या के चाहने वाले वा । (विश्वस्य) सब प्राणियों के। (अरिष्ट्यै) सुख के लिये । (असि) होते हैं । और जो ब्रह्मांड में रहने और गमन वा आगमन स्वभाव वाले । (मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु हैं वे (ध्रुवेण) निश्चल । (धर्मणा) अपनी धारण शक्ति से । (उत्तरतः) पूर्वोक्त वायु और अग्नि से उत्तर अर्थात् उपरान्त समय में । (विश्वस्य) चराचर जगत् वा (यजमानस्य) सब से मित्र भाव में वर्त्तने वाले सज्जन पुरुष के । (अरिष्ट्यै) सुख के हेतु । (त्वा) उस पूर्वोक्त यज्ञ को । (परिधत्ताम्) सब प्रकार से धारण करते हैं तथा जो विद्वानों से । (इडः)

विद्या की प्राप्ति के लिये प्रशंसा करने के योग्य और। (परिधिः) सब शिल्पविद्या की सिद्धि को घेरने से अवधि तथा। (ईडितः) विद्या की इच्छा करनेवालों से प्रशंसा को प्राप्त। (अग्निः) बिजुलीरूप अग्नि। (असि) है वह भी इस यज्ञ को सब प्रकार से धारण करता है। इन के गुणों को मनुष्य यथावत् जान के उपयोग करे ॥ ३ ॥

भावार्थः— ईश्वर ने जो सूर्य्य विद्युत् और प्रत्यक्ष रूप से तीन प्रकार का अग्नि रचा है वह विद्वानों ने शिल्पविद्या के द्वारा यंत्रादिकों में अच्छी प्रकार युक्त किया हुआ अनेक कार्य्यों को सिद्ध करनेवाला होता है ॥ ३ ॥

वीतिहोत्रमित्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

॥ अथाग्निशब्देनोभावार्थावुपदिश्येते ॥

। अब अग्नि शब्द से अगले मंत्र में उक्त दो अर्थों का प्रकाश किया है।

वीतिहोत्रन्त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि ॥ अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥ ४ ॥

वीतिहोत्रमिति वीतिऽहोत्रम्। त्वा। कवे। द्युमन्तमिति द्युऽमन्तम्। सम्। इधीमहि। अग्ने। बृहन्तम्। अध्वरे ॥ ४ ॥

पदार्थः— (वीतिहोत्रम्) वीतयो विज्ञापिता होत्राख्या यज्ञा येनेश्वरेण। यद्वा वीतयः प्राप्तिहेतवो होत्राख्या यज्ञक्रिया भवन्ति यस्मात्तं परमेश्वरं भौतिकं वा। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। इत्यस्य रूपम्। (त्वा) त्वां तं वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः। (कवे) सर्वज्ञ क्रांतप्रज्ञ, कवि क्रान्तदर्शनं भौतिकं वा। (द्युमन्तम्) द्यौर्बहुप्रकाशो विद्यते यस्मिँस्तम्। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। (सम्) सम्यगर्थे। (इधीमहि) प्रकाशयेमहि अत्र बहुलं छन्दसीति श्नमो लुक्। (अग्ने) ज्ञानस्वरूपेश्वर प्राप्तिहेतुं भौतिकं वा। (बृहन्तं) सर्वे-

भ्यो महान्तं सुखवर्धकमीश्वरं बृहतां कार्य्याणां साधकं भौतिकं वा । (अध्वरे) मित्रभावेऽहिंसनीये यज्ञे वा ॥ अयं मंत्रः । श० ।१।३।१।६ ॥ ४ ॥

अन्वयः— हे कवे अग्ने जगदीश्वर वयमध्वरे बृहन्तं द्युमन्तं वीतिहोत्रं त्वां समिधीमहीत्येकः ॥ वयमध्वरे वीतिहोत्रं द्युमन्तं बृहन्तं कवे कवि त्वा तमग्ने भौतिकमग्निं समिधीमहीति द्वितीयः ॥ ४ ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालंकारः । यावन्ति क्रियासाधनानि क्रियया साध्यानि च वस्तूनि सन्ति तानि । सर्वाणीश्वरेणैव रचयित्वा ध्रियन्ते मनुष्यैस्तेषां सकाशात् गुणज्ञानक्रियाभ्यां बहव उपकाराः संग्राह्याः ॥ ४ ॥

पदार्थः— हे । (कवे) सर्वज्ञ तथा हर एक पदार्थ में अनुक्रम से विज्ञानवाले (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर हम लोग । (अध्वरे) मित्रभाव के रहने में । (बृहन्तम्) सब के लिये बड़े से बड़े अपार सुख के बढ़ाने और । (द्युमन्तं) अत्यन्त प्रकाशवाले वा । (वीतिहोत्रम्) अग्निहोत्र आदि यज्ञों को विदित करने वाले । (त्वा) आपको । (समिधीमहि) अच्छी प्रकार प्रकाशित करें । यह इस मंत्र का प्रथम अर्थ हुआ । हम लोग । (अध्वरे) अहिंसनीय अर्थात् जो कभी परित्याग करने योग्य नहीं उस उत्तम यज्ञ में जिस से कि (वीतिहोत्रम्) पदार्थों की प्राप्ति कराने के हेतु अग्निहोत्र आदि क्रिया सिद्ध होती हैं । और (द्युमन्तम्) अत्यन्त प्रचंड ज्वालायुक्त । (बृहन्तम्) बड़े २ कार्य्यों को सिद्ध कराने तथा । (कवे) पदार्थों में अनुक्रम से दृष्टिगोचर होने वाले । (त्वा) उस । (अग्ने) भौतिक अग्नि को । (समिधीमहि) अच्छी प्रकार प्रज्वलित करें। यह दूसरा अर्थ हुआ ॥४॥

भावार्थः— इस मंत्र में श्लेषालंकार है—संसार में जितने क्रियाओं के साधन वा क्रियाओं से सिद्ध होनेवाले पदार्थ हैं उन सभों को ईश्वर ही ने रचकर अच्छी प्रकार धारण किये हैं मनुष्यों को उचित है कि उनकी सहायता गुण ज्ञान और उत्तम २ क्रियाओं की अनुकूलता से अनेक प्रकार उपकार लेने चाहियें ॥ ४ ॥

समिद्धोऽग्निरित्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । निचृद्ब्राह्मी बृहतीछन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

॥ पुनस्तस्य यज्ञस्य साधकान्युपदिश्यन्ते ॥

। फिर उक्त यज्ञ के साधनों का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

समिदसि सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै सवितुर्बाहू स्थ ऊर्णम्रदसन्त्वा स्तृणामि स्वासस्थन्देवेभ्य आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु ॥ ५ ॥

समिदिति समऽइत् । असि । सूर्य्यः । त्वा । पुरस्तात् । पातु । कस्याः । चित् । अभिशस्त्या इत्यभिऽशस्त्यै । सवितुः । बाहूइति बाहू । स्थः । ऊर्णम्रदसमित्यूर्णाऽम्रदसम् । त्वा । स्तृणामि । स्वासस्थमिति सुऽआसस्थम् । देवेभ्यः । आ । त्वा । वसवः । रुद्राः । आदित्याः । सदन्तु ॥५॥

पदार्थः— (समित्) सम्यगिध्यतेऽनयाऽनेन वा सा समिदग्निप्रदीपकं काष्ठादिकं वसंतऋतुर्वा । (असि) भवति । अत्र व्यत्ययः । (सूर्य्यः) सवित्यैश्वर्य्यहेतुर्भवति सोऽयं सूर्य्यलोकः । (त्वा) तम् । (पुरस्तात्) । पूर्वस्मादि-तिपुरस्तात् (पातु) रक्षति । अत्र लडर्थे लोट् । (कस्याः) कस्य सर्वस्य अत्र चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि अ० २ । ३ । ६२ । इति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी । (चित्) चिदित्युपमार्थे । निरु० १ । ४ । (अभिशस्त्यै) आभिमुख्यायै स्तुतये । शंसु स्तुतावित्यस्य क्तिन् प्रत्ययान्तः प्रयोगः । (सवितुः) सूर्य्यलोकस्य । (बाहू) बलवीर्य्याख्यौ । (स्थः) स्तः । अत्र व्यत्ययः । (ऊर्णम्रदसम्) ऊर्णानि सुखाच्छादनानि म्रदयति येन तं सदनम् । (त्वा) तम् । (स्तृणामि) सामग्र्याऽऽच्छादयामि । (स्वासस्थम्) शोभने आसे उपवेशने तिष्ठतीति तम् । (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यः । (आ) समन्तात् क्रियायोगे । (त्वा) तम् । (वसवः) अग्न्यादयोऽष्टौ ।

(रुद्राः) प्राणापानव्यानोदानसमान—नाग कूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयाख्या दश प्राणा एकादशो जीवश्चेत्येकादश रुद्राः । (आदित्याः) द्वादश मासाः । कतमे वसव इति । अग्निश्च, पृथिवी च वायुश्चांतरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीद ँ सर्वं वसु हितमेते हीद ँ सर्वं वासयन्ते तद्यदिद ँ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ कतमे रुद्राः इति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति । तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति । कतम आदित्या इति । द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एतेहीद ँ सर्वमाददाना यन्ति तद्यदिद ँ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति । श० १४ । ६ । ७ । ४—६ । (सदन्तु) अवस्थापयन्तु । षद्लृ इत्यस्य स्थाने । वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति णिचोऽदर्शनाभावो लडर्थे लोट् च । अयं मंत्रः । श० १ । ३ । १ । ७—१५ व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः—चित् यथा कश्चिन्मनुष्यः सुखार्थं क्रियासिद्धानि द्रव्याणि रक्षित्वाऽऽनन्दयते । तथैव योऽयं यज्ञः समिद्धोऽस्ति भवति तं सूर्य्यः कस्या अभिशस्त्यै पुरस्तात्पातु पाति यौ सवितुर्बाहू स्थः स्तो या याभ्यां नित्यं विस्तार्य्यते यमूर्णम्रदसं स्वासस्थं यज्ञं वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्त्ववस्थापयन्ति प्रापयन्ति तं यज्ञमहमपि सुखाय देवेभ्य आस्तृणामि ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः । ईश्वरः सर्वेभ्य इदमुपादिशति ॥ मनुष्यैर्वसुरुद्रादित्याख्येभ्यो यज्ञमुपकर्तुं शक्यं तत्तत्सर्वस्याभिरक्षणाय नित्यमनुष्ठेयम् योऽग्नौ द्रव्याणां प्रक्षेपः क्रियते स सूर्यं वायुं वा प्राप्नोति तावेव तत्पृथग्भूतं द्रव्यं रक्षित्वा पुनः पृथिवीं प्रति विमुञ्चतः । येन पृथिव्यां दिव्या ओषध्यादयः पदार्था जायन्ते येन च प्राणिनां नित्यं सुखं भवति तस्मादेतत्सदैवानुष्ठेयमिति ॥५॥

पदार्थः—(चित) जैसे कोई मनुष्य सुख के लिये क्रिया से सिद्ध किये पदार्थों की रक्षा करके आनन्द को प्राप्त होता है वैसे ही यह यज्ञ । (समित्) वसन्त ऋतु के समय के समान अच्छी प्रकार प्रकाशित (असि) होता है । (त्वा) उस को । (सूर्य्यः) ऐश्वर्य्य का हेतु सूर्य्यलोक । (कस्याः) सब पदार्थों की । (अभिशस्त्यै) प्रकटता करने के लिये । (पुरस्तात्) पहिले ही से उनकी । (पातु) रक्षा करनेवाला होता

है तथा जो कि । (सवितुः) सूर्य्य लोक के । (बाहू) बल और वीर्य्य । (स्थः) हैं जिन से यह यज्ञ विस्तार को प्राप्त होता है । (त्वा) जिस । (ऊर्णम्रदसम्) सुख के विघ्नों के नाश करने (स्वासस्थम्) और श्रेष्ठ अन्तरिक्षरूपी आसन में स्थित होनेवाले यज्ञ को (वसवः) अग्नि आदि आठ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य्य, प्रकाश, चन्द्रमा और तारागण, ये वसु । (रुद्राः) प्राण अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, और जीवात्मा. ये रुद्र । (आदित्याः) बारह महिने । (सदन्तु) प्राप्त करते हैं । (त्वा) उसी । (ऊर्णम्रदसम्) अत्यंत सुख ब-ढाने । (स्वासस्थम्) और अन्तरिक्ष में स्थिर होनेवाले यज्ञ को मैं भी सुख की प्राप्ति वा । (देवेभ्यः) दिव्य गुणों को सिद्ध करने के लिये (आस्तृणामि) अच्छी प्रकार सामग्री से आच्छादित करके सिद्ध करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालंकार है —ईश्वर सब मनुष्यों के लिये उपदेश करता है कि मनुष्यों को वसु, रुद्र, और आदित्य संज्ञक पदार्थों से, जो २ काम सिद्ध हो सकते हैं सो २ सब प्राणियों के पालन के निमित्त नित्य सेवन करने योग्य हैं । तथा अग्नि के बीच जिन २ पदार्थों का प्रक्षेप अर्थात् हवन किया जाता है सो २ सूर्य्य और वायु को प्राप्त होता है वहीं उन अलग हुए पदार्थों की रक्षा करके फिर उन्हें पृथिवी में छोड़ देते हैं जिस से कि पृथिवी में दिव्य औषधी आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनसे जी-वों को नित्य सुख होता है इस कारण सब मनुष्यों को इस यज्ञ का अनुष्ठान सदैव करना चाहिये ॥ ५ ॥

घृताच्यसीत्यस्य ऋषिः स एव । विष्णुर्देवता सर्वस्य । षड्धाष्टि
नमाक्षरपर्य्यंतं ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । अग्रे निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः ।
सर्वस्य धैवतः स्वरः ॥

॥ स किं किं प्रियं सुखं साधयतीत्युपदिश्यते ॥

फिर उक्त यज्ञ से क्या २ प्रिय सुख सिद्ध होता है सो अगले मंत्र में
प्रकाशित किया है ॥

घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियᳪसद आसीद घृताच्यस्यु-

प्रभृन्नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद प्रियेण धाम्ना प्रियꣳसद आसीद ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ॥ ६ ॥

घृताची । असि । जुहूः । नाम्ना । सा । इदम् । प्रियेण । धाम्ना । प्रियम् । सदः । आ । सीद । घृताची । असि । उपभृदित्युपऽभृत् । नाम्ना । सा । इदम् । प्रियेण । धाम्ना । प्रियम् । सदः । आ । सीद । घृताची । असि । ध्रुवा । नाम्ना । सा । इदम् । प्रियेण । धाम्ना । प्रियम् । सदः । आ । सीद । प्रियेण । धाम्ना । प्रियम् । सदः । आ । सीद । ध्रुवा । असदन् । ऋतस्य । योनौ । ता । विष्णा इति विष्णो । पाहि । पाहि । यज्ञम् । पाहि । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । पाहि । माम् । यज्ञन्यमिति यज्ञऽन्यम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(घृताची) घृतमाज्यमंचति प्राप्नोत्यनयाऽऽदानक्रियया

सा । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (जुहूः) जुहोति ददाति हविर्गृह्णाति सुखं चानया सा । हु दानादनयोरित्यस्मात् । हुवः श्लुवच्च । उ० २।५६। अनेन क्विप् प्रत्ययो दीर्घादेशश्च । (नाम्ना) प्रसिद्धेन । (सा) पूर्वोक्ता । (इदम्) प्रत्यक्षम् । (प्रियेण) सुखैस्तर्पकेण कमनीयेन । (धाम्ना) स्थानेन । (प्रियम्) प्रीणाति सुखयति यत्तत् । (सदः) सीदन्ति प्राप्नुवन्ति सुखानि यस्मिन् तद्गृहम् । (आ) समन्तात् । (सीद) सादयति । अत्रोभयत्र लडर्थे लोडन्तर्गतो ण्यर्थो व्यत्ययश्च । (घृताची) या होमक्रिया घृतमुदकमंचति प्रापयति सा । घृतमित्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२। (असि) अस्ति । (उपभृत्) योपगतं बिभर्त्यनया हस्तक्रियया सा । (नाम्ना) प्रख्यातेन । (सा) पूर्वोक्ता । (इदम्) ओषध्यादिकम् । (प्रियेण) प्रीतिहेतुना । (धाम्ना) स्थलेन । (प्रियम्) प्रीयते सुखयत्यारोग्येन यत्तत् । (सदः) सीदन्ति घ्नन्ति दुःखानि येन तदोषधसेवनं पथ्याचरणं च । अत्र सदेर्विशरणार्थः । (आ) समन्तात् । (सीद) प्रापयति । (घृताची) घृतमायुर्निमित्तं मंचति प्राप्नोत्यनया सुनियमाचरण क्रियया सा । (असि) भवति । (ध्रुवा) ध्रुवन्ति प्राप्नुवन्ति स्थिराणि सुखान्यनया क्रियया सा । ध्रु गतिस्थैर्ययोरित्यस्य कप्रत्ययान्तः प्रयोगः । कृतो बहुलमिति करणकारके । (नाम्ना) प्रसिद्धेन । (सा) उक्तार्था । (इदम्) जीवनम् (प्रियेण) प्रीतिकरेण । (धाम्ना) स्थित्यर्थेन । (प्रियम्) आनन्दकरम् । (सदः) वस्तु । (आ) अभितः । (सीद) सीदति गमयति । अत्रोभयत्र लडर्थे लोट् व्यत्ययश्च । (प्रियेण) प्रीतिसाधकेन । (धाम्ना) हृदयेन । (प्रियम्) प्रीतिकरम् । (सदः) सीदति जानाति येन तत् ज्ञानम् । (आ) सर्वतः । (सीद) सीदति प्राप्नोति । (ध्रुवा) ध्रुवाणि निश्चलानि वस्तूनि । अत्र शेश्छन्दसि बहुलमिति लोपः । (असदन्) भवेयुः । अत्र लिङर्थे लङ् वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति सीदादेशो न । (ऋतस्य) शुद्धस्य सत्यस्य । (योनौ) यज्ञे । यज्ञो वा ऋतस्य योनिः श० १ । ३ । ? । १६ । (ता) तानि अत्रापि शेर्लोपः । (विष्णो) व्यापकेश्वर । (पाहि) रक्ष । (पाहि) पालय । (यज्ञं) पूर्वोक्तं त्रिविधं (पाहि) पालय । (यज्ञपतिम्) यज्ञस्य पालकं यजमानम् ।

(पाहि) रक्ष । (मां) होतारमध्वर्युमुद्गातारं ब्रह्माणं वा । (यज्ञन्यम्) यज्ञं नयति प्रापयतीति यज्ञनीस्तम् अत्र अभिपूर्वः । अ० ६ । १ । १०७ । इत्यत्र वा छन्दसीत्यनुवर्त्तनात्पूर्वरूपादेशो न भवति । अयं मंत्रः । श० १ । ३ । २ । १३-१६ । व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अन्वयः—या जुहूर्नाम्ना घृताच्यसि भवति सा यज्ञे प्रयुक्ता सती प्रियेण धाम्नासह वर्त्तमानमिदं प्रियं सद आसीद आसादयति । योपभृन्नाम्ना घृताच्यसि साऽथ यज्ञे प्रयुक्ता सती प्रियेण धाम्नेदं प्रियं सद आसीद । समन्तात् प्रापयति । या ध्रुवा नाम्ना घृताच्यसि भवति सा सम्यक् स्थापिता सती प्रियेण धाम्नेदं प्रियं सद आसीद आगमयति । यया क्रियया प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद समन्तात् प्राप्नोति । सा सर्वैर्नित्यं साध्या । हे विष्णो यथेमानि ऋतस्य योनौ ध्रुवा ध्रुवाणि वस्तून्यसदन् भवेयुस्तथैवैतानि निरन्तरं पाहि तथा कृपया यज्ञं पाहि । यज्ञन्यं यज्ञपतिं पाहि यज्ञन्यं मां च पाहि ॥ ६ ॥

भावार्थः—यो यज्ञः पूर्वोक्ते मंत्रे वसुरुद्रादित्यैः सिध्यति स वायुजलशुद्धिद्वारा सर्वाणि स्थानानि सर्वाणि वस्तूनि च प्रियाणि निश्चलसुखसाधकानि ज्ञानवर्धकानि च करोति तेषां वृद्धये रक्षणाय च सर्वैर्मनुष्यैर्व्यापकेश्वरस्य प्रार्थना सम्यक् पुरुषार्थश्च कर्त्तव्य इति ॥ ६ ॥

पदार्थः—जो (जुहू) हवि अग्नि में डालने के लिये मुख की उत्पन्न करने वाली स्रुक । (घृताची) घृतयुक्त । (असि) होती है । (सा) वह यज्ञ में युक्त की हुई सार ग्रहण की क्रिया है सो । (प्रियेण) सुखों से तृप्त करने वाला शोभायमान । (धाम्ना) स्थान के साथ वर्त्तमान होके (इदम्) यह । (प्रियम्) जिस में तृप्त करने वाले (सदः) उत्तम २ सुखों को प्राप्त होते हैं उन को । (आसीद) सिद्ध करती है । जो । (नाम्ना) प्रसिद्धी से । (उपभृत) समीप प्राप्त हुए पदार्थों को धारण करने तथा । (घृताची) जल को प्राप्त कराने वाली हस्तक्रिया । (असि) है । (सा) वह यज्ञ में युक्त की हुई । (प्रियेण) प्रीति के हेतु । (धाम्ना) स्थल से । (इदम्) यह ओषधी आदि पदार्थों का समूह । (प्रियं) जो कि आरोग्यपूर्वक सुखदायक और (सदः) दुःखों का नाश करने वाला है उस को । (आसीद) अच्छी प्रकार

प्राप्त करती है तथा जो। (ध्रुवा) स्थिर सुखों वा। (घृताची) आयु के निमित्तकी देनेवाली विद्या। (असि) होती है। (सा) वह अच्छी प्रकार उत्तम कार्य्यों में युक्त की हुई। (प्रियेण) प्रीति उत्पन्न करने वाले स्थिरता के निमित्त से। (इदम्) इस। (प्रियम्) आनन्द कराने वाले जीवन वा। (सदः) वस्तुओं को। (आसीद) प्राप्त करता है। जिस क्रिया करके। (प्रियेण) प्रसन्नता के करने हारे। (धाम्ना) हृदय से। (प्रियम्) प्रसन्नता करने वाला। (सदः) ज्ञान (आसीद) अच्छी प्रकार प्राप्त होता है। (सा) वह विज्ञानरीति सब को नित्य सिद्ध करनी चाहिये। हे (विष्णो) व्यापकेश्वर जैसे जो २ (ऋतस्य योनौ) शुद्ध यज्ञ में। (ध्रुवा) स्थिर वस्तु। (असदन्) हो सके वैसे ही उन की निरंतर। (पाहि) रक्षा कीजिये तथा कृपा करके यज्ञ की। (पाहि) रक्षा कीजिये। (यज्ञन्यम्) यज्ञ प्राप्त करने। (यज्ञपतिम्) यज्ञ को पालन करने हारे यजमान की। (पाहि) रक्षा करो और यज्ञ को प्रकाशित करने वाले। (मां) मुझे। (च) भी। (पाहि) पालिये ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो यज्ञ पूर्वोक्त मंत्र में वसु, रुद्र और आदित्य से सिद्ध होने के लिये कहा है वह वायु और जल की शुद्धि के द्वारा सब स्थान और सब वस्तुओं को प्रीति कराने हारे उत्तम सुख को बढ़ाने वाले कर देता है सब मनुष्यों को उनकी वृद्धि वा रक्षा के लिये व्यापक ईश्वर की प्रार्थना और सदा अच्छी प्रकार पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ ६ ॥

अग्ने वाजजिदित्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। भुरिक्पंक्तिश्छन्दः। पंचमः स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः कीदृश इत्युपदिश्यते।

फिर वह यज्ञ कैसा है सो अगले मंत्र में प्रकाशित किया है ॥

अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितꣳ सम्मार्ज्मि नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम् ॥७॥

अग्ने । वाजजिदिति वाजऽजित् । वाजम् । त्वा । सरिष्यन्तम् । वाजजितमिति वाजऽजितम् । सम् । मार्ज्मि । नमः । देवेभ्यः । स्वधा । पितृभ्य इति पितृऽभ्यः । सुयमे इति सुऽयमे । मे । भूयास्तम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अग्ने) अग्निर्भौतिकः । (वाजजित्) वाजमन्नं जयति येन सः । वाज इत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २ । ७ । अत्रोभयत्र कृतोबहुल मिति करणे क्विप् । (वाजम्) वेगवन्तम् । (त्वा) तम् । (सरिष्यन्तम् सर्वान् पदार्थानन्तरिक्षे गमयिष्यन्तम् । (वाजजितम्) वाजं युद्धं जयति येन तम् । (सम्) सम्यगर्थे । (मार्ज्मि) मार्ष्टि वा अत्र पक्षे पुरुषव्यत्ययः (नमः) अमृतात्मकं जलम् । नमइत्युदकनामसु पठितम् निघं० १ । १२ । (देवेभ्यः) दिव्यसुखकारकेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो वस्वादिभ्यः । (स्वधा) अमृतात्मकमन्नम् । (स्वधेत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २ । ७ ।) स्वं स्वकीयं सुखं दधात्यनया सा । (पितृभ्यः) पालनहेतुभ्य ऋतुभ्यः । ऋतवो वै पितरः । श० २ । ५ । २ । ३२ । (सु) शोभनेऽर्थे । (यमे) यच्छन्ति बलपराक्रमौ याभ्यां ते । (मे) मम । (भूयास्तम्) भूयास्ताम् । अत्र व्यत्ययः । अयं मंत्रः । श० १ । ३ । ६ । १४- १५ । व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः—यतोऽयमग्निर्वाजजिद्भूत्वा सर्वान् पदार्थान् संमार्ष्टि तस्मात्तमहं वाजं सरिष्यन्तं वाजजितं संमार्ज्मि येन यज्ञेन प्रयुक्तेनाग्निना देवेभ्यो नमः पितृभ्यः स्वधा सुयमे भवतस्तेनैते मे मम सुयमे भूयास्तम् भूयास्ताम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति । मनुष्यैर्यः पूर्वमंत्रोक्तोऽग्निर्यज्ञस्य मुख्यसाधनः कर्त्तव्यः । कुतः । अग्नेरूर्ध्वगमनशीलेन सर्वपदार्थछेदकत्वात् । या नेषु सम्यक् प्रयुक्तेन शीघ्रगमनविजयहेतुः सन्नृतुभिर्दिव्यान् पदार्थान् संपाद्य शुद्धे सुखप्रापके अन्नजले करोतीति विज्ञातव्यम् ॥ ७ ॥

पदार्थः--जिस से यह। (अग्ने) अग्नि । (वाजजित्) अर्थात् जो उत्कृष्ट अन्न को प्राप्त करानेवाला होके सब पदार्थों को शुद्ध करता है इस से मैं। (त्वा) उस (वाजम्) वेगवाले । (सरिष्यन्तम्) सब पदार्थों को अन्तरिक्ष में पहुंचाने और। (वाजजितम्) अर्थात् युद्ध को जितानेवाले भौतिक अग्नि को। (सम्मार्ज्मि) अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूं यज्ञ में युक्त किये हुए जिस अग्नि से । (देवेभ्यः) सुखकारक पूर्वोक्त वसु आदि से सुख के लिये। (नमः) अत्यंत मधुर श्रेष्ठ जल तथा। (पितृभ्यः) पालन के हेतु जो वसन्त आदि ऋतु हैं उनसे जो आरोग्य के लिये। (स्वधा) अमृतात्मक अन्न किये जाते हैं वे (सुयमे) बल वा पराक्रम के देनेवाले उस यज्ञ से। (मे) मेरे लिये। (भूयास्तम्) होवें ॥ ७ ॥

भावार्थः— ईश्वर उपदेश करता है कि प्रथम मंत्र में कहे हुए यज्ञका मुख्य-साधन अग्नि होता है। क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष में भी उसकी लपट देखने में आती है वैसे अग्नि का ऊपर ही को चलने जलने का स्वभाव है तथा सब पदार्थों के छिन्नभिन्न करनेका भी उसका स्वभाव है। और यान वा अस्त्रादिकों में अच्छी प्रकार युक्त किया हुआ शीघ्र-गमन वा विजय का हेतु होकर वसंतआदि ऋतुओं में उत्तम २ पदार्थों का संपादन करके अन्न और जल को शुद्ध वा सुख देनेवाले कर देता है ऐसा जानना चाहिये ॥ ७ ॥

अस्कन्नमद्येत्यस्य ऋषिः स एव। विष्णुर्देवता । विराट् पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भूत्वा किं करोतीत्युपदिश्यते ॥

फिर भी उक्त यज्ञ कैसा होकर क्या करता है सो अगले मंत्र में प्रकाश किया है ।

अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यꣳसंभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वाव क्रमिषं वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीत इन्द्रो वीर्य्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात् ॥ ८ ॥

अस्कन्नम् । अद्य । देवेभ्यः । आज्यम् । सम् । भ्रियासम् । अङ्घ्रिणा । विष्णोऽइति विष्णो । मा । त्वा । अव । क्रमिषम् । वसुमतीमिति वसुऽमतीम् । अग्ने । ते । छायाम् । उपस्थेषम् । विष्णोः । स्थानम् । असि । इतः । इन्द्रः । वीर्य्यम् । अकृणोत् । ऊर्ध्वः । अध्वरः । आ । अस्थात् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(अस्कन्नम्) अविक्षुब्धम् । (अद्य) अस्मिन्नहनि । (देवेभ्यः) दिव्यसुखानां प्राप्तये । (आज्यम्) घृतादिकम् । (सम्) क्रियायोगे । (भ्रियासम्) धारयेयम् । (सम्) क्रियायोगे । (अङ्घ्रिणा) गमनसाधनेनाग्निना । (विष्णो) व्यापकेश्वर । (मा) निषेधार्थे । (त्वा) तं वा । (अव) अवेति विग्रहार्थीयः । निरु० १ । ३ । (क्रमिषम्) उल्लंघयेयम् । अत्र लिङर्थे लुङ् । (वसुमतीम्) वसूनि बहूनि वस्तूनि भवन्ति यस्यां ताम् । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । (अग्ने) परमेश्वर भौतिको वा । (ते) तव तस्य वा । (छायाम्) आश्रयम् । (उप) क्रियार्थे । (स्थेषम्) उपपन्सीय । अत्र लिङ्याशिष्यङित्यङि कृते छन्दस्युभयथेति सार्वधातुकत्वादियादेश आर्द्धधातुकत्वान्सकारलोपो न भवति । (विष्णोः) यज्ञस्य । (स्थानम्) स्थित्यर्थम् । (असि) भवति । अत्र व्यत्ययः । (इतः) स्थानात् । (इन्द्रः) सूर्यो वायुर्वा । (वीर्य्यम्) वीरस्य कर्म पराक्रमं वा । (अकृणोत्) करोति । अत्र लडर्थे लङ् (ऊर्ध्वः) आकाशस्थः सन् (अध्वरः) यज्ञः । (आ) समन्तात् । (अस्थात्) तिष्ठति । अत्र लडर्थे लुङ् । अयं मन्त्रः । श० १ । ४ । १ । १—३ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अन्वयः—अहं देवेभ्यो यदस्कन्नमविक्षुब्धमाज्यमङ्घ्रिणा संभ्रियासमद्य त्वा तदहं मावक्रमिषं मोल्लंघयेयम् । हे अग्ने जगदीश्वर ते तव वसुमतीं छायामहमुपस्थेषमुपपत्सीय । योयमग्निर्विष्णोर्यज्ञस्य स्थानमस्यास्ति तस्यापि वसुमतीं छा

यामुपस्थाय यज्ञं साधयामि । य ऊर्ध्वोऽध्वरोऽग्नौ हुतः सर्वतन्तात् तिष्ठति तमित इन्द्रो धृत्वा वीर्य्यमकृणोत् करोति ॥ ८ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति येन पूर्वोक्तेन यज्ञेनान्नजलं शुद्धं पुष्कलं भवतस्तदेतस्य सिध्यर्थं मनुष्यैः पुष्कलाः संभाराः सदा चेतव्याः । नैव मम व्यापकस्याज्ञामुल्लंघ्य वर्तितव्यम् । किन्तु बहुसुखप्रापकं मदाश्रयं गृहीत्वाऽग्नौ यो यज्ञः क्रियते। यमिन्द्रः स्वकीयैः किरणैश्छित्वा वायुना सहोर्ध्वमाकृष्योर्ध्वं मेघमण्डले स्थापयति पुनस्तस्माद्भूमिं प्रति निपातयति येन भूमौ महद्वीर्य्यं जायते स सदाऽनुष्ठातव्य इति ॥ ८ ॥

पदार्थः—मैं (देवेभ्यः) उत्तम सुखों की प्राप्ति के लिये जो (अस्कन्नम्) निश्चलसुखदायक । (आज्यम्) घृतआदि उत्तम २ पदार्थ है उसको (अग्निणा) पदार्थ पहुंचाने वाला अग्नि से । (अद्य) आज । (मंभ्रियासम्) धारण करूं और (त्वा) उसका मैं । (मावक्रमिषम्) कभी उल्लंघन न करूं । तथा हे (अग्ने) जगदीश्वर ! ते आप के । (वसुमतीम्) पदार्थ देनेवाले । (छायाम्) आश्रय को । (उपस्थेषम्) प्राप्त होऊं । जो यह । (अग्ने) अग्नि । (विष्णोः) यज्ञ के । (स्थानम्) ठहरने का स्थान । (असि) है उस के भी । (वसुमतीम्) उत्तम पदार्थ देनेवाले । (छायाम्) आश्रय को मैं । (उपस्थेषम्) प्राप्त होकर यज्ञ को सिद्ध करताहूं तथा जो । (ऊर्ध्वः) आकाश और जो (अध्वरः) यज्ञ अग्नि में ठहरनेवाला । (आ) सब प्रकार से । अस्थात् ठहरता है उसको । (इंद्रः) सूर्य्य और वायु धारण करके । (वीर्य्यम्) कर्म अथवा पराक्रम को । (अकृणोत्) करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः— ईश्वर उपदेश करता है कि जिस पूर्वोक्त यज्ञ से जल और वायु शुद्ध होकर बहुतसा अन्न उत्पन्न करनेवाले होते हैं उसको सिद्ध करनेके लिये मनुष्यों को बहुतसी सामग्री जोड़नी चाहिये । जैसे मैं सर्वत्र व्यापक हूं मेरी आज्ञा कभी उलंघन नहीं करनी चाहिये किंतु जो असंख्यात सुखों का देनेवाला मेरा आश्रय है उसको सदा ग्रहण करके अग्नि में जो हवन किया जाता है तथा जिस को सूर्य्य अपनी किरणों से खैंच कर वायुके योगसे ऊपर मेघ मंडल में स्थापन करता है और फिर वह उसको वहां से मेघद्वारा गिरा देता है और जिससे पृथिवीपर बड़ा सुख उत्पन्न होता है उस यज्ञ का अनुष्ठान सब मनुष्यों को सदा करना योग्य है ॥ ८ ॥

अग्ने वेरित्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

॥ पुनस्तेन किं भवतीत्युपदिश्यते ॥

फिर उस यज्ञ से क्या लाभ होता है सो अगले मंत्र में प्रकाशित किया है ॥

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतान्त्वान्द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः ॥ ९ ॥

अग्ने । वेः । होत्रम् । वेः । दूत्यम् । अवताम् । त्वाम् । द्यावापृथिवी इति द्यावाऽपृथिवी । अव । त्वम् । द्यावापृथिवी इति द्यावाऽपृथिवी । स्विष्टकृदिति स्विष्टऽकृत् । देवेभ्यः । इन्द्रः । आज्येन । हविषा । भूत । स्वाहा । सम् । ज्योतिषा । ज्योतिः ॥ ९ ॥

पदार्थः— (अग्ने) परमेश्वर भौतिको वा । (वेः) विद्धि वेदयति प्रापयति वा । अत्रापक्षे लडर्थे लङ् । वी गति० इत्यस्य प्रयोगोऽडभावश्च । (होत्रम्) जुह्वति यस्मिन् तद्यज्ञकर्म । (वेः) विद्धि वेदयति प्रापयति वा । (दूत्यम्) दूतस्य कर्म तत् । दूतस्य भागकर्मणी । अ० ४ । ४ । १२१ । अनेन यत्प्रत्ययः । (अवताम्) रक्षतः । (त्वाम्) तत् (द्यावापृथिवी) द्यौश्च पृथिवी च ते । दिवो द्यावा । अ० ६ । ३ । २९ । अनेन द्वन्द्वे समासे दिवः स्थाने द्यावादेशः । (अव) रक्ष रक्षति वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः । (त्वं) स वा । (द्यावापृथिवी) अस्मत्प्राप्ते न्यायप्रकाशपृथिवीराज्ये । द्यावापृथिवी इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ३ । इत्यत्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते । (स्विष्टकृत्) यः शो-

भनमिष्टं करोति सः । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा । (इन्द्रः) भौतिकः सूर्यो वायुर्वा । इन्द्रेण वायुना । ऋ० १ । १४ । १० । अनेनेन्द्रशब्देन वायुरपि गृह्यते । (आज्येन) यज्ञेऽग्नौ च प्रक्षेपितुं योग्येन घृतादिना हविषा संस्कृतेन होतव्येन पदार्थेन । (भूत्) भवति । अत्र लडर्थे लुङ् । अडभावश्च । (स्वाहा) वेदवाणीदं कर्माह । (सम्) सम्यगर्थे । (ज्योतिषा) तेजस्विना लोकसमूहेन सह । (ज्योतिः) प्रकाशवान् । द्युतेरिसन्नादेश्चजः । उ० २ । १०६ । इति द्युतधातोरिसन्प्रत्यय आदेर्जकारादेशश्च । अयं मंत्रः । श० १ । ४ । १ । ४–९ । व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर ये द्यावापृथिवी यज्ञमवतां रक्षतस्ते त्वं वेः रक्ष । यथायमग्निर्होत्रं दूत्यं च कर्म प्राप्तो द्यावापृथिवी रक्षति तथा हे भगवन् देवेभ्यः स्विष्टकृत्त्वमस्मान् वेः सदा पालय । यथायमाज्येन हविषा ज्योतिषा सह ज्योतिः स्विष्टकृदिन्द्रो द्यावापृथिव्यो रक्षको भूद्भवति तथा त्वं विज्ञानज्योतिः प्रदानेनास्मान्समवेति स्वाहा ॥ ९ ॥

भावार्थः—ईश्वरो मनुष्येभ्यो वेदेषूपदिष्टवानास्ति । मनुष्यैर्यद्यदग्निपृथिवीसूर्य्यवाय्वादिभ्यः पदार्थेभ्यः होत्रं दूत्यं च कर्मनिमित्तं विदित्वाऽनुष्ठीयते तत्तदिष्टकारि भवति । अष्टमंत्रेण यज्ञसाधनं यदुक्तं तत्फलं नवमेन प्रकाशितमिति ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर जो (द्यावापृथिवी) प्रकाशमय सूर्यलोक और पृथिवीयज्ञ की (अवताम्) रक्षा करते हैं उनकी । (त्वम्) आप । (वेः) रक्षा करो तथा जैसे यह भौतिक अग्नि (होत्रम्) यज्ञ और । (दूत्यम्) दूत कर्म को प्राप्त होकर । (द्यावापृथिवी) प्रकाशमय सूर्य्यलोक और पृथिवी की रक्षा करता है । वैसे हे (भगवन्) (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये । (स्विष्टकृत्) उनकी इच्छाऽनुकूल अच्छे २ कार्य्यों के करनेवाले आप हमलोगों की । (अव) रक्षा कीजिये जो यह । (आज्येन) यज्ञ के निमित्त अग्निमें छोड़ने योग्य घृत आदि उत्तम २ पदार्थ । (हविषा) संस्कृत अर्थात् अच्छी प्रकार शुद्ध किये हुए होम के योग्य कस्तूरी केसर आदि पदार्थ वा । (ज्योतिषा) प्रकाशयुक्त लोकों के साथ । (ज्योतिः) प्रकाशमय किरणों से (स्विष्ट-

कृत) अच्छे २ वांछित कार्य्य सिद्ध कराने वाला । (इन्द्रः) सूर्य्य लोक भी । (द्यावापृथिवी) हमारे न्याय वा पृथिवी के राज्यकी रक्षा करने वाला । (अभूत्) होता है वैसे आप (ज्योतिः) विज्ञानरूप ज्योति के दान से हम लोगों की (अव) रक्षा कीजिये इस कर्म को (स्वाहा) वेदवाणी कहती है ॥ ९ ॥

भावार्थः—ईश्वर ने मनुष्यों के लिये वेदों में उपदेश किया है कि जो २ अग्नि पृथिवी सूर्य्य और वायुआदि पदार्थों के निमित्तों को जान के होम और दूतसंबन्धी कर्मका अनुष्ठान करना योग्य हैं सो २ उन के लिये वांछित सुखके देनेवालेहोते हैं। अष्टम मंत्रसे कहे हुए यह साधन का फल नवमे मंत्रसे प्रकाशित किया है ॥ ९ ॥

मयीदमित्यस्य ऋषिः स एव । इन्द्रो देवता । भुरिग्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

॥ अथ तज्जन्यं फलमुपदिश्यते ॥

अब अगले मंत्रमें उक्त यज्ञ से उत्पन्न होनेवाले फल का उपदेश किया है ।

मयीदमिन्द्रं इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् ॥ अस्माकंꣳसन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष उपहूता पृथिवी मातोपमां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥ १० ॥

मयि । इदम् । इन्द्रः । इन्द्रियम् । दधातु । अस्मान् । रायः । मघवान इति मघऽवानः । सचन्ताम् । अस्माकम् । सन्तु । आशिष इत्याऽशिषः । सत्याः । नः । सन्तु । आशिष इत्याशिषः । उपहूतेत्युपऽहूता । पृथिवी । माता । उप । माम् । पृथिवी । माता । ह्वयताम् । अग्निः । आग्नीध्रात् । स्वाहा ॥ १० ॥

कारि प्रत्यक्षं तत् । (इन्द्रः) परमेश्वरः । (इन्द्रियम्) इन्द्रस्यैश्वर्य्यप्राप्तेर्लिङ्गं चिह्नमिन्द्रेण परमेश्वरेण दृष्टमिन्द्रेण परमेश्वरेण सृष्टं प्रकाशितमिन्द्रेण विद्यावता जीवेन जुष्टं संप्रीत्या सेवितमिन्द्रेण परमेश्वरेण यद्दत्तं सर्वसुखज्ञानसाधकम् । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । अ० ५ । २ । ९३ । अनेनोक्तेष्वर्थेष्विन्द्रियशब्दो निपातितः । (दधातु) नित्यं धारयतु (अस्मान्) मनुष्यान् । (रायः) विद्यासुवर्णचक्रवर्त्तिराज्यादिधनानि राय इति धननामसु पठितम् । निघं० २ । १० (मघवानः) मघानि बहूनि धनानि विद्यन्ते येष्वैश्वर्य्ययोगेषु ते । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः । निरु० १ । ७ । (सचन्ताम्) समवेताः प्राप्ता भवन्तु । (अस्माकम्) परोपकारिणां धार्मिकाणां मानवानाम् । (सन्तु) भवन्तु । (आशिषः) कामनाः । (सत्याः) सिद्धाः । (नः) अस्माकं विद्यावतां राज्यसेविनाम् । (सन्तु) भवन्तु । (आशिषः) न्यायरक्षाविशिष्टाः क्रियाः । शास इत्त्वे आशासः क्वावुपसंख्यानम् । अ० ६ । ४ । ३४ । अनेन वार्त्तिकेनाशीरिति सिद्धः । (उपहूता) उपहूयते जनैराज्यसुखार्थं या । (पृथिवी) पृथुसुखविस्तृता । (माता) मान्यकरणहेतुः । (उप) गतार्थे । (मां) सुखार्थिनं धार्मिकम् । (पृथिवी) पृथुसुखदात्री विद्या । (माता) धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या मान्यदात्री । (ह्वयताम्) स्पर्द्धतामुपदिशताम् (अग्निः) ईश्वरः । (आग्नीध्रात्) अग्निरिध्यते प्रदीप्यते यस्मिन् तस्येदं शरणमाश्रयणं तस्मात् । अग्नीधः शरणे रञ् भं च । अ० ४ । ३ । १२० । अनेन वार्त्तिकेनाधिकरणवाचिनः क्विबन्तादग्नीध् प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययः । (स्वाहा) सुहुतमाह यया सा ॥ अयं मंत्रः । श० १ । ८ । ३ । ३९–४४ व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः—इन्द्रोमयीदमिन्द्रियं रायश्च दधातु तत्कृपया स्वपुरुषार्थेन च यथा वयं मघवानो भवेम तथाऽस्मान् रायः सचन्ताम्। एवं चास्माकमाशिषः सत्याः सन्त्वेवं मातेयं पृथिवी विद्योपहूता च सती मामुपाह्वयतामुपदिशताम्। तथा मयाऽनुष्ठितोऽयमग्निराग्नीध्रादिष्टकृत्सन् नोऽस्माकं सुखान्युपह्वयति। एवं सम्यग्घुतमिष्टकारि भवतीति स्वाहा वेदवाण्याह ॥ १० ॥

भावार्थः—ये पुरुषार्थिन ईश्वरोपासकास्त एव शोभनं मनःश्रेष्ठान्युत्तमानि धनानि सत्या इच्छाश्च प्राप्नुवन्ति नेतरे। सर्वस्य मान्यप्राप्तिहेतुत्वात् भूमिविद्ये पृथिवीशब्देनात्र प्रकाशिते स्तः। सर्वैरेते मदोपकर्त्तव्ये भवत इतीश्वरोऽनेन वेदमंत्रेणाह। नवममंत्रेणाग्न्यादिभ्यः साधितेभ्य इष्टसुखप्राप्तिरुदिता सैवानेन दशमेन मंत्रेण प्रकाशितेति ॥ १० ॥

पदार्थः—(इन्द्रः) परमेश्वर। (मयि) मुझ में (इदम्) प्रत्यक्ष। (इंद्रियं) ऐश्वर्य की प्राप्ति के चिन्ह तथा परमेश्वर ने जो अपने ज्ञान से देखा वा प्रकाशित किया है और सब सुखों को सिद्ध करानेवाले जो विद्वानों को दिया है जिस को वे इन्द्र अर्थात् विद्वान् लोग प्रीति पूर्वक सेवन करते हैं उन्हें तथा। (रायः) विद्या सुवर्ण वा चक्रवर्त्ति राज्य आदि धनों को। (दधातु) नित्य स्थापन करे और उस की कृपा से तथा हमारे पुरुषार्थ से। (मघवानः) जिन में की बहुत धन विद्यमान राज्य आदि पदार्थ हैं जिन करके हम लोग पूर्ण ऐश्वर्य्ययुक्त हों वैसे धन। (नः) हम विद्वान् धर्मात्मा लोगों को। (सचन्ताम्) प्राप्त हों तथा इसी प्रकार। (अस्माकम्) हम परोपकार करनेवाले धर्मात्माओं की। (आशिषः) कामना (सत्याः) सिद्ध। (सन्तु) हों और ऐसे ही। (नः) हमारी (आशिषः) न्यायपूर्वक इच्छायुक्त जो क्रिया हैं वे भी। (सत्याः) सिद्ध। (सन्तु) हों तथा इसी प्रकार (माता) धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि से मान्य करनेहारी विद्या और (पृथिवी) बहुत सुख देनेवाली भूमि है। (उपहूता) जिसको राज्य आदि सुख के लिये मनुष्य क्रम से प्राप्त होते हैं वह। (मां) सुख की इच्छा करनेवाले मुझ को। (उपह्वयताम्) अच्छी प्रकार उपदेश करती है तथा मेरा अनुष्ठान किया हुआ यह। (अग्निः) जिस भौतिक अग्नि को कि।

(आग्नीध्रात्) इन्धनादि से प्रज्वलित करते हैं वह वांछित सुखों का करनेवाला होकर ।(नः) हमारे सुखों का आगमन करावें क्योंकि ऐसे ही अच्छी प्रकार होमको प्राप्त होके चाहे हुए कार्यों को सिद्ध करनेहारा होता है । (स्वाहा) सब मनुष्यों के करने के लिये वेदवाणी इस कर्म को कहती है ॥

भावार्थः— जो मनुष्य पुरुषार्थी परोपकारी ईश्वर के उपासक हैं वही श्रेष्ठज्ञान उत्तम धन और सत्य कामनाओं को प्राप्त होते हैं और नहीं । जो सब को मान्य देने के कारण इस मंत्र में पृथिवी शब्द से भूमि और विद्या का प्रकाश किया है सो ये सब मनुष्यों को उपकार में लाने के योग्य हैं । ईश्वर ने इस वेदमंत्र से यही प्रकाशित किया है तथा जो नवम मंत्र से अग्नि आदि पदार्थों से इच्छित सुख की प्राप्ति कही है वही अब दशम मंत्र से प्रकाशित की है ॥ १० ॥

उपहूतेत्यस्य ऋषिः स एव । द्यावापृथिवी देवते । ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेवार्थं दृढयति ॥

फिर भी अगले मंत्र में उक्त अर्थ को दृढ़ किया है ॥

उप॑हूतो द्यौष्पि॒तोप॒मां द्यौष्पि॒ता ह्व॑यताम॒ग्नि-राग्नी॑ध्रा॒त्स्वाहा॑ ॥ दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्वि-नो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । प्रति॑गृह्णाम्य॒ग्ने-ष्ट्वा॒स्येन॒ प्राश्ना॑मि ॥ ११ ॥

उपहूत इत्युपऽहूतः । द्यौः । पिता । उप । माम् । द्यौः । पिता । ह्वयताम् । अग्निः । आग्नीध्रात् । स्वाहा । देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति बाहुभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् । प्रति । गृह्णामि । अग्नेः । त्वा । आस्येन । प्र । अश्नामि ॥ ११ ॥

पदार्थः—(उपहूतः) कृतोपह्वानः । (द्यौः) प्रकाशरूपः । (पिता) सर्वपालक ईश्वरः । (उप) क्रियार्थे । (माम्) सुखभोक्तारं । (द्यौः) प्रकाशमयः । (पिता) पालनहेतुः सूर्यलोकः (ह्वयताम्) ह्वयति अत्र व्यत्ययेन लडर्थे लोट् । (अग्निः) जाठरस्थः । (आग्नीध्रात्) अन्नाशयात् । साधुत्वमस्य पूर्ववद्बोध्यम् । (स्वाहा) सुहुतं सुखकार्याहरणः । (देवस्य) हर्षकरस्य । (त्वा) त्वां तं वा । (सवितुः) सर्वस्य जगतः प्रसवितुरीश्वरस्य । (प्रसवे) उत्पन्नेऽस्मिञ्जगति । (अश्विनोः) प्राणापानयोः । (बाहुभ्याम्) आकर्षणधारणाभ्याम् । (पूष्णः) पुष्टिहेतोः समानस्य वायोः । (हस्ताभ्याम्) शीघ्रसर्वाङ्गप्रापणाभ्याम् । (प्रतिगृह्णामि) नित्यं स्वीकरोमि । (अग्नेः) भौतिकस्य । (पाचकस्य) (त्वा) तं भक्ष्यं पदार्थम् । (आस्येन) मुखेन आष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलकादास्यम् । अ० १।१।९। इति महाभाष्ये । अस्यन्ति प्रक्षिपन्ति उदरेऽन्नादिकं येन तदास्यं मुखम् । (प्र) गुणैर्यत्प्रकृष्टं तदर्थे । क्रियायोगे । प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १ । ३ (अश्नामि) भुञ्जे । अयं मंत्रः । श० १।८।१।१९—४४ व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अन्वयः—मया द्यौः पितेश्वर उपहूतो मामुपह्वयतां स्वीकरोत्वेवं मया द्यौः पिता पालनहेतुः सूर्यलोक उपहूतः स्पर्द्धितः सन् मां विद्यायै उपह्वयति । योऽग्निः स्वाहा सुहुतं भुक्तमन्नमाग्नीध्रात् पचति यो देवस्य सवितुः प्रसवे वर्त्तमानोऽस्ति तमहं भोगमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि । गृहीत्वा च प्रदीप्तस्याग्नेर्मध्ये पाचयित्वाऽऽस्येन प्राश्नामि ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । मनुष्यैरात्मशुद्ध्यर्थमनन्तविद्याप्रकाशकस्य परमेश्वरस्याह्वानं नित्यं कार्य्यम् । तथा च विद्यासिद्धये चक्षुषा संशोध्य जाठराग्निं प्रदीप्य संस्कृतं मितमन्नं नित्यं भोक्तव्यम् । ईश्वरेण जगत्युत्पादितैः पदार्थैः सर्वो भोगः सिध्यति । स च विद्याधर्मयुक्तेन व्यवहारेण भोक्तव्यो भोजयितव्यश्च । ये पूर्वमंत्रेण पृथिव्यां विद्यया प्राप्तव्या मान्यकारिणः पदार्था उक्तास्तेषां भोगे धर्मेण युक्त्या च सर्वैः कार्य्य इत्यनेन प्रतिपादितः ॥ ११ ॥

पदार्थः—मुझ से जो (द्यौः) प्रकाशमय। (पिता) सर्वपालक ईश्वर । (उपहूतः) प्रार्थना किया हुआ । (मां) सुख भोगनेवाले मुझ को । (उपह्वयताम्) अच्छी प्रकार स्वीकार करे इसी प्रकार जो । (द्यौः) प्रकाशवान् । (पिता) सब उत्तम क्रियाओं का पालने का हेतु सूर्य्यलोक मुझ से । (उपहूतः) क्रियाओं में प्रयुक्त किया हुआ । (मां) सब सुख भोगने वाले मुझ को विद्या के लिये । (उपह्वयताम्) युक्त करता है तथा जो । (अग्निः) जाठराग्नि । (स्वाहा) अच्छे भोजन किये हुए अन्न को । (आग्नीध्रात्) उदर में अन्न के कोठे में पचा देता है उस से मैं । (देवस्य) हर्ष देने । (सवितुः) और सब के उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर के उत्पन्न किये हुए । (प्रसवे) संसार में विद्यमान और (त्वा) उस उक्त भोग को । (अश्विनोः) प्राण और अपान के । (बाहुभ्याम) आकर्षण और धारणगुणों से तथा । (पूष्णः) पुष्टि के हेतु समान वायु के । (हस्ताभ्याम्) शोधन वा शरीर के अंग २ में पहुंचाने के गुण से । (प्रतिगृह्णामि) अच्छीप्रकार ग्रहण करता हूं ग्रहण करके । (अग्नेः) प्रज्वलित अग्नि के बीच में पकाकर । (त्वा) उस भोजन करने योग्य अन्न को । (आस्येन) अपने मुख से । (प्राश्नामि) भोजन करता हूं ॥

भावार्थः—इस मंत्र में श्लेषालंकार है मनुष्यों को अपने आत्मा की शुद्धि के लिये अनंत विद्या के प्रकाश करनेवाले परमेश्वर पिता का आह्वान अर्थात अच्छी प्रकार नित्य सेवन करना चाहिये तथा विद्या की सिद्धि के लिये उदर की अग्नि को दीप्त कर और नेत्रों से अच्छी प्रकार देख के संस्कार किये हुए प्रमाणयुक्त अन्न का नित्य भोजन करना चाहिये सब भोग इस संसार में जो कि ईश्वर के उत्पन्न किये पदार्थ हैं उन से सिद्ध होते हैं वह भोग विद्या और धर्मयुक्त व्यवहार से भोगना चाहिये और वैसे ही औरों को वर्तानः चाहिये जो पूर्वमंत्र से पृथिवी में विद्या से प्राप्त होने वा मान्य के करानेवाले पदार्थ कहे हैं उन का भोग धर्म वा युक्ति के साथ सब मनुष्यों को करना चाहिये । ऐसा इस मंत्र से प्रतिपादन किया है ॥ ११ ॥

एतन्त इत्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता । भुरिग्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

कस्मै प्रयोजनाय केनायं विद्याप्रबन्धः प्रकाशित इत्युपदिश्यते ॥

किस प्रयोजन के लिये और किस ने यह विद्या का प्रबंध प्रकाशित किया है सो अगले मंत्र में उपदेश किया है ॥

एतन्ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे ।
तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिन्तेन मामव ॥ १२ ॥

एतम् । ते । देव । सवितः । यज्ञम् । प्र । आहुः । बृहस्पतये । ब्रह्मणे । तेन । यज्ञम् । अव । तेन । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । तेन । माम् । अव ॥ १२ ॥

पदार्थः— (एतम्) पूर्वोक्तं । (ते) तव । (देव) दिव्यसुखगुणानां दातः । (सवितः) सकलैश्वर्यविधातर्जगदीश्वर । (यज्ञम्) यं सुखाय यष्टुमर्हम् । (प्राहुः) प्रकृष्टं ब्रुवन्ति । (बृहस्पतये) बृहत्या वेदवाण्याः पालकाय । (ब्रह्मणे) चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मत्वाधिकारं प्राप्ताय । (तेन) बृहद्विज्ञानदानेन । (यज्ञम्) पूर्वोक्तं त्रिविधं (अव) नित्यं रक्ष । (तेन) धर्मानुष्ठानेन । (यज्ञपतिं) यज्ञस्यानुष्ठानेन पालकम् । (तेन) विद्याधर्मप्रकाशेन । (माम्) (अव) रक्ष । अयं मंत्रः श० १ । ६ । २ । १९-२१ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे देव सवितर्जगदीश्वर वेदा विद्वांसश्च यमेतं यज्ञं भवत्प्रकाशितं प्राहुर्येन बृहस्पतये ब्रह्मणे सुखाधिकाराः प्राप्नुवंति तेनेमं यज्ञं यज्ञपतिं मां चाव सततं रक्ष ॥ १२ ॥

भावार्थः—ईश्वरेण सृष्ट्यादौ गुणवद्भ्योऽग्निवाय्वादित्याङ्गिरोभ्यश्चतुर्वेदोपदेशेन सर्वेषां मनुष्याणां विद्याप्राप्त्या सुखाय यज्ञानुष्ठानविधिरुपदिष्टोऽनेन रक्षणविधानं च नैव विद्याशुद्धिक्रियाभ्यां विना कस्यचित्सुखरक्षणे भवितुमर्हतस्तस्मात्सर्वैः परस्परं प्रीत्या तयोर्वृद्धिरक्षणे प्रयत्नतः सदैव कार्य्ये । यश्चैकादशेन मन्त्रेण यज्ञफलभोग उक्तस्तत्प्रकाश ईश्वरेणैव कृत इति गम्यते ॥१२॥

पदार्थः—हे (देव) दिव्य सुख वा उत्तम गुण देने तथा (सवितः) सब ऐश्वर्य का विधान करनेवाले जगदीश्वर वेद और विद्वान् आप के प्रकाशित किये हुए । (एतम्) इस पूर्वोक्त यज्ञ को । (प्राहुः) अच्छी प्रकार कहते हैं कि जिस से । (बृहस्पतये) बड़ों में बड़ी जो वेदवाणी है उस के पालन करनेवाले । (ब्रह्मणे) चारों वेदों के पढ़ने से ब्रह्मा की पदवी को प्राप्त हुए विद्वान् के लिये सुख और श्रेष्ठ अधिकार प्राप्त होते हैं इस । (यज्ञम्) यज्ञसंबंधी धर्म से । (यज्ञपतिं) यज्ञ को करने वा सब प्राणियों को सुख देनेवाले विद्वान् और उस विद्या वा धर्म के प्रकाश से । (मा) मेरी भी (अव) रक्षा कीजिये ॥ १२ ॥

भावार्थः—ईश्वर ने सृष्टि की आदि में दिव्यगुणवाले अग्नि वायु रवि और अंगिरा ऋषियों के द्वारा चारों वेद के उपदेश से सब मनुष्यों के लिये विद्याप्राप्ति के साथ यज्ञ के अनुष्ठान की विधि का उपदेश किया है जिस से सब की रक्षा होती है क्योंकि विद्या और शुद्धि क्रिया के विना किसी को सुख वा सुख की रक्षा प्राप्त नहीं हो सकती इसलिये हम सब को उचित है कि परस्पर प्रीति के साथ अपनी बुद्धि और रक्षा यत्न से करनी चाहिये जो ग्यारहवें मंत्र से यज्ञ का फल कहा है उसका प्रकाश परमेश्वर ही ने किया है ऐसा इस मंत्र से विधान है ॥ १२ ॥

मनोजूतिरित्यस्य ऋषिः स एव । बृहस्पतिर्देवता । विराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

येन यज्ञः कर्तुं शक्यस्तदुपदिश्यते ॥

जिससे यज्ञ किया जा सकता है सो विषय अगले मंत्र में प्रकाशित किया है ॥

मनो॒ जू॒तिर्जु॑षता॒माज्य॑स्य॒ बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञमि॒मं त॑नो॒त्वरि॑ष्टं य॒ज्ञꣳ समि॒मं द॑धातु ॥ विश्वे॑ दे॒वास॑ इ॒ह मा॑दयन्ता॒मो३म्प्रति॑ष्ठ ॥ १३ ॥

मनः । जूतिः । जुषताम् । आज्यस्य । बृहस्पतिः । यज्ञम् । इमम् । तनोतु । अरिष्टम् । यज्ञम् । सम् । इमम् । दधातु । विश्वे । देवासः । इह । मादयन्ताम् । ओ३म् । प्र । तिष्ठ ॥ १३ ॥

पदार्थः— (मनः) मननशीलं ज्ञानसाधनम् । (जूतिः) वेगेन व्याप्तिकर्म । ऊतियूतिजूति॰ अ॰ ३ । ३ । ९७ । अनेन निपातितः । (जुषताम्) प्रीत्या सेवताम् । (आज्यस्य) यज्ञसामग्रीम् । सुपां सुलुगिति द्वितीयास्थाने षष्ठी । (बृहस्पतिः) बृहतां प्रकृत्याकाशादीनां पतिः पालको जगदीश्वरः । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च अ॰ ६ । १ । १५७ अनेन वार्त्तिकेन बृहस्पतिशब्दो निपातितः ॥ (यज्ञम्) संसाराख्यम् । (इमम्) प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं सुखभोगहेतुम् । (तनोतु) विस्तारयतु । (अरिष्टम्) रिष्यते हिंस्यते यः स रिष्टो न रिष्टोऽरिष्टस्तम् । (यज्ञम्) अस्माभिरनुष्ठातुमर्हम् । (सम्) एकीभावे क्रियायोगे । (इमम्) समस्तं विज्ञानयज्ञम् । (दधातु) धारयतु । (विश्वेदेवासः) सर्वे विद्वांसः । अत्र जसेरसुगागमः । (इह) अस्मिन् संसारे हृदये वा । (मादयन्ताम्) हृषन्तु । (ओम्) ईश्वरवाचकं संज्ञा वेदविद्या वा । ओ३म् खं ब्रह्म । यजुः॰ ४० । १७ । अत्र अवतेष्टिलोपश्च । उ॰ १ । १४१ अनेनाऽवधातोर्मन् प्रत्ययोऽस्यटिलोपश्च । (प्रतिष्ठ) प्रतिष्ठति वा अत्रान्त्यपक्षे व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । अयं मंत्रः श॰ १ । ६ । २ । २२ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः— मम जूतिर्मन आज्यस्य जुषतां बृहस्पतिर्यमिमं यज्ञमरिष्टं तनोतु संदधातु । हे विश्वेदेवास एतमरिष्टं यज्ञमयं संतन्य संधाय चेह मादयन्ताम् । हे ओंकारवाच्य बृहस्पते त्वमिह प्रतिष्ठ कृपयेमं यज्ञं विद्यां च प्रतिष्ठापय ॥ १३ ॥

भावार्थः— ईश्वर आज्ञापयति । हे मनुष्या युष्मन्मनः सत्कर्माण्येव प्राप्नोतु यथा योऽयं संसारे यज्ञः कर्त्तुमाज्ञाप्यते तमेवानुष्ठाय सुखिनो भवन्तु मादयन्तु वा । ओमिति परमेश्वरस्यैव नाम । यथा पितापुत्रयोः प्रियः संबन्धस्तथैवेश्वरेण सहोंकारस्य संबन्धोऽस्ति । नैव कस्यचित् सत्क्रियया विना प्रतिष्ठा भवितुमर्हति ।

तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथाऽधर्मं विहाय धर्मकार्य्याण्येव सेवनीयानि । यतः ख ल्वविद्यान्धकारनिवृत्तये विद्यार्कः प्रकाशेत । द्वादशमंत्रेण यो यज्ञः प्रकाशितस्त स्यानुष्ठानेन सर्वेषां प्रतिष्ठासुखे भवत इत्यनेन प्रकाशितम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(जूतिः) अपने वेग से सब जगह जाने वाला । (मनः) विचारवान् ज्ञान का साधन मेरा मन । (आज्यस्य) यज्ञ की सामग्री का । (जुषताम्) सेवन करे । (बृहस्पतिः) बड़े २ जो प्रकृति और आकाश आदि पदार्थ हैं उन का जो पति अर्थात् पालन करने हारा ईश्वर है वह । (इमम्) इस प्रकट और अप्रकट (अरिष्टम्) अहिंसनीय । (यज्ञम्) सुखों के मांगरूपी यज्ञ को । (तनोतु) विस्तार करे तथा । (इमम्) इस (अरिष्टम्) जो छोड़ने योग्य नहीं । (यज्ञम्) जो हमारे अनुष्ठान करने योग्य विज्ञान की प्राप्ति रूप यज्ञ है इस को । (सं दधातु) अच्छी प्रकार धारण करावे । हे (विश्वेदेवासः) सकल विद्वान् लोगो, तुम इन पालन करने योग्य दो यज्ञों का धारण वा विस्तार करके । (इह) इस संसार वा अपने मन में । (मादयन्ताम्) आनन्दित होओ । हे । (ओ३म्) ओंकार के अर्थ जगदीश्वर आप । (बृहस्पतिः) प्रकृत्यादि के पालन करने हारे । (इह) इस संसार वा विद्वानों के हृदय में । (प्रतिष्ठ) कृपा करके इस यज्ञ वा वेद विद्यादि का स्थापन कीजिये ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्यो तुम्हारा मन अच्छे ही कामों में प्रवृत्त हो तथा मैं ने जो संसार में यज्ञ करने की आज्ञा दी है उस का उक्त प्रकार से यथावत् अनुष्ठान करके सुखी हो तथा औरों को भी सुखी करो । (ओम्) यह परमेश्वर का नाम है जैसे पिता और पुत्र का प्रिय संबंध है वैसे ही परमेश्वर के साथ । (ओम्) ओंकार का संबंध है तथा अच्छे कामों के विना किसी की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती इस लिये सब मनुष्यों को सर्वथा अधर्म छोड़ कर धर्मकामों का ही सेवन करना योग्य है जिससे संसार में निश्चय करके अविद्यारूपी अन्धकार निवृत्त होकर विद्यारूपी सूर्य्य प्रकाशित हो, बारहवें मंत्र से जिस यज्ञ का प्रकाश किया था उसके अनुष्ठान से सब मनुष्यों की प्रतिष्ठा वा सुख होते हैं यह इस में प्रकाशित किया है ॥ १३ ॥

एषा त इत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता सर्वस्य । पूर्वोऽनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

अग्ने वाजजिदित्यत्र निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ।

अग्निना यज्ञे कथमुपकारो ग्राह्य इत्युपदिश्यते ।

यज्ञ में अग्नि से कैसे उपकार लेना चाहिये सो अगले मंत्र में प्रकाश किया है ।

एषा ते अग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व । वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि । अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवांसं वाजजितं संमार्ज्मि ॥ १४ ॥

एषा । ते । अग्ने । समिदिति सम्ऽइत् । तया । वर्धस्व । च । आ । च । प्यायस्व । वर्धिषीमहि । च । वयम् । आ । च । प्यासिषीमहि । अग्ने । वाजजिदिति वाजऽजित् । वाजम् । त्वा । ससृवांसमिति ससृवांसम् । वाजजितमिति वाजऽजितम् । सम् । मार्ज्मि ॥ १४ ॥

पदार्थः—(एषा) प्रदीप्तिहेतुः । (ते) तव तस्य वा । (अग्ने) परमेश्वर भौतिको वा । (समित्) समिध्यते दीप्यतेऽनया सा विद्या काष्ठादिर्वा । (तया) विद्यया समिधा वा (वर्धस्व) वर्धते वा । सर्वत्रान्यपक्षे व्यत्ययो लडर्थे लोट् च (च) समुच्चये । (आ) क्रियायोगे । (च) पुनरर्थे । (प्यायस्व) प्यायते वा (वर्धिषीमहि) स्पष्टार्थम् । (च) समुच्चये । (वयं) विद्यावन्तो धार्मिकाः । (आ) समन्तात् क्रियायोगे (च) अन्वाचये । (प्यासिषीमहि) अत्र प्यैङ्धातोः । सिब्बहुलं छन्दसि । अ० ३ । १ । ३४ ; अनेन वार्तिकेन सिप्प्रत्ययः । (अग्ने) ज्ञानस्वरूपविजयप्रदेश्वर भौतिको वा । (वाजजित्) वाजं सर्वस्य वेगं जयति स ईश्वरः । वाजं जयति येन वा स भौतिकः । (वाजम्) ज्ञानवन्तं वेगवन्तं वा (त्वा) त्वां तं वा (ससृवांसम्) सर्वं ज्ञानवन्तं शिल्पविद्यागुणप्रापयन्तं वा । (वाजजितम्) यो येन वा वाजं संग्रामं जयति तम् । (सम्) सम्यगर्थे । (मार्ज्मि) शुद्धो भवामि शोधयामि वा । अयं मंत्रः । श० १।६।४।३—७ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर ते तव यैषा समित् वेदविद्यास्ति तयास्माभिः स्तुतः सँस्त्वं वर्धस्व चास्मान् नित्यं वर्धय । हे भगवन्नेवं भवद्विदितगुणैरस्माभिः प्रकाशितः सँस्त्वं प्यायस्व चास्मान् नित्यं प्यायय हे भगवन्नग्ने वाजजितं वाजं ससृवांसं त्वां वयं वर्धिषीमहि । कृपया भवान् चास्मानपि वाजजितः ससृवांसो वाजान् करोतु यथा वयं भवन्तमाप्यासिषीमहि तथैव भवांश्चास्मान् सर्वैः शुभगुणैराप्यायताम् । अहं भवन्तमाश्रित्य समार्जिम भवदाज्ञानुष्ठानेन शुद्धो भवामीत्येकः । यैषा तेऽस्याग्नेर्वर्धिका समिदस्ति तया चायं वर्धते आप्यायते च वयं तं वाजं ससृवांसं वाजजितमग्निं विद्यावृद्धये वर्धिषीमहि । आप्यासिषीमहि च यतोऽयं शिल्पविद्यासिद्धैर्विमानादिभिर्यानैर्वाजान् ससृवांसो वाजजितोऽस्मान् विजयेन वर्धयति तमहं संमार्ज्मीति द्वितीयः ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । क्रियाद्वयं चात्रार्थ विज्ञेयम् । ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञापालने क्रियाकौशले च वर्धन्ते ते विद्याभिः सर्वानानन्दयित्वा दुष्टान् शत्रून् जित्वा शुद्धा भूत्वा सुखयन्ति नेतरेऽलसाः । चकारचतुष्टयेनेश्वराज्ञा धर्म्या सूक्ष्मस्थूलतयाऽनेकविधास्ति तथा क्रियाकाण्डे कर्तव्यानि कर्माण्यनेकानि सन्तीति विज्ञेयम् त्रयोदशमंत्रेण या वेदविद्या प्रतिपादितास्ति तया सुखार्थं यज्ञसंधानमुक्तमनेनैतयैवं पुरुषार्थः कार्य इति प्रकाशितम् ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर । (ते) आपकी जो (एषा) यह (समित्) अच्छी प्रकार पदार्थों के गुणों की प्रकाश करनेवाली वेदविद्या है । (तया) उससे हम लोगों की की हुई स्तुति को प्राप्त होकर आप नित्य । (वर्धस्व) हमारे ज्ञान में वृद्धि को प्राप्त हूजिये और । (तथा) उस वेद विद्या से हम लोगों की भी नित्य वृद्धि कीजिये इसी प्रकार हे भगवन् आप के गुणों को जाननेहारे हम लोगों से । (च) भी प्रकाशित होकर आप । (प्यायस्व) हमारे आत्माओं में वृद्धि को प्राप्त हूजिये इसी प्रकार हमको भी बढ़ाइये । हे भगवन् । (अग्ने) विज्ञानस्वरूप विजय देने और । (वाजजित्) सब के

वेग को जीतने वाले परमेश्वर हमलोग । (वाजम्) जोकि ज्ञानस्वरूप । (ससृवांसम्) अर्थात् सब को जाननेवाले । (त्वा) आपकी । (वर्धिषीमहि) स्तुतियों से वृद्धि तथा प्राप्ति करें । (च) और आप कृपा करके हम को भी सब के वेग के जीतने तथा ज्ञानवान् अर्थात् सब के मन के व्यवहारों को जाननेवाले कीजिये । और जैसे हम लोग आप की । (आप्यासिषीमहि) अधिक२ स्तुति करें वैसेही आप भी हम लोगों को सब उत्तम२ गुण और सुखों से (आप्यायस्व) वृद्धियुक्त कीजिये । हम आप के आश्रय को प्राप्त होकर तथा आपकी आज्ञा के पालने से । (समार्जिम) अच्छी प्रकार शुद्ध होते हैं ॥ १ ॥ जो । (एषा) यह । (अग्ने) भौतिक अग्नि है । (ते) उसकी । (समित्) बढ़ाने अर्थात् अच्छी प्रकार प्रदीप्त करनेवाली लकड़ियों का समूह है । (तया) उससे यह अग्नि । (वर्धस्व) बढ़ता और । (आप्यायस्व) परिपूर्ण भी होता है । हमलोग (त्वा) उस । (वाजम्) वेग और । (ससृवांसम्) शिल्पविद्या के गुणों को देने तथा । (वाजजितम्) संग्राम के जिताने के साधन अग्नि को विद्या की वृद्धि के लिये । (वर्धिषीमहि) बढ़ाते हैं । (च) और । (आप्यासिषीमहि) कलाओं में परिपूर्ण भी करते हैं जिससे यह शिल्पविद्या से सिद्ध किये हुए विमान आदि यानों तथा वेगवाले शिल्पविद्या के गुणों की प्राप्ति से संग्राम को जिताने वाले हम को विजय के साथ बढ़ाता है इससे । (त्वा) उस अग्नि को हम । (समार्जिम) अच्छी प्रकार प्रयोग करते हैं ॥ २ ॥ १४ ॥

भावार्थः--- इस मंत्र में श्लेषालंकार है । और एक २ अर्थ के दो२ क्रियापद आदर के लिये जानने चाहियें जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा के पालने और क्रिया की कुशलता से उन्नति को प्राप्त होते हैं वे विद्या और सुख में सब को आनन्दित कर और दुष्ट शत्रुओं को जीतकर शुद्ध होके सुखी होते हैं जो आलस्य करनेवाले हैं वे ऐसे कभी नहीं हो सकते । और चार चकारों से ईश्वर की धर्मयुक्त आज्ञा सूक्ष्म वा स्थूलता से अनेक प्रकार की और क्रियाकाण्ड में करने योग्य कार्य्य भी

अनेक प्रकारके हैं ऐसा समझना चाहिये । जो तेरहवें मंत्र में वेदविद्या कही है उस से सुख के लिये यज्ञका संधान तथा पुरुषार्थ करना चाहिये ऐसा इस मंत्र में प्रतिपादन किया है ।

अग्नीषोमयोरित्यस्य ऋषिः स एव । अग्नीषोमौ देवते । पूर्वार्द्धे ब्राह्मी बृहतीछन्दः । मध्यमः स्वरः । उत्तरार्द्धे इन्द्राग्नी देवते । अतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ।

अथ तेन किं किं दूरीकर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ।

अब उस यज्ञ से क्या २ दूर करना चाहिये यह विषय अगले मंत्र में प्रकाशित किया है ।

अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि अग्नीषोमौ तमपनुदतां यो-ऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवे-नापोहामि ॥ इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेष वाजस्य माप्रसवेन प्रोहामि इन्द्राग्नी तमपनु-दतां योऽस्मान्द्वेष्टि यंचं वयं द्विष्मो वाजस्यै-नं प्रसवेनापोहामि ॥ १५ ॥

अग्नीषोमयोः । उज्जितिमित्युत्ऽजितिम् । अनु । उत् । जेषम् । वाजस्य । मा । प्रसवेनेति प्रऽसवेन । प्रऽऊहामि । अग्नीषोमौ । तम् । अप । नुदताम् । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः । वाजस्य । एनम् । प्रसवेनेति प्रऽसवेन । अप । ऊहामि । इन्द्राग्न्योः । उज्जितिम् । अनु । उत् । जेषम् । वाज-स्य । मा । प्रसवेनेति प्रऽसवेन । प्रऽऊहामि । इन्द्राग्नी इति-

न्द्राग्नी । तम् । अप । नुदताम् । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः । वाजस्य । एनम् । प्रसवेनेति प्रऽसवेन । अप । ऊहामि ॥ १५ ॥

पदार्थः—(अग्नीषोमयोः) अग्निश्च सोमश्च तयोः प्रसिद्धाग्निचन्द्रलोकयोः । अत्र । ईदग्नेः सोमवरुणयोः । अ० ६ । ३ । २७ । अनेन देवताद्वन्द्वसमासेऽग्नेरीकारादेशः (उज्जितिम्) जयत्यनया सा जितिरुत्कृष्टा चासौ जितिश्च तामुत्कृष्टं विजयम् । (अनु) पश्चाद्भावे । (उत्) उत्कृष्टार्थे (जेषम्) अत्र लिङर्थे लुङडभावो वृद्ध्यभावश्च । जयं कुर्याम् । (वाजस्य) युद्धस्य । (मा) मां विजेतारम् । (प्रसवेन) उत्पादनेन प्रकृष्टैश्वर्येण सह वा । (प्रोहामि) प्रकृष्टतया विविधशुद्धतर्केण योजयामि । (अग्नीषोमौ) विद्यया सम्यक् प्रयोजितौ । (तम्) शत्रु रोगं वा । (अप) दूरीकरणे । (नुदताम्) प्रेरयतः । अत्र लडर्थे लोट् । (यः)अन्यायकारी । (अस्मान्) न्यायकारिणः । (द्वेष्टि) शत्रूयति (यम्) अन्यायकारिणम् । (च) समुच्चये । (वयम्) न्यायाधीशाः । (द्विष्मः) विरुध्यामः । (वाजस्य) यानवेगादियुक्तस्य सैन्यस्य । (एनम्) पूर्वोक्तं दुष्टम् । (प्रसवेन) प्रकृष्टया युद्धविद्याप्रेरणेन । (अप) दूरीकरणे । (ऊहामि) विविधतर्केण क्षिपामि । (इन्द्राग्न्योः) इन्द्रो वायुरग्निर्विद्युत्तयोः । (उज्जितिम्) विद्यया सम्यगुत्कर्षम् । (अनूज्जेषम्) अनुगतमुत्कर्षं प्राप्नुयाम् अभ्यासिद्धिः पूर्ववत् । (वाजस्य) प्रेरणाप्रेरणवेगप्राप्तेः । (मा) माम् । वायुविद्युद्विद्याप्राप्तम् । (प्रसवेन) ऐश्वर्यार्थमुत्पादितेन । (प्रोहामि) प्रकृष्टैर्विविधैस्तर्कैः सुखानि प्राप्नोति । इन्द्राग्नी) पूर्वोक्तौ सम्यक्साधितौ । (तम्) द्वेषस्वभावम् । (अप) निषेधार्थे । (नुदताम्) प्रेरयतः अत्र लडर्थे लोट् । (यः) अविद्वान् । (अस्मान्) विदुषः । (द्वेष्टि) अप्रीतयति । (यम्) दुष्टस्वभावम् । (च) समुच्चयार्थे । (वयम्) विद्वांसः (द्विष्मः) अप्रीतयामः । (वाजस्य) विज्ञानस्य । (एनम्) मूर्खम् । (प्रसवेन) उत्पादनेन (अप) वर्जने । (ऊहामि)

[illegible]विधां शिक्षां करोमि । अयं मंत्रः । श० १ । ७ । १ । १—६ व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः—अहमग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषमहं वाजस्य प्रसवेन मा मां प्रोहामि मया सम्यक्साधितावग्नीषोमौ योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमपनुदतः । अहमेनं वाजस्य प्रसवेनापोहामि । अहमिन्द्राग्न्यो रुज्जितिमनूज्जेषमहं वाजस्य प्रसवेन मा मां नित्यं प्रोहामि । अस्माभिः सम्यक् साधिताविन्द्राग्नी योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमपनुदतः । अहं वाजस्य प्रसवेनैनमपोहामि ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति सर्वैर्मनुष्यैरिह विद्यायुक्त्याऽग्निजलयोर्मेलनेन कलाकौशलाद्वेगादिगुणानां प्रकाशेन तथा वायुविद्युतोर्विद्ययाऽ सर्वदारिद्र्यनाशेन शत्रूणां विजयेन सुशिक्षयामनुष्याणां महत्वं दुर्गोकृत्य विद्वत्वं प्रापय्य च विविधानि सुखानि प्राप्तव्यानि प्रापयितव्यानि चैवं सम्यक् सर्वाः पदार्थविद्या जगति प्रकाशनीयाः । पूर्वेण मंत्रेण यत्कार्य्यं प्रकाशितं तदनेन पोषितम् ॥ १९ ॥

पदार्थः—मैं (अग्नीषोमयोः) । प्रसिद्ध भौतिक अग्नि और चन्द्रलोक के । (उज्जितिम्) दुःखसे सहने योग्य शत्रुओं को । (अनूज्जेषम्) यथा क्रम से जीतूं और । (वाजस्य) युद्ध के । (प्रसवेन) उत्पादनमें विजय करने वाले । (मा) अपने आपको । (प्रोहामि) अच्छी प्रकार शुद्ध तर्कों से युक्त करूं । जो मुझ से अच्छी प्रकार विद्यासे क्रिया कुशलता में युक्त किये हुए । (अग्नीषोमौ) उक्त अग्नि और चन्द्रलोक हैं वे । (यः) जोकि अन्याय में वर्त्तनेवाला दुष्ट मनुष्य । (अस्मान्) न्याय करने वाले हम लोगों को । (द्वेष्टि) शत्रुभाव से वर्त्तता है । (यंच) और जिस अन्याय करने वाले से । (वयम्) न्यायाधीश हम लोग । (द्विष्मः) विरोध करते हैं । (तम्) उस शत्रु वा रोग को । (अपनुदताम्) दूर करते हैं और मैं भी (एनम्) इस दुष्ट शत्रु को । (वाजस्य) यानवेगादि गुणों से युक्त सेनावाले संग्राम की । (प्रसवेन) अच्छी प्रकार प्रेरणा से । (अपोहामि) दूर करता हूं । मैं । (इन्द्राग्न्योः) वायु और विद्युत्रूप अग्नि की । (उज्जितिम्) विद्या से अच्छी प्रकार उत्कर्ष को । (अनूज्जेषम्) अनुक्रम से प्राप्त होऊं । और मैं (वाजस्य) ज्ञान की प्रेरणा के द्वारा वेगकी प्राप्ति के । (प्रसवेन) ऐश्वर्य के अर्थ उत्पादन से वायु और बिजुली की विद्या के जाननेवाले । (मां) अपने आपको नित्य । (प्रोहामि) अच्छी प्रकार

तर्कों से सुखों को प्राप्त होताहूं और मुझ से जो अच्छे प्रकार सिद्ध किये हुए। (इन्द्राग्नी) वायु और विद्युत् अग्नि है वह। (यः) जो मूर्ख मनुष्य। (अस्मान्) हम विद्वान् लोगों से। (द्वेष्टि) अप्रीति से वर्त्तता है। (च) और। (यं) जिस मूर्ख से। (वयम) हम विद्वान् लोग। (द्विष्मः) अप्रीति से वर्त्तते हैं। (तं) उस वैर करने वाले मूढ़को। (अपनुदताम्) दूर करते है। तथा मैंभी। (एनम्) इसे। (वाजस्य) विज्ञान के। (प्रसवेन) प्रकाश से। (अपोहामि) अच्छी २ शिक्षा दे कर शुद्ध करता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थः-ईश्वर उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को विद्या और युक्तियों से अग्नि और जल के मेल से कलाओं की कुशलता करके वेगादि गुणों के प्रकाश से तथा वायु और विद्युत् अग्नि की विद्या से सब दरिद्र के विनाश और शत्रुओं के पराजय से श्रेष्ठ शिक्षा देकर अज्ञान को दूर कर और उन मूढ मनुष्यों को विद्वान् करके अनेक प्रकार के सुख इस संसार में सिद्ध करने योग्य और औरों को सिद्ध कराने के योग्य हैं इस प्रकार अच्छे प्रयत्न से सब पदार्थ विद्या संसार में प्रकाशित करनी योग्य हैं पूर्व मंत्र में जो कार्य प्रकाश किया उसकी पुष्टि इस मंत्र में की है ॥ १५ ॥

वसुभ्यस्त्वेति मन्त्रस्य ऋषिः स एव। पूर्वार्द्धे द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ च देवताः। निचृदार्षी पंक्तिश्छन्दः। पंचमः स्वरः। व्यन्तुवय इत्यारभ्यान्त्यपर्यन्तस्याग्नि र्देवता। विराट् त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः।

तस्मात् किं भवतीत्युपदिश्यते।

उक्त यज्ञ से क्या होता है सो अगले मंत्र में उपदेश किया है ॥

वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम् ॥ व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पा अग्नेसि चक्षुर्मे पाहि ॥ १६ ॥

वसुभ्य इति वसुऽभ्यः । त्वा । रुद्रेभ्यः । त्वा । आदित्येभ्यः । त्वा । सम् । जानाथाम् । द्यावापृथिवी इति द्यावाऽपृथिवी । मित्रावरुणौ । त्वा । वृष्ट्या । अवताम् व्यन्तु । वयः । अक्तम् । रिहाणाः । मरुताम् । पृषतीः । गच्छ । वशा । पृश्निः । भूत्वा । दिवम् । गच्छ । ततः । नः । वृष्टिम् । आ । वह । चक्षुष्पाः । अग्ने । असि । चक्षुः । मे । पाहि ॥ १६ ॥

पदार्थः—(वसुभ्यः) अग्न्यादिभ्योऽष्टभ्यः । (त्वा) तं पूर्वोक्तं यज्ञम् । (रुद्रेभ्यः) पूर्वोक्तेभ्य एकादशभ्यः । (त्वा) तं (आदित्येभ्यः) द्वादशभ्यो मासेभ्यः । (त्वा) तं क्रियासमूहम् । (सम्) सम्यगर्थे । (जानाथाम्) जानीतः प्रादुर्भूतविद्यासाधिके भवतः अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (द्यावापृथिवी) सूर्यप्रकाशो भूमिश्च । अत्र दिवो द्यावेति द्यावादेशः (मित्रावरुणौ) यः सर्वप्राणो बहिःस्थो वायुर्वरुणोऽन्तस्थ उदानो वायुश्च तौ । (त्वा) तमिमं संसारम् । (वृष्ट्या) शुद्धजलवर्षणेन । (अवताम्) रक्षतः । (व्यन्तु) व्यन्ति प्राप्नुवन्ति । अत्र सर्वत्र लडर्थे लोट् । (वयः) पक्षिण इव गायत्र्यादीनि छन्दांसि । (अक्तम्) प्रकटं वस्तु सुखं वा (रिहाणाः) अर्चकाः । रिहतीत्यर्चतिकर्मसु पठितम् । निघं० ३ । १४ । (मरुताम्) वायूनाम् । (पृषतीः) पृषन्ति सिंचन्ति याभिर्नाडीभिर्नदीभिर्यास्ताः । (गच्छ) गच्छति । (वशा) कामिताहुतिः । (पृश्निः) अन्तरिक्षस्था । पृश्निरिति साधारणनामसु पठितम् । निघं० १ । ४ । (भूत्वा) भावयित्वा । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः (दिवम्) सूर्यप्रकाशम् । (गच्छ) गच्छति । (ततः) तस्मात् (नः) अस्माकम् (वृष्टिम्) जलसमूहम् । (आ) समन्ताम् क्रियायोगे । (वह) वहति प्रापयति । (चक्षुष्पाः) चक्षुर्दर्शनं रक्षतीति सः । (अग्ने) अग्निर्भौतिकः । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (चक्षुः) बाह्यमाभ्यन्तरं विज्ञानं

तत्साधनं वा । (मे) मम (पाहि) पाति रक्षति । अयं मंत्रः । श० १ । ७ । १ । ७—१६ व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः—वयं वसुभ्यस्त्वा तं रुद्रेभ्यस्त्वा तमादित्येभ्यस्त्वा तं नित्यं प्रोहामः । यज्ञेनेमे द्यावापृथिवी संजानाथाम् । मित्रावरुणौ वृष्ट्या त्वा तमिमं संसारं द्यावापृथिवीस्थमवतामवतः । यथा वयः पक्षिणोऽक्तं व्यक्तं स्थानं व्यन्तु व्यन्ति गच्छन्ति तथा रिहाणा वयं छन्दोभिस्तं यज्ञं नित्यमनुतिष्ठामः । यज्ञे कृताहुतिर्वेशा पृश्निरन्तरिक्षे भूत्वा मरुतां संगेन दिवं गच्छ गच्छति सा ततो नोऽस्माकं वृष्टिमावह समन्ताद्वर्षयति तज्जलं पृषतीर्नाडीर्नद्यो वा गच्छति यतोऽयमग्निश्चक्षुष्पा असत्यस्त्यतो मे मम चक्षुः पाहि पाति ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालंकारः । प्रोहामि । अपोहामीति पदद्वयानुवृत्तिश्च । मनुष्यैरग्नौ याऽऽहुतिः क्रियते सा वायोः संगेन मेघमंडलं गत्वा सूर्याकर्षितजलं शुद्धं भावयित्वा पुनस्तस्मात्पृथिवीमागत्यौषधीः पुष्णाति । सा वेदमंत्रैरेव कर्त्तव्या यतस्तस्याः फलज्ञानं नित्यं श्रद्धोत्पद्येत । अयमग्निः सूर्यरूपो भूत्वा सर्वं प्रकाशयत्यतो वृष्टिव्यवहारस्य पालनं जायते । एतेभ्यो वस्वादिभ्यो विद्योपकारेण दुष्टानां गुणानां प्राणिनां चापोहनं निवारणं नित्यं कर्त्तव्यम् । इदमेव सर्वेषां पूजनं सत्करणं चेति । यत्पूर्वेण मंत्रेणोक्तं तदनेन विशिष्टतया प्रकाशितमिति ॥ १६ ॥

पदार्थः—हमलोग । (वसुभ्यः) अग्नि आदि आठ वसुओं से । (त्वा) उस यज्ञ को । तथा (रुद्रेभ्यः) पूर्वोक्त एकादश रुद्रों से । (त्वा) पूर्वोक्त यज्ञ को और । (आदित्येभ्यः) बारह महीनों से । (त्वा) उस क्रियासमूह को नित्य उत्तम तर्कों से जानें और यज्ञ से ये (द्यावापृथिवी) सूर्य्य का प्रकाश और भूमि । (संजानाथाम्) जो उन में शिल्पविद्या उत्पन्न हो सके उन के सिद्ध करने वाले हों और ।

(मित्रावरुणौ) जो सब जीवोंका बाहिरके प्राण और जीवोंके शरीरमें रहनेवाला उदान-वायु है वे । (वृष्ट्या) शुद्ध जलकी वर्षासे । (त्वा) जो संसार सूर्य्यके प्रकाश और भूमिमें स्थित है उसकी । (अवताम्) रक्षा करते हैं (वयः) जैसे पक्षी अपने ठिकानोंको रचते और (व्यन्तु) प्राप्त होते हैं वैसे उन छन्दोंसे (रिहाणाः) पूजन करने वाले हमलोग । (त्वा) उस यज्ञका अनुष्ठान करते हैं और जो यज्ञ में हवन की आहुति । (पृश्निः) अन्तरिक्षमें स्थिर और (वशा) शोभित । (भूत्वा) होकर । (मरुताम्) पवनोंके संगसे । (दिवं) सूर्य्यके प्रकाशको । (गच्छ) प्राप्त होती है वह । (ततः) वहां से । (नः) हमलोगों के सुख के लिये । (वृष्टिम्) वर्षाको । (आवह) अच्छे प्रकार वर्षाती है उस वर्षाका जल । (पृषतीः) नाड़ी और नदियोंको प्राप्त होता है । जिस कारण यह अग्नि । (चक्षुष्पाः) नेत्रों की रक्षा करनेवाला । (अग्नि) है । इससे (मे) हमारे (चक्षुः) नेत्रों के बाहिरले भीतरले विज्ञानकी । (पाहि) रक्षा करता है ॥

भावार्थः— इस मंत्रमें लुप्तोपमालंकार है । मनुष्यलोग यज्ञमें जो आहुति देते हैं वह वायुके साथ मेघमंडल में जाकर सूर्य्य से खिंच हुए जलको शुद्ध करती है. फिर वहांसे वह जल पृथिवीमें आकर ओषधियोंको पुष्ट करता है वह उक्त आहुति वेदमन्त्रोंसेही करनी चाहिये क्योंकि उसके फलको जाननेमें नित्य श्रद्धा उत्पन्न होवे जो यह अग्नि सूर्य्यरूप होकर सबको प्रकाशित करता है इसी से सब दृष्टिव्यवहार की पालना होती है ये जो वसुआदि देव कहाते हैं इनसे विद्याके उपकारपूर्वक दुष्ट गुण और दुष्ट प्राणियों को नित्य निवारण करना चाहिये यही सबका पूजन अर्थात् सत्कार है जो पूर्व मंत्रमें कहाथा उसका इस से विशेषता करके प्रकाश किया है ॥ १६ ॥

यं परिधिमित्यस्य ऋषिर्देवलः । अग्निर्देवता ।

जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

सोऽग्निः कीदृश इत्युपदिश्यते ।

उक्त अग्नि कैसा है सो अगले मंत्रमें प्रकाश किया है ।

यं परिधिं पर्य्यधत्था अग्ने देवपणिभिर्गुह्य-

मांनः ॥ तन्त॑ए॒तमनु॒जोषं॑ भराम्ये॒ष मेत्वदपचे॒तयांता अ॒ग्नेः प्रि॒यं पाथोऽपी॑तम् ॥ १७ ॥

यम् । परिधिम् । परि । अधत्थाः । अग्ने । देवऽपणिभिः । गुह्यमानः । तम् । ते । एतम् । अनु । जोषम् । भरामि । एषः । मा । इत् । त्वत् । अप । चेतयातै । अग्नेः । प्रियम् । पाथः । अपीतम् ॥ १७ ॥

पदार्थः— (यम्) एतद्गुणविशिष्टम् । (परिधिम्) परितः सर्वतो धीयते यस्तं तम् । (पर्य्यधत्थाः) सर्वतो दधासि दधाति वा अत्र लडर्थे लङ् पक्षे व्यत्ययश्च । (अग्ने) सर्वत्र व्यापकेश्वर भौतिको वा । (देवपणिभिः) देवानां दिव्यगुणवतामग्निपृथिव्यादीनां विदुषां वा पणयो व्यवहाराः स्तुतयश्च ताभिः । (गुह्यमानः) सम्यक् स्त्रियमाणः । (तम्) परिधिम् । (ते) तव । (एतम्) यथोक्तम् । (अनु) पश्चादर्थे । अन्विति सादृश्यापरभावं प्राह । निरु० १ । ३ । (जोषम्) जुष्यते प्रीत्या सेव्यते तम् । (भरामि) धारयामि । (एषः) परिधिरहं वा । (मा) निषेधे । (इत्) एव । (त्वत्) अन्तर्यामिनो जगदीश्वरात्तस्मादग्नेर्वा । (अप) दूरार्थे । (चेतयातै) चेतयत् । चिती संज्ञाने इति एयन्तस्य लेटः प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगोऽयम् । (अग्नेः) जगदीश्वरस्य भौतिकस्य वा । (प्रियम्) प्रीतिजनकम् । (पाथः) पाति शरीरमात्मानं च येन तदन्नम् । अन्न च । उ० ४ । २१९ । अनेन पातेरन्नेऽसुन्प्रत्ययः थुडागमश्च । (अपीतम्) अपि संयोगे । अपीति संसर्गं प्राह । निरु० १ । ३ । इतं प्राप्तम् । अयं मंत्रः श० १ । ७ । ४ । २२ व्याख्यातः ॥

अन्वयः— हे अग्ने जगदीश्वर एष देवपणिभिर्गुह्यमानस्त्वं यमेतं जोषं परिधिं पर्य्यधत्थाः सर्वतो दधासि तमित् त्वामहमनुभरामि । अहं त्वां माऽपचेतयातै कदाचिद्विरुद्धो मा भवेयम् । मया तवाग्नेः सृष्टौ यत् प्रियं पाथोऽपीतं तस्मादहं मा कदाचिदपचेतयातै । इत्येकः । हे जगदीश्वर

ते तव सृष्टौ योऽयं देवपणिभिर्गुह्यमान एषो ऽग्निर्यं परिधिं जोषं पर्य्यधत्थाः सर्वतो दधाति तमित्त्वमहमनुभरामि तस्मात्कदाचिन्माऽपचेतयातै यया यदस्याग्नेः प्रियं पाथोऽपीतं तदहं जोषं नित्यमनुभरामीति द्वितीयः ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः। सर्वैर्मनुष्यैः प्रतिवस्तुषुव्यापकत्वेन धारको विद्वद्भिः स्तोतव्यः संप्रीत्या नित्यमनुसेवनीयः। यतस्तदाज्ञापालनेन प्रियं सुखं प्राप्नुयुः। सोऽयमीश्वरेण प्रकाशदाहत्वगुणादिसहितो मूर्त्तद्रव्यानुगतोऽग्नी रचितस्तस्मान्मनुष्यैः कलाकौशलादिषु प्रयोजितादग्नेर्व्यवहाराः संसाधनीयाः। यतः सुखानि सिध्येयुः। यत्पूर्वेण मंत्रेण वृष्ट्यादिसाधकत्वमुक्तं तस्यानेन व्यापकत्वं प्रकाशितमिति संगतिः॥ १७॥

पदार्थः— । हे (अग्ने) सर्वत्र व्यापक ईश्वर आप। (देवपणिभिः) दिव्य-गुणवाले विद्वानों की स्तुतियों से (गुह्यमानः) अच्छी प्रकार अपने गुणोंके वर्णनको प्राप्त होते हुए। (यम्) उन गुणोंके अनुकूल। (जोषम्) प्रीतिसे सेवन के योग्य। (परिधिम्) प्रभुताको। (पर्य्यधत्थाः) निरन्तर धारण करते है। (तम्) आपकी उसको। (इत) ही। (एषः) मैं ((अनुभरामि) अपने हृदय में धारण करता हूं। तथा मैं। (त्वत्) आपसे। (मा) (अपचेतयातै) कभी प्रतिकूल न होऊं और (अग्ने) हे जगदीश्वर आप की सृष्टि में जो मैंने। (प्रियम्) प्रीति बढ़ाने और। (पाथः) शरीरकी रक्षा करनेवाला अन्न। (अपीतम्) पाया है उससे भी कभी। (मा) (अपचेतयातै) प्रतिकूल न होऊं॥ १॥ हे जगदीश्वर। (ते) आपकी सृष्टि में। (एषः) यह। (अग्नि) भौतिक अग्नि। (देवपणिभिः) दिव्य गुणवाले पृथिव्यादि पदार्थोंके व्यवहारोंसे (गुह्यमानः) अच्छी प्रकार स्वीकार किया हुआ। (यम्) जिस। (परिधिम्) विद्यादि गुणों से धारण (जोषम्) और प्रीति करने योग्य कर्म को। (पर्य्यधत्थाः) सब प्रकार से धारण करता है। (तमित्) उसी को मैं। (अनुभरामि) उसके पीछे स्वीकार करता हूं और उस से कभी। (मा) (अपचेतयातै) प्रतिकूल नहीं होता हूं तथा मैंने जो। (अग्नेः) इस अग्नि के संबंध से। (प्रियम्) प्रीति देने। और (पाथः) शरीर की रक्षा करनेवाला अन्न। (अपीतम्) ग्रहण किया है उसको मैं। (जोषम्) अत्यंत प्रीतिके साथ नित्य। (अनुभरामि) क्रम से पाता हूं॥ २॥ १७॥

भावार्थः— । इस मंत्र में श्लेषालंकार । तथा पहिले अन्वय में अग्निशब्द से जगदीश्वर का ग्रहण और दूसरे में भौतिक अग्नि का है । जो प्रतिवस्तु में व्यापक होने से सब पदार्थों का धारण करनेवाला और विद्वानों के स्तुति करने योग्य ईश्वर है उसकी सब मनुष्यों को प्रीति के साथ नित्य सेवा करनी चाहिये जो मनुष्य उसकी आज्ञा नित्य पालते हैं वे प्रिय सुखको प्राप्त होते हैं । तथा जो यह ईश्वर ने प्रकाश दाह और वेग आदि गुणवाला मूर्तिमान् पदार्थों का नाश होनेवाला अग्नि रचा है उस से भी मनुष्यों को क्रिया की कुशलता के द्वारा उत्तम२ व्यवहार सिद्ध करने चाहियें जिससे कि उत्तम उत्तम सुख सिद्ध होवें । जो पूर्व मंत्रमें वृष्टि आदि पदार्थों का साधक कहा है उसका इस मंत्र से व्यापकत्व प्रकाश किया है ॥ १७ ॥

संस्रवेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
स्वराट्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

। स यज्ञः कथं किमर्थञ्च कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते ।

वह यज्ञ कैसे और किस प्रयोजन के लिये करना चाहिये सो अगले मंत्रमें प्रकाशित किया है ।

स॒ꣳस्र॒वभा॑गा स्थे॒षा बृ॒हन्तः॑ प्रस्तरे॒ष्ठाः प॑रि॒धेया॑श्च दे॒वाः॥ इ॒मां वाच॑म॒भि विश्वे॑ गृ॒णन्त॑ आ॒सद्या॒स्मिन्ब॒र्हिषि॑ मादयध्व॒ꣳ स्वाहा॒ वाट्॥१८॥

स ꣳस्रवभागाः । स्थ । इषा । बृहन्तः । प्रस्तरेष्ठाः । परिधेयाः । च । देवाः । इमाम् । वाचम् । अभि । विश्वे गृणन्तः । आसद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् । स्वाहा । वाट् ॥ १८ ॥

पदार्थः— (संस्रवभागाः) सम्यक् स्रूयन्ते ये ते संस्रवाः । भज्यन्ते ये ते भागाः । संस्रवा भागाः येषां ते । (स्थ) भवत । (इषा) इष्यते ज्ञायते येन तदिद् ज्ञानम् । इषगताावित्यस्य क्विबन्तस्य रूपम् ।

कृतोबहुलमिति करणे क्विप् । (बृहन्तः) वर्धमाना वर्धयन्तश्च । (प्रस्तरेष्ठाः) शुभे न्यायविद्यासने तिष्ठन्ति ते । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । अ० ६। ३।१४। इति सप्तम्या अलुक् । (परिधेयाः) परितः सर्वतो धातुं धापयितुमर्हाः । (च) समुच्चयार्थे । (देवाः) विद्वांसो दिव्याः पदार्थावा । (इमाम्) प्रत्यक्षाम् । (वाचम्) वचन्ति वाचयन्ति सर्वा विद्या यया ताम् । प्रत्यक्षाणां वेदचतुष्टयीम् । वागिति पदनामसु पठितम् । निघं० ५।५। (अभि) अभीत्याभिमुख्यं प्राह निरु० १।३। (विश्वे) सर्वे । (गृणन्तः) स्तुवन्त उपदिशन्तो वा । (आसद्य) समंतात्विज्ञाय स्थित्वा वा । (अस्मिन्) प्रत्यक्षप्राप्ते । बर्हिषि) वृंहन्ते वर्धन्ते येन तद्बर्हिर्ज्ञानं प्राप्तं कर्मकाण्डं वा तस्मिन् । (मादयध्वम्) हर्षयध्वम् (स्वाहा) सुआहेत्यस्मिन्नर्थे । (वाट्) वहन्ति सुखानि यया क्रियया सा वाट् निपातोऽयम् । अयं मंत्रः श० १।७। १। २३—२६ व्याख्यातः ॥ १८ ॥

अन्वयः— हे बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेया देवा विद्वांसो यूयमिमां वाचमभिगृणन्त इषा संस्त्रवभागा स्थ भवत स्वाहावाडासाद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वमन्यानेतल्लक्षणान्मनुष्यान् कृत्वा हर्षयत चैनमस्मिन् बर्हिषि । इमां वाचमभि गृणाद्भिर्युष्माभिरिषा स्वाहावाडासाद्यप्रस्तरेष्ठा विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसःसदा परिधेयाः । तान् प्राप्य चास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ १८ ॥

भावार्थः— ईश्वर आज्ञापयति ये मनुष्या धार्मिकाः पुरुषार्थिनो वेद विद्याप्रचारे उत्तमे व्यवहारे च नित्यं वर्त्तन्ते तेषामेव बृहन्ति सुखानि भवन्ति । यौ पूर्वस्मिन् मंत्रेऽग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थावुक्तावनेन तयोः सकाशादीदृशा उपकारा ग्राह्या इत्युच्यते ॥ १८ ॥

पदार्थः— । हे । (बृहन्तः) वृद्धिको प्राप्त होने । (प्रस्तरेष्ठाः) उत्तम न्याय विद्यारूपी आसनमें स्थित होनेवाले । (परिधेयाः) सब प्रकार से धारणवती बुद्धियुक्त

और । (इमाम्) इस प्रत्यक्ष । (वाचम्) चार वेदोंकी वाणीका उपदेश करने वाले । (देवाः) विद्वानो तुम । (इषा) अपने ज्ञानसे । (संस्रवभागाः) घृतादि पदार्थोंके होममें छोड़नेवाले । (स्थ) हो तथा । (स्वाहा) अच्छे २ वचनों से । (वाट्) प्राप्त होने और सुख बढ़ानेवाली क्रियाको प्राप्त होकर । (अस्मिन्) प्रत्यक्ष । (बर्हिषि) ज्ञान और कर्म काण्डमें । (मादयध्वम्) आनन्दित हो वैसेही औरोंकोभी आनन्दित करो । इस प्रकार उक्त ज्ञानको कर्मकाण्डमें उक्त वेदवाणीकी प्रशंसा करते हुए तुम लोग अपने विचारसे उत्तम ज्ञानको प्राप्त होनेवाली क्रियाको प्राप्त होकर । (बृहन्तः) बढ़ने और । (प्रस्तरेष्ठाः) उत्तम कामोंमें स्थित होनेवाले । (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम २ पदार्थ । (परिधयः) धारण करने वा औरोंको धारण कराओ और उनकी सहायतामें उक्त ज्ञान वा कर्मकाण्डमें सदा । (मादयध्वम्) हर्षित होओ ॥

भावार्थः— ईश्वर आज्ञा देता है कि जो धार्मिक पुरुषार्थी वेद विद्याके प्रचार वा उत्तम व्यवहारमें वर्त्तमान हैं उन्हींको बड़े २ सुख होते हैं । जो पूर्व मंत्रमें ईश्वर और भौतिक अर्थ कहे हैं उनसे ऐसे २ उपकार लेना चाहिये सो इस मंत्र में कहा है ॥ १८ ॥

घृताचीस्थ इत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्वायुर्देवते । भुरिक् पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

। अथोक्तेन यज्ञेन किं भवतीत्युपदिश्यते ।

अब उक्त यज्ञसे क्या होता है सो अगले मंत्रमें प्रकाशित किया है ।

घृताची स्थो धुर्यौ पातᳪ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम् । यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे संतिष्ठस्व ॥ १९ ॥

घृताची इति घृताची । स्थः । धुर्य्यौ । पातम् । सुम्ने । स्थः । सुम्ने । मा । धत्तम् । यज्ञ । नमः । च । ते । उप । च । यज्ञस्य । शिवे । सम् । तिष्ठस्व । स्विष्ट इति सुऽइष्टे । मे । सम् । तिष्ठस्व ॥ १९ ॥

पदार्थः—(घृताची) घृतमुदकमंचत इति घृताची अग्निवाय्वोर्धारणाकर्षणक्रिये । अत्र पूर्वसवर्णादेशः । घृतमित्युदकनामसु पठितम् । निघं० १। १२। (स्थः) स्तः । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (धुर्यौ) धुरं यज्ञस्याग्रं मुख्याङ्गं वहतस्तौ । अत्र । धुरो यड्ढकौ । अ० ४।४।७८ । इति यत्प्रत्ययः । (पातम्) रक्षतः । (सुम्ने) सुखकारिके उक्ते क्रिये । सुम्नमिति सुखनामसु पठितम् । निघं० ३।६। (स्थः) भवतः । (सुम्ने) अत्युत्कृष्टे सुखे । (मा) मां यज्ञानुष्ठातारम् । (धत्तम्) धारयतः । यज्ञ इज्यते सर्वैर्जनैः स यज्ञ ईश्वरस्तत्सम्बद्धो। क्रियासाध्यो वा । अत्रान्त्ये पक्षे सुपां सुलुगिति सोर्लुक् । (नमः) नम्रीभावार्थे । (च) समुच्चये । (ते) तुभ्य तस्य वा (उप) । सामीप्ये क्रियायोगे । उपेत्युपजनं प्राह । निरु० १।३। (च) पश्चादर्थे । (यज्ञस्य) ज्ञानक्रियाभ्यामनुष्ठेयस्य । (शिवे) कल्याणसाधिके । सर्वनिघृष्व० उ० १।१५१। इत्ययं सिद्धः । (संतिष्ठस्व) संतिष्ठते । अत्र लडर्थे लोट् । (स्विष्टे) शोभनमिष्टं याभ्यां ते (मे) मम । (संतिष्ठस्व) सुष्ठुसाधने स्थिरो भव । संतिष्ठते वा । अयं मंत्रः श० १ । ७ । १ । २७ । व्याख्यातः ॥ १८ ॥

अन्वयः । यावग्निवायू यज्ञस्य धुर्यौ सुम्ने स्थो घृताची स्थः सर्वं जगत्पातं रक्षतस्तौ मया सम्यक् प्रयोजितौ सुम्ने सुखे मा मां धत्ते धारयतः । यज्ञो नमश्च ये यथा ते तव शिवे उपसंतिष्ठेते मे ममाप्येते तथैव संतिष्ठेताम् । तस्माद्यथाहं तस्य यज्ञस्यानुष्ठाने संतिष्ठे तथा त्वमप्यत्र संतिष्ठस्व । यथाऽहं यज्ञमनुष्ठाय सुखे संतिष्ठे तथा त्वमपि तत्र संतिष्ठस्व ॥ १९ ॥

भावार्थः । अत्र लुप्तोपमालंकारः । ईश्वरो ऽभिवदति हे मनुष्या यूयमेतयोरसच्छेदकधारकयोर्जगत्पालनहेत्वोः सुखकारिणोः क्रियाकांडस्य निमित्तयोरूर्ध्वतिर्य्यग्गमनशीलयोरग्निवाय्वोः सकाशात् कार्य्याणि साधित्वा सुखेषु

संस्थितिं कुरुत मदाज्ञापालनं मां च सततं नमस्कुरुत । पूर्वमंत्रोक्तैरुपकारैः परमं सुखं भवतीत्यनेनोक्तमिति ॥ १९ ॥

पदार्थः—जो अग्नि और वायु । (भुर्य्यौ) यज्ञ के मुख्य अंग को प्राप्त कराने वाले । (च) और । (मुम्ने) सुखरूप (स्थ) हैं तथा । (घृत ची) जल को प्राप्त करानेवाली क्रियाओं को करानेहारे । (स्थः) और सब जगत् को (पातं) पालते हैं वे मुझ से अच्छी प्रकार उत्तम २ क्रिया कुशलता में युक्त हुए (मा) मुझे यज्ञ करने वालों को । (सुम्ने) सुखमें । (धत्तम्) स्थापन करते हैं जैसे यह । (यज्ञ) जगदीश्वर । (च) और । (नमः) नम्र होना । (ते) तेरेलिये । (शिवे) कल्याण में । (उपसंतिष्ठस्व) समीपस्थित होते हैं । वे वैसेही । (मे) मेरेभी लिये स्थित होते हैं इस कारण जैसे मैं यज्ञ का अनुष्ठान करके । (मुझे) सुखमें स्थित होता हूं वैसे तुमभी उसमें । (संतिष्ठस्व) स्थित हो ॥ १९ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में लुप्तोपमालंकार है । ईश्वर कहता है कि हे मनुष्यो रस के परमाणु करने जगत् के पालन के निमित्त सुखकारक क्रियाकांड के हेतु और ऊपर को तथा टेढ़ा वा सूधे जानेवाले अग्नि वायु के गुणों से कार्य्यों को सिद्ध करो इस से तुमलोग सुखों में अच्छी प्रकार स्थिर हो तथा मेरी आज्ञा पालो और मुझको ही वार २ नमस्कार करो ॥ १९ ॥

अग्नेऽदब्धायो इत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निसरस्वत्यौ देवते ।
भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथ सोऽग्निः कीदृशः किमर्थः प्रार्थनीयश्चेत्युपदिश्यते ।
उक्त अग्नि कैसा और क्यों प्रार्थना करने योग्य है सो अगले मंत्र में प्रकाशित किया है ॥

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहिमा॑ दि॒द्योः पा॒हि प्रसि॑त्यै पा॒हि दुरि॑ष्ट्यै पा॒हि दु॑रद्म॒न्या अ॑वि॒षन्नः पि॒तुं कृ॑णु सु॒षदा॒ योनौ॒ स्वाहा॒ वाड॒ग्नये॑ संवे॒शप॑तये॒ स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै यशोभ॒गिन्यै॒ स्वाहा॑ ॥ २० ॥

अग्ने । अदब्धायो इत्यदब्धऽआयो । अशीतमेत्यशीऽतम ।

पाहि । मा । दिद्योः । पाहि । प्रसित्याइति प्रऽसित्यै । पाहि । दुरिष्ट्याइतिदुःऽइष्ट्यै । पाहि । दुरद्मन्याइतिदुःऽअद्मन्यै । अविषम् । नः । पितुम् । कृणु । सुषदा । सुसदेति सुऽसदा । योनौ । स्वाहा । वाट् । अग्नये । संवेशपतय इतिसंवेशऽपतये । स्वाहा । सरस्वत्यै । यशोभगिन्याइति यशःऽभगिन्यै । स्वाहा ॥ २० ॥

पदार्थः—(अग्ने) जगदीश्वर भौतिको वा । (अदब्धायो) अदब्धमहिंसितमायुर्यस्मात् तत्सम्बुद्धौ अदब्धायुर्वा । (अशीतम) अश्नुते व्याप्नोति चराचरं यज्ञं सोऽतिशयितस्तत्सम्बुद्धौ स वा । अन्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः । (पाहि) रक्ष पाति वा । (मा) माम् । (दिद्योः) अतिदुःखात् । दिवु धातोः । कुर्भ्रश्च । उ० । १ । २२ । इति चकारेण कुप्रत्ययो बाहुलकाद्वकारलोपश्च । (पाहि) रक्ष रक्षति वा । (प्रसित्यै) प्रकृष्टा चासौ सितिर्बन्धनं यस्यां तस्याः । अत्र पञ्चम्यर्थे चतुर्थी । (पाहि) पाति वा (दुरिष्ट्यै) दुष्टा इष्टिर्यजनं यस्यां तस्याः अत्रापि पंचम्यर्थे चतुर्थी । (पाहि) पाति वा । (दुरद्मन्यै) दुष्टा अद्मनी अदनक्रिया यस्यां तस्याः । अत्रापि पंचम्यर्थे चतुर्थी । (अविषम्) विषादिदोषरहितम् । (नः) अस्माकम् । (पितुम्) अन्नम् । पितुरित्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २ । ७ । (कृणु) कुरु करोति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे लडर्थे लोट् । (सुषदा) सुखेन सीदन्ति यस्यां तस्याम् । अत्र सुपां सुलुगिति ङेः स्थान आकारादेशः । (योनौ) युवन्ति यस्यां सा योनिर्गृह जन्मान्तरं वा तस्याम् । योनिरिति गृहनामसु पठितम् । निघं० ३ । ४ । (स्वाहा) सुआहानया सा । (वाट्) क्रियार्थे । (अग्नये) परमेश्वराय भौतिकाय वा । (संवेशपतये) सम्यक् विशन्ति ये ते पृथिव्यादयः पदार्थास्तेषां पतिः पालकस्तस्मै ।

(स्वाहा) सुष्ठु आहुतं करोति यस्यां सा । (सरस्वत्यै) सरन्ति जानन्ति येन तद् सरो ज्ञानं तत्प्रशस्तं विद्यते यस्यां वाचि तस्यै । सरस्वतीति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १ । ११ । (यशोभागिन्यै) यशांसि सत्यवचनादीनि कर्माणि भजितुं शीलं यस्यास्तस्यै । (स्वाहा) स्वकीयं पदार्थं प्रत्याह यस्यां क्रियायां सा अयं मंत्रः श० १ । ७ । ३ । १६-२० व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः—हे अदब्धायोऽशीतमग्ने जगदीश्वर त्वं यज्ञं दुरिष्ट्यै पाहि । मां दिद्योः प्रमादाद्दुःखात्पाहि । प्रसित्यै पाहि । दुरद्मन्यै पाहि , नोऽस्माकमविषं पितुं कृणु नोऽस्मान् सुषदायां योनौ स्वाहा वाक् सत्क्रियायां च कृणु वयं यशोभगिन्यै सरस्वत्यै स्वाहा संवेशपतयेऽग्नये तुभ्यं स्वाहा नमश्च नित्यं कुर्म इत्येकः ॥ हे जगदीश्वर योऽयं भवताऽदब्धायुरशीतमोग्निर्निर्मितः स यज्ञं दुरिष्ट्याः पाति । मां दिद्योः पाति प्रसित्याः पाति । दुरद्मन्याः पाति । नोऽस्माकमविषं पितुं करोति सुपदायां योनौ स्वाहा वाक् सत्क्रियायां च हेतुरस्ति वयं तस्मै संवेशपतयेऽग्नये स्वाहा यशोभागिन्यै सरस्वत्यै स्वाहा कुर्म इति द्वितीयः ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । मनुष्यैर्यः सर्वथा सर्वस्माद्दुःखाद्रक्षक उत्तमजन्मनिमित्तकर्मज्ञापक उत्तमभोगप्रदाता जगदीश्वरोऽस्ति स एव सदा सेवनीयः । तेन स्वसृष्टौ सूर्यविद्युत्प्रत्यक्षरूपेण योऽयमग्निः प्रकाशितः सोऽपि सम्यक् विद्योपकारे संयोजितः सन्सर्वथा रक्षणोत्तमभोगहेतुर्भवति । यया कीर्तिहेतुभूतया सत्यलक्षणया वेदरूपया वाचोत्तमानि जन्मानि सर्वपदार्थेभ्य उत्कृष्टा विविधा विद्याश्च प्रकाशिता भवति । सा सदैव स्वीकर्तव्या स्वीकारयितव्या चेति । अत्र नमो यज्ञ इति च पदद्वयं पूर्वस्मान्मंत्रादाकर्षितम् । पूर्वमंत्रोक्तानां मनुष्यैरनुष्ठितानां कर्मणां फलमनेनोक्तमिति वेद्यम् ॥ २० ॥

पदार्थः—हे (अदब्धायो) निर्विघ्न आयुदेनेवाले। (अग्ने) जगदीश्वर आप। (अशीतमम्) चराचर संसारमें व्यापक यज्ञको । (दुरिष्ट्यै) दुष्ट अर्थात् वेद विरुद्ध यज्ञसे । (पाहि) रक्षा कीजिये । (मा) मुझे । (दिद्योः) अति दुःखसे । (पाहि) बचाइये तथा । (प्रसित्यै) भारी २ बन्धनोंसे । (पाहि) अलग रखिये । (दुरद्मन्यै) जो दुष्ट भोजन करना है उस विपत्तिसे । (पाहि) बचाइये और । (नः) हमारेलिये । (अविषम्) विषआदिदोषरहित । (पितुम्) अन्नादि पदार्थ । (कृणु) उत्पन्न कीजिये । तथा । (नः) हमलोगोंको । (सुषदा) सुखमें स्थिरताको देनेवाले घरमें । (स्वाहा) (वाट्) वेदोक्त वाक्योंसे सिद्ध होने वाली उत्तम क्रियाओंमें स्थिर । (कृणु) कीजिये जिससे हम लोग । (यशोभगिन्यै) सत्यवचन आदि उत्तम कर्मोंको सेवन करनेवाली । (सरस्वत्यै) पदार्थोंके प्रकाशित करानेमें उत्तम ज्ञानयुक्त वेदवाणीके लिये । (स्वाहा) धन्यवाद वा । (संवेशपतये) अच्छी प्रकार जिन पृथिव्यादि लोकोंमें प्रवेश करते हैं उनके पति अर्थात् पालन करने हारे जो । (अग्नये) आप हैं उनके लिये । (स्वाहा) धन्यवाद और । (नमः) नमस्कार करते हैं । १ । हे भगवन् जगदीश्वर आपने जो यह । (अदब्धायो) निर्विघ्न आयुका निमित्त । (अग्ने) भौतिक अग्नि बनाया है वहभी । (अशीतमम्) सर्वत्र व्यापक यज्ञको । (दुरिष्ट्यै) दुष्ट यज्ञसे । (पाहि) रक्षा करता है तथा । (मा) मुझे । (दिद्योः) अति दुःखोंसे । (पाहि) बचाता है । (प्रसित्यै) बड़े २ दारिद्र्यके बन्धनोंसे । (पाहि) बचाता है तथा । (दुरद्मन्यै) दुष्ट भोजन करानेवाली क्रियाओंसे । (पाहि) बचाता है और । (नः) हमारे (पितुम्) अन्न आदि पदार्थ । (अविषम्) विषआदि दोष रहित । (कृणु) करदेता है वह । (सुषदा) सुखसे स्थिति देनेवाले घर अथवा दूसरे जन्मोंमें । (स्वाहा) (वाट्) वेदोक्त वाक्योंसे सिद्ध होनेवाली क्रियाओंका हेतु है हम लोग उस । (संवेशपतये) पृथिव्यादि लोकोंके पालनेवाले । (अग्नये) भौतिक अग्निको ग्रहण करके । (स्वाहा) होम तथा उसके साथ । (यशोभगिन्यै) (सरस्वत्यै) उक्त गुणवाली वेदवाणी की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) परमात्मका धन्यवाद करते हैं ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । मनुष्योंको जो सर्वव्यापक सब प्रकार से रक्षा करने उत्तम जन्म देने उत्तम कर्म कराने और उत्तम विद्या वा उत्तम भोग देनेवाला जगदीश्वर है उसीका सेवन सदा करना योग्य है । तथा जो यह अपनी सृष्टिमें परमेश्वर ने भौतिक अग्नि प्रत्यक्ष सूर्य्यलोक और बिजुली रूपसे प्रकाशित किया है वह भी अच्छी प्रकार विद्यासे उपकार लेने में संयुक्त किया हुआ सब प्रकारसे रक्षा और

उत्तम भोगका हेतु होता है । जिसकी कीर्तिके निमित्त सत्यलक्षणयुक्त वेदवाणीसे उत्तम जन्म अथवा सब पदार्थोंसे अच्छी २ विद्या प्रकाशित होती हैं वे सब विद्वानोंके स्वीकार करने योग्य तथा औरोंकोभी स्वीकार कराने योग्य हैं । इस मन्त्रमें (नमः) और (यज्ञ) ये दोनों पद पूर्व मन्त्रसे लिये हैं ॥ २० ॥

वेदोऽसीत्यस्य वामदेव ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ।

स जगदीश्वरः कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते ।

सो जगदीश्वर कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मन्त्रमें किया है ।

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभव-स्तेनमह्यं वेदो भूयाः । देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳस्वाहा वातेधाः ॥ २१ ॥

वेदः । असि । येन । त्वम् । देव । वेद । देवेभ्यः । वेदः । अभवः । तेन । मह्यम् । वेदः । भूयाः । देवाः । गातुविद इति गातुऽविदः । गातुम् । वित्त्वा । गातुम् । इत । मनसः । पते । इमम् । देव । यज्ञम् । स्वाहा । वाते । धाः ॥ २१ ॥

पदार्थः—(वेदः) वेत्ति चराचरं जगत् स जगदीश्वरः । विदन्ति येन स ऋग्वेदादिर्वा (असि) भवसि वा । (येन) विज्ञानेन वेदेन वा । (त्वं) (देव) शुभगुणदातः । (वेद) जानासि वेत्ति वा । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः । (वेदः) वेदयिता । (अभवः) भवसि । (तेन) विज्ञानप्रकाशनेन । (मह्यम्) विज्ञानं जिज्ञासवे । (वेदः) ज्ञापकः । (भूयाः) (देवाः) विद्वांसः । (गातुविदः) गीयते स्तूयतेऽनया सा गातुः स्तुतिस्तस्या विदो वक्तारः । कमिमनिजनि० । उ० १ । ७४ । अनेन गास्तुताविन्यस्मात् तुः प्रत्ययः (गातुम्) गीयते ज्ञायते येन स गातुर्वेदस्तम् । गातुरिति पदनामसु प०

ठितम् । निघं० ४।१। अनेन ज्ञानार्थो गृह्यते । (वित्त्वा) लब्ध्वा । (गातुम्) गीयते शब्द्यते यस्तं यज्ञम् । (इत) प्राप्नुत । (मनसः विज्ञानस्य (पते) पालक (इमम्) प्रत्यक्षमनुष्ठितमनुष्ठातव्यं वा । (देव) सर्वजगत्प्रकाशक । (यज्ञम्) क्रियाकाण्डजन्य संसारम् । (स्वाहा) सुष्ठु आहुतं हविः करोत्यनया सा । (वाते) वायौ । (धाः) धापय धापयति वा । अत्र सर्वत्र पक्षान्तरे व्यत्ययेन प्रथमः । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपीत्यडभावः । अयं मंत्रः श० १ । ७ । ३ । २१ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः--हे देव जगदीश्वर येन त्वं वेदोऽसि सर्वं च वेद येनैव त्वं देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन त्वं मह्यमपि वेदो भूयाः । हे गातुविदो देवा भवन्तो येन वेदेन सर्वा विद्या विदन्ति तेन यूयं गातु वित्त्वा गातुमित । हे मनसस्पते देव त्वमिमं यज्ञं वातेधाः स्वाहा हे देवास्तमिम मनसस्पतिं परमेश्वरमेव देवं नित्यमुपासीध्वम् ॥ ॥ २१ ॥

भावार्थः--हे विद्वांसो मनुष्या यूयं येन सर्ववेत्रा वेदविद्या प्रकाशिता तम् वोपास्यं विदित्वा क्रियाकाण्डमनुष्ठाय सर्वहितं संपादयत। नैव वेदविज्ञानेन तत्रोक्तविधानानुकूलस्यानुष्ठानेन च विना मनुष्याणां कदाचित् सुख संभवति वेद विद्यया सर्वसाक्षिणमीश्वरं देवं सर्वतो व्यापकं मत्त्वैव नित्यधर्मस्यानुष्ठातारो भवतेति ॥ २१ ॥

पदार्थ :--हे (देव) शुभगुणोंके देनेहारे जगदीश्वर (त्वम्) आप (वेदः) चराचर जगत् के जाननेवाले (असि) हैं सब जगत् को । (वेद) जानते हैं तथा । (येन) जिस विज्ञान वा वेदसे । (देवेभ्यः) विद्वानोंके लिये । (वेदः) पदार्थोंके जानने वाले । (अभवः) होतेहैं । (तेन) उस विज्ञानके प्रकाशसे आप । (मह्यम्) मेरे लिये जोकि मैं विशेष ज्ञानकी इच्छा कर रहाहूं । (वेदः) विज्ञान देनेवाले । (भूयाः) हूजिये । हे (गातुविदः) स्तुतिके जाननेवाले । (देवाः) विद्वानो जिस वेदसे मनुष्य सब विद्याओंको जानते हैं उससे तुम लोग । (गातुम्) विशेष ज्ञानको । (वित्वा) प्राप्त होकर । (गातुम्) प्रशंसा करने योग्य वेदको । (इत) प्राप्तहो । हे (मनसस्पते) विज्ञानसे पालन

करनेहारे । (देव) सबजगत्प्रकाशक परमेश्वर आप । (इमम्) प्रत्यक्ष अनुष्ठान करने योग्य । (यज्ञम्) क्रियाकाण्डसे सिद्ध होनेवाले यज्ञरूप संसारको । (स्वाहा) क्रियाके अनुकूल । (वाते) पवनके बीच । (धाः) स्थितकीजिये हे विद्वानो उस विज्ञान से विशेष ज्ञान देनेवाले परमेश्वरही की नित्य उपासना करो ॥ २१ ॥

भावार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो तुम लोग जिस वेद जाननेवाले परमेश्वरने वेद विद्या प्रकाशित की है उसकी उपासना करके उसीको वेदविद्याको जानकर और क्रियाकाण्ड का अनुष्ठान करके सबका हित संपादन करना चाहिये क्योंकि वेदोंके विज्ञानके विना तथा उसमें जो २ कहेहुए काम हैं उनके कियेविना मनुष्योंको कभी सुख नहीं हो सकता वेद-विद्यामे जो सबका साक्षी ईश्वर देव है उसको सब जगह व्यापक मानके नित्यधर्म में रहो ॥ २१ ॥

संबर्हिरित्यस्य वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः । स्वरः ॥

अग्नौ हुतं द्रव्यमन्तरिक्षस्थं भूत्वा केन चरतीत्युपदिश्यते ।

यज्ञमें चढ़ाहुआ पदार्थ अंतरिक्ष में ठहरकर किसकेसाथ रहता है सो अगले मंत्र में प्रकाश किया है ।

सं बर्हिरङ्क्ताᳬ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः । समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत्स्वाहा ॥ २२ ॥

सम् । बर्हिः । अङ्क्ताम् । हविषा । घृतेन । सम् । आदित्यैः । वसुभिरिति वसुऽभिः । सम् । मरुद्भिरिति मरुत्ऽभिः । सम् । इन्द्रः । विश्वदेवेभिरिति विश्वऽदेवेभिः । अङ्क्ताम् । दिवम् । नभः । गच्छतु । यत् । स्वाहा ॥ २२ ॥

पदार्थः— (सम) एकीभावे क्रियायोगे । (बर्हिः) बृहन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन् तदन्तरिक्षम् । बर्हिरित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघं० १ । ३ ।

(अक्ताम्) संयोजयतु । (हविषा) होतुमर्हं शुद्धं संस्कृतं हविस्तेन । (घृतेन) सुगन्ध्यादिगुणयुक्तेनाज्येन सह । (सम्) संयोगार्थे । (आदित्यैः) द्वादशभिर्मासैः । (वसुभिः) अग्न्यादिभिरष्टभिः । (सम्) मिश्रीभावे । (मरुद्भिः) वायुविशेषैः सह । (सम्) मेलने । (इन्द्रः) सूर्यलोकः । (विश्वदेवेभिः) स्वकीयै रश्मिभिः । रश्मयो ह्यस्य विश्वेदेवाः । श० ३ । ७ । १ । ६ । (अक्ताम्) प्रकटं संयोजयति । (दिव्यम्) दिवि प्रकाशे भवम् । द्युभागपागुदक् प्रतीचीयत् । अ० ४ । २ । १०१ । इति सूत्रेणायं यत् । (नभः) जलम् । नभ इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १ । १२ । (गच्छतु) गच्छति । (यत्) यदा (स्वाहा) शोभनं हविर्जुहोति यया क्रियया सा । अयं मंत्रः श० १ । ७ । ३ । २९–३१ व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य भवानिदं यद्यदा होतव्यं द्रव्यं हविषा घृतेन सह संयुक्तं कृत्वाऽऽदित्यैर्वसुभिर्मरुद्भिः सह सुखं समक्ताम् । अयमिन्द्रो यज्ञे स्वाहा यत्सुगंध्यादि द्रव्ययुक्तं हविः समक्ताम् मनुसंमिश्रितैर्विश्वदेवेभिर्दिव्यं नभः सङ्गच्छतु सम्यक्प्रकटयति ॥ २२ ॥

भावार्थः—यज्ञे संशोधितं यद्धविरग्नौ प्रक्षिप्यते तदन्तरिक्षे वायुजल सूर्यकिरणैः सहवर्तमानमितस्ततो गत्वाऽऽकाशस्थान सर्वान पदार्थान् दिव्यान् कृत्वा सततं प्रजाः सुखयति तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैरुत्तमसामग्र्या श्रेष्ठैः साधनैस्त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेय इति ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य तुम (यत्) जब हवन करने योग्य द्रव्य को । (हविषा) होमकरने योग्य । (घृतेन) घी आदि सुगंधियुक्त पदार्थसे सुयुक्तकरके हवन करोगे तब वह । (आदित्यैः) बारहमहिनों । (वसुभिः) अग्नि आदि आठों निवासके स्थान और (मरुद्भिः) प्रजाके जनोंके साथ मिलके सुखको । (समक्ताम्) अच्छीप्रकार प्रकाश करेगा । (इन्द्रः) सूर्यलोक । जो यज्ञ में छोड़ा हुआ । (स्वाहा) उत्तम क्रियासे सुगंध्यादिपदार्थयुक्त हवि (संगच्छतु) पहुंचाता है उससे । (सम्) अच्छीप्रकार मिश्रित हुए । (विश्वदे-

वेभिः) अपनी किरणोंसे । (दिव्यम्) जो उसके प्रकाशमें इकट्ठा होनेवाला । (नभः) जलको । (समंक्ताम्) अच्छीप्रकार प्रकट करता है ॥ २२ ॥

भावार्थः—जो हवि अच्छीप्रकार शुद्ध किया हुआ यज्ञके निमित्त अग्निमें छोड़ा जाताहै वह अंतरिक्षमें वायु जल और सूर्य्य की किरणोंके साथ मिलकर इधर उधर फैलकर आकाशमें ठहरनेवाले सब पदार्थोंको दिव्यकरके अच्छीप्रकार प्रजाको सुखी करता है इससे मनुष्योंको उत्तम सामग्री और उतम २ साधनोंसे उक्त तीन प्रकारके यज्ञको नित्य अनुष्ठान करना चाहिये ॥ २२ ॥

कस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । प्रजापतिर्देवता । निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ।

अग्नौ द्रव्यं किमर्थं प्रक्षिप्यत इत्युपादिश्यते ।

। अग्निमें किसलिये पदार्थ छोड़ा जाताहै सो अगले मंत्रमें प्रकाश कियाहै ।

कस्त्वाविमुंञ्चति सत्वाविमुंञ्चति कस्मैं त्वाविमुंचति तस्मैं त्वा विमुंचति ॥ पोषाय रक्षसां भागोसि ॥ २३ ॥

कः । त्वा । वि । मुंचति । सः । त्वा । वि । मुंचति । कस्मै । त्वा । वि । मुंचति । तस्मै । त्वा । वि । मुंचति । पोषाय । रक्षसाम् भागः । असि ॥ २३ ॥

पदार्थः—(कः) सुखकारी यजमानः । (त्वा) तम् । (वि । विविधार्थे क्रियायोगे । व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० । १ । ३ । (मुंचति) त्यजति । (सः) यज्ञः । (त्वा) त्वाम् । (वि) विशेषार्थे । (मुंचति) त्यजति । (कस्मै) प्रयोजनाय । (त्वा) त्वां । (वि) विविक्तार्थे । (मुंचति) संक्षिपति । (तस्मै) यतः सर्वसुखप्राप्तिर्भवेत्तस्मै । (त्वा) पदार्थसमूहम् । (वि) विशिष्टार्थे । (मुंचति) त्यजति । (पोषाय) पुष्यन्ति प्राणिनो यस्मिन् व्यवहारे तस्मै ।

(रक्षसाम्) दुष्टानाम् । (भागः) भजनीयः । (असि) भवति । अयं मंत्रः श०।१।७।३।३३—३५ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः— को मनुष्यस्त्वा तं यज्ञं विमुंचति कोऽपि नेत्यर्थः । यश्च यज्ञं विमुंचति तं स यज्ञः परमेश्वरो विमुंचति । यज्ञकर्त्ता कस्मै प्रयोजनाय तं पदार्थसमूहमग्नौ विमुंचति । यतः सर्वसुखप्राप्तिर्भवेत्तस्मै । पोषाय त्वा तं विमुंचति किन्तु यः पदार्थः सर्वोपकारे यज्ञे न प्रयुज्यते स रक्षसां भागोऽसि भवति ॥ २३ ॥

भावार्थः— यो मनुष्य ईश्वरेण वेदद्वाराऽऽज्ञापितं व्यवहारं त्यजति स सर्वैः सुखैर्हीनो भूत्वा दुष्टैः पीडितः सन सर्वदा दुःखी भवति । केनचित्कंचित्प्रति पृष्टं यो यज्ञं त्यजति तस्मै किं भवतीति स आह ईश्वरोऽपि तं त्यजतीति । स पुनराह ईश्वरः कस्मै प्रयोजनाय तं त्यजतीति स ब्रूते तस्मै दुःखमेव स्यादित्यस्मै । यश्चेश्वराज्ञां पालयति स सुखैः पोषितुमर्हति यश्च त्यजति स एव राक्षसो भवतीति ॥ २३ ॥

पदार्थः— (कः) कौन सुख चाहनेवाला यज्ञका अनुष्ठाता पुरुष (त्वा) उस यज्ञको (विमुंचति) छोड़ता है अर्थात् कोई नहीं । और जो कोई यज्ञको छोड़ता है। (त्वा) उसको । (सः) यज्ञका पालन करनेहारा परमेश्वर भी । (विमुंचति) छोड़ देता है जो यज्ञका करनेवाला मनुष्य पदार्थ समूह को यज्ञमें छोड़ताहै। (त्वा) उसको । (कस्मै) किस प्रयोजनके लिये अग्निके बीच में । (विमुंचति) छोड़ता है । (तस्मै) जिससे सब को सुख प्राप्तिहो तथा । (पोषाय) पुष्टि आदि गुणोंकेलिये । (त्वा) उस पदार्थ समूहको । (विमुञ्चति) छोड़ताहै । जो पदार्थ सबके उपकारकेलिये यज्ञके बीच में नहीं युक्त कियाजाता है वह । (रक्षसाम्) दुष्ट प्राणियोंका । (भागः) अंश । (असि) होताहै ॥ २३ ॥

भावार्थ:— जो मनुष्य ईश्वर के करने कराने वा आज्ञा देनेके योग्य व्यवहार को छोड़ता है वह सब सुखोंसे हीन होकर और दुष्ट मनुष्योंसे पीडा पाताहुआ सब प्रकार दुःखी रहताहै । किसीने किसी से पूछा कि जो यज्ञको छोड़ताहै उसके लिये क्या होता

है वह उत्तर देताहै कि ईश्वरभी उसको छोड़ देताहै । फिर वह पूछताहै कि ईश्वर उसको किसलिये छोड़देता है वह उत्तर देनेवाला कहता है कि दुःख भोगनेकेलिये । जो ईश्वरकी आज्ञा को पालताहै वह सुखों से युक्त होने योग्य है और जो कि छोड़ता है वह राक्षस होजाता है ॥ २३ ॥

संवर्चसेत्यस्य ऋषिः स एव । त्वष्टा देवता । विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

तेन यज्ञेन वयं किंकिं प्राप्नुम इत्युपदिश्यते ।

उक्त यज्ञ से हमलोग किस२ पदार्थको प्राप्त होते हैं सो अगले मंत्र में प्रकाशित किया है ।

संवर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सᳬशिवेन ॥ त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ २४ ॥

सम् । वर्चसा । पयसा । सम । तनूभिः । अगन्महि । मनसा । सम् । शिवेन । त्वष्टा । सुदत्र इतिसुऽदत्रः । वि । दधातु । रायः । अनु । मार्ष्टु । तन्वः । यत् । विलिष्टमितिविऽलिष्टम्॥२४॥

पदार्थः—(सम्) सम्यगर्थे । (वर्चसा) वर्चन्ते दीप्यन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन वेदाध्ययने तेन । (पयसा) पयन्ते विजानन्ति सर्वान् पदार्थान् येन ज्ञानेन तेन । (सम्) संधानार्थे । (तनूभिः) तन्वन्ते सुखानि कर्माणिच यासु ताभिः । (अगन्महि) प्राप्नुमः । गमधातोर्लुङि उत्तमबहुवचने । मंत्रेघसह्वरण श० अ० २।४।८०। अनेन च्लेर्लुक् । म्वोश्च । अ०८।२।६५। अनेन मकारस्य नकारादेशः । अत्र लडर्थे लुङ् । (मनसा) मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वे व्यवहारा येनान्तःकरणेन तेन । (सम्) मिश्रीभावे । (शिवेन) सर्वसुखानिमित्तेन । (त्वष्टा)

त्वक्षति तनूकरोति दुःखानि प्रलये सर्वान् पदार्थान् छिनत्ति वा स जगदीश्वरः। सुदत्रः) सुष्ठु सुखं ददातीति सः (विदधातु) विधानं करोतु। (रायः) विद्याचक्रवर्त्तिराज्य श्रियादीनि धनानि। (अनु) पश्चादर्थे। (मार्ष्टु) शोधयतु। (तन्वः) शरीरस्य। (यत्) यावत्। (विलिष्टम्) परिपूर्णम्। अत्र विरुद्धार्थे विशब्दः। अयं मंत्रः श० १।७।४।६ व्याख्यातः ॥ २४ ॥

अन्वयः-- वयं यस्य कृपया वर्चसा पयसा मनसा शिवेन तनूभिश्चसह रायः समगन्महि। समुदत्रस्त्वष्टेश्वरः कृपयाऽस्मभ्यं रायः संविदधातु यदस्माकं तन्वो विलिष्टं तत्समनुमार्ष्टु ॥ २४ ॥

भावार्थः-- । मनुष्यैः सर्वकामप्रदस्येश्वरस्याज्ञापालनसम्यक्पुरुषार्थाभ्यां विद्याध्ययनं विज्ञानं,शरीरबलं मनःशुद्धिः कल्याणसिद्धिः सर्वोत्तमश्रीप्राप्तिश्च सदैव कार्य्याः। तथा सर्वे व्यवहाराः पदार्थाश्च नित्यं शुद्धा भावनीयाः ॥२४॥

पदार्थ:-- हमलोग पुरुषार्थी होकर। (वर्चसा) जिसमें सब पदार्थ प्रकाशित होतेहैं उस वेदका पढ़ना वा। (पयसा) जिससे पदार्थोंको जानते हैं उस ज्ञान। (मनसा) जिससे सब व्यवहार विचारे जाते हैं उस अन्तःकरण (शिवेन) सब सुख और। (तनूभिः) जिनमें विपुल सुख प्राप्त होतेहैं। उन शरीरोंके साथ। (रायः) श्रेष्ठ विद्या और चक्रवर्त्तिराज्य आदि धनोंको। (समगन्महि) अच्छीप्रकार प्राप्तहों। सो (सुदत्रः) अच्छी प्रकार सुखदेने और। (त्वष्टा) दुःखों तथा प्रलयके समय सब पदार्थोंको सूक्ष्म करनेवाला ईश्वर कृपाकरके हमारे लिये। (रायः) उक्त विद्याआदि पदार्थोंको। (संविदधातु) अच्छीप्रकार विधानकरे और हमारे। (तन्वः) शरीरकी। (यत्) जितनी। (विलिष्टम्) व्यवहारोंकी सिद्ध करनेकी परिपूर्णताहै उसे। (समनुमार्ष्टु) अच्छी प्रकार निरंतर शुद्ध करे ॥ २४ ॥

भावार्थः--मनुष्योंको सब कामना परिपूर्ण करनेवाले परमेश्वरकी आज्ञा पालन करके और अच्छीप्रकार पुरुषार्थसे विद्याका अध्ययन शरीरका बल मनकी शुद्धि कल्याण की सिद्धि तथा उत्तमसे उत्तम लक्ष्मीकी प्राप्ति सदैव करनी चाहिये इस संपूर्ण यज्ञकी पा-

रणा वा उन्नतिसे सब सुखोंको प्राप्त होके औरोंको सुख प्राप्त करना चाहिये । तथा सब व्यवहार और पदार्थोंको नित्य शुद्ध करना चाहिये॥ २४ ॥

दिवीत्यस्य ऋषिः स एव । सर्वस्य विष्णुर्देवता । दिवीत्यारभ्य द्विष्म इत्यन्तस्य निचृदार्ची तथाऽन्तरिक्षमित्यारभ्य द्विष्मः पर्य्यन्तस्यार्ची पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः । पृथिव्यामित्यारभ्यान्तपर्य्यन्तस्य जगतीछन्दो निषादः स्वरश्च ।

स यज्ञस्त्रिषु लोकेषु विस्तृतः सन् किं किं सुखं साधयतीत्युपदिश्यते ।

। वह यज्ञ तीनों लोकमें विस्तृत होकर कौन २ सुखका साधन होताहै सो अगले मंत्र में प्रकाशित किया है ।

दि॒वि विष्णु॒र्व्य॑क्रꣳस्त॒ जाग॑तेन॒ छन्द॑सा॒ ततो॒ निर्भ॑क्तो॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो॒ऽन्तरि॑क्षे॒ विष्णु॒र्व्य॑क्रꣳस्त॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑सा॒ ततो॒ निर्भ॑क्तो॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ पृ॒थि॒व्यां विष्णु॒र्व्य॑क्रꣳस्त गाय॒त्रेण॒ छन्द॑सा॒ ततो॒ निर्भ॑क्तो॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो॒ऽस्माद॒न्नाद॒स्यै प्र॒ति॒ष्ठाया॒ अग॑न्म॒ स्वः॒ सञ्ज्योति॑षाभूम ॥२५॥

दिवि । विष्णुः । वि । अक्रंस्त । जागतेन । छन्दसा । ततः । निर्भक्तइतिनिःऽभक्तः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः । अन्तरिक्षे । विष्णुः । वि । अक्रंस्त । त्रैष्टुभेन । त्रैस्तुभेनेतित्रैस्तुभेन । छन्दसा । ततः । निर्भक्तइति निःऽभक्तः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः । पृथिव्याम् । विष्णुः । वि । अक्रंस्त । गायत्रेण । छन्दसा । ततः । निर्भक्त इति निःऽभक्तः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम । द्विष्मः । अस्मात् । अन्नात । अस्यै । प्रतिष्ठायै । प्रतिस्थायाइतिप्रतिऽस्थायै । अगन्म । स्वरिति स्वः । सम् । ज्योतिषा । अभूम ॥ २५ ॥

पदार्थः—(दिवि) सूर्यप्रकाशे । (विष्णुः) यो वेवेष्टि व्याप्नोत्यन्तरिक्षस्थलवाय्वादिपदार्थान् स यज्ञः । यज्ञो वै विष्णुः । श० १ । १ । २ । १३ । (वि) विविधार्थे क्रियायोगे । (अक्रंस्त) क्रमते अत्र सर्वत्र लडर्थे लङ् । (जागतेन) जगत्येव जागतं सर्वलोकसुखकारकं तेन । (छन्दसा) आल्हादकारकेण । (ततः) तस्मात् द्युलोकात् (निर्भक्तः) विभागं प्राप्तः । (यः) विरोधी । (अस्मान्) यज्ञानुष्ठातॄन् । (द्वेष्टि) विरुणद्धि । (यम्) शासितुं योग्यं दुष्टं प्राणिनम् । (च) पुनरर्थे । (वयम्) यज्ञक्रियानुष्ठातारः । (द्विष्मः) विरुन्ध्मः । (अन्तरिक्षे) अवकाशे । (विष्णुः) यज्ञः । (वि) विविधगमने क्रियार्थे । (अक्रंस्त) गच्छति । (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभं त्रिविधसुखहेतुस्तेन । (छन्दसा) स्वच्छंदतायदेन । (ततः) तस्मादन्तरिक्षात् । (निर्भक्तः) पृथग्भूतः । (यः) दुःखप्रदः प्राणी । (अस्मान्) सर्वोपकारकान् । (द्वेष्टि) दुःखयति । (यम्) सर्वाहितकरम् । (च) समुच्चये । (वयं) सर्वहितकारिणः (द्विष्मः) पीडयामः । (पृथिव्याम्) विस्तृतायां भूमौ । (विष्णुः) यज्ञः । (वि) विविधसुखसाधने ।

(अक्रंस्त) विविधसुखप्राप्तिहेतुना क्रमते । (छन्दसा) आनन्दप्रदेन । (ततः) तस्मात्पृथिवीस्थानात् । (निर्भक्तः) पृथग्भूत्वाऽन्तरिक्षं गतः । (यः) अस्मद्राज्य-विरोधी । (अस्मान) न्यायाधीशान्।) द्वेष्टि) वैरायते । (यम्) शत्रुम् । (च) समुच्चये । (वयम्) राज्याधीशाः । (द्विष्मः) वैरायामहे । (अस्मात्) प्रत्य-क्षाद्यज्ञशोधितात् (अन्नात्) अत्तुं योग्यात् । (अस्यै) प्रत्यक्षं प्राप्तायै । (प्रति-ष्ठायै) प्रति तिष्ठन्ति सत्कारं प्राप्नुवन्ति यस्यां तस्यै । (अगन्म) प्राप्नुयाम । (स्वः) सुखम् । स्वरिति साधारणनामसु पठितम् । निघं० १ । ४ । (सम्) सम्यगर्थे । (ज्योतिषा) विद्याधर्मप्रकाशकारकेण संयुक्ताः । (अभूम) संगता भवेम । अयं मंत्रः श० १ । ७ । ४ । ८-१४ । व्या० ॥ २५ ॥

अन्वयः—अस्माभिर्जागतेन छन्दसाऽनुष्ठितोऽयं यज्ञो विष्णुर्दिवि व्यक्रंस्त स पुनस्ततो निर्भक्तः सन् छन्दसा सर्वं जगत्प्रीणाति योऽस्मान द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निराकुर्मः । अस्माभिर्योऽयं यज्ञस्त्रैष्टुभेन छन्दसाऽग्नौ प्रयोजितेऽन्तरिक्षे व्यक्रंस्त स पुनस्ततः स्थानान्निर्भक्तः सन् वायुवृष्टिजलशुद्धि-द्वारा सर्वं जगत्सुखयति योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निवारयामः । अस्माभिर्योऽयं विष्णुर्यज्ञो गायत्रेण छन्दसा पृथिव्यामनुष्ठीयते स पृथिव्यां व्य-क्रस्त स ततो निर्भक्तः सन् पृथिवीस्थान पदार्थान् शोधयति । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निषेधयाम । वयमस्मादन्नात्स्वरगन्म । वयमनेन यज्ञे-नास्यै प्रतिष्ठायै ज्योतिषा संयुक्ताः समभूम भवेम ॥ २५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यावन्ति सुगन्ध्यादिगुणयुक्तानि द्रव्याण्यग्नौ प्रक्षि-प्यन्ते तानि पृथक् २ भूत्वा सूर्यप्रकाशे आकाशे भूमौ च विहृत्य सर्वाणि सुखानि-साधयन्ति । तथा च वाय्वग्निजलपृथिव्यादीनि शिल्पविद्यासिद्धैः कलायंत्रैर्विमा-नादियानेषु प्रयोज्यन्ते तानि सूर्यप्रकाशेऽन्तरिक्षे च सर्वान् प्राणिनः सुखेन वि-हारयन्ति । यद्द्रव्यं सूर्यकिरणाग्निद्वारा विच्छिन्नमन्तरिक्षं पुनस्तदेव भुवमागत्य पुनर्भूमेः सकाशादुपरि गत्वा पुनस्तत आगच्छत्येवमेव पुनः पुनर्मनुष्यैरित्थं पुरुषा-र्थेन दोषदुःखशत्रून् सम्यक् निवार्य सुखं भोक्तव्यं भोजयितव्यं च । यज्ञ-

शोधितैर्वायुजलौषध्यन्नशुद्धैरारोग्यबुद्धिशरीरबलवर्धनान्महत्सुखं प्राप्य विद्याप्रकाशेन नित्यं प्रतिष्ठीयताम् ॥ २५ ॥

पदार्थः—(जागतेन) सब लोकों के लिये सुख देने वाले। (छन्दसा) आल्हादकारक जगती छन्द से हमारा अनुष्ठान किया हुआ यह। (विष्णुः) अन्तरिक्ष में ठहरने वाले पदार्थों में व्यापक यज्ञ (दिवि) सूर्य के प्रकाश में। (व्यक्रंस्त) जाता है वह फिर। (ततः) वहां से। (निर्भक्तः) विभाग अर्थात् परमाणुरूप होके सब जगत् को तृप्त करता है। (यः) जो विरोधी शत्रु। (अस्मान्) यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले हम लोगों से। (द्वेष्टि) विरोध करता है। (च) तथा। (यम्) दंड देकर शिक्षा करने योग्य जिस दुष्ट प्राणी से। (वयम्) हम लोग यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले। (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं उसको उसी यज्ञ से दूर करते हैं॥ हम लोगों ने जो यह। (विष्णुः) यज्ञ। (त्रैष्टुभेन) तीन प्रकार के सुख करने और। (छन्दसा) स्वतंत्रता देनेवाले त्रिष्टुप् छन्दसे अग्निमें अच्छी प्रकार संयुक्त किया है वह। (अन्तरिक्षे) आकाश में। (व्यक्रंस्त) पहुंचता है वह फिर। (ततः) उस अन्तरिक्षसे। (निर्भक्तः) अलगहोके वायु और वर्षा जलकी शुद्धि से सब संसारको सुख पहुंचाता है। (यः) जो दुःख देनेवाला प्राणी। (अस्मान्) सब के उपकार करनेवाले हम लोगों को। (द्वेष्टि) दुःख देता है। (च) तथा। (यम) सबके अहित करनेवाले दुष्ट को। (वयम्) हमलोग सबके हित करनेवाले। (द्विष्मः) पीड़ा देते हैं उसे उक्त यज्ञसे निवारण करते हैं। हम लोगों से जो।(विष्णुः) यज्ञ। (गायत्रेण) संसार की रक्षा सिद्ध करने और। (छन्दसा) अति आनन्द करनेवाले गायत्री छन्द से निरंतर किया जाता है। (पृथिव्याम्) विस्तारयुक्त इस पृथिवी में। (व्यक्रंस्त) विविधसुखों की प्राप्ति के हेतु से विस्तृत होताहै। (ततः) उस पृथिवीसे। (निर्भक्तः) अलग होकर अन्तरिक्ष में जाकर पृथिवीके पदार्थोंकी पुष्टि करताहै। (यः) जो पुरुष हमारे राज्य का विरोधी। (अस्मान्) हमलोग जो कि न्याय करनेवाले हैं उनसे (द्वेष्टि) वैर करता है।(च) तथा। (यम्) जिस शत्रुजनसे। (वयम्) हमलोग न्यायाधीश। (द्विष्मः) वैर करतेहैं उसको इस उक्त यज्ञ से नित्य निषेध करते हैं। हमलोग। (अस्मात्) यज्ञसे शोधाहुआ प्रत्यक्ष। (अन्नात्) जो भोजन करने योग्य अन्नहै उससे। (स्वः) सुखरूपी स्वर्ग को। (अगन्म) प्राप्तहों तथा। (अस्यै) इस प्रत्यक्ष प्राप्त होनेवाली (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठा अर्थात् जिस में सत्कार को प्राप्त होतेहैं उसके लिये।(ज्योतिषा) विद्या और धर्मके प्रकाशसे संयुक्त। (समभूम) अच्छी प्रकार हों ॥ २५ ॥

भावार्थः—जो २ मनुष्यलोग सुगन्धि आदि पदार्थ अग्निमें छोड़तेहैं वे अलग २ होकर सूर्य्यके प्रकाश तथा भूमि में फैलकर सब सुखों को सिद्ध करतेहैं तथा जो वायु, अग्नि, जल, और पृथिवी आदि पदार्थ शिल्पविद्या सिद्ध कला यंत्रों से विमान आदि यानों में युक्त किये जातेहैं वे सब सूर्य्य प्रकाश वा अन्तरिक्ष में सुखसे विहार करते हैं। जो पदार्थ सूर्य्य की किरण वा अग्निके द्वारा परमाणुरूप होके अन्तरिक्ष में जाकर फिर पृथिवीपर आतेहैं फिर भूमिसे अन्तरिक्ष वा वहांसे भूमिको आते जाते हैं वेभी संसारको सुख देते हैं मनुष्योंको उचित है कि इसीप्रकार वार २ पुरुषार्थसे दोष दुःख और शत्रुओंको अच्छी प्रकार निवारण करके सुख भोगना भुगवाना चाहिये तथा यज्ञसे शुद्ध वायु जल ओषधि और अन्नकी शुद्धिके द्वारा आरोग्यबुद्धि और शरीरके बलकी वृद्धिसे अत्यन्त सुखको प्राप्त होके विद्याके प्रकाश से नित्य प्रतिष्ठाको प्राप्त होना चाहिये ॥ २५ ॥

स्वयंभूरित्यस्य ऋषिः स एव । ईश्वरो देवता । उष्णिक् छन्दः ।

ऋषभः स्वरः ॥

अथ सूर्य्यशब्देनेश्वरविद्वदर्थावुपदिश्येते ॥

अब अगले मंत्र में सूर्य्य शब्द से ईश्वर और विद्वान् मनुष्य का उपदेश किया है ।

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि ॥ सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ २६ ॥

स्वयंभूरिति स्वयम्ऽभूः । असि । श्रेष्ठः । रश्मिः । वर्चोदाइति वर्चःऽदाः । असि । वर्चः । मे । देहि । सूर्य्यस्य । आवृतमित्याऽवृतम् । अनु । आ । वर्त्ते ॥ २६ ॥

पदार्थः—(स्वयंभूः) स्वयं भवत्यनादिस्वरूपः । (असि) अस्ति वा (श्रेष्ठः) अतिशयेन प्रशस्तः । (रश्मिः) प्रकाशकः प्रकाशमयोवा । (वर्चोदाः) वर्चो विद्यां दीप्तिं वा ददातीति । (असि) भवसि । (वर्चः) विज्ञानं प्रकाशनं वा (मे) मह्यम् (देहि) ददाति वा (सूर्य्यस्य) चराचरस्यात्मनो जगदीश्वरस्य विदुषो जीवस्य वा

सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । य० ७ । ४२ । अनेनेश्वरस्य ग्रहणम्। इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ३ । इति गत्यर्थेन ज्ञानरूपत्वादीश्वरो व्यवहारप्रापकत्वाद्विद्वानेवाऽत्र गृह्यते । (आवृतम्) समन्ताद्वर्त्तन्ते यस्मिन् तमीश्वराज्ञापालनमुपदेशप्रकाशनं वा । (अनु) पश्चादर्थे (आ) । अभ्यर्थे । (वर्त्ते) स्पष्टार्थः । अयं मंत्रः श० । १।७।४। १५- १७ व्याख्यातः ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर विद्वन्वा त्वं श्रेष्ठो रश्मिः स्वयंभूरसि वर्चोदा असि त्वं मे वर्चो देहि । अहं सूर्य्यस्य तवावृतमाज्ञापालनमन्वावर्त्ते ॥ २६ ॥

भावार्थः—नैव परमेश्वरस्य निरूपे जीवस्य वा कौचिन्मातापितरौ कदाचित्स्तः किंत्वयमेव सर्वस्य माता पिता चास्ति । तथा नैतस्मात्कश्चिदुत्तमः प्रकाशहेतुर्विद्याप्रदो वा पदार्थोऽस्ति । अतः सर्वैर्मनुष्यैरस्यैवाज्ञायामनुवर्त्तनीयम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर आप । विद्वान्वा (श्रेष्ठः) अत्यंत प्रशंसनीय और । (रश्मिः) प्रकाशमान वा । (स्वयंभूः) अपने आप होनेवाले । (असि) हैं । तथा । (वर्चोदाः) विद्या देनेवाले । (असि) हैं इसी से आप (मे) मुझ । (वर्चः) विज्ञान और प्रकाश । (देहि) दीजिये मैं । (सूर्य्यस्य) जो आप चराचर जगत् के आत्मा हैं उनके । (आवृतम्) निरन्तर सज्जन जन जिस में वर्त्तमान होते हैं उस उपदेशको (अन्वावर्त्ते) स्वीकारकरके वर्त्तताहूं ॥ २६ ॥

पदार्थः—परमेश्वर और जीवका कोई माता वा पिता नहीं है किंतु यही सब का मातापिता है तथा जिससे बढ़ के कोई विज्ञान प्रकाश की विद्या देनेवाला नहीं है । जैसे सब मनुष्यों को इस परमेश्वर ही की आज्ञा में वर्त्तमान होना चाहिये । वैसेही जो विद्वान्भी प्रकाशवाले पदार्थों में अवधिरूप और व्यवहारविद्याका हेतुहैं जिसके उपदेशरूप प्रकाशको प्राप्त होकर प्रकाशित होते हैं वह क्यों न सेवना चाहिये ॥ २६ ॥

अग्ने गृहपत इत्यस्य ऋषिः स एव । सर्वस्याग्निर्देवता । पूर्वार्द्धे निचृत्पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

उत्तरार्द्धे गायत्रीछन्दः । षड्जः स्वरः॥

अथ गृहाश्रमिभिरस्यानुष्ठानेन किं किं साधनीयमित्युपदिश्यते ॥

गृहस्थ लोगों को इसके अनुष्ठानसे क्या २ सिद्ध करना चाहिये सो अगले मंत्र में प्रकाशित किया है ॥

अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳ सुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः ॥ अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳ हिमाः सूर्य्यस्यावृतमन्वावर्त्ते ॥ २७ ॥

अग्ने । गृहपत इति गृहऽपते । सुगृहपतिरिति सुऽगृहपतिः । त्वया । अग्ने । अहम् । गृहपतिनेति गृहऽपतिना । भूयासम् । सुगृहपतिरिति सुऽगृहपतिः । त्वम् । मया । अग्ने । गृहपतिनेति गृहऽपतिना । भूयाः । अस्थूरि । नौ । गार्हपत्यानीति गार्हऽपत्यानि । सन्तु । शतम् । हिमाः । सूर्य्यस्य । आवृतमित्याऽवृतम् । अनु । आ । वर्त्ते ॥ २७ ॥

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर भौतिको वा । (गृहपते) गृह्णन्ति स्थापयन्ति पदार्थान् यस्मिन् ब्रह्माण्डे शरीरे निवासार्थे वा गृहे तस्य यः पतिः पालयिता तत्सम्बुद्धौ । (सुगृहपतिः) शोभनानां गृहाणां पतिः पालयिता । (त्वया) जगदीश्वरेणानेन विज्ञानसुगृहस्थेन वा । (अग्ने) सर्वस्वामिन् विद्याप्राप्तिसाधक वा । (अहम्) गृहस्वामी मनुष्यो यज्ञानुष्ठाता वा । (गृहपतिना) सर्वस्वामिना गृहपालकेन वा । (भूयासम्) स्पष्टार्थः । (सुगृहपतिः) शोभनश्चासौ गृहस्य पालकश्च सः (त्वम्) जगदीश्वरोऽयं धार्मिको वा । (मया) सत्कर्मानुष्ठात्रा सह (अग्ने) जगदीश्वर प्रशस्तविद्य वा । (गृहपतिना) धार्मिकेण पुरुषार्थिना गृहपाल-

केन वा।(भूयाः) भवेः। [अस्थूरि] तिष्ठन्ति यस्मिन्नालस्यं तत्स्थूरं तन्निन्दितं विद्यते यस्मिन् तत्स्थूरि न स्थूरि यथा स्यात्तथा । अत्र निन्दार्थे इनिः । (नौ) आव योर्गृहसंबन्धिनोः स्त्रीपुरुषयोः (गार्हपत्यानि) गृहपतिना संयुक्तानि कर्माणि। गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः । अ० ४ । ४ । ९० । (सन्तु) भवन्तु । (शतम्) शतादधिकानि वा (हिमाः) हेमन्तर्तवः । भूयांश्च शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति । श० १ ।७। ४ । १६ । (सूर्य्यस्य) स्वप्रकाशस्येश्वरस्य विद्यान्याय-प्रकाशकस्य विदुषो वा । (आवृतम्) समन्ताद्वर्त्तन्तेऽहोरात्राणि यस्मिन् तं समयम् । (अनु) अनुगतार्थे । (आ) समन्तात् । (वर्त्ते) वर्त्तमानो भवेयम् । अयं मंत्रः श० । १ । ७ । ४ । १८—२१ व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अन्वयः--हे गृहपतेऽग्ने जगदीश्वर विद्वन्वा त्वं सुगृहपतिरसि त्वया गृहपतिना सहाहं सुगृहपतिर्भूयासम् । मया गृहपतिनाऽग्निस्त्वं मम गृहपतिर्भूयाः । एवं नौ स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यान्यस्थूरि सन्त्विवं वर्त्तमानोऽहं वर्त्तमाना च सूर्य्यस्यावृतं शतं हिमा अन्वावर्त्ते ॥ २७ ॥

भावार्थः--अत्र श्लेषालङ्कारः। आवां स्त्रीपुरुषौ स्त्रीपुरुषार्थिनौ भूत्वा योऽस्य सर्वेषां स्थिरयथैस्य जगतो गृहस्य सततं रक्षको जगदीश्वरो विद्वान् वाऽस्ति तमाश्रित्य भौतिकाग्न्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः स्थिरसुखम यकानि सर्वाणि कर्माणि संसाध्य शतं वर्षाणि जीवेव तथा जितेन्द्रियत्वभावेन शतादधिकमपि सुखेन जीवनं भुञ्ज्वहे इति ॥ २७ ॥

पदार्थः--हे (गृहपते) घरके पालन करनेहारे । (अग्ने) परमेश्वर और विद्वान् । (त्वम्) आप । (सुगृहपतिः) ब्रह्मांडशरीर और निवासार्थ घरों के उत्तमतासे पालन करनेवाले । (असि) हैं उस । (गृहपतिना) उक्त गुणवाले । (त्वया) आपके साथ मैं । (सुगृहपतिः) अपने घरका उत्तमता से पालन करनेहारा । (भूयासम्) होऊं । हे परमेश्वर विद्वान् वा । (मया) जो मैं श्रेष्ठ कर्मका अनुष्ठानकरनेवाला । (गृहपतिना) धर्मात्मा और पुरुषार्थी मनुष्य हूं उस मुझसे आप उपासना को प्राप्त हुए मेरे

अग्नये इत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी-अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ भौतिकावग्नीषोमौ कीदृशगुणौ वर्त्तेते इत्युपदिश्यते ।

। अब संसारी अग्नि और चन्द्रमा कैसे गुणवाले हैं सो अगले मंत्रमें प्रकाश कियाहै ।

अ॒ग्नये॑ कव्य॒वाह॑नाय॒ स्वाहा॒ सोमा॑य पि॒तृम॑ते॒ स्वाहा॑ ॥ अप॑हता॒ असु॑रा॒ रक्षा॑ᳪसि वेदि॒षदः॑ ॥२९॥

अ॒ग्नये॑ । क॒व्य॒वाह॑ना॒येति॑ कव्य॒ऽवाह॑नाय । स्वाहा॑ । सोमा॑य । पि॒तृम॑त॒ इति॑ पि॒तृऽम॑ते । स्वाहा॑ । अप॑हता॒ इत्यप॑ऽहताः । असु॑राः । रक्षा॑ᳪसि । वे॒दि॒षद॑ इति॑ वे॒दि॒ऽसद॑ः ॥ २९॥

पदार्थः—(अग्नये) अगति सर्वान् पदार्थान् दग्ध्वा देशान्तरे प्रापयति तस्मै (कव्यवाहनाय) कुवन्ति शब्दयन्ति सर्वा विद्या ये ते कवयः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञाश्च तेभ्यो हितानि कर्माणि कव्यानि तानि यो वहति प्रापयति तस्मै । (स्वाहा) सुष्ठु आह यस्यां सा । (सोमाय) सुवन्त्यैश्वर्य्याणि प्राप्नुवन्ति यस्मिन् संसारे तस्मै । (पितृमते) पितर ऋतवो नित्ययुक्ता विद्यन्ते यस्मिन् तस्मै । अत्र नित्ययोगे मतुप् । ऋतवः पितरः । श० २ । १ । ४ । २४ । । स्वाहा । स्वं दधात्यनया सा स्वाहा क्रिया । (अपहताः) अपहिंसिताः । अविद्वांसोदुष्टस्वभावाः प्राणिनः । (रक्षांसि) परपीडकाः, स्वार्थिनः । (वेदिषदः) ये वेद्यां पृथिव्यां सीदन्ति ते । यावती वेदिस्तावती पृथिवी । श० १ । २।३।७। अयं मंत्रः । श० २। ३। ४ । १२—१३ । व्याख्यातः ॥२९॥

अन्वयः—मनुष्यैः कव्यवाहनायाग्नये स्वाहा पितृमते सोमाय स्वाहा विधाय ये वेदिषदो रक्षांस्यसुराश्च ते नित्यमपहताः कार्य्याः ॥ २९ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्युक्त्या संयोजितोऽयमग्निः शिल्पिनां कार्य्याणि वहति येन संसारस्योपकारेण सामयिकं सत्त्वं पृथिवीस्थानां दुष्टानां दोषाणां च निवृत्तिः स्यादयं प्रयत्नो नित्यं विधेय इति ॥ २९ ॥

पदार्थः—मनुष्यों को उचित है कि । (कव्यवाहनाय) विद्वानोंको स्वाहित देने कर्मोंकी प्राप्ति कराने तथा । (अग्नये) सब पदार्थोंको अपने आप एक स्थानसे दूसरे स्थानको पहुंचानेवाले भौतिक अग्निका ग्रहण करके सुखके लिये । (स्वाहा) वेदवाणी से । (पितृमते) जिस में बसंत आदि ऋतु पालन के हेतु होनेसे पितर वे संयुक्त होते हैं । (सोमाय) जिससे ऐश्वर्योंको प्राप्त होतेहैं उस सोमलताको लेके । (स्वाहा) अपने पदार्थों को धारण करनेवाले धर्म से युक्त विधान करके जो । (वेदिषदः) इस पृथिवी में रमण करनेवाले (रक्षांसि) औरोंको दुःखदायी स्वार्थीजन तथा । (असुराः) दुष्ट स्वभाववाले मूर्ख हैं उनको । (अपहताः) विनष्ट करदेना चाहिये ॥ २९ ॥

भावार्थः—विद्वानोंसे युक्तिकेसाथ शिल्पविद्या में संयुक्त कियाहुआ यह अग्नि उनके लिये उत्तम२ कार्योंकी प्राप्ति करनेवाला होताहै मनुष्यों को यह यत्न नित्य करना चाहिये कि जिससे संसारके उपकारसे सब सुख और पृथिवी के दुष्टजन वा दोषोंकी निवृत्ति होजाय ॥ २९ ॥

येरूपाणीत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः पंचमः स्वरः ।

॥ कीदृग्लक्षणास्तेऽसुरा भवन्तीत्युपदिश्यते ॥

उक्त असुर कैसे लक्षणोंवाले होतेहैं सो अगले मंत्रमें प्रकाश किया है ।

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ॥ परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥ ३० ॥

ये । रूपाणि । प्रतिमुंचमानाइति प्रतिऽमुंचमानाः । असुराः । सन्तः । स्वधया । चरन्ति । परापुरइति पराऽपुरः । निपुरइति निऽपुरः । ये । भरन्ति । अग्निः । तान् । लोकात् । प्र । नुदाति । अस्मात् ॥ ३० ॥

पदार्थः—(ये) मनुष्याः । (रूपाणि) अन्तःस्थानि ज्ञानमध्ये यादृशानि ज्ञानानि सन्ति तानि । (प्रतिमुंचमानाः) मुंचन्त आभिमुख्यं ये प्रतीकं मुंच-

न्ते त्यज्यन्ते ते । (असुराः) धर्माच्छादकाः । (सन्तः) वर्त्तमानाः । (स्वधया) पृथिव्या सह । स्वधेइति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम् । निघं० ३ । ३० । (चरन्ति) वर्त्तन्ते । (पिरापुरः) परागतानि स्वसुखार्थान्यधर्मकार्याणि पिपुरति ते । (निपुरः) निकृष्टान् दुष्टस्वभावान पिपुरति पूरयन्ति ते । अत्रोभयत्र क्विप् । (ये) स्वार्थसाधनतत्पराः । (भवन्ति) अन्यायेन परपदार्थान् धरन्ति । (अग्निः) जगदीश्वरः । युष्मतत्ततक्षुष्वन्तः पादम् । अ० ८।३।१०३ । अनेन मूर्द्धन्यादेशः । (तान्) दुष्टान् । लोकात्) स्थानादस्मद्दर्शनाद्वा । (प्रणुदाति) दूरीकरोतु । (अस्मात्) मत्सङ्गात् । अयं मंत्रः श० २ । ३ । २ । १४ ।—१८ । व्याख्यातः ॥ ३० ॥

अन्वयः—अग्निरीश्वरो ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति येच परापुरो निपुरः सन्तोऽन्यायेन परपदार्थान् भरन्ति धरन्ति तानस्माल्लोकात्प्रणुदाति दूरीकरोतु ॥ ३० ॥

भावार्थः—ये दुष्टा मनुष्या मनोवचःकर्मभिर्मिथ्याचरित्वा पृथिव्यामन्यायेनान्यान्प्राणिनः पीडयित्वा स्वसुखाय परपदार्थान् संचिन्वन्ति । ईश्वरस्तान्दुःखयुक्तान् मनुष्येतरनीचशरीरधारिणः कृत्वा । येषु पापफलानि भुक्त्वा पुनर्मनुष्यदेहधारणे योग्यान् करोति । अतः मनुष्यैरीदृशेभ्यो मनुष्येभ्यः पापकर्मभ्यो वा पृथक् स्थित्वा सदैव धर्म एव सेवनीय इति ॥ ३० ॥

पदार्थः—(ये) जो दुष्ट मनुष्य (रूपाणि) ज्ञानके अनुकूल अपने अन्तःकरणों में विचारे हुए भावों को । (प्रतिमुञ्चमानाः) दूसरेके सामने छिपाकर विपरीत भावों के प्रकाश करनेहारे । (असुराः) धर्मको ढापते । (सन्तः) हैं । (स्वधया) पृथिवीमें जहां तहां । (चरन्ति) जाते आते हैं । तथा जो । (परापुरः) संसारके उलटे अपने सुखकारी कामोंको नित्य सिद्ध करनेके लिये यत्न करने । (निपुरः) और दुष्ट स्वभावों को परिपूर्ण करने वाले । (सन्तः) हैं अर्थात् जो अन्याय से औरों के

पदार्थों को धारण करते हैं। (तान्) उन दुष्टों को । अग्नि जगदीश्वर (अस्मात्) इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष लोक से (प्रणुदाति) दूर करे ॥ ३० ॥

भावार्थः--जो दुष्ट मनुष्य अपने मन वचन और शरीर से झूंठे आचरण करते हुए अन्याय से अन्य प्राणियों को पीड़ा देकर अपने सुख के लिये औरों के पदार्थों को ग्रहण कर लेते हैं ईश्वर उनको दुःखयुक्त करता और नीच योनियां में जन्म देता है कि वे अपने पापों के फल को भोगके फिर भी मनुष्य देह के योग्य होते हैं इस से सब मनुष्यों को योग्य है कि ऐसे दुष्ट मनुष्य वा पापोंसे बचकर सदैव धर्मकाही सेवन किया करें ॥ ३० ॥

अत्रपितरइत्यस्यर्षिः स एव । पितरो देवताः । बृहती छन्दः ।

मध्यमः स्वरः ।

मनुष्यैर्धार्मिका ज्ञानिनो विद्वांसः कथं सत्कर्त्तव्या इत्युपदिश्यते ॥

मनुष्य लोगोंको धर्मात्मा ज्ञानी विद्वान् पुरुषों का कैसा सत्कार करना योग्य है सो अगले मंत्र में कहा है ।

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभागमावृ॑षायध्वम् ॥ अमी॑मदन्त पितरो॑ यथाभागमावृ॑षायिषत ॥ ३१ ॥

अत्र । पितरः । मादयध्वम् । यथाभागमिति यथाऽभागम् । आ । वृषायध्वम् । वृषायध्वमिति वृषऽयध्वम् । अमीमदन्त । पितरः । यथाभागमिति यथाऽभागम् । आ । अवृषायिषत ॥ ३१ ॥

पदार्थः--(अत्र) अस्माकं सत्कारसंयुक्ते व्यवहारे स्थाने वा । (पितरः) पान्ति पालयन्ति सद्विद्याशिक्षाभ्यां ये ते तत्संबुद्धौ । (मादयध्वम्) हर्षयध्वम् । (यथाभागम्) भागमनतिक्रम्य कुर्वन्तीति यथाभागम् । (आ) समन्तात् । (वृषायध्वम्) आनन्दसंस्कारो वृषाइवाचरत । कर्त्तुःक्यङ्सलोपश्च । अ० ३ । १ । ११ । अनेन क्यङ् प्रत्ययः । (अमीमदन्त) आनन्दयतास्मान् मोदयत विद्यां प्रापयत वा । (पितरः) विद्वांसो विद्यादानेन रक्षकाः । (यथाभा-

गम्) भागं भागं प्रतीति यथाभागम् । अत्र वीप्सार्थे प्रतिः । (आ) आभिमुख्यतया । (अवृषायिषत) विद्याधर्मशिक्षया हर्षकारकाः भवत । लोडर्थे लुङ् । अयं मंत्रः । श० २ । ३ । ४ । १६—२१ । व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे पितरो यूयमत्र यथाभागमावृषायध्वम् । मादयध्वमस्मान् यथाभागमावृषायिषतामीमदन्तास्मान् हर्षयत ॥ ३१ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति । मातापित्रादीन् विदुषोऽध्यापकान् धार्मिकान् पितॄन् समीपस्थानागच्छतश्च दृष्ट्वैवं वाच्यं सेवनं च कार्य्यम् । हे अस्मत्पितरो यूयं स्वागतमागच्छतास्माभिर्यथायोग्यान् भोगानासनादींश्चैमानस्मदत्तान्स्वीकृत्य सुखयत यद्यदाऽवश्यकं युष्माकमिष्टं वस्त्वस्माभिरानेतुं योग्यं तदाज्ञापयत । एवमत्राऽस्माभिः सत्कृताः सन्तो भवन्तः प्रश्नोत्तरविधानेनाऽस्मान् स्थूलसूक्ष्मविद्याधर्मोपदेशेन यथावद्वर्द्धयन्तु । युष्मद्वृद्धिमन्तो वयं नित्यं सत्क्रियाः कृत्वाऽन्यैः कारयित्वा च सर्वेषां प्राणिनां सुखविधानं नित्यं कुर्य्यामेति ॥ ३१ ॥

पदार्थः—हे (पितरः) उत्तम विद्या वा उत्तम शिक्षाओं और विद्यादानसे पालन करनेवाले विद्वान् लोगो । (अत्र) हमारे सत्कारयुक्त व्यवहार अथवा स्थान में (यथाभागम्) यथायोग्य पदार्थों के विभाग का (आवृषायध्वम्) अच्छी प्रकार जैसे कि आनन्द देनेवाले बैल अपनी घास को चरते हैं वैसे पाओ और । (मादयध्वम्) आनन्दित भी हो तथा आप हम लोगोंके जिस प्रकार । (यथाभागम्) यथायोग्य अपनी २ बुद्धि के अनुकूल गुण विभाग को प्राप्त हों वैसे । (आवृषायिषत) विद्या और धर्म की शिक्षा करने वाले हो और । (अमीमदन्त) सब को आनन्द दो ॥ ३१ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्यलोग माता और पिता आदि धार्मिक सज्जन विद्वानों को समीप आये हुए देख कर उनकी सेवाकरें प्रार्थनापूर्वक वाक्य कहें कि हे पितरो आप लोगों का आना हमारे उत्तम भाग्य से होताहै सो आओ और जो अपने व्यवहार में यथायोग्य और भोग आसन आदि पदार्थों को हम देते हैं उनको स्वीकार करके सुख को प्राप्त हो तथा जो २ आपके प्रियपदार्थ हमारे लाने योग्य हों उस २ की आज्ञा दीजिये क्योंकि सत्कारको प्राप्त होकर आप प्रश्नोत्तर

विधानसे हम लोगों को स्थूल और सूक्ष्म विद्या वा धर्मके उपदेशसे यथावत् वृद्धियुक्त कीजिये आपसे वृद्धिको प्राप्त हुए हमलोग अच्छे २ कामोंको करके तथा औरोंसे अच्छे-काम कराके सब प्राणियोंका सुख और विद्याकी उन्नति नित्य करें ॥ ३१ ॥

नमो व इत्यस्यर्षिः स एव। पितरो देवताः । मन्यव पर्यन्तस्य ब्राह्मी-बृहती । अग्रे निचृद्बृहती च छन्दः । पंचमः स्वरः ।

। अथ कथं किमर्थोऽयं पितृयज्ञः क्रियत इत्युपदिश्यते ।

अब पितृयज्ञ किस प्रकारसे और किस प्रयोजन के लिये किया जाता है इसविषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः ॥ ३२ ॥

नमः । वः । पितरः । रसाय । नमः । वः । पितरः । शोषाय । नमः । वः । पितरः । जीवाय । नमः । वः । पितरः । स्वधायै । नमः । वः । पितरः । घोराय । नमः । वः । पितरः । मन्यवे । नमः । वः । पितरः । पितरः । नमः । वः । गृहान् । नः । पितरः । दत्त । सतः । वः । पितरः । देष्म । एतत् । वः । पितरः । वासः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(नमः) नम्रीभावे । यज्ञो नमो यज्ञियानेवैनान्नेतत्करोति । श॰ २।४।२४। (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) विद्यानन्ददायकास्तत्संबुद्धौ । (रसाय) रसभूताय विज्ञानानन्दप्रापणाय । (नमः) आर्द्रीभावे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) दुःखनाशकत्वेन रक्षकास्तत्संबुद्धौ ।

(शोषाय) दुःखानां शत्रूणां वा निवारणाय । (नमः) निरभिमानार्थे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) धर्म्यजीविकाज्ञापकास्तत्संबुद्धौ । (जीवाय) जीवति प्राणं धारयति प्राणधारणेन समर्थो भवति यस्मिन्नायुषि तस्मै । (नमः) शीलधारणार्थे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) अन्नभोगादिविद्याशिक्षकास्तत्संबुद्धौ । (स्वधायै) अन्नाय पृथिवीराज्याय न्यायप्रकाशाय वा । स्वधेत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २।७। स्वधे इति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम् । निघं० ३।३०॥ (नमः) नम्रत्वधारणे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) पापापत्कालनिवारकास्तत्संबुद्धौ । (घोराय) हन्यन्ते सुखानि यस्मिन् तद् घोरं तन्निवारणाय । हन्तेरच् घुर च । उ० ।५।६४। अनेन घोर इति सिद्ध्यति । (नमः) क्रोधत्यागे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः (श्रेष्ठानां पालका दुष्टेषु क्रोधकारिणस्तत्संबुद्धौ । (मन्यवे) मन्यन्तेऽभिमानं कुर्वन्ति यस्मिन् स मन्युः क्रोधो दुष्टाचरणेषु दुष्टेषु तद्धारणाय । यजिमनि० उ० ३। २० । अनेन मन्यतेर्युच् प्रत्ययः । (नमः) सत्कारे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) । गौरवपालकास्तत्संबुद्धौ । (पितरः) ज्ञानिनस्तत्संबुद्धौ । (नमः) ज्ञानग्रहणार्थे । (वः) युष्मभ्यम् (गृहान्) गृह्णन्ति विद्यादिपदार्थान् येषु तान् । (नः) अस्मभ्यमस्माकं वा । (पितरः) विद्यादातारस्तत्संबुद्धौ । (दत्त) तत्प्रदानं कुरुत । (सतः)विद्यमानानुत्तमान् पदार्थान् । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) सनकादयस्तत्संबुद्धौ । (देष्म) देयास्म । डुदाञ् इत्यस्मादाशीर्लिङ्युत्तमबहुवचने । लिङ्याशिष्यङित्यङ् । छन्दस्युभयथेति मसआर्द्धधातुकसंज्ञामाश्रित्य सकारलोपाभावः । सार्वधातुकसंज्ञामाश्रित्यातोयेय इतीयादेशश्च । (एतत्) अस्मद्दत्तम् । (वः) युष्मभ्यम् (पितरः) सेवितुंयोग्यास्तत्सम्बुद्धौ ।

वसते आच्छादयन्ते शरीरं येन तद्वस्त्रादिकम्। अयं मंत्रः। श० २।३।४।२३। व्याख्यातः॥ ३२॥

अन्वयः—हे पितरो रसाय वो युष्मभ्यं नमोस्तु। हे पितरः शोषाय वो नमोस्तु। हे पितरो जीवाय वो नमोस्तु। हे पितरः स्वधायै वो नमोस्तु। हे पितरो घोराय वो नमोस्तु। हे पितरो मन्यवे वो नमोस्तु। हे पितरो विद्यायै वो नमोस्तु। हे पितरः सत्काराय वो नमोस्तु। यूयमस्माकं गृहाणि नित्यमागच्छत। आगत्य च शिक्षाविद्ये नित्यं दत्त। हे पितरो वयं वो युष्मभ्यं सतः पदार्थान् नित्यं देष्म। हे पितरो यूयमस्माभिर्दत्तं वासो वस्त्रादिकं स्वीकुरुत॥ ३२॥

भावार्थः—अत्रानेके नमः शब्दा अनेकशुभगुणसत्कारद्योतनार्था यथा वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराः षड्ऋतवो रसशोषजीवाऽन्नघोरत्वमन्यूत्पादका भवन्ति। तथैव ये पितरोऽनेकविद्योपदेशैर्मनुष्यान् सततं प्रीणयन्ति तानुत्तमैः पदार्थैः सत्कृत्य तेभ्यः सततं विद्योपदेशा ग्राह्याः॥ ३२॥

पदार्थः—हे। (पितरः) विद्या के आनन्द को देने वाले विद्वान् लोगो। (रसाय) विज्ञानरूपी आनन्द की प्राप्ति के लिये। (वः) तुम को हमारा (नमः) नमस्कार हो। हे। (पितरः) दुःख का विनाश और रक्षा करने वाले विद्वानो। (शोषाय) दुःख और शत्रुओं की निवृत्ति के लिये। (वः) तुम को हमारा। (नमः) नमस्कार हो। हे। (पितरः) धर्मयुक्त जीविका के विज्ञान करानेवाले विद्वानो। (जीवाय) जिससे प्राण का स्थिर धारण होता है उस जीविका के लिये। (वः) तुम को हमारा (नमः) शील धारण विदित हो। हे (पितरः) विद्या अन्न आदि भोगोंकी शिक्षा करने हारे विद्वानो। (स्वधायै) अन्न पृथिवी राज्य और न्याय के प्रकाश के लिये। (वः) तुम को हमारा। (नमः) नम्रीभाव विदित हो। हे (पितरः) पाप और आपत्काल के निवारक विद्वान् लोगो। (घोराय) दुःखविनाशक दुःखसमूह की निवृत्ति के लिये। (वः) तुम को हमारा। (नमः) क्रोध का छोड़ना विदित हो। हे (पितरः) श्रेष्ठों के पालन करने हारे विद्वानो। (मन्यवे) दुष्टाचरण करने वाले दुष्ट जीवों में क्रोध करने के लिये। (वः) तुम को हमारा (नमः) सत्कार विदित

हो । हे (पितरः) ज्ञानी विद्वानो । (वः) तुमको विद्याके लिये । (नमः) हमारी विज्ञान ग्रहण करनेकी इच्छा विदितहो । हे । (पितरः) प्रीतिकेसाथ रक्षाकरनेवाले विद्वानो । (वः) तुह्मारे सत्कार होने के लिये हमारा (नमः) सत्कार करना तुम को विदित हो । आपलोग । (नः) हमारे । (गृहान्) घरोंमें नित्य आओ और आके रहो । हे । (पितरः) विद्या देने वाले विद्वानो (नः) हमारे लिये शिक्षा और विद्या नित्य । (दत्त) देते रहो ! हे पिता माता आदि विद्वान् पुरुषों हमलोग । (वः) तुम्हारे लिये जो २ (सतः) विद्यमान पदार्थ हैं वे नित्य (देष्म) में देवें । हे । (पितरः) सेवा करनेयोग्य पितृलोगो हमारे दिये ।(वासः) इन वस्त्रादिको ग्रहण कीजिये ॥ ३२ ॥

भावार्थः-- इस मंत्र में अनेकवार (नमः) यह पद अनेक शुभगुण और सत्कार प्रकाश करने के लिये धरा है जैसे वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद् हेमन्त और शिशिरये छः ऋतु । रस शोष जीव अन्न कठिनता और क्रोध के उत्पन्न करनेवाले होते हैं वैसे हीं पितर भी अनेक विद्याओं के उपदेशसे मनुष्यको निरंतर सुख देते हैं । इस से मनुष्यों को चाहिये कि उक्त पितरों को उत्तम २ पदार्थों से संतुष्ट करके उन से विद्या के उपदेश का निरंतर ग्रहण करें ॥ ३२ ॥

आधत्त इत्यस्य ऋषिः स एव । पितरो देवताः । गायत्री छन्दः ।
षड्जः स्वरः ।

तैः किं किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ॥

उक्त पितरों को क्या २ करना चाहिये सो अगले मंत्र में उपदेश किया है ।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ३३ ॥

आ । धत्त । पितरः । गर्भम् । कुमारम् । पुष्करस्रजमिति पुष्करऽस्रजम् । यथा । इह । पुरुषः । असत् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् । (धत्त) धारयत । (पितरः) ये पांति विद्यादिदानेन तत्संबुद्धौ । (गर्भम्) गर्भमिव । (कुमारम्) ब्रह्मचारिणम् (पुष्करस्रजम्) विद्याग्रहणार्था स्रग् धारिता येन तम् । (यथा) येन प्रकारेण (इह) अस्मिन् संसारेऽस्मत्कुले वा । (पुरुषः) विद्यापुरुषार्थयुक्तोऽयं मनुष्यः।

(असत्) भवेत् । लेटः प्रयोगो ऽयम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे पितरो यूयं यथायं ब्रह्मचारीह शरीरात्मबलं प्राप्य पुरुषवद्भवति तथैव गर्भमिव पुष्करस्रजं कुमारं विद्यार्थिनमाधत्त धारयत ॥ ३३ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः—ईश्वर आज्ञापयति । विद्वद्भिर्विदुषीभिश्च विद्यार्थिनः कुमारा विद्यार्थिन्यः कुमार्यश्च विद्यादानाय गर्भवद्धार्याः । यथा गर्भे देहः क्रमेण वर्धते तथैव सुशिक्षितैरेताश्च सद्विद्यायां वर्धयितव्याः पालनीयाश्च । यतो विद्यायोगेन धार्मिकाः पुरुषार्थयुक्ता भूत्वा सदैव सुखयुक्ता भवेयुरित्येतत्सदैवानुष्ठेयमिति ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे (पितरः) विद्यादान से रक्षा करनेवाले विद्वान् पुरुषो आप ! (यथा) जैसे यह ब्रह्मचारी (इह) इस संसार वा हमारे कुल में अपने शरीर और आत्मा के बल को प्राप्त होके विद्या और पुरुषार्थयुक्त मनुष्य (असत्) हो वैसे । (गर्भम्) गर्भ के समान (पुष्करस्रजम्) विद्या ग्रहण के लिये फूलों की माला धारण किये हुए । (कुमारम्) ब्रह्मचारीको । (आधत्त) अच्छे प्रकार स्वीकार कीजिये ॥ ३३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्रमें लुप्तोपमालङ्कार है । ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् पुरुष और स्त्रियों को चाहिये कि विद्यार्थी कुमार वा कुमारी को विद्या देनेके लिये गर्भ के समान धारण करें । जैसे क्रम २ से गर्भ के बीच देह बढ़ता है वैसे अध्यापक लोगों को चाहिये कि अच्छी २ शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार वा कुमारी को श्रेष्ठ विद्यामें वृद्धियुक्त करें । तथा पालन करने योग्य हैं व विद्या के योगसे धर्मात्मा और पुरुषार्थयुक्त होकर सदा सुखी हों यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिये ॥ ३३ ॥

ऊर्जमित्यस्यर्षिः स एव । आपो देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः ।
ऋषभः स्वरः ॥

एते पितरः केन २ पदार्थेन सत्कर्त्तव्या इत्युपदिश्यते ॥

उक्त पितर कौन २ पदार्थों से सत्कार करने योग्य हैं सो अगले मंत्रमें उपदेश किया है ॥

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्॥
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ ३४॥

ऊर्जम्। वहन्तीः। अमृतम्। घृतम्। पयः। कीलालम्। परिस्रुतमिति परिऽस्रुतम्। स्वधाः। स्थ। तर्पयत। मे। पितॄन्॥ ३४॥

पदार्थः—(ऊर्जम्) इष्टं विविधरसम्। ऊर्ग्रसः। श० १।५।४।२। (वहन्तीः) प्रापयन्तीः स्वादिष्टा आपः। (अमृतम्) सर्वरोगहरं सुरसमिष्टादिकम्। (घृतम्) आज्यम्। (पयः) दुग्धम्। (कीलालम्) सुसंस्कृतमन्नम्। कीलालमित्यन्ननामसु पठितम्। निघं० २।७। (परिस्रुतं) परितः सर्वतः स्रुतं सुरसयोगेन परिपक्वं फलादिकम्। (स्वधाः) ये स्वमेव दधते ते। (स्थ) सर्वे पितृसेविनो भवत। (तर्पयत) सुखयत। (मे) मम (पितॄन्) पूर्वोक्तान्॥ ३४॥

अन्वयः—हे पुत्रादयो यूयं मे मम पितॄनूर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं दत्वा तर्पयतैवं तत्सेवनेन विद्याः प्राप्य स्वधाः स्थ परस्वत्यागेन सदा स्वसेविनो भवत॥ ३४॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति। मनुष्याः सर्वान् पूर्वमभूतान् सत्यमादिशन्तु युष्माभिर्मम पितरो जनका विद्याप्रदाश्च प्रीत्या नित्यं सेवनीयाः। यथा तैर्बाल्यावस्थायां विद्याप्रदानसमये च वयं यूयं च पालितास्तथैवास्माभिरपि ते सर्वदा सर्वथा सत्कर्त्तव्याः। यतो नैवाऽस्माकं मध्ये कदाचिद्विद्याह्रासकृतघ्नतादोषौ भवेतामिति॥ ३४॥ ईश्वरेण यत्रास्मिन्नध्याये वेदादिरचनं यज्ञस्य फलगमनसाधकानि सामग्रीधारणमग्नेर्दूतत्वप्रकाशनमात्मेन्द्रियादिशोधनं सुखभोगो वेदप्रकाशनं पुरुषार्थसाधनं युद्धे विजयकरणं शत्रुनिवारणं। द्वेषत्यागोऽन्यादीनां यानेषु योजनं पृथिव्यादिभ्य उपकारग्रहणमीश्वरे प्रीतिर्दिव्यगुण-

विस्तरणं सर्वरक्षणं वेदशब्दार्थवर्णनं वाय्वग्न्यादीनां परस्परमेलनं पुरुषार्थग्रहणमुत्तमानां पदार्थानां स्वीकरणं त्रिषु लोकेषु यज्ञाहुतद्रव्यस्य गमनं पुनस्तस्मादागमनं स्वयंभूशब्दार्थवर्णनं गृहस्थकृत्यं सत्याचरणमग्नौ होमो दुष्टानां निवारणं पितॄणां सेवनं चोक्तं तत्तन्यनुर्थ्यैः संप्रीत्या सेवनीयमिति प्रथमाध्यायार्थेनसहास्य द्वितीयाध्यायार्थस्य संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥ इति श्रीमत्परमविद्वत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिते यजुर्वेदभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे । पुत्रादिको तुम । (मे) मेरे । (पितॄन्) पूर्वोक्त गुणवाले पितरों को । (ऊर्जम्) अनेक प्रकारके उत्तम २ रस । (वहन्तीः) सुख प्राप्त करनेवाले स्वादिष्ठजल । (अमृतम्) सब रोगों को दूर करनेवाले औषधि मिष्टादिपदार्थ । (पयः) दूध । (घृतम्) घी । (कीलालम्) उत्तम २ रीतिसे पकाया हुआ अन्न तथा । (परिस्रुतम्) रससे चूते हुए पके फलोंको देके । (तर्पयत) तृप्त करो इस प्रकार तुम उनके सेवनसे विद्याको प्राप्त होकर । (स्वधा) पर धन का त्याग करके अपने धनके सेवन करनेवाले । (स्थ) होओ ॥ ३४ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों के पुत्र और नौकर आदिको आज्ञा देके कहना चाहिये कि तुमको हमारे पितर अर्थात् पिता माता आदि वा विद्याके देनेवाले प्रीतिसे सेवा करने योग्य हैं जैसे कि उन्होंने बाल्यावस्था वा विद्यादान के समय हम और तुम पाले हैं वैसे हम लोगों को भी वे सब कालमें सत्कार करनेयोग्य हैं जिससे हम लोगों के बीच में विद्याका नाश और कृतघ्नता आदि दोष कभी न प्राप्त हों ॥३४॥ ईश्वर ने इस दूसरे अध्याय में जो२ वेदिआदि यज्ञके साधनों का बनाना, यज्ञ का फल गमन वा साधन,सामग्री का धारण,अग्निके दूतपन का प्रकाश,आत्मा और इन्द्रियादि पदार्थों की शुद्धि, सुखोंका भोग, वेद का प्रकाश, पुरुषार्थ का संधान, युद्ध में शत्रुओं का जीतना, शत्रुओंका निवारण, द्वेषका त्याग, अग्नि आदि पदार्थों को सवारियों में युक्त करना, पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेना, ईश्वर में प्रीति, अच्छे२ गुणों का विस्तार और सबकी उन्नति करना, वेद शब्द को अर्थका वर्णन, वायु और अग्नि आदि का परस्पर मिलाना, पुरुषार्थ का ग्रहण, उत्तम२ पदार्थों का स्वीकार करना, यज्ञ में होम किये हुए पदार्थोंका

तीनों लोकमें जाना आना, स्वयंभू शब्द का वर्णन, गृहस्थों का कर्म, सत्यका आचरण, अग्नि में होम, दुष्टोंका निवारण, और जिन२ का सेवन करना कहा है उन२ का सेवन मनुष्यों को प्रीति के साथ करना अवश्य है इस प्रकार से प्रथमाध्यायके अर्थके साथ द्वितीयाध्याके अर्थकी संगति जाननी चाहिये ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः प्रारभ्यते ॥

॥ अस्मिन्नध्याये त्रिषष्टिर्मन्त्राः सन्तीति वेदितव्यम् ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ॥ यद्भद्रन्तन्न आसुव ॥ १ ॥

तत्र समिधेत्यस्य प्रथममन्त्रस्यांगिरस ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ भौतिकोऽग्निः क्व क्वोपयोक्तव्य इत्युपदिश्यते ॥

अब तीसरे अध्याय के पहिले मंत्रमें भौतिक अग्निका किस२ काममें उपयोग करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

समिधाग्निन्दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ॥ आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥ १ ॥

समिधेति सम्ऽइधा । अग्निम् । दुवस्यत । घृतैः । बोधयत । अतिथिम् । आ । अस्मिन् । हव्या । जुहोतन ॥ १ ॥

पदार्थः—(समिधा) सम्यगिध्यते प्रदीप्यते यया तया । अत्र सम्पूर्वादिन्धेः कृतो बहुलमिति करणे क्विप् । (अग्निम्) भौतिकम् । (दुवस्यत) सेवध्वम् । (घृतैः) शोधितैः सुगन्ध्यादियुक्तैर्घृतादिभिर्यानेषु जलवाष्पादिभिर्वा घृतमित्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२। अत्र बहुवचनमनेकसाधनद्योतनार्थम् । (बोधयत) उद्दीपयत । (अतिथिम्) अविद्यमाना तिथिर्यस्य तम् । (आ) समन्तात् । (अस्मिन्) अग्नौ । (हव्या) दातुमर्हाणि वस्तूनि । अत्र शेश्छन्दसि बहुलमिति लोपः । (जुहोतन) प्रक्षिपत । अत्र हु धातोर्लोटि मध्यमबहु-

वचने । तमनप् इतितनबादेशः । अयंमन्त्रः । श० ६ । ८ । ८ । ६ । व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः— हे विद्वांसो यूयं समिधाघृतैरग्निं बोधयत तमतिथिमिव दुवस्यत । अस्मिन्हव्या होतव्यानि द्रव्याण्याजुहोतन प्रक्षिपत ॥ १ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः ॥ यथा गृहस्था मनुष्या आसनान्नजलवस्त्रप्रियवचनादिभिरुत्तमगुणमतिथिं सेवन्ते । तथैव विद्वद्भिर्यज्ञवेदीकलायन्त्रयानेष्वग्निं स्थापयित्वा यथायोग्यैरिन्धनाज्यजलादिभिः प्रदीप्य वायुवृष्टिजलशुद्धियानोपकाराश्च नित्यं कार्या इति ॥ १ ॥

पदार्थः— हे विद्वान् लोगो तुम । (समिधा) जिन इन्धनों से अच्छे प्रकार प्रकाश हो सकता है उन लकड़ी घी आदिकों से । (अग्निम्) भौतिक अग्नि को । (बोधयत) उद्दीपन अर्थात् प्रकाशित करो तथा जैसे । (अतिथिम्) अतिथि को अर्थात् जिसके आने जाने वा निवासका कोई दिन नियत नहीं है उस संन्यासी का सेवन करते हैं वैसे अग्नि का । (दुवस्यत) सेवन करो और । (अस्मिन्) इस अग्नि में । (हव्या) सुगंध कस्तूरी केसर आदि, मिष्ट गुड़ शकर आदि, पुष्ट घी दूध आदि रोग को नाश करने वाले सोमलता अर्थात् गुडूची आदि ओषधी । इन चार प्रकार के साकल्य को (आजुहोतन अच्छे प्रकार हवन करो ॥ १ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है । जैसे गृहस्थ मनुष्य आसन अन्न जल वस्त्र और प्रियवचन आदि से उत्तम गुण वाले संन्यासी आदि का सेवन करते हैं वैसे ही विद्वान् लोगों को यज्ञ, वेदी, कलायंत्र और यानों में स्थापन कर यथायोग्य इंधन, घी, जलादि से अग्नि को प्रज्वलित करके वायु वर्षाजल की शुद्धि वा यानों की रचना नित्य करनी चाहिये ॥ १ ॥

सुसमिद्धायेत्यस्य सुश्रुत ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशः कथमुपयोजनीयश्चेत्युपदिश्यते ॥

फिर वह भौतिक अग्नि कैसा है किस प्रकार उपयोग करना चाहिये
इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतन्तीव्रञ्जुहोतन ॥ अग्नये जातवेदसे ॥ २ ॥

सुसमिद्धायेति सुऽसमिद्धाय । शोचिषे । घृतम् । तीव्रम् । जुहोतन । अग्नये । जातवेदस इति जातऽवेदसे ॥ २ ॥

पदार्थः—(सुसमिद्धाय) सुष्ठु सम्यगिद्धो दीप्तस्तस्मिन् । अत्रसर्वत्र सुपां सुलुगिति सप्तमीस्थाने चतुर्थी । (शोचिषे) शोधिते दोषनिवारके । (घृतम्) आज्यादिकम् । (तीव्रम्) सर्वदोषाणां निवारणे तीक्ष्णस्वभावम् (जुहोतन) प्रक्षिपत । सिद्धिरस्य पूर्ववत् । (अग्नये) रूपदाहप्रकाशच्छेदनादिगुण-स्वभावे । (जातवेदसे) जाते जाते । उत्पन्ने उत्पन्ने पदार्थे विद्यमानस्तस्मिन् । जाते जाते विद्यत इति वा । जातानि वेद वा जातानि वैनं विदुर्वा जातप्रज्ञानो यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति । निरु० ७।१६॥२॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं सुसमिद्धाय सुसमिद्धे शोचिषे शोधिते जातवेदसे जातवेदसि अग्नये अग्नौ तीव्रं घृतञ्जुहोतन ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरस्मिन्प्रदीप्तेऽग्नौ शीघ्रं दोषनिवारकाणि शोधितानि द्रव्याणि प्रक्षिप्य सुखानि साधनीयानीति ॥ २ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यलोगो तुम । (सुसमिद्धाय) अच्छे प्रकार प्रकाशरूप । (शोचिषे) शुद्ध किये हुए दोषों को निवारण करने वा । (जातवेदसे) सब पदार्थों में विद्यमान । (अग्नये) रूप, दाह, प्रकाश, छेदन, आदिगुण स्वभाववाले अग्नि में । (तीव्रम्) सब दोषों के निवारण करने में तीक्ष्ण स्वभाव वाले । (घृतम्) घी मिष्ट आदि पदार्थों को । (जुहोतन) अच्छे प्रकार गेरो ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को इस प्रज्वलित अग्नि में जल्दी दोषों को दूर करने वा शुद्ध किये हुए पदार्थों को गेर कर इष्ट सुखों को सिद्ध करना चाहिये ॥ २ ॥

तन्त्वेत्यस्य भारद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मनुष्यैः स नित्यं वर्द्धनीय इत्युपदिश्यते ॥

मनुष्यों को उक्त अग्नि की नित्य वृद्धि करनी चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

तन्त्वा सुमिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ॥ बृहच्छोचायविष्ठ्य ॥ ३ ॥

तम् । त्वा । सुमिद्भिरिति सुमित्ऽभिः ॥ अङ्गिरः । घृतेन । वर्द्धयामसि । बृहत् । शोच । यविष्ठ्य ॥ ३ ॥

पदार्थः— (तम्) भौतिकमग्निम् । (त्वा) यः । अत्र व्यत्ययः । (समिद्भिः) काष्ठादिभिः । (अङ्गिरः) अङ्गानि प्रापयति यः सोऽङ्गिरः । अंगारा ऽअंकनाऽअंचनाः । निरु० ३।१७। (घृतेन) घृतेन । (वर्द्धयामसि) वर्द्धयामः । अत्रइदन्तो मसीतिकारादेशः (बृहत्) महत् यथा स्यात्तथा । (शोच) शोचति । प्रकाशते । अत्र व्यत्ययेन लडर्थे लोट् । द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घश्च (यविष्ठ्य) योऽतिशयेन युवा पदार्थानामिश्रीकरणे बलवान् सः । यविष्ठ एव यविष्ठ्यः । अत्र युवन् शब्दादिष्ठन् प्रत्ययस्ततो नवसूरमर्तयविष्ठेभ्यो यत् । अ० ५।४।३६ इतिवार्त्तिकेन स्वार्थे यत्प्रत्ययः । अयं मंत्रः । श० २।३।३।२५—२६ व्याख्यातः ॥३॥

अन्वयः—वयं योऽङ्गिरोऽग्निः यविष्ठ्य यविष्ठोऽग्निर्घृतेन बृहच्छोचमहद्यथा स्यात्तथा शोचति प्रकाशते त्वा तं समिद्भिर्घृतेन वर्द्धयामसि वर्द्धयामः प्रदीपयामः ॥३॥

भावार्थः— मनुष्यैर्यो गुणैर्महान्पूर्वोक्तोऽग्निर्वर्त्तते स होमशिल्पविद्यासिद्धये साधनैरिन्धनादिभिः सेवित्वा नित्यं वर्द्धनीयइति ॥ ३ ॥

पदार्थः- हमलोग । जो । (अङ्गिरः) पदार्थों को प्राप्त कराने वा । (यविष्ठ्य) पदार्थों के भेद करने में अतिबलवान् । (बृहत्) बड़े तेज से युक्त अग्नि (शोच)

प्रकाश करता है । (त्वा) उसको । (समिद्भिः) काष्ठादि वा । (घृतेन) घी आदि से (वर्द्धयामसि) बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः-मनुष्यों को जो सब गुणों से बलवान् पूर्व कहा हुआ अग्नि है वह होम और शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये लकड़ी घी आदि साधनों से सेवन करके निरन्तर वृद्धियुक्त करना चाहिये ॥ ३ ॥

उपत्वेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

॥ पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह अग्नि कैसा है सो अगले मंत्र में कहा है ॥

उप॑ त्वाग्ने ह॒विष्म॑तीर्घृ॒ताची॑र्यन्तु हर्यत ॥ जु॒षस्व॑ स॒मिधो॒ मम॑ ॥४ ॥

उप॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । ह॒विष्म॑तीः । घृ॒ताचीः॑ । य॒न्तु॒ । ह॒र्य॒त॒ । जु॒षस्व॑ । स॒मिध॒ इति॑ स॒मऽइधः॑ । मम॑ ॥ ४ ॥

पदार्थः— (उप) सामीप्ये । (त्वा) तम् । (अग्ने) अग्निम् । (हविष्मतीः) प्रशस्तानि हवींषि विद्यन्ते यासु ताः । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । (घृताचीः) या घृतमाज्यादिकं जलं वांऽचेति प्रापयन्ति ताः ।(यन्तु) प्राप्नुवन्तु । (हर्यत) प्रापकः कामनीयो वा । (जुषस्व) जुषते । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (समिधः) काष्ठादिसामग्रीः । (मम) कर्मानुष्ठातुः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या योहर्यताग्ने प्रापकः कामनीयोऽग्निर्मम समिधो जुषस्व जुषते सेवते । यथा तमेताः समिधो यन्तु प्राप्नुवंतु,तथाऽस्मिन्यूयं हविष्मतीर्घृताचीः समिधः प्रतिदिनं संचिनुत ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यदाऽग्मिन्नग्नौ समिधः आहुतयश्च प्रक्षिप्यंते स एताः परमसूक्ष्माः कृत्वा वायुना सह देशान्तरं प्रापयित्वा दुर्गन्धादिदोषाणां निवारणेन सर्वान्सुखयतीति वेदितव्यम् ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जो । (अग्ने) प्रसिद्ध अग्नि । (मम) यज्ञ कर्म करने

हे मनुष्यो जो (हर्य्यत) प्राप्तिका हेतु वा कामनाके योग्य । (अग्ने) प्रसिद्ध अग्नि । (मम) यज्ञ करनेवाले मेरे । (समिधः) लकड़ी घीआदि पदार्थोंको (जुषस्व) सेवन करता है जिस प्रकार । (तम्) उस अग्निको घीआदि पदार्थ । (यन्तु) प्राप्त हों वैसे तुम । (हविष्मतीः) श्रेष्ठहविर्युक्त । (घृताचीः) घृत आदि पदार्थोंसे संयुक्त आहुति वा काष्ठ आदि सामग्री प्रतिदिन संचित करो ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्यलोग जब इस अग्निमें काष्ठ घी आदि पदार्थोंकी आहुति छोड़ते हैं तब वह उनको अतिसूक्ष्म करके वायुके साथ देशांतरको प्राप्त करके दुर्गंधादि दोषोंके निवारण से सब प्राणियोंको सुख देता है ऐसा सब मनुष्यों को जानना चाहिये ॥ ४ ॥

भूर्भुवःस्वरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निवायुसूर्या देवताः । दैवी बृहती छन्दः । द्यौरिवेत्यस्य निचृद्बृहती छन्दः । उभयत्र मध्यमः स्वरः ॥

॥ पुनः स किमर्थ उपयोजनीय इत्युपदिश्यते ॥

फिर उस अग्निका किसलिये उपयोग करना चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ॥ तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ ५ ॥

भूः । भुवः । स्वः । द्यौरिवेति द्यौःऽइव । भूम्ना । पृथिवीवेति पृथिवीऽइव । वरिम्णा । तस्याः । ते । पृथिवि । देवयजनीति देवऽयजनि । पृष्ठे । अग्निम् । अन्नादमित्यन्नऽअदम् । अन्नाद्यायेत्यन्नऽअद्याय । आ । दधे ॥ ५ ॥

पदार्थः—(भूः) भूमिः । भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत् । (भुवः) भुव रित्यन्तरिक्षम् । (स्वः) स्वरिति दिवमेतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे लोकाः । सर्वेणैवाधीयते । शत० २।१।४।११। (द्यौरिव) यथा सूर्यप्रकाशयुक्तमाकाशं । (भूम्ना) विभुना । (पृथिवीव) यथा विस्तृता भूमिः । (वरिम्णा) श्रेष्ठगुणसमूहेन । (तस्याः) वक्ष्यमाणायाः । (ते) अस्याः प्रत्यक्षायाः । अत्र व्यत्य-

यः । (पृथिवि) पृथिव्याः (देवयजनि) देवा यजन्ति यस्यां तस्याः । अत्रो-भयत्र प्रातिपदिकनिर्देशानामर्थतन्त्रत्वात्षष्ठ्यर्थे प्रथमा विपरिणम्यते (पृष्ठे) उपरि । (अग्निम्) भौतिकम् । (अन्नादम्) योऽन्नं यवादिकं सर्वमत्ति त-म् । (अन्नाद्याय) अत्तुं योग्यमद्यमन्नं च तदन्नं चान्नाद्यं च तस्मै । (आ) समन्तात् । (दधे) स्थापयामि । अयं मन्त्रः । शत० २।१।४।९—२८। व्याख्या-तः ॥ ५ ॥

अन्वयः—अहमन्नाद्याय भूम्ना द्यौरिव वरिम्णा पृथिवीव तेऽस्याः प्रत्यक्षायास्तस्या अप्रत्यक्षाया अंतरिक्षलोकस्थाया देवयजनि, देवयजन्याः पृथिवि, पृथिव्याः पृष्ठे, पृष्ठोपरि भूर्भुवः स्वर्लोकांतर्गतमन्नादमग्निमादधे, स्थापयामि ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारौ ॥ हे मनुष्या यूयमीश्वरेण रचितं त्रैलोक्योपकारकं स्वव्याप्त्या सूर्यप्रकाशसदृशं श्रेष्ठगुणैः पृथिवीसमानं स्वस्वलोके सन्निहितमिममग्निं कार्यसिद्ध्यर्थं प्रयत्नेनोपयोजयत ॥ ५ ॥

पदार्थः—मैं । (अन्नाद्याय) भक्षण योग्य अन्नके लिये । (भूम्ना) विभु अर्थात् ऐश्वर्य्यसे । (द्यौरिव) आकाशमें सूर्यके समान । (वरिम्णा) अच्छे २ गुणों से । (पृथिवीव) विस्तृत भूमिके तुल्य । (ते) प्रत्यक्ष वा । (तस्याः) अप्रत्यक्ष अर्थात् आकाशयुक्त लोकमें रहनेवाली । (देवयजनि) देव अर्थात् विद्वान् लोग जहां यज्ञ करते हैं वा । (पृथिवी) भूमिके । (पृष्ठे) पृष्ठके ऊपर । (भूः) भूमि (भुवः) अन्तरिक्ष । (स्वः) दिव अर्थात प्रकाशस्वरूप सूर्यलोक इनके अन्तर्गत रहने तथा । (अन्नादम्) यव आदि सब अन्नोंको भक्षण करनेवाले । (अग्निम् प्रसिद्ध अग्निको । (आदधे) स्थापन करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें दो उपमालंकार हैं । हे मनुष्यलोगो तुम ईश्वरसे तीन लोकोंके उपकार करने वा अपनी व्याप्तिसे सूर्य प्रकाशके समान तथा उत्तम २ गुणोंसे पृथिवीके समान अपने २ लोकोंमें निकट रहनेवाले रचे हुए अग्निको कार्यकी सिद्धि के लिये यत्नके साथ उपयोग करो ॥ ५ ॥

आयमित्यस्य सर्प्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री-
छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथाग्निनिमित्तेन पृथिवीभ्रमणविषय उपदिश्यते ॥

अब अग्निके निमित्तसे पृथिवीका भ्रमण होताहै इस विषयको अ-
गले मंत्र में प्रकाशित किया है ॥

आयङ्गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरम्पुरः । पितरञ्च प्रयन्त्स्वः ॥ ६ ॥

आ । अयम् । गौः । पृश्निः । अक्रमीत् । असदत् । मातरम् । पुरः । पितरम् । च । प्रयन्निति प्रऽयन् । स्वरिति स्वः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(आ) अभ्यर्थे । (अयम्) प्रत्यक्षः । (गौः) यो गच्छति स भूगोलः । गौरिति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं० १ । १ । गौरिति पृथिव्या नामधेयम् । यद्दूरंगता भवति । यच्चास्यां भूतानि गच्छंति । निरु० २ । ५ । (पृश्निः) अन्तरिक्षे । अत्र सुपां सुलुगिति सप्तम्येकवचने प्रथमैकवचनम् । पृश्निरिति साधारणनामसु पठितम् । निघं० १ । ४ । (अक्रमीत्) क्राम्यति । अत्र लडर्थे लुङ् । (असदत्) स्वकक्षायां भ्रमति । अत्रापि लडर्थे लङ् । (मातरम्) स्वयोनिमपः । जलनिमित्तेन पृथिव्युत्पत्तेः । (पुरः) पूर्वपूर्वम् । (पितरम्) पालकम् । (प्रयन्) प्रकृष्टतया गच्छन् । (स्वः) आदित्यम् । स्वरादित्यो भवति । निरु० २ । १४ ॥ अयं मन्त्रः श० २ । १ । ४ । २९ । निगदव्याख्यातः ॥६॥

अन्वयः—अयं गौः पृथिवीगोलः स्वः पितरं पुरः प्रयन्मातरमपश्च प्रयन् पृश्निरन्तरिक्षआक्रमीदाक्राम्यति समंताद्भ्रमति ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यस्माज्जलाग्निनिमित्तोत्पन्नोयं भूगोलोऽन्तरिक्षे स्वकक्षायामाकर्षणेन रक्षकस्य सूर्यस्याभितः प्रतिक्षणं भ्रमति तस्मादहोरात्रशुक्लकृष्णपक्षर्त्वयनादीनि कालविभागाः क्रमशः सम्भवन्तीति वेद्यम् ॥६॥

पदार्थः—(अयम्) यह प्रत्यक्ष । (गौः) गोलरूपी पृथिवी । (पितरम्) पालन करनेवाले (स्वः) सूर्यलोक के । (पुरः) आगे २ वा । (मातरम्) अपनी योनिरूप जलोंके साथ सहवर्त्तमान । (प्रयन्) अच्छी प्रकार चलती हुई । (पृश्निः) अंतरिक्ष अर्थात् आकाश में । (आक्रमीत्) चारों तरफ घूमती है ॥६॥

भावार्थः—मनुष्यों को जानना चाहिये कि जिस से यह भूगोल पृथिवी जल और अग्निके निमित्तसे उत्पन्न हुई अंतरिक्ष वा अपनी कक्षा अर्थात् योनिरूप जल के सहित आकर्षणरूपी गुणोंसे सबकी रक्षा करनेवाले सूर्य के चारों तरफ क्षण २ घूमती है इसी से दिनरात्रि शुक्ल वा कृष्ण पक्ष ऋतु और अयन आदि काल विभाग क्रम से संभव होते हैं ॥ ६ ॥

अन्तरित्यस्य सर्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिः । अग्निर्देवता ।
गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

सोऽग्निः कथंभूत इत्युपदिश्यते ॥

वह अग्नि कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ॥ व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ ७ ॥

अन्तरित्यन्तः ॥ चरति । रोचना । अस्य । प्राणात् । अपानतीत्यपऽअनती । वि । अख्यत् । महिषः । दिवम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अन्तः) ब्रह्माण्डशरीरयोर्मध्ये । (चरति) गच्छति । (रोचना) दीप्तिः (अस्य) अग्नेः । (प्राणात्) ब्रह्माण्डशरीरयोर्मध्ये ऊर्ध्वगमनशीलात् । (अपानती) अपानमधोगमनशीलं वायुं निष्पादयन्ती विद्युत् (वि) विविधार्थे । (अख्यत्) ख्यापयति । अत्र लडर्थे लुङ्गमनेनाऽयथर्थश्च । (महिषः) स्वगुणैर्महान् । दिवम्) सूर्यलोकम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—योऽस्याग्नेः प्राणादपानतीसती रोचना दीप्तिर्विद्युदन्तरिक्ष ब्रह्माण्डान्तश्चरति । स महिषोऽग्निर्दिवं व्यख्यत् विख्यापयति ॥ ७ ॥

भावार्थः— मानवैर्योऽग्निर्विद्युदाख्या सर्वान्तःस्था कान्तिर्वर्त्तते सा प्राणापानाभ्यां सह संयुज्य सर्वान् प्राणापानाग्निप्रकाशगत्यादीन् । चेष्टाव्यवहारान् प्रसिद्धीकरोतीति बोध्यम् ॥ ७ ॥

पदार्थः— जो । (अस्य) इस अग्नि की । (प्राणात्) ब्रह्माण्ड और शरीरके बीचमें ऊपर जानेवाले वायुसे । (अपानती) नीचे को जानेवाले वायुको उत्पन्न करती हुई । (रोचना) दीप्ति अर्थात प्रकाशरूपी बिजुली । (अन्तः) ब्रह्माण्ड और शरीर के मध्यमें । (चरति) चलती है वह । (महिषः) अपने गुणोंसे बड़ा अग्नि । (दिवम्) सूर्य लोकको । (व्यख्यत्) प्रगट करता है ॥ ७ ॥

भावार्थः— मनुष्यों को जानना चाहिये कि जो विद्युत् नामसे प्रसिद्ध सब मनुष्यों के अन्तःकरण में रहनेवाली जो अग्नि की कान्ति है वह प्राण और अपान वायु के साथ युक्त होकर प्राण अपान अग्नि और प्रकाश आदि चेष्टाओं के व्यवहारों को प्रसिद्ध करती है ॥ ७ ॥

त्रिंशद्धामेत्यस्य सर्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः । स्वरः ।

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह अग्नि कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

त्रिꣳशद्धाम॒ वि रा॑जति॒ वाक्प॑त॒ङ्गाय॑ धीयते ।
प्रति॒ वस्तो॒रह॒ द्युभिः॑ ॥ ८ ॥

त्रिꣳशत् । धाम॑ । वि । रा॒ज॒ति॒ । वाक् । प॒त॒ङ्गाय॑ । धी॒य॒ते॒ । प्रति॑ । वस्तोः॑ । अह॑ । द्युभि॒रिति॒ द्युऽभिः॑ ॥ ८ ॥

पदार्थः— (त्रिंशत्) पृथिव्यादीनि त्रयस्त्रिंशतां वस्वादीनां देवानां मध्ये पठितानि । अन्तरिक्षमादित्यमग्निं च विहाय त्रिंशत्संख्याकानि । (धाम) दधति येषु तानि धामानि । अत्र सुपां सुलुगिति शसो लुक् । (वि) विशेषार्थे । (राजति) प्रकाशयति । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । (वाक्) उच्यते यया सा । वा-

गिति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११। (पतंगाय) पतति गच्छतीति पतं-गस्तस्मा अग्नये । (धीयते) धार्य्यताम् । (प्रति) वीप्सायाम् । (वस्तोः) दिनं दिनम् । वस्तोरित्यहर्नामसु पठितम् । निघं० १।९। (अह) विनिग्रहा-र्थे । अह इति विनिग्रहार्थीयः । निरु० १।५। (द्युभिः) प्रकाशादिगुणविशेषैः । दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । निरु० १३।२५ ॥ ८ ॥

अन्वयः—मनुष्यैर्योऽग्निर्द्युभिः प्रतिवस्तोस्त्रिंशद्धाम धामानि विराजति प्रकाशयति । तस्मै पतंगाय पतनपातनादिगुणप्रकाशिताय प्रतिवस्तोः प्रतिदिनं विद्वद्भिरह वाग्धीयताम् ॥ ८ ॥

भावार्थः—या वाणी प्राणयुक्तेन शरीरस्थेन विद्युदाख्येनाग्निना नित्यं प्रकाश्यते । सा तद्गुणप्रकाशाय विद्वद्भिर्नित्यमुपदेष्टव्या श्रोतव्या चेति ॥ ८ ॥

पदार्थः—मनुष्यों को जो अग्नि । (द्युभिः) प्रकाश आदि गुणों से । (प्रतिवस्तोः) प्रतिदिन । (त्रिंशत्) अंतरिक्ष आदित्य और अग्नि को छोड़ के पृथिवी आदि जो तीस । (धाम) स्थान हैं उनको । (विराजति) प्रकाशित करता है उस । (पतंगाय) चलने चलाने आदि गुणों से प्रकाशयुक्त अग्नि के लिये । (प्रतिवस्तोः) प्रतिदिन विद्वानोंको । (अह) अच्छे प्रकार । (वाक्) वाणी । (धीयते) अवश्य धारण करनी चाहिये ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो वाणी प्राणयुक्त शरीरमें रहनेवाले बिजुलीरूप अग्नि से प्रकाशित होती है उसके गुणोंके प्रकाशके लिये विद्वानोंको उपदेश वा श्रवण नित्य करना चाहिये ॥ ८ ॥

अग्निर्ज्योतिरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निसूर्यौ देवते । पंक्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

ज्योतिरित्यस्य याजुषी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथाग्निसूर्यौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

अग्नि और सूर्य्य कैसे हैं इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योति-

ज्योति॒: सूर्य्य॒: स्वाहा॑ ॥ अ॒ग्निर्व्वर्च्चो॒ ज्योति॒र्व्वर्च्च॒: स्वाहा॑ सूर्य्यो॒ वर्च्चो॒ ज्योति॒र्व्वर्च्च॒: स्वाहा॑ ॥ ज्योति॒: सूर्य्य॒: सूर्य्यो॒ ज्योति॒: स्वाहा॑ ॥ ९ ॥

अ॒ग्निः । ज्योतिः । ज्योतिः । अ॒ग्निः । स्वाहा॑ । सूर्यः । ज्योतिः । ज्योतिः । सूर्यः । स्वाहा॑ । अ॒ग्निः । वर्चः । ज्योतिः । वर्चः । स्वाहा॑ । सूर्यः । वर्चः । ज्योतिः । वर्चः । स्वाहा॑ । ज्योतिः । सूर्यः । सूर्यः । ज्योतिः । स्वाहा॑ ॥ ९ ॥

पदार्थः--(अग्निः)परमेश्वरः । (ज्योतिः) सर्वप्रकाशकः । (ज्योतिः) प्रकाशमयः । शिल्पविद्यासाधनप्रकाशकः । (अग्निः) भौतिकः । अग्निरिति पदनामसु पठितम् । निघं० ५।४। अनेनाग्निर्गत्यर्थत्वेन ज्ञानस्वरूपत्वादीश्वरः। प्राप्तिहेतुत्वाज्जौतिकोऽर्थो वा गृह्यते । (स्वाहा) सुष्ठु सत्यमाह यस्यां वाचि सा। स्वाहेति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११। (सूर्यः) चराचरात्मा । यः सरति जानाति चराचरं जगत्स जगदीश्वरः। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । यजु०७।४२। अनेन सर्वस्यांतर्यामी परमेश्वरोऽर्थो गृह्यते (ज्योतिः) सर्वात्मप्रकाशको वेदद्वारा सकलविद्योपदेशकः । (ज्योतिः) पृथिव्यादिमूर्तद्रव्यप्रकाशकः । (सूर्यः) यः सुवति स्वप्रकाशेन प्रेरणाहेतुर्भवति स सूर्यलोकः। सूर्य इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५।६। अनेन ज्ञापकेनेश्वरो व्यवहारसिद्धेः प्राप्तिहेतुत्वात्सूर्यलोको वा गृह्यते । (स्वाहा) स्वा स्वकीया हृदयस्था वाग् यदाह तदेव सत्यं वाच्यं नानृतमित्यस्मिन्नर्थे । (अग्निः) सर्वविद्योपदेष्टा । (वर्चः) वर्चते दीप्यतेऽनेन तत् वर्चो विद्याप्रापणम् । (ज्योतिः) सकलपदार्थप्रकाशनम् । (वर्चः) विद्याव्यवहारप्रापकम् । (स्वाहा) मनुष्यैः स्वकीयान्पदार्थान्प्रति ममेति वाच्यं नान्यपदार्थान्प्रतीत्यस्मिन्नर्थे । (सूर्यः) सकलविद्यादिव्यवहारप्रापकत्वेन वर्तमानः प्राणा

दिसमूहो वायुगणः । (वर्चः) प्रकाशकं विद्युत्सूर्यप्रसिद्धाग्न्याख्यं तेजः । (ज्योतिः) सर्वव्यवहारप्रकाशकम् । (ज्योतिः) सत्यप्रकाशकः । (सूर्यः) सर्वव्यापक ईश्वरः । (स्वाहा) वेदवाणी यज्ञक्रियामाहुत्यादिसमर्थे । स्वाहाशब्दार्थं निरुक्तकार एवं समाचष्टे । स्वाहा कृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा । निरु०८।२०। अयं मंत्रः । शत०२।३।१।१—३६ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः— अग्निर्जगदीश्वरः स्वाहा ज्योतिः सर्वेभ्यो ददाति । एवं भौतिकोग्निः सर्वप्रकाशकं ज्योतिर्ददाति । सूर्यश्चराचरात्मा स्वाहा ज्योतिः सर्वात्मसु ज्ञानं ददाति । अयं सूर्यलोको ज्योतिर्दाने मूर्त्तद्रव्यप्रकाशनं च करोति । सर्वविद्याप्रकाशकोऽग्निर्जगदीश्वरो मनुष्यार्थं सर्वविद्याधिकरणं वर्चो वेदचतुष्टयं प्रादुर्भावयति । एवं ज्योतिर्विद्युदाख्योयमग्निः शरीरब्रह्माण्डस्थो वर्चो विद्यावृद्धिहेतुर्भवति । सूर्यः सकलविद्याप्रकाशको जगदीश्वरः सर्वमनुष्यार्थं स्वाहा ज्योतिर्वर्चः प्रकाशकं विद्युत्सूर्यप्रसिद्धाग्न्याख्यं तेजः करोति । एवं ज्योतिः सूर्यलोकोपि वर्चः शरीरात्मबलं प्रकाशयति । सूर्यः प्राणो ज्योतिः सकलविद्याप्रकाशकं ज्ञानं कारयति । तथाऽयं ज्योतिर्मयः सूर्यो जगदीश्वरः स्वाहा । ज्योतिः स्वाहुतं हविः स्वसृष्टिपदार्थेषु स्वशक्त्या सर्वत्र प्रसारयति ॥ ९ ॥

भावार्थः—स्वाहाशब्दार्थो निरुक्तकारोक्त्याऽत्र गृहीतः । ईश्वरेणाऽग्निना कारणेनाग्न्यादिकं जगत्प्रकाश्यते । तत्राग्निः स्वप्रकाशेन स्वं स्वेतरं विश्वं च प्रकाशयति । परमेश्वरो वेदद्वारा सर्वा विद्याः प्रकाशयत्येवमग्निसूर्यावपि शिल्पादिविद्याः प्रकाशयत इति ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अग्निः) परमेश्वर । (स्वाहा) सत्यकथन करनेवाली वाणी को ।

(ज्योतिः) जो विज्ञान प्रकाश से युक्त करके सब मनुष्यों के लिये विद्याको देता है इसी प्रकार । (अग्निः) जो प्रसिद्ध अग्नि (ज्योतिः) शिल्पविद्यासाधनों के प्रकाशको देता है । (सूर्यः) जो चराचर सब जगत् का आत्मा परमेश्वर । (ज्योतिः) सबके आत्माओं में प्रकाश वा ज्ञान तथा सब विद्याओंका उपदेश करता है कि । (स्वाहा) मनुष्य जैसा अपने हृदय से जानता हो वैसाही बोले । तथा । जो (सूर्यः) अपने प्रकाश से प्रेरणा का हेतु सूर्यलोक । (ज्योतिः) मूर्तिमान् द्रव्योंका प्रकाश करता है । (अग्निः) जो सब विद्याओंका प्रकाश करनेवाला परमेश्वर मनुष्योंके लिये (वर्चः) सब विद्याओंके अधिकरण चारों वेदोंको प्रकट करता है । तथा जो (ज्योतिः) बिजुलीरूप से शरीर वा ब्रह्माण्ड में रहनेवाला अग्नि । (वर्चः) विद्या और वृष्टिका हेतु है । (सूर्यः) जो सब विद्याओंका प्रकाश करनेवाला जगदीश्वर सब मनुष्यों लिये । (स्वाहा) वेदवाणी से (वर्चः) सकल विद्याओं का प्रकाश और । (ज्योतिः) बिजुली, सूर्य, प्रसिद्ध और अग्निनामके तेजका प्रकाश करता है तथा । जो (सूर्यः) सूर्यलोक भी । (वर्चः) शरीर और आत्माओंके बलका प्रकाश करता है तथा । जो (सूर्यः) प्राणवायु । (वर्चः) सकल विद्याके प्रकाश करनेवाले ज्ञानको बढ़ाता है और । (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप जगदीश्वर अच्छे प्रकारसे हवन किये हुए पदार्थोंको अपने रचे हुए पदार्थोंमें अपनी शक्तिसे सर्वत्र फैलाता है वही परमात्मा सब मनुष्योंका उपास्य देव और भौतिक अग्नि कार्यसिद्धिका साधन है ॥ ९ ॥

भावार्थः-स्वाहाशब्दका अर्थ निरुक्तकारकी रीतिसे इस मंत्रमें ग्रहण किया है अग्नि अर्थात् ईश्वरने सामर्थ्य करके कारणसे अग्नि आदि सब जगत्को उत्पन्न करके प्रकाशित किया है उनमें से अग्नि अपने प्रकाशसे आप वा और सब पदार्थोंका प्रकाश करता है तथा परमेश्वर वेदके द्वारा सब विद्याओंका प्रकाश करता है इसी प्रकार अग्नि और सूर्य भी शिल्पविद्यादिका प्रकाश करते हैं ॥ ९ ॥

सजूरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । पूर्वार्द्धस्याग्निरुत्तरार्द्धस्य सूर्यश्च देवते । पूर्वार्द्धस्य गायत्र्युत्तरार्द्धस्य भुरिग्गायत्री च छन्दः । षड्जः । स्वरः ॥

भौतिकावग्निसूर्यौ कस्य सत्तया वर्त्तते इत्युपदिश्यते ॥

भौतिक अग्नि और सूर्य ये दोनों किसकी सत्तासे वर्त्तमान हैं इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या ॥ जुषाणो

अ॒ग्निर्वे॑तु॒ स्वाहा॑ । स॒जूर्दे॒वेन॑ सवि॒त्रा स॒जूरु॒षसेन्द्र॑व॒त्या ॥ जु॒षा॒णः सूर्यो॑ वे॒तु स्वाहा॑ ॥ १० ॥

स॒जूरिति॑ स॒जूः । दे॒वेन॑ । स॒वि॒त्रा । स॒जूरिति॑ स॒जूः । रा॒त्र्या । इन्द्र॑व॒त्येतीन्द्र॑ऽवत्या । जु॒षा॒णः । अ॒ग्निः । वे॒तु । स्वाहा॑ । स॒जूरिति॑ स॒जूः । दे॒वेन॑ । स॒वि॒त्रा । स॒जूरिति॑ स॒जूः । उ॒षसा॑ । इन्द्र॑व॒त्येतीन्द्र॑ऽवत्या । जु॒षा॒णः । सूर्यः॑ । वे॒तु । स्वाहा॑ ॥ १० ॥

पदार्थः--(सजूः) यः समानं जुषते सेवते सः । (देवेन) सर्वजगद्द्योतकेन ।(सवित्रा) सर्वस्य जगत उत्पादकेनेश्वरेणोत्पादितया । (सजूः) यः समानं जुषते प्रीणाति सः । (रात्र्या) तमोरूपया । (इन्द्रवत्या) इन्द्रो बह्वी विद्युद्विद्यते यस्यां तया । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । स्तनयित्नुरेवेन्द्रः । शत० १४ । ६।७।७। (जुषाणः) यो जुषते सेवते सः । (अग्निः) भौतिकः । (वेतु) व्याप्नोति । अत्र लडर्थे लोट् । (स्वाहा) ईश्वरस्य स्वा वागाहेत्यस्मिन्नर्थे । (सजूः) उक्तार्थः । (देवेन) सूर्यादिप्रकाशकेन । (सवित्रा) सर्वान्तर्यामिणा जगदीश्वरेणोत्पादितया । (सजूः) उक्तार्थः । (उषसा) रात्र्यवसानोत्पन्नया दिवसहेतुना । (इन्द्रवत्या) सूर्यप्रकाशसहितयोषसा । (जुषाणः) सेवमानः सूर्यलोकः । (वेतु) व्याप्नोति अत्रापि लडर्थे लोट् । (स्वाहा) हुतामाहुतिम् ॥ अयं मंत्रः । शत० २।२।३।२७—३०. व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः—अयमग्निर्देवेन सवित्रा जगदीश्वरेणोत्पादितयासृष्ट्या सह सजूर्जुषाण इन्द्रवत्या रात्र्या सह स्वाहा जुषाणः सन्वेतु सर्वान् पदार्थान्व्याप्नोति । एवं सूर्यो देवेन सवित्रा सकलजगदुत्पादके-

न धारितया सुष्ठुया सह सजूर्जुषाण इन्द्रवत्योषसा सह स्वाहा जुषाणः सन् हुतं द्रव्यं वेतु व्याप्नोति ॥ १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यूयं योयमग्निरीश्वरेण निर्मितः। स तत्सत्तया स्वस्वरूपं धारयन् सन् रात्रिस्थान्व्यवहारान्प्रकाशयति। एवं च सूर्य उषःकालमेत्य सर्वाणि मूर्त्तद्रव्याणि प्रकाशयितुं शक्नोतीति विजानीत ॥ १० ॥

पदार्थः— (अग्निः) जो भौतिक अग्नि। (देवेन) सब जगतको ज्ञान देने वाले (सवित्रा) सब जगतको उत्पन्न करनेवाले ईश्वर के उत्पन्न किये हुए जगत के साथ। (सजूः) तुल्यवर्त्तमान। (जुषाणः) सेवन करता वा। (इन्द्रवत्या) बहुत बिजुलीसे युक्त। (रात्र्या) अंधकाररूप रात्रिके साथ। (स्वाहा) वाणीको सेवन करता हुआ। (वेतु) सब पदार्थोंमें व्याप्त होता है इसीप्रकार। (सूर्यः) जो सूर्यलोक। (देवेन) सबको प्रकाशकरनेवाले वा। (सवित्रा) सबके अन्तर्यामी परमेश्वरके उत्पन्न वा धारण किये हुए जगत के साथ। (सजूः) तुल्यवर्त्तमान। (जुषाणः) सेवन करता वा। (इन्द्रवत्या) सूर्यप्रकाशसे युक्त। (उषसा) दिनके प्रकाशके हेतु प्रातःकालके साथ। (स्वाहा) अग्निमें होम की हुई आहुतियोंको। (जुषाणः) सेवन करता हुआ व्याप्त होकर हवन किये हुए पदार्थोंको। (वेतु) देशान्तरोंमें पहुंचाता है उसीसे सब व्यवहार सिद्ध करें ॥ १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो तुमलोग जो भौतिक अग्नि ईश्वरने रचा है वह इसी की सत्तासे अपने अपने रूपको धारण करता हुआ दीपक आदिरूपसे रात्रिके व्यवहारोंको सिद्ध करता है इसी प्रकार जो प्रातःकालको प्राप्त होकर सब मूर्तिमान् द्रव्योंके प्रकाश करनेको समर्थ है वही काम सिद्ध करनेहारा है इसको जानो ॥ १० ॥

उपेत्यस्य गोतम ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्रीछन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथेश्वरेण स्वस्वरूपमुपदिश्यते ॥

अब अगले मंत्रमें ईश्वरने अपने स्वरूपका प्रकाश किया है॥

उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ॥ आरेऽअस्मे च शृण्वते ॥ ११ ॥

उपप्रयन्तऽइत्युपऽप्रयन्तः। अध्वरम्। मन्त्रम्। वोचेम। अग्नये॥ आरे। अस्मेऽइत्यस्मे। च। शृण्वते॥ ११॥

पदार्थः--(उपप्रयन्तः) उत्कृष्टं निष्पादयंतो जानंतः । (अध्वरम्) क्रियामयं यज्ञम् । (मन्त्रम्) वेदस्थं विज्ञानहेतुम् । (वोचेम) उच्याम । अयमाशिषि लिङ्युत्तमबहुवचने प्रयोगः । लिङ्याशिष्यङित्यङि कृते छन्दस्युभयथेति सार्वधातुकमाश्रित्य सकारलोपो । वच उम् । अ० ७।४।२० इत्यादि पर-उमागमश्च । (अग्नये) विज्ञानस्वरूपायान्तर्यामिने जगदीश्वराय (आरे) दूरे । आर इति दूरनामसु पठितम् । निघं० ३।२६। (अस्मे) अस्माकम् । अत्र सुपां सुलुगित्यमःस्थाने शे आदेशः । (च) समुच्चये । (शृण्वते) यो यथार्थतया शृणोति तस्मै । अयं मंत्रः । शत० २।३।२।९।१० व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अन्वयः---अध्वरमुपप्रयंतो वयमस्मे अस्माकमारे दूरे च समीपे शृण्वतेऽग्नये जगदीश्वराय मंत्रं वोचेमोच्याम ॥ ११॥

भावार्थः--मनुष्यैर्वेदमन्त्रैरीश्वरस्य स्तुतिर्यज्ञानुष्ठाने कृत्वा । य ईश्वरोऽन्तर्बहिश्चाभिव्याप्य सर्वं शृण्वन्वर्त्तते । तस्माद्भीत्वा न कदाचिदधर्म कर्तुमिच्छापि कार्या यदा मनुष्य एतं जानाति तदा समीपस्थो यदैतं न जानाति तदा दूरस्थ इति वेद्यम् ॥११॥

पदार्थ :--(अध्वरम्) क्रियामय यज्ञको । (उपप्रयन्त) अच्छे प्रकार जानते हुए हम लोग । (अस्मे) जो हम लोगों के । (आरे) दूर वा । (च) निकटमें । (शृण्वते) यथार्थ सत्यासत्य को सुननेवाले । (अग्नये) विज्ञानस्वरूप अंतर्यामी जगदीश्वर है इसी के लिये । (मन्त्रम्) ज्ञानको प्राप्त करानेवाले मंत्रोंको । (वोचेम) नित्य उच्चारण वा विचार करें ॥ ११ ॥

भावार्थ :-- मनुष्यों को वेदमंत्रों के साथ ईश्वर की स्तुति वा यज्ञके अनुष्ठान को करके । जो ईश्वर भीतर बाहर सब जगह व्याप्त होकर सब व्यवहारों को सुनता वा जानता हुआ वर्तमान है इसकारण उससे भय मानकर अधर्म करने की इच्छाभी न करनी चाहिये जब मनुष्य परमात्मा को जानता है तब समीपस्थ और जब नहीं जानता तब दूरस्थ है ऐसा निश्चय जानना चाहिये ॥ ११ ॥

अग्निर्मूर्द्धेत्यस्य विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री-

छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथाग्निशब्देनेश्वरभौतिकावुपदिश्येते ॥

अब अगले मंत्र में अग्निशब्द से ईश्वर और भौतिक अग्नि प्रकाश किया है ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ॥
अपाᳬरेताᳬसि जिन्वति ॥ १२ ॥

अग्निः । मूर्द्धा । दिवः । ककुत् । पतिः । पृथिव्याः । अयम् ॥ अपाम् । रेताᳬसि । जिन्वति ॥ १२ ॥

पदार्थः—(अग्निः) सर्वस्वामीश्वरः । प्रकाशादिगुणवान्भौतिको वा । (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः । (दिवः) प्रकाशवतः सूर्यादेर्जगतः । (ककुत्) महान् । ककुह इति महन्नामसु पठितम् । निघं० ३ । ३ । ककुहशब्दस्य स्थाने ककुत् । पृषोदरादित्वाकृतिगणान्तर्गतत्वात्सिद्धः । (पतिः) पालयिता । पालनहेतुर्वा । (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य पृथिव्यादेर्जगतः । (अयम्) निरूपितपूर्वः । (अपाम्) प्राणानां जलानां वा । आप इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५।३। अनेन चेष्टादिव्यवहारप्रापकाः प्राणा गृह्यन्ते । आप इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १ । १२ । (रेतांसि) वीर्याणि । (जिन्वति) रचयितुं जानाति । प्रापयति वा । जिन्वतीति गतिकर्मसु पठितम् । निघं० २ । १४ । अयं मंत्रः । शत० २।३ । २। ११ । व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं योऽयं ककुन्मूर्द्धाग्निर्जगदीश्वरो दिवः पृथिव्याश्च पतिः पालकः सन्नपां रेतांसि जिन्वति स्रष्टुं जानाति तमेव पूज्यं मन्यध्वमिस्येकः । योऽयमग्निः ककुद्दिवो मूर्द्धा पृथिव्याश्च पतिः पालनहेतुः सन्नपां रेतांसि जिन्वति स सुखं प्रापयतीति द्वितीयः ॥ १२ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । यो जगदीश्वर प्रकाशाप्रकाशवद्विविधं जगदर्थात्प्रकाशवत्सूर्यादिकमप्रकाशवत्पृथिव्यादिकं च रचयित्वा पालयित्वा प्राणेषु बलं च दधाति । तथा योऽयमग्निः पृथिव्यादिजगतः पालनहेतुर्भूत्वा विद्युज्जाठरादिरूपः प्राणानां जलानां वीर्याणि जनयति स एव सुखसाधको भवतीति ॥ १२ ॥

पदार्थः—(अयम्) जो यह कार्यकारणसे प्रत्यक्ष । (ककुत्) सबसे बड़ा । (मूर्द्धा) सबके ऊपर विराजमान । (अग्निः) जगदीश्वर (दिवः) प्रकाशमान सूर्य आदि लोक और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोकों का । (पतिः) पालन करता हुआ । (अपाम्) प्राणोंके । (रेतांसि) वीर्योंकी । (जिन्वति) रचनाको जानता है उसी को पूज्य मानो ॥ १ ॥ (अयम्) यह अग्नि । (ककुत्) सब पदार्थों से बड़ा । (दिवः) प्रकाशमान पदार्थों के । (मूर्द्धा) ऊपर विराजमान (पृथिव्याः) । प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोकों के । (पतिः) पालन का हेतु होकर । (अपाम्) जलोंके । (रेतांसि) वीर्योंको । (जिन्वति) प्राप्त करता है ॥ २ ॥ १२ ॥

भावार्थः—इसमन्त्रमें श्लेषालंकार है । जो जगदीश्वर प्रकाश वा अप्रकाशरूप दो प्रकार का जगत् अर्थात् प्रकाशवान्सूर्य आदि और प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोकोंको रचकर पालन करके प्राणों में बलको धारण करता है तथा जो भौतिक अग्नि पृथिवी आदि जगत के पालन का हेतु होकर बिजुली जाठर आदिरूपसे प्राण वा जलोंके वीर्योंको उत्पन्न करता है ॥ १२ ॥

उभा वामिन्द्राग्नी इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते ।
स्वराट् त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथेश्वरभौतिकावग्निवायू उपदिश्येते ॥

अगले मंत्रमें भौतिक अग्नि और वायुका उपदेश किया है ॥

उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्याऽउभा राधसः सह मादयध्यै ॥ उभा दाताराविषाᳫं रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥ १३ ॥

उभा । वाम् । इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी । आहुवध्या इत्याहुवध्यै ।

उभा । राधसः । सह । मादयध्यै । उभा । दातारौ । इषाम् । रयीणाम् ।
उभा । वाजस्य । सातये । हुवे । वाम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(उभा) द्वौ । अत्र सर्वत्र सुपां सुलुगित्याकारादेशः । (वाम्) तौ । अत्र व्यत्ययः । (इन्द्राग्नी) इन्द्रो वायुर्विद्युदादिरूपोऽग्निश्च तौ । (आहुवध्यै) शब्दयितुमुपदेष्टुं श्रोतुं वा । अत्र ह्वेञित्यस्मात्तुमर्थे सेसे० इति कध्यै प्रत्ययः । (उभा) उभौ । (राधसः) राध्नुवन्ति सम्यङ्निर्वर्तयन्ति सुखानि येभ्यः साधनेभ्यस्तानि धनानि । राधइति धननामसु पठितम् । निघं० २ । १० । (सह) परस्परम् । (मादयध्यै) मादयितुम् । अत्र मदी हर्षग्लेपनयोरिति णिजन्ताद्दध्यै प्रत्ययः । (उभा) उभौ । (दातारौ) सुखदानहेतू । (इषाम्) सर्वैर्जनैर्यानीष्यंते तेषाम् । (रयीणाम्) परमोत्तमानां चक्रवर्तिराज्यादिधनानाम् । (उभा) द्वौ । (वाजस्य) अन्युत्तमस्यान्नस्य । वाज इत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २ । ७ । (सातये) संभोगाय । (हुवे) गृह्णामि । अत्र हुदानादनयोरित्यस्माद्बहुलं छन्दसीति शपोलुक् । व्यत्ययेनात्मनेपदं च । (वाम्) तौ । अत्रापि पूर्ववद्व्यत्ययः ॥ अयं मंत्रः । शत० २ । ३ । २ । १२ । व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः—अहं यावुभौ दातारौ सुखदानहेतू वर्त्तेते ताविन्द्राग्नी आहुवध्यै शब्दयितुं हुवे गृह्णामि राधसो भोगेन सह मादयध्यै मोदयितुमुभौ वा तौ हुवे इषां रयीणां वाजस्य च सातय उभौ वां तौ हुवे गृह्णामि ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । ये मनुष्या ईश्वरसृष्टौ सुष्ठु किलाग्निवायुगुणान्विदित्वैतौ संप्रयुज्य कार्याणि साधयंति ते सर्वाणि सार्वभौमराज्यादिधनानि प्राप्य नित्यं मोदंते नेतर इति ॥ १३ ॥

पदार्थः— मैं जो । (उभा) दो । (दातारौ) सुख देने के हेतु । (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि हैं । (वाम्) उनको । (आहुवध्यै) गुण जानने के लिये । (हुवे) ग्रहण करता हूं । (राधसः) उत्तम सुखयुक्त राज्यादिधनों के भोग के (सह) साथ (मादयध्यै) आनंद के लिये । (वाम्) उन । (उभा) दोनों को । (हुवे) ग्रहण करता हूं तथा । (इषाम्) सब को इष्ट । (रयीणाम्) अत्यंत उत्तमचक्रवर्ति राज्यश्रादि धन वा । (वाजस्य) अत्यंत उत्तम अन्न के । (सातये) अच्छे प्रकार भोग करने के लिये (उभौ) उन दोनों को (हुवे) ग्रहण करता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः— जो मनुष्य ईश्वर की सृष्टि में अग्नि और वायु के गुणों को जानकर कार्यों में संप्रयुक्त करके अपने २ कार्यों को सिद्ध करते हैं वे सब भूगोल के राज्यआदि धनों को प्राप्त होकर आनंद करते हैं इनसे भिन्न मनुष्य नहीं ॥ १३ ॥

अयन्तइत्यस्य देवव्रातभरतावृषी । अग्निर्देवता । स्वराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनरीश्वरभौतिकावुपदिश्येते ॥

फिर भी अगले मंत्र में ईश्वर और भौतिक अग्नि का उपदेश किया है ॥

अयन्ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः ॥ तञ्जानन्नग्नऽआरोहाथानो वर्द्धया रयिम् ॥ १४ ॥

अयम् । ते । योनिः । ऋत्वियः । यतः । जातः । अरोचथाः । तम् । जानन् । अग्ने । आ । रोह । अथ । नः । वर्द्धय । रयिम् ॥ १४ ॥

पदार्थः— (अयम्) वायुः । (ते) तवेश्वरस्य (योनिः) निमित्तकारणम् । (ऋत्वियः) ऋतुः प्राप्तोस्य सः । अत्र छन्दसि घस् । अ० ५।१।१०६ अनेन ऋतुशब्दाद्घसप्रत्ययः (यतः) यस्मात् । (जातः) प्रादुर्भूतः । (अरोचथाः) दीपयति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लुङ् । (तम्) अग्निम् (जानन्) । (अग्ने) जगदीश्वरो विद्वान् । (आ) समंतात् क्रियायोगे (रोह) उन्नतिं

गमय गमयति वा (अथ) आनंतर्ये अत्र निपातस्य चेति दीर्घः । (नः) अस्माकम् । (वर्द्धय) सर्वोत्कृष्टतां संपादय । संपादयति वा । अत्रान्येषामपीति दीर्घः । (रयिम्) पूर्वोक्तं धनम् । अयं मंत्रः । शत० २ । ३ । २ । १३ व्याख्यातः ॥१४॥

अन्वयः–हे अग्ने जगदीश्वर ते तव सृष्टौ य ऋत्वियोग्निर्वायोः सकाशाज्जातः सन्नारोचथाः समंतात्प्रदीपयति । यः सूर्यादिरूपेण दिवमारोह समंताद्रोहति यो नोस्माकं रयिं वर्द्धयति यस्याग्नेरयं वायुर्योनिरस्ति तं जानंस्त्वं तेन नोस्माकं रयिं सार्वभौमराज्यादिसिद्धिं धनं वर्द्धय ॥ १४ ॥

भावार्थः–मनुष्यैः सर्वेषु कालेषु यथावद्योजनीयोऽस्ति यो वायुनिमित्तेनोत्पद्यते य एवानेककार्यसिद्धिकरत्वेन सर्वान् सुखयति तं यथावद् विदित्वा संप्रयुज्य कार्याणि साधनीयानीति ॥ १४ ॥

पदार्थः–हे (अग्ने) जगदीश्वर । (ते) आपकी सृष्टि में जो (ऋत्वियः) ऋतु ऋतु में प्राप्ति कराने योग्य अग्नि और जो वायु से । (जातः) प्रसिद्ध हुआ । (आरोचथाः) सब प्रकार प्रकाश करता है वा जो सूर्य आदिरूप से प्रकाशवाले लोकों को । (आरोह) उन्नति को सब ओर से बढ़ाता है और जो । (नः) हमारे । (रयिम्) राज्यआदि धनको बढ़ाता है । (तम्) उस अग्नि को । (जानन्) जानते हुए आप उस से । (नः) हमारे । (रयिम्) सब भूगोल के राज्यआदि से सिद्ध हुए धनको । (वर्द्धय) वृद्धियुक्त कीजिये ॥ १४ ॥

भावार्थः–मनुष्यों को जो सब काल में यथावत् उपयोग करने योग्य वा जो वायु के निमित्त से उत्पन्न हुआ तथा जो अनेक कार्यों की सिद्धिरूप कारणसे सब को सुख देता है उस अग्नि को यथावत जानकर उसका उपयोग करके सब कार्यों की सिद्धि करनी चाहिये ॥ १४ ॥

अयमिहेत्यस्य वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः सोऽग्निः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह अग्नि कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः। यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ १५ ॥

अयम् । इह । प्रथमः । धायि । धातृभिरिति धातृऽभिः । होता । यजिष्ठः । अध्वरेषु । ईड्यः । यम् । अप्नवानः । भृगवः । विरुरुचुरिति विऽरुरुचुः । वनेषु । चित्रम् । विभ्वमिति विऽभ्वम् । विशेविंशऽइति विशेऽविशे ॥ १५ ॥

पदार्थः—(अयम्) ईश्वरो भौतिको वा । (इह) अस्यां सृष्टौ (प्रथमः) यज्ञक्रियायामुपास्य आदिमं साधनं वा । (धायि) ध्रियते । अत्र वर्त्तमाने लुङ् । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपीत्यडभावः । (धातृभिः) यज्ञक्रियाधारकैर्विद्वद्भिः । (होता) ग्राहकः । (यजिष्ठः) अतिशयेनानन्दशिल्पविद्ययोः संगतिहेतुः । (अध्वरेषु) उपासनाग्निहोत्राद्यश्वमेधांतेषु शिल्पविद्यांतर्गतेषु वा यज्ञेषु । (ईड्यः) उपासितुमध्येषितुं वाऽर्हः । (यम्) उक्तार्थम् । (अप्नवानः) येऽप्नान्विद्यासंतानान्कुर्वन्ति ते अप्न इत्यस्मात्तत्करोति तदाचष्टे । अ० ३ । १ । २६ । अनेन करोत्यर्थे णिच् । ततोन्येभ्योपि दृश्यन्तइति वनिप् । अप्न-इत्यपत्यनामसु पठितम् । निघं० २ । २ । (भृगवः) यज्ञविद्यावेत्तारः । भृगव इति पदनामसु पठितम् निघं० ५ । ५ । अनेन ज्ञानवत्त्वं गृह्यते । (विरुरुचुः) विदीपयंति । अत्र लडर्थे लिट् । (वनेषु) संभजनीयेषु । (चित्रम्) अद्भुतगुणम् ॥ (विभ्वम्) व्यापनशीलम् । अत्र वा छन्दसीत्यनेन पूर्वरूपादेशो न । (विशेविशे) प्रतिप्रजाम् । अयं मन्त्रः । शत० २ । ३ । २ । १४ । व्याख्यातः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अप्नवानो भृगवो विद्वांस इह वनेष्वध्वरेषु विशे विशे

विभ्वं चित्रं यमग्निं विरुरुचुर्विदीपयंति सोऽयं धातृभिः प्रथम ईड्यो होता यजिष्ठोग्निरिह धायि ध्रियते ॥ १९ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । विद्वांसो यज्ञक्रियासिद्ध्यर्थमुपास्यसाधनत्वाभ्यामेतमग्निं स्तुत्वा गृहीत्वा वाऽस्यां सृष्टौ प्रजासुखानि निर्वर्त्तयेयुरिति ॥ १९ ॥

पदार्थः—(अप्नवानः) विद्या संतान अर्थात् विद्या पढ़ाकर विद्वान् कर देनेवाले । (भृगवः) यज्ञविद्या के जाननेवाले विद्वान् लोग (इह) इस संसार में (वनेषु) अच्छे प्रकार सेवन करने योग्य । (अध्वरेषु) उपासना अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त और शिल्पविद्यामय यज्ञों में । (विशेविशे) प्रजा २ के प्रति । (विभ्वम्) व्याप्तस्वभाव वा । (चित्रम्) आश्चर्यगुणवाले । (यम्) जिस ईश्वर और अग्निको (विरुरुचुः) विशेष करके प्रकाशित करते हैं । (अयम्) वही । (धातृभिः) यज्ञक्रिया के धारण करनेवाले विद्वान् लोगोंको (ईड्यः) खोज करने योग्य । (प्रथमः) यज्ञक्रिया का आदिसाधन । (होता) यज्ञका ग्रहण करानेवाला । (यजिष्ठः) उपासना और शिल्पविद्या का हेतु है । उसको । (इह) इस संसार में । (धायि) धारण करते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में श्लेषालंकार है । विद्वान लोग यज्ञकी सिद्धि के लिये मुख्य करके उपास्यदेव और साधन भौतिक अग्नि को ग्रहण करके इस संसार में प्रजाके सुखों को नित्य सिद्ध करें ॥ १९ ॥

अस्य प्रत्नामित्यस्याऽवत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳ शुक्रन्दुदुह्रेऽअह्रयः ॥ पयः सहस्रसामृषिम् ॥ २० ॥

अस्य । प्रत्नाम् । अनु । द्युतम् । शुक्रम् । दुदुह्रे । अह्रयः । पयः । सहस्रसामिति सहस्रऽसाम् । ऋषिम् ॥ २० ॥

पदार्थः—(अस्य) अग्नेः । (प्रत्नाम्) अनादिवर्तमानां पुराणीमनादिस्वरूपेण नित्याम् । प्रत्नमिति पुराणनामसु पठितम् । निघं० ३।२७ । (अनु) पश्चादर्थे । (द्युतम्) कारणस्थां दीप्तिम् । अत्र द्युतदीप्तावित्यस्मात् क्विप् प्रत्ययः । (शुक्रम्) शुद्धं कार्यकरं साधनम् (दुदुह्रे) प्रपूरयन्ति । अत्र वर्तमाने लिट् । इरयोरे । अ० ६।४।७६। अनेनेरजित्यस्य स्थाने रे आदेशः । (अह्रयः) अह्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति सर्वा विद्या ये ते विद्वांसः । अत्राऽह्व्याप्ता-वित्यस्माद्बाहुलकेनौणादिकः क्रिः प्रत्ययः । महीधरेणायं ह्री लज्जायामित्यस्य प्रयोगोऽशुद्ध एव व्याख्यात इति । (पयः) जलम् । पय इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२। (सहस्रसाम्) या सहस्राण्यसंख्यातानि कार्याणि सनोति ताम् । (ऋषिम्) कार्यसिद्धिप्राप्तिहेतुम् । ऋषेगुपधारकित् । उ० ४।१२९। अनेन ऋषीगतावित्यस्माद्धातोरिन्प्रत्ययः । अयं मंत्रः । शत० २।३।२। १५। व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः—अह्रयो विद्वांसोऽस्याग्नेः सहस्रसामृषिं प्रत्नां द्युतं ज्ञात्वा शुक्रं पयश्चानुदुदुह्रे प्रपूरयन्ति ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यथाग्नेस्सगुणमहितस्य कारणरूपेणानादित्वेन नित्यत्वं विज्ञेयमस्ति । तथैवान्येषामपि जगत्स्थानां कार्यद्रव्याणां कारणरूपेणानादित्वं वेदितव्यमेतद्विदित्वैतानग्न्यादीन्पदार्थान्कार्येषूपकृत्य सर्वे व्यवहाराः संसाधनीया इति ॥ १६ ॥

पदार्थ—(अह्रयः)सब विद्याओंको व्याप्त करानेवाले विद्वान् लोग । (अस्य) इस भौतिक अग्निको । (सहस्रसाम्) असंख्यात कार्योंको देने वा । (ऋषिम्) कार्यसिद्धिके प्राप्तिका हेतु (प्रत्नाम्) प्राचीन अनादिस्वरूप से नित्य वर्त्तमान । (द्युतम्) कारण में रहनेवाली दीप्ति को जानकर । (शुक्रम्) शुद्धकार्यों को सिद्ध करने वाले । (पयः) जलको । (अनु, दुदुह्रे) अच्छे प्रकार पूरण करते हैं अर्थात् अग्निमें हवनादि करके वृष्टिसे संसारको पूरण करते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जैसे गुणसहित अग्नि का कारणरूप वा अनादिपन से

नित्यपन जानना योग्य है वैसेही जगत के अन्य पदार्थों का भी कारणरूप से अनादिपन जानना चाहिये इनको जानकर कार्यों में उपयुक्त करके सब व्यवहारों की सिद्धि करनी चाहिये ॥ १६ ॥

तनूपाइत्यस्याऽवत्सारऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथेश्वरभौतिकौ किं कुरुत इत्युपदिश्यते ॥

अब ईश्वर और भौतिक अग्नि क्या करते हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है।

तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वम्मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेस्यायुर्मे देहि वर्च्चोदाऽअग्नेऽसि वर्च्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनन्तन्मऽआपृण ॥ १७ ॥

तनूपाऽइति तनूऽपाः । अग्ने । असि । तन्वम् । मे । पाहि । आयुर्दा ऽइत्यायुः ऽदाः । अग्ने । असि । आयुः । मे । देहि । वर्चोदाऽइति वर्चःऽदाः । अग्ने । असि । वर्चः । मे । देहि । अग्ने । यत् । मे । तन्वाः । ऊनम् । तत् । मे । आ । पृण ॥ १७ ॥

पदार्थः— (तनूपाः) यस्तनूः सर्वपदार्थदेहान्पाति रक्षति स जगदीश्वरः । पालनहेतुर्भौतिको वा । (अग्ने) सर्वाभिरक्षकेश्वर । रक्षाहेतुर्भौतिको वा । (असि) अस्ति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । (तन्वम्) शरीरम् । अत्र वाच्छन्दसीत्यमिपूर्वइत्यस्यानुवर्तनात्पूर्वरूपादेशो न भवति (मे) मम (पाहि) पाति वा । (आयुर्दाः) आयुःप्रदः । (असि) भवति वा (आयुः) जीवनम् । (मे) मह्यम् । (देहि) ददाति वा । (वर्चोदाः) यो वर्चो विज्ञानं ददातीति तत्प्राप्तिहेतुर्वा । (अग्ने) सर्वविद्यामयेश्वर विद्याहेतुर्वा । (असि) भवति वा (वर्चः) विद्याप्राप्तिं दीप्तिं वा । (मे) मह्यम् । (देहि) ददाति वा । (अग्ने) कामानां प्रपूरकेश्वर । कामपूर्तिहेतुर्वा । (यत्) यावद्यस्माद्वा ।

(मे) मम । (तन्वाः) अंतःकरणाख्यस्य बाह्यस्य शरीरस्य वा । (ऊनम्) अपर्याप्तम् । (तत्) तावत्तस्माद्वा । (मे) मम । (आ) समंतात् । (पृण) पूरयति वा । अयं मंत्रः । शत० २ । ३ । २ । १६ । २० व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर यद्यस्मात्त्वं तनूपा असि तत्तस्मान्मे मम तन्वं पाहि । हे अग्ने यद्यस्मात्त्वमायुर्दा असि तत्तस्मान्मे मह्यं पूर्णमायुर्देहि । हे अग्ने यद्यस्मात्त्वं वर्चोदा असि तत्तस्मान्मे मह्यं वर्चः पूर्णविद्यां देहि । हे अग्ने मे मम तन्वा यद्यावदूनं बुद्धिबलशौर्यादिकमपर्याप्तमस्ति तत्तावदापृण समन्तात्प्रपूरयेत्येकः। अयमग्निर्यद्यस्मात्तनूपा अस्ति तत्तस्मान्मे मम जाठररूपेण तन्वं पाति। यद्यस्मादयमग्निरायुर्दा आयुर्निमित्तमस्ति तत्तस्मान्मे मह्यमायुर्ददाति। यद्यस्मादयमग्निर्वर्चोदा अस्ति तत्तस्माद्वर्चो दीप्तिं ददाति । अयमग्निर्यद्यावन्मे मम तन्वा ऊनमपर्याप्तं तत्तावत् समंतात्प्रपूरयतीति द्वितीयः ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः। परमेश्वरेणास्मिञ्जगति यतः सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः शरीरायुर्निमित्तविद्याप्रकाशसर्वांगपूर्तिर्निर्मिता तस्मात् सर्वे पदार्थाः स्वस्वरूपं धारयंति तथैवास्य सृष्टौ प्रकाशादिगुणवत्त्वादयमग्निरेतेषां मुख्यः साधकोस्तीति सर्वैर्वेदितव्यम् ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे । (अग्ने) जगदीश्वर । (यत्) जिसकारण आप । (तनूपाः) सब मूर्तिमान पदार्थों के शरीरों की रक्षा करनेवाले । (असि) है इससे आप । (मे) मेरे । (तन्वम्) शरीर की । (पाहि) रक्षा कीजिये । हे । (अग्ने) परमेश्वर जैसे आप । (आयुर्दाः) सब को आयु के देनेवाले । (असि) हैं वैसे । (मे) मेरे लिये । (आयुः) पूर्ण आयु अर्थात् सौ वर्ष तक जीवन । (देहि) दीजिये । हे (अग्ने) सर्व विद्यामय ईश्वर जैसे आप । (वर्चोदाः) सब मनुष्यों को विज्ञान देनेवाले। (असि) हैं वैसे । (मे) मेरे लिये भी ठीक२ गुण ज्ञानपूर्वक । (वर्चः) पूर्ण विद्या को ।

(देहि) दीजिये । हे । (अग्ने) सब कामोंको पूरण करनेवाले परमेश्वर । (मे) मेरे । (तन्वाः) शरीरमें । (यत्) जितना । (ऊनम्) बुद्धिबल और शौर्य आदि गुण कर्म है । (तत्) उतना अंग । (मे) मेरा । (आपृण) अच्छेप्रकार पूर्ण कीजिये ॥ १ ॥ (अग्ने) यह भौतिक अग्नि । (यत्) जैसे । (तनूपाः) पदार्थोंकी रक्षा का हेतु । (असि) है वैसे जाठराग्निरूपसे । (मे) मेरे । (तन्वम्) शरीरकी । (पाहि) रक्षा करता है । (अग्ने) जैसे ज्ञानका निमित्त यह अग्नि । (आयुर्दाः) सब के जीवनका हेतु । (असि) है वैसे । (मे) मेरे लिये भी (आयुः) जीवनके हेतु क्षुधा आदि गुणोंको । (देहि) देता है । (अग्ने) यह अग्नि जैसे । (वर्चोदाः) विज्ञानप्राप्तिका हेतु । (असि) है वैसे । (मे) मेरे लिये भी । (वर्चः) विद्याप्राप्तिके निमित्त बुद्धिबलादि को । (देहि) देता है तथा । (अग्ने) जो कामनाके पूरण करनेमें हेतु भौतिक अग्नि है वह । (यत्) जितना । (मे) मेरे । (तन्वाः) शरीरमें-बुद्धिआदि सामर्थ्य । (ऊनम्) कम है । (तत्) उतना गुण (आपृण) पूरण करता है ॥ २ ॥ १७ ॥

भावार्थः-- इस मंत्रमें श्लेषालंकार है । जिसकारण परमेश्वर ने इस संसारमें सब प्राणियों के लिये शरीर के आयुर्निमित्त विद्या का प्रकाश और सब अंगोंकी पूरणता रची है इसीसे सब पदार्थ अपने २ स्वरूप को धारण करते हैं इसीप्रकार परमेश्वरकी सृष्टिमें प्रकाश आदि गुणवान् होनेसे यह अग्नि भी सब पदार्थों के पालन का मुख्य साधन है ॥ १७ ॥

इन्धानास्त्वेत्यस्याऽवत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्ब्राह्मी-
पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

पुनस्तावेवोपदिश्येते ॥

फिरभी अगले मंत्रमें परमेश्वर और भौतिक अग्निका प्रकाश किया है ॥

इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहि व्वयस्वन्तो व्वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः सहस्कृतम् । अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽअदाभ्यम् ॥ चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥ १८ ॥

इन्धानाः । त्वा । शतम् । हिमाः । द्युमन्तमिति द्युऽमन्तम् । सम् । इधीमहि । वयस्वन्तः । वयस्कृतमिति वयःऽकृतम् । सहस्वन्तः । सहस्कृतमिति सहःऽकृतम् । अग्ने । सपत्नदम्भनमिति सपत्नऽदम्भनम् । अदब्धासः । अदाभ्यम् । चित्रावसो इति चित्रऽवसो । स्वस्ति । ते । पारम् । अशीय ॥ १८ ॥

पदार्थः—(इन्धानाः) प्रकाशयंतः । (त्वा) त्वामनंतगुणं जगदीश्वरं प्रकाशादिगुणवंतं भौतिकं वा । (शतम्) शतसंख्याकान्संवत्सरानधिकं वा । (हिमाः) हेमंतर्तुयुक्तानि वर्षाणि । शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यासम । शत० २ । ३ । २ । २१ ।। (द्युमंतम्) द्योतनंतः प्रकाशो विद्यते यस्मिन्परमेश्वरे वा प्रशस्तः प्रकाशो विद्यते यस्मिन्भौतिके तम् । अत्र भूमन्यर्थे प्रशंसार्थे च मतुप् (सम्) सम्यगर्थे । (इधीमहि) जीवेम वा । (वयस्वंतः) प्रशस्तं पूर्णमायुर्विद्यते येषां ते । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । (वयस्कृतम्) यो वयः करोति तम् । (सहस्वन्तः) सहनं सहो विद्यते येषां ते । अत्र भूमन्यर्थे मतुप् । (सहस्कृतम्) यः सहः सहनं करोति कारयति वा तम् । (अग्ने) विज्ञानेश्वर । कार्यप्रापकोऽग्निर्वा । (सपत्नदम्भनम्) यः सपत्नान् दम्भयतीति तम् । (अदब्धासः) दम्भाहंकाररहिताः । अनुपहिंसिताः । हिनस्ति दम्नोतीति वधकर्मसु पठितम् । निघं० २ । १९ । अत्राज्जसेरसुगित्यसुगागमः । (अदाभ्यम्) अहिंसनीयम् । (चित्रावसो) चित्रमद्भुतं वसु धनं विद्यते यस्मिंस्तत्संबुद्धावीश्वर । चित्राणि वसूनि धनानि यस्मात्स भौतिकः । अत्रान्येषामपीति दीर्घः । (स्वस्ति) प्राप्तव्यं सुखम् । स्वस्तीति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ५ । अनेन प्राप्तव्यं सुखं गृह्यते (ते) तव तस्य वा । (पारम्) सर्वदुःखेभ्यः पृथग्भूतम् । (अशीय) प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

अन्वयः— हे चित्रावसो अग्ने जगदीश्वराद्दभ्रासो वयस्वन्तःसहस्वन्तोऽदाभ्यं सपत्नदंभनं वयस्कृतं सहस्कृतं द्युमंतं त्वामिन्धानाः सन्तो वयं शतं हिमाः समिधीमहि प्रकाशयेम जीवेमैवं कुर्वन्नहमपि यस्ते तव कृपया सर्वदुःखेभ्यः पारं गत्वा स्वस्ति सुखमशीय प्राप्नुयामित्येकः । अदभ्रासो वयस्वंतः सहस्वंतस्त्वा तमदाभ्यं सपत्नदंभनं वयस्कृतं सहस्कृतमग्ने अग्निं नित्यमिंधानाः प्रदीपयंतो वयं शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीवेमैवं कुर्वन्नहमपि योयं चित्रावसो चित्रावसुरग्निस्ते तस्य सकाशाद्दारिद्र्यादिदुःखेभ्यः पारं गत्वा स्वस्ति सुखमशीय प्राप्नुयामिति द्वितीयः ॥ १८ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । मनुष्यैः पुरुषार्थेनेश्वरोपासनयाऽग्न्यादिपदार्थेभ्य उपकारकरणेन च सर्वदुःखांतं गत्वा परं सुखं प्राप्य शतवर्षपर्यन्तं जीवितव्यं नच केनाप्येकक्षणमप्यालस्ये स्थातव्यम् । किंतु यथा पुरुषार्थो वर्द्धेत तथैवानुष्ठातव्यमिति ॥ १८ ॥

पदार्थः— हे । (चित्रावसो) आश्चर्यरूप धनवाले । (अग्ने) परमेश्वर (अदभ्रासः) दंभ अहंकार और हिंसादि दोषरहित । (वयस्वंतः) प्रशंसनीय पूर्ण अवस्थायुक्त । (सहस्वंतः) अत्यंत सहन स्वभावसहित (अदाभ्यम्) मानने योग्य । (सपत्नदंभनम्) शत्रुओंके नाश करने (वयस्कृतम्) अवस्थाकी पूर्ति करने (सहस्कृतम्) सहन करने कराने तथा । (द्युमंतम्) अनंत प्रकाशवाले । (त्वा) आपका। (इन्धानाः) उपदेश और श्रवण करतेहुए हमलोग । (शतं) सौ वर्षतक वा सौसे अधिक । (हिमाः) हेमंतऋतुयुक्त । (समिधीमहि) अच्छेप्रकार प्रकाश करें वा जीवें इसप्रकार करता हुआ मैं भी जो । (ते) आपकी कृपासे । सब दुःखों से ।(पारम्) पार होकर । (स्वस्ति) सुख को । (अशीय) प्राप्त होऊँ ॥ १ ॥ (अदभ्रासः) दंभ अहंकार हिंसादि दोषरहित । (वयस्वंतः) पूर्णः अवस्थायुक्त । (सहस्वंतः) अत्यंत सहन करनेवाले । (त्वा) उस (अदाभ्यम्) उपयोग करने योग्य । (सपत्नदंभनम्) आग्नेयादि शस्त्रअस्त्रविद्या में हेतु होने से शत्रुओं को जिताने । (वयस्कृतम्) अवस्था को बढ़ाने । (सहस्कृतम्) सहनका हेतु । (द्युमन्तम्) अच्छे प्रकार प्रकाशयुक्त । (अग्ने) कार्यों को प्राप्त करानेवाले भौतिक अग्नि को । (इन्धानाः) प्रज्वलित

करते हुए हम लोग । (शतम्) सौ वर्षपर्यंत । (हिमाः) हेमंतऋतुयुक्त । (समिधीमहि) जीवें इसप्रकार करता हुआ मैं भी जो यह । (चित्रावसो) आश्चर्यरूप धनके प्राप्तिका हेतु अग्नि है । (ते) उसके प्रकाश से दारिद्र आदि दुःखों से । (पारम्) पार होकर । (स्वस्ति) अत्यंत सुख को । (अशीय) प्राप्त होऊँ ॥ २ ॥ १८ ॥

भावार्थः— इस मंत्रमें श्लेषालंकार है । मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ ईश्वर की उपासना तथा अग्नि आदि पदार्थों से उपकार लेके दुःखों से पृथक् होकर उत्तम २ सुखों को प्राप्त होकर सौ वर्ष जीना चाहिये अर्थात् क्षणभर भी आलस्य में नहीं रहना किंतु जैसे पुरुषार्थ की वृद्धि हो वैसा अनुष्ठान निरंतर करना चाहिये ॥ १८ ॥

सन्त्वमित्यस्यावत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती छन्दः ।
निषादः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर भी परमेश्वर और अग्नि कैसे हैं सो अगले मंत्रमें प्रकाशित किया है ॥

सन्त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणा᳚ स्तुतेन ॥ सम्प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सम्प्रजया सᳬरायस्पोषेणग्मिषीय ॥ १९ ॥

सम् । त्वम् । अग्ने । सूर्यस्य । वर्चसा । अगथाः । सम् । ऋषीणाम् । स्तुतेन । सम् । प्रियेण । धाम्ना । सम् । अहम् । आयुषा । सम् । वर्चसा । सम् । प्रजयेति प्रऽजया । सम् । रायः । पोषेण । ग्मिषीय ॥ १९ ॥

पदार्थः— (सम्) समागमे । (त्वम्) परमेश्वरोऽयं भौतिको वा (अग्ने) विज्ञानस्वरूपव्यवहारप्राप्तिहेतुर्वा । (सूर्यस्य) सर्वान्तर्गतस्य प्राणस्य सूर्यलोकस्य वा । (वर्चसा) दीप्त्या । (अगथाः) गच्छसि प्राप्नोति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । वर्तमाने लुङ् मंत्रे घसह्वरणश० अ० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् च । (सम्) संगतार्थे । (ऋषीणाम्) वेदविदां मन्त्रद्रष्टॄणां विदुषाम् । (स्तुतेन)

प्रशंसितेन । (सम्) एकीभावे । (प्रियेण) प्रसन्नताकारकेण । (धाम्ना) स्थानेन । (सम्) समीचीनार्थे । (अहम्) जीवः । (आयुषा) जीवनेन । (सम्) संगत्यर्थे । (वर्चसा) विद्याध्ययनप्रकाशनेन । (सम्) अनुग्रहार्थे । (प्रजया) संतानेन राज्येन वा । (सम्) प्रशस्तार्थे । (रायस्पोषेण) रायो धनानां भोगपुष्ट्या । (ग्मिषीय) प्राप्नुयाम् । अत्राशिषि लिङि वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीत्यागमः । गमहनजन० अ० ६।४।९८। इत्युपधालोपश्च । अयं मंत्रः । शत० २।३।४। व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर यस्त्वं सूर्यस्य प्राणस्यर्षीणां येन संस्तुतेन सम्प्रियेण संवर्चसा धाम्ना समायुषा संप्रजया संरायस्पोषेण सह समगथास्तेनैवाहमपि सर्वाणि सुखानि संग्मिषीय सम्यक् प्राप्नुयामित्येकः । योऽग्निः सूर्यस्य प्रत्यक्षस्य सवितृमण्डलस्यर्षीणां संस्तुतेन संप्रियेण संवर्चसा धाम्ना समायुषा संप्रजया संरायस्पोषेण समगथाः संगतोऽभवत्स्या राजते तेन संसाधितेनाहं सर्वाणि व्यवहारसुखानि संग्मिषीय सम्यक् प्राप्नुयामिति द्वितीयः ॥ १९ ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालंकारः । मनुष्या ईश्वरस्याज्ञापालनेन सम्यक् पुरुषार्थेनाग्न्यादिपदार्थानां संप्रयोगेण तत्सर्वं सुखं प्राप्नुवन्तीति ॥ १९ ॥

पदार्थः— हे (अग्ने) जगदीश्वर जो आप । (सूर्यस्य) सब के अंतर्गत प्राण वा (ऋषीणाम्) वेदमंत्रों के अर्थों को देखनेवाले विद्वानों की जिस । (संस्तुतेन) स्तुति करने । (संप्रियेण) प्रसन्नतासे मानने । (संवर्चसा) विद्याध्ययन और प्रकाश करने । (धाम्ना) स्थान । (समायुषा) उत्तम जीवन । (संप्रजया) संतान वा राज्य और (रायस्पोषेण) उत्तम धनों के भोगपुष्टिके साथ । (समगथाः) प्राप्त होते हो । उसी के साथ (अहम्) मैं भी सब सुखोंको । (संग्मिषीय) प्राप्त होऊं ॥ १ ॥ जो । (अग्ने) भौतिक अग्नि पूर्व कहे हुए सबोंके । (समगथाः) संगत होकर प्रकाशको

प्राप्त होता है उस सिद्ध किये हुए अग्निके साथ (अहम्) मैं व्यवहार के सब सुखोंको (संभिषीय) प्राप्त होऊं ॥ २ ॥ ॥ १९ ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें श्लेषालंकार है। मनुष्य लोग ईश्वर की आज्ञा का पालन अपना पुरुषार्थ और अग्नि आदि पदार्थों के संप्रयोग से इन सब सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

अन्धस्थेत्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः। आपो देवताः। भुरिग्बृहतीछन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

अथ यज्ञेन कृतशुद्धय ओषध्यादयः पदार्था उपदिश्यन्ते ॥

अब अगले मंत्र में यज्ञसे शुद्ध किये ओषधी आदि पदार्थों का उपदेश किया है ॥

अन्धुस्थान्धो वो भक्षीय मह॑स्थ महो॑वो भक्षी॒योर्ज्जस्थोर्ज्जं॑वो भक्षीय रायस्पोष॑स्थ रायस्पोषं॑ वो भक्षीय ॥ २० ॥

अन्धः। स्थ। अंधः। वः। भक्षीय। महः। स्थ। महः। वः। भक्षीय। ऊर्जः। स्थ। ऊर्जम्। वः। भक्षीय। रायः। पोषः। स्थ। रायः। पोषम्। वः। भक्षीय ॥ २० ॥

पदार्थः—(अंधः) अन्नम्। अंध इत्यन्ननामसु पठितम्। निघं० २।७। अदेर्नुम् धौ च। उ० ४। २१३ अनेनाऽदेरसुन्प्रत्ययोनुमागमो धकारादेशश्च। वा शर्मकरणे अपरे लोपो वक्तव्य इति विसर्जनीयलोपः। (स्थ) संति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (अंधः) प्राप्तुं योग्यो रसः। अंध इति पदनामसु पठितम्। निघं० ४।२। अनेन प्राप्तव्यो रसो गृह्यते। (वः) सर्वेषामोषध्यादिपदार्थानाम्। (भक्षीय) सेवेय। (महः) महांसि। (स्थ) संति। (महः) महागुणसमूहम्। (वः) महतां पदार्थानाम्। (भक्षीय) स्वीकुर्याम्। (ऊर्जः) पराक्रमः। (स्थ) संति। (ऊर्जम्) पराक्रमम्। (वः) बलवतां पदार्थानाम्। (भक्षीय) सेवेय। (रायस्पोषः) या बहुसु-

सुभोगेन पुष्टयः । भूमा वै रायस्पोषः । शत० ३।१।१।१२। (स्थ) संति । (रायस्पोषम्) उत्तमानां धनानां भोगम् । (वः) चक्रवर्त्तिराज्यश्रियादिपदार्थानाम् । (भक्षीय) भजाम् । अयं मंत्रः । शत० २।१।२।२५। व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः—येऽन्धःस्थाबीर्यवंतो वृक्षौषध्यादयः पदार्थाः संति वस्तेषां सकाशादहमन्धोवीर्यकराण्यन्नानि भक्षीय स्वीकुर्य्याम् । ये महः स्थ महोमहांतो वाय्वग्न्यादयो विद्यादयो वा संति वस्तेषां सकाशान्महांति क्रियासिद्धिकराण्यहं भक्षीय । य ऊर्ज्जःस्थोर्ज्जं रसवंतो जलदुग्धघृतमधुफलादयः संति वस्तेषां सकाशादूर्जं रसमहं भक्षीय भुंजीय। ये रायस्पोषः स्थ रायस्पोषा बहुगुणसमूहयुक्ताः पदार्थाः संति वस्तेषां सकाशादहं रायस्पोषं बहुशुभगुणैः पोषं भक्षीय सेवेय ॥ २० ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्जगत्स्थानां पदार्थानां गुणज्ञानपुरःसरं क्रियाकौशलेनोपकारं संगृह्य सर्वं सुखं भोक्तव्यमिति ॥ २० ॥

पदार्थः—जो । (अंधः) बलवान् वृक्ष वा ओषधी आदि पदार्थ । (स्थ) हैं । (वः) उनके प्रकाश से मैं । (अंधः) वीर्य को पुष्ट करनेवाले अन्नों को । (भक्षीय) ग्रहण करूं । जो (महः) बड़े २ वायु अग्निआदि वा विद्या आदि पदार्थ । (स्थ) हैं । (वः) उनसे मैं । (महः) बड़ी २ क्रियाओं को सिद्धि करनेवाले कर्मोंका । (भक्षीय) सेवन करूं जो । (ऊर्ज.) जल, दूध, घी, मिष्ट वा फल आदि रसवाले पदार्थ । (स्थ) हैं । (वः) उनसे मैं । (ऊर्जम्) पराक्रमयुक्त रस का । (भक्षीय) भोग करूं । और जो । (रायस्पोषः) अनेक गुणयुक्त पदार्थ । (स्थ) हैं । (वः) उन चक्रवर्ति राज्य और श्रीआदिपदार्थों के मैं । (रायस्पोषम्) उत्तम २ धनोंके भोगका । (भक्षीय) सेवन करूं ॥ २० ॥

भावार्थः—मनुष्योंको जगत्के पदार्थोंके गुणज्ञानपूर्वक क्रियाकी कुशलता से उपकारको ग्रहण करके सब सुखोंका भोग करना चाहिये ॥ २० ॥

रेवतीरित्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ विदुषां सत्कारायोपदिश्यते ॥

अब विद्वानोंके सत्कारके लिये उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन्गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन्क्षये । इहैव स्त मापगात ॥ २१ ॥

रेवतीः । रमध्वम् । अस्मिन् । योनौ । गोस्थऽइति गोऽस्थे । अस्मिन् । लोके । अस्मिन् । क्षये । इह । एव । स्त । मा । अप । गात ॥ २१ ॥

पदार्थः—(रेवतीः) विद्याधनसहिताः प्रशस्ता नीतयो गाव इन्द्रियाणि पशवः पृथिवीराज्यादियुक्ता यासु ताः । अत्र सुपां सुलुगिति पूर्वसवर्णादेशः प्रशंसार्थे मतुप् च । (रमध्वम्) रमणं कुरुत । अत्र व्यत्ययः (अस्मिन्) प्रत्यक्षे । (योनौ) जन्मनि स्थले वा । (अस्मिन्) समक्षे । (गोष्ठे) गावः पशव इन्द्रियाणि यस्मिंस्तिष्ठन्ति तस्मिन् । (अस्मिन्) सेव्यमाने । (लोके) संसारे । (अस्मिन्) अस्माभिः संपादिते । (क्षये) निवसनीये गृहे । (इह) एतेषु । (एव) अवधारणार्थे । (स्त) भवत । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (मा) निषेधे । (अप) दूरार्थे । (गात) । गच्छन्तु । अत्र लोडर्थे लङ् पुरुषव्यत्ययश्च ॥ अयं मंत्रः । शत० १।३।२।२६। व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः प्रशस्ता नीत्यादयो रेवती रेवत्यस्ता अस्मिन्योनावस्मिन्गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन्क्षये रमध्वं रमन्तामितीच्छन्तो भवत इहैतेष्वेव नित्यं सन्तु ताम् । किन्त्वेतेभ्यो मापगात कदाचिद्दूरं मा गच्छन्तु ॥ २१ ॥

भावार्थः—यत्र विद्वांसो निवसन्ति तत्र विद्यादीनां गुणानां निवासात्पुष्कला विद्यासुशिक्षाधनवन्तो भूत्वा नित्यं सुखेन सह युंजते तस्मात्सर्वैरेवमिच्छा

कार्याऽस्माकं संगसमीपाद्विद्वांसो विदुषां समीपाश्च वयं कदाचिद्दूरे मा भवेमेति ॥ २१ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो जो (रेवती) विद्याधन इन्द्रिय पशु और पृथिवी के राज्य आदि से युक्त श्रेष्ठ नीति । (स्त) हैं वे । (अस्मिन्) इस । (योनौ) जन्मस्थल । (अस्मिन्गोष्ठे) इन्द्रिय वा पशु आदि के रहने के स्थान । (अस्मिँल्लोके) संसार वा । (अस्मिन् क्षये) अपने रचे हुए घरों में । (रमध्वम्) रमण करें ऐसी इच्छा करते हुए तुम लोग । (इहैव) इन्हीं में प्रवृत्त होओ । अर्थात् । (मापगात) इनसे दूर कभी मत जाओ ॥ २१ ॥

भावार्थः— जहां विद्वान् लोग निवास करते हैं वहां प्रजा विद्या उत्तम शिक्षा और धनवाली होकर निरन्तर सुखों से युक्त होती है । इससे मनुष्यों को ऐसी इच्छा करनी चाहिये कि हमारा और विद्वानों का नित्य समागम बनारहे अर्थात् कभी हमलोग विरोध से पृथक् न होवें ॥ २१ ॥

संहितेत्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । पूर्वार्द्धस्य भुरिगासुरी गायत्री । उपत्वेत्यंतस्य गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथाग्निशब्देन विद्युत्कर्माण्युपदिश्यन्ते ॥

अब अगले मंत्र में अग्निशब्द से बिजुली के कर्मों का उपदेश किया है ॥

स॒ꣳहि॒ता॒सि॒ वि॒श्वरू॒प्यूर्जा॒मावि॑श गौप॒त्येन॑। उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्। नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥ २२ ॥

स॒ꣳहि॒तेति॑ सम्ऽहि॑ता । अ॒सि॒ । वि॒श्वरू॒पीति॑ वि॒श्वऽरू॑पी । ऊ॒र्जा । मा॒ । आ । वि॒श॒ । गौ॒प॒त्येने॑ । उप॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । दि॒वेदि॑व॒ऽइति॑ दि॒वेऽदि॑वे । दोषा॑वस्त॒रिति॒ दोषा॑ऽवस्तः । धि॒या । व॒यम् । नमः॑ । भर॑न्तः । आ । इ॒म॒सि॒ ॥ २२ ॥

पदार्थः— (संहिता) सर्वपदार्थैः सह वर्तमाना विद्युत् । सर्वव्यापक ईश्वरो वा । (असि) अस्ति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । (विश्वरूपी) विश्वं सर्वं रूपं यस्याः सा । अत्र जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् । अ० ४।१।६३।

इति ङीष् प्रत्ययः । (ऊर्जा) वेगपराक्रमादिगुणयुक्ता । (मा) मां । (आ) समंतात् । (विश) विशति । (गौपत्येन) गवामिन्द्रियाणां पशूनां वा पतिः पालकस्तस्य भावः कर्म वा तेन । अत्र पत्यंतपुरोहितादिभ्यो यक् अ० ५।१।१२८। इति यक् प्रत्ययः । (उप) उपगमेर्थे । (त्वा) त्वाम् । (अग्ने) अग्निः । (दिवेदिवे) ज्ञानस्य प्रकाशाय । दिवेदिव इत्यहर्नामसु पठितम् । निघं० १।९। (दोषावस्तः) दोषां रात्रिं वस्ते स्वतेजसाऽऽच्छाद्य निवारयति सोऽग्निः दोषेति रात्रिनामसु पठितम् । निघं० २।७। (धिया) कर्मणा प्रज्ञया वा । धीरिति कर्मनामसु पठितम् । निघं० २।१। प्रज्ञानामसु वा । निघं० ३।९। (वयम्) क्रियाकांडानुष्ठातारः । (नमः) अन्नम् । नम इत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २।७। (भरंतः) धारयंतः । (आ) समंतात् । (इमसि) प्राप्नुमः । अत्रेदंतो मसीत्यकारादेशः । अयं मंत्रः शत० २।३।२।२७ व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः— नमोन्नं भरंतः सन्तो वयं धिया योऽग्निर्विद्युद्रूपेण सर्वेषु पदार्थेषु संहितोर्जा विश्वरूपी गौपत्येन मा मां विश प्रविशति त्वाग्ने तं दोषावस्तारमग्निः दिवेदिवे प्रतिदिनमुपेमसि ॥ २२ ॥

भावार्थः— मनुष्यैरित्थं वेदितव्यं येनेश्वरेण सर्वत्र मूर्त्तद्रव्येषु विद्युद्रूपो व्याप्तः सर्वरूपप्रकाशकोऽग्निः रचितः स हेतुर्विचित्रगुणोऽग्निर्निर्मितस्तस्यैवोपासनं नित्यं कार्यमिति ॥ २२ ॥

पदार्थः— (नमः) अन्न को । (भरंतः) धारण करते हुए हमलोग । (धिया) अपनी बुद्धि वा कर्म से जो । (अग्ने) अग्नि बिजुलीरूपसे । सब पदार्थों के । (संहिता) साथ (ऊर्जा) वेग वा पराक्रम आदिगुणयुक्त । (विश्वरूपी) सब पदार्थों में रूपगुणयुक्त । (गौपत्येन) इन्द्रिय वा पशुओं के पालन करनेवाले जीव के साथ वर्त्तमान से । (मा) मुझमें । (आविश) प्रवेश करता है । (त्वा) उस ।

(दोषावस्तः)। रात्रिको अपने तेजसे दूर करने वाले। (अग्ने) विद्युद्रूप अग्निको (दिवेदिवे) ज्ञान के प्रकाश होने के लिये प्रतिदिन। (उपमसि) समीप प्राप्त करते हैं॥२२॥

भावार्थः--मनुष्यों को ऐसा जानना चाहिये कि जिस ईश्वर ने सब जगह मूर्तिमान द्रव्योंमें बिजुलीरूप से परिपूर्ण सब रूपों का प्रकाश करने चेष्टा आदि व्यवहारोंका हेतु विचित्र गुणवाला अग्नि रचा है उसीकी उपासना नित्य करनी चाहिये ॥२२॥

राजंतमित्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनरीश्वराग्निगुणा उपदिश्यन्ते ॥

फिर ईश्वर और अग्नि के गुणों का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

राजंन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्द्धमान स्वे दमें ॥ २३ ॥

राजन्तम्। अध्वराणाम्। गोपाम्। ऋतस्य। दीदिविम्। वर्धमानम्। स्वे। दमे ॥ २३ ॥

पदार्थः-(राजन्तम्) प्रकाशमानम्। (अध्वराणाम्) अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधकानां वा सर्वथा रक्ष्याणां यज्ञानाम्। (गोपाम्) इन्द्रियपश्वादीनां रक्षकम्। (ऋतस्य) अनादिस्वरूपस्य सत्यस्य कारणस्य जलस्य वा। ऋतमिति सत्यनामसु पठितम्। निघं० ३। १०। उदकनामसु च। निघं० १। १२। (दीदिविम्) व्यवहारयन्तम्। अत्र दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य उ० ४। ५७। इति दिवः क्विन्प्रत्ययो द्वित्वाभ्यासदीर्घौ च। (वर्धमानम्) हानिरहितम्। (स्वे) स्वकीये। (दमे) दाम्यन्त्युपशाम्यन्ति यस्मिंस्तस्मिन्स्वस्थाने परमोत्कृष्टे प्राप्तुमर्हे पदे। अयं मंत्रः शत० २। ३। ४। २६ व्याख्यातः॥२३॥

अन्वयः--नमोभरंतो वयं धियाऽध्वराणां गोपां राजन्तमृतस्य दीदिविं स्वे दमे वर्धमानं जगदीश्वरमुपैमसि नित्यमुपाप्नुम इत्येकः। येन परमात्मनाऽध्वराणां गोपा राजन्नृतस्य दीदिविः स्वे दमे वर्धमानोग्निः प्रकाशितोस्ति तं नमोभरन्तो वयं धियोपैमसि नित्यमुपाप्नुम इति द्वितीयः ॥ २३ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । नमः । भरन्तः । धिया । उप । आ । इमसि । इत्येतेषां पदानां पूर्वस्मान्मंत्रादनुवृत्तिर्विज्ञेया । परमेश्वरोऽनादिस्वरूपस्य कारणस्य सकाशात्सर्वाणि कार्याणि रचयति भौतिकोऽग्निश्च जलस्य प्राप्त्या सर्वव्यवहारान् साधयतीति वेद्यम् ॥ २२ ॥

पदार्थः—(नमः) सत्कारपूर्वक । (भरंतः) धारण करते हुए हम लोग । (धिया) बुद्धि और कर्म से । (अध्वराणाम्) अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यंत यज्ञ वा (गोपाम्) पृथिव्यादि की रक्षा करने । (राजंतम्) प्रकाशमान । (ऋतस्य) सत्य कारण के । (दीदिविम्) व्यवहारको करने वा । (स्वे) अपने स्थानमें । (वर्धमानम्) वृद्धिको प्राप्त होनेवाले परमात्मा को । (उपेमसि) प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ जिस परमात्मा ने । (अध्वराणाम्) शिल्पविद्यासाध्य यज्ञ वा । (गोपाम्) पश्वादिकी रक्षा करने । (ऋतस्य) जलके । (दीदिविम्) व्यवहारको प्रकाश करना वा । (स्वे) अपने । (दमे) शांतस्वरूप में । (वर्धमानम्) वृद्धिको प्राप्त होता हुआ अग्नि प्रकाशित किया है उसको । (नमः) सत्क्रियासे । (भरंतः) धारण करते हुए हम लोग । (धिया) बुद्धि और कर्मसे । (उपेमसि) नित्य प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥ २२ ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें श्लेषालंकार है और । नमः । भरंतः । धिया । उप । आ । इमसि । इन पदोंकी अनुवृत्ति पूर्वमंत्रसे जाननी चाहिये । परमेश्वर अनादिरूप कारणरूपसे संपूर्ण कार्योंको रचता और भौतिक अग्नि जलकी प्राप्ति के द्वारा सब व्यवहारों को सिद्ध करता है ऐसा मनुष्यों को जानना चाहिये ॥ २२ ॥

स न इत्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथाग्रिमेण मंत्रेणेश्वर एवोपदिश्यते ॥

अब अगले मंत्र से ईश्वरही का उपदेश किया है ॥

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व ॥ सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥ २४ ॥

सः । नः । पितेवेति पिताऽइव । सूनवे । अग्ने । सूपायन इति सुऽउपायनः । भव । सचस्व । नः । स्वस्तये ॥ २४ ॥

पदार्थः-(सः) जगदीश्वरः । (नः) अस्मभ्यम् । (पितेव) जनक इव । (सूनवे) औरसाय संतानाय । सूनुरित्यपत्यनामसु पठितम् । निघं० २।२। (अग्ने) करुणामय विज्ञानस्वरूप सर्वपितः । (सूपायनः) सुष्ठूपगतमयनं ज्ञानं प्रापणं यस्मात्सः । (भव) भवसि । अत्र लडर्थे लोट् (सचस्व) संयोजय । अन्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः । (नः) अस्मान् । (स्वस्तये) सुखाय ॥ २४ ॥

अन्वयः-हे अग्ने जगदीश्वर यस्त्वं [illegible] सूनवे नोऽस्मभ्यं सूपायनो भवसि स त्वं नोऽस्मान् स्वस्तये सततं [illegible] ॥ २४ ॥

भावार्थः-अत्रोपमालंकारः । हे सर्व[illegible] प्राणो विद्वान् पिता स्वसंतानान् संरक्ष्य सुशिक्ष्य च वि[illegible] तथैव भवानस्मान् निरंतरं रक्षित्वा श्रेष्ठेषु व्यव[illegible] ॥ २४ ॥

पदार्थः-हे (अग्ने) जगदीश्वर जो आप [illegible] कृपा करके जैसे (सूनवे) अपने पुत्रके लिये (पितेव) पिता अच्छे २ गुणोंको सिखलाता है वैसे (नः) हमारे लिये (सूपायनः) श्रेष्ठ ज्ञानके देनेवाले (भव) हैं वैसे (सः) सो आप (नः) हमलोगोंको (स्वस्तये) सुखके लिये (निरंतर (सचस्व) संयुक्त कीजिये ॥ २४ ॥

भावार्थः-इस मंत्रमें उपमालंकार है । हे सबके पालन करनेवाले परमेश्वर जैसे कृपा करनेवाला कोई विद्वान् मनुष्य अपने पुत्रोंकी रक्षा कर श्रेष्ठ २ शिक्षा देकर विद्या धर्म अच्छे २ स्वभाव और सत्य विद्यादि गुणोंमें संयुक्त करता है वैसेही आप हमलोगोंकी निरंतर रक्षा करके श्रेष्ठ २ व्यवहारोंमें संयुक्त कीजिये ॥ २४ ॥

अग्ने त्वमित्यस्य सुबंधुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिग्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ।

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

अग्ने त्वन्नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ॥ वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिन्दाः ॥ २५ ॥

अग्ने । त्वम् । नः । अन्तमः । उत । त्राता । शिवः । भव । वरूथ्यः । वसुः । अग्निः । वसुश्रवाऽइति वसुऽश्रवाः । अच्छ । नक्षि । द्युमत्तममिति द्युमत्ऽतमम् । रयिम् । दाः । २५ ।

पदार्थः—(अग्ने) सर्वाभिरक्षकेश्वर । (त्वम्) करुणामयः । (नः) अस्माकमस्मभ्यं वा । (अन्तमः) य आत्मान्तःस्थोऽतिनिकटवर्त्ति सोऽतिशयितः । स उ प्राणस्य प्राणः । केनोपनिषत् । खं० १ मं० २ अनेनान्तमोऽन्तःस्थोऽन्तर्यामी गृह्यते (उत) अपि । (त्राता) रक्षकः । (शिवः) मंगलमयो मंगलकारी । (भव) अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः । (वरूथ्यः) यो वरूथेषु श्रेष्ठेषु गुणकर्मस्वभावेषु भवः । (वसुः) वसंति सर्वाणि भूतानि यस्मिन् यो वा सर्वेषु भूतेषु वसति सः । (अग्निः) विज्ञानप्रकाशमयः । (वसुश्रवाः) वसूनि सर्वाणि श्रवांसि श्रवणानि यस्य सः । (अच्छ) श्रेष्ठार्थे । निपातस्य चेति दीर्घः । (नक्षि) सर्वत्र व्याप्नोसि । अत्र णक्ष गतावित्यस्माल्लटि मध्यमैकवचने बहुलं छन्दसीति शपो लुक् । (द्युमत्तमम्) द्यौः प्रशस्तः प्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तदतिशयितस्तम् । (रयिम्) विद्याचक्रवर्त्यादिधनसमूहम् । (दाः) देहि । अत्र लोडर्थे लुङ् बहुलंछन्दस्यमाङ्० । अनेनाडभावश्च ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने यस्त्वं वसुश्रवा वसुरग्निर्नक्षि सर्वत्र व्याप्नोसि स त्वं नोऽस्माकमन्तमस्त्राता वरूथ्यः शिवो भव उतापि नोऽस्मभ्यं द्युमत्तमं रयिमच्छदाः सम्यग्देहि ॥ २५ ॥

भावार्थः–मनुष्यैरित्थं वेदितव्यं परमेश्वरं विहाय नोस्माकं कश्चिदन्यो रक्षको नास्तीति कुतस्तस्य सर्वशक्तिमत्त्वेन सर्वत्राभिव्यापकत्वादिति ॥ २५ ॥

पदार्थः– हे । (अग्ने) सबकी रक्षा करनेवाले जगदीश्वर जो । (त्वम्) आप । (वसुश्रवाः) सबको सुनने के लिये श्रेष्ठ कानोंको देने । (वसुः) सब प्राणी जिसमें वास करते है वा सब प्राणियोंके बीच में वसनेहारे । और । (अग्निः) विज्ञानप्रकाशयुक्त । (नक्षि) सब जगह व्याप्त अर्थात् रहनेवाले हैं सो आप । (नः) हमलोगोंके । (अन्तमः) अंतर्यामी वा जीवन के हेतु । (त्राता) रक्षा करनेवाले । (वरूथ्यः) श्रेष्ठ गुण कर्म और स्वभाव में होने । (शिवः) तथा मंगलमय मंगल करनेवाले । (भव) हूजिये और । (उत) भी । (नः) हमलोगों के लिये । (द्युमत्तमम्) उत्तम प्रकाशोंसे युक्त । (रयिम्) विद्याचक्रवर्त्ति आदि धनों को । (अच्छ दाः) अच्छे प्रकार दीजिये ॥ २५ ॥

भावार्थः-मनुष्यों को ऐसा जानना चाहिये कि परमेश्वर को छोड़कर और हमारी रक्षा करने वा सब सुखों के साधनों का देनेवाला कोई नहीं है क्योंकि वही अपने सामर्थ्यसे सब जगह परिपूर्ण होरहा है ॥ २५ ॥

तन्त्वेत्यस्य सुबंधुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराड्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

तन्त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः । स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायतः समस्मात् ॥ २६ ॥

तम् । त्वा । शोचिष्ठ । दीदिवऽइति दीदिऽवः । सुम्नाय । नूनम् । ईमहे । सखिभ्यऽइति सखिऽभ्यः । सः । नः । बोधि । श्रुधि । हवम् । उरुष्य । नः । अघायतऽइत्यघऽयतः । समस्मात् ॥ २६ ॥

पदार्थः— (तम्) जगदीश्वरम् । (त्वा) त्वाम् । (शोचिष्ठ) पवित्रतम । (दीदिवः) प्रकाशमयानन्दप्रद । अत्र दिवुधातोश्छन्दसि लिडिति लिट् । क्वसुश्चेति लिटः स्थाने क्वसुः । छन्दस्युभयथेति लिडादेशस्य क्वसोः सार्वधातुकत्वादिडभावः । तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्येत्यभ्यासदीर्घः । मतुवसोरुः सम्बुद्धौ छन्दसीति रुरादेशश्च । (सुम्नाय) सुखाय । सुम्नमिति सुखनामसु पठितम् निघं० ३।६। (नूनम्) निश्चयार्थे । (ईमहे) याचामहे । ईमह इति याञ्चाकर्मसु पठितम् । निघं० ३।१९। (सखिभ्यः) मित्रेभ्यः । (सः) जगदीश्वरः (नः) अस्मानस्माकं वा । (बोधि) बोधयति । अत्र लडर्थे लुङ् बहुलं छन्दसीत्यडभावोन्तर्गतो ण्यर्थश्च । (श्रुधि) शृणु । अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः । बहुलं छन्दसीति श्नोर्लुक् । शृणु० इति हेर्धिरादेशश्च । (हवम्) श्रोतुं श्रावयितुमर्हं स्तुतिसमूहं यज्ञम् । (उरुष्य) रक्ष । अत्र कण्ड्वादिषु पाठान्तःपातित्वात् उरुषशब्दात् यक् ततोन्येषामपीति दीर्घः । (नः) अस्मान् । अत्र नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः । अ० ८।४।२७। इति णत्वादेशः (अघायतः) यः परस्याघमिच्छत्यघायति ततः । अश्वाघस्यात् इति भवत्यघशब्दात् छन्दसि परेच्छायां क्यजिति । यद्यमश्वाघस्यादिति ... प्रकृतस्त्वघाधनार्थेमाकारं शास्ति अ० ३।१।८। अस्मिन्सूत्रे भाष्यकारेण व्याख्यानाशयेनेदं सिद्ध्यतीति बोध्यम् (समस्मात्) सर्वस्मात् । समशब्दोत्र सर्वपर्यायः ॥ २६ ॥

अन्वयः— हे शोचिष्ठ दीदिवो जगदीश्वर वयं नोस्माकं सखिभ्यश्च नूनं सुम्नाय तं त्वामीमहे यो भवान् नोस्मान्बोधि सत्यविज्ञानं बोधयति सः त्वं नोऽस्माकं हवं श्रुधि कृपया शृणु नोस्मान्समस्मात्सर्वस्मादघायतः परपीडाकरणात् पापाचारादुरुष्य सततं पृथक् रक्ष ॥ २६ ॥

भावार्थः— सर्वैर्मनुष्यैः स्वार्थं स्वमित्रार्थं सर्वप्राण्यर्थं च सुखप्रा

...ये परमेश्वरः प्रार्थनीयस्तदाज्ञाचरणं च कार्यम् । प्रार्थितः सन् जगदीश्वरोऽधर्मान्निवृत्तिमिच्छुकान्मनुष्यान् स्वसत्तया सर्वेभ्यः पापेभ्यो निवर्त्तयति अथैव स्वविचारपरमपुरुषार्थाभ्यां स्वैः ... पापेभ्यो निवर्त्य धर्माचरणे सर्वैर्मनुष्यैर्नित्यं प्रवर्त्तितव्यमिति बोध्यम् ॥ २६ ॥

पदार्थः— हे । (अग्ने) अनन्त ... सुखस्वरूप । (दीदिवः) स्वयंप्रकाशमान आनंदके देनेवाले जगदीश्वर हमलोग वा । (नः) अपने । (सखिभ्यः) मित्रोंके । (सुम्नाय) सुखके लिये । (त्वा) आपसे । (ईमहे) याचना करते हैं तथा जो आप । (नः) हमको । (बोधि) अच्छे प्रकार विज्ञानको देते हैं । (सः) सो आप । (नः) हमारे । (हवम्) सुनने सुनाने योग्य स्तुतिसमूह यज्ञको । (श्रुधि) कृपा करके श्रवण कीजिये और (नः) हमको । (समस्मात्) सब प्रकार । (अघायतः) पापाचरणोंसे अर्थात् हमारेको पीडा करनेरूप पापोंसे । (उरुष्य) अलग रखिये ॥२६॥

भावार्थः — सब मनुष्योंको अपने मित्र और सब प्राणियोंके सुखके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करना और वैसाही आचरणभी करना कि जिससे प्रार्थित किया हुआ परमेश्वर अधर्मसे अलग होनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको अपनी सत्तासे पापोंसे पृथक् कर देता है वैसेही उन मनुष्योंकोभी पापोंसे बचकर धर्मके करनेमें निरंतर प्रवृत्त होना चाहिये ॥ २६ ॥

इड एह्यदित इत्यस्य श्रुतबन्धुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते ॥

फिर उसकी प्रार्थना किस लिये करनी चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

इड एह्यदित एहि काम्या एत ॥ मयि वः कामधरणम्भूयात् ॥ २७ ॥

इडे । आ । इहि । अदिते । आ । इहि । काम्याः । आ । इत ॥ मयि । वः । कामधरणमिति कामऽधरणम् । भूयात् ॥२७॥

पदार्थः—(इडे) इडा पृथिवी । इडेति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं०

१।१। (आ) समंतात् । (इहि) प्राप्नुयात् । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (अदिते) नाशरहिता राजनीतिः । अदितिरिति पदनामसु पठितम् । निघं० ४।१। अनेनात्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते । (आ) समंतात् । (इहि) प्राप्नुयात् । (काम्याः) काम्यंत इष्यन्ते ये पदार्थास्ते । (आ) समंतात् । (इत) यंतु प्राप्नुवंतु । (मयि) मनुष्ये । (वः) तेषां काम्यानां पदार्थानाम् । (कामधरणम्) कामानां धरणं स्थानम् । (भूयात्) ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर भवत्कृपयेडेयं पृथिवी मह्यं राज्यकरणायेहि समंतात्प्राप्नुयात् । एवमदितिः सर्वसुखप्रापिका नाशरहिता राज्यनीतिरेहि प्राप्नुयात् । एवं हे भगवन् पृथिवीराज्यनीतिभ्यां मह्यं काम्याः पदार्था एत समंतात्प्राप्नुवंतु तथा मयि वस्तेषां काम्यानां पदार्थानां कामधरणं भूयात् ॥ २७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः काम्यानां पदार्थानां कामना सततं कार्या तत्प्राप्तये जगदीश्वरस्य प्रार्थनापुरुषार्थश्च । नहि कोश्चिदप्येकक्षणमपि कामान् विहाय स्थातुमर्हति । तस्मादधर्म्यव्यवहारात्कामनां निवर्त्य धर्म्ये व्यवहारे यावती वर्धयितु शक्या तावती नित्यं वर्द्धनीयेति ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर आपकी कृपासे । (इडे) यह पृथिवी मुझको राज्य करने के लिये । (एहि)अवश्य प्राप्त हो । तथा अदिते सब सुखों को प्राप्त करानेवाली नाशरहित राजनीति । (एहि) प्राप्त हो इसी प्रकार हे भगवन् अपनी पृथिवी और राजनीतिके द्वारा । (काम्याः) इष्ट २ पदार्थ । (एत) प्राप्त हों तथा । (मयि) मेरे बीच में । (वः) उन पदार्थों की । (कामधरणम्) स्थिरता यथावत् हो ॥ २७ ॥

भावार्थः—मनुष्योंको उत्तम २ पदार्थों की कामना निरंतर करनी तथा उनकी प्राप्तिके लिये परमेश्वर की प्रार्थना और सदा पुरुषार्थ करना चाहिये कोई मनुष्य अच्छी वा बुरी कामनाके विना क्षणभरभी स्थित होनेको समर्थ नहीं होसकता इससे सब मनुष्योंको अधर्मयुक्त व्यवहारोंकी कामनाको छोड़कर धर्मयुक्त व्यवहारोंकी जितनी इच्छा बढ़सके उतनी बढ़ानी चाहिये ॥ २७ ॥

सोमानमित्यस्य प्रवन्धुर्ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । विराड् गायत्री छन्दः ।

षड्जः स्वरः ॥

पुनः स जगदीश्वरः किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते ॥

फिर उस जगदीश्वरकी किसलिये प्रार्थना करनी चाहियेइसविषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

सोमान॑ᳪ स्वर॑णं कृणु॒हि ब्र॑ह्मणस्पते ॥ क॒क्षीव॑न्तं॒ य औ॑शि॒जः ॥ २८ ॥

सोमानम् । स्वरणम् । कृणुहि । ब्रह्मणः । पते । कक्षीवन्तम् । यः । औशिजः ॥ २८ ॥

पदार्थः—(सोमानम्) सुनोति निष्पादयत्योषधिसारान् विद्यासिद्धीश्च येन तम् । (स्वरणम्) सर्वविद्याप्रकाशकम् । (कृणुहि) संपादय । (ब्रह्मणस्पते) सनातनस्य वेदशास्त्रस्य पालकेश्वर । (कक्षीवंतम्) कक्षेषु विद्याध्ययनकर्मसु । साध्वी नीतिः कक्षा सा यद्धी विद्यते यस्य विद्यां जिघृक्षोस्तम् । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । कक्ष्यायाः संज्ञायां मतौ संप्रसारणं कर्तव्यम् । अ० ६।१।३७ इति वार्तिकेन संप्रसारणादेशः । आसंदीवदष्ठीवच्च० अ० ८।२।१२। इति निपातनान्मकारस्थाने वकारादेशश्च (यः) विद्वान् । (औशिजः) यः सर्वा विद्या वष्टि स उशिक् तस्य विद्यापुत्र इव । यास्कमुनिरिमं मंत्रमेवं समाचष्टे । सोमानं सोतारं प्रकाशनवंतं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवंतमिव य औशिजः कक्षीवान् कक्ष्यावानौशिज उशिजः पुत्र उशिग्वष्टेः कांतिकर्मणोपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्तं सोमानं सोतारं मा प्रकाशनवंतं कुरु ब्रह्मणस्पते ॥ निरु० ६।१०। अयं मंत्रः । शत० २।३।२।३६ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते त्वं योहमौशिजोस्मि तं कक्षीवंतं स्वरणं सोमानं मां कृणुहि संपादय ॥ २८ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालंकारः । पुत्रो द्विविध एक औरसो द्वितीयो विद्याजः । सर्वैर्मनुष्यैरीश्वर एतदर्थं प्रार्थनीयः । यस्माद्वयं विद्याप्रकाशितैः सर्वक्रियाकुशलैः प्रीत्या विद्याऽध्यापकैः पुत्रैर्युक्ता भवेमेति ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे । (ब्रह्मणस्ते) सनातन वेदशास्त्रके पालन करनेवाले जगदीश्वर आप । (यः) जो मैं । (औशिजः) सब विद्याओंके प्रकाश करनेवाले विद्वान् के पुत्रके तुल्य हूं उस मुझको । (कक्षीवंतम्) विद्या पढ़नेमें उत्तम नीतियोंसे युक्त। (स्वरणम्) सब विद्याओंका कहने और । (सोमानम्) औषधियोंके रसोंका निकालने तथा विद्याकी सिद्धि करनेवाला । (कृणुहि) कीजिये ॥ इसका व्याख्यान इस मंत्रका निरुक्तकार यास्क मुनि जी नेभी किया है सो पूर्व लिखे हुए संस्कृतमें देख लेना ॥ २८ ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें लुप्तोपमालंकार है पुत्र दोप्रकारके होते हैं एकतो औरस अर्थात् जो अपने वीर्यसे उत्पन्न होता और दूसरा जो विद्या पढ़ानेके लिये विद्वान् किया जाता है । हम सब मनुष्योंको इसलिये ईश्वरकी प्रार्थना करनी चाहिये कि जिससे हमलोग विद्यासे प्रकाशित सब क्रियाओंमें कुशल और प्रीतिसे विद्याके पढ़ानेवाले पुत्रोंसे युक्त हों ॥ २८ ॥

यो रेवानित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह ईश्वर कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

यो रेवान्योऽअमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनः ॥ स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥ २९ ॥

यः । रेवान् । यः । अमीवहेत्यमीवऽहा । वसुविदिति वसुऽवित् । पुष्टिवर्द्धन इति पुष्टिऽवर्द्धनः । सः । नः । सिषक्त्विति सिषक्तु । यः । तुरः ॥२९॥

पदार्थः—(यः) ब्रह्मणस्पतिर्जगदीश्वरः । (रेवान्) विद्याधनवान् । अत्र रयिशब्दान्मतुप् । छन्दसीरः । अ० ८ । २ । १५ । इति मकारस्थाने

वकारादेशः । रयेर्मतौ संप्रसारणं बहुलं वक्तव्यम् । अ० ६ । १ । ३७ इति वार्तिकेन यकारस्थाने संप्रसारणादेशश्च । (यः) मह.... । (अमीवहा) योऽमीवानविद्यादिरोगानहंति सः । (वसुवित्) यो वसूनि सर्वाणि वस्तूनि यथावद्वेत्ति वेदयति वा सः (पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टिं शरीरात्मबलं धातुसाम्यं च वर्द्धयतीति । (सः) परमात्मा । (नः) अस्मान् । ([illegible]) संयोजयतु । पचसमवय इत्यस्माच्छपः स्थाने बहुलं छन्दसीति श्लुर्बहुलं छन्दसीत्यभ्यास-स्येकारादेशश्च । (यः) उक्तो वत्यमाण.... (तुरः) शीघ्रकारी । अयं मंत्रः शत० २।३।४।३८ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः— यो रेवानमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनस्तुरो ब्रह्मणस्पतिर्जगदीश्वरो-ऽस्ति स नोऽस्मान् शुभगुणैः कर्मभिश्च सह मिषक्तु संयोजयतु ॥ २९ ॥

भावार्थः— यदिदं विश्वमिन्धनमस्ति तादिदं सर्वं जगदीश्वरस्यैव वर्तते । मनुष्यैर्यादृशी प्रार्थनेश्वरस्य क्रियते स्वैरपि तादृश एव पुरुषार्थः कर्त्तव्यः । यथा नैव रेवानितीश्वरस्य विशेषणमुक्त्वा [illegible] कश्चित्कृत्यो [illegible] । किं तर्हि स्वेनापि परमपुरुषार्थेन धनवृद्धिरक्षणे [illegible] कार्ये । [illegible] तथैव मनुष्यैरपि रोगा नित्यं हंतव्याः । [illegible] वसुविदस्ति [illegible] यथाशक्ति पदार्थ-विद्या कार्या । यथा स सर्वेषां पुष्टिवर्द्धनस्तथैव सर्वेषां नित्यं पुष्टिर्वर्द्धनीया । यथा स शीघ्रकारी तथैवेष्टान्यपि कार्याणि शीघ्रं कर्त्तव्यानि । यथा तस्य शुभगु-णकर्मप्राप्त्यर्था प्रार्थना क्रियते तथैव सर्वान्मनुष्यापरमप्रयत्नेन शुभगुणकर्माचर-णेन सह वर्त्तमानान् नित्यं संयोजयत्विति ॥ २९ ॥

पदार्थः— (यः) जो वेदशास्त्र का [illegible] करने । (रेवान्) विद्याआदि अनंत धनवान् । (अमीवहा) अविद्या आदि रोगोंको दूर करने वा कराने । (वसुवित्) सब वस्तुओंको यथावत्जानने । (पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टि अर्थात् शरीर वा आत्माके बलको-

बढाने और । (तुरः) अच्छे कामों में जल्दी प्रवेश करने वा करानेवाला जगदीश्वर है । (सः) वह । (नः) हमलोगों को उत्तम२ कर्म वा गुणोंके साथ । (सिषक्तु) संयुक्त करे ॥ २९ ॥

भावार्थः— जो इस संसार में धन है सो सब जगदीश्वर काही है मनुष्य लोग जैसी परमेश्वरकी प्रार्थना करें वैसाही उनको पुरुषार्थभी करना जैसे विद्या आदि धनवाला परमेश्वर है ऐसा विशेषण ईश्वर का कह वा सुनकर कोई मनुष्य कृतकृत्य अर्थात् विद्या आदि धनवाला नहीं होसक्ता किन्तु अपने पुरुषार्थसे विद्या आदि रोगों को धनकी वृद्धि वा रक्षा निरंतर करनी चाहिये जैसे परमेश्वर अविद्या आदि रोगोंको दूर करनेवाला है वैसे मनुष्योंको भी उचित है कि आप भी अविद्या आदि रोगों को निरन्तर दूर करें जैसे वह वस्तुओं को यथावत् जानता है वैसे मनुष्यों को भी उचित है कि अपने सामर्थ्यके अनुसार सब पदार्थ विद्याओं को यथावत् जानें जैसे वह सबकी पुष्टि को बढाता है वैसे मनुष्यभी सबके पुष्टि आदि गुणोंको निरन्तर बढावें जैसे वह अच्छे२ कार्यों को बनाने में शीघ्रता करता है वैसे मनुष्यभी उत्तम२ कार्योंको त्वरासे करें और जैसे हम लोग उस परमेश्वर की उत्तम कर्मोंके लिये प्रार्थना निरंतर करते हैं वैसे परमेश्वर भी हमसब मनुष्यों को उत्तम पुरुषार्थसे उत्तम२ गुण वा कार्मोंके आचरण के साथ निरंतर संयुक्त करे ॥ २९ ॥

मानइत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । निचृद्गायत्री-छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते ॥

फिरभी उस परमेश्वर की प्रार्थना किस लिये करनी चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

मा नः शंसोऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य ॥ रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३० ॥

मा । नः । शंसः । अररुषः । धूर्तिः । प्रणक् । मर्त्यस्य । रक्ष । नः । ब्रह्मणः । पते ॥ ३० ॥

पदार्थः— (मा) निषेधार्थे । (नः) अस्माकम् । (शंसः) शंसति

स्तुवंति यस्मिन्सः । (अररुषः) राति ददाति स ररिवान् । न ररिवानररिवान-तस्य । (धूर्तिः) हिंसा । (प्रणक्) प्रणश्यतु । अत्र लोडर्थे लुङ् । मंत्रेघसह्वर-णश०इति च्लेर्लुक् च । (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य । मर्त्य इति मनुष्यनामसु पठितम् निघं० २ । ३ । (रक्ष) पालय । अत्र द्व्य चोतस्तिङः इति दीर्घः । (नः) अस्मान् । (ब्रह्मणस्पते) जगदीश्वर । षष्ठ्याः पतिपुत्र० अ० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्जनीयस्य सकारादेशः ॥ अयं मंत्रः । शत० २ । ३ । ४ । ३ ७ । व्याख्यातः ॥ ३० ॥

अन्वयः— हे ब्रह्मणस्पते भवत्कृपया नोस्माकं शंसो मा प्रणक् कदाचि-न्मा प्रणश्यतु । याऽररुषः परस्वादायिनो मर्त्यस्य धूर्तिर्हिंसास्ति तस्याः सकाशा-न्नोस्मान् सततं रक्ष ॥ ३० ॥

भावार्थः— मनुष्यैः सदा प्रशंसनीयानि कर्माणि कर्त्तव्यानि नेतराणि कस्यचिद्द्रोहो दुष्टानां संगश्च नैव कर्त्तव्यः । धर्मस्य रक्षेश्वरोपासनं च सदैव कर्त्त-व्यमिति ॥ ३० ॥

पदार्थः— हे । (ब्रह्मणस्पते) जगदीश्वर आपकी कृपासे । (नः) हमारी वेदविद्य । (मा) (प्रणक्)) कभी नष्ट मत हो और जो । (अररुषः) दान आदि धर्मरहित परधन ग्रहण करनेवाले । (मर्त्यस्य) मनुष्यकी । (धूर्तिः) हिंसा अर्थात् द्रोह है उससे । (नः)हमलोगोंकी निरंतर । (रक्ष) रक्षा कीजिये ॥ ३० ॥

भावार्थः— मनुष्योंको सदा उत्तम २ काम करना और बुरे २ काम छोड़ने तथा किसी के साथ द्रोह वा दुष्टोंका संगभी न करना और धर्मकी रक्षा वा परमेश्वरकी उपासना स्तुति और प्रार्थना निरंतर करनी चाहिये ॥ ३० ॥

महित्रीणामित्यस्य सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । आदित्यो देवता । विराड्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते ॥

फिरभी उसकी प्रार्थना किस लिये करनी चाहिये इस विषयका उपदेश अगलेमंत्रमें किया है ॥

महि त्रीणामवौऽस्तु द्युक्षम्मित्रस्यार्य्यम्णः दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ३१ ॥

महि । त्रीणाम् । अवः । अस्तु । द्युक्षम् । मित्रस्य । अर्य्यम्णः । दुराधर्षमिति दुःऽआधर्षम् । वरुणस्य ॥ ३१ ॥

पदार्थः— (महि) महत् । (त्रीणाम्) त्रयाणां सकाशात् । अत्र वा छंदसि सर्वे विधयो भवंतीति त्रेस्त्रय इति त्रयादेशो न । (अवः) रक्षणादिकम् । (अस्तु) भवतु । (द्युक्षम्) द्यौर्नीतिः प्रकाशः क्षियति निवसति यस्मिंस्तत् । (मित्रस्य) बाह्याभ्यंतरस्थस्य प्राणस्य । (अर्य्यम्णः) य ऋच्छति नियच्छत्याकर्षणेन पृथिव्यादीन्स सूर्य्यलोकस्तस्य । श्वन्नुक्षन्पूषन् । उ० १ । १५७ । अनेनायं निपातितः । (दुराधर्षम्) दुःखेनाधर्षितुं योग्यं दृढम् । (वरुणस्य) वायोर्जलस्य वा । वरुण इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ४ । अनेन प्राप्तिसाधनो गृह्यते । अयं मंत्रः शत० २ । ३ । ४ । ३७ व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते तव कृपया मित्रस्यार्य्यम्णो । वरुणस्य च त्रीणां सकाशान्नोऽस्माकं द्युक्षं दुराधर्षं महदवोऽस्तु ॥ ३१ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मान्मंत्राद्ब्रह्मणस्पते । नः । इति पदद्वयानुवृत्तिर्विज्ञेया । मनुष्यैस्सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः स्वस्यान्येषां च न्यायेन रक्षणं कृत्वा राज्यपालनं कार्यमिति ॥ ३१ ॥

पदार्थः— हे । (ब्रह्मणस्पते) जगदीश्वर आप की कृपासे । (मित्रस्य) बाहिर वा भीतर रहनेवाला जो प्राणवायु तथा । (अर्य्यम्णः) जो आकर्षण से पृथिवी आदि पदार्थोंको धारण करनेवाला सूर्यलोक और । (वरुणस्य) जल (त्रीणाम्) इन तीनोंके प्रकाशसे । (नः) हमलोगोंके । (द्युक्षम्) जिसमें नीतिका प्रकाश निवास करता है वा । (दुराधर्षम्) अतिकष्टसे ग्रहण करने योग्य दृढ । (महि) बड़े वेदविद्यार्थो । (अवः) रक्षा । (अस्तु) हो ॥ ३१ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में पूर्व मंत्रसे । (ब्रह्मणस्पते) (नः) इन दो पदों की

अनुवृत्ति जाननी चाहिये । मनुष्यों को सब पदार्थों से अपनी वा औरों की न्यायपूर्वक रक्षा करके यथावत् राज्य का पालन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

नहि तेषामित्यस्य सप्तधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । आदित्यो देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु ॥ ईशे रिपुरघशंसः ॥३२॥

नहि । तेषाम् । अमा । चन । न । अध्वस्वित्यध्वऽसु । वारणेषु । ईशे । रिपुः । अघशंस इत्यघऽशंसः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(नहि) निषेधार्थे । (तेषाम्) परमेश्वरोपासकानां सूर्यप्रकाशस्थितानां वा । (अमा) गृहेषु । अमेति गृहनामसु पठितम् । निघं० ३ । ४ । (चन) अपि । (न) निषेधार्थे । (अध्वसु) मार्गेषु । (वारणेषु) वारयन्ति यैर्युद्धैस्तेषु वा वारयंति ये चोरदस्युव्याघ्रादयो येषु तेषु (ईशे) समर्थो भवामि । (रिपुः) शत्रुः । (अघशंसः) योऽघानि पापानि कर्माणि शंसति सः । अयं मंत्रः । शत० २ । ३ । २ । ३७ । व्याख्यातः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—य ईश्वरो प्रासकास्तेषाममा गृहेष्वध्वसु वारणेषु च नाप्यघशंसो रिपुर्नहयुत्तिष्ठते न खलु तान् क्लेशयितुं शक्नोति तं तांश्चाहमीशे ॥३॥

भावार्थः—ये धर्मात्मानाः सर्वोपकारकाः संति नैव क्वापि तेषां भयं भवति येऽजातशत्रवो नैव तेषां कश्चिदपि शत्रुर्जायते ॥ ३२ ॥

पदार्थः—जो ईश्वरकी उपासना करनेवाले मनुष्य हैं । (तेषाम्) उनके । (अमा) गृह । (अध्वसु) मार्ग । और । (वारणेषु) चोर शत्रु डांकू व्याघ्र आदिके निवारण करनेवाले संग्रामोंमें । (चन) भी । (अघशंसः) पापरूप कर्मोंका कथन करनेवाला । (रिपुः) शत्रु । (नहि) नहीं स्थित होता और । (न) न उनको क्लेश देनेको समर्थ हो सकता उस ईश्वर और उन धार्मिक विद्वानोंके प्राप्त होनेको मैं । (ईशे) समर्थ होता हूं ॥ ३२ ॥

भावार्थः— जो धर्मात्मा वा सबके उपकार करनेवाले मनुष्य हैं उनको भय कहीं नहीं होता और शत्रुओंसे रहित मनुष्यका कोई शत्रुभी नहीं होता ॥ ३२ ॥

ते हीत्यस्य वारुणिः सप्तधृतिर्ऋषिः । आदित्यो देवता । विराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

आदित्यानां किं कर्मास्तीत्युपदिश्यते ॥

आदित्योंका क्या २ कर्म हैं इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय ॥ ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥३३॥

ते । हि । पुत्रासः । अदितेः । प्र । जीवसे । मर्त्याय । ज्योतिः । यच्छन्ति । अजस्रम् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(ते) पूर्वोक्ताः । (हि) निश्चये । (पुत्रासः) मित्रार्यम वरुणाः । (अदितेः) अखंडितायाः कारणशक्तेः । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (जीवसे) जीवितुम् । (मर्त्याय) मनुष्याय । (ज्योतिः) तेजः । (यच्छंति) ददति । (अजस्रम्) निरंतरम् ॥ अयं मंत्रः । शत० २।३।२।३७। व्याख्यातः॥ ३३ ॥

अन्वयः—येऽदितेःपुत्रासः पुत्रास्ते हि मर्त्याय जीवसेऽजस्रं ज्योतिः प्रयच्छन्ति ॥ ३३ ॥

भावार्थः—एते कारणादुत्पन्नाः प्राणवाय्वादयो नित्यं ज्योतिः प्रयच्छन्तः सर्वेषां जीवनाय मरणाय वा निमित्तानि भवंतीति ॥ ३३ ॥

पदार्थः— जो (अदितेः) नाशरहित कारणरूपी शक्तिके । (पुत्रासः) बाहिर भीतर रहनेवाले प्राण सूर्यलोक पवन और जलआदि पुत्र हैं । (ते) वे (हि) ही । (मर्त्याय) मनुष्योंके मरने वा । (जीवसे) जीनेके लिये । (अजस्रम्) निरंतर । (ज्योतिः) तेज वा प्रकाशको । (यच्छंति) देते हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थः—जो ये कारण रूपी समर्थ पदार्थोंसे उत्पन्न हुए प्राण सूर्यलोक वायु-

वा जल आदिपदार्थ हैं वे ज्योति अर्थात् तेजको देते हुए सब प्राणियोंके जीवन वा मरनेके लिये निमित्त होते हैं ॥ ३३ ॥

कदाचनेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । पथ्या बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

स इन्द्रः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

वह इन्द्र कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे । उपोपेन्नु मघवन्भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ३४ ॥

कदा । चन । स्तरीः । असि । न । इन्द्र । सश्चसि । दाशुषे । उपोपेत्युपऽउप । इत् । नु । मघवन्निति मघऽवन् । भूयः । इत् । नु । ते । दानम् । देवस्य । पृच्यते ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(कदा) कस्मिन् काले । (चन) आकांक्षायाम् । (स्तरीः) यः सुखैः स्तृणात्याच्छादयति सः । अत्र अवेतॄ० उ० ३।१२०। इति ईः प्रत्ययः । (असि) भवसि । (न) निषेधार्थे । (इन्द्र) सुखप्रदेश्वर । (सश्चसि) जानासि प्राप्नोषि वा । सश्चतीति गतिकर्मसु पठितम् । निघं० २।१४। (दाशुषे) विद्यादिदातृकर्त्रे । (उपोप) सामीप्ये । (इत्) एति जानात्यनेन तद्विज्ञानम् । (नु) क्षिप्रम् । न्विति क्षिप्रनामसु पठितम् । निघं० २।१५। (मघवन्) परमधनवन् । (भूयः) पुनः । (इत्) एव । (नु) क्षिप्रे । (ते) तव । (दानम्) दीयमानम् । (देवस्य) कर्मफलप्रदातुः । (पृच्यते) संबध्यते ॥ अयं मंत्रः । शत० २।३।२।३८। व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र यदा त्वं स्तरीरसि तदा दाशुषे कदाचनेन्नु न सश्चसि तदा हे मघवन् देवस्य ते तव दानं तस्मै दाशुषे भूयः कदा चनेन्नु मोपपृच्यते ॥ ३४ ॥

भावार्थः—यदीश्वरः कर्मफलप्रदाता न स्यात्तर्हि न कश्चिदपि जीवो व्यवस्थया कर्मफलं प्राप्नुयादिति ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे । (इन्द्र) सुख देनेवाले ईश्वर जो आप । (स्तरीः) सुखोंसे आच्छादन करनेवाले । (असि) हैं और । (दाशुषे) विद्यादि दान करनेवाले मनुष्यके लिये । (कदाचन) कभी । (इत्) ज्ञानको । (नु) शीघ्र । (सश्चसि) प्राप्त । (न) नहीं करते तो उस कालमें हे । (मघवन्) विद्यादि धनवाले जगदीश्वर । (देवस्य) कर्म फलके देनेवाले । (ते) आपके । (दानम्) दिये हुए । (इत्) ही ज्ञानको । (दाशुषे) विद्यादि देनेवालेके लिये । (भूयः) फिर । (नु) शीघ्र । (उपोपपृच्यते) प्राप्त । (कदाचन) कभी । (न) नहीं होता ॥ ३४ ॥

भावार्थः—जो जगदीश्वर कर्मके फलको देनेवाला नहीं होता तो कोईभी प्राणी व्यवस्थाके साथ किसी कर्मके फलको प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

तत्सवितुरित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । सविता देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तस्य जगदीश्वरस्य कीदृश्यः स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्या इत्युपदिश्यते ॥

उस जगदीश्वरकी कैसी स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्य॒म्भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि । धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ ३५ ॥

तत् । स॒वि॒तुः । वरे॑ण्यम् । भर्गः॑ । दे॒वस्य॑ । धी॒म॒हि॒ । धियः॑ । यः । नः॒ । प्र । चो॒दया॑त् ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(तत्) वक्ष्यमाणम् । (सवितुः) सर्वस्य जगतः प्रसवितुः । सविता वै देवानां प्रसविता तयोहास्मा एते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृध्यन्ते । शत० २ । ३ । २ । ३६ । (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठम् । अत्र वृञ एण्यः । उ० ३ । ९८ अनेन वृञ्धातोरेण्यप्रत्ययः । (भर्गः) भृज्जन्ति पापानि दुःखमूलानि येन तत् । अञ्च्यंजियुजि० उ० ४ । २२१

इति भ्रस्जपाकयोरसुन्प्रत्ययः कवर्गादेशश्च । (देवस्य) प्रकाशमयस्य शुद्धस्य-सर्वसुखप्रदातुः परमेश्वरस्य । (धीमहि) दधीमहि । अत्र डुधाञ्धातोः प्रार्थनायां-लिङ् छन्दस्युभयथेत्यार्धधातुकत्वाच्छप् न । आतो लोप इटि चेत्याकारलोपश्च । (धियः) प्रज्ञा बुद्धीः । धीरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघं० ३ । ६ ॥ (यः) सविता देवः परमेश्वरः । (नः) अस्माकम् । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (चोदयात्) प्रेरयेत् ॥ अयं मंत्रः । शत० २ । ३ । २ । ३६ व्याख्यातः ॥३५॥

अन्वयः—वयं सवितुर्देवस्य परमेश्वरस्य यद्वरेण्यं भर्गः स्वरूपमस्ति तद्धीमहि । यः सविता देवोन्तर्यामी परमेश्वरः स नोऽस्माकं धियः प्रचोदयात् प्रेरयेत् ॥ ३५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सकलजगदुत्पादकस्य सर्वोत्कृष्टस्य सकलदोषनाशकस्य शुद्धस्य परमेश्वरस्यैवोपासना नित्यं कार्या कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह स स्तुतो धारितः प्रार्थित उपासितः सन्नस्मान् सर्वेभ्यो दुष्टगुणकर्मस्वभावेभ्यः पृथक्कृत्य सर्वेषु गुणकर्मस्वभावेषु नित्यं प्रवर्त्तयेदित्यस्मै । अयमेव प्रार्थनाया मुख्यः सिद्धांतः । यादृशीं प्रार्थनां कुर्यात् तादृश्येव कर्माचरेदिति ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हम लोग (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करने वा । (देवस्य) प्रकाशमय शुद्ध वा सुख देनेवाले परमेश्वरका जो । (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ । (भर्गः) पापरूप दुःखोंके मूलको नष्ट करनेवाला (तेजः) स्वरूप है । (तत्) उसको । (धीमहि) धारण करें और (यः) जो अंतर्यामी सब सुखोंका देनेवाला है वह अपनी करुणा करके । (नः) हमलोगोंकी । (धियः) बुद्धियोंको उत्तम २ गुणकर्मस्वभावोंमें । (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे ॥ ३५ ॥

भावार्थः—मनुष्योंको अत्यन्त उचित है कि इस सब जगतके उत्पन्न करने वा सबसे उत्तम सब दोषोंके नाश करने तथा अत्यंत शुद्ध परमेश्वरहीकी स्तुति प्रार्थना और उपासना करें । किस प्रयोजनके लिये जिससे वह धारण वा प्रार्थना किया हुआ हमलोगोंको खोटे २ गुण और कर्मोंसे अलग करके अच्छे २ गुण कर्म और स्वभावोंमें

प्रवृत्त करे इस लिये। और प्रार्थनाका मुख्य सिद्धांत यही है कि जैसी प्रार्थना करनी वैसाही पुरुषार्थसे कर्मका आचरण भी करना चाहिये ॥ ३५ ॥

परितइत्यस्य वामदेव ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

स जगदीश्वरः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

वह परमेश्वर कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है।

परिं ते दूडभो रथोऽस्माँ२॥ऽअश्नोतु विश्वतः॥
येन रक्षसि दाशुषः ॥ ३६ ॥

परिं। ते। दूडभः। दुर्दभ इति दुःऽदभः। रथः। अस्मान्। अश्नोतु। विश्वतः। येन। रक्षसि। दाशुषः ॥ ३६ ॥

पदार्थः-- (परि) सर्वतः। (ते) तव व्यापकेश्वरस्य। (दूडभः) दुःखेन दंभितुं हिंसितुं योग्यः। अत्र दंभुधातोः खल् प्रत्ययः। दुरोदाशनाशदभध्येषु उत्वं वक्तव्यमुत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम्। अ० ६। ३। १०९। एतत्सूत्रभाष्योक्तवार्त्तिकेन नकारलोपेन चास्य सिद्धिः। (रथः) रयते जानाति येन स रथः। रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रयतेर्वा रसतेर्वा। नि० ९। ११। (अस्मान्) भवदाज्ञासेवकान्। (अश्नोतु) अश्नुताम्। व्याप्नोतु। अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम्। (विश्वतः) सर्वतः। (येन) ज्ञानेन। (रक्षसि) पालयसि। (दाशुषः) विद्यादिदानकर्तॄन्। अयं मंत्रः। शत० २। ३। २। ४०—४१। व्याख्यातः ॥ ३६ ॥

अन्वयः-- हे जगदीश्वर त्वं येन रथेन दाशुषो विश्वतो रक्षसि स ते तव दूडभो रथो विज्ञानं विश्वतो रक्षितुमस्मान्पर्यश्नोतु सर्वतः प्राप्नोतु ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वाभिरक्षकस्य परमेश्वरस्य विज्ञानस्य च प्राप्तये प्रार्थनापुरुषार्थौ नित्यं कर्तव्यौ । यतो रक्षिताः संतो वयमविद्याऽधर्मादिदोषांस्त्यक्त्वा सद्विद्याधर्मादिशुभगुणान्प्राप्य सदा सुखिनः स्यामेति ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर आप । (येन) जिस ज्ञान से । (दाशुषः) विद्यादि दान करनेवाले विद्वानों को । (विश्वतः) सब ओरसे । (रक्षसि) रक्षा करते और जो । (ते) आपका । (दूडभः) दुःखसेभी नहीं नष्ट होने योग्य । (स्वः) सब को जानने योग्य विज्ञान सब ओरसे रक्षा करने के लिये है वह । (अस्मान्) आपकी आज्ञाके सेवन करनेवाले हम लोगों को । (परि) सब प्रकार । (अश्नोतु) प्राप्त हो ॥

भावार्थः—मनुष्यों को सबकी रक्षा करनेवाले परमेश्वर वा विज्ञानकी प्राप्ति के लिये प्रार्थना और अपना पुरुषार्थ नित्य करना चाहिये जिससे हम लोग अविद्या अधर्म आदि दोषों को त्याग करके उत्तम २ विद्या धर्म आदि शुभगुणों को प्राप्त होके सदा सुखी होवें ॥ ३६ ॥

भूर्भुवरित्यस्य वामदेव ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स जगदीश्वरः किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते ॥

फिर उस जगदीश्वरकी प्रार्थना किस लिये करनी चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳪसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः । नर्य प्रजां मे पाहि शᳪस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ ३७ ॥

भूः । भुवः । स्वरिति स्वः । सुप्रजा इति सुऽप्रजाः । प्रजाभिरिति प्रऽजाभिः । स्याम् । सुवीर इति सुऽवीरः । वीरैः । सुपोष इति सुऽपोषः । पोषैः । नर्य । प्रजामिति प्रऽजाम् । मे । पाहि । शᳪस्य । पशून् । मे । पाहि । अथर्य । पितुम् । मे । पाहि ॥ ३७ ॥

पदार्थः— (भूः) प्रियस्वरूपः प्राणः । (भुवः) बलनिमित्त उदानः । (स्वः) सर्वचेष्टानिमित्तो व्यानश्च तैः सह । (सुप्रजाः) शोभना सुशिक्षा सद्विद्यासहिता प्रजा यस्य सः । (प्रजाभिः) अनुकूलाभिः स्त्रीपौरसद्विद्यासंतानमित्रभृत्यराज्यपश्वादिभिः । (स्याम्) भवेयम् । (सुवीरः) शोभना वीराः शरीरात्मबलसहिता यस्य सः । (वीरैः) शौर्यधैर्यविद्याशत्रुनिवारणप्रजापालनकुशलैः । (सुपोषः) श्रेष्ठाः पोषाः पुष्टयो यस्य सः (पोषैः) पुष्टिकारकैः शास्त्रविद्याजनितैर्बोधयुक्तैर्व्यवहारैः। (नर्य) नीतियुक्तेषु नृषु साधुस्तत्संबुद्धौ परमेश्वर । (प्रजाम्) संतानादिकाम् । (मे) मम । (पाहि) सततं रक्ष । (शंस्य) शंसितुं सर्वथा स्तोतुमर्ह । (पशून्) गोश्वहस्त्यादीन् । (मे) मम (पाहि) रक्षय । (अथर्य) संशयरहित । थर्वतिश्चरतिकर्मा । निरु० ११।१८। थर्वति संशेते यः सः थर्य्यो न थर्य्योऽथर्यस्तत्संबुद्धौ । अत्र वर्णव्यत्ययेन वकारस्थाने यकारः । (पितुम्) अन्नम् । पितुरित्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २।७। (मे) मम । (पाहि) रक्ष । अत्रो भयत्रांतर्गतो ण्यर्थः ॥ अयं मंत्रः । शत० २।३।३।१-६ व्याख्यातः ॥ ३७ ॥

अन्वयः— हे नर्य्य त्वं कृपया मे मम प्रजां पाहि मे मम पशून्पाहि हे अथर्य्य मे मम पितुं पाहि । हे शंस्य जगदीश्वर भवत्कृपयाहं भूर्भुवः स्वः प्राणापानव्यानैर्युक्तः सुप्रजाभिः सुप्रजावीरैः सुवीरः पोषैः सह च सुपोषः स्यां नित्यं भवेयम् ॥ ३७ ॥

भावार्थः— मनुष्यैरीश्वरोपासनाज्ञापालनमाश्रित्य सुनियमैः पुरुषार्थेन श्रेष्ठप्रजावीरपुष्ट्यादिकारणैः प्रजापालनं कृत्वा नित्यं सुखं संपादनीयम् ॥३७॥

पदार्थः—हे (नर्य) नीतियुक्त मनुष्योंपर कृपा करनेवाले परमेश्वर आप कृपा करके । (मे) मेरी । (प्रजाम्) पुत्र आदि प्रजा की । (पाहि) रक्षा कीजिये

वा । (मे) मेरे । (पशून्) गौ घोड़े हाथी आदि पशुओं की । (पाहि) रक्षा कीजिये । हे (अथर्य) संदेहरहित जगदीश्वर आप । (मे) मेरे । (पितुम्) अन्नकी । (पाहि) रक्षा कीजिये हे । (शंस्य) स्तुति करनेयोग्य ईश्वर आपकी कृपासे मैं (भूर्भुवः स्वः) जो प्रियस्वरूप प्राण, बलका हेतु उदान तथा सब चेष्टा आदि व्यवहारोंका हेतु व्यानवायु है उनके साथ युक्त होके । (प्रजाभिः) अपने अनुकूल स्त्री पुत्र विद्या धर्म मित्र भृत्य पशु आदि पदार्थों के साथ । (सुप्रजाः) उत्तम विद्याधर्मयुक्त प्रजासहित वा । (वीरैः) शौर्य धैर्य विद्याशत्रुओंके निवारण प्रजाके पालनमें कुशलोंके साथ । (सुवीरः) उत्तम शूर वीरयुक्त और । (पोषैः) पुष्टिकारक पूर्णविद्यासे उत्पन्न हुए व्यवहारोंके साथ । (सुपोषः) उत्तम पुष्टि उत्पादन करनेवाला (स्याम्) नित्य होऊं ॥३७॥

भावार्थः—मनुष्योंको ईश्वरकी उपासना वा उसकी आज्ञाके पालनका आश्रय लेकर उत्तम २ नियमोंसे वा उत्तम प्रजा शूरता पुष्टि आदि कारणोंसे प्रजाका पालन करके निरन्तर सुखोंका सिद्ध करना चाहिये ॥ ३७ ॥

आगन्मेत्यस्यासुरिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गांधारः स्वरः

अथाग्निशब्देनेश्वरभौतिकावर्थावुपादिश्येते ॥

अब अग्निशब्द से ईश्वर और भौतिक अग्निका उपदेश किया है ॥

आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् ॥
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व॥३८॥

आ । अगन्म । विश्ववेदसमिति विश्वऽवेदसम् । अस्मभ्यम् । वसुवित्तमिति वसुवित्ऽतमम् । अग्ने । सम्राडिति सम्ऽराट् । अभि । द्युम्नम् । अभि । सहः । आ । यच्छस्व । ३८ ॥

पदार्थः—(आ) समंतात् । (अगन्म) प्राप्नुयाम । अत्र लिङर्थे लुङ् । मंत्रे घसह्वर० इति च्लेर्लुक् । म्वोश्च । अ० ८।२।६५। इति मकारस्य नकारः। (विश्ववेदसम्) यो विश्वं वेत्ति स विश्ववेदाः परमेश्वरः । विश्वं सर्वं सुखं

वेदयति प्रापयति स भौतिकोग्निर्वा । अत्र विदिभुजिभ्यां विश्वे ।उ०४।२४। अनेनासिः प्रत्ययः । (अस्मभ्यम्) उपासकेभ्यो यज्ञानुष्ठातृभ्यो वा । (वसुवित्तमम्) वसून्पृथिव्यादिलोकान्वेत्ति सोतिशयितस्तम् । पृथिव्यादिलोकान् वेदयति सूर्यरूपेणाग्निरेतान्प्रकाश्य प्रापयति स वसुवित् । अतिशयेन वसुविदिति वसुवित्तमो वा तम् । (अग्ने) विज्ञानस्वरूपेश्वर विज्ञापको भौतिको वा । (सम्राट्) यः सम्यग्राजते प्रकाशते सः । (अभि) आभिमुख्ये । (द्युम्नम्) प्रकाशकारकमुत्तमं यशः । द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा । नि० ५।५। (अभि) आभिमुख्ये । (सहः) उत्तमं बलम् । सह इति बलनामसु पठितम् । निघं० २।६। (आ) समंतात् । (यच्छस्व) विस्तारय विस्तारयति वा । अत्र पक्षे लडर्थे लोट् । अङो यमहनः । अ० १।३।२८। अनेनात्मनेपदम् । आङ्पूर्वकोयमधातुर्विस्तारार्थे । अयं मंत्रः शत० २।३।३।७।८ व्याख्यातः ॥ ३८ ॥

अन्वयः–हे सम्राडग्ने जगदीश्वर त्वमस्मभ्यं द्युम्नं सहश्चाभ्यायच्छस्व विस्तारय । एतदर्थं वयं वसुवित्तमं विश्ववेदसं त्वामभ्यागन्म प्राप्नुयामेत्येकः । यः सम्राडग्ने यमग्निरस्मभ्यं सहश्चाभ्यायच्छति सर्वतो विस्तारयति तं वसुवित्तमं विश्ववेदसमग्निं वयमभ्यागन्म प्राप्नुयामेति द्वितीयः ॥ ३८ ॥

भावार्थः–अत्र श्लेषालंकारः । मनुष्यैः परमेश्वरभौतिकाग्न्योर्गुणविज्ञानेन तदनुसारानुष्ठानेन सर्वतः कीर्तिबले नित्यं वितारणीयेइति ३८

पदार्थः–हे । (सम्राट्) प्रकाशस्वरूप । (अग्ने) जगदीश्वर आप । (अस्मभ्यम्)उपासना करने वाले हमलोगों के लिये । (द्युम्नम्) प्रकाशस्वरूप उत्तम यश वा । (सह) उत्तम बलको । (अभ्यायच्छस्व) सब ओर से विस्तारयुक्त करतेहो इस लिये हम लोग । (वसुवित्तमम्) पृथिवी आदिलोकोंके जानने वा । (विश्ववेदसम्) सब सुखोंके जाननेवाले आपको । (अभ्यागन्म) सब प्रकार प्राप्त होवें ॥ १ ॥ जो यह । (सम्राट्) प्रकाश होनेवाला (अग्ने) भौतिक अग्नि ॥ (अस्मभ्यम्) यज्ञके अनुष्ठान करनेवाले हम लोगोंके लिये । (द्युम्नम्) उत्तम २

यश वा । (सहः) उत्तम २ बल को । (अभ्यायच्छस्व) सब प्रकार विस्तारयुक्त करता है उस । (वसुवित्तमम्) पृथिवी आदि लोकों को सूर्यरूप से प्रकाश करके प्राप्त कराने वा । (विश्ववेदसम्) सब सुखों को जनानेवाले अग्निको हम लोग (अभ्यागन्म) सब प्रकार प्राप्त होवें ॥ २ ॥ ३८ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में श्लेषालंकार है ॥ मनुष्यों को परमेश्वर वा भौतिक अग्निके गुणोंको जानने वा उसके अनुसार अनुष्ठान करने से कीर्ति यश और बलका विस्तार करना चाहिये ॥ ३८ ॥

अयमग्निरित्यस्यासुरिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिग्बृहती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ।

॥ अथेश्वर भौतिकावग्नी उपदिश्येते ॥

अब अगले मंत्र में ईश्वर और भौतिक अग्निका उपदेश किया है ॥

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ॥ अग्ने गृहपते अभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ ३९ ॥

अयम् । अग्निः । गृहपतिरिति गृहऽपतिः । गार्हपत्य इति गार्हऽपत्यः । प्रजाया इति प्रऽजायाः । वसुवित्तम इति वसुवित्ऽतमः । अग्ने । गृहपत इति गृहऽपते । अभि । द्युम्नम् । अभि । सहः । आ । यच्छस्व ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(अयम्) प्रत्यक्षो वक्ष्यमाणः । (अग्निः) ईश्वरो विद्युत्सूर्यो ज्वालामयो भौतिको वा । (गृहपतिः) गृहाणां स्थानविशेषाणां पतिः पालनहेतुः । (गार्हपत्यः) गृहपतिना संयुक्तः । अत्र गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः । अ० ४।४।९१ अनेन ञ्यः प्रत्ययः । इदं पदं महीधरादिभिर्व्याकरणज्ञानविरहत्वात् गृहस्य पतिः पालक इत्यशुद्धं व्याख्यातम् । (प्रजायाः) विद्यमानायाः । (वसुवित्तमः) यो वसूनि द्रव्याणि वेदयति प्रापयति सोऽतिशयितः । (अग्ने) अयमग्निः । (गृहपते) गृहाभिरक्षकेश्वर गृहाणां पालयिता वा । (अभि)

अभितः । (द्युम्नम्) सुखप्रकाशयुक्तं धनम् । द्युम्नमिति धननामसु पठितम् । निघं० । २।१०। (अभि) आभिमुख्ये । (सहः) उदकं बलं वा । सह इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२। बलनामसु च । निघं० २।९। (आ) समन्तात् क्रियायोगे । (यच्छस्व) सर्वतो देहि आयच्छति विस्तारयति वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः सिद्धिश्च पूर्ववत् । अयं मंत्रः । शत० २।३।३।१६—१९। व्याख्यातः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे गृहपतेऽग्ने परमात्मन्योऽयं भवान् गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमोऽग्निरस्ति तस्मात्त्वमस्मदर्थं द्युम्नमभ्यायच्छस्व सहश्चाभ्यायच्छस्वेत्येकः । यस्माद्गृहपतिः प्रजाया वसुवित्तमो गार्हपत्योऽयमग्निरस्ति तस्मात्सोऽभिद्युम्नं सहश्चाभ्यायच्छति आभिमुख्येन समन्तात् विस्तारयतीति द्वितीयः ॥ ३६ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । गृहस्थैर्यदीश्वरमुपास्यैतस्याज्ञायां वर्त्तित्वायमग्निः कार्यसिद्धये संयोज्यते तदाऽनेकविधं धनबलं अत्यंतं विस्तारयति । कुतः । प्रजाया मध्येऽस्याग्नेः पदार्थप्राप्तये साधकतमत्वादिति ॥ ३९ ॥

पदार्थः—हे (गृहपते) घरके पालन करनेवाले (अग्ने) परमेश्वर । जो (अयम्) यह (गृहपतिः) स्थानविशेषों के पालनहेतु । (गार्हपत्यः) घरके पालन करनेवालों के साथ संयुक्त । (प्रजाया वसुवित्तमः) प्रजाके लिये सब प्रकार धन प्राप्त करानेवाले हैं सो आप । जिस कारण (द्युम्नम्) सुख और प्रकाश से युक्त धन को (अभ्यायच्छस्व) अच्छी प्रकार दीजिये । तथा (सह) उत्तम बल पराक्रम (अभ्यायच्छस्व) अच्छी प्रकार दीजिये ॥ १ ॥

जिस कारण । जो (गृहपतिः) उत्तम स्थानोंके पालन का हेतु । (प्रजायाः) पुत्र मित्र स्त्री और भृत्य आदि प्रजाको । (वसुवित्तमः) द्रव्यादि को प्राप्त कराने वा । (गार्हपत्यः) गृहों के पालन करनेवालों के साथ संयुक्त । (अयम्) यह । (अग्ने) बिजुली सूर्य वा । प्रत्यक्षरूप से अग्नि है इससे वह । (गृहपते) घरोंका पालन करनेवाला (अग्ने) अग्नि हम लोगों के लिये । (अभिद्युम्नम्) सब ओरसे उत्तम २ धन वा । (सहः) उत्तम २ बलों को । (अभ्यायच्छस्व) सब प्रकार से विस्तारयुक्त करता है ॥ ३९ ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें श्लेषालंकार है । गृहस्थ लोग जब ईश्वर की उपासना और उसकी आज्ञा में प्रवृत्त होके कार्य्य की सिद्धि के लिये इस अग्नि को संयुक्त करते हैं तब वह अग्नि अनेक प्रकार के धन और बलों को विस्तारयुक्त करता है। क्योंकि यह प्रजा में पदार्थों की प्राप्ति के लिये अत्यंत सिद्धि करनेहारा है ॥ ३९ ॥

अयमग्निः पुरीष्य इत्यस्यासुरिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

॥ पुनर्भौतिकोग्निः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर भौतिक अग्नि कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

अ॒यम॒ग्निः पु॑री॒ष्यो॑ र॒यि॒मान् पु॑ष्टि॒वर्द्ध॑नः ॥ अग्ने॑ पुरीष्या॒भि॒द्यु॒म्नम॒भि सह॒ऽआ य॑च्छस्व ॥ ४० ॥

अयम् । अग्निः । पुरीष्यः । रयिमानिति रयिऽमान् । पुष्टिवर्द्धनऽइति पुष्टिऽवर्द्धनः । अग्ने । पुरीष्य । अभि । द्युम्नम् । अभि । सहः । आ । यच्छस्व ॥४०॥

पदार्थः—(अयम्) वक्ष्यमाणलक्षणः । (अग्निः) पूर्वोक्तो भौतिकः । (पुरीष्यः) ये पृणंति यानि कर्माणि तानि पुरीषाणि तेषु साधुः । (रयिमान्) प्रशस्ता रययो धनानि विद्यंते यस्मिन् सः । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । रयिरिति धननामसु पठितम् । निघं० २ । १० । (पुष्टिवर्द्धनः) वर्द्धयतीति वर्द्धनः पुष्टेर्वर्द्धनःपुष्टिवर्द्धनः । (अग्ने) सर्वोत्तमपदार्थप्रापकेश्वर । (पुरीष्य) पृणन्ति पूरयंति सुखानि यैर्गुणैस्ते पुरीषास्तेषु साधुस्तत्संबुद्धौ । (अभि) आभिमुख्ये । (सहः) शरीरात्मबलम् । (आ) समंतात् क्रियायोगे । (यच्छस्व) विस्तारय । अयं सिद्धिः पूर्ववत् ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे पुरीष्याग्ने विद्वंस्त्वं योयं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्द्धनोग्निरस्ति तस्माद्भिद्युम्नमभिसहो वा यच्छस्व विस्तारय ॥ ४० ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वरानुग्रहस्वपुरुषार्थाभ्यामग्निविद्यां प्राप्यानेकविधं धनं बलं च सर्वतो विस्तारणीयमिति ॥ ४० ॥

पदार्थः—हे (पुरीष्य) कर्मोंके पूरण करनेमें अतिकुशल । (अग्ने) उत्तमसे उत्तम पदार्थोंके प्राप्त करानवाले विद्वान् आप जो । (अयम्) यह । (पुरीष्यः) सब सुखोंके पूर्ण करनेमें अत्युत्तम । (रयिमान्) उत्तम २ धनयुक्त । (पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टि को बढ़ानेवाला । (अग्निः) भौतिक अग्नि है उससे हम लोगों के लिये । (अभिद्युम्नम्) उत्तम २ ज्ञानको सिद्ध करनेवाले धन वा । (अभिसहः) उत्तम २ शरीर और आत्माके बलोंको ॥ (आयच्छस्व) सब प्रकारसे विस्तारयुक्त कीजिये ॥ ४० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को परमेश्वर की कृपा वा अपने पुरुषार्थसे अग्निविद्या को संपादन करके अनेक प्रकारके धन और बलों को विस्तारयुक्त करना चाहिये ॥ ४० ॥

गृहा मेत्यस्याासुरिर्ऋषिः । वास्तुरग्निर्देवता । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

॥ अथ गृहाश्रमानुष्ठानमुपदिश्यते ॥

अब अगले मंत्रमें गृहस्थाश्रम के अनुष्ठान का उपदेश किया है ।

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्ज्जं बिभ्रत एमसि ॥ ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ४१ ॥

गृहाः । मा । बिभीत । मा । वेपध्वम् । ऊर्ज्जम् । बिभ्रतः । आ । इमसि ॥ ऊर्ज्जम् । बिभ्रत् । वः । सुमना इति सुऽमनाः । सुमेधा इति सुऽमेधाः । गृहान् । आ । एमि । मनसा । मोदमानः ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(गृहाः) गृह्णन्ति ब्रह्मचर्याश्रमानंतरं गृहाश्रमं ये मनुष्यास्तत्संबुद्धौ । (मा) निषेधार्थे । (बिभीत) भयं कुरुत । (मा) प्रतिषेधे (वेपध्वम्) कंपध्वम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् । (बिभ्रतः) धारयंतः । (आ) समंतात् । (इमसि) प्राप्नुमः । अत्रेदंतो मसीतीदादेशः । (ऊर्जम्) अनेकविधं बलम् । (बिभ्रत्) धारयन् । (वः) युष्मान् । (सुमनाः) शोभनं मनो विज्ञानं यस्य सः । (सुमेधाः) सुष्ठु मेधा धारणावती संगमिका धीर्यस्य सः । (गृहान्) गृहाश्रमस्थान् विदुषः । (आ) समंतात् । (एमि)

प्राप्नुयाम् । अत्र लिङर्थे लट् । (मनसा) विज्ञानेन । (मोदमानः) हर्षोत्साहयुक्तः । एतदादिमंत्रत्रयम् । शत० २।३।३। १४ । व्याख्यातम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मचर्येण कृतविद्या गृहाश्रमिण ऊर्जं बिभ्रतो गृहा मनुष्या यूयं गृहाश्रमं प्राप्नुत । तदनुष्ठानान्मा बिभीत मा वेपध्वं च । ऊर्जं बिभ्रतो वयं युष्मान्गृहानेमसि समंतात्प्राप्नुमः । वो युष्माकं मध्ये स्थित्वैवं गृहाश्रमे वर्तमानः सुमनाः सुमेधा मनसा मोदमान ऊर्जं बिभ्रत्सन्नहं सुखान्येमि नित्यं प्राप्नुयाम् ॥ ४१ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः पूर्णब्रह्मचर्याश्रमं संसेव्य युवावस्थायां स्वयंवरविधानेन स्वतुल्यस्वभावविद्यारूपबलवतीं सुपरीक्षितां स्त्रीमुद्वाह्य शरीरात्मबलं संपाद्य संतानोत्पत्तिं विधाय सर्वैः साधनैः सद्व्यवहारेषु स्थातव्यम् । नैव केनापि गृहाश्रमानुष्ठानात्कदाचिद्भेतव्यं कंपनीयं च कुतः । सर्वेषां सद्व्यवहाराणामाश्रमाणां च गृहाश्रमो मूलमस्त्यत एष सम्यगनुष्ठातव्यः । नैतेन विना मनुष्यवृद्धीराज्यसिद्धिश्च जायते ॥ ४१ ॥

पदार्थः—हे ब्रह्मचर्याश्रम से सब विद्याओं को ग्रहण किये गृहाश्रमी तथा । (ऊर्जम्) शौर्यादिपराक्रमों को । (बिभ्रतः) धारण किये और (गृहाः) ब्रह्मचर्याश्रम के अनंतर अर्थात् गृहस्थाश्रम को प्राप्त होने की इच्छा करते हुए मनुष्यो तुम गृहस्थाश्रम को यथावत् प्राप्त होओ उस गृहस्थाश्रमके अनुष्ठानसे । (मा बिभीत) मत डरो तथा । (मा वेपध्वम्) मत कंपो तथा पराक्रमों को धारण किये हुए हम लोग । (गृहान्) गृहस्थाश्रमको प्राप्त हुए तुम लोगोंको । (एमसि) नित्य प्राप्त होते रहें और । (वः) तुम लोगोंमें स्थित होकर इस प्रकार गृहस्थाश्रममें वर्त्तमान । (सुमनाः) उत्तम ज्ञान। (सुमेधाः) उत्तमबुद्धियुक्त । (मनसा) विज्ञानसे । (मोदमानः) हर्षउत्साहयुक्त । (ऊर्जम्) अनेक प्रकारके बलों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ मैं अत्यंत सुखोंको । (एमि) निरंतर प्राप्त होऊं ॥ ४१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को पूर्ण ब्रह्मचर्याश्रम को सेवन करके युवावस्था में स्वयंवरके विधानकी रीतिसे दोनोंके तुल्य स्वभाव विद्यारूप बुद्धि और बल आदि गुणों को देखकर विवाह कर तथा शरीर आत्मा के बलको सिद्ध कर और पुत्रोंको उत्पन्न करके सब साधनों से अच्छे २ व्यवहारोंमें स्थित रहना चाहिये तथा किसी मनुष्यको गृहस्थाश्र-

मके अनुष्ठान से भय नहीं करना चाहिये क्योंकि सब अच्छे व्यवहार वा सब आश्रमों का यह गृहस्थाश्रम मूल है इससे इस गृहस्थाश्रम का अनुष्ठान अच्छे प्रकार से करना चाहिये और इस गृहस्थाश्रमके विना मनुष्यों की वा राज्यादि व्यवहारों की सिद्धि कभी नहीं होती ॥ ४१ ॥

येषामित्यस्य शंयुर्ऋषिः । वास्तुपतिरग्निर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

॥ पुनस्ते गृहाश्रमिणः कीदृशाः सन्तीत्युपदिश्यते ॥

फिर वह गृहस्थाश्रम कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः ।
गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः॥४२॥

येषा॑म् । अ॒ध्येतीत्य॑धि॒ऽएति॑ । प्र॒वस॒न्निति॑ प्र॒ऽवस॑न् । येषु॑ । सौ॒म॒न॒सः । ब॒हुः ॥ गृ॒हान् । उप॑ । ह्व॒या॒म॒हे॒ । ते । नः॒ । जा॒न॒न्तु॒ । जा॒न॒तः॥४२॥

पदार्थः—(येषाम्) गृहस्थानाम् । अत्र अधीगर्थदयेशां कर्मणि अ० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । (अध्येति) स्मरति । (प्रवसन्) प्रवासं कुर्वन् । (येषु) गृहस्थेषु । (सौमनसः) शोभनं मनः सुमनस्तस्यायमानंदः सुहृद्भावः । अत्र तस्येदमित्यण् । (बहुः) अधिकः । (गृहान्) गृहस्थान् । (उप) सामीप्ये । (ह्वयामहे) शब्दयामहे । (ते) गृहस्थाः (नः) अस्मान्प्रवसतोऽतिथीन् । (जानंतु) विदंतु । (जानतः) धार्मिकान् विदुषः ॥ ४२ ॥

अन्वयः— प्रवसन्नतिथिर्येषामध्येति येषु बहुः सौमनसोस्ति । तान् गृहस्थान् वयमतिथय उपह्वयामहे । ये सुहृदो गृहस्थास्ते जानतो नोस्मानातिथीन् जानंतु ॥ ४२ ॥

भावार्थः—गृहस्थैः सर्वैर्धार्मिकैर्विद्वद्भिरतिथिभिः सह गृहस्थैः सहातिथिभिश्चात्यंतः सुहृद्भावो रक्षणीयो नैव दुष्टैः सह तेषां संगे पर-

स्परं संलापं कृत्वा विद्योन्नतिः कार्या ॥ ये परोपकारिणो विद्वांसोऽतिथयः संति तेषां गृहस्थैर्नित्यं सेवा कार्या नेतरेषामिति ॥ ४२ ॥

पदार्थः— (प्रवसन्) प्रवास करता हुआ अतिथि । (येषाम्) जिन गृहस्थों का । (अध्येति) स्मरण करता वा । (येषु) जिन गृहस्थों में । (बहुः) अधिक । (सौमनसः) प्रीतिभाव है उन । (गृहान्) गृहस्थों का हम अतिथि लोग । (उपह्वयामहे) नित्य प्रति प्रशंसा करते हैं जो प्रीति रखनेवाले गृहस्थलोग हैं (ते) वे । (जानतः) जानते हुए धार्मिक । (नः) हम अतिथि लोगों को (जानंतु) यथावत् जानें ॥ ४२ ॥

भावार्थः— गृहस्थोंको सब धार्मिक अतिथि लोगों के वा अतिथि लोगों को गृहस्थों के साथ अत्यंत प्रीति रखनी चाहिये और दुष्टों के साथ नहीं तथा उन विद्वानों के संग से परस्पर वार्तालापकर विद्या की उन्नति करनी चाहिये और जो परोपकार करनेवाले विद्वान् अतिथि लोग हैं उनकी सेवा गृहस्थों के निरंतर करनी चाहिये औरों की नहीं ॥ ४२ ॥

उपहूता इत्यस्य शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः । वास्तुपतिर्देवता । भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशः संपादनीय इत्युपदिश्यते ॥

फिर उस गृहस्थाश्रम को कैसे सिद्ध करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

उप॑हूताऽइ॒ह गाव॒ऽउप॑हूताऽअ॒जाव॑यः । अथो॒ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ऽउप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः । क्षेमा॑य वः॒ शान्त्यै॒ प्र प॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शंयोः॒ शंयोः॑ ॥ ४३ ॥

उप॑हू॒ताऽइत्युप॑ऽहूताः । इ॒ह । गावः॑ । उप॑हू॒ताऽइत्युप॑ऽहूताः । अ॒जाव॑यः । अथो॒ऽइत्यथो॑ । अन्न॑स्य । की॒लालः॑ । उप॑हूत॒ऽइत्युप॑ऽहूतः । गृ॒हेषु॑ । नः॒ ।

क्षेमा॑य । वः॒ शान्त्यै॑ । प्र । प॒द्ये॒ । शि॒वम् । श॒ग्मम् । श॒योरिति॑ श॒म्ऽयोः॑ । शं॒योरिति॑ श॒म्ऽयोः ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(उपहूताः) सामीप्यं प्रापिताः । (इह) अस्मिन्गृहाश्रमे संसारे वा । (गावः) दुग्धप्रदा धेनवः । (उपहूताः) सामीप्यं प्रापिताः (अजावयः) अजाश्चावयश्च ते । (अथो) आनंतर्ये । (अन्नस्य) प्राणधारणस्य निरंतर सुखस्य च हेतुः । कृदृ० उ० ३।१० इत्यनधातोर्नः प्रत्ययः । धापृवस्यज्य० उ० ३। ६। इत्यतधातोर्नः प्रत्ययः । (कीलालः) उत्तमान्नादिपदार्थसमूहः । कीलाल इत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २।७। (उपहूतः) सम्यक् प्रापितः । (गृहेषु) निवसनीयेषु प्रासादेषु । (नः) अस्माकम् । (क्षेमाय) रक्षणाय (वः) युष्माकम् । (शान्त्यै) सुखाय । (प्रपद्ये) प्राप्नोमि । (शिवम्) कल्याणम् । (शग्मम्) सुखम् । (शंयोः) कल्याणवतः साधनात्कर्मणः सुखवतो वा । (शंयोः) सुखात् । अत्रोभयत्र कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः । अ० ५।२। १३८। इति शमो युस्प्रत्ययः । शिवं शग्मं चेति सुखनामसु पठितम् । निघं० ३।६।।४३।।

अन्वयः—इहास्मिन्संसारे वो युष्माकं शांत्यै नोस्माकं क्षेमाय गृहेषु गाव उपहूता अजावय उपहूता अथोऽन्नस्य कीलाल उपहूतोस्त्वेवं कुर्वन्नहं गृहस्थः शंयोः शिवं शग्मं च प्रपद्ये ॥ ४३ ॥

भावार्थः— गृहस्थैरीश्वरोपासनाज्ञापालनाभ्यां गोहस्त्यश्वादीन् पशून् भक्ष्यभोज्यलेह्यचूष्यान् पदार्थांश्चोपसंचित्य स्वेषामन्येषां च रक्षणं कृत्वा विज्ञानधर्मपुरुषार्थै रैहिकपारमार्थिके सुखे संसेधनीये नैव केनाचिदालस्ये स्थातव्यम् । किंतु । ये मनुष्याः पुरुषार्थवंतो भूत्वा धर्मेण चक्रवर्त्तिराज्यादीनुपार्ज्य संरक्ष्योन्नीय सुखानि प्राप्नुवंति ते श्रेष्ठा गण्यन्ते नेतरे॥ ४३ ॥

पदार्थः—(इह) इस गृहस्थाश्रम वा संसार में । (वः) तुम लोगों के (शान्त्यै) सुख (नः) हमलोगों की । (क्षेमाय) रक्षा के । (गृहेषु) निवास करने योग्य स्थानों में जो । (गावः) दूध देनेवाली गौ आदि पशु । (उपहूताः) समीप प्राप्त किये वा । (अजावयः) भेड़ बकरी आदि पशु । (उपहूताः) समीप प्राप्त हुए (अथो) इसके अनंतर । (अन्नस्य) प्राण धारण करनेवाले । (कीलालः) अन्न आदि प-

हाथों का समूह । (उपहूताः) अच्छे प्रकार प्राप्त हुआ हो इन सब की रक्षा करता हुआ जो मैं गृहस्थ हूँ सो (शंयोः) सब सुखोंके साधनों से । (शिवम्) कल्याण वा । (शग्मम्) उत्तम सुखों को । (प्रपद्ये) प्राप्त होऊं ॥ ४३ ॥

भावार्थः— गृहस्थों को योग्य है कि ईश्वर की उपासना वा उसकी आज्ञा के पालने से गौ हाथी घोड़े आदि पशु तथा भोजन पीनेयोग्य स्वादु पदार्थों का संग्रह कर अपनी वा औरोंकी रक्षा करके ज्ञान धर्म विद्या और पुरुष से इस लोक वा परलोक के सुखों को सिद्ध करना चाहिये किन्तु किसी पुरुषार्थ को आलस्य में नहीं रहना चाहिये किन्तु सब मनुष्य पुरुषार्थ वाले होकर धर्म से चक्रवर्ति राज्य आदि धनों को संग्रह कर उनकी अच्छे प्रकार रक्षा करके उत्तम२ सुखों को प्राप्त हों इससे अन्यथा मनुष्यों को वर्तना न चाहिये क्योंकि अन्यथा वर्तनेवालों को सुख कभी नहीं होता ॥४३॥

प्रघासिन इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । मरुतो देवता । गायत्री छन्दः ॥
षड्जः स्वरः ॥

॥ पुनर्गृहस्थैः किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ॥

गृहस्थ मनुष्यों को क्या२ करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः ॥ कर॒म्भेण॑ सजोषसः ॥ ४४ ॥

प्रघासिन॒ऽइति॑ प्रऽघासिनः॑ । ह॒वा॒म॒हे॒ । म॒रुतः॑ । च॒ । रि॒शाद॑सः ॥ क॒र॒म्भेण॑ । स॒जोष॑स॒ऽइति॑ स॒ऽजोष॑सः ॥ ४४ ॥

पदार्थः— (प्रघासिनः) प्रघस्तुमत्तुं शीलमेषां तान । (हवामहे) आहवामहे । (मरुतः) विदुषोऽतिथीन् । (च) समुच्चये । (रिशादसः) रिशान्दोषान् शत्रूंश्चादति हिंसंति तान् (करम्भेण) अविद्याहिंसनेन । अत्र कृ हिंसायामित्यस्माद्धातोर्बाहुलकादौणादिकोऽभच् प्रत्ययः । (सजोषसः) समानप्रीतिसेविनः । अयं मंत्रः शत० २।४।३।२१। व्याख्यातः ॥ ४४ ॥

अन्वयः— वयं करम्भेण सजोषसो रिशादसः प्रघासिनोऽतिथीन्मरुत ऋत्विजश्च हवामहे ॥ ४४ ॥

भावार्थः— मनुष्यैर्वैद्यकशूरवीरान्यज्ञसंपादकान् मनुष्यानाहूय सेवित्वा तेभ्यो विद्याशिक्षा नित्यं संग्राह्याः ॥ ४४ ॥

पदार्थः— हमलोग । (करंभेण) अविद्यारूपी दुःख होने से अलग होके । (सजोषसः) बराबर प्रीति के सेवन करने । (रिशादसः) दोष वा शत्रुओं को नष्ट करने और । (प्रघासिनः) पके हुए पदार्थों के भोजन करनेवाले अतिथि लोग और (मरुतः) यज्ञ करनेवाले विद्वान् लोगों को । (हवामहे) सत्कारपूर्वक नित्यप्रति बुलाते रहें ॥ ४४ ॥

भावार्थः— गृहस्थों को उचित है कि वैद्यक शूरवीरता और यज्ञ को सिद्ध करने वाले मनुष्यों को बुलाकर उनकी यथावत् सत्कारपूर्वक सेवा करके उनसे उत्तम२ विद्या वा शिक्षाओं को निरंतर ग्रहण करें ॥ ४४ ॥

यद्ग्राम इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । मरुतो देवता । स्वराडनुष्टुप् छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थकृत्यमुपदिश्यते ॥

फिर अगले मंत्र में गृहस्थों के कर्मों का उपदेश किया है ॥

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यदेनश्चकृमा वयमिदन्तदवयजामहे स्वाहा ॥४५॥

यत् । ग्रामे । यत् । अरण्ये । यत् । सभायाम् । यत् । इन्द्रिये । यत् । एनः । चकृम । वयम् । इदम् । तत् । अव । यजामहे । स्वाहा ॥ ४५ ॥

पदार्थः— (यत्) यस्मिन् वक्ष्यमाणे । (ग्रामे) शालासमुदाये । गृहस्थैः सेविते । ग्राम इत्युपलक्षणं नगरादीनाम् । (यत्) यस्मिन्वक्ष्यमाणे (अरण्ये) वानप्रस्थैः सेवित एकांतदेशे वने । (यत्) यस्यां वक्ष्यमाणायाम् । (सभायाम्) विद्वत्समूहशोभितायाम् । (यत्) यस्मिँश्छ्रेष्ठे । (इन्द्रिये) मनसि श्रोत्रादौ वा । (यत्) वक्ष्यमाणम् । (एनः) पापम् । (चकृम) कुर्महे करिष्यामो वा । अत्र लड्लृटोरर्थे लिट् । अन्येषामपीति दीर्घश्च । (वयम्) कर्मानुष्ठातारो गृहस्थाः (इदम्) प्रत्य-

स्यमनुष्ठीयमानं करिष्यमाणं वा । (तत्) कर्म । (अव) दूरीकरणे । (यजामहे) संगच्छामहे । (स्वाहा) सत्यवाचा । स्वाहेति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११। अयं मंत्रः । शत० २।५।२।२५। व्याख्यातः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—वयं यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये यद्यत्रैनश्चकृम तत्तदव यजामहे दूरीकुर्मः । यद्यत्र तत्र स्वाहा सत्यवाचा पुण्यकर्म चकृम तत्सर्वं संगच्छामहे ॥ ४५ ॥

भावार्थः—चतुराश्रमस्थैर्मनुष्यैर्मनसा वाचा कर्मणा सदा सत्यं कर्माचर्य पापं त्यक्त्वा सभाविद्याशिक्षाप्रचारेण प्रजायाः सुखोन्नतिः कार्य्येति ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(वयम्) कर्मके अनुष्ठान करनेवाले हमलोग । (यत्) (ग्रामे) जो गृहस्थोंसे सेवित ग्राम । (यत्) (अरण्ये) वानप्रस्थोंने जिस वन की सेवा की हो (यत्सभायाम्) विद्वान् लोग जिस सभाको सेवा करतेहों और (यत्) (इन्द्रिये) योगीलोग जिस मन वा श्रोत्रादिकों की सेवा करतेहों उसमें स्थित होके जो (एनः) पाप वा अधर्म । (चकृम) करा वा करेंगे सो सब (अवयजामहे) दूर करते रहैं तथा जो २ उन २ उक्त स्थानोंमें । (स्वाहा) सत्यवाणीसे पुण्य वा धर्माचरण (चकृम) करना योग्य है । (तत्) उस २ को । (यजामहे) प्राप्त होते रहैं ॥ ४५ ॥

भावार्थः—चारों आश्रमोंमें रहनेवाले मनुष्योंको मन वाणी और कर्मोंसे सत्य कर्मोंका आचरण कर पाप वा अधर्मों का त्याग करके विद्वानोंकी सभा विद्या तथा उत्तम २ शिक्षाके प्रचार करके प्रजाके सुखोंकी उन्नति करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

मोषूण इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । इन्द्रमारुतौ देवते । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

ईश्वरशूरवीरसहायेन युद्धे विजयो भवतीत्युपदिश्यते ॥

ईश्वर और शूरवीरके सहाय से युद्धमें विजय होता है इस विषयका उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

मो षूणऽइन्द्रात्रं पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शु-

ष्मिन्नवयाः । महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥ ४६ ॥

मोऽइति मो । सु । नः । इन्द्र । अत्र । पृत्स्विति पृत्ऽसु । देवैः । अस्ति । हि । स्म । ते । शुष्मिन् । अवयाऽइत्यवऽयाः । महः । चित् । यस्य । मीढुषः । यव्या । हविष्मतः । मरुतः । वन्दते । गीः ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(मो) निषेधार्थे । (सु) शोभनार्थे । निपातस्य चेति दीर्घः । (नः) अस्मान् । (इन्द्र) जगदीश्वर सुवीर वा । (अत्र) अस्मिन् संसारे (पृत्सु) संग्रामेषु । पृत्स्विति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २।१७। (देवैः) विद्वद्भिः शूरैः ॥ (अस्ति) । (हि) खलु । (स्म) वर्त्तमाने । निपातस्य चेति दीर्घः । (ते) तव (शुष्मिन्) अनंतबलवन् पूर्णबलवन् वा । शुष्ममिति बलनामसु पठितम् । निघं० २।९। (अवयाः) अवयजते विनिगृह्णाति । (महः) महत्तरम् । (चित्) उपमार्थे । (अस्य) वक्ष्यमाणस्य । (मीढुषः) विद्यादिसद्गुणसेचकान् । (यव्या) यवेषु साधूनि हवींषि यव्यानि । अत्र शेश्छन्दसीति शेर्लोपः (हविष्मतः) प्रशस्तानि हवींषि विद्यन्ते येषु तान् । (मरुतः) ऋत्विजः । (वंदते) स्तौति तद्गुणान्प्रकाशयति । (गीः) वाणी । गीरिति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११। अयं मंत्रः । शत० २।४।२। २६—२८ व्याख्यातः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र शूरवीरेश्वर कृपया त्वमत्र पृत्सु देवैर्विद्वद्भिः सहितान् नोस्मान् सु मो हिंधि । हे शुष्मिन् स्म ते तव महो गीर्यतान् मढिषो हविष्मतो मरुतो वंदते चिदेते त्वां सततं वंदन्तेऽभिवादयानदयंतीव योऽवया यजमानोऽस्ति स त्वदाज्ञया यानि यव्या यव्यानि हवींष्यग्नौ जुहोति तानि सर्वान् प्राणिनः सुखयंतीति ॥ ४६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः । यदा मनुष्याः परमेश्वरमाराध्य

सम्यक् सामग्रीः कृत्वा युद्धेषु शत्रून् विजित्य चक्रवर्तिराज्यं प्राप्य सम्पाल्य महांतमानंदं सेवंते तदा सुराज्यं जायत इति ॥ ४६

पदार्थः—हे। (इन्द्र) शूरवीर आप। (अत्र) इस लोकमें। (पृत्सु) युद्धों में। (देवैः) विद्वानों के साथ। (नः) हमलोगों की। (सु) अच्छे प्रकार रक्षा कीजिये। तथा। (मो) मत हनन कीजिये। हे। (शुष्मिन्) पूर्णोक्तयुक्त शूरवीर। (हि) निश्चय करके। (चित्) जैसे। (ते) आपकी। (मह:) बड़ी। (गीः) वेदप्रमाणयुक्तवाणी। (मीढुषः) विद्या आदि उत्तम गुणोंके सींचने वा। (हविष्मतः) उत्तम २ हवि अर्थात् पदार्थयुक्त। (मरुतः) ऋतु २ में यज्ञ करनेवाले विद्वानोंके। (वन्दते) गुणों का प्रकाश करती है जैसे विद्वान्लोग आपके गुणोंका हमलोगों के अर्थ निरंतर प्रकाश करके आनंदित होते हैं वैसे जो। (अवयाः) यज्ञ करनेवाला यजमान है वह आपकी आज्ञा से जिन। (यव्या) उत्तम २ यव आदि अन्नोंको अग्निमें होम करता है वे पदार्थ सब प्राणियोंको सुख देनेवाले होते हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थः--इस मंत्रमें उपमालंकार है। जब मनुष्यलोग परमेश्वरकी आराधना कर अच्छे प्रकार सब सामग्री को संग्रह करके युद्ध में शत्रुओं को जीतकर चक्रवर्ति राज्यको प्राप्त कर प्रजाका अच्छेप्रकार पालन करके बड़े आनंद को सेवन करते हैं तब उत्तम राज्य होता है ॥ ४६ ॥

अक्रन्नित्यस्यागस्त्य ऋषिः। अग्निर्देवता। विराडनुष्टुप् छन्दः।
गांधारः स्वरः ॥

॥ के यज्ञयुद्धादिकर्माणि कर्तुं योग्या भवंतीत्युपदिश्यते ॥

कौन २ मनुष्य यज्ञ युद्ध आदि कर्मोंके करने को योग्य होते हैं इस विषयका उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा। देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥ ४७ ॥

अक्रन्। कर्म। कर्मकृत इति कर्मऽकृतः। सह। वाचा। मयोभुवेति मयःऽभुवा। देवेभ्यः। कर्म। कृत्वा। अस्तम्। प्र। इत। सचाभुव इति सचाऽभुवः ॥ ४७ ॥

पदार्थः— (अक्रन्) कुर्वन्ति । अत्र लिडर्थे लुङ् । मंत्रे घसह्वर० इति च्लेर्लुक् । (कर्म) कर्तुरीप्सिततमं कर्म । अ० १ । ४।४ ६ । कर्तुर्यदीप्सिततमभीष्टयोग्यं चेष्टामयमुत्क्षेपणादिकमस्ति तत्कर्म । (कर्मकृतः) ये कर्माणि कुर्वन्ति ते । (सह) संगे । (वाचा) वेदवाण्या । स्वकीयया वा (मयोभुवा) या मयः सुखं भावयति तया सत्यप्रियमंगलकारिण्या । मय इति सुखनामसु पठितम् । निघं० ३ । ६ । अत्रांतर्गतोण्यर्थः किप्चेति क्विप् । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणसुखेभ्यो वा । (कर्म) क्रियमाणम् । (कृत्वा) अनुष्ठाय । (अस्तम्) सुखमयं गृहम् । अस्तमिति गृहनामसु पठितम् । निघं० ३ ।४। (प्र) प्रकृष्टार्थे । (इत) प्राप्नुवंति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (सचाभुवः) ये सचा परस्परं संग्यनुषङ्गिणो भवंति ते । अयं मंत्रः । शत० २ । ४ । ।१ । २९ । व्याख्यातः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—ये मयोभुवा वाचा सह सचाभुवः कर्मकृतःकर्म कर्माक्रँस्त एतत्कृत्वा देवेभ्योस्तं सुखमयं गृहं प्रेत प्राप्नुवन्ति ॥ ४७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्नित्यं पुरुषार्थे वर्तितव्यम् । न कदाचिदालस्ये स्थातव्यम् । तथा वेदविद्यासंस्कृतया वाण्या सह भवितव्यम् । नच मूर्खत्वेन-सदा परस्परं प्रीत्या सहायः कर्त्तव्य ये चैवंभूतास्ते दिव्यसुखयुक्तं मोक्षाख्यं व्यावहारिकं चानंदं प्राप्य मोदंते नैवमलसा इति ॥ ४७ ॥

पदार्थः— जो मनुष्यलोग । (मयोभुवा) सत्यप्रिय मंगलके करानेवाली (वाचा) वेदवाणी वा अपनी वाणीके । (सह) साथ । (सचाभुवः) परस्पर संगी होकर । (कर्मकृतः) कर्मोंको करते हुए । (कर्म) अपने अभीष्ट कर्मको । (अक्रन्) करते हैं वे । (देवेभ्यः) विद्वान् वा उत्तम २ गुण सुखोंके लिये । (कर्म) करने योग्य कर्मको । (कृत्वा) अनुष्ठान करके । (अस्तम्) पूर्णसुखयुक्त घरको । (प्रेत) प्राप्त होते हैं ॥ ४७ ॥

भावार्थः—मनुष्योंको योग्य है कि सर्वथा आलस्यको छोड़कर पुरुषार्थहीमें निरंतर रहके मूर्खपन को छोड़कर वेदविद्यासे शुद्ध किई हुई वाणीके साथ सदा वर्तें और परस्पर प्रीति करके एक दूसरेका सहाय करें जो इस प्रकारके मनुष्य

हैं वेही अच्छे २ सुखयुक्त मोक्ष वा इस लोकके सुखोंको प्राप्त होकर आनंदित होते हैं अन्य अर्थात् आलसी पुरुष आनंदको कभी नहीं प्राप्त होते ॥ ४७ ॥

अवभृथेत्यस्यौर्णवाभ ऋषिः । यज्ञो देवता । ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

॥ अथ यज्ञानुष्ठातृकृत्यमुपदिश्यते ॥

अब अगले मंत्रमें यज्ञके अनुष्ठानकरनेवाले यजमानके कर्मोंका उपदेश किया है ॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः । अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥ ४८ ॥

अवभृथेत्यवऽभृथ । निचुम्पुणेति निऽचुम्पुण । निचेरुरिति निऽचेरुः । असि । निचुम्पुणऽइति निऽचुम्पुणः ॥ अव । देवैः । देवकृतमिति देवऽकृतम् । एनः । अयासिषम् । अव । मर्त्यैः । मर्त्यकृतमिति मर्त्यऽकृतम् । पुरुराव्णऽइति पुरुऽराव्णः । देव । रिषः । पाहि ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(अवभृथ) विद्याधर्मानुष्ठानेन शुद्ध । अत्र अवे भृथः । उ० २ । ३ । इति कथन् प्रत्ययः । (निचुम्पुण) धैर्येण शब्दविद्याध्यापक । नितरां चोपति मंदमंदं चलति तत्संबुद्धौ । अत्र चुप्धातोर्बाहुलकादुणः प्रत्ययो मुमागमश्च । नीचैरस्मिन् क्वणन्ति नीचैर्दधतीति वा । अवभृथ निचुम्पुणेत्यपि निगमो भवति । निचुंपुणनिचुंकुणेति च निरु० ५ । १८ । निचुम्पुण इति पदनामसु पठितम् । निघं० ४ । २ । अनेन प्राप्तज्ञानो मनुष्यो गृह्यते । (निचेरुः) यो नितरां चिनोति सः । अत्र निपूर्वकाच्चिञ्धातोर्बाहुलकादौणादिको रुः प्रत्ययः । (असि) भव । अत्र लोडर्थे लट् । (निचुम्पुणः) उक्तार्थः । (अव) विनिग्रहार्थे । (देवैः) द्योतनात्मकैर्मनआदीन्द्रियैः । (देवकृतम्)

यद्देवैरिन्द्रियैः कृतं तत् । (एनः) पापम् । (अयासिषम्) करोमि । अत्र लडर्थे लुङ् । (अव) नीचगत्यर्थे । (मर्त्यैः) मरणधर्मैः शरीरैः । (मर्त्यकृतम्) अनित्येदेहेन निष्पादितम् । (पुरुराव्णः) यः पुरूणि बहूनि दुःखानि राति ददाति । स पुरुरावा तस्मात् । अत्र । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्चेति । वनिप् प्रत्ययः । (देव) जगदीश्वर । (रिषः) हिंसकाच्छत्रोः पापाद्वा (पाहि) रक्ष ॥ ४८ ॥

अन्वयः— हे अवभृथ निचुंपुण यथाहं निचुंपुणो निचेरुः सन्देवैरिन्द्रियैर्देवकृतं मर्त्यैर्मर्त्यकृतमेनोऽवायासिषं दूरतस्त्यजामि तथा त्वमप्यसि भवान् पाहि दूरतस्त्यज । हे देव जगदीश्वरास्मान्पुरुराव्णो रिषो हिंसालक्षणात्पापात्पाहि दूरे रक्ष ॥ ४८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । मनुष्यैः पापनिवृत्तये धर्मप्रवृत्तये परमेश्वरो नित्यं प्रार्थ्य यानि मनोवचःकर्मभिः पापानि संति तेभ्यो दूरे स्थातव्यं । यत्किंचिदज्ञानात्पापमनुष्ठितं तद्दुःखफलं विज्ञाय द्वितीयवारं न समाचरणीयम् । किंतु सर्वदा पवित्रकर्मानुष्ठानमेव वर्धनीयम् ॥ ४८ ॥

पदार्थः--हे । (अवभृथ) विद्या वा धर्मके अनुष्ठान से शुद्ध । (निचुम्पुण) धैर्य से शब्दविद्याको पढ़ानेवाला विद्वान्मनुष्य जैसे मैं । (निचुंपुणः) ज्ञानको प्राप्त करानेवा । (निचेरुः) निरंतर विद्याका संग्रह करनेवाला । (देवैः) प्रकाशस्वरूप मन आदि इंद्रियोंसे । (देवकृतम्) किया वा (मर्त्यैः) मरणधर्मवाले । (मर्त्यकृतम्) शरीरोंमे किये हुये । (एनः) पापोंको (अवायासिषम्) दूर कर शुद्ध होताहूं वैसे तूभी । (असि) हो । हे (देव) जगदीश्वर आप हम लोगोंकी । (पुरुराव्णः) बहुत दुःख देने वा । (रिषः) मारनेयोग्य शत्रु वा पापसे । (पाहि) रक्षा कीजिये अर्थात् दूर कीजिये ॥४८॥

भावार्थः— इस मंत्रमें वाचकलुप्तोपमालंकार है । मनुष्यों को उचित है कि पापकी निवृत्ति धर्मकी वृद्धिके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना निरंतर करके जो मन वाणी वा शरीरसे पाप होते हैं उनसे दूर रहके जो कुछ अज्ञान से पाप हुआ हो उसके दुःखरूप फलको जानकर फिर दूसरीवार उसको कभी न करें किंतु सब काल में शुद्ध कर्मों के अनुष्ठान ही की वृद्धि करें ॥४८॥

पूर्णादर्विरित्यस्यौर्णवाभ ऋषिः । यज्ञो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

॥ ज्ञेय हुतं द्रव्यं कीदृशं भवतीत्युपदिश्यते ॥

यज्ञ में हवन किया हुआ पदार्थ कैसा होता है इस विषयका उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरापत। वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्ज्ञंशतक्रतो ॥ ४९ ॥

पूर्णा । दर्वि । परा । पत । सुपूर्णेति सुऽपूर्णा । पुनः । आ । पत । वस्नेवेति वस्नाऽइव । वि । क्रीणावहै । इषम् । ऊर्जम् । शतक्रतोऽइति शतऽक्रतो ॥४९॥

पदार्थः—(पूर्णा) होतव्यद्रव्येण परिपूर्णा (दर्वि) पाकसाधिका होतव्यद्रव्यग्रहणार्था । अत्र सुपां सुलुगिति सुलोपः । (परा) ऊर्ध्वार्थे । परेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १ । ३ । (पत) पतति गच्छति । अत्रोभयत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (सुपूर्णा) या सुष्ठु पूर्यते सा । (पुनः) पश्चादर्थे । (आ) समंतात् । (पत) पतति गच्छति । (वस्नेव) पण्यक्रियेव । (वि) विशेषार्थे क्रियायोगे । (क्रीणावहै) व्यवहारयोग्यानि वस्तूनि दद्याव गृह्णीयाव वा । (इषम्) अभीष्टमन्नम् । (ऊर्जम्) पराक्रमम् । (शतक्रतो) शतमसंख्याताः क्रतवः कर्माणि प्रज्ञा यस्येश्वरस्य तत्संबुद्धौ । अयं मंत्रः । शत० २ । ५ । ३ । १६-१७ व्याख्यातः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—या दर्विर्होतव्यद्रव्येण पूर्णा होमसाधिका भूत्वा परापतत्यूर्ध्वं द्रव्यं गमयति याऽऽहाराकाशं गत्वा वृष्ट्या पूर्णा भूत्वा पुनरापतति समंतात् पृथिवीं शोभनं जलरसं गमयति तथा हे शतक्रतो तव कृपया आवामृत्विग्यजमानौ वस्ने वेषमूर्जं च विक्रीणावहै ॥ ४९ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः । यन्मनुष्यैः सुगन्ध्यादिद्रव्यमग्नौ हूयते

तदूर्ध्वं गत्वा वायुवृष्टिजलादिकं शोधयत् पुनः पृथिवीमागच्छति येन यवादय ओषध्यः शुद्धाः सुखपराक्रमप्रदा जायंते। यथा वणिग्जनो रूप्यादिकं दत्त्वा गृहीत्वा द्रव्यांतराणि क्रीणीते विक्रीणीते च। तथैवाग्नौ द्रव्याणि दत्त्वा प्रक्षिप्य वृष्टिसुखादिकं क्रीणीत वृष्ट्योषध्यादिकं गृहीत्वा पुनर्वृष्टये विक्रीणीतेऽग्नौ होमः क्रियत इति ॥ ४६ ॥

पदार्थः—जो। (दर्वि) पके हुए होम करनेयोग्य पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली। (पूर्णा) द्रव्योंसे पूर्ण हुई आहुती। (परापत) होम हुए पदार्थोंके अंशोंको ऊपर प्राप्त करती वा जो आहुति आकाश में जाकर वृष्टि से। (सुपूर्णा) पूर्ण हुई। (पुनरापत) फिर अच्छे प्रकार पृथिवी में उत्तम जलरसको प्राप्त करती है उस से हे (शतक्रतो) असंख्यात कर्म वा प्रज्ञा वाले जगदीश्वर आप की कृपा से हम यज्ञ कराने और करनेवाले विद्वान् होता और यजमान दोनो। (इषम्) उत्तम २ अन्नादि पदार्थ। (ऊर्जम्) पराक्रमयुक्त वस्तुओंको। (वस्नेव) वैश्यों के व्यवहारों के समान। (विक्रीणावहै) दें वा ग्रहण करें ॥ ४९ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालंकार है। जब मनुष्यलोग सुगंध्यादि पदार्थ अग्नि में हवन करते हैं तब वे ऊपर जाकर वायु वृष्टि जलको शुद्ध करते हुए पृथिवी को आते हैं जिससे यव आदि ओषधी शुद्ध होकर सुख और पराक्रम के देने वाली होती हैं जैसे कोई वैश्यलोग रुपया आदिको दे लेकर अनेक प्रकार के अन्नादि पदार्थों को खरीदते वा बेंचते हैं वैसे सब हम लोग भी अग्नि में शुद्धद्रव्यों को छोड़कर वर्षा वा अनेक सुखों को खरीदते हैं खरीदकर फिर वृष्टि और सुखों के लिये अग्नि में हवन करते हैं ॥ ४९ ॥

देहि म इत्यस्यौर्णवाभ ऋषिः। इन्द्रो देवता। भुरिगनुष्टुप् छन्दः। गांधारः स्वरः ॥

॥ अथ सर्वाश्रमव्यवहार उपदिश्यते ॥

अब अगले मंत्र में सब आश्रमों में रहने वाले मनुष्यों के व्यवहारों का उपदेश किया है ॥

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ॥ निहारं च हरासि मे निहारन्निहराणि ते स्वाहा ॥ ५० ॥

देहि। मे। ददामि। ते। नि। मे। धेहि। नि। ते। दधे। निहारमिति

निऽहारम् । च । हरासि । मे । निहारमिति निऽहारम् । नि । हरासि । ते । स्वाहा ॥ ५० ॥

पदार्थः--(देहि) (मे) मह्यम् । (ददामि) (ते) तुभ्यम् (नि) नितराम् । (मे) मम । (धेहि) धारय । (नि) नितराम् । (ते) तव । (दधे) धारये । (निहारम्) मूल्येन क्रेतव्यं वस्तु नितरां ह्रियते तत् । (च) समुच्चये । (हरासि) हर प्रयच्छ । अयं लेट्प्रयोगः । (मे) मह्यम् । (निहारम्) पदार्थमूल्यम् । (नि) नितराम् । (हरासि) प्रयच्छानि । (ते) तुभ्यम् । (स्वाहा) सत्यवागाह । अयं मंत्रः । शत० २ । ५ । ३ । १६ । २० । व्याख्यातः ॥ ५० ॥

अन्वयः—हे मित्र त्वं यथा स्वाहा सत्यावागाहेत्थं मे मह्यमिदं देह्यहं च ते तुभ्यमिदं ददामि त्वं मे ममेदं वस्तु निधेह्यहं ते तवेदं निदधे त्वं मे मह्यं निहारं हरास्यहं ते तुभ्यं निहारं निहराणि नितरां ददानि । ५० ।

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैर्दाननिग्रहणनिक्षेपोपनिध्यादिव्यवहाराः सत्यत्वेनैव कार्याः।तद्यथा केनचिदुक्तमिदं वस्तु त्वया देयं न वा । यदि वदेद्ददामि दास्यामि वेति तर्हि तत्तथैव कर्त्तव्यम् । केनचिदुक्तं ममेदं वस्तु त्वं स्वसमीपे रक्ष यदाहमिच्छेयं तदा देयमेवमहं तवेदं वस्तु रक्षयामि यदा त्वमेष्यसि तदा दास्यामि । तस्मिन्समये दास्यामि त्वत्समीपमागमिष्यामि वा त्वया ग्राह्यं मम समीपमागंतव्यमित्यादयो व्यवहाराः सत्यवाचा कार्याः । नैतैर्विना कस्यचित्प्रतिष्ठाकार्यसिद्धी स्यातामेताभ्यां विना कश्चित्सततं सुखं प्राप्तुं शक्नोतीति ॥५०॥

पदार्थः—हे मित्र तुम (स्वाहा) जैसे सत्यवाणी हृदय में कहे वैसे । (मे) मुझको यह वस्तु (देहि) दे वा मैं । (ते) तुझको यह वस्तु । (ददामि) देऊं वा देऊंगा तथा तू (मे) मेरा यह वस्तु (निधेहि) धारण कर मैं । (ते) तुम्हारा यह वस्तु (निदधे) धारण करता हूं और तू । (मे) मुझको । (निहारम्) मोल से खरीदने योग्य वस्तुको । (हरासि) ले मैं । (ते) तुझको । (निहारम्) पदार्थोंका

मोल । (निहराणि) निश्चय करके देऊँ । (स्वाहा) ये सब व्यवहार सत्यवाणी से करें अन्यथा ये व्यवहार सिद्ध नहीं होते हैं ॥ ५० ॥

भावार्थः--सब मनुष्योंको देनालेना पदार्थोंको रखना रखवाना वा धारण करना आदि व्यवहार सत्यप्रतिज्ञा से ही करने चाहियें जैसे किसी मनुष्यने कहा कि यह वस्तु तुम हमको देना मैं यह नहीं देता तथा देऊँगा ऐसा कहे तो वहां वैसाही करना तथा किसीने कहा कि मेरा यह वस्तु तुम अपनेपास रखलेओ जब मैं इच्छा करूँ तब तुम दे देना इसी प्रकार मैं तुह्मारा यह वस्तु रख लेता हूं जब तुम इच्छा करोगे तब देऊँगा वा उसी समय मैं तुह्मारे पास आऊंगा वा तुम आकर लेलेना इत्यादि ये सब व्यवहार सत्यवाणी ही से करने चाहियें और ऐसे व्यवहारोंके विना किसी मनुष्यकी प्रतिष्ठा वा कार्योंकी सिद्धि नहीं होती और इन दोनों के विना कोई मनुष्य सुखोंको प्राप्त होनेको समर्थ नहीं हो सकता ॥ ५० ॥

अक्षन्नित्यस्य गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

॥ तेन यज्ञादिव्यवहारेण किं भवतीत्युपदिश्यते ॥

उस यज्ञादि व्यवहारसे क्या २ होता है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है॥

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाऽअधूषत ॥ अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजान्विन्द्र ते हरी ॥ ५१ ॥

अक्षन् । अमीमदन्त । हि । अव । प्रियाः । अधूषत ॥ अस्तोषत । स्वभानवऽइति स्वऽभानवः । विप्राः । नविष्ठया । मती । योज । नु । इन्द्र । ते । हरीऽइति हरी ॥ ५१ ॥

पदार्थः--(अक्षन्) अदंति । अत्र लडर्थे लुङ् । मंत्रे घसह्वर० इति च्लेर्लुक् । गमहनजन० इत्युपधालोपः । शासिवसिघ० इति षत्वम् खरिचेति चर्त्वम् । (अमीमदंत) आनंदयंति । अत्र लडर्थे लुङ् (हि) खलु । (अव) विरुद्धार्थे । (प्रियाः) प्रसन्नताकारकाः । (अधूषत) दुष्टान् दोषाँश्च कंपयंति । अत्र लडर्थे लुङ् । (अस्तोषत) स्तुवंति ।

अत्र लडर्थे लुङ् । (स्वभानवः) स्वकीया भानुर्दीप्तिः प्रकाशो येषां ते । (विप्राः) मेधाविनः । (नविष्ठया) अतिशयेन नवा नविष्ठा तया । (मती) मत्या । अत्र सुपां सुलुगिति पूर्वसवर्णादेशः । (योज) योजयति । अत्र विकरणव्यत्ययेन शप् । लडर्थे लोडन्तर्गतो ण्यर्थो द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घश्च । (नु) क्षिप्रार्थे । (इन्द्र) सभापते । (ते) अस्य । (हरी) बलपराक्रमौ । अयं मंत्रः । शत० २।५।२।३८ ॥ ५१ ॥

अन्वयः— हे इन्द्र ते तव ये स्वभानवोऽवप्रिया विप्रा नविष्ठया मती मत्या हि खलु परमेश्वरमस्तोषत स्तुवंत्यक्षन् श्रेष्ठान्नादिकमदंत्यमीमदंतानंदयंति तस्मात्ते शत्रून्दुःखानि च न्वधूषत क्षिप्रं धुन्वंति त्वमप्येतेषु स्वकीयौ हरी बलपराक्रमौ योज संयोजय ॥ ५१ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः प्रतिदिनं नवीनविज्ञानक्रियावर्द्धनेन भवितव्यम् । यथा विद्वत्संगशास्त्राध्ययनेन नवीनांनवीनां मतिं क्रियां च जनयंति तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति ॥ ५१ ॥

पदार्थः— हे (इन्द्र) सभाके स्वामी जो (ते) आपके संबन्धी मनुष्य । (स्वभानवः) अपनी ही दीप्ति से प्रकाश होने वा । (अवप्रियाः) औरों को प्रसन्न करानेवाले । (विप्राः) विद्वान्लोग । (नविष्ठया) अत्यंत नवीन । (मती) बुद्धिसे । (हि) निश्चय करके परात्मा की (अस्तोषत) स्तुति और (अक्षन्) उत्तम२ अन्नादि पदार्थों को भक्षण करते हुए । (अमीमदंत) आनंद को प्राप्त होते और उसीसे वे शत्रु वा दुःखों को (न्वधूषत) शीघ्र कंपित करते हैं वैसेही इस यज्ञ में । (इन्द्र) हे सभापते (ते) आपके सहायसे इस यज्ञ में निपुण हों और नु (हरी) अपने बल और पराक्रम को हमलोगों के साथ । (योज) संयुक्त कर ॥ ५१ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालंकार है । मनुष्यों को उचित है कि प्रतिदिन नवीन२ ज्ञान वा क्रिया की वृद्धि करते रहें जैसे मनुष्य विद्वानों के सत्संग वा शास्त्रों के पढ़ने से नवीन२ बुद्धि नवीन२ क्रिया को उत्पन्न करते हैं वैसेही सब मनुष्यों को अनुष्ठान करें ॥ ५१ ॥

सुसंदृशमित्यस्य गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

॥ स इन्द्रः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

वह इन्द्र कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि ॥ प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ अनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५२ ॥

सुसंदृशमिति सुऽसंदृशम् । त्वा । वयम् । मघवन्निति मघऽवन् । वन्दिषीमहि ॥ प्र । नूनम् । पूर्णबंधुरऽइति पूर्णऽबंधुरः । स्तुतः । यासि । वशान् । अनु । योज । नु । इन्द्र । ते । हरीऽइति हरी ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(सुसंदृशम्) यः सुष्ठु पश्यति दर्शयति वा तम् । (त्वा) त्वां तं वा (वयम्) मनुष्याः । (मघवन्) परमोत्कृष्टधनयुक्तेश्वर । धनप्राप्तिहेतुर्वा । (वन्दिषीमहि) नमेम स्तुवीमहि । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (नूनम्) निश्चयार्थे । (पूर्णबंधुरः) यः पूर्णश्चासौ बंधुरश्च सः । पूर्णस्य जगतो बंधुरो बंधनहेतुर्वा । (स्तुतः) स्तुत्या लक्षितः । (यासि) प्राप्नोषि प्रापयति वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः । (वशान्) काम्यमानान् पदार्थान् । (अनु) पश्चात् । (योज) योजय युंक्ते वा । अत्रापि पूर्ववद् व्यत्ययदीर्घत्वे । (नु) उपमार्थे । (इन्द्र) जगदीश्वर सूर्यस्य वा । (ते) तवास्य वा । (हरी) बलपराक्रमौ धारणाकर्षणे वा । अयं मंत्रः । शत० २।५।२।३८ व्याख्यातः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—हे मघवन्निन्द्र वयं सुसंदृशं त्वा त्वां वंदिषीमहि अस्माभिः स्तुतः पूर्णबन्धुरः सँस्त्वं वशान्कामान्यासि प्रापयसि ते तव हरी त्वमनु प्रयोजस्येकः । वयं सुसंदृशं मघवन् मघवंतं पूर्णबधुरं त्वा तमिमं सूर्यलोकं नूनं वंदिषीमहि । स्तुतः प्रकाशितगुणः सन्नयंवशानुत्कृष्टव्यवहारसाधकान् कामान्यासि प्रापयति । हेविद्वँस्त्वं यथा

तेऽस्येन्द्रस्य हरी अस्मिन्जगति युंक्तः । तथैव विद्यासिद्धिकराण्यनुप्रयोजेति द्वितीयः ॥ ५२ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषोपमालंकारौ । मनुष्यैः सर्वजगद्धितकारी जगदीश्वरो वंदितव्यो नेतरः । यथा सूर्यो मूर्तद्रव्याणि प्रकाशयति तथोपासितः सोपि भक्तजनात्मसु विज्ञानोत्पादनेन सर्वान्सत्यव्यवहारान् प्रकाशयति तस्मादी-श्वरं विहाय कस्यचिदन्यस्योपासनं कर्तव्यमिति ॥ ५२ ॥

पदार्थः—हे । (मघवन्) उत्तम २ विद्यादि धनयुक्त । (इन्द्र) विद्वान् तू । (वयम्) हमलोग । (सुसंदृशम्) अच्छेप्रकार व्यवहारों के देखनेवाले । (ते) आपकी । (नूनम्) निश्चय करके । (वंदिषीमहि) स्तुतिकरें तथा हमलोगोंसे । (स्तु-तः) स्तुति किये हुए आप । (वशान्) इच्छा किये हुए पदार्थोंको । (यासि) प्राप्त करतेहो और । (ते) अपने । (हरी) बलपराक्रमोंको आप (अनुप्रयोज) हमलोगोंके सहायके अर्थ युक्त कीजिये ॥ १ ॥ (वयम्) हमलोग (सुसंदृशम्) अच्छे प्रकार पदार्थोंको दिखाने वा । (मघवन्) धनको प्राप्त कराने तथा । (पूर्णबं-धुरः) सब जगत् के बंधनके हेतु । (त्वा) उस सूर्यलोक की । (नूनम्) निश्चय कर के । (वंदिषीमहि) स्तुति अर्थात् इसके गुण प्रकाश करके । (स्तुतः) स्तुति किया हुआ यह हमलोगों को । (वशान्) उत्तम २ व्यवहारोंकी सिद्धि करानेवाली कामना-ओंको । (यासि) प्राप्त कराता है । (नु) जैसे । (ते) इस सूर्यके । (हरी) धारण आकर्षण गुण जगत में युक्त होते हैं वैसे आप हमलोगों को विद्या को सिद्धि करनेवाले गुणोंको । (अनुप्रयोज) अच्छे प्रकार प्राप्त कीजिये ॥ ५२ ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें श्लेष और उपमालंकार हैं । मनुष्योंको सब जगत् के हित करनेवाले जगदीश्वर ही की स्तुति करनी और किसी की न करनी चाहिये । क्योंकि जैसे सूर्यलोक सब मूर्तिमान् द्रव्योंका प्रकाश करता है वैसे उपासना किया हुआ ईश्वर भी भक्तजनोंके आत्माओंमें विज्ञानको उत्पन्न करनेमें सब सत्यव्यवहारों को प्रकाशित करता है इससे ईश्वरको छोड़कर और किसीकी उपासना कभी नहीं करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

मनोन्वित्यस्य बंधुर्ऋषिः । मनो देवता । आर्षीपादनिचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

॥ अथ मनसोलक्षणमुपदिश्यते ॥

इसके आगे मन के लक्षणका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन पितॄणां च मन्मभिः ॥ ५३ ॥

मनः । नु । आ । ह्वामहे । नाराशंसेनेति नाराशंसेन । स्तोमेन । पितॄणाम् । च । मन्मभिरिति मन्मऽभिः ॥ ५३ ॥

पदार्थः— (मनः) मननशीलं संकल्पविकल्पात्मकम् । (नु) क्षिप्रार्थे (आ) समंतात् क्रियायोगे । (ह्वामहे) स्पर्धामहे । (नाराशंसेन) नराणां समंताच्छंसः प्रशंसनं नराशंसः । नराशंसेन निर्वृत्तस्तेन । (स्तोमेन) स्तुतियुक्तेन व्यवहारेण । (पितॄणाम्) पालकानामृतूनां ज्ञानवतां मनुष्याणां वा । (च) समुच्चये । (मन्मभिः) मन्यंते जानंति यैस्तैः । अत्र सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४। १५८। इति मनिन्प्रत्ययः । अयं मंत्रः शत० २। ५। २। ३६-व्याख्यातः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—वयं नाराशंसेन स्तोमेन पितॄणां च मन्मभिर्मनोऽन्वाह्वामहे ॥ ५३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्मनुष्यजन्मसाफल्यार्थं विद्यादि गुणयुक्तं मनः कर्तव्यम् । यथर्तवः स्वान्स्वान्गुणान् क्रमेण प्रकाशयंति । यथा च विद्वांसः क्रमशोऽभ्यासमन्यां च विद्यां साक्षात्कुर्वंति तथैव सततमनुष्ठाय विद्याप्रकाशौ भावयौ ॥ ५३ ॥

पदार्थः— हमलोग । (नाराशंसेन) पुरुषों के अत्यंत प्रशंसनीय । (स्तोमेन) स्तुतियुक्त व्यवहार और (पितॄणाम्) पालना करनेवाले ऋतु वा ज्ञानवान् मनुष्यों के (मन्मभिः) जिनसे सब गुण जाने जाते हैं उन गुणों के से । (मनः) संकल्पविकल्पात्मक चित्त को । (अन्वाह्वामहे) सब ओर से हटाके दृढ़ करते हैं ॥ ५३ ॥

भावार्थः— मनुष्यों को मनुष्यजन्मकी सफलता के लिये विद्या आदि गुणों से

युक्त मनको करना चाहिये जैसे ऋतु अपने २ गुणोंको क्रम २ से प्रकाशित करते हैं तथा जैसे विद्वान्लोग क्रम २ से अनेक प्रकारकी अन्य २ विद्याओंका साक्षात्कार करते हैं वैसाही पुरुषार्थ करके सब मनुष्योंको निरंतर विद्या प्राप्ति करनी चाहिये॥ ५३ ॥

आनपत्विलस्य बंधुर्ऋषिः । मनो देवता । विराड् गायत्री छन्दः ।
षड्जः स्वरः ॥

॥ पुनस्तन्मनः कीदृशमित्युपदिश्यते ॥

फिर वह मन कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

आ नऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे॥ ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ५४ ॥

आ । नः । एतु । मनः । पुनरिति पुनः । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे । ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् । (नः) अस्मान । (एतु) प्राप्नोतु । (मनः) स्मरणात्मकं चित्तम् । (पुनः) वारंवारं जन्मनि जन्मनि वा । (क्रत्वे) सद्विद्याशुभकर्मानुभूतसंस्कारस्मरणाय । क्रतुरिति कर्मनामसु पठितम् । निघं० २।१। (दक्षाय) बलप्राप्तये । दक्ष इति बलनामसु पठितम् निघं० २।९। (जीवसे) जीवितुम् । अत्र तुमर्थे से० इत्यसे प्रत्ययः । (ज्योक्) निरंतरम् । (च) समुच्चये । (सूर्यम्) परमेश्वरं सवितृमंडलं प्राणं वा । (दृशे) द्रष्टुम् । अत्र दृशे विख्ये च । अ० ३।४।११। इत्ययं निपातितः । अयं मंत्रः । शत० २।६।२।३६। व्याख्यातः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—यन्मनश्चित्तं ज्योक् निरंतरं सूर्यं दृशे क्रत्वे दक्षाय जीवसे चास्ति तेषां शुभकर्मणामनुष्ठानायास्ति तन्नोस्मान्पुनः पुनरासमंतादेतु प्राप्नोतु ॥५४॥

भावार्थः—मनुष्यैः शुद्धकर्मानुष्ठानेन चित्तशुद्धिं कृत्वा पुनः पुनर्जन्मनि

चित्तप्राप्तिरेवापेक्ष्या येन मनुष्यजन्म प्राप्येश्वरोपासनं संसाध्य निरंतरं सद्धर्मो-नुसेव्य इति ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(मनः) जो स्मरण करानेवाला चित्त । (ज्योक्) निरंतर । (सूर्यम्) परमेश्वर सूर्यलोक वा प्राण को । (दृशे) देखने वा । (क्रत्वे) उत्तम विद्या वा उत्तम कर्मोंकी स्मृति वा । (जीवसे) सौ वर्ष से अधिक जीने । (च) और अन्य शुभ कर्मोंके अनुष्ठानके लिये है वह । (नः)हमलोगों को । (पुनः) वारंवार जन्म २ में । (आ) सब प्रकारसे । (एतु) प्राप्त हो ॥ ५४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उत्तम कर्मों के अनुष्ठान के लिये चित्त की शुद्धि वा जन्म २ में उत्तम चित्त की प्राप्ति ही की इच्छा करें जिससे मनुष्यजन्मको प्राप्त होकर ईश्वर की उपासना का साधन करके उत्तम २ धर्मों का सेवन करसकें॥ ५४ ॥

पुनर्न इत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । मनो देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

॥ पुनर्मनःशब्देन बुद्धिरुपदिश्यते ॥

फिर मन शब्द से बुधि का उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

पुन॑र्नः पि॒तरो॒ मनो॒ ददा॑तु॒ दैव्यो॒ जनः॑ ॥ जी॒वं व्रात॑ꣳ सचेमहि ॥ ५५ ॥

पुनः॑ । नः॒ । पि॒तरः॑ । मनः॑ । ददा॑तु । दैव्यः॑ । जनः॑ ॥ जी॒वम् । व्रात॑म् । स॒चे॒म॒हि॒ ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(पुनः) अस्मिन् जन्मनि पुनर्जन्मनि वा । (नः) अस्मभ्यम् । (पितरः) पालयन्तः शिक्षाविद्यादानेन तत्संबुद्धौ । (मनः) धारणावतीं बुद्धिम् । (ददातु) प्रयच्छतु । (दैव्यः) यो देवेषु विद्वत्सु जातो विद्वान् । अत्र देवाद्यञञौ । अ० ४।१।८५। इति वार्त्तिकेन प्राग्दीव्यतीयान्तर्गते जातेर्थे यञ् प्रत्ययः । (जनः) यो विद्याधर्माभ्यां सपरोपकारान् जनयति प्रकटयति । (जीवम्) ज्ञानसाधनयुक्तम् । (व्रातम्) व्रतानां सत्यभाषणादीनां समूहम् । (सचेमहि) समवेयाम । अयं मंत्रः । शत० २।६।२।३६ व्याख्यातः ॥ ५५ ॥

अन्वयः— हे पितरो जनका विद्याप्रदाश्च भवन्तिछन्नया दैव्यो जनो विद्वान् नोऽस्मभ्यं पुनः पुनर्मनोधारणवतीं बुद्धिं ददातु । येन वयं जीवं व्रतं सचेमहि समवेयाम ॥ ५५ ॥

भावार्थः— नहि मनुष्याणां विदुषां मातापित्राचार्याणां च सुशिक्षया विना मनुष्यजन्मसाफल्यं संभवति न च मनुष्यास्तया विना पूर्णं जीवनं कर्म च समवेतुं शक्नुवंति तस्मात्सर्वदा मातापित्राचार्यैः स्वसंतानानि सम्यगुपदेशेन शरीरात्मबलवंति कर्त्तव्यानीति ॥ ५५ ॥

पदार्थः— हे । (पितरः) उत्पादक वा अन्न शिक्षा वा विद्या को देकर रक्षा करनेवाले पिता आदि लोग आपकी शिक्षा से यह । (दैव्यः) विद्वानों के बीच में उत्पन्न हुआ । (जनः) विद्या वा धर्म से दूसरे के लिये उपकारों को प्रकट करनेवाला विद्वान्पुरुष । (नः) हमलोगों के लिये । (पुनः) इस जन्म वा दूसरे जन्म में । (मनः) धारणा करनेवाली बुद्धि को । (ददातु) देवे जिससे । (जीवम्) ज्ञानसाधन युक्त जीवन वा । (व्रातम्) सत्य बोलने आदि गुण समुदाय को । (सचेमहि) अच्छे प्रकार प्राप्त करें ॥ ५५ ॥

भावार्थः—विद्वान्माता पिता आचार्यों की शिक्षा के विना मनुष्यों का जन्म सफल नहीं होता और मनुष्य भी उस शिक्षा के विना पूर्ण जीवन वा कर्म के संयुक्त करने को समर्थ नहीं हो सकते इस से सब काल में विद्वान् मातापिता और आचार्यों को उचित है कि अपने पुत्र आदि को । अच्छे प्रकार उपदेश से शरीर और आत्मा के बलवाले करें॥५५॥

वयमित्यस्य बन्धुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ।

॥ अथ सोमशब्देनेश्वरौषधिरसा उपदिश्यन्ते ॥

अब सोमशब्द से ईश्वर और ओषधियों के रसों का उपदेश अगले मंत्र में किया है॥

व॒यꣳसो॑म व्र॒ते तव॒ मन॑स्त॒नूषु॒ बिभ्र॑तः ॥ प्र॒जाव॑न्तः सचेमहि ॥ ५६ ॥

वयम् । सोम । व्रते । तव । मनः । तनूषु । बिभ्रतः ॥ प्रजावन्तइति प्रजाऽवन्तः ॥ सचेमहि ॥ ५६ ॥

पदार्थः— (वयम्) मनुष्याः । (सोम) सुवति चराचरं जगत्संसुवति जगदीश्वर अथवा । सूयन्ते रसा यस्मात्स सोम ओषधिराजः । (व्रते) सत्यभाषणादिधर्मानुष्ठाने । (तव) अस्य वा । (मनः) अन्तःकरणस्याहंकारादिवृत्तिम् । (तनूषु) विस्तृतसुखशरीरेषु । (बिभ्रतः) धारयन्तः । पोषयन्तश्च । (प्रजावन्तः) बह्व्यः सुसंतानाद्याख्याः प्रजा विद्यन्ते येषान्ते । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । (सचेमहि) समवेयाम ॥ ५६ ॥

अन्वयः— हे सोम जगदीश्वर तव सत्याचरणरूपे व्रते वर्त्तमानास्तनूषु मनो बिभ्रतः प्रजावन्तः सन्तो वयं सर्वैः सुखैः सचेमहि समवेयामेत्येकः ॥ तथास्य सोमस्य व्रते सत्याचरणनिमित्ते तनूषु मनो बिभ्रतः सन्तः प्रजावन्तो भूत्वा वयं सर्वैः सुखैः सचेमहि नित्यं समवेयामेति द्वितीयः ॥ ५६ ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालङ्कारः । ईश्वरस्याज्ञायां वर्त्तमाना मनुष्याः शरीरात्मसुखं नित्यं प्राप्नुवन्ति । एवं सोमाद्योषधिसेवनेनापि तत्सुखं समवयन्ति । नेतर इति ॥ ५६ ॥

पदार्थः— हे (सोम) सब जगत् को उत्पन्न करनेवाले जगदीश्वर । (तव) आपको (व्रते) सत्यभाषण आदि धर्मों के अनुष्ठान में वर्त्तमान होके । (तनूषु) बड़े२ सुखयुक्त शरीरोंमें । (मनः) अन्तःकरण की अहंकारादिवृत्तिको । (बिभ्रतः) धारण करते हुए और । (प्रजावन्तः) बहुत पुत्र आदि राष्ट्र आदि धनवाले होके हमलोग (सचेमहि) सब सुखों को प्राप्त होवें ॥ १ ॥ (तव) इस । (सोम) सोमलता आदि ओषधियोंके । (व्रते) सत्य २ गुण ज्ञान से सेवन में । (तनूषु) सुखयुक्त शरीरों में । (मनः) चित्त की वृत्ति को । (बिभ्रतः) धारण करते हुए । (प्रजावन्तः) पुत्रराज्य आदि धनवाले होकर । (वयम्) हमलोग । (सचेमहि) सब सुखों को प्राप्त होवें ॥२॥ ५६ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में श्लेषालङ्कार है । ईश्वर की आज्ञा में वर्त्तमान हुए मनुष्य लोग शरीर आत्मा के सुखोंको निरंतर प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार युक्ति से सोम आदि ओषधियों के सेवनसे उन सुखों को प्राप्त होते हैं परन्तु आलसी मनुष्य नहीं ॥५६॥

एष तइत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । रुद्रो देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः-

स्वरः ॥

॥ अथ मनोलक्षणकथनानन्तरं प्राणलक्षणमुपदिश्यते ॥

मन के लक्षण कहने के अनन्तर प्राण के लक्षण का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा ॥ एष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः ॥५७॥

एषः । ते । रुद्र । भागः । सह । स्वस्रा । अम्बिकया । तम् । जुषस्व । स्वाहा ॥ एषः । ते । रुद्र । भागः । आखुः । ते । पशुः ॥ ५७ ॥

पदार्थः (एषः) प्रत्यक्षः । (ते) तवास्य वा । (रुद्र) रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः स्तोता तत्सम्बुद्धौ । रुद्र इति स्तोतृनामसु पठितम् । निघं० ३ । १६ । रुद्र इत्येतस्य यजुर्वेदभाष्ये व्याख्याने प्राणसंज्ञेत्युक्तम् ॥ रुद्र रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकं यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम् । निरु० १० । ५ । रोदेर्णिलुक् च । उ० २ । २२ । अनेन रुद्रशब्दः सिद्धः (भागः) सेवनीयः । (सह) संगे । (स्वस्रा) सुष्ठु अस्यति प्रक्षिपति यया विद्यया क्रियया वा तया । सावसेर्ऋन् ॥ उ० २ । ९६ । अनेन स्वसृशब्दः सिध्यति (अम्बिकया) अम्बते शब्दयति यया तया । (तम्) भागम् । (जुषस्व) सेवस्व सेवते वा । अत्र पक्षे व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (स्वाहा) शोभनं देयमादेयमाह यया सा । (एषः) वक्ष्यमाणः । (ते) तवास्य वा । (रुद्र) उक्तार्थः । (भागः) भजनीयः । (आखुः) समन्तात्खनत्यवदृणाति येन भोजनसाधनेन सः । अत्र । आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च । उ० । १ । ३३ । इति कुप्रत्ययो डित्संज्ञा च । (पशुः) योऽदृश्यतेऽभोग्यपदार्थ

समूहः समन्ते स्थापितः सः। अत्र। अंजिवृश्चिकामि० ११२७। इत्यौणादिकसूत्रेणास्य सिद्धिः। अयं मंत्रः। श० २।५।३।६।१०। व्याख्यातः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे रुद्र स्तोतस्ते तवैषो भागोस्ति तं त्वमम्बिकया स्वस्रासह जुषस्व। हे रुद्र ते तवैषोऽयं भागः स्वाहास्ति तं सेवस्व। हे रुद्र ते तवैष आखुः पशुश्चास्ति तं जुषस्व सेवस्वेत्येकः ॥ योऽयं रुद्रः प्राणस्तेऽस्य रुद्रस्यैषोऽयं भागोयमम्बिकया स्वस्रा सह जुषस्व सेवते तेऽस्य रुद्रस्यैषोऽयं स्वाहा भागस्तथा यस्तेऽस्याखुः पशुश्चास्ति यमयं सततं सेवते तं सर्वे मनुष्याः सेवन्ताम् ॥ ५७ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। यथा भ्राता प्रियया विदुष्या भगिन्या सह वेदादिशब्दविद्यां पठित्वाऽऽनन्दं भुङ्क्ते यथा चाऽयं प्राणः श्रेष्ठया शब्दविद्यया प्रियो जायेत। तथैव विद्वान् शब्दविद्यां प्राप्य सुखी जायते। नैताभ्यां विना कश्चिदपि सत्यं ज्ञानं सुखभोगं च प्राप्तुं शक्नोतीति ॥ ५७ ॥

पदार्थः—हे। (रुद्र) अन्यायकारी मनुष्यों को रुलानेवाले विद्वान्। जो (ते) तेरा। (एषः) यह। (भागः) सेवन करने योग्य पदार्थसमूह है उसको तू। (अम्बिकया) वेदवाणी वा। (स्वस्रा) उत्तम विद्या वा क्रिया के। (सह) साथ। (जुषस्व) सेवन कर। तथा हे। (रुद्र) विद्वान्। जो (ते) तेरा। (एषः) यह। (भागः) धर्म से सिद्ध अंश वा। (स्वाहा) वेदवाणी है उसका सेवन कर और हे। (रुद्र) विद्वान्। जो (ते) तेरा। (एषः) यह। (आखुः) खोदने योग्य शस्त्र वा। (पशुः) भोग्यपदार्थ है। (तम्) उसको। (जुषस्व) सेवन कर ॥ १ ॥ जो (एषः) यह। (रुद्र) प्राण है। (ते) जिसका। (एषः) यह। (भागः) भाग है जिसको। (अम्बिकया) वाणी वा। (स्वस्रा) विद्याक्रियाके। (सह) साथ। (जुषस्व) सेवन करता वा जो। (ते) जिसका। (स्वाहा) सत्यवाणीरूप। (भागः) भाग है और जो इसके। (आखुः) खोदनेवाले पदार्थ वा (पशुः) दर्शनीय भोग्यपदार्थ हैं। जिसका यह (जुषस्व) सेवन करता है उसका सेवन सब मनुष्य सदा करें ॥ ५७ ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें श्लेषालङ्कार है। जैसे भाई पूर्ण विद्यायुक्त अपनी बहिन के साथ वेदादि शब्द विद्या को पढ़कर आनन्द को भोगता है वैसे विद्वान् भी

विषयको प्राप्त होकर सुखी होता है । जैसे यह प्राण श्रेष्ठशब्द विषयसे प्रिय आनन्द दायक होता है वैसे सुशिक्षित विद्वान् भी सबको सुख करनेवाला होता है इन दोनोंके विना कोई भी मनुष्य सत्यज्ञान वा सुखभोगोंको प्राप्त होनेको समर्थ नहीं होसकता ॥५७॥

अव रुद्रमित्यस्य बन्धुर्ऋषिः । रुद्रो देवता । विराट् पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

अथ रुद्रशब्देनेश्वर उपदिश्यते ॥

अब अगले मंत्रमें रुद्रशब्द से ईश्वरका उपदेश किया है ॥

अवं रुद्रमंदीमह्यवं देवन्त्र्यम्बकम् यथां नो व- स्यंसुस्करद्यथां नः श्रेयंसुस्करद्यथां नो व्य- वसाययांत् ॥ ५८ ॥

अवं । रुद्रम् । अदीमहि । अवं । देवम् । त्र्यम्बकमिति त्रिऽअम्बकम् । यथां । नः । वस्यंसः । करंत् । यथां । नः । श्रेयंसः । करंत् यथां । नः । व्यवसाययादिति विऽअवसाययात् ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(अव) विनिग्रहार्थे । (रुद्रम्) दुष्टानां रोदयितारं परमेश्वरम् । (अदीमहि) सर्वाणि दुःखानि क्षाययेम नाशयेम । अत्र दीङ् क्षय इत्यस्माल्लिङर्थे लङ् बहुलं छन्दसीति श्यनो लुक् । (अव) अवगमार्थे । (देवम्) दातारम् । (त्र्यम्बकम्) अमति येन ज्ञानेन तदम्बं त्रिषु कालेष्वेकरसं ज्ञानं यस्य तम् । अत्र । अमगत्यादिष्वस्माद्बाहुलकेन करणकारके वः प्रत्ययस्ततः । शेषाद्विभाषा ॥ अ० ५।४।१५४। इति समासान्तः कप्प्रत्ययः । (यथा) येन प्रकारेण । (नः) अस्मान् । (वस्यसः) येऽतिशयेन वसंति ते वसीयांसस्तान् । अत्र छान्दसो वर्णलोपो वेतीकारलोपः । (करत्) कुर्य्यात् । अयं लेट्प्रयोगः ॥ डुकृञ्करण इत्यस्य भ्वादिगणान्तर्गतपठितत्वाच्छब्विकरणोऽत्र गृह्यते । तता-

दिभिः सह पाठाद्विकरणोपि । कः करत्करति कृधिकृतेष्वनदितेः । अ० ८।१।५०। नित्यं करोतेः । अ०६।४।१०८। एताभ्यां ज्ञाभ्यां ज्ञापकाभ्यामप्युभयगणप्रयोगः कृञ् गृह्यते । (यथा) (नः) अस्मान् । (श्रेयसः) आतिशयेन प्रशस्तान् । (करत्) कुर्यात् । अत्रापि लेट् । (यथा) (नः) अस्मान् । (व्यवसाययात्) निश्चयवतः कुर्यात् । अयं व्यवपूर्वात् षोऽन्तकर्मणीति एयन्ताल्लेटः प्रथमपुरुषैकवचने तिपि लट्प्रयोगः । अयं मंत्रः । शत० २।६।२।१२। व्याख्यातः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—वयं त्र्यम्बकं देवं रुद्रं जगदीश्वरमुपास्य दुःखान्यवादीमहव सायेम । स यथा नोऽस्मान् वस्यसोऽव करद्यथा नोऽस्मान् श्रेयसोऽव करद्यथा नोऽस्मान् व्यवसाययात् । तथा तं वसीयांसं श्रेयांसं व्यवसायप्रदं परमेश्वरमेव प्रार्थयामः ॥ ५८ ॥

भावार्थः—नहीश्वरस्योपासनेन विना कश्चिन्मनुष्यः सर्वदुःखान्तं गच्छति यः सर्वान् सुखनिवासान्प्रशस्तान्सत्यनिश्चयान्करोति तस्यैवाज्ञा सर्वैः पालनीयेति ॥ ५८ ॥

पदार्थः—हमलोग । (त्र्यम्बकम्) तीनों कालमें एकरस ज्ञानयुक्त । (देवम्) देने वा । (रुद्रम्) दुष्टोंको रुलानेवाले जगदीश्वरकी उपासना करके सब दुःखोंको (अवादीमहि) अच्छेप्रकार नष्ट करें । (यथा) जैसे परमेश्वर । (नः) हमलोगोंको । (वस्यसः) उत्तम २ वास करनेवाले । (अवाकरत्) अच्छेप्रकार करे । (यथा) जैसे । (नः) हमलोगोंको । (श्रेयसः) अत्यन्तश्रेष्ठ । (करत्) करे । (यथा) जैसे । (नः) हमलोगोंको । (व्यवसाययात्) निश्चयवाले करे वैसे सुखपूर्वक निवास कराने वा उत्तम गुणयुक्त तथा सत्यपनसे निश्चय देने वाले परमेश्वरहीकी प्रार्थना करें ॥ ५८ ॥

भावार्थः—कोई भी मनुष्य ईश्वरकी उपासना वा प्रार्थनाके विना सब दुःखोंके अन्तको नहीं प्राप्त हो सकता । क्योंकि वही परमेश्वर सब सुखपूर्वक निवास वा उत्तम २ सत्य निश्चयोंको कराता है इससे जैसी उसकी आज्ञा है उसका पालन

न वैसाही सब मनुष्यों को करना योग्य है ॥ ५८ ॥

भेषजमसीत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । रुद्रो देवता । स्वराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह परमेश्वर कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

भेषजमसि भेषजङ्गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् । सुखम्मेषाय मेष्यै ॥ ५९ ॥

भेषजम् । असि । भेषजम् । गवे । अश्वाय । पुरुषाय । भेषजम् ॥ सुखमिति सुऽखम् । मेषाय । मेष्यै ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(भेषजम्) शरीरान्तःकरणेन्द्रियात्मनां सर्वरोगाऽपहारकमौषधम् । (असि) (भेषजम्) अविद्यादिक्लेशनिवारकम् । (गवे) इन्द्रियधेनुसमूहाय । (अश्वाय) तुरङ्गाद्याय । (पुरुषाय) पुरुषप्रभृतये । (भेषजम्) रोगनिवारकम् । (सुखम्) । सुखं कस्मात्सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः । निरु० ।३।१३। (मेषाय) अवये । (मेष्यै) तत्स्त्रियै । अयं मंत्रः। शत० ।२।६।२।११। व्याख्यातः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—हे रुद्र जगदीश्वर यः शरीररोगनाशकत्वाद् भेषजमस्यात्मरोगदूरीकरणाद् भेषजमस्येवं सर्वेषां दुःखनिवारकत्वाद्भेषजमसि स त्वं नोऽस्मभ्यमस्माकं वा गवेऽश्वाय पुरुषाय मेषाय मेष्यै सुखं देहि ॥ ५९ ॥

भावार्थः—नहि परमेश्वरोपासनेन विना शरीरात्मप्रजानां दुःखापनयो भूत्वा सुखं जायते । तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरौषधसेवनेन शरीरात्मप्रजापशूनां प्रयत्नेन दुःखानि निवार्य सुखं जननीयमिति ॥ ५९ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर जो आप । (भेषजम्) शरीर अन्तःकरण इन्द्रिय और गाय आदि पशुओंके रोगनाश करनेवाले । (असि) हैं । (भेषजम्) अविद्यादिक्लेशोंको दूर करनेवाले । (असि) हैं । सो आप । (नः) हमलोगोंके । (गवे) गौआदि । (अश्वाय) घोड़ा आदि । (पुरुषाय) सब मनुष्य (मेषाय) मेढ़ा और ।

(मेष्यै) भेड़ आदिकी स्त्रियोंके लिये । (सुखम्) उत्तम २ सुखोंको । अच्छीप्रकार दीजिये ॥ ५८ ॥

भावार्थः— किसी मनुष्यका परमेश्वरकी उपासनाके विना शरीर आत्मा और प्रजाका दुःख दूर होकर सुख नहीं हो सकता इससे उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना आदिके करने और ओषधियोंके सेवनसे शरीर आत्मा पुत्र मित्र और पशु-आदिके दुःखोंको यत्नसे निवृत्त करके सुखोंको सिद्ध करना उचित है ॥ ५८ ॥

त्र्यम्बकमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । रुद्रो देवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मन्त्रमें किया है ।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ॥ उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ॥ उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥ ६० ॥

त्र्यम्बकमिति त्रिऽअम्बकम् । यजामहे । सुगन्धिमिति सुऽगन्धिम् । पुष्टिवर्धनमिति पुष्टिऽवर्धनम् ॥ उर्वारुकमिवेत्युर्वारुकम्ऽइव । बन्धनात् । मृत्योः । मुक्षीय । मा । अमृतात् ॥ त्र्यम्बकमिति त्रिऽअम्बकम् । यजामहे । सुगन्धिमिति सुऽगन्धिम् । पतिवेदनमिति पतिऽवेदनम् ॥ उर्वारुकमिवेत्युर्वारुकम्ऽइव । बन्धनात् । इतः । मुक्षीय । मा । अमुतः ॥ ६० ॥

पदार्थः—(त्र्यम्बकम्) उक्तार्थं जगदीश्वरम् । (यजामहे) नित्यं पूजयेमहि । (सुगन्धिम्) शोभनः शुद्धो गन्धो यस्मात्तम् । अत्र । गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥ अ० ५ । ४ । १ । ३५ । इति सूत्रेण समासान्त इकारादेशः । (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टेः शारीरात्मबलस्य वर्धनस्तम् अत्र न-

न्यादित्वाल्लघुः प्रत्ययः । (उर्वारुकमिव) यथोर्वारुकफलं पक्वं भूत्वाऽमृतात्मकं भवति । (बन्धनात्) । लतासम्बन्धात् । (मृत्योः) प्राणशरीरात्मवियोगात् । (मुक्षीय) मुक्तो भूयासम् । (मा) निषेधे । (अमृतात्) मोक्षसुखात् । (त्र्यम्बकम्) सर्वाध्यक्षम् । (यजामहे) सत्कुर्वीमहि । (सुगन्धिम्) सुष्ठु गन्धो यस्मिँस्तम् । (पतिवेदनम्) पाति रक्षति स पतिः पतेर्वेदनं प्रापणं ज्ञानं वा यस्मात्तम् । (उर्वारुकमिव) उक्तोर्थः । (बन्धनात्) उक्तोर्थः । (इतः) अस्माच्छरीरान्मर्त्यलोकाद्वा । (मुक्षीय) पृथग्भूयासम् । (मा) निषेधार्थे । (अमुतः) मोक्षाख्यात्परलोकात्परजन्मसुखफलाद्धर्माद्वा ॥ अत्राह यास्को निरुक्ते । त्र्यम्बको रुद्रस्तं अम्बकं यजामहे सुगन्धि सुष्ठु गन्धिं पुष्टिवर्धनं पुष्टिकारकमिवोर्वारुकमिव फलं बन्धनादारोधनान्मृत्योः सकाशान्मुंचस्व माम् । निरु० १३। ४८। अयं मंत्रः । शत० २।६।२। १२—१४ । व्याख्यातः ॥ ६० ॥

अन्वयः--वयं सुगन्धि पुष्टिवर्धनं त्र्यम्बकं देवं यजामहे नित्यं पूजयेमहि । एतस्य कृपयाऽहं बन्धनादुर्वारुकमिव मृत्योर्मुक्षीय मुक्तोभूयासम् । अमृतान्मा मुक्षीमहि मा श्रद्धारहिताभूयास्म । वयं सुगन्धिं पतिवेदनं त्र्यम्बकं सर्वस्वामिनं जगदीश्वरं यजामहे सततं सत्कुर्वीमहि एतदनुग्रहेणाहं बन्धनादुर्वारुकमिवेतो मुक्षीय पृथग्भूयासम् । वयममुतो मोक्षसुखात्सत्यसुखफलाद्धर्माद्विरक्ता मा भूयास्म ॥ ६० ॥

भावार्थः--अत्रोपमालङ्कारः । नैव मनुष्या ईश्वरं विहाय कस्याप्यन्यस्य पूजनं कुर्युः । तस्य वेदाविहितत्वेन दुःखफलत्वात् । यथोर्वारुकफलं यदा लतायां लग्नं सत्स्वयं पक्वं भूत्वा समयं प्राप्य लताबन्धनान्मुक्ता सुस्वादु भवति । तथैव वयं पूर्णमायुर्भुक्त्वा शरीरं त्यक्त्वा मुक्तिं प्राप्नुयाम । मा कदाचिन्मोक्षप्राप्त्यनुष्ठानात्परलोकात्परजन्मनो वा विरक्ता भवेम । नैव नास्तिकत्वमाश्रित्य कदाचिदीश्वरस्यानादरं कुर्याम । यथा व्यावहारिकसुखायान्नजलादिकमीप्सन्ति । तथैवेश्वरे वेदप्रतिपादितधर्मे मुक्तौ च नित्यं श्रद्दधीमहि ॥ ६० ॥

पदार्थः—हम लोग जो । (सुगन्धिम्) शुद्ध गंधयुक्त । (पुष्टिवर्धनम्) शरीर आत्मा और समाज के बलको बढ़ानेवाला । (त्र्यम्बकम्) रुद्ररूप जगदीश्वर है उसकी । (यजामहे) निरन्तर स्तुती करें । इसकी कृपा से । (उर्वारुकमिव) जैसे खर्बूजा फल पक कर । (बन्धनात्) लताके संबन्धसे छूटकर अमृत के तुल्य होता है वैसें हमलोग भी । (मृत्योः) प्राण वा शरीर के वियोग से । मुक्षीय) छूट जावें । (अमृतात्) और मोक्षरूप सुख से । (मा) श्रद्धारहित कभी न होवें । तथा हम लोग । (सुगन्धिम्) उत्तम गन्धयुक्त । पतिवेदनम्) रक्षा करनेहारे स्वामी को देनेवाले । (त्र्यंबकम्) सबके अध्यक्ष जगदीश्वरका । (यजामहे) निरन्तर सत्कार पूर्वक ध्यान करें । और इस के अनुग्रह से । (उर्वारुकमिव) जैसे खर्बूजा पक कर । (बन्धनात्) लताके संबन्ध से छूटकर अमृतके समान मिष्ट होता है । वैसे हमलोग भी । (इतः) इस शरीरसे । मुक्षीय) छूट जावें । (अमुतः) मोक्ष और अन्य जन्म के सुख और सत्यधर्म फलसे । (मा) पृथक न होवें ॥ ६० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालङ्कार है । मनुष्यलोग ईश्वर को छोड कर किसी का पूजन न करें । क्योंकि वेदसे अविहित और दुःखरूप फल होने से परमात्मासे भिन्न दूसरे किसी की उपासना न करनी चाहिये । जैसे खर्बूजा फल लता में लगा हुआ अपने आप पकर समय के अनुसार लतासे छूट कर सुन्दर स्वादिष्ट हो जाता है वैसेही हम लोग पूर्ण आयु को भोग कर शरीरको छोड के मुक्तिको प्राप्त होवें कभी मोक्षकी प्राप्ति के लिये अनुष्ठान वा परलोक की इच्छासे अलग न होवें। और न कभी नास्तिक पक्ष-को लेकर ईश्वर का अनादर भी करें । जैसे व्यवहारके सुखों के लिये अन्नजल आदि की इच्छा करते हैं वैसेही हमलोग ईश्वर, वेद, वेदोक्तधर्म, और मुक्ति होनेके लिये नि-रन्तर श्रद्धा करें ॥ ६० ॥

एतत्त इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भुरिगास्तारपंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

अथ रुद्रशब्देन शूरवीरकृत्यमुपदिश्यते ॥

अब अगले मन्त्रमें रुद्रशब्द से शूरवीर के कर्मों का उपदेश किया है ॥

एतत्ते॑ रुद्राव॒सं तेन॑ प॒रो मूज॑व॒तोऽती॑हि॥अव॑तत-

तधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि ॥ ६१ ॥

एतत् । ते । रुद्र । अवसम् । तेन । परः । मूजवत इति मूजऽवतः । अति । इहि ॥ अवततधन्वेत्यवततऽधन्वा । पिनाकावस इति पिनाकऽअवसः । कृत्तिवासा इति कृत्तिऽवासाः । अहिंसन् । नः । शिवः । अति इहि ६१

पदार्थः--(एतत्) उक्तं वक्ष्यमाणं च । (ते) तव । (रुद्र) यो रोदयति शत्रूँस्तत्संबुद्धौ शूरवीर । (अवसम्) रक्षणं सामर्थ्यं वा (तेन) रक्षणादिना । (परः) प्रकृष्टः समर्थः । (मूजवतः) बहवो मूजा घासादयो विद्यन्ते यस्मिन् तस्मात् पर्वतात् । मूजवान् पर्वतः । निरु० ९।८। (अति) अतिक्रमेण । (इहि) उल्लङ्घय । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः (अवततधन्वा) अवेति निगृहीतं ततं विस्तृतं धनुर्येन सः (पिनाकावसः) पिनष्टि शत्रून् येन तत् । पिनाकं तेनावसो वा पिनाकस्यावसो रक्षणं यस्मात्सः । पिनाकं प्रतिपिनष्टयनेन । निरु० ३।२१। (कृत्तिवासाः) कृत्तिश्चर्म तद्वद्दृढानि वासांसि धृतानि येन सः । (अहिंसन्) अनाशयन् रक्षन्सन् । (नः) अस्मान् । (शिवः) सुखप्रदः । (अति) अभिपूजितार्थे । (निरु० ।१।३।) (इहि) प्राप्नुहि । अयं मन्त्रः । शत० ।२।५।३।१६।१७। व्याख्यातः ॥ ६१ ॥

अन्वयः--हे रुद्र शूरवीर विद्वन् युद्धविद्याविचक्षण सेनाध्यक्षावततधन्व पिनाकावसः कृत्तिवासाः शिवः परः प्रकृष्टसामर्थ्यः संस्त्वं मूजवतः पर्वतात् परं शत्रूनतीहि उल्लङ्घय तस्मात् पारंगमय । यदेतत्ते तवावसं पालनमस्ति तेनास्मानहिंसन्नतीहि ॥ ६१ ॥

भावार्थः--हे मनुष्या अजातशत्रुभिर्युष्माभिर्भूत्वा निश्शत्रुकं राज्यं कृत्वा सर्वोत्कृष्टशस्त्राणि संपाद्य दुष्टानां दण्डहिंसाभ्यां श्रेष्ठानां पालनेन भवितव्यम् । अतो न कदाचिद्दुष्टाः सुखिनः श्रेष्ठा दुःखिताश्च भवेयुरिति ॥ ६१ ॥

पदार्थः—हे । (रुद्र) शत्रुओंको रुलानेवाले युद्धविद्यामें कुशल सेनाध्यक्ष विद्वान् । (अवततधन्वा) युद्धके लिये विस्तारपूर्वक धनुको धारण करने । (पिनाकावसः) पिनाक अर्थात् जिस शस्त्रसे शत्रुओंके बलको पीसके अपनी रक्षा करने (कृत्तिवासाः) चमड़े और कवचोंके समान दृढ़ वस्त्रोंके धारण करने । (शिवः) सब सुखोंके देने । और । (परः) उत्तम सामर्थ्यवाले शूर वीर पुरुष । (मूजवतः) मूंजघास आदियुक्त पर्वतसे दूसरे देशमें शत्रुओंको । (अतीहि) प्राप्त कीजिये । (एतत्) जो यह । (ते) आपका । (अवसम्) रक्षण करना है । (तेन) उससे । (नः) हमलोगोंकी । (अहिंसन्) हिंसाको छोड़कर रक्षा करते हुए आप । (अतीहि) सब प्रकारसे हम-लोगोंका सत्कार कीजिये ॥ ६१ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो, तुमको शत्रुओंसे रहित होकर राज्यको निष्कंटक करके सब अस्त्रशस्त्रोंका संपादनकरके दुष्टोंका नाश और श्रेष्ठोंकी रक्षा करो । कि जिससे दुष्ट शत्रु सुखी और सज्जनलोग दुःखी कदापि न होवें ॥ ६१ ॥

त्र्यायुषमित्यस्य नारायण ऋषिः । रुद्रो देवता । उष्णिक्छन्दः । ऋषभः स्वरः॥

मनुष्येण कीदृश मायुर्भोक्तुमीश्वरः प्रार्थनीयइत्युपदिश्यते॥

मनुष्यको कैसा आयु भोगनेके लिये ईश्वरकी प्रार्थना करनी चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ॥ यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोअस्तु त्र्यायुषम्

त्र्यायुषमिति त्रिऽआयुषम् । जमदग्नेरिति जमत्ऽअग्नेः । कश्यपस्य । त्र्यायुषमिति त्रिऽआयुषम् ॥ यत् । देवेषु । त्र्यायुषमिति त्रिऽआयुषम् । तत् । नः । अस्तु । त्र्यायुषमिति त्रिऽआयुषम् ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(त्र्यायुषम्) त्रीणि च तान्यायुंषि च त्र्यायुषम् । बाल्ययौवनवृद्धावस्थासुखकरम् । इदं पदं । अचतुरविचतुर० । अ० ५ । ४ । ७७ ।

इति सूत्रे समासान्तत्वेन निपातितम् ।(जमदग्नेः) चक्षुषः । चक्षुर्वै जमदग्नि-ऋषिर्यदनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः । शत० ८।१।२।३। जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति । निरु० ७।२४। अनेनापि प्रमाणेन रूपगुणग्राहकं चक्षुर्गृह्यते । (कश्यपस्य) आदित्य-स्येश्वरस्य । प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् कूर्मः । कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति । श० ७।४।१।५। अनेन प्रमाणेनेश्वरस्य कश्यपसंज्ञा । एतन्निमित्तं त्रिगुणमायुर्लभेमहीत्यभिप्रायः । (त्र्यायुषम्) ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थाश्रमसुखसंपादकं त्रिगुणमायुः । (यत्) यादृशं यावत् । (देवेषु) विद्वत्सु । विद्वांसो हि देवाः । श० ३।५।६।१०। (त्र्यायुषम्) विद्याशिक्षापरोपकारसहितं त्रिगुणमायुः । (तत्) तादृशं तावत् । (नः) अस्माकम् । अस्तु भवतु । (त्र्यायुषम्) पूर्वोक्तं त्रिगुणमायुः । अत्र एतेर्णिच्च ॥ उ० २।११४। अनेनेण् धातोरुसिः प्रत्ययो णिद्वत्वाद्वृद्धिः । ईयते प्राप्यते यत्तदायुः । अयं मंत्रः । शत० २।५।४।१-७। व्याख्यातः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे रुद्र जगदीश्वर तव कृपया यद्देवेषु त्र्यायुषं यज्जमदग्नेस्त्र्यायुषं कश्यपस्य तव व्यवस्थासिद्धं त्र्यायुषमस्ति तन्नोऽस्माकमस्तु ॥ ६२ ॥

भावार्थः— अत्र चक्षुरिन्द्रियाणां कश्यप ईश्वरः स्रष्टृणामुत्तमोऽस्तीति विज्ञेयम् । त्र्यायुषमित्यस्य चतुरावृत्त्या त्रिगुणादधिकं चतुर्गुणमप्यायुः संगृह्यते तस्मा-त्सर्वैर्जगदीश्वरं प्रार्थ्य स्वेन पुरुषार्थश्च कर्त्तव्यः । तद्यथा हे जगदीश्वर भव-त्कृपया यथा विद्वांसो विद्यापरोपकारधर्मानुष्ठानेनानन्दतया त्रीणि शतानि वर्षा-णि यावत्तावदायुर्भुञ्जते । तथैव यत्त्रिविधतापातिरिक्तं शरीरेन्द्रियान्तः करणप्राण सुखाढ्यं विद्याविज्ञानसहितमायुरस्ति तद्वयं प्राप्य त्रिशतवर्षं चतुःशतवर्षं वाऽऽ-युः सुखेन भुञ्जीमहीति ॥ ६२ ॥

पदार्थः— हे जगदीश्वर आप । (यत्) जो । (देवेषु) विद्वानों के वर्त्तमानमें (त्र्यायुषम्) ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों का परोपकार से युक्त आयु वर्त्तता जो । (जमदग्नेः) चक्षु आदि इन्द्रियों का । (त्र्यायुषम्) शुद्धि, बल और पराक्रमयुक्त तीन गुण आयु और जो (कश्यपस्य) ईश्वरप्रेरित । (त्र्यायुषम्)

त्रिशुषी अर्थात् तीनसौ वर्ष से अधिकभी आयु । विद्यमान है । (तत्) उस इस शरीर आत्मा और समाज को आनन्द देने वाले । (त्र्यायुषम्) तीनसौ वर्ष से अधिक आयु को । (नः) हमलोगों को प्राप्ति किजिये ॥ ६२ ॥

भावार्थः-- इस मंत्र में चक्षुः सब इन्द्रियों का और परमेश्वर सब रचना करनेहारों में उत्तम है ऐसा सब मनुष्यों को समझना चाहिये । और । (त्र्यायुषम्) इस पदकी वारवार आवृत्ति होने से तीनसौ वर्ष से अधिक चारसौ वर्षपर्यन्त भी आयु का ग्रहण किया है । इसकी प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करके और अपना पुरुषार्थ करना उचित है । प्रार्थना इसप्रकार करनी चाहिये । हे जगदीश्वर आपकी कृपा से, जैसे विद्वान्लोग विद्या धर्म और परोपकार के अनुष्ठान से आनन्द पूर्वक तीनसौ वर्षपर्यन्त आयुको भोगते हैं । वैसे ही तीन प्रकार के ताप से शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकाररूप अन्तःकरण इन्द्रिय और प्राण आदि को रहित सुख करनेवाले विद्या विज्ञान सहित आयुको हमलोग प्राप्त होकर तीनसौ वा चारसौ वर्षपर्यन्त सुखपूर्वक भोगें ॥ ६२ ॥

शिवोनामासीत्यस्य नारायण ऋषिः । रुद्रो देवता । भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ रुद्रशब्देनोपदेशकगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब अगले मंत्रमें रुद्रशब्दसे उपदेश करनेहारे के गुणों का उपदेश किया है ॥

शिवो नामा॑सि॒ स्वधि॑तिस्ते पि॒ता नम॑स्ते अस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः ॥ निव॑र्त्तयाम्यायु॑षे॒ऽन्नाद्या॑य प्र॒जन॑नाय रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वी॒र्या॑य ॥ ६३ ॥

शिवः । नाम॑ । अ॒सि॒ । स्वधि॑ति॒रिति॒ स्वऽधि॑तिः । ते॒ । पि॒ता । नमः॑ । ते॒ । अ॒स्तु॒ । मा । मा॒ । हि॒ꣳसीः॒ ॥ नि ।

वर्त्तयामि । आयुष इत्यायुषे । अन्नाद्यायेत्यन्नऽआद्याय । प्रजननायेति प्रऽजननाय । रायः । पोषाय । सुप्रजास्त्वायेति सुप्रजाःऽत्वाय । सुवीर्य्यायेति सुऽवीर्य्याय ॥ ६३ ॥

पदार्थः—(शिवः) मङ्गलस्वरूपो ज्ञानमयो विज्ञानप्रदः । (नाम) आख्या । (असि) भवसि । (स्वधितिः) अविनाशित्वेनाभयः । स्वधितिरिति वज्रनामसु पठितम् । निघं० २।२०। (ते) तव । (पिता) पालकः । (नमः) सत्कारार्थे । (ते) तुभ्यम् । (अस्तु) भवतु । (मा) निषेधार्थे । (मा) माम् । (हिंसीः) हिन्धि । अत्र लोडर्थे लुङ् । (नि) निश्चयार्थे निवारणार्थे वा । (वर्त्तयामि) (आयुषे) आयुर्भोगाय । (अन्नाद्याय) अन्नं योग्यमाद्यमन्नं च तस्मै । यद्वाऽन्नमोदनादिकं भोज्यं यस्मिँस्तस्मै । (प्रजननाय) सन्तानोत्पादनाय । (रायस्पोषाय) रायो विद्यासुवर्णादिधनस्य पोषाय । पुष्यन्ति यस्मिँस्तस्मै । (सुप्रजास्त्वाय) शोभनाः सन्तानाऐश्वर्यश्चक्रवर्त्तिराज्यं च प्रजा यस्मात्तस्य भावस्तस्मै । (सुवीर्य्याय) शोभनं वीर्य्यं शरीरात्मनो बलं पराक्रमो यस्मात्तस्मै । अयं मंत्रः । श० २।६।१।२२ ॥ व्याख्यातः॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे रुद्र यस्त्वं स्वधितिरसि यस्य ते तव शिवो नामास्ति । स त्वं मम पितासि ते तुभ्यं नमोऽस्तु । त्वं मां मामाहिंसीर्माहिन्ध्यहं त्वामायुषेऽन्नाद्याय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्य्याय रायस्पोषाय वर्त्तयामि त्वदाश्रयेण सर्वाणि दुःखानि निवर्त्तयामि ॥ ६३ ॥

भावार्थः—नहि कश्चिन्मनुष्यो मङ्गलमयस्य सर्वपितुः परमेश्वरस्याज्ञापालनेनोपासकसंगेन विनैहिकपारमार्थिकसुखे प्राप्तुं शक्नोति । नैव केनापि नास्तिकत्वेन खल्वीश्वरस्य विदुषां चानादरः कर्त्तव्यः । यो नास्तिको भूत्वैतस्यैतेषां चानादरं करोति तस्य सर्वत्रानादरो जायते । तस्मान्मनुष्यैरास्तिकैः सदा भवितव्यमिति ॥ ६३ ॥ अत्र तृतीयाध्यायेऽग्निहोत्रादियज्ञवर्णनमग्निस्वभावार्थप्रतिपा-

दनं पृथिवीभूमणलक्षणमग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थप्रतिपादनमग्निहोत्रफलप्रकाशनमीश्वरोपस्थानमग्निस्वरूपमीश्वरप्रार्थनं तदुपासनं तत्फलवर्णनमीश्वरस्वभावप्रतिपादनं सूर्यकिरणकृत्यवर्णनं नित्योपासनं सावित्रीमंत्रप्रतिपादनं यज्ञफलप्रकाशनं भौतिकाग्न्यर्थवर्णनं गृहाश्रमकरणावश्यकानुष्ठानलक्षणे इन्द्रमरुत्कृत्यं पुरुषार्थकरणावश्यकं पापान्निवर्त्तनं यज्ञपूर्त्यावश्यकं सत्यत्वेन ग्रहणदानव्यवहारकरणं विद्वत्पुरुषर्त्तुस्वभाववर्णनं चतुष्टयमन्तःकरणस्य लक्षणं रुद्रशब्दार्थप्रतिपादनं त्रिगुणायुष्करणावश्यकं धर्मेणायुरादिपदार्थसंग्रहणं च वर्णितमेतेनास्य तृतीयाध्यायार्थस्य द्वितीयाध्यायार्थेनसह संगतिरस्तीति बोद्धव्यम् ॥ इति श्रीमद्विद्वर्य्यपरिव्राजकाचार्य्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये तृतीयोऽध्यायः पूर्त्तिमगात्॥६३॥

पदार्थ :—हे जगदीश्वर और उपदेश करनेहारे विद्वान् जो आप । (स्वधितिः) अविनाशी होनेसे वज्रमय । (असि) हैं जिस । (ते) आपका । (शिवः) सुखस्वरूप विज्ञानका देनेवाला । (नाम) नाम । (असि) है सो आप मेरे । (पिता) पालन करनेवाले । (असि) हैं (ते) आपके लिये मेरा । (नमः) सत्कारपूर्वक नमस्कार । (अस्तु) विदित हो तथा आप । (मा) मुझे । (मा) मत । (हिंसीः) अल्पमृत्युसे युक्त कीजिये । और मैं आपको । (आयुषे) आयुके भोगने । (अन्नाद्याय) अन्न आदिके भोगने । (सुप्रजास्त्वाय) उत्तम २ पुत्र आदि वा चक्रवर्ति राज्य आदिकी प्राप्ति होने । (सुवीर्य्याय) उत्तम शरीर आत्माको बल पराक्रम होने और । (रायस्पोषाय) विद्या वा सुवर्ण आदि धनकी पुष्टिके लिये । (वर्त्तयामि) वर्त्ताता और वर्त्तता हूं इस प्रकार वर्त्तनेसे सब दुःखोंको छुड़ाके अपने आत्मामें उपास्यरूपसे निश्चय करके अन्तर्यामिरूप आपका आश्रय करके सभोंमें वर्त्तता हूं ॥

भावार्थ :—कोई भी मनुष्य, मंगलमय सबकी पालना करनेवाले परमेश्वरकी आज्ञा पालनके विना संसार वा परलोक के सुखोंके प्राप्त होनेको समर्थ नहीं होता । न कदापि किसी मनुष्यको नास्तिक पक्षको लेकर ईश्वरका अनादर करना चाहिये । जो नास्तिक हो कर ईश्वरका अनादर करता है उसका सर्वत्र अनादर होता है इस से

सब मनुष्यों को आस्तिक बुद्धि से ईश्वर की उपासना करनी योग्य है ॥ ६३ ॥

इस तीसरे अध्याय में अग्निहोत्र आदि यज्ञों का वर्णन, अग्नि के स्वभाव वा अर्थ का प्रतिपादन, पृथिवी के भ्रमण का लक्षण, अग्निशब्द से ईश्वर वा भौतिक अर्थ का प्रतिपादन, अग्निहोत्र के मंत्रों का प्रकाश, ईश्वर का उपस्थान, अग्नि का स्वरूपकथन, ईश्वर की प्रार्थना, उपासना वा इन दोनों का फल, ईश्वर के स्वभाव का प्रतिपादन, सूर्य्य के किरणों के कार्य का वर्णन, निरन्तर उपासना, गायत्री मंत्र के अर्थ का प्रतिपादन, यज्ञ के फल का प्रकाश, भौतिक अग्नि के अर्थ का प्रतिपादन, गृहस्थाश्रम के आवश्यक कार्यों के अनुष्ठान और लक्षण, इन्द्र और पवनों के कार्य का वर्णन, पुरुषार्थ का आवश्यक करना, पापों से निवृत्त होना, यज्ञ की समाप्ति आवश्यक करनी। सत्य से लेने देने आदि व्यवहार करना, विद्वान् वा ऋतुओं के स्वभाव का वर्णन चार प्रकार के अन्तःकरण का लक्षण, रुद्रशब्द के अर्थ का प्रतिपादन, तीनसौ वर्ष अवश्य आयु का संपादन करना और धर्म से आयु आदि पदार्थों का ग्रहण का वर्णन किया है इस से दूसरे अध्याय के अर्थ के साथ इस तीसरे अध्याय के अर्थ की संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये तृतीयोऽध्यायः सामाप्तिमगमत ॥ इति तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थाध्यायः प्रारभ्यते । अस्मिन्नध्याये सप्तत्रिंशन्मंत्राः सन्तीति वेदितव्यम् ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव ॥ यद्भ॒द्रन्तन्न॒ आसु॑व ॥ १ ॥

एदमगन्मेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अबोषध्यौ देवते । विराड् ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ जलगुणस्वभावकृत्यमुपदिश्यते

अब चौथे अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है इसके प्रथम मंत्र में जल के गुण, स्वभाव और कृत्य का उपदेश किया है ।

एदम॑गन्म देव॒यज॑नम्पृथि॒व्या यत्र॑ दे॒वासो॒ अजु॑-

षन्त विश्वे॥ ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम ॥ इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः ॥ ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः॥ १ ॥

आ । इदम् । अगन्म । देवयजनमिति देवऽयजनम् । पृथिव्याः । यत्र । देवासः । अजुषन्त । विश्वे ॥ ऋक्सामाभ्यामित्यृक्ऽसामाभ्याम् । सन्तरन्त इति सम्ऽतरन्तः । यजुर्भिरिति यजुःऽभिः । रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदेम ॥ इमाः । आपः । शम् । ऊँ इत्यूँ । मे । सन्तु । देवीः । ओषधे । त्रायस्व । स्वधित इति स्वऽधिते । मा । एनम् । हिंसीः ॥ १ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् । (इदम्) वक्ष्यमाणम् । (अगन्म) प्राप्नुयाम । अत्र लिङर्थे लुङ् । (देवयजनम्) देवानां विदुषां यजनं पूजनं तेभ्यो दानं च । (पृथिव्याः) भूमध्ये । (यत्र) देशे । देवासः विद्वांसः । (अजुषन्त) प्रीतवन्तः सेवितवन्तः । (विश्वे) सर्वे (ऋक्सामाभ्याम्) ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थान्येन स ऋग्वेदः । सामयन्ति सान्त्वयन्ति कर्मान्तं फलं प्राप्नुवन्ति येन स सामवेदः ऋक् च साम च ताभ्याम् । अत्र । अचतुर विचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्साम० अ० ५।४।७७।इति सूत्रेणायं समासान्तश्च प्रत्ययेन निपातितः । (संतरन्तः) दुःखस्यान्तं प्राप्नुवन्तः । (यजुर्भिः) यजुर्वेदस्थमंत्रोक्तैः कर्मभिः (रायः) धनस्य । (पोषेण) पुष्ट्या । (सम) सम्यगर्थे । (इषा) इष्टविद्ययाऽन्नादि वा । (मदेम) सुखयेम । (अत्र) विकरणप्रत्ययः । (इमाः) प्रत्यक्षाः । (आपः) जलानि (शम्) सुखकारिकाः (उ) वितर्के । (मे)

मय । (सन्तु) भवन्तु । (देवीः) शुद्धा रोगनाशिकाः । अत्र वा च्छन्दसीति असः पूर्वसवर्णत्वम् (ओषधे) सोमाद्योषधिगणः । (त्रायस्व) त्रायताम् । (स्वधिते) रोगनाशने स्वधितिर्वज्रवत्प्रवर्त्तमानः । स्वधितिरिति वज्रनामसु पठितम् । निघं० २।२० । (मा) निषेधार्थे । (एनम्) यजमानं प्राणिसमूहं वा । (हिंसीः) हिंस्यात् । अत्र लिङर्थे लुङ् ॥ १ ॥

अन्वयः— हे विद्वन् यथा पृथिव्या मध्ये मनुष्यजन्मेदं देवयजनं प्राप्य यत्र ऋक्सामाभ्यां यजुर्भी रायस्पोषेण दुःखानि सन्तरन्तो विश्वेदेवासो वयं सुखान्यगन्मासुषन्त मदेम सुखयेम । उ इति वितर्के मे मम क्रियासुशिक्षाभ्यां सेविता इमा देव्य आपः सुखकारिकाः सन्ति तथैव त्वं तानि जुषस्व मदेमस्तथैताः शंसन्तु सुखकारिका भवन्तु । यथौषधे सोमलताद्योषधिगणो रोगेभ्यस्त्रायते तथा त्वं नस्त्रायस्व स्वधितिर्वज्र इवैनं प्राणिवृन्दं मा हिंसीर्हननं मा कुर्याः ॥ १ ॥

भावार्थः— अत्र लुप्तोपमालङ्कारः । यथा मनुष्याः साङ्गोपाङ्गान् चतुरो वेदानधीत्याध्याप्य विद्यां परीक्ष्य विद्वांसो भूत्वा सुकर्मानुष्ठानेन सर्वान् प्राणिनः सुखयेयुस्तथैवेतान् सत्कृत्यैतेभ्यो वैदिकविद्यां प्राप्य श्रेष्ठाचारौ-षधिसेवनाभ्यां दुःखान्तं गत्वा शरीरात्मपुष्ट्या धनं समुपचित्य सर्वैर्मनुष्यैरान-न्दितव्यम् ॥ १ ॥

पदार्थः— हे विद्वन् जैसे । (पृथिव्याः) भूमिपर मनुष्य जन्मको प्राप्त होके जो (इदम्) यह । (देवयजनम्) विद्वानोंका यजन पूजन वा उनके लिये दान है उसको प्राप्त होके । (यत्र) जिस देशमें । (ऋक्सामाभ्याम्) ऋग्वेद, सामवेद, तथा । (यजुर्भिः) यजुर्वेदके मंत्रोंमें कहे कर्म । (रायस्पोषेण) धनकी पुष्टि । समिषा) उत्तम २ विद्या आदिकी इच्छा वा अन्न आदिसे दुःखोंके । (सन्तरन्तः) अन्तको प्राप्त होते हुए । (विश्वे) सब । (देवासः) विद्वान् हमलोग सुखोंको । (अगन्म) प्राप्त हों । (अजुषन्त) सब प्रकारसे सेवन करें । (मदेम) सुखी रहें । (उ) और भी (मे) मेरे सुनियम विद्या उत्तम शिक्षासे सेवन किये हुए । (इमाः) ये । (देवीः) शुद्ध । (आपः) जल । सुख देनेवाले होते हैं वैसे वहां तू भी उनको प्राप्त हो (जुष-

स्व) सेवन और आनन्दकर के जल आदि पदार्थ भी तुझको (शम्) सुख करानेवाले (सन्तु) होवें । जैसे । (ओषधे) सोमलता आदि ओषधिगण सब रोगोंसे रक्षा करता है वैसे तू भी हमलोगोंकी । (त्रायस्व) रक्षा कर । (स्वधिते) रोग नाश करने में वज्रके समान होकर । (एनम्) इस यजमान वा प्राणीमात्रको । (मा हिंसीः) कभी मत मार ॥ १ ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें लुप्तोपमालङ्कार है । जैसे मनुष्यलोग ब्रह्मचर्य्यपूर्वक अंग और उपनिषद्सहित चारों वेदोंको पढ़कर औरोंको पढ़ाकर विद्याको प्रकाशित कर और विद्वान् होके उत्तम कर्मोंके अनुष्ठानसे सब प्राणियोंको सुखी करें वैसेही इन विद्वानोंका सत्कारकर इनसे वैदिक विद्याको प्राप्त होकर शरीर वा आत्माकी पुष्टिसे धनका अत्यन्त संचय करके सब मनुष्योंको आनन्दित होना चाहिये ॥ १ ॥

आपो अस्मानित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आपो देवताः स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

पुनस्ताभिरद्भिः किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर उन जलोंसे क्या २ करना चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

आपो॑ अ॒स्मान्मा॒तर॑: शुन्धयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्व॑: पुनन्तु ॥ विश्व॑ᳫं हि रि॒प्रम्प्र॒वह॑न्ति दे॒वीः ॥ उदिदा॑भ्य॒: शुचि॒रा पू॒त ए॑मि ॥ दी॒क्षा॒त॒प॒सोस्त॒नूर॑सि॒ तान्त्वा॑ शि॒वाᳫं श॒ग्माम्परि॑ दधे भ॒द्रं वर्णं॒ पुष्य॑न् ॥ २ ॥

आपः । अस्मान् । मातरः । शुन्धयन्तु । घृतेन । नः । घृतप्व इति घृतऽप्वः । पुनन्तु ॥ विश्वम् । हि । रिप्रम् । प्रवहन्तीति प्रऽवहन्ति । देवीः । उत् । इत् । आभ्यः । शुचिः । आ । पूतः । एमि ॥ दीक्षातपसोः । तनूः । असि । ताम् । त्वा । शिवाम् । शग्माम् । परि । दधे । भद्रम् । वर्णम् । पुष्यन् ॥ २ ॥

पदार्थः— (आपः) जलानि । (अस्मान्) मनुष्यादीन्प्राणिनः । (मातरः) मातृवत्पालिकाः । (शुन्धयन्तु) बाह्यदेशं पवित्रं कुर्वन्तु । (घृतेन) आज्येन । (नः) अस्मान् । (घृतप्वः) घृतं पुनन्ति यास्ताः । (पुनन्तु) पवित्रयन्तु । (विश्वम्) सर्वं जगत् । (हि) खलु । (रिप्रम्) व्यक्तवाणीप्राप्यं वेदितव्यम् । अत्र । लीरीङो ह्रस्वः । उ० ५।५५। अनेनायं सिद्धः । (प्रवहन्ति) प्रकर्षेण प्राप्नुवन्ति । (देवीः) देव्यः । (उत्) उत्कृष्टे । (इत्) अपि । (आभ्यः) अद्भ्यः । (शुचिः) पवित्रः । (आ) समन्तात् । (पूतः) शुद्धः । (एमि) प्राप्नोमि । (दीक्षातपसोः) दीक्षाब्रह्मचर्यादिनियमसेवनं च तपोधर्मानुष्ठानं च तयोः । (तनूः) सुखविस्तारनिमित्तं शरीरम् । (असि) अस्ति । अत्र व्यत्ययः । (ताम्) (त्वा) एताम् । (शिवाम्) कल्याणकारिकाम् । (शग्माम्) सुखस्वरूपाम् । (परि) सर्वतः । (दधे) धरामि । (भद्रम्) भजनीयम् (वर्णम्) स्वीकर्त्तुमर्हमतिसुन्दरम् । (पुष्यन्) पुष्टं कुर्वन् । अयं मंत्रः । श० ३।१।२।१-११ व्याख्यातः ॥ २ ॥

अन्वयः— हे मनुष्या यथा भद्रं वर्णं पुष्यन्नहं या घृतप्वो देव्य आपो विश्वं रिप्रं प्रवहन्ति विद्वांसो या मातरो या घृतप्वो घृतेन सन्ति याभिर्नोऽस्मान् सुखयन्ति ताभिर्नोऽस्मान् भवन्तः शुन्धयन्तु पुनन्तु च यथाहमुदिदाभ्यः शुचिः पवित्रो भूत्वा या दीक्षातपसोस्तनूरस्यस्ति तां त्वामेतां शिवां शग्मां परिदधे सर्वतो धरामि तथा तास्तां च यूयमपि धरत ॥ २ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । याः सर्वसुखप्रापिकाः प्राणधारिका मातृवत्पालनहेतव आपः सन्ति ताभ्यः सर्वतः पवित्रतां संपादिताः शोधित्वा मनुष्यैर्नित्यं संसेव्या यतः सुन्दरं वर्णं रोगरहितं शरीरं च संपाद्य नित्यं प्रयत्नेन धर्ममनुष्ठाय पुरुषार्थेनानन्दः कर्त्तव्य इति ॥ २ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो जैसे (भद्रं) अति सुन्दर । (वर्णम्) प्राप्त होने योग्य रूपको । (पुष्यन्) पुष्ट कर्त्ता हुआ मैं जो । (घृतप्वः) घृतको पवित्र करने । (देवीः) दिव्यगुणयुक्त । (मातरः) माताके समान पालन करनेवाले । (आपः) जल । (रिप्रम्) व्यक्तवाणीको प्राप्त करने वा जानने योग्य । (विश्वम्) सबको ।

(प्रवहन्ति) प्राप्त करते हैं जिनसे विद्वान् लोग ।(अस्मान्) हम मनुष्यलोगोंको ।(शुन्धुयन्तु) बाह्य देशको पवित्र करें और जो । (घृतेन) घृतसे । पुष्ट करने योग्य जल हैं जिनसे (नः) हमलोगोंको। । करसके उनसे (पुनन्तु) पवित्र करें । जैसे मैं । (उत्) अच्छेप्रकार। (इत्) भी।(आभ्यः) इन जलोंसे।(शुचिः) पवित्र तथा । (आपूतः) शुद्ध होकर । (दीक्षातपसोः) ब्रह्मचर्य्य आदि उत्तम २ नियमसेवन से जो धर्मानुष्ठानके लिये । (तनूः) शरीर । (असि) है जिस । (शिवाम्) कल्याणकारी । (शग्माम्) सुखस्वरूप । शरीरको। (एमि) प्राप्त होता और । (परिदधे) सब प्रकार धारण करताहूं वैसे तुमलोग भी उन जल और (ताम्) उस । (त्वाम्) अत्युत्तम शरीरको धारण करो ॥ २ ॥

भावार्थः—इस मंत्रमें वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ मनुष्योंको उचित है कि जो सब सुखोंको प्राप्त करने प्राणोंको धारण कराने तथा माताके समान पालनके हेतु जल हैं उनसे सबप्रकार पवित्र होके इनको शोधकर मनुष्योंको नित्य सेवन करने चाहिये जिससे सुन्दरवर्ण रोगरहित शरीर को संपादन कर निरन्तर प्रयत्नके साथ धर्मका अनुष्ठानकर पुरुषार्थसे आनन्द भोगना चाहिये ॥ २ ॥

महीनामित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । मेघो देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरस्य जलसमूहजन्यस्य मेघस्य किं निमित्तमस्तीत्युपदिश्यते ।

फिर इस जलसमूहसे उत्पन्न हुए मेघका क्या निमित्त है इस विषय का उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

महीनां पयोऽसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहि ॥ वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥३॥

महीनाम् । पयः । असि । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । असि । वर्चः । मे । देहि ॥ वृत्रस्य । असि । कनीनकः । चक्षुर्दा इति चक्षुःऽदाः । असि । चक्षुः । मे । देहि ॥ ३ ॥

पदार्थः—(महीनाम्) पृथिवीनाम् । महीति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं० १ । १ । (पयः) रसनिमित्तम् । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (वर्चोदाः) दीप्तिं ददातीति । (असि) अस्ति । (वर्चः) प्रकाशम् । (मे) मह्यम् (देहि) ददाति । (वृत्रस्य) मेघस्य । (असि) अस्ति । (कनीनकः) यः कनति दीपयतीति स एव कनीनकः । अत्र कनीधातोर्बाहुलकादौणादिक ईनयत्ययस्ततः स्वार्थे कन् । (चक्षुर्दाः) चष्टेऽनेन तद्ददातीति । (असि) अस्ति । (चक्षुः) नेत्रव्यवहारम् । (मे) मह्यम् । (देहि) ददाति । अयं मंत्रः श० ३ । १ । ३ । ९-१५ । व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः—यो महीनां पयोऽस्यस्ति वर्चोदा अस्यस्ति यो मे मह्यं वर्चोदा ददाति वृत्रस्य कनीनकोऽस्ति चक्षुर्दा अस्ति स सूर्यो मे मह्यं चक्षुर्ददाति ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्नहि सूर्यस्य प्रकाशेन विना वृष्ट्युत्पत्तिश्चक्षुर्व्यवहारश्च सिध्यति । येनायं सूर्यो निर्मितस्तस्मा ईश्वराय कोटिशो धन्यवादा देया इति वेद्यम् ॥ ३ ॥

पदार्थः—जो यह । (महीनाम्) पृथिवी आदि के । (पयः) जल रस का निमित्त । (असि) है । (वर्चोदाः) दीप्ति का देनेवाला । (असि) है जो । (मे) मेरे लिये । (वर्चः) प्रकाश को । (देहि) देता है । जो । (वृत्रस्य) मेघ का (कनीनकः) प्रकाश करनेवाला । (असि) है वा । (चक्षुर्दाः) नेत्र के व्यवहार का सिद्ध करने वाला । (असि) है वह सूर्य । (मे) मेरे लिये । (चक्षुः) नेत्रों के व्यवहार को । (देहि) देता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जानना उचित है जिस सूर्य्य प्रकाश के विना वर्षा की उत्पत्ति वा नेत्रों का व्यवहार सिद्ध कभी नहीं होता । जिसने इस सुर्य्यलोक को रचा है उस परमेश्वर को कोटि असंख्यात धन्यवाद देते रहें ॥ ३ ॥

चित्पतिर्मेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । परमात्मा देवता । निचृद्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

येन सूर्य्यादिकं जगद्रचितं सोऽस्मदर्थं किं किं कुर्य्यादित्युपदिश्यते ॥

जिस ने सूर्य्य आदि सब जगत् को बनाया है वह परमात्मा हमारे लिये क्या २ करे इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः ॥ तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥ ४ ॥

चित्पतिरिति चित्ऽपतिः । मा । पुनातु । वाक्पतिरिति वाक्ऽपतिः । मा । पुनातु । देवः । मा । सविता । पुनातु । अच्छिद्रेण । पवित्रेण । सूर्य्यस्य । रश्मिभिरिति रश्मिऽभिः ॥ तस्य । ते । पवित्रपत इति पवित्रऽपते । पवित्रपूतस्येति पवित्रऽपूतस्य । यत्काम इति यत्ऽकामः । पुने । तत् । शकेयम् ॥ ४ ॥

पदार्थः--(चित्पतिः) चेतयति येन विज्ञानेन तस्य पतिः पालयिताऽधिष्ठातेश्वरो भवान् । (मा) माम् । (पुनातु) पवित्रं करोतु । (वाक्पतिः) यो वाचो वेदविद्यायाः पतिः स्वामी पालयिता । (मा) माम् । (पुनातु) विद्वांसं कृत्वा पवित्रयतु (देवः) यः स्वप्रकाशेन सर्वस्य प्रकाशकः । (मा) माम् । (सविता) सर्वस्य जगतो दिव्यस्य प्रसवितोत्पादकः । (पुनातु) शोधयतु शुद्धं करोतु । (अच्छिद्रेण) अविनाशिना विज्ञानेन (पवित्रेण) शुद्धिकारकेण । (सूर्य्यस्य) सवितृमण्डलस्य प्राणस्य वा (रश्मिभिः) प्रकाशैर्गमनागमनैः । (तस्य) जगदीश्वरस्य । (ते) तव । (पवित्रपते) पवित्रस्य पालयितः । पवित्रपूतस्य यः पवित्रैः शुद्धैः स्वाभाविकैर्विज्ञानादिभिर्गुणैः पूतः पवित्रस्तस्य (यत्कामः) यः कामो यस्य सः । (पुने) पवित्रो भवामि । (तत्) पवित्रं कर्म । (शकेयम्) शक्नुयाम् अयं मंत्रः । श० ३ । १ । ३ । २२ -- २३ । व्याख्यातः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे पवित्रपते परात्मन् चित्पतिर्वाक्पतिः सविता देवो भवान् पवित्रेणाच्छिद्रेण विज्ञानेन सूर्यस्य रश्मिभिश्च मा मां मम चित्तं च पुनातु। मा मां मम वाचं च पुनातु। मा मां मम चक्षुश्च पुनातु। यस्य पवित्रपूतस्य कृपया यत्कामोऽहं पुने पवित्रो भवामि। यस्य ते तवोपासनया पवित्रं कर्म कर्तुं शक्नुयां तस्य सेवा कर्तुं योग्या मे कथं न भवेत् ॥ ४॥

भावार्थः—मनुष्यैर्येन वेदविज्ञात्रा पत्या परमेश्वरेण विद्यापृथिवीजलवायुसूर्य्यादयः शुद्धिकारकाः पदार्थाः प्रकाशितास्तस्योपासनापवित्रकर्मानुष्ठानाभ्यां मनुष्यैः पूर्णकामः पवित्रता च कार्य्या ॥ ४॥

पदार्थः—हे। (पवित्रपते) पवित्रता के पालन करनेहारे परमेश्वर। (चित्पतिः) विज्ञान के स्वामी। (वाक्पतिः) वाणीको निर्मल करनेहारे। (सविता) सब जगत्को उत्पन्न करनेवाले। (देवः) दिव्यस्वरूप आप। (पवित्रेण) शुद्ध करनेवाले। (अच्छिद्रेण) अविनाशिविज्ञान वा। (सूर्यस्य) सूर्य और प्रमाणके। (रश्मिभिः) प्रकाश और गत्र नागर्नेसे। (मा) मुझ और मेरे चित्तको। (पुनातु) पवित्र कीजिये। (मा) मुझ और मेरी वाणी को। (पुनातु) पवित्र) कीजिये। (मा) मुझ तथा मेरी प्रजाको। (पुनातु) पवित्र कीजिये। जिस। (पवित्रपूतस्य) शुद्ध स्वाभाविक विज्ञान आदिगुणोंसे पवित्र। (ते) आपकी कृपामें। (यत्कामः) जिस उत्तम कामनायुक्त मैं (पुने (पवित्र होता हूं। जिस (ते) आपकी उपासनासे। (तत्) उस अत्युत्तम कर्मके करनेको। (शकेयम्) समर्थ होऊं उस आपकी सेवा मुजको क्यों न करनी चाहिये ॥ ४॥

भावार्थः—मनुष्योंको उचित है कि जिस वेदके जानने वा पालन करनेवाले परमेश्वरने वेदविद्या पृथिवी,जल,वायु और सूर्य्य आदि शुद्धि करनेवाले पदार्थ प्रकाशित किये हैं उसकी उपासना तथा पवित्र कर्मों के अनुष्ठानसे मनुष्योंको पूर्ण कामना और पवित्रताको संपादन अवश्य करना चाहिये ॥ ४ ॥

आ वो देवास इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं पुरुषार्थः कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते ॥

मनुष्यों को किस २ प्रकार का पुरुषार्थ करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

आ वो॑ देवास ईमहे वा॒मम्प्र॑य॒त्य॑ध्व॒रे ॥ आ वो॑ देवास आ॒शिषो॑ य॒ज्ञिया॑सो हवामहे ॥ ५ ॥

आ । वः॒ । दे॒वा॒सः॒ । ई॒म॒हे॒ । वा॒मम् । प्र॒य॒तीति॑ प्र॒ऽय॒ति । अ॒ध्व॒रे । आ । वः॒ । दे॒वा॒सः॒ । आ॒शिष॒ इत्या॒ऽशिषः॑ । य॒ज्ञिया॑सः । ह॒वा॒म॒हे॒ ॥ ५ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् । (वः) युष्मान् । (देवासः) ये दीव्यन्ति विद्यादिगुणैः प्रकाशन्ते तत्संबुद्धौ । (ईमहे) याचामहे । ईमह इति याञ्चाकर्मसु पठितम् । निघं० ३ । १९ । (वामम्) प्रशस्तं गुणकर्मसमूहम् । वाममिति प्रशस्यनामसु पठितम् निघं० ३ । ८ । (प्रयति) प्रकृष्टं सुखमेति येन तस्मिन् । अत्र कृतो बहुलमिति करणकारके क्विप् । (अध्वरे) अहिंसनीये यज्ञे (आ) अभितः । (वः) युष्माकं सकाशात् । (देवासः) विद्वांसः । (आशिषः) इच्छाः । (यज्ञियासः) या यज्ञमर्हन्ति ताः । (हवामहे) स्वीकुर्वीमहि । लेट्प्रयोगोऽयम् । अयं मन्त्रः । श० १ । १ । ३ । २४ । व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे देवासो यथा वयं वो युष्मान् प्रत्यध्वरे वो युष्माकं वाममेमहे समन्ताद्याचामहे । हे यज्ञियासो देवासो यथाऽस्मिन् संसारे वो युष्माकं सकाशात् यज्ञिया आशिष आहवामहेऽभितः स्वीकुर्वीमहि तथैवास्मदर्थं भवद्भिः सततमनुष्ठेयम् ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमविद्वद्भ्यः प्रशस्ता विद्याः संपाद्य स्वेच्छाः पूर्णाः कृत्वैतेषां संगमेन सदैव कर्त्तव्यम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे । (देवासः) विद्यादिगुणों से प्रकाशित होनेवाले विद्वान्लोगो जैसे हमलोग । (वः) तुमको । (प्रयति) सुखयुक्त । (अध्वरे) हिंसा करने अयोग्य

यज्ञ के अनुष्ठान में । (वः) तुम्हारे । (वामम्) प्रशंसनीय गुणसमूह की । (ईमहे) अच्छेप्रकार याचना करते हैं । हे (देवासः) विद्वान्लोगो जैसे हमलोग इस संसार में आप लोगों से । (यज्ञियाः) यज्ञ को सिद्ध करने योग्य । (आशिषः) इच्छाओं को । (आवहामहे) अच्छेप्रकार स्वीकार करसकें वैसे ही हमलोगों के लिये आप लोग सदा प्रयत्न किया कीजिये ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि उत्तम विद्वानों के प्रसङ्ग से उत्तम २ विद्याओं का संपादन कर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करके इन विद्वानों का संग और सेवा सदा करना चाहिये ॥ ५ ॥

स्वाहायज्ञमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । यज्ञो देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

किंकिमर्थः स यज्ञोनुष्ठातव्यइत्युपदिश्यते ॥

किस २ प्रयोजन के लिये इस यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

स्वाहा यज्ञम्मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात् ॥ स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याः स्वाहा वातादारभे स्वाहा ॥ ६ ॥

स्वाहा । यज्ञम् । मनसः । स्वाहा । उरोः । अन्तरिक्षात् । स्वाहा । द्यावापृथिवीभ्याम् । स्वाहा । वातात् । आ । रभे । स्वाहा ॥ ६ ॥

पदार्थः—(स्वाहा) सत्यलक्षणया वेदस्थया वाचा । (यज्ञम्) क्रियाजन्यम् । (मनसः) विज्ञानात् । (स्वाहा) सुशिक्षितया वाचा । (उरोः) बहुनः । अत्र लिङ्गव्यत्ययेन पुँस्त्वम् । (अन्तरिक्षात्) सूर्यपृथिव्योर्मध्ये वर्त्तमानादाकाशात् । (स्वाहा) विद्याप्रकाशिकया वाराया । (द्यावापृथिवीभ्याम्) प्रकाशभूम्योः शुद्धये । (स्वाहा) सत्यप्रियत्वादिगुणविशिष्टया वाचा । (वातात्) वायोः । (आ) समन्तात् । (रभे) कुर्वे । (स्वाहा) सुहु जुहोति गृह्णाति दृदाति यया क्रियया तया । अयं मंत्रः । श० ३ । १ । ३ । २५—२८ व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाहं स्वाहा वेदोक्तया स्वाहा सुशिक्षितया स्वाहा विद्याप्रकाशिकया स्वाहा सत्यप्रियत्वादिगुणयुक्तया वाचा स्वाहा सुष्ठुक्रियया चोरोर्मनसोऽन्तरिक्षाद्वाताद् द्यावापृथिवीभ्यां यज्ञमारभे नित्यं कुर्वे तथा भवन्तोऽप्यारभन्ताम् ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः ॥ मनुष्यैर्वेदरीत्या यो मनोवचनकर्मभिरनुष्ठितो यज्ञो भवति सोऽन्तरिक्षादिभ्यो वायुशुद्धिद्वारा प्रकाशपृथिव्योः पवित्रतां संपाद्य सर्वान्सुखयतीति ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यलोगो जैसे मैं। (स्वाहा) वेदोक्त (स्वाहा) उत्तम शिक्षासहित। (स्वाहा) विद्याओं का प्रकाश। (स्वाहा) सत्य और सब जीवों के कल्याण करने हारी वाणी और (स्वाहा) अच्छेप्रकार प्रयोग की हुई उत्तम क्रिया से। (उरोः) बहुत। (अन्तरिक्षात्) आकाश और (वातात्) वायु की शुद्धि कर के। (द्यावापृथिवीभ्याम्) शुद्ध प्रकाश और भूमिस्थ पदार्थ। (मनसः) विज्ञान और ठीक २ क्रियासे। (यज्ञम्) यज्ञको पूर्ण करने के लिये पुरुषार्थ का। (आरभे) नित्य आरम्भ करता हूं वैसे तुमलोग भी करो ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों ने जो वेद की रीति और मन वचन कर्म से अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ है वह आकाश में रहने वाले वायु आदि पदार्थों को शुद्ध करके सब को सुखी करता है ॥ ६ ॥

आकूत्यै प्रयुज इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। अग्न्यब्बृहस्पतयो देवताः। पूर्वार्धस्य पंक्तिश्छन्दः। पंचमः स्वरः। आपो देवारित्युत्तरस्यार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

किमर्थः स यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते

किस लिये उस यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये। इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है।

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये

स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा ॥ आपो देवी बृहतीर्विश्वशंभुवो द्यावापृथिवी उरोऽअन्तरिक्ष बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥ ७ ॥

आकूत्याऽइत्याऽकूत्यै। प्रयुजऽइति प्रयुजे । अग्नये । स्वाहा । मेधायै । मनसे । अग्नये । स्वाहा । दीक्षायै । तपसे । अग्नये । स्वाहा । सरस्वत्यै । पूष्णे । अग्नये । स्वाहा । आपः । देवीः । बृहतीः । विश्वशंभुवऽइति विश्वऽशंभुवः । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । उरोऽइत्युरो । अन्तरिक्ष । बृहस्पतये । हविषा । विधेम । स्वाहा ॥ ७ ॥

पदार्थः—(आकूत्यै) उत्साहाय । (प्रयुजे) या धर्मक्रिया प्रकृष्टगुणैर्युनक्ति योजयति वा तस्यै । (अग्नये) अग्निप्रदीपनाय (स्वाहा) वेदवाणीप्रचाराय । (मेधायै) प्रज्ञाजनये । (मनसे) विज्ञानवृद्धये । (अग्नये) विद्युद्विद्याग्रहणाय । (स्वाहा) परोपकारकारिकायै (दीक्षायै) धर्मनियमाचरणरीतये । (तपसे) प्रतापाय । (अग्नये) कारणरूपाय । (स्वाहा) अध्ययनाऽध्यापनविद्यायै (सरस्वत्यै) विद्यासुशिक्षासहितायै वाचे । (पूष्णे) पुष्टिकरणाय । (अग्नये) जाठराग्निशोधनाय । (स्वाहा) सत्यवाक्प्रवृतये । (आपः) प्राणा जलानि वा । (देवीः) दिव्यगुणसंपन्नाः । अत्र वा छन्दसीति जसः पूर्वसवर्णत्वम् (बृहतीः) महागुणविशिष्टाः (विश्वशंभुवः) या विश्वस्मै शं सुखं भावयन्ति ताः । (द्यावापृथिवी) भूमिप्रकाशौ । (उरो) बहुसुखप्रतिपादक (अन्तरिक्ष) अन्तरिक्षस्थो यः । (बृहस्पतये) बृहत्या वाचो बृहतामाकाशादीनां च पतिः स्वामी तस्मै जगदीश्वराय (हविषा) सामग्र्यासत्यप्रेमभावेन वा । (विधेम) विधानं कुर्याम ।

(स्वाहा) संगताम् मिर्या शोभनां स्तुतिमयुक्तां वाचम् । अयं मंत्रः । श० ३ । १ । ४ । ६—१९ । व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयमाकुत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णे बृहस्पतयेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा या बृहत्यो विश्वशंभुवो देव्य आपः स्वाहा वाक्द्यावापृथिवी उरोऽन्तरिक्षस्थे च स्तस्ता अपि स्वाहा क्रियया हविषा च शुद्धा विधेम तथा यूयमपि विधत्त ॥७॥

भावार्थः—नहि यज्ञानुष्ठानेन विनोत्साहो यथा सत्यवाक् दीक्षा तपो धर्मानुष्ठानं विद्या पुष्टिश्च संभवति । न किलैतैर्विना कश्चिदपि परमेश्वरमाराद्धुं शक्नोतीति । तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैरेतत्सर्वमनुष्ठाय सर्वानन्दः प्राप्तव्यः॥७॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे हम लोग (आकृत्यै) उत्साह । (प्रयुजे) उत्तम २ धर्मयुक्त क्रियाओं । (अग्नये) अग्नि के प्रदीपन (स्वाहा) वेदवाणी के प्रचार । (सरस्वत्यै) विज्ञानयुक्त वाणी । (पूष्णे) पुष्टि करन । (बृहस्पतये) बड़े २ अधिपतियों के होने । (अग्नये) बिजली की विद्या के ग्रहण । (स्वाहा) पढ़ने पढ़ानेसे विद्या । (मेधायै) बुद्धि की उन्नति । (मनसे) विज्ञानकी शुद्धि । (दीक्षायै) धर्मनियम और आचरणकी रीति । (तपसे) प्रताप । (अग्नये) जाठराग्नि के शोधन (स्वाहा) उत्तम स्तुतियुक्त वाणी । (बृहतीः) महागुण सहित । (विश्वशंभुवः) सब के लिये सुख उत्पन्न कराने वाले । (देवीः) दिव्यगुणसंपन्न (आपः) प्राण वा जलसे । (स्वाहा) सत्य भाषण । (द्यावापृथिवी) भूमि और प्रकाश की शुद्धि के अर्थ । (उरो) बहुत सुखसंपादक । (अन्तरिक्ष) अन्तरिक्षमें रहने वाले पदार्थों को शुद्ध और जिस । (स्वाहा) उत्तम क्रिया वा वेदवाणीसे । यज्ञ सिद्ध होता है उन सबोंको ; (हविषा) सत्य और प्रेमभावसे । (विधेम) सिद्ध करें वैसे तुम भी क्रिया करो ॥७॥

भावार्थः—यज्ञ के अनुष्ठान से बिना उत्साह शुद्धि सत्यवाणी धर्माचरण की रीति तप धर्मका अनुष्ठान और विद्या की पुष्टि का संभव नहीं होता और इनके बिना कोई भी मनुष्य परमेश्वर की आराधना करने को समर्थ नहीं हो सकता ।

इस से सब मनुष्यों को इस यज्ञ का अनुष्ठान करके सब के लिये सब आनन्द करने चाहिये ॥ ७ ॥

विश्वोदेवस्येत्यस्यात्रेय ऋषिः । ईश्वरो देवता । आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैः परमेश्वराश्रयेण किं किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ॥

मनुष्यों को परमेश्वर के आश्रय से क्या २ करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्त्तो॑ वुरीत स॒ख्यम् । विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

विश्वः । देवस्य॑ । ने॒तुः । मर्त्तः॑ । वु॒रीत॒ । स॒ख्यम् । विश्वः॑ । रा॒ये । इ॒षु॒ध्य॒ति॒ । द्यु॒म्नम् । वृ॒णी॒त॒ । पु॒ष्यसे॑ । स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

पदार्थः—(विश्वः) सर्वो जनः । (देवस्य) सर्वप्रकाशकस्य । (नेतुः) सर्वनयनकर्त्तुः परमेश्वरस्य । (मर्त्तः) मनुष्यः । मर्त्त इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं० २।३। (वुरीत) वृणीयात् । अत्र बहुलं छन्दसीति विकरणस्य लुक् । (सख्यम्) सख्युर्भावः कर्म वा । (विश्वः) अखिलः । (राये) धनप्राप्तये । (इषुध्यति) शरान्धारयेत् लेट्प्रयोगोऽयम् । (द्युम्नम्) धनम् । (वृणीत) स्वीकुर्यात् । (पुष्यसे) पुष्टो भवेः । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम् । लेट्प्रयोगोऽयम् ॥ (स्वाहा) सत्क्रियया । अयं मंत्रः । श० ३ ।१।२।१७।१८॥व्याख्यातः ॥

अन्वयः—यथा विश्वो मर्त्तो नेतुर्देवस्य जगदीश्वरस्य सख्यं वुरीत राय इषुध्यति । स द्युम्नं वृणीत तथा हे मनुष्य एतत्सर्वमनुष्ठाय स्वाहा सत्क्रियया त्वमपि पुष्यसे पुष्टो भवेः ॥ ८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः सर्वैर्मनुष्यैः परमेश्वरमुपास्य परस्परं मित्रतां कृत्वा युद्धे दुष्टान् विजित्य राजश्रियं प्राप्य सुखयितव्यम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—जैसे (विश्वः) सब । (मर्त्तः) मनुष्य । (नेतुः) सबको प्राप्त वा । (देवस्य) सबका प्रकाश करने वाले परमेश्वर के साथ । (सख्यम्) मित्रता और गुणकर्मसमूह को (वुरीत) स्वीकार । और । (राये) धन की प्राप्ति के लिये । (इषुध्यति) बाणों को धारण करे वह । (द्युम्नम्) धन को । (वृणीत) स्वीकार करे वैसे । हे मनुष्य इस सब का अनुष्ठान करके । (स्वाहा) सत् क्रियासे तू भी (पुष्यसे) पुष्ट हो ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है सब मनुष्यों को परमेश्वर की उपासना करके परस्पर मित्रपन को संपादन कर युद्ध में दुष्टों को जीत के राज्य लक्ष्मी को प्राप्त होकर सुखी रहना चाहिये ॥ ८ ॥

ऋक्सामयोरित्यस्यांगिरस ऋषिः । विद्वान् देवता । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं शिल्पसिद्धिः कर्त्तव्येत्युपदिश्यते ॥

मनुष्यों को शिल्पविद्या की सिद्धि कैसे करनी चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारंभे ते मां पातमास्य यज्ञस्योदृचः । शर्म्मासि शर्म्म मे यच्छ नमस्तेऽस्तु मा मा हिᳬसीः ॥ ९ ॥

ऋक्सामयोरित्यृक्ऽसामयोः । शिल्पे इति शिल्पे । स्थः । ते इति ते । वाम् । आ । रभे । ते इति ते । माम् । पातम् । आ । अस्य । यज्ञस्य । उदृच इत्युत्ऽऋचः । शर्म । असि । शर्म्म । मे । यच्छ । नमः । ते । अस्तु । मा । मा । हिᳬसीः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(ऋक्सामयोः) ऋक् च साम च तयोर्वेदयोः । अध्ययनानन्तरम् । (शिल्पे) मानसप्रसिद्धक्रियया सिद्धे । (स्थः) भवतः । (ते) द्वे । (वाम्) ये । (आ) समन्तात् । (रभे) आरम्भं कुर्वे । (ते) द्वे । (आ)

माम् । (पातम्) रक्षतः । अत्र व्यत्ययः । (आ) अभितः । (अस्य) वर्त्तमानस्य । (यज्ञस्य) शिल्पविद्यासिद्धस्य यज्ञस्य । (उदृचः) उत्कृष्टा अधीताः प्रत्यक्षीकृता ऋचो यस्मिँस्तस्य । (शर्म्म) सुखम् । (असि) अस्ति । (शर्म) सुखम् । (मे) मह्यम् । (यच्छ) ददाति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (नमः) अन्नम् । नम इत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २ । ७ । (ते) तुभ्यम् । (अस्तु) भवतु । (मा) निषेधार्थे । (मा) माम् । (हिंसीः) हिन्धि । अत्र लोडर्थे लुङ् । अयं मंत्रः । श० ३ । १ । ४ । ५—८ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः— हे विद्वन्नहमृक्सामयोरध्ययनानन्तरमुदृचोऽस्य यज्ञस्य संबन्धिनी वां ये शिल्पे आरभे । ये मा मां पातं रक्षतो ये यस्य तव सकाशान्मया गृह्येते ते तुभ्यं मम नमोऽस्तु त्वं मा मां शिल्पविद्यां शिक्षस्व मा हिंसीर्विचालनं मा कुर्याः । यच्छर्म्म सुखमस्ति तच्छर्म मे मह्यं यच्छ देहि ॥ ९ ॥

भावार्थः— मनुष्यैर्विदुषां सकाशाद्वेदानधीत्य शिल्पविद्यां प्राप्य हस्तक्रियाः साक्षात्कृत्य विमानयानादीनि कार्य्याणि निष्पाद्य सुखोन्नतिः कार्य्या ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् आप जो मैं (ऋक्सामयोः) ऋग्वेद और सामवेदके पढ़नेके पीछे । (उदृचः) जिसमें अच्छाप्रकार ऋचा प्रत्यक्ष की जाती है । (अस्य) इस । (यज्ञस्य) शिल्पविद्यासे सिद्ध हुए यज्ञके संबन्धी । (वाम्) वे । (शिल्पे) मन वा प्रसिद्ध क्रियासे सिद्ध की हुई कारीगरी विद्याओंको । (आरभे) आरम्भ करता हूं तथा जो । (मा) मेरी । (पातम्) रक्षा करते हैं । (ते) वे । (स्थः) हैं । उनको विद्वानोंके सकाशसे ग्रहण करता हूं । हे विद्वन् मनुष्य । (ते) उस तेरे लिये । (मे) मेरा । (नमः) अन्नादि सत्कारपूर्वक नमस्कार । (अस्तु) विदित हो तथा तुम । (मा) मुझको चलायमान मतकरो और । (यत्) जो । (शर्म) सुख । (असि) है उस । (शर्म) सुखको । (मे) मेरे लिये । (यच्छ) देओ ॥ ९ ॥

भावार्थः—मनुष्योंको चाहिये कि विद्वानोंके सकाशसे वेदोंको पढ़कर शिल्पविद्या वा हस्तक्रियाको साक्षात्कारकर विमानआदि यानोंकी सिद्धिरूप कार्य्योंको सिद्ध करके सुखोंकी उन्नति करें ॥ ९ ॥

ऊर्गसीत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । यज्ञो देवता कृधीत्यन्तस्य निचृद्ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः । उच्छ्रयस्वेत्यस्य साम्नी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

स शिल्पविद्यो यज्ञः कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते ॥

वह शिल्पविद्या यज्ञ कैसा है इस विषयका उपदेश अगले मन्त्रमें किया है ॥

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्जं मयि धेहि ॥ सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि ॥ उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस आस्य यज्ञस्योदृचः ॥ १० ॥

ऊर्क् । असि । आङ्गिरसि । ऊर्णम्रदा इत्यूर्णऽम्रदाः । ऊर्जम् । मयि । धेहि । सोमस्य । नीविः । असि । विष्णोः । शर्म । असि । शर्म । यजमानस्य । इन्द्रस्य । योनिः । असि । सुसस्या इति सुऽसस्याः । कृषीः । कृधि । उत् । श्रयस्व । वनस्पते । ऊर्ध्वः । मा । पाहि । अंहसः । आ । अस्य । यज्ञस्य । उदृच इत्युत्ऽऋचः ॥ १० ॥

पदार्थः—(ऊर्क्) पराक्रमान्नादिप्रदा शिल्पविद्या । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (आङ्गिरसि) याऽङ्गिरोभिरग्न्यादिभिर्निष्पन्ना सिद्धा सा । उवटमहीधराभ्यामिदं निघातत्वात्संबोधनान्तं पदमशुद्धं व्याख्यातं नचैतयोः स्वरज्ञानमपि नास्त्यर्थज्ञानस्य तु का कथा । (ऊर्णम्रदाः) ऊर्णामाच्छादनं मृद्नन्ति संवेष्टयन्ति यया सा । (ऊर्जम्) पराक्रमान्नादिकं वा । (मयि) शिल्पिनि । (धेहि) दधाति । (सोमस्य)

उत्पन्नस्य पदार्थसमूहस्य । (नीविः) या नितरां व्ययति संवृणोति । नौव्योर्य-लोपः ॥ उ० ४।१४१। इत्यौणादिकसूत्रेण व्येञ्संवरण इत्यस्मादिण् प्रत्ययः स च डित् डित्वादाकारलोपः । यलोपस्तु सूत्रेणैव पूर्वपदस्य च दीर्घत्वम् । (असि) अस्ति । (विष्णोः) शिल्पविद्याव्यापकस्य विदुषः सकाशात् प्राप्यम् । (शर्म) सुखम् । (असि) अस्ति । (शर्म) सुखम् । (यजमानस्य) शिल्पक्रियाविदः । (इन्द्रस्य) परमैश्वर्येण युक्तस्य योजकस्य वा । (योनिः) निमित्तम् । (असि) भवति । (सुसस्याः) शोभनानि सस्यानि धान्यादीनि याभ्यस्ताः । (कृषीः) कर्षन्ति विलिखन्ति याभिः क्रियाभिस्ताः । अत्र । कः करत् करति० अ० ८।३।५०। इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । (कृधि) कुरु कारय वा । (उत्) उत्कृष्टार्थे । (श्रयस्व) सेवस्व सेवते वा । (वनस्पते) वनानां विद्याप्रकाशकानां पतिः पालयिता तत्सम्बुद्धौ । वृक्षावयवो वा । (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्वं स्थित ऊर्ध्वं स्थापितो वा । (मा) माम् । (पाहि) रक्ष रक्षति वा । (अंहसः) पापात्तत्फलाद् दुःखाद्वा । (आ) समन्तात् । (अस्य) प्रत्यक्षमनुष्ठीयमानस्य । (यज्ञस्य) शिल्पविद्यामयस्य । (उदृचः) उक्तार्थस्य । अयं मंत्रः । शत० ३।२।५।१४ — १५। व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः— हे वनस्पते विद्वंस्त्वं यांगिरस्यूर्णम्रदा ऊर्क् शिल्पविद्यास्ति योऽर्जे दधाति या सोमस्य नीविरस्ति या विष्णोर्यजमानस्येन्द्रस्य योनिरस्ति । याऽस्योदृचो विष्णोर्यज्ञस्य शर्म सुखकारिकास्ति तामाधेहि । सुसस्याः कृषीस्कृधिकुरुकारयवोर्ध्वं पापुरुत्थयस्व सुसस्याः कृषीश्चांहसो मां पाहि विमानादिषु यानेषु यो वनस्पतिर्ऊर्ध्वं स्थाप्यते तमप्युच्छ्रयस्व ॥ १० ॥

भावार्थः— मनुष्यैर्विद्वद्भ्यः शिल्पविद्यां साक्षात्कृत्यैतां प्रचार्य सर्वे मनुष्याः समृद्धाः कार्याः ॥ १० ॥

पदार्थः— हे (वनस्पते) प्रकाशनीय विद्याओंका प्रचार करनेवाले विद्वान् मनुष्य तू जो । (आङ्गिरसि) आग्नि आदि पदार्थोंसे सिद्ध की हुई । (ऊर्णम्रदाः) आच्छादनका प्रकाश वा । (ऊर्क्) पराक्रम तथा अन्नादिको करनेवाली शिल्पविद्या । (असि) है अथवा जो । (ऊर्जम्) पराक्रम वा अन्न आदिको धारण करनी (असि)

है जो । (सोमस्य) उत्पन्न पदार्थसमूहका । (नीवि) संवरण करनेवाली । (असि) है जो । (विष्णोः) शिल्पविद्यामें व्यापक बुद्धि । (यजमानस्य) शिल्पक्रियाको जनानेवाली । (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त मनुष्यका । (योनिः) निमित्त । (असि) है । जो । (अस्य) इस । (उद्दचः) ऋचाओंके प्रत्यक्ष करने वाले (यज्ञस्य) शिल्पक्रियासाध्य यज्ञका । (शर्म) सुख करानेवाली । (असि) है उसको । (मयि) शिल्पविद्याको जाननेकी इच्छा करनेवाले मुझमें । (आधेहि) अच्छेप्रकार धारणकर । (सुसस्याः) उत्तम २ धान्य उत्पन्न करने वा । (कृषीः) खेती वा खेंचनेवाली क्रियाओंको । (कृधि) सिद्धकर । (ऊर्ध्वः) ऊपरस्थित होनेवाला । (मा) मुझको (उच्छ्रयस्व) उत्तम धान्यवाली खेतीका सेवन कराओ और । (अंहसः) पाप वा दुःखोंसे । (पाहि) रक्षाकर जो विमानआदि यानों और यज्ञमें । (वनस्पते) वृक्षकी शाखा ऊंची स्थापन की जाती है उसको भी । (उच्छ्रयस्व) उपयोगमें लाओ ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को विद्वानोंके सकाशसे साक्षात्कार और प्रचार करके सब मनुष्योंको समृद्धियुक्त करना चाहिये ॥ १० ॥

व्रतं कृणुतेत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । अग्निर्देवता । पूर्वस्य स्वराड् ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः । ये देवा इत्युत्तरस्यार्च्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथानेकार्थमग्निं विज्ञाय किं किमुपकारो ग्राह्य इत्युपदिश्यते॥

अब अनेक अर्थवाले अग्निको जानकर उससे क्या २ उपकार लेना चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः ॥ दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वशे । ये देवा मनो-

जाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्तेनोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा॥ ११॥

व्रतम्। कृणुत। अग्निः। ब्रह्म। अग्निः। यज्ञः। वनस्पतिः। यज्ञियः। दैवीम्। धियम्। मनामहे। सुमृडीकामिति सुऽमृडीकाम्। अभिष्टये। वर्चोधामिति वर्चःऽधाम्। यज्ञवाहसमिति यज्ञऽवाहसम्। सुतीर्थेति सुऽतीर्था। नः। असत्। वशे। ये। देवाः। मनोजाता इति मनःऽजाताः। मनोयुज इति मनःऽयुजः। दक्षक्रतव इति दक्षऽक्रतवः। ते। नः। अवन्तु। ते। नः। पान्तु। तेभ्यः। स्वाहा॥ ११॥

पदार्थः—(व्रतम्) नियमपूर्वकं धर्म्मानुचरणम्। (कृणुत) स्वीकुरुत। (अग्निः) वाचकः। (ब्रह्म) सच्चिदानन्दलक्षणं चेतनं वाच्यम्। (अग्निः) अभिधायकः। (यज्ञः) अभिधेयः। (वनस्पतिः) वनानां पालयिताग्निसंज्ञकः। (यज्ञियः) यो यज्ञमर्हति। (दैवीम्) दिव्यगुणसंपन्नाम्। (धियम्) प्रज्ञां क्रियां वा। (मनामहे) विजानीयाम। याचेमहि। मनामह इति याच्ञाकर्मसु पठितम्। निघं० ३।१९। (सुमृडीकाम्) सुष्ठु मृडन्ति सुखयन्ति यया ताम्। अत्र। मृडः कीकन्कङ्कणौ। उ० ४।२५। अनेन मृडीकेति सिद्धम्। (अभिष्टये) इष्टसिद्धये। अत्र। एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम्। अ० ६।१।९४। अनेन वार्तिकेन पररूपादस्य सिद्धिः। (वर्चोधाम्) या वर्चो विद्यादीप्तिं दधाति ताम्। (यज्ञवाहसम्) या यज्ञं परमेश्वरोपासनं शिल्पविद्यासिद्धं वा वहति प्रापयति ताम्। (सुतीर्था) शोभनानि तीर्थानि वेदाध्ययनधर्माचरणादीन्याचरितानि यया सा (नः) अस्मदर्थम्। (असत्) भवेत्। लट् प्रयोगोऽयम्। (वशे) प्रकाशन्ते यस्मिंस्तस्मिन्। अत्र बाहुलकादौणादिकोऽन् प्रत्ययः। (ये) वक्ष्यमाणाः। (देवाः) विद्वांसः। (मनोजाताः) ये मनसा विज्ञानेन जायन्ते ते। (मनोयुजः) ये मनसः सदसद्विज्ञानेन युञ्जन्ति योजयन्ति वा ते।

(दक्षक्रतवः दक्षाः शरीरात्मबलानि क्रतवः प्रज्ञाः कर्माणि वा येषां ते । दक्ष इति बलनामसु पठितम् । निघं० २।६। (ते) उक्ताः । (नः) अस्मान् । (अवन्तु) विद्यासत्क्रियासुशिक्षादिषु प्रवेशयन्तु । (ते) आप्ताः । (नः) अस्मान् । (पान्तु) सततं रक्षन्तु । (तेभ्यः) पूर्वोक्तेभ्यः । (स्वाहा) येभ्यो विद्यावाक् प्राप्ता भवति । अयं मन्त्रः । श० ३।७।१।१७-१८। व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अन्वयः-वयं यद्ब्रह्माग्निनामा प्रसिद्धो यज्ञोऽग्निसंज्ञो यज्ञो वनस्पतिर्यश्च यज्ञोऽग्निनामकस्तमुपास्योपकृत्याभिष्टये या सुतीर्थास्ति तां मृडीकां वर्चोधां दैवीं धियं मनामहे विजानीयाम ये दक्षक्रतवो मनोजाता मनोयुजो देवा विद्वांसो वशे वर्त्तमानाः सन्ति येभ्यः स्वाहा प्राप्ता भवति । ये नोऽस्मदर्थं धियं प्रकाशयन्ति तेभ्यः पूर्वोक्तामेतां धियं मनामहे याचामहे ते नोऽस्मानवन्तु । ते नोऽस्मान्सततं पान्तु ॥ ११ ॥

भावार्थः-मनुष्यैर्यस्याग्निसंज्ञा तद्ब्रह्मविज्ञायोपास्य सुप्रज्ञा प्राप्तव्या । विद्वांसो यथा शिल्पयज्ञान संप्रानुवन्ति तेषां सगमन विद्या प्राप्य स्वतंत्रे व्यवहारे सदा स्थातव्यम् । नहि प्रज्ञया विना कश्चित्सुखमेधते तस्मात्सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो ब्रह्मविद्याग्नि बुद्धि च दत्त्वैते सततं रक्षया रक्षिताश्चैते परमेश्वरस्य धार्मिकाणां विदुषां च प्रियाणि कर्माणि नित्यमाचरेयुः ॥ ११ ॥

पदार्थः-हमलोग जो । (ब्रह्म) ब्रह्मपदवाच्य । (अग्निः) अग्निनाम से प्रसिद्ध । (असत्) है जो । (यज्ञः) अग्निसंज्ञक और जो । (वनस्पतिः) वनोंका पालन करनेवाला यज्ञ । (अग्निः) अग्निनामक है उसकी उपासनाकर वा उससे उपकार लेकर । (अभिष्टये) इष्टसिद्धि के लिये जो (सुतीर्था) जिससे अत्युत्तम दुःखोंसे तरनेवाले वेदाध्ययनादि तीर्थ प्राप्त होते हैं उस (मृडीकाम्) उत्तम सुखयुक्त । (वर्चोधाम) विद्या वा दीप्तिको धारण करने तथा । (दैवीम्) दिव्यगुण-

संपन्न । (धियम्) बुद्धि वा क्रिया को । (मनामहे) जानें । (ये) जो । (दक्षक्रतवः) शरीर आत्मा के बल प्रजा वा कर्म से युक्त । (मनोजाताः) विज्ञान से उत्पन्नहुए । (मनोयुजः) सत् असत्के ज्ञानसे युक्त । (देवाः) विद्वान्लोग । (वशे) प्रकाश-युक्त कर्ममें वर्त्तमान हैं वा जिनसे । (स्वाहा) विद्यायुक्त वाणी प्राप्त होती है । (ते भ्यः) उनसे पूर्वोक्त प्रज्ञाकी । (मनामहे) याचना करते हैं । (ते) वे । (नः) हमलोगोंको । (अवन्तु) विद्या उत्तम क्रिया तथा शिक्षा आदिकोंमें प्रवेश और । (नः) हमलोगोंकी निरन्तर । (पान्तु) रक्षा करें ॥ ११ ॥

भावार्थः—मनुष्योंको जिसकी अग्निसंज्ञा है उस ब्रह्मको जान और उस की उपासना करके उत्तम बुद्धिको प्राप्त करना चाहिये । विद्वान्लोग जिस बुद्धिसे यज्ञ को सिद्ध करते हैं उसमें शिल्पविद्याकारक यज्ञोंको सिद्ध करके विद्वानोंके संगसे विद्या को प्राप्त होके स्वतंत्र व्यवहारमें सदा रहना चाहिये । क्योंकि बुद्धिके विना कोई भी मनुष्य सुखको नहीं बढ़ा सकता । इस से विद्वान मनुष्योंको उचित है कि, सब मनुष्यों के लिये ब्रह्मविद्या और पदार्थविद्याकी बुद्धिकी शिक्षा करके निरन्तर रक्षा करें । और वे रक्षा को प्राप्त हुए मनुष्य परमेश्वर वा विद्वानोंके उत्तम २ प्रिय कर्मोंका आचरण किया करें ॥ ११ ॥

श्वात्रा इत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । आपो देवताः । आर्च्युनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

एतदनुष्ठायाग्रे मनुष्यैः किं किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ॥

इसका अनुष्ठान करके आगे मनुष्योंको क्या २ करना चाहिये इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः ॥ ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः ॥ १२ ॥

श्वात्राः । पीताः । भवत । यूयम् । आपः । अस्माकम् । अन्तः । उदरे । सुशेवा इति सुऽशेवाः । ताः । अस्मभ्यम् । अयक्ष्माः । अनमीवाः । अनागसः । स्वदन्तु । देवीः । अमृताः । ऋतवृध इत्यृतऽवृधः ॥ १२ ॥

पदार्थः—(स्वात्राः) स्वात्रं प्रशस्तं विज्ञानं धनं वा विद्यते यासां ताः । अत्र । अर्श आदिभ्योऽच् ॥ अ० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थीयोऽच् । स्वात्रमिति पदनामसु पठितम् । निघं० ४ । २ । धननामसु च निघं० २ । १० । (पीताः) कृतपानाः । (भवत) नित्यं संपद्येरन् । (यूयम्) युताः । (आपः) प्राणा जलादयो वा । (अस्माकम्) मनुष्याणाम् । (अन्तः) मध्ये । (उदरे) शरीराभ्यन्तरे । (सुशेवाः) सुष्ठु शेवं सुखं याभ्यस्ताः शेवमिति सुखनामसु पठितम् । निघं० ३ । ६ । (अस्मभ्यम्) मनुष्यादिभ्यः । (अयक्ष्माः) अविद्यमानो यक्ष्मा क्षयरोगो याभ्यस्ताः । (अनमीवाः) अविद्यमानोऽमीवा ज्वरादिरोगसमूहो याभ्यस्ताः (अनागसः) न विद्यतेऽगः पापं दोषो यासु ता निर्दोषाः । (स्वदन्तु) सुष्ठु सेवन्ताम् । (देवीः) दिव्यगुणसंपन्नाः । अत्र वा च्छन्दसीति जसः पूर्वसवर्णत्वम् । (अमृताः) नाशरहिता अमृतरसाः । (ऋतावृधः) या ऋतं सत्यं वर्धयन्ति ताः ॥ अयं मंत्रः । श० ३ । २ । १ । १९ । व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः— हे मनुष्या या अस्माभिः पीता अस्माकमुदरे स्थिता अस्मभ्यं स्वात्राः सुशेवा अयक्ष्मा अनमीवा अनागस ऋतावृधोऽमृता देव्य आपो भवन्ति ता भवन्तः स्वदन्तु सुसेवन्ताम् । तदेतदनुष्ठाय यूयं सुखिनो भवत ॥ १२ ॥

भावार्थः— मनुष्यैर्विद्वत्संगेन सुशिक्षया विद्यां प्राप्य सर्वथा सुपरीक्षिताः शोधिताः संस्कृताः शरीरात्मबलवर्धका रोगविच्छेदका जलादयः पदार्थाः सेवनीयाः । नहि विद्याऽऽरोग्याभ्यां विना कश्चिदपि निरन्तरं कर्म कर्त्तुं शक्नोति । तस्मादेतत्सर्वं सदाऽनुष्ठेयम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जो हमने । (पीताः) पिये । (अस्माकम्) मनुष्योंके । (अन्तः) मध्य वा । (उदरे) शरीरके भीतर स्थित हुए । (अस्मभ्यम्) मनुष्यादिकोंके लिये । (सुशेवाः) उत्तम सुखयुक्त । (अनमीवाः) ज्वरादिरोगसमूहसे रहित नाश । (अयक्ष्माः) क्षयी आदि रोगकारक दोषोंसे रहित । (अनागसः)

पाप दोष निमित्तोंसे पृथक् । (ऋतावृधः) सत्यको बढ़ाने वा । (अमृताः) नाशरहित अमृतरसयुक्त । (देवीः) दिव्यगुणसंपन्न । (आपः) प्राण वा जल हैं । (ताः) उन को आपलोग । (स्वदन्तु) अच्छेप्रकार सेवन किया करो । इस का अनुष्ठान करके । (यूयम्) तुम सब मनुष्य सुखों को भोगनेवाले । भवत) नित्य हों ॥ १२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को विद्वानोंके संग वा उत्तम शिक्षा से विद्याको प्राप्त होकर अच्छे प्रकार परीक्षित शुद्ध किये हुए शरीर आत्मा के बलको बढ़ाने और रोगोंको दूर करनेवाले जल आदि पदार्थों का सेवन करना चाहिये क्योंकि विद्या वा आरोग्यता के बिना कोई भी मनुष्य निरन्तर कर्म करने को समर्थ नहीं होसकता । इससे इस कार्य्यका सर्वदा अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १२ ॥

इयन्त इत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । आपो देवताः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

पुनस्ता आपः कीदृशः सन्तीत्युपदिश्यते ॥

फिर वे जल कैसे है इस विषय का उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

इयं ते॑ य॒ज्ञिया॑ त॒नूर॒पो मु॑ञ्चामि॒ न प्र॒जाम् ॥ अ॒ꣳहो॒मुचः॒ स्वाहा॑कृताः पृथि॒वीमावि॑शत पृथि॒व्या सम्भ॑व ॥ १३ ॥

इयम् । ते । यज्ञिया । तनूः । अपः । मुंचामि । न । प्रजामितिं प्रऽजाम् । अंहोमुच इत्यꣳहःऽमुचः । स्वाहाकृताऽइति स्वाहाऽकृताः । पृथिवीम् । आ । विशत । पृथिव्या । सम् । भव ॥ १३ ॥

पदार्थः—(इयम्) वक्ष्यमाणा । (ते) तव । (यज्ञिया) या यज्ञमर्हति सा । (तनूः) शरीरम् । (अपः) सुसंस्कृतानि जलानि । (मुञ्चामि) प्रक्षिपामि । (न) निषेधार्थे । (प्रजाम्) या प्रजायते ताम् । (अंहोमुचः) दुःखमोचयित्र्यः । (स्वाहाकृताः) याः क्रियया सुसंस्कृताः क्रियन्ते ताः । (पृथिवीम्) भूमिम् । (आ) समन्तात् । (विशत) प्रवेशं कुरुत । (पृथिव्या) भूम्यासह । (सम्) सम्यगर्थे । (भव) संपद्यस्व । अयं मंत्रः । श० ३।१।२०।२१॥ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यथा ते तव येयं यज्ञिया तनूरपः प्राणान् प्रजां पालनीयां न त्यजति त्वं न मुंचसि यथैवाहमेतां ईदृशं स्वशरीरं च न मुंचामि न परित्यजामि यथा यूयं पृथिव्या सह संभवतांहोमुचः स्वाहाकृता अपः पृथिवीं चाविशत विज्ञानेन समन्तात् प्रवेशं कुरुताहं च सम्भवाम्याविशामि तथा त्वमपि सम्भव चाविश ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । सर्वैर्मनुष्यैर्विद्यया परस्परं पदार्थान्मेलयित्वा सेवित्वा रोगरहितं शरीरमात्मानं च पालयित्वाऽनु-ष्ठितव्यम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्य जैसे । (ते) तेरा जो । (इयम्) यह । (यज्ञिया) यज्ञके योग्य । (तनूः) शरीर । (अपः) जल प्राण वा । (प्रजाम्) प्रजाकी रक्षा करता है जिस को तू नहीं छोड़ता मैं भी अपने इस शरीर को विना पूर्ण आयु भोगे प्रमादसे बीचमें । (न मुंचामि) नहीं छोड़ता हूं । हे मनुष्यो जैसे तुम । (पृथिव्या) भूमिके साथ विभवयुक्त होते । (अंहोमुचः) दुःखोंको छुड़ाने वा । (स्वाहाकृताः) वाणीसे सिद्ध किये हुए । (अपः) जल और । (पृथिवीम्) भूमिको । (आविशत) अच्छेप्रकार विज्ञानसे प्रवेश करने में इनसे ऐश्वर्यसहित और इनमें प्रविष्ट होता हूं वैसे तू भी (सम्भव) हो और प्रवेश कर ॥ १३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्यासे परस्पर पदार्थों का मेल और सेवन कर रोगरहित शरीर तथा आत्माकी रक्षा करके सुखी रहना चाहिये ॥ १३ ॥

अग्ने त्वमित्यस्याङ्गिरस ऋषयः । अग्निर्देवता । स्वराड्बाह्र्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनरग्निगुणा उपदिश्यन्ते ॥

फिर अग्निके गुणोंका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

अग्ने त्वꣳ सु जागृहि वयꣳ सु मन्दिषीमहि । रक्षाणो अप्रयुच्छन्प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥१४॥

अग्ने । त्वम् । सु । जागृहि । वयम् । सु । मन्दिषीमहि । रक्ष । नः । अप्रयुच्छन्नित्यप्रऽयुच्छन् । प्रबुधइति प्रऽबुधे । नः । पुनरिति पुनः । कृधि ॥ १४॥

पदार्थः—(अग्ने) अयमग्निः । (त्वम्) यः । (सु) श्रेष्ठार्थे । (जागृहि) जागर्त्ति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (वयम्) कर्मानुष्ठातारो नित्यं जागरिताः । (मन्दिषीमहि) शयीमहि । (रक्ष) रक्षति । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः । (नः) अस्मान् । (अप्रयुच्छन्) प्रमादमकुर्वन् । (प्रबुधे) जागरिते । (नः) अस्मान् । (पुनः) (कृधि) करोति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । अयं मंत्रः । श० ३।२।१।२२ । व्याख्यातः ॥१४॥

अन्वयः-अग्ने योऽग्निःप्रबुधे नोऽस्मान् सु जागृहि सुष्ठु जागरयति । येन वयं सुमन्दिषीमहि योऽप्रयुच्छन्नोऽस्मान् रक्षति प्रयुच्छंश्च हिनस्ति यो नोऽस्मान् पुनः पुनरेवं कृधि करोति सोऽस्माभिर्युक्त्या सम्यक्सेवनीयः ॥१४॥

भावार्थः—मनुष्यैर्योऽग्निः शयनजागरणजीवनमरणहेतुरस्ति सयुक्त्या संप्रयोक्तव्यः ॥ १४ ॥

पदार्थः—(अग्ने) जो अग्नि । (प्रबुधे) जगनेके समय । (सुजागृहि) अच्छेप्रकार जगाता वा जिससे । (वयम्) जागके कर्मानुष्ठान करनेवाले हमलोग । (सुमन्दिषीमहि) आनन्दपूर्वक सोते हैं । जो । (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होके । (नः) प्रमादरहित हमलोगोंकी । (रक्ष) रक्षा तथा प्रमादसहितोंको नष्ट करता और जो । (नः) हमलोगोंके साथ । (पुनः) बार २ इसी प्रकार । (कृधि) व्यवहार करता है उसको युक्तिके साथ सब मनुष्योंको सेवन करना चाहिये ॥ १४ ॥

भावार्थः—मनुष्योंको जो अग्नि सोने, जागने, जीने, तथा मरनेका हेतु है उसका युक्तिसे सेवन करना चाहिये ॥ १४ ॥

पुनर्मन इत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । अग्निर्देवता । भुरिग्ब्राह्मी बृहती-छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

जीवा अग्निवाय्वादिनिमित्तेन जागरणे पुनर्जन्मनि वा

प्रसिद्धानि मनआदीनीन्द्रियाणि प्राप्नुवन्तीत्युपदिश्यते ॥

जीव अग्नि वायु आदि पदार्थोंके निमित्तसे जगनेके समय वा दूसरे जन्ममें प्रसिद्ध मनआदि इन्द्रियोंको प्राप्त होते हैं इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् ॥ वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ १९॥

पुनः । मनः । पुनः । आयुः । मे । आ । अगन् । पुनरिति पुनः । प्राणः । पुनः । आत्मा । मे । आ । अगन् । पुनः । चक्षुः । पुनरिति पुनः । श्रोत्रम् । मे । आ । अगन् । वैश्वानरः । अदब्धः । तनूपा इति तनूऽपाः । अग्निः । नः । पातु । दुरितादिति दुःऽइतात् । अवद्यात् ॥ १९ ॥

पदार्थः--(जागरणे) शयनानन्तरं द्वितीये जन्मनि वा । (मनः) विज्ञानसाधकम् । (पुनः) (पश्चाज्जन्मान्तरम्) येन । (आयुः) जीवनम् । (मे) मह्यम् । (आ) समन्तात् । (अगन्) प्राप्नोति । अत्र सर्वत्र लडर्थे लुङ् । मंत्रे घस० इति च्लेर्लुक् । मोनोधातोरिति मकारस्य नकारः । (पुनः) वारंवारम् । (प्राणः) शरीरधारकः । (पुनः) पश्चात् मनुष्यदेहधारणानन्तरम् । (आत्मा) अतति सर्वत्र व्याप्नोतीति सर्वान्तर्यामी परमात्मा स्वस्वभावो वा । (मे) मह्यम् । (आ) अभितः । (अगन्) प्राप्नोति । (पुनः) पश्चात् । (चक्षुः) चष्टे येन तद्रूपग्राहकमिन्द्रियम् । (पुनः) अथ । (श्रोत्रम्) शृणोति शब्दान्येन तच्छब्दग्राहकमिन्द्रियम् । (मे) मह्यम् । (आ) आभिमुख्ये । (अगन्) प्राप्नोति । (वैश्वानरः) शरीरनेता जाठराग्निः । सर्वस्य नेता परमेश्वरो वा । (अदब्धः) हिंसितुम-

नर्हः । (तनूपाः) यः शरीरमात्मानं च रक्षति । (अग्निः) अन्तर्यामिविज्ञानस्वरूपो वा । (नः) अस्मान् । (पातु) पालयति पालयतु वा । (दुरितात पापजन्यात्प्राप्तव्याद्दुःखाद्दुष्टकर्म्मणो वा । (अवद्यात्) पापाचरणात् । अयं मंत्रः । श० ३।२।१।२३। व्याख्यातः ॥ १५ ॥

अन्वयः-यस्य संबन्धेन कृपया वा मे मनः जागरणे पुनर्जन्मनि वा मम आयुः पुनरागन् । मे मम प्राणः पुनरागन । आत्मा पुनरागन् । मे मम चक्षुः पुनरागन् । श्रोत्रं पुनरागन् । सोऽदब्धस्तनूपा वैश्वानरोऽग्निर्नोऽस्मानवद्याद्दुरितात्पातु पालयति पालयतु वा ॥ १५ ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालङ्कारः । यदा जीवाः शयनं मरणं च प्राप्नुवन्ति तदा यानि कार्यसिद्धिसाधनानि मनआदीनीन्द्रियाणि प्रलीनानीव भूत्वा पुनः पुनर्जागरणे जन्मान्तरे वा प्राप्नुवन्ति तानि यस्य विद्युदग्न्यादेः संबन्धेन परमेश्वरस्य सत्ताऽव्यवस्थाभ्यां वा सगोलकानि भूत्वा कार्यकरणसमर्थानि भवन्ति स सम्यक् सेवितो जाठराग्निः सर्वैरुपासितो जगदीश्वरः पापकर्मणः सकाशान्निवर्त्य धर्मे प्रवर्त्य पुनः पुनर्मनुष्यजन्मानि प्रापय्य दुष्टाचाराद्दुःखेभ्यश्च पृथक्कृत्याऽभ्युदयिकं नैःश्रेयसिकं च सुखं प्रापयति ॥ १५ ॥

पदार्थः— जिसके संबन्ध वा कृपासे। (मे) मुझको जो । (मनः) विज्ञानसाधक मन । (आयुः) उमर । (पुनः) फिर २। (आगन्) प्राप्त होता (मे) मुझको । (प्राणः) शरीरका आधार प्राण । (पुनः) फिर । (आगन्) प्राप्त होता । (आत्मा) सबमें व्यापक सबके भीतरकी सब बातोंको जाननेवाले परमात्मा विज्ञान । (आगन्) प्राप्त होता । (मे) मुझको । (चक्षुः) देखनेके लिये नेत्र । (पुनः) फिर । (आगन्) प्राप्त होते । और (श्रोत्रम्) शब्दको ग्रहण करनेवाले कान । (आगन्) प्राप्त होते हैं वह । (अदब्धः) हिंसा करने अयोग्य।(तनूपाः) शरीर वा आत्माकी रक्षा करने और । (वैश्वानरः) शरीरको प्राप्त होनेवाला। (अग्निः) अग्नि वा । विश्वको प्राप्त होने वाला परमेश्वर। (नः) हमलोगोंकी । (अवद्यात्) निन्दित। (दुरितात्) पाप से उत्पन्न हुए दुःख वा दुष्टकर्मोंसे । (पातु) पालन करता है ॥ १५॥

भावार्थः— इस मंत्रमें श्लेषालङ्कार है । जबजीव सोने वा मरण आदि व्यवहारको प्राप्त होते हैं तब जो २ मन आदि इन्द्रिय नाश हुए के समान होकर फिर जगने वा जन्मान्तरमें जिन कार्य्य करनेके साधनोंको प्राप्त होते हैं वे इन्द्रिय जिस बिजुली अग्नि आदिके संबन्ध परमेश्वरकी सत्ता वा व्यवस्थासे शरीरवाले होकर कार्य्य करनेको समर्थ होते हैं । मनुष्योंको योग्य है कि जो अच्छेप्रकार सेवन किया हुआ जाठराग्नि सबकी रक्षा करता और जो उपासना किया हुआ जगदीश्वर पापरूप कर्मोंसे अलग कर धर्ममें प्रवृत्तकर वारंवार मनुष्य जन्मको प्राप्त कराकर दुष्टाचार वा दुःखोंसे पृथक् करके इस लोक वा परलोकके सुखोंको प्राप्त कराता है वह क्यों न उपयुक्त और उपास्य होना चाहिये ॥ १५ ॥

त्वमग्ने व्रतपा इत्यस्य वत्स ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर वे कैसे हैं इस विषयका उपदेश अगले मंत्रमें किया है ।

त्वम॑ग्ने व्रत॒पा अ॑सि दे॒व आ मर्त्ये॒ष्वा । त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑ । रास्वेय॑त्सो॒मा भूयो॑ भर दे॒वो नः॑ सवि॒ता वसो॑र्दा॒ता वस्व॑दात् ॥ १६ ॥

त्वम् । अ॒ग्ने॒ । व्र॒त॒पा इति॑ व्रत॒ऽपाः । अ॒सि॒ । दे॒वः । आ । मर्त्ये॑षु । आ । त्वम् । य॒ज्ञेषु॑ । ईड्यः॑ । रास्व॑ । इय॑त् । सो॒म॒ । आ । भूयः॑ । भ॒र॒ । दे॒वः । नः॒ । स॒वि॒ता । वसोः॑ । दा॒ता । वसु॑ । अ॒दा॒त् ॥ १६ ॥

पदार्थः— (त्वम्) स वा । (अग्ने) जगदीश्वरोऽग्निर्वा । (व्रतपाः) यो व्रतं सत्यं धर्माचरणनियमं पाति रक्षतीति । (असि) अस्ति वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः । (देवः) दाता प्रकाशको वा । (आ) समन्तात् । (मर्त्येषु) मरणधर्मेषु मनुष्येषु कार्य्येषु वा । (आ) अभितः । (त्वम्) स वा । (यज्ञेषु) सत्कारेषूपासनादिष्वग्नि होत्रादिषु शिल्पेषु वा । (ईड्यः) स्तोतु-

मध्येषितुं वाऽर्हः। (रास्व) देहि ददाति वा। (इयत्) प्राप्नुवन्। (सोम) ऐश्वर्य्यप्रदैश्वर्य्यहेतुर्वा। (आ) अभितः। (भूयः) अतिशयेन बहुः। (भर) भरति वा। (देवः) द्योतकः। (नः) अस्मभ्यम्। सर्वस्य जगत उत्पादकः प्रेरको वा। (वसोः) धनस्य। (दाता) प्रापकः। (वसु) धनम्। (अदात्) ददाति। अयं मंत्रः। श० ३। २। १। २४। २५ व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः---- हे सोमाग्ने यस्त्वं। मर्त्येषु व्रतपाः सविता यज्ञेष्वीड्यो देवोऽसि स भवान्नोऽस्मभ्यं वसोर्दाता सन् वस्वदात् विज्ञानधनं ददाति सभूयो वस्वारास्वो यस्सँस्त्वमेवान्यस्मदर्थं माभरेत्येकः। योऽग्नेऽयमग्निर्मर्त्येषु व्रतपाः सविता यज्ञेष्वीड्योऽन्येषितव्यः सोमो देवोऽस्ति सनोऽस्मभ्यं वसोर्दातृदियत्सन् भूयः सर्वकार्य्येष्वारास्वारामते। आभराभितः सुखैर्भरति पुष्णातीति द्वितीयः ॥ १६ ॥

भावार्थः—— अत्र श्लेषालङ्कारः। सर्वैर्मनुष्यैः सत्यस्वरूपस्य पूजार्हस्य सर्वजगदुत्पादकस्य सकलसुखप्रदातुः परमेश्वरस्यैवोपासनां कृत्वा सुखयितव्यमेवं च कार्य्यसिद्धये भौतिकमग्निं संप्रयोज्य सर्वाणि सुखानि प्रापयितव्यानीति ॥ १६ ॥

पदार्थः—— हे (सोम) ऐश्वर्य्य के देने वाले। (अग्ने) जगदीश्वर। जो। (त्वम्) आप। (मर्त्येषु) मनुष्यों में। (व्रतपाः) सत्य धर्माचरण की रक्षा। (सविता) सब जगत् को उत्पन्न करने। (यज्ञेषु) सत्कार वा उपासना आदि में। (ईड्यः) स्तुति के योग्य। (नः) हम लोगों के लिये। (वसोः) धन के। (दाता) दान करने वाले। (वसु) धनको (अदात्) देते हैं। सो। (इयत्) प्राप्त करते हुए आप। (भूयः) वार वार अत्यन्त धन। (आरास्व) दीजिये। (आभर) सब सुखों से पोषण कीजिये ॥ १ ॥ (त्वम्) जो। (अग्ने) अग्नि। (मर्त्येषु) मरण धर्म वाले मनुष्यों के कार्य्योंमें। (व्रतपाः) नियमाचरण का पालन। (देवः) प्र-

काश करने । (यज्ञेषु) अग्निहोत्रादि यज्ञों में । (ईड्यः) खोजने योग्य । (सोम) ऐश्वर्य्य को देने । (सविता) जगत् को प्रेरणा करने । (देवः) प्रकाशमान अग्नि है वह । (नः) हम लोगों के लिये । (वसोः) धन को । (दाता) प्राप्त । (इषन्) कराता हुआ । (भूयः) अत्यन्त । (वसु) धन को । (अदात्) देता और । (आरम्व) धन को देने का निमित्त हो के । (आभर) सब प्रकार के सुखों को धारण करता है ॥ २ ॥ १६ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में श्लेषालङ्कार है । सब मनुष्यों को उचित है कि जैसे सत्यस्वरूप सब जगत् को उत्पन्न करने और सकल सुखों के देने वाले जगदीश्वर ही की उपासना को करके सुखी रहें इसीप्रकार कार्य्यसिद्धि के लिये अग्नि को संप्रयुक्त करके सब सुखों को प्राप्त करें ॥ १६ ॥

एषा त इत्यस्य वत्स ऋषिः अग्निर्देवता । आर्षीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः । एतामीविरवा मनुष्येण कथं भवितव्यमित्युपदिश्यते ॥

इन का सेवन करके मनुष्यों को कैसे वर्तना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

एषा ते शुक्र तनूरे॒तद्वर्च॒स्तया॒ सम्भ॑व॒ भ्राजं॑ गच्छ । जूर॑सि धृता मन॑सा॒ जुष्टा॒ विष्ण॑वे ॥ १७ ॥

एषा । ते । शुक्र । तनूः । एतत् । वर्चः । तया । सम् । भव । भ्राजम् । गच्छ । जूः । असि । धृता । मनसा । जुष्टा । विष्णवे ॥ १७ ॥

पदार्थः—(एषा) वक्ष्यमाणा । (ते) तव । (शुक्र) वीर्य्यवन् विद्वन् । (तनूः) शरीरम् । (एतत्) प्रत्यक्षम् । (वर्चः) विज्ञानं तेजो वा । (तया) तन्वा । (सम्) सम्यगर्थे । (भव) निष्पद्यस्व । (भ्राजम्) प्रकाशम् । (गच्छ) प्राप्नुहि । (जूः) ज्ञानी वेगवान् वा । (असि) भवसि । (धृता) ध्रियते यया तया । अत्र कृतोबहुलमिति क्विप् । (मनसा) विज्ञानेन । (जुष्टा) प्रीता सेविता वा । (विष्णवे) परमेश्वराय यज्ञाय वा । अयं मंत्रः । श० ३।२।३।८—११ व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे शुक्र विद्वंस्ते तव या विष्णवे तनूरस्ति या त्वयाधृता जुष्टा च तया जूः संस्त्वमेतद्वर्चः सम्भव सम्यग्भावय भ्राजं गच्छ मनसैतेन पुरुषार्थं गच्छ प्राप्नुहि ॥ १७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वराज्ञा पालनेन विज्ञानयुक्तेन मनसा शरीरात्मारोग्यं वर्धित्वा यज्ञमनुष्ठाय विज्ञानयुक्तेन मनसा सुखयितव्यम्॥१७॥

पदार्थः—हे । (शुक्र) वीर्य्यपराक्रम वाले विद्वान् मनुष्य । (ते) तेरा जो (विष्णवे) परमेश्वर वा यज्ञ के लिये तैने जिसको (धृता) धारण किया है (तया) उस से तू । (जूः) ज्ञानी वा वेग वाला होके (एतत्) इस । (वर्चः) विज्ञान और तेज युक्त (सम्भव) संयुक्त हो अच्छे प्रकार विज्ञान करने के लिये (तनूः) शरीर (असि) है उस से तू (भ्राजम्) प्रकाश को (गच्छ) प्राप्त और । (धृता) धारण किये । (मनसा) विज्ञान से पुरुषार्थ को प्राप्त हो ॥ १७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की आज्ञा का पालन करके विज्ञान युक्त मन से शरीर वा आत्मा के आरोग्यपन को बढ़ा कर यज्ञ का अनुष्ठान करके सुखी रहें ॥ १७ ॥

तस्यास्त इत्यस्य वत्स ऋषिः । वाग्विद्युतौ देवते । स्वराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः । ते वाग्विद्युतौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

वह वाणी और बिजुली कैसी है इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

तस्या॑स्ते स॒त्यस॑वसः प्रस॒वे त॒न्वो॑ य॒न्त्रम॑शीय॒ स्वाहा॑ ॥ शु॒क्रम॑सि च॒न्द्रम॑स्य॒मृत॑मसि वैश्वदे॒वम॑सि ॥ १८ ॥

तस्याः । ते । सत्यसवसइतिसत्यऽसवसः । प्रसवइतिप्रऽसवे । तन्वः । यन्त्रम् । अशीय । स्वाहा । शुक्रम् । असि । चन्द्रम् । असि । अमृतम् । असि । वैश्वदेवमितिवैश्वऽदेवम् । असि ॥ १८ ॥

पदार्थः—(तस्याः) वाचो विद्युतो वा । (ते) तव । (सत्यसवसः) सत्यं सर्वं ऐश्वर्यं जगत्कारणं वा यस्य तस्य परमात्मनः । (प्रसवे) उत्पादिते संसारे । (तन्वः) शरीरस्य । अत्र जसादिषु छन्दसि वा वचनमिति वार्तिकेनाडभावः । (यंत्रम्) यंत्रयति संकुचति चालयति विबध्नाति वा येन तत् । (अशीय) प्राप्नुयाम् । (स्वाहा) वाचं विद्युतं वा । (शुक्रम्) शुद्धम् । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (चन्द्रम्) आह्लादकारकम् । (असि) अस्ति । (वैश्वदेवम्) यद्विश्वेषां देवानां विदुषामिदं तत् । (असि) अस्ति । अयं मंत्रः । श० । ३ । २ । ३ । १२—१५ । व्याख्यातः ॥ १८ ॥

अन्वयः— हे जगदीश्वर सत्यसवसस्ते तव प्रसवे या स्वाहा वाग् विद्युच्च वर्त्तते तस्या विद्यां प्राप्य यच्छुक्रमसि यच्चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि तद्यन्त्रमहमशीय प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । मनुष्यैरीश्वरोत्पादितायामस्यां सृष्टौ विद्यया कलायंत्रसिद्धैरग्न्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सम्यगुपकारान् गृहीत्वा सर्वाणि सुखानि संपादनीयानि ॥ १८ ॥

पदार्थः— हे जगदीश्वर । (सत्यसवसः) सत्यैश्वर्ययुक्त वा जगत् के निमित्त कारण रूप । (ते) आपके । (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में आपकी कृपा से जो । (स्वाहा) वाणी वा बिजली है । (तस्या.) उन दोनों के सकाश से विद्या करके युक्त मैं जो । (शुक्रम्) शुद्ध । (असि) है । (चन्द्रम्) आल्हाद कारक । (असि) है । (अमृतम्) अमृतात्मक व्यवहार वा परमार्थ से सुखको सिद्ध करने वाला । (असि) है और । (वैश्वदेवम्) सब देव अर्थात् विद्वानोंको सुखदेने वाला । (असि) है । (तत्) उस । (यंत्रम्) संकोचन विकाशन चालन भ्रामण, करनेवाले यत्र को (अशीय) प्राप्त होऊं ॥ १८ ॥

भावार्थ:— इस मंत्र में श्लेषालङ्कार है । मनुष्यों को चाहिये कि ईश्वर की उत्पन्न की हुई इस सृष्टि में विद्या से कला यंत्रों को सिद्ध करके अग्नि आदि पदार्थों से अच्छे प्रकार पदार्थों का ग्रहण कर सब सुखों को प्राप्त करें ॥ १८ ॥

चिदसीत्यस्य वत्स ऋषिः । वाग्विद्युतौ देवते । भुरिग्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः । पुनस्ते कीदृश्यावित्युपदिश्यते ।

फिर वे वाणी और बिजली किस प्रकार की हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतःशीर्ष्णी । सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाऽध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥ १९ ॥

चित् । असि । मनाः । असि । धीः । असि । दक्षिणा । असि । क्षत्रिया । असि । यज्ञिया । असि । अदितिः । असि । उभयतःशीर्ष्णीत्युभयतःऽशीर्ष्णी । सा । नः । सुप्राचीति सुऽप्राची । सुप्रतीचीति सुऽप्रतीची । एधि । मित्रः । त्वा । पदि । बध्नीताम् । पूषा । अध्वनः । पातु । इन्द्राय । अध्यक्षायेत्यधिऽअक्षाय ॥ १९ ॥

पदार्थः— (चित्) या विद्याव्यवहारस्य चेतयमाना वाग्विद्युद्वा । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (मनाः) ज्ञानसाधिका । (असि) अस्ति । (धीः) प्रज्ञा कर्मविद्याधारिका । (असि) अस्ति । (दक्षिणा) दक्षन्ते प्राप्नुवन्ति विज्ञानं विजयं च यया सा । (असि) । अस्ति (क्षत्रिया) या क्षत्रस्यापत्यवद्वर्त्तते । (असि) अस्ति । (यज्ञिया) या यज्ञमर्हतिसा ।

(असि) अस्ति । (अदितिः) अविनाशिनी । (असि) अस्ति । (उभयतःशीर्ष्णी) उभयतः शिरोवदुत्तमा गुणा यस्यां सा । अत्र पंचम्या अलुक् । (सा) । (नः) अस्मभ्यम् । (सुप्राची) शोभनः प्राक्पूर्वः कालो यस्यां सा । (सुप्रतीची) सुष्ठु प्रत्यक् पश्चिमः कालो यस्यां सा । (एधि) भवतु । (मित्रः) सखा । (त्वा) ताम् । (पदि) पद्यते जानाति प्राप्नोति येन व्यवहारेण तस्मिन् । (अत्र कृतो बहुलमिति करणे क्विप् । (बध्नीताम्) बद्धां कुरुताम् । (पूषा) पुष्टिकर्त्ता । (अध्वनः) मार्गस्य मध्ये । (पातु) रक्षतु । (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते परमेश्वराय स्वामिने व्यवहाराय वा (अध्यक्षाय) अधिरूपरिभावेऽध्यक्षेणेक्षणाय क्षिणी वा यस्य यस्माद्वा तस्मै । अयं मंत्रः। श० ३।२।३।१६—१९। व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः— हे जगदीश्वर सत्यसवसस्ते तव प्रसवे या वाग् विद्युद्वा चिदस्ति मना अस्ति धीरस्ति दक्षिणास्ति क्षत्रियास्ति यज्ञियास्त्यु-भयतः शीर्ष्ण्यदितिरस्ति सा नोऽस्मभ्यं सुप्राची सुप्रतीच्येधि भवतु । यः पूषा मित्रः सर्वसुखो भूत्वा मनुष्यत्वाय त्वां पद्यध्यक्षायेन्द्राय बध्नीताम् । स भवानध्वनो व्यवहारपरमार्थसिद्धिकरस्य मार्गस्य मध्ये नोऽस्मान् रक्षतु पातु रक्षतु ॥ १९ ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालंकारः । (ते) (सत्यसवसः) (प्रसवे) इति पदत्रयमत्रानुवर्त्तते । या बाह्याभ्यन्तररक्षणाभ्यां सर्वोत्तमा वाग् विद्यु च वर्त्तते सैषा भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालेषु सुखकारिण्यस्तीति वेद्यम् । यः कश्चित्परमेश्वरसभाध्यक्षाभ्यां व्यवहारसिद्धिप्रीत्याज्ञापालनाय सत्यां वाचं विद्युद्विद्यां च बध्नाति स एव मनुष्यः सर्वरक्षको भवतीति ॥ १९ ॥

पदार्थः— हे जगदीश्वर ! (सत्यसवसः) सत्य ऐश्वर्य्य युक्त ! (ते) आप के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में जो । (चित्) विद्या व्यवहार को चिताने वाली (असि) है जो । (मनाः) ज्ञान साधन कराने हारी । (असि) है जो । (धीः) प्रज्ञा और कर्म को प्राप्त करने वाली । (असि) है । (दक्षिणा) विज्ञान विजय को प्राप्त करने । (क्षत्रिया) राज्य के पुत्र के समान वर्त्तने हारी ।

(असि) है । जो । (यज्ञिया) यज्ञ को कराने योग्य । (असि) है । जो । (उभयतःशीर्ष्णी) दोनों प्रकार से शिर के समान उत्तम गुण युक्त । और (अदितिः) नाश रहित वाणी वा बिजली । (असि) है वह । (नः) हम लोगों के लिये (सुप्राची) पूर्व काल और । (सुप्रतीची) पश्चिम काल में सुख देने हारी । (एधि) हो । जो । (पूषा) पुष्टि करनेहारा । (मित्रः) सब का मित्र हो कर मनुष्यपन के लिये उस वाणी और बिजली को । (पदि) प्राप्ति योग्य उत्तम व्यवहार में । (अभ्यक्षाय) अच्छे प्रकार व्यवहार को देखने । (इन्द्राय) परमैश्वर्य वाले परमात्मा अध्यक्ष और श्रेष्ठव्यवहार के लिये । (बध्नीताम्) बन्धन युक्त करे सो आप । (अध्वनः) व्यवहार और परमार्थ की सिद्धि करनेवाले मार्ग के मध्य में (नः) हमलोगों की निरन्तर । (पातु) रक्षा कीजिये ॥ १९ ॥

भावार्थः-- इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । और पूर्व मन्त्र से । (ते) (सत्यसवसः) (प्रसवे) इन तीन पदों की अनुवृत्ति भी आती है । मनुष्यों को जो बाह्य अभ्यन्तर की रक्षा करके सबसे उत्तम वाणी वा बिजली वर्त्तती है वही भूत भविष्यत् और वर्त्तमानकाल में सुखों की कराने वाली है ऐसा जानना चाहिये । जो कोई मनुष्य प्रीति से परमेश्वर सभाध्यक्ष और उत्तम कामों में आज्ञा के पालन के लिये । सत्य वाणी और उत्तम विद्या को ग्रहण करता है वही सब की रक्षा कर सकता है ॥ १९ ॥

अनुत्वेत्यस्य वत्स ऋषिः । वाग्विद्युतौ देवते । पूर्वार्द्धस्य साम्नी जगती छन्दः । निषादः स्वरः । उत्तरार्द्धस्य भुरिगार्ष्युष्णिक् छन्दः ऋषभः स्वरः । पुनस्ते कीदृश्यावित्युपदिश्यते ॥

फिर वे वाणी और बिजली कैसी हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

अनु त्वा माता मन्यतामनु पिता-ऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः ॥ सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमꣳ रुद्रस्त्वा वर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि ॥ २० ॥

अनु । त्वा । माता । मन्युताम् । अनु । पिता । अनु । भ्राता । सगर्भ्यइतिसऽगर्भ्यः । अनु । सखा । सयूथ्यइतिसऽयूथ्यः । सा । देवि । देवम् । अच्छ । इहि । इन्द्राय । सोमम् । रुद्रः । त्वा । आ । वर्त्तयतु । स्वस्ति ॥ सोमसखेति सोमऽसखा । पुनः । आ । इहि ॥ २० ॥

पदार्थः—(अनु) अन्यभावे । (माता) जननी । (मन्युताम्) विज्ञापयतु स्वीकुरुताम् । (अनु) पुनरर्थे । (पिता) जनकः । (अनु) पश्चादर्थे । अन्विति सादृश्यापरभावम् । निरु० १ । ३ । (भ्राता) बन्धुः (सगर्भ्यः) समानश्चासौ गर्भः सगर्भस्तस्मिन्भवः । अत्र । सगर्भसयूथसनुताद्यत् । अ० ४ । ४ । ११४ । इति सूत्रेण भवार्थे यत्प्रत्ययः । (अनु) आनुकूल्ये । (सखा) मित्रः । (सयूथ्यः) समानश्चासौ यूथःसमूहस्तस्मिन् भवः । पूर्वसूत्रेणास्य सिद्धिः । (सा) पूर्वोक्ता । (देवि) देदीप्यमाना । (देवम्) परमेश्वरं विद्यायुक्तं शुद्धव्यवहारं वा । (अच्छ) सम्यग्रीत्या । (इहि) जानीहि प्राप्नुहि वा । (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्तये । (सोमम्) उत्तमपदार्थसमूहम् । (रुद्रः) परमेश्वरश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षकृतब्रह्मचर्यो विद्वान् वा । (त्वा) ताम् । (आ) समन्तात् । (वर्त्तयतु) प्रवृत्तं कारयतु । (स्वस्ति) शोभनमस्ति यस्मिन् प्राप्तव्ये तत्सुखम् । स्वस्तीति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ५ । (सोमसखा) सोमः परमेश्वरः सोमविद्याविन्मनुष्यो वा सखा सुहृद्यस्य सः । (पुनः) पश्चात् । (आ) समन्तात् । (इहि) प्राप्नुहि प्राप्नोत वा । अयं मंत्रः । श० ३ । २ । ३ । २०—२१ । व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः—हे मनुष्य यथा रुद्रः परमेश्वरो विद्वान् वा वर्त्तयतु यां वाणीं विद्युतं सोमं देवं स्वस्ति सुखं यस्मा इन्द्राय वर्त्तयतु या सोमसखा देवि वाग्विद्युद्वा देवं विद्वांसमेति तथैव त्वं तस्मै पुनरच्छेहि पुनः पुनः समन्तात्सम्यक्प्रीत्या प्राप्नुहि । एतद्विद्यां ग्रहीतुं त्वां माताऽनुमन्यतां पितानुमन्यतां सगर्भ्यो भ्राताऽनुमन्यतां सयूथ्यः सखाऽनुमन्यतां त्वमेतां पुनः पुनः पुरुषार्थेनेहि प्राप्नुहि ॥ २८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । मनुष्यैः परस्परमेवं वर्त्तितव्यं यथा धर्म्मात्मा विदुषी माता धर्म्मात्मा विद्वान् पिता भ्राता मित्रादि यस्मिन् सत्ये व्यवहारे प्रवर्त्तेरंस्तथैव पुत्रादिभिरप्यनुवर्त्तितव्यम् । यथा च विद्वांसो धार्मिकाः पुत्रादयो धर्म्ये व्यवहारे प्रवर्त्तेरंस्तथैव मात्रादिभिरप्यनुष्ठातव्यमित्थं च सर्वैः परस्परं वर्त्तित्वाऽऽनन्दितव्यम् ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य जैसे (रुद्र) परमेश्वर वा ४४ चवालीस वर्ष पर्य्यन्त अखंड ब्रह्मचर्य्याश्रम सेवन से पूर्ण विद्या युक्त विद्वान् (त्वा) तुझको जिस वाणी वा बिजुली तथा (सोमम्) उत्तम पदार्थ समूह और (स्वस्ति) सुख को (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (आवर्त्तयतु) प्रवृत्त करे और जो (देवि) विद्या प्रकाश युक्त वाणी और दिव्यगुण युक्त बिजुली (देवम्) उत्तम धर्मात्मा विद्वान् को प्राप्त होती है वैसे उस को तू (पुनः) बारं (अच्छ) अच्छे प्रकार (इहि) प्राप्त हो और इसको ग्रहण करने के लिये (त्वा) तुझको (माता) उत्पन्न करने वाली जननी (अनुमन्यताम्) अनुमति अर्थात् आज्ञा देवे । इसी प्रकार (पिता) उत्पन्न करनेवाला जनक (सगर्भ्यः) तुल्य गर्भ में होने वाला (भ्राता) भाई और (सयूथ्य) समूह में रहनेवाला (सखा) मित्र

ये सब प्रसन्नता पूर्वक आज्ञा देवें । उसको । तू (पुनरेहि) अत्यन्त पुरुषार्थ करके वारंवार प्राप्त हो ॥ २० ॥

भावार्थः— इस मंत्र में वाचक लुप्तोपमालंकार है । प्रश्न । मनुष्यों को परस्पर किस प्रकार वर्त्तना चाहिये । उत्तर । जैसे धर्मात्मा विद्वान् माता पिता भाई मित्र आदि सत्यव्यवहार में प्रवृत्त हों । वैसे पुत्रादि और जैसे विद्वान् धार्मिक पुत्रादि धर्मयुक्तव्यवहार में वर्त्तें वैसे माता पिता आदिकों को भी वर्त्तना चाहिये ॥ २० ॥

वस्व्यसीत्यस्य वत्स ऋषिः । वाग्विद्युतौ देवते । विराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्ते कीदृश्यावित्युपदिश्यते ॥

फिर वह वाणी वा बिजुली किस प्रकार की है इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि । बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके ॥ २१ ॥

वस्वी । असि । अदितिः । असि । आदित्या । असि । रुद्रा । असि । चन्द्रा । असि । बृहस्पतिः । त्वा । सुम्ने । रम्णातु । रुद्रः । वसुभिरिति वसुऽभिः । आ । चके ॥ २१ ॥

पदार्थः—(वस्वी) पाऽग्न्यादिपदार्थाख्यवसुविद्यासंबन्धिनी वसुभिश्चतुर्विंशति वर्षकृतब्रह्मचर्य्यैः प्राप्ता वा (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (अदितिः) प्रकाशशक्तिरूपा । अदितिद्यौरिति प्रकाश कारकोऽ-

र्यो गृह्यते । (असि) अस्ति । (आदित्या) याऽऽदित्यवद्र्वविद्याप्रकाशिका ऽष्टचत्वारिंशत्संवत्सर पर्य्यन्तानुष्ठितब्रह्मचर्यैः स्वीकृता सा । (असि) अस्ति । (रुद्रा) सा प्राणवायुसंबन्धिनी चतुश्चत्वारिंशद्वायनांवधि सेवित ब्रह्मचर्यैः स्वीकृता सा । (असि) अस्ति । (चन्द्रा) आह्लादयित्री । (असि) अस्ति । (बृहस्पतिः) परमेश्वरो विद्वान् वा । (त्वाम्) ताम् । (सुम्ने) सुखे । (रम्णातु) रमयतु । अत्रान्तर्गतो णयर्थो विकरणव्यत्ययश्च । (रुद्रः) दुष्टानां रोदयिता विद्वान् । (वसुभिः) उषितसर्वविद्यैर्विद्वद्भिः सह । (आ) समन्तात् । (चके) कामितवान् कामयतां वा । अत्र पक्षे लोडर्थे लिट् । आचक इति कान्तिकर्मसु पठितम् । निघं० २ । ६ । अयं मंत्रः श० ३ । २ । ४ । १ । २ ॥ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् मनुष्य यथा या वर्ह्यस्यदितिरस्यसि रुद्रा स्यस्यादित्यास्यसि चन्द्रास्यसि यां बृहस्पतिः सुम्ने रमयति प्रेरयति यां रुद्रो वसुभिः सह वर्त्तमानामाचके याम् काम्ये तथा त्वा तां भवाम् रम्णातु रमयतु ॥ २१ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालंकारौ । यथा ये वाग्विद्युतौ प्राणपृथिव्यादिभिः सह वर्त्तमाने अनेकव्यवहारहेतू स्तो ये जितेन्द्रियादिधर्मपुरस्सरं यथायोग्यं कृतब्रह्मचर्यैर्मनुष्यैर्विज्ञानेन क्रियासु संप्रयोजिते सत्यौ वाग्विद्युतौ बहुसुखकारिके जायेते । एतां त्वमपि नित्यं सेवस्व ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्य जैसे जो (वर्ह्री) अग्नि आदि विद्या सम्बन्धी (जिसकी सदा २४ चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करने वालों ने कीहुई (असि) है जो । (अदितिः) प्रकाश कारक । (असि) है जो । (रुद्रा) प्राण वायु सम्बन्धवाली । और जिसको ४४ चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य करने हारे प्राप्त हुए हों वैसी (असि) है जो । (आदित्या) सूर्य्यवत् सब विद्याओं को प्रकाश करने

वाली जिसका ग्रहण ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवी मनुष्यों ने किया हो वैसी (असि) है । जो (चन्द्रा) आह्लाद करने वाली (असि) है । जिसको (बृहस्पतिः) सर्वोत्तम (रुद्रः) दुष्टों को रुलाने वाला परमेश्वर वा विद्वान् (सुम्ने) सुखमें (रमणातु) रमण युक्त करता और जिस (वसुभिः) पूर्ण विद्या युक्त मनुष्यों के साथ वर्त्तमान हुई वाणी वा बिजली को । (आचके) निर्माण वा इच्छा करता अथवा जिसकी मैं इच्छा करता हूं वैसे तू भी । (त्वा) उसको । (रमणातु) रमणयुक्त वा इसको सिद्ध करने की इच्छा कर ॥ २१ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में श्लेष और वाचक लुप्तोपमालंकार है । जैसे वाणी बिजली और प्राण पृथिवी आदि और विद्वानों के साथ वर्त्तमान हुए अनेक व्यवहार की सिद्धि के हेतु है और जिनकी सेवा जितेन्द्रियादि धर्म सेवन पूर्वक होके विद्वानों ने की हो वैसी वाणी और बिजली मनुष्यों को विज्ञान पूर्वक क्रियाओं में सम्प्रयोग की हुई बहुत सुखों को करनेवाली होती है ॥ २१ ॥

अदित्यास्त्वेत्यस्य ब्रह्म ऋषिः । वाग्विद्युतौ देवते ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

पुनस्ते कीदृश्यावित्युपदिश्यते ॥

फिर वे वाणी और बिजली कैसी हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्म्मि देवयजने पृथिव्या इडायास्पदमसि घृतवत्स्वाहा । अस्मे-

रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वरायो मे रायो मा वयꣳ रायस्पोषेण वि यौष्म तोतो रायः ॥ २२ ॥

अदित्याः । त्वा । मूर्द्धन् । आ । जिघर्मि । देवयजनइतिदेवऽयजने । पृथिव्याः । इडायाः । पदम् । असि । घृतवदितिघृतऽवत् । स्वाहा । अस्मेइत्यस्मे । रमस्व । अस्मेइत्यस्मे । ते । बन्धुः त्वेइतित्वे । रायः । मेइतिमे । रायः । मा । वयम् । रायः । पोषेण । वि । यौष्म । तोतः । रायः ॥ २२ ॥

पदार्थः— (अदित्याः) अन्तरिक्षस्य । अदितिरन्तरिक्षमोत्यस्मादुपमर्षो पृथते (त्वा) ताम् । (मूर्द्धन्) मूर्द्धनि वर्त्तमानाम् । (आ) समन्तात् । (जिघर्मि) प्रदीप्ये संचालयामि वा । (देवयजने) देवानां विदुषां संगतिकरणएतेभ्यो दाने वा । (पृथिव्याः) भूमेर्मध्ये । (इडायाः) स्तोतुमन्वेष्टुमर्हाया वेदवाण्या । इडेति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १ । ११ । (पदम्) वेदितव्यं प्रापतव्यं वा । (असि) अग्नि । (घृतवत्) घृतेन पुष्टिद्दीप्तिकारकेन तुल्या । (स्वाहा) यया क्रियया सुहुतं यजन्ति तस्याः (अस्मे) अस्मासु । (रमस्व) रमतां रमयतु वा । (अस्मे) अस्माकम् । अत्र सर्वत्र सुपां सुलुगिति शे आदेशः । (ते) तव । (बंधुः) भ्राता । (त्वयि) रायः । उक्तधनस्य । (पोषेण) पुष्यन्ति येन तेन । (वि) विगतार्थे । (यौष्म) पुक्ता भवेम । (तोतः) तुवन्ति आमन्ति प्राप्नुवन्ति हिंसन्ति वा येन सः । अत्र तु गतिवृद्धिहिंसास्विति धातोर्बाहुलकादौणादिकस्तन् प्रत्ययः । (रायः) विद्याराज्यसमृद्धयः । अयं मंत्रः । श० ३ । २ । ४ । १ । व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् मनुष्य त्वं यथा या देवयजनेऽदित्याः पृथिव्या इडायाः स्वाहाघृतवत्पदमस्यस्ति यामहं जिघर्मि त्वा तां त्वमपि जिघृहि याऽस्मे अस्मासु रमते सा युस्मास्वपि रमस्व रमतां यामहं रमयामि तां भवानपि स्वस्मिन् रमयतु। योऽस्मे अस्माकं बन्धुरस्ति स ते तवाप्यस्तु यो रायो धनसमूहस्त्वय्यस्ति स मे मय्यप्यस्तु। तोतो भवान् या रायो विद्याधनसमृद्धीः प्राप्नोति ता मे मय्यपि सन्तु या मयि वर्त्तन्तेताम्त्वे त्वय्यपि सन्त्वेता रायः समृद्धयः सन्ति ताः सर्वेषां सुखायापि संप्रयुक्ताः सन्तु यथैवं आनन्दतो निविन्वन्तोऽनुतिष्ठन्तो यूयं वयंच रायस्पोषेण कदाचिन्मा वियौष्म कदाचिद्वियुक्ता मा भवेम नचैव सर्वे भवन्तु ॥ २२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। मनुष्यैर्या सत्य विद्याधर्मसंस्कृता वाग् विद्याक्रियाभ्यां संप्रयुक्ता विद्युदादिविद्यास्ति सा सर्वेभ्य उपदिश्य संप्राप्य सुखदुःखव्यवस्थायां समानां विदित्वा सर्वमैश्वर्यं परोपकारे संयोज्य सदा सुखयितव्यम्। नैतं कदाचिद्व्यवहारः कर्त्तव्यो येन स्वस्यान्यस्यवैश्वर्यं ह्रासः कदाचिद्भवेदिति ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् मनुष्य तू जैसे (देवयजने) विद्वानों के यजन वा दान में इस। (अदित्याः) अन्तरिक्ष। (पृथिव्याः) भूमि। और। (इडायाः) वाणी का। (स्वाहा) अच्छे प्रकार यज्ञ करने वाली क्रिया के मध्य जो। (मूर्द्धन्) सबके ऊपर वर्त्तमान। (घृतवत्) पुष्टि करनेवाले घृतके तुल्य। (पदम्) जानने वा प्राप्त होने योग्य पदार्थ। (असि) है वा जिसको मैं। (जिघर्मि) प्रदीप्त करता हूं वैसे। (त्वा) उसको प्रदीप्त कर और जो। (अस्मे) हमलोगों में विभूति रमण करती है वह तुमलोगों में भी। (रमस्व) रमण करे जिस को मैं रमण कराता हूं उस को तू भी। (रमस्व) रमण करा जो। (अस्मे) हम लोगों का। (बन्धुः) भाई है वह। (ते) तेरा भी हो जो। (रायः) विद्यादि धन समूह। (त्वे) तुझमें है वह। (मे) मुझमें भी हो जो। (तोत) जानने प्राप्त करने योग्य। (रायः) विद्या धन मुझ में है सो तुझ मेंभी हो

(रायः) तुम्हारी और हमारी समृद्धि हैं वे सब के सुख के लिये हों इसप्रकार जानते निश्चय करते वा अनुष्ठान करते हुए तुम हम और सबलोग । (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि से कभी । (माबियौष्म) अलग न होवें ॥ २२ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचक लुप्तोपमालंकार है । मनुष्यों को सत्य विद्या धर्म से संस्कार की हुई वाणी वा शिल्प विद्या से संप्रयोग की हुई बिजुली आदि विद्या को सब मनुष्यों के लिये उपदेश वा ग्रहण और सुख दुःख की व्यवस्था को भी तुल्य ही जान के सब ऐश्वर्य्य को परोपकार में संयुक्त करना चाहिये और किसी मनुष्य को इस प्रकार का व्यवहार कभी न करना चाहिये कि जिससे किसी की विद्या धन आदि ऐश्वर्य की हानि होवे ॥ २२ ॥

समख्ये इत्यस्य वत्स ऋषिः । वाग्विद्युतौ देवते । आस्तारपंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

एतयोः कथमुपयोगः कार्य्य इत्युपदिश्यते ॥

इन दोनों का किस प्रकार उपयोग करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

समख्ये देव्या धिया सन्दक्षिणयोरुचक्षसा मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहन्तव वीरं विदेय तव देवि संदृशि ॥ २३ ॥

सम् । अख्ये । देव्या । धिया । सम् । दक्षिणया । उरुचक्षसेत्युरुऽचक्षसा । मा । मे । आयुः । प्र । मोषीः । मोऽइतिमो । अहम् । तव । वीरम् । विदेय । तव । देवि । संदृशीति सम्ऽदृशि ॥ २३ ॥

पदार्थः—(सम्) सम्यगर्थे । (अख्ये) प्रकथयामि । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदं लडर्थे लुङ् च । (देव्या) देदीप्यमानया । (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा । (सम्) एकीभावे । (दक्षिणया) ज्ञानसाधिकयाऽज्ञाननाशिकया च । (उरुचक्षसा) उरु बहु चक्षो व्यक्तं वचनं दर्शनं वा यस्यास्तया । (मा) निषेधे । (मे) मम । (आयुः) जीवनम् । (प्र) क्रियायोगे । (मोषीः) मुष्णीयात्खण्डयेत् । अत्र लिङर्थे लुङ् । (मो) निवारणे । (अहम्) मन्त्रोऽयं मन्तुः । (तव) सर्वसुहृदः । (वीरम्) विक्रान्तं जनम् । (विदेय) अन्यायेन विन्देय । अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति नुमभावः । अत्रार्वैयाकरणेन महीधरेण भ्रान्त्या विद्लृलाभ इत्यस्य व्यत्ययेन तुदादिभ्यः शप्रत्ययेन लिङि रूपमित्यशुद्धं व्याख्यातम् । कुतः । विद्लृधातोः स्वत एव तुदादित्वं वर्त्तते । (तव) तस्याः । (देवि) दिव्य गुणविराजमानायाः । अत्रार्थाद्विभक्तिविपरिणाम इति विभक्तिविपरिणामः । (संदृशि) समीचीन दृग्दर्शनं यस्मिन् व्यवहारे तस्मिन् । अयं मंत्र । श० । ३ । २ । ४ । २२ । व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्मनुष्य यथाहं दक्षिणयोरुचक्षसा देव्याधिया तव देवि तस्या दिव्यगुणविराजमानाया वाचो विदुतो वा संदृशि जीवनं समख्ये सा मे ममायुर्मा प्रमोषीः खण्डनं न कुर्यादहमेतां समख्ये मन्युतां कुर्य्यामन्यायेन तव वीरं मा संविदेय तथैव त्वमेतत्सर्वमाचर्य्यान्यायेनापि मम वीरं च मा संविन्दस्व ॥ २३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैः शुद्धाभ्यां कर्मप्रज्ञाभ्यां वाग्विशुद्धियां संपाद्य जीवनं वर्द्धित्वा विद्यादिसद्गुणेषु वीरान्संपाद्य सदा सुखयितव्यम् ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्य जैसे। (अहम्) मैं। (वयिणया) ज्ञान साधक अज्ञाननाशक। (उरुचक्षसा) बहुत प्रकट वचन वा दर्शन युक्त। (देव्या) हे-दीप्यमान। (धिया) प्रज्ञा वा कर्म से। (तव) उस। (देवि) सर्वोत्कृष्ट गुणों से युक्त वाणी वा बिजली के। (संदृशि) अच्छे प्रकार देखने योग्य व्यवहार में जीवन को। (समस्ये) कथन से प्रकट करता हूं वह (मे) मेरे। (आयुः जीवन) को। (माप्रमोषीः) नाश न करे उस को मैं अविद्या से (मो) नष्ट न करूं। (तव) हे सब के मित्र अन्याय से आप के। (वीरम्) शूरवीर को। (मामविदय) प्राप्त न होऊं वैसे ही तू भी पूर्वोक्त सब करके अन्याय से मेरे शूरवीरों को प्राप्त मत हो॥२३॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। मनुष्यों को योग्य है कि शुद्ध कर्म वा प्रज्ञा से वाणी वा बिजली की विद्या को ग्रहण उमर को बढ़ा और विद्यादि उत्तम२ गुणों में अपने संतान और वीरों को संपादन करके सदा सुखी रहें॥ २३ ॥

एषत इत्यस्य वत्स ऋषि । यज्ञो देवता । पूर्वस्य ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादःस्वरः । अन्त्यस्य दशाक्षरस्य याजुषी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

किं प्रतिपादनाय जिज्ञासुर्विदुषः पृच्छेदित्युपदिश्यते॥

किस के प्रतिपादन के लिये ज्ञान की इच्छा करने हारा विद्वानों को पूछे इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है।

एषते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाᳪं साम्राज्यङ्गच्छेति

मे सोमाय ब्रूतात् ॥ आस्माकोऽसि शुक्रस्ते गृह्यो विचितस्त्वा वि चिन्वन्तु ॥ २४ ॥

एषः । ते । गायत्रः । भागः । इति । मे । सोमाय । ब्रूतात् । एषः । ते । त्रैष्टुभः । त्रैस्तुभ इति त्रैऽस्तुभः । भागः । इति । मे । सोमाय । ब्रूतात् । एषः । ते । जागतः । भागः । इति । मे । सोमाय । ब्रूतात् । छन्दोनामानामिति छन्दःऽनामानाम् । साम्राज्यमिति साम्ऽराज्यम् । गच्छ । इति । मे । सोमाय । ब्रूतात् । आस्माकः । असि । शुक्रः । ते । गृह्यः । विचित इति विऽचितः । त्वा । वि । चिन्वन्तु ॥ २४ ॥

पदार्थः—(एषः) प्रत्यक्षः । (ते) तव । (गायत्रः) गायत्रीप्रगाथो-ऽस्य सः । सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु ॥ अ० ४ । २ । ५५ । अनेन प्रगाथविषये प्रत्ययः । (भागः) सेवनीयः । (इति) प्रकारार्थे । (मे) मह्यम् । (सोमाय) पदार्थविद्या संपादकाय (ब्रूतात्) ब्रवीतु । (एषः) यो विज्ञातुं योग्यः सः । (ते) तव । (त्रैष्टुभः) त्रिष्टुप्प्रगाथोऽस्य सः ।

(भागः) अंशः । (इति) प्रकारे । (मे) मह्यम् । (सोमाय) उत्तमरसंपादकाय । (ब्रूतात्) ब्रवीतु । (एषः) योक्तुमर्हः । (ते) तव । (आगतः) जगतीप्रगाथोऽस्य सः । (भागः) स्वीकर्त्तुमर्हः । (इति) प्रकारार्थे (मे) मह्यम् । (सोमाय) पदार्थविद्यास्वीकारकाय । (ब्रूतात्) उपदिशतु । (छन्दोनामानाम्) यानि छन्दसामुष्णिगादीनां नामानि तेषाम् । अत्र । अनसन्तान्न० अ० ५ । ४ । १०३ । इति सूत्रेण समासान्तष्टच् प्रत्ययः । (साम्राज्यम्) सम्यग्राजन्ते प्रकाशन्ते ते सम्राजो राजानस्तेषां भावः कर्म वा तत् । (गच्छ) प्राप्नुहि प्रापय वा (इति) प्रकारे (मे) मह्यम् । (सोमाय) ऐश्वर्ययुक्ताय राज्याय । (ब्रूतात्) ब्रवीतु । (आस्माकः) योऽस्माकमयमुपदेष्टाऽधिपतिः सः । (असि) वर्त्तसे । (शुक्रः) पवित्रः पवित्रकारको वा । (ते) तव । (गृह्यः) ग्रहीतुं योग्यः । (विचितः) विविधविद्याशुभगुणधनादिभिश्चितः संयुक्तः । (त्वा) त्वां तं वा । वि विविधार्थे । (चिन्वन्तु) वर्धयन्तु । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । अयं मंत्रः । श० ३ । २ । ५ । ४-८ व्याख्यातः ॥ २४ ॥

अन्वयः— हे विद्वंस्त्वं विद्वांसं प्रति कोऽस्य यज्ञस्य गायत्रो भागोऽस्तीति पृच्छ स विद्वाँस्ते तस्यैषोयमस्तीति मे मह्यं सोमायैतं ब्रूताद्ब्रवीतूपदिशतु । कोऽस्य यज्ञस्य त्रैष्टुभो भागोऽस्तीति त्वं पृच्छ सते तस्यैषोऽयमस्तीति सर्वमेतत् खल्वेतं मे मह्यं सोमाय ब्रूतात् । कोऽस्य यज्ञस्य जागतो भागोऽस्तीति त्वं पृच्छ स ते तस्यैषोऽयमस्तीति प्रसिद्धमेतं सोमाय मे मह्यं ब्रूतात् । यथा भवांश्छन्दोनामानामुष्णिगादीनां छन्दसां मध्ये प्रतिपादितस्य यज्ञस्योपदेशे साम्राज्यं गच्छतु तथैवैतेशमेनं सोमाय मे मह्यं ब्रूतात् । यतस्त्वमास्माकः शुक्रोऽसि तस्मात्ते तवाहं विचितो गृह्योस्मि-

त्वं मां सर्वैरेतैर्विचिनुहि । अहं त्वं विचिनोम्येव सोऽपि सर्वे त्वामेतं यज्ञं मां च विचिन्वन्तु वर्धयन्तु ॥ २४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । मनुष्या विद्वद्भ्यः पृष्ट्वा सर्वा विद्याः संगृह्णीरन । विद्वांसः खल्वेताः संग्राहयन्तु । परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकभावेन वर्त्तित्वा सर्वे वृद्धिं प्राप्य चक्रवर्त्ती राज्यं सेवेरन्निति ॥ २४ ॥

पदार्थः— हे विद्वान् मनुष्य तू कौन इस यज्ञ का । (गायत्रः) वेदस्थ गायत्री छन्द युक्त मंत्रों के समूहों मे प्रतिपादित । (भागः) सेवने योग्य भाग है । (इति) इस प्रकार विद्वान् से पूछ । जैसे वह विद्वान । (ते) तुझ को उस यज्ञ का यह प्रत्यक्ष भाग है । (इति) इसी प्रकार से (सोमाय) पदार्थ विद्या संपादन करने वाले (मे) मेरे लिये । (ब्रूतात्) कहे । तू कौन इस यज्ञ का । (त्रैष्टुभः) त्रिष्टुप्छन्द से प्रतिपादित । (भागः) भाग है । (इति) इसी प्रकार विद्वान् से पूछ जैसे वह (ते) तुझको उस यज्ञ का । (एषः) यह भाग है । (इति) इसी प्रकार प्रत्यक्षता से समाधान । (सोमाय) उत्तम रस के संपादन करने वाले । (मे) मेरे लिये । (ब्रूतात्) कहे । तू कौन इस यज्ञ का । (जागतः) जगती छन्द से कथित (भागः) अंश है । (इति) इस प्रकार आप्त से पूछ जैसे वह । (ते) तुझको उस यज्ञ का । (एषः) यह प्रसिद्ध भाग है (इति) इसी प्रकार । (सोमाय) पदार्थ विद्या को संपादन करने वाले (मे) मेरे लिये उत्तर । (ब्रूतात्) कहे । जैसे आप (छन्दोनामानाम्) उष्णिक् आदि छन्दों के मध्य में कहेहुए यज्ञ के उपदेश में (साम्राज्यम्) भले प्रकार राज्य को । (गच्छ) प्राप्त हों । (इति) इसी प्रकार । (सोमाय) ऐश्वर्य युक्त । (मे) मेरे लिये सार्व भौम राज्य की प्राप्ति होने का उपाय (ब्रूतात्) कहिये और जिस कारण आप (अस्माकः) हम लोगों को । (शुक्रः) पवित्र करने वाले उपदेशक । (असि) हैं वैसे मैं । (ते) आपके । (गृह्यः) ग्रहण करने योग्य । (विचितः) उत्तम २ धनादि द्रव्य और गुणों से संयुक्त शिष्य हूँ । आप मुझ को सब गुणों से बढ़ाइये इस कारण मैं । (त्वा) आप को वृद्धि युक्त करता हूं । और सब मनुष्य । (त्वा) आप वा इस यज्ञ तथा मुझको । (विचिन्वन्तु) वृद्धियुक्त करें ॥ २४

भावार्थः— इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है मनुष्य लोग विद्वानों से पूछकर सब विद्याओं का ग्रहण करें तथा विद्वान् लोग इन विद्याओं का यथावत् ग्रहण करावें। परस्पर अनुग्रह करने वा कराने से सब वृद्धियों को प्राप्त होकर विद्या और चक्रवर्त्ति आदि राज्य का सेवन करें ॥ २४ ॥

अभित्यमित्यस्य वत्स ऋषिः। सविता देवता। पूर्वस्य विराट् ब्राह्मी जगती छन्दः। निषादः स्वरः। सुक्रतुरित्युत्तरस्य निचृदार्षी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनरीश्वरराजसभा प्रजागुणा उपदिश्यन्ते

फिर अगले मंत्र में ईश्वर राजसभा और प्रजा के गुणों का उपदेश किया है।

अभि त्यं देवꣳ स॑वि॒तार॑मो॒ण्योः क॒विक्र॑तु॒मर्चा॑मि स॒त्यस॑वꣳरत्न॒धा॒म॒भि प्रि॒यं म॒तिं क॒विम्। ऊ॒र्ध्वा यस्या॒मति॒र्भा अदि॑द्युत॒त्सवी॑मनि हि॒र॒ण्यपा॑णिरमिमीत सु॒क्रतुः॑ कृ॒पा स्वः॑। प्र॒जाभ्य॑स्त्वा प्र॒जास्त्वा॑ऽनु॒प्राण॑न्तु प्र॒जास्त्वम॑नु॒प्राणि॑हि ॥ २५ ॥

अ॒भि। त्यम्। दे॒वम्। स॒वि॒तार॑म्। ओ॒ण्योः। क॒विक्र॑तु॒मिति॑ क॒विऽक्र॑तुम्। अर्चा॑मि। स॒त्यस॑व॒मिति॑ स॒त्यऽस॑वम्। र॒त्न॒धामिति॑ रत्न॒ऽधाम्। अ॒भि। प्रि॒यम्। म॒तिम्।

कविम् । ऊर्ध्वा । यस्य । अमतिः । भाः । अदिद्युतत् । सवीमनि । हिरण्यपाणिरिति हिरण्यऽपाणिः । अमिमीत । सुक्रतुरिति सुऽक्रतुः । कृपा । स्वरिति स्वः । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः । त्वा । प्रजा इति प्रऽजाः । त्वा । अनुप्राणन्त्वित्यनुऽप्राणन्तु । प्रजाः इति प्रऽजाः । त्वम् । अनुप्राणिहीत्यनुऽप्राणिहि ॥ २५ ॥

पदार्थः—(अभि) आभिमुख्ये । (तम्) जगदीश्वरं राजसभास्थजनसमूहं वा । (देवम्) सुखदातारम् । (सवितारम्) । देवानामग्न्यादीनां रसानां वा प्रसवितारम् । (ओण्योः) द्यावापृथिव्योः । ओण्योरिति द्यावापृथिवीनामसु पठितम् । निघं० ३ । ३० । (कविक्रतुम्) कविः सर्वज्ञा सकलविद्यायुक्ता क्रतुः प्रज्ञा कर्म प्रपदर्शनं वा यस्य तम् । कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा निरु० । १२ । १३ । (अर्चामि) पूजयामि । (सत्यसवम्) सत्यं सव ऐश्वर्यं जगद्वा यस्मिन्यस्य वा तम् । (रत्नधाम्) यो रत्नानि रमणीयानि विज्ञानानि हिरण्यादीनि भुवनानि वा दधातीति तम् । (अभि) आभिमुख्ये । (प्रियम्) यः प्रीणाति तम् । (मतिम्) यो वेदादिशास्त्रैर्विद्वद्भिश्च मन्यते तम् । (कविम्) वेदविद्याया उपदेष्टारं निमित्तं वा । (ऊर्ध्वा) उत्कृष्टा । (यस्य) सच्चिदानन्दस्वरूपस्य शुभगुणयुक्तस्य वा । (अमतिः) रूपम् ।

अमतिरिति रूपनामसु पठितम् । निघं० ३।७ । (भाः) यो भाति प्रकाशते सः । (अदिद्युतत्) प्रकाशितवान् । प्रकाशयति वा । (सवीमनि) यः सूयते संसारस्तस्मिन् । (हिरण्यपाणिः) हिरण्यानि ज्योतींषि सूर्य्यादीनि सुवर्णादीनि वा पाणौ व्यवहारे यस्य सः । ज्योतिर्हि हिरण्यम् । श० । ४ । ३ । १ । २१ । इति प्रमाणेन हिरण्यशब्देन ज्योतिषो ग्रहणम् । (अमिमीत) निर्मितवान् निर्मिमीते वा । (सुक्रतुः) शोभनः क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा यस्य सः (कृपा) करुणा । (स्वः) सुखमादित्यं वा । स्वरादित्यो भवति स एतानि सारयति । निरु० ९ । ४ । (प्रजाभ्यः) उत्पन्नाभ्यः सृष्टिभ्यः । (त्वा) त्वाम् । (प्रजाः) मनुष्यादिसृष्टयः । (त्वा) त्वाम् । (अनुप्राणन्तु) आयुर्भुञ्जताम् । (प्रजाः) जगत्स्थाः (त्वम्) अयं वा । (अनुप्राणिहि) जीवतोऽनुजीवनं धर धराति वा । अयं मंत्रः । श० ३ । २ । ४ । १७—१९ । व्याख्यातः ॥ २५ ॥

अन्वयः— हे परात्मन्सभाध्यक्ष प्रजापुरुष वाऽहं यस्य सवी मन्युद्धमतिर्भा अदिद्युतत्कृपा स्वः सुखं करोति । यो हिरण्यपाणिः सुक्रतुः स्वरमिमीतादित्यं वा निर्मितवान् । यमोण्योः सवितारं कविक्रतुं रत्नधां प्रियं मतिं कविं देवं त्वा त्वां प्रजाभ्योऽभ्यर्चामि तं त्वां प्रजाअनुप्राणन्तु कृपया त्वं प्रजाअनुप्राणिहि ॥ २५ ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालङ्कारः । मनुष्यैः सर्वजगत्स्रष्टु र्निराकारस्य व्यापिनः सर्वशक्तिमतः सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परमेश्वरस्य प्रजापालन तत्परस्य सभापतेर्धार्मिकस्यैवार्चा नित्यं कर्त्तव्या नातोभिन्नस्य कस्यचित् । विद्वद्भिः प्रजास्थानां सुखायैतेषां स्तुतिप्रार्थनोपदेशा नित्यं कार्य्याः । यतः सर्वाः प्रजास्तदाज्ञानुकूलाः सदा वर्त्तेरन् । यथा प्राणे सर्वदा जीवानां प्रीतिरस्ति तथा परमात्मादिष्वपि कार्य्येति ॥ २५ ॥

पदार्थः—मैं । (यस्य) जिस सच्चिदानन्दादिलक्षणयुक्त परमेश्वर धार्मिक सभापति और प्रजाजन के । (सवीमनि) उत्पन्न हुए संसार में । (ऊर्द्धा) उत्तम । (अमतिः) स्वरूप । (भाः) प्रकाशमान । (अदिद्युतत्) प्रकाशित हुआ है । जिस्को । (कृपा) करुणा । (स्वः) सुखको कर्त्ता है । (हिरण्यपाणिः) जिसने सूर्यादि-ज्योति व्यवहार में उत्तम गुण कर्मों को युक्त किया हो । (सुक्रतुः) जिस उत्तम प्रज्ञा वा कर्म युक्त ईश्वर सभास्वामी और प्रजाजन ने (स्वः) सूर्य और सुख को । (अमिमीत) स्थापित किया हो । (त्यम्) उस (ओण्योः) द्यावापृथिवी वा । (सवितारम्) अग्नि आदि को उत्पन्न और संप्रयोग करने तथा । (कविक्रतुम्) सर्वज्ञ वा क्रांत दर्शन । (रत्नधाम्) रमणीय रत्नों को धारण करने । (सत्यसवम्) सत्यैश्वर्य युक्त । (प्रियम्) प्रीतिकारक । (मतिम्) वेदादि शास्त्र वा विद्वानों के मानने योग्य । (कविम्) वेद विद्या का उपदेश करने तथा । (देवम्) सुख देनेवाले परमेश्वर सभाध्यक्ष और प्रजा जन को । (अर्चामि) पूजन करता हूं । वा जिस । (त्वा) आपको । (प्रजाभ्यः) उत्पन्न हुई सृष्टि में पूजित करता हूं । उस आप की सृष्टि में । (प्रजाः) मनुष्य आदि । (अनुप्राणन्तु) आयु का भोग करें । (त्वम्) और आप कृपाकरके । (प्रजाः) प्रजा के ऊपर जीवों के अनुकूल । (अनुप्राणिहि) अनुग्रह कीजिये ॥ २५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में श्लेषालङ्कार है । मनुष्यों को सब जगत् के उत्पन्न करने वाले निराकार सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त परमेश्वर, धार्मिक सभापति और प्रजाजन समूह ही का सत्कार करना चाहिये उन से भिन्न और किसी का नहीं । विद्वान् मनुष्यों को योग्य है कि प्रजा पुरुषों के सुख के लिये इस परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना और श्रेष्ठ सभापति तथा धार्मिक प्रजाजन के सत्कार का उपदेश नित्य करें जिससे सब मनुष्य उन की आज्ञा के अनुकूल सदा वर्त्तते रहें । और जैसे प्राण में सब जीवों की प्रीति होती है वैसे पूर्वोक्त परमेश्वर आदि में भी अत्यन्त प्रेम करें ॥ २५ ॥

शुक्रन्त्वेत्यस्य वत्सऋषिः यज्ञो देवता । भुरिग्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

मनुष्यैः किं कृत्वा यज्ञः साधनीय इत्युपदिश्यते ॥

मनुष्यों को क्या २ साधनों करके यज्ञ को सिद्ध करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन । सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि । प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम् ॥ २६ ॥

शुक्रम् । त्वा । शुक्रेण । क्रीणामि । चन्द्रम् । चन्द्रेण । अमृतम् । अमृतेन । सग्मे । ते । गोः । अस्मे इत्यस्मे । ते । चन्द्राणि । तपसः । तनूः । असि । प्रजापतेरिति प्रजा[illegible] । वर्णः । परमेण । पशुना । क्रीयसे । सहस्रपोषमिति सहस्रऽपोषम् । पुषेयम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(शुक्रम्) शुद्धिकारकम् । (शुक्रेण) शुद्धभावेन । (क्रीणामि) गृह्णामि । (चन्द्रम्) सुवर्णम् । चन्द्रमितिहिरण्यनामसु पठितम् । निघं० १।२। (चन्द्रेण) सुवर्णेन । (अमृतम्) मोक्षसुखम् । (अमृतेन) नाशरहितेनविज्ञानेन । (सग्मे) गच्छतीतिग्मापृथिवी तया सह वर्त्तते तस्मिन् यज्ञे । ग्मेतिपृथिवीनामसु पठितम् । निघं० १।१। (ते) तव । (गोः) पृथिव्याः सकाशात् । (अस्मे) अस्मभ्यम् । (ते) तव सकाशात् । (चन्द्राणि) कांचनादीनिधनानि । (तपसः) धर्मानुष्ठानस्यागे

स्तापमस्यवा । (तनू) शरीरम् । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (प्रजापतेः) प्रजानां पतिः पालनहेतुः सूर्यस्तस्य । (वर्णः) वरीतुंयोग्यः (परमेण) प्रकृष्टेन । (पशुना) व्यवहृतेन विक्रीतेन गवादिना । (क्रीयसे) क्रीयते । (सहस्रपोषम्) असंख्यातपुष्टिम् । (पुषेयम्) पुष्टोभवेयम् । अयं मंत्रः । शत० ३।२।६।६-९। व्याख्यातः ॥ २६ ॥

अन्वयः—अहं परमेया तपसस्तनूरस्यग्नि यः पशुना प्रजापतेर्वर्णः क्रीयसे क्रीयते तं सहस्रपोषं पुषेयम् । हे विद्वन् यानि तव यस्याः गोः सकाशाच्च-न्द्राण्युत्पन्नानि सन्ति तान्यस्मे अस्मभ्यमपि सन्तु । अहं परमेण शुक्रेण यं शुक्रं यज्ञं चन्द्रेण चन्द्रममृतेनामृतं च क्रीणामि त्वा तं त्वमपि क्रीणीहि ॥ २६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः शरीरमनोवाग्भिर्यत्नेन परमेश्वरोपासनादि लक्षणं यज्ञं सततमनुष्ठायासंख्याता तुल्या पुष्टिः प्राप्तव्या ॥ २६ ॥

पदार्थः—मैं । (मया) पृथिवी के साथ वर्त्तमान यज्ञ में । (तपसः) प्रताप युक्त अग्नि वा तपस्वी अर्थात् धर्मात्मा विद्वान् का । (तनूः) शरीर । (असि) है । उसको शिल्प विद्या वा सत्योपदेश की सिद्धि के अर्थ । (पशुना) विक्रय किये हुए गौ आदि पशुओं वा उनके धन आदि सामग्री से ग्रहण करके । (प्रजापतेः) प्रजा के पालन हेतु सूर्य का । (वर्णः) स्वीकार करने योग्य तेज । (क्रीयसे) क्रय होता है । उस । (सहस्रपोषम्) असंख्यात पुष्टि को प्राप्त होके मैं । (पुषेयम्) पुष्ट होऊं । हे विद्वान् मनुष्य जो । (ते) आपको (गोः) पृथिवी के राज्य के सकाश से । (चन्द्राणि) सुवर्ण आदि धातु प्राप्त हैं वे । (अस्मे) हम लोगों के लिये भी हों । जैसे । मैं । (परमेण) उत्तम । (शुक्रेण) शुद्ध भाव से (शुक्रम्) शुद्धि कारक यज्ञ (चन्द्रेण) सुवर्ण से । (चन्द्रम्) सुवर्ण और । (अमृतेन) नाश रहित विज्ञान से । (अमृतम्) मोक्ष सुख को । (क्रीणामि) ग्रहण करता हूं वैसे तू भी (त्वा) उसको ग्रहण कर ॥ २६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि शरीर मन वाणी और धन से परमेश्वर की उपासना आदि लक्षण युक्तयज्ञ का निरन्तर अनुष्ठान करके असंख्यात अतुल पुष्टि को प्राप्त करें ॥ २६ ॥

मित्रोन इत्यस्य वत्स ऋषिः । विद्वान् देवता । भुरिग्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

मनुष्यैर्विदुषा सह विदुषैतैश्च कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते

मनुष्यों को विद्वान् मनुष्य के साथ और विद्वान् को सब मनुष्यों के संग कैसे वर्त्तना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मित्रो न एहि सुमित्रधऽइन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणामुशन्नुशन्तꣳ स्योनः स्योनम्॥ स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वम्मा वो दभन् ॥२७॥

मित्रः । नः । आ । इहि । सुमित्रध इति सुऽमित्रधः । इन्द्रस्य । उरुम् । आ । विश । दक्षिणाम् । उशन् । उशन्तम् । स्योनः । स्योनम् । स्वान । भ्राज । अङ्घारे । बम्भारे । हस्त । सुहस्तेति सुऽहस्त । कृशानो इति कृशानो । एते । वः । सोमक्रयणा इति सोमऽक्रयणाः । तान् । रक्षध्वम् । मा । वः । दभन् ॥ २७ ॥

पदार्थः—(मित्रः) सुहृत् सन् । (नः) अस्मान् । (आ) आगमने । (इहि) प्राप्नुहि । (सुमित्रधः) यः शोभनानि मित्राणि दधाति सः । (इन्द्रस्य) सभाद्यध्यक्षस्य विदुषः । (उरुम्) बह्वाच्छादनं स्वीकरणं वा । (आ) समन्तात् (विश) (दक्षिणम्) उत्तमाङ्गं दक्षिणभागम् । (उशन्) कामयन् । (उशन्तम्) कामयन्तम् । (स्योनः) सुखकारकः । (स्योनम्) सुखम् । स्योनमिति सुखना- मसु पठितम् । निघं० ३ । ६ । (स्वान) स्वनन्नुपदिशति यस्तत्संबुद्धौ । (भ्राज) यो भ्राजते प्रकाशते तत्संबुद्धौ । (अङ्घारे) अंघस्य छलस्यारिः शत्रुस्तत्सं- बुद्धौ । (बम्भारे) बन्धनां सुविचार निरोधकानां शत्रुस्तत्संबुद्धौ । अत्र वर्ण- व्यत्ययेन धस्य भः । (हस्त) हसन्ति प्रसन्ना भवन्ति यस्मात्तत्संबुद्धौ । (सुहस्त) शोभनाहस्तक्रिया यस्य तत्संबुद्धौ । (कृशानो) कृशान् कृणाति तत्संबुद्धौ । (एते) सर्वधार्मिकाः प्रजास्थाभृत्या वा (वः) युष्मान् । (सोमक्रयणाः) ये सोमानुत्तमान् पदार्थान् क्रीणन्ति ते । (तान्) सर्वान् । (रक्षध्वम्) सततं पालयत । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम् । (मा) निषेधे । (वः) युष्मान् । (दभन्) हिंसयुः । अत्र व्यत्ययो लिङर्थे लङ्च । अयं मंत्रः । शत० ३।३।६। १०-१२ । व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अन्वयः-- हे स्वान भ्राजाङ्घारे हस्त सुहस्त कृशानो सभाद्यध्यक्ष सुमि- त्रधो मित्रः स्योन उशंस्त्वं नोऽस्मानिहि दक्षिणमुरुमुशन्तं स्योनमाविश । हे मनुष्या एत इन्द्रस्य विदुषः सोमक्रयणा मनुष्या वो युष्मान् रक्षन्तु यूयमेतान् रक्षध्वम् । यथा सर्वान् वो युष्मान् शत्रवो मा दभन् हिंसितारो न भवेयुस्तथैव परस्परं संप्रीत्या मिलित्वाऽनुष्ठेयम् ॥ २७ ॥

भावार्थः—राजप्रजापुरुषैः परस्परं प्रीत्योपकारे धर्म्ये व्यवहारे च वर्त्तित्वा शत्रूनविद्याविद्याऽन्धकारं विनाश्य चक्रवर्त्ति राज्यं प्रशास्यानन्दे सदा स्थातव्यम् ॥ २७ ॥

पदार्थः— हे । (स्वान) उपदेश करने । (भ्राज) प्रकाश को प्राप्त होने (अंघारे) छल के शत्रु । (बम्भारे) विचार विरोधियों के शत्रु । (हस्त) प्रसन्न ।

पदार्थः—हे । (अग्ने) जगदीश्वर आपकृपाकर के जिसकर्मसे मैं । (स्वायुषा) उत्तमता पूर्वक प्राण धारण करने वाले (आयुषा) जीवन से । (अमृतान्) जीवन मुक्त और मोक्ष को प्राप्त हुए विद्वान् वा मोक्ष रूपी आनन्दों को । (उदस्थाम्) अच्छे प्रकार प्राप्त होऊं उससे (मा) मुझको संयुक्त करके (दुश्चरितात्) दुष्टाचरण से । (उद्बाधस्व) पृथक् करके (मा) मुझको । (सुचरिते) उत्तम धर्माचरण युक्त व्यवहार में । (आभज) अच्छे प्रकार स्थापन कीजिये ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों कोयोग्य है कि अधर्म के छोड़ने और धर्म के ग्रहण करने के लिये सत्य प्रेम से प्रार्थना करें कि प्रार्थना किया हुआ परमात्मा शीघ्र अधर्मों से छुड़ा कर धर्महीं में प्रवृत्त करदेता है परन्तु सब मनुष्यों को यह करना अवश्य है कि जब तक जीवन है तब तक धर्माचरणहीं में रहकर संसार वा मोक्षरूपी सुखों को सब प्रकार से सेवन करें ॥ २८ ॥

प्रतिपन्थामित्यस्य वत्स ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः स किमर्थं प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते ॥

फिर उस परमेश्वर की प्रार्थना किस लिये करनी चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

प्रति पन्थां मपद्महि स्वस्तिगामनेहसम् ॥ येन विश्वाः परिद्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥२९॥

प्रति । पन्थाम् । अपद्महि । स्वस्तिगामिति स्वस्तिऽगाम् । अनेहसम् । येन । विश्वाः । परि । द्विषः । वृणक्ति । विन्दते । वसु ॥ २९ ॥

पदार्थः—(प्रति) प्रत्यक्षे वीप्सायां च । (पंथाम्) मार्गं मार्गम् । (अपद्महि) प्राप्नुयाम् । (स्वस्तिगाम्) स्वस्ति सुखं गच्छति येन तम् । अत्र जनसनखन० अ० ३।२।६७। अनेन विट्प्रत्ययः । (अनेहसम्) अविद्यमानानि एहांसि हननानि यस्मिंस्तम् । अत्र नञिहनएहच । उ० ४ । २३१ । अनेनायं सिद्धः । (येन) मार्गेण । (विश्वाः) सर्वाः । (परि) सर्वतः । (द्विषः) द्विषन्ति प्रीणयन्ति याभ्यः शत्रुसेनाभ्यो दुःखक्रियाभ्यो वा ताः । अत्र कृतोबहुलमिति हेतौ क्विप् । (वृणक्ति) वर्जयति । अत्रान्तर्गतोण्यर्थः । (विन्दते) लभते । (वसु) सुखकारकं धनम् । अयं मंत्रः । शत० ३ । ३ । ६ । १०—१६ । व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वराग्ने त्वदनुगृहीताः पुरुषार्थिनोभूत्वा वयं येन विद्वान् विश्वा द्विषः परिवृणक्ति वसु विन्दते तमनेहसं स्वस्तिगां पन्थां मार्गमत्यपद्महि प्रत्यक्षतया व्याप्त्या प्राप्नुयाम ॥ २९ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्द्वेषादित्यागाय विद्याधनप्राप्तये धर्ममार्गप्रकाशायेश्वरप्रार्थना धर्मविद्वत्सेवा च नित्यं कार्या ॥ २९ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर आप के अनुग्रह से युक्त पुरुषार्थी होकर हमलोग । (येन) जिस मार्ग से विद्वान् मनुष्य । (विश्वाः) सब । (द्विषः) शत्रु सेना वा दुःख देनेवाली भोग क्रियाओं को । (परिवृणक्ति) सब प्रकार से दूर करता और (वसु) सुख करने वाले धन को (विन्दते) प्राप्त होता है उस । (अनेहसम्) हिंसा रहित । (स्वस्तिगाम्) सुख पूर्वक जाने योग्य । (पन्थाम्) मार्ग को ।(प्रत्यपद्महि) प्रत्यक्ष प्राप्त होवें ॥ २९ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि द्वेषादित्याग विद्यादि धनकी प्राप्ति और धर्ममार्ग के प्रकाश के लिये ईश्वर की प्रार्थना धर्म और धार्मिक विद्वानों की सेवा निरन्तर करें ॥ २९ ॥

आदित्यास्त्वगसीत्यस्य वत्सऋषिः । वरुणो देवता पूर्वस्य स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । अस्तभ्नादित्यन्तस्य विराडार्षीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

अथेश्वर सूर्य्य वायु गुणा उपदिश्यन्ते ॥

अगले मंत्र में ईश्वर सूर्य्य और वायु के गुणों का उपदेश किया है ॥

अदित्यास्त्वग॒स्यदि॑त्यै॒ सद॒ आ सी॑द ॥ अस्त॑भ्ना॒द्द्यां वृ॑ष॒भो अ॒न्तरि॑क्ष॒ममि॑मीत वरि॒माणं॑ पृथि॒व्याः ॥ आसी॑द॒द्विश्वा॒ भुव॑नानि स॒म्राड्विश्वेत्तानि॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि॑ ॥ ३० ॥

अदि॑त्याः । त्वक् । अ॒सि॒ । अदि॑त्यै । सदः॑ । आ । सी॒द॒ । अस्त॑भ्नात् । द्याम् । वृ॒ष॒भः । अ॒न्तरि॑क्षम् । अमि॑मीत । व॒रि॒माण॑म् । पृ॒थि॒व्याः । आ । अ॒सी॒द॒त् । विश्वा॑ । भुव॑नानि । स॒म्राडिति॑ स॒म्ऽराट् । विश्वा॑ । इत् । तानि॑ । वरु॑णस्य । व्र॒तानि॑ ॥ ३० ॥

पदार्थः—(अदित्याः) पृथिव्यादेः । (त्वक्) यस्त्वचति संवृणोति सः । (असि) अस्तिवा । अत्र पक्षे सर्वत्र व्यत्ययः । (अदित्यै) पृथिव्यादिसृष्टये । (सदः) स्थापनम् । (आ) समन्तात् । (सीद) सादयति वा । अत्र व्यत्ययोऽन्तर्गतो ण्यर्थश्च । (अस्त-

भ्नात्) स्तभ्नासि स्तभ्नाति धरति वा । अत्र लडर्थे लङ् । (द्याम्) सूर्य्यादिकं प्रकाशं वा । (वृषभः) श्रेष्ठः । (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् । (अमिमीत) निर्मिमीते । अत्रापि लडर्थे लङ् । (वरिमाणम्) वरस्य भावम् । (पृथिव्याः) अन्तरिक्षस्यावकाशस्य मध्ये । पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघं० १ । ३ । (आ) सर्वतः (असीदत्) सादयसि सादयत्यवस्थापयति वा (विश्वा) सर्वाणि । (भुवनानि) लोकान् । (सम्राट्) यः सम्यग् राजते सः । (विश्वा) अखिलानि (इत्) एव । (तानि) एतानि । (वरुणस्य) परमेश्वरस्य सूर्यस्य वा योर्वा । (व्रतानि) शीलानि । अयं मंत्रः श० ३ । ३ । ४ । १-४ । व्याख्यातः ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर यतो वृषभस्त्वमादित्यास्त्वगस्यादित्यं सह आसीदासादयसि द्यामस्तभ्नात् स्तभ्नासि वरिमाणमन्तरिक्षमामिमीत निर्मिमीषे सम्राट् सन् पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनान्यासीददासादयस्यस्मात्तान्येतानि विश्वा सर्वाणि वरुणस्य ते तवैव व्रतानि सन्तीति वयमपश्याह विजानीयामेकः ॥ यो वृषभः सम्राट् सूर्यो वायुर्वादित्यास्त्वगस्यास्ति संहतोऽस्त्यादित्ये सह आसीदासादयति द्यामस्तभ्नात् स्तभ्नाति वरिमाणमन्तरिक्षमवकाशममिमीत निर्मिमीते पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनान्यासीददासादयति तस्य तान्येतानि विश्वा सर्वाणि वरुणस्य सूर्यस्य वायोश्चैतेव व्रतानि शीलानि सन्तीति वयमपश्याहीति द्वितीयः ॥ ३० ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । पूर्वस्मान्मंत्रादुपयहीतिपदमनुवर्त्तते । परमेश्वरस्यैव स्वभावो यदिदं सर्वमभिव्याप्य रचयित्वा धरतीदं सूर्यवायुरपि प्रकाश धारण स्वभावोऽस्ति ॥ ३० ॥

पदार्थः— हे जगदीश्वर जिससे आप । (अदित्याः) पृथिवी के । (त्वक्) आच्छादन करने वाले । (असि) है (वृषभः) श्रेष्ठ गुणयुक्त आप । (अदित्यै) पृथिवी आदि सृष्टि के लिये । (सदः) स्थापन करने योग्य । (आसीद) व्यवस्था को स्थापन करते वा (द्याम्) सूर्य्य आदि को । (अस्तभ्नात्) धारण करते । (वरिमाणम्) अत्यन्त उत्तम । (अन्तरिक्षम) अन्तरिक्ष को । (अमिमीत) रचते और (सम्राट्) अच्छे प्रकार प्रकाश को प्राप्त हुए सब के अधिपति आप । (पृथिव्याः) अन्तरिक्ष के बीच में । (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को । (आसीदत) स्थापन करते हो इससे । (तानि) ये । (विश्वा) सब । (वरुणस्य) श्रेष्ठ रूप । (ते) आपके । (इत्) ही । (व्रतानि) सत्य स्वभाव और कर्म हैं ऐसा हम लोग । (अपश्याम) जानते हैं ॥ १ ॥ जो । (वृषभ) अत्युत्तम । (सम्राट्) अपने आप प्रकाशमान सूर्य्य और वायु । (अदित्याः) पृथिवी आदि के । (त्वक्) आच्छादन करने वाले । (असि) है वा (अदित्यै) पृथिवी आदि सृष्टि के लिये । (सदः) लोकों को । (आसीद) स्थापन । (द्याम्) प्रकाश को (अस्तभ्नात्) धारण । (वरिमाणम्) श्रेष्ठ । (अन्तरिक्षम) आकाश को । (अमिमीत) रचना और । (पृथिव्याः) आकाश के मध्य में । (विश्वा) सब । (भुवनानि) लोकों को । (आसीदत्) स्थापन करते हैं (तानि) वे । (विश्वा) सब (ते) उस । (वरुणस्य) सूर्य्य और वायु के । (इत्) ही । (व्रतानि) स्वभाव और कर्म हैं ऐसा हम लोग । (अपश्याम) जानते हैं ॥ २ ॥ ३० ॥

भावार्थः— इस मंत्र में श्लेषालङ्कार और पूर्व मंत्र से (अपश्याम) इस पद की अनुवृत्ति जाननी चाहिये । जैसा परमेश्वर का स्वभाव है कि सूर्य्य और वायु आदि को सब प्रकार व्याप्त हो कर रच कर धारण करना है इसी प्रकार सूर्य्य और वायु का भी प्रकाश और स्थूल लोकों के धारण का स्वभाव है ॥ ३० ॥

वनेष्वित्यस्य वत्स ऋषिः । वरुणो देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्ते कीदृशा इत्युपदिश्यते ॥

फिर वे कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

वनेषु व्यन्तरिक्षन्ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्व-

ग्निन्दिवि सूर्य्यमदधात्सोममद्रौ॥३१॥

वनेषु । वि । अन्तरिक्षम् । ततान । वाजम् । अर्वत्स्वित्यर्वत्ऽसु । पयः । उस्रियासु । हृत्स्विति हृत्ऽसु । क्रतुम् । वरुणः । विक्षु । अग्निम् । दिवि । सूर्य्यम् । अदधात् । सोमम् । अद्रौ ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(वनेषु) रश्मिषु वृक्षसमूहेषु वा । वनमिति रश्मिनामसु पठितम् । निघं० । (वि) विशेषार्थे । (अन्तरिक्षम्) आकाशम् । (ततान) विस्तारितवान् विस्तारयति वा । (वाजम्) वेगम् । (अर्वत्सु) अश्वेषु प्राप्त वेग गुणेषु विद्युदादिषु वा । अर्वेत्यश्व नामसु पठितम् । निघं० १ । १४ । (पयः) दुग्धम् । (उस्रियासु) गोषु । उस्रियेति गोनामसु पठितम् । निघं० २ । ११ । (हृत्सु) हृदयेषु । (क्रतुम्) प्रज्ञां कर्म वा । (वरुणः) परमेश्वरः सूर्य्यो वायुर्वा । (विक्षु) प्रजासु । (अग्निम्) विद्युतं प्रसिद्धमग्निं वा (दिवि) प्रकाशे । (सूर्य्यम्) सवितारम् । (अदधात्) धृतवान् दधाति वा । (सोमम्) अमृतात्मकरसं सोमवल्ल्याद्योषधी गणं वा । (अद्रौ) मेघे शैले वा । अद्रिरिति मेघनामसु पठितम् । निघं० १ । १० । अयं मंत्रः श० ३ । ३ । ४ । ७ । व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—यो वरुणः परमेश्वरः सूर्य्यो वायुर्वा वनेषु किरणेष्वरण्येषु वान्तरिक्षं विततानार्वत्सु वाजमुस्रियासु पयो हृत्सु क्रतुं विक्ष्वग्निं दिवि सूर्य्यमद्रौ सोमं चादधात्स एवमर्चनीयोऽन्यः सम्यगुपयोजनीयो वास्ति ॥ ३१ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः। परमेश्वरः स्वविद्या प्रकाश जगद्रचनाभ्यां सर्वेषु पदार्थेषु तत्तत्स्वभाव युक्तान संस्थाप्य विज्ञानादिकं वायुसूर्य्यादिकं च विस्तृणोति ॥ ३१ ॥

पदार्थः—जो। (वरुणः) अत्युत्तम परमेश्वर सूर्य्य वा प्राण वायु है वे। (वनेषु) किरण वा वनों में। (अन्तरिक्षम्) आकाश को। (विततान) विस्तार युक्त किया वा करता। (अर्वत्सु) अत्युत्तम वेगादि गुणयुक्त विद्युत् आदि पदार्थ और घोड़े आदि पशुओं में। (वाजम्) वेग। (उस्रियासु) गौओं में। (पयः) दूध (हृत्सु) हृदयों में। (क्रतुम्)प्रज्ञा वा कर्म। (विक्षु) प्रजा में अग्निम्) अग्नि। (दिवि) प्रकाश में (सूर्य्यम्) आदित्य। (अद्रौ) पर्वत वा मेघ में। (सोमम्) सोमवल्ली आदि ओषधी और श्रेष्ठ रसको। (अदधात्) धारण किया करते हैं उसी ईश्वर की उपासना और उन्हीं दोनों का उपयोग करें ॥ ३१ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में श्लेषालङ्कार है। जैसे परमेश्वर अपनी विद्या का प्रकाश और जगत् की रचना से सब पदार्थों में उनके स्वभाव युक्त गुणों को स्थापन और विज्ञान आदि गुणों को नियत करके पवन सूर्य्य आदि को विस्तार युक्त करता है वैसे सूर्य्य और वायु भी सब के लिये गुणों का विस्तार करते हैं ॥ ३१ ॥

सूर्य्यस्य चक्षुरित्यस्य वत्सऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

पुनस्ते कीदृशा इत्युपदिश्यते ।

फिर वे कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

सूर्य्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्। यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता ॥ ३२ ॥

सूर्य्यस्य। चक्षुः। आ। रोह। अग्नेः। अक्ष्णः। कनीनकम्।

यत्रं । एतंशेभिः । ईयसे । भ्राजमानः । विपःश्चितेति विपः ऽचिता ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(सूर्यस्य) सवितृमण्डलस्य विद्युतो वा । (चक्षुः) दर्शकम् । (आ) समन्तात् । (रोह) दर्शयसि दर्शयति वा । (अग्नेः) भौतिकस्य । (अक्षणः) दर्शन साधकस्य । (कनीनकम्) कनति प्रकाशते येन तत् । अत्र कनीधातोर्बाहुलकादौणादिक ईनक प्रत्ययः । (यत्र) यस्मिन् । (एतशेभिः) विज्ञान वेगादिभिरागमकैर्गुणैरश्वैः । एतश इत्यश्वनामसु पठितम् । निघं० १ । १४ । (ईयसे) विज्ञायसे विज्ञायते वा । (भ्राजमानः) प्रकाशमानः । (विपश्चिता) मेधाविना विदुषा । विपश्चिदिति मेधाविनामसु पठितम् । निघं० ३ । १५ । अयं मंत्रः । शत० ३ । ३ । १ । ८ व्याख्यातः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर यत्र त्वमेतशेभिर्भ्राजमानो विपश्चितेयसे यत्र प्राणो विद्युद्वैतशेभिर्विपश्चिता भ्राजमानो विज्ञायते । यत्र त्वं स सात्र सूर्यस्याग्नेरक्षणः । कनीनकं चक्षुरारोह समन्ताद्दर्शयसि वा तत्र वयं त्वां तं तां चोपासीमहि युञ्ज्याम वा ॥ ३२ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । मनुष्यैर्यथा विद्वद्भिरीश्वरः प्राणो विद्युच्च विज्ञायोपास्यते संप्रयुज्यते च तथैव विज्ञायोपास्य उपयोक्तव्यः संप्रयोजितव्या च ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर । (यत्र)जहांआप । (एतशेभिः) विज्ञानआदि गुणों से । (भ्राजमानः) प्रकाशमान । (विपश्चिता) मेधावी विद्वान् से (ईयसे)

विज्ञात होते हो वा जहां प्राण वायु वा बिजली । (एतेभिः) वेगादि गुण वा । (विपश्चिता) विद्वान् से । (भ्राजमानः) प्रकाशित होकर । (इयसे) विज्ञात होते हैं । और जहां आप प्राण तथा बिजली । (सूर्यस्य) सूर्य वा बिजली और । (अग्नेः) भौतिक अग्नि के । (अदृशः) देखने के साधन । (कनीनकम्) प्रकाश करने वाले । (चक्षुः) नेत्रों को । (आरोह) देखने के लिये । कराते वा कराती है वहीं हम लोग आप की उपासना और उन दोनों का उपयोग करें ॥ ३२ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में श्लेषालंकार है । मनुष्यों को उचित है कि जैसे विद्वान् लोग ईश्वर प्राण और बिजली के गुणों को जान उपासना वा कार्य्य सिद्धि करते हैं वैसेही उनको जानकर उपासना और अपने प्रयोजनों को सदा सिद्ध करते हैं ॥ ३२ ॥

उस्रावेतमित्यस्य वत्स ऋषिः । सूर्य्यविद्वांसौ देवते । पूर्वस्य भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः । स्वस्तीत्यन्तस्य याजुषी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।

अथ सूर्य्यविद्वांसौ कथं भूताबेताभ्यां शिल्पविदौ किं कुर्य्यातामित्युपदिश्यते

अब सूर्य्य और विद्वान कैसे हैं और उन से शिल्पविद्या के जानने वाले क्या करें सो अगले मंत्र में कहा है ।

उस्त्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनुश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ ॥ स्वस्तियजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥ ३३ ॥

उस्त्रौ । आ । इतम् । धूर्षाहौ । धूःसहौ विति धूःऽसहौ । युज्येथाम् । अनश्रू ।

इत्यै नुश्च्यू । अवीरहणौ । अवीरहुनाविन्यवीरऽहृनौ । ब्रह्मचोदनाविति ब्रह्मऽचोदनौ । स्वस्ति । यजमानस्य । गृहान् । गच्छतम् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(उस्रे) रश्मिमन्तौ निवासहेतू सूर्यवायू । उस्राइति र- श्मिनामसु पठितम् । निघं० १ । ५ । गोनामसु च । निघं० २ । ११ । (आ) समन्तात् । (इतम्) प्राप्नुतः । (धूर्षाहौ) यौ धुरं पृथिव्याः शरीरस्य ज्ञाना- नां वा धारणं सहेते तौ । (युज्येथाम्) युज्येते युक्तौ कुरुतः । (अनश्च्यू) अव्यापिनौ । (अवीरहणौ) वीरहनन रहितौ । (ब्रह्मचोदनौ) आत्मान्नप्राप्ति- प्रेरकौ । (स्वस्ति) सुखं सुखेन वा । (यजमानस्य) धार्मिकस्य जीवस्य । (गृहान्) गृहाणि । (गच्छतम्) गमयतः । अयं मन्त्रः । शत० ३ । ३ । ४ । १२ । व्याख्यातः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा विद्याशिल्पे चिकीर्षू यौ ब्रह्मचोदनावनश्च्यू अ- वीरणावुस्रौ धूर्षाहौ सूर्यविद्युतौ यानेषु वृषवद्यान चालनायेतं प्राप्नुतो युज्ये- थां युक्तौ कुरुतो यजमानस्य गृहान् स्वस्ति गच्छतं सुखेन गमयतस्तौ यूयं युक्त्या सेवयत ॥ ३३ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालंकारौ । यथा सूर्यविद्युतौ क्रमेण सर्वं प्रकाश्य धृत्वा सहित्वा युक्तौ प्राप्य सुखं प्रापयतस्तथैव येन शिल्पवि- द्यासंपादकेन यानेषु युक्त्या सेवितं अग्निजले सुखेन सर्वत्राभिगमनं कारयतः ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे विद्या और शिल्प क्रिया को प्राप्त होने की इच्छा करने वाले । (ब्रह्मचोदनौ) अन्न और विज्ञान प्राप्ति के हेतु । (अनश्च्यू) अव्यापी ।

(अवीरहणौ) वीरों का रक्षण करने । (उस्रौ) ज्योति युक्त और निवास के हेतु। (धूर्षाहौ) पृथिवी और धर्म के भार को धारण करने वाले विद्वान् । (एतम्) सूर्य्य और वायु को प्राप्त होते वा । (युज्येथाम्) युक्त करते और । (यजमानस्य) धार्मिक यजमानके । (गृहान्) घरों को । (स्वस्ति) सुख से । (गच्छतम्) गमन करते हैं वैसे तुम भी उनको युक्ति से संयुक्त करके कार्यों को सिद्ध किया करो ॥३३॥

भावार्थः—इस मंत्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमलंकार है। जैसे सूर्य्य और विद्वान् सब पदार्थों को धारण करने हारे सहन युक्त और प्राप्त हो कर सुखों को प्राप्त कराते हैं वैसेही शिल्प विद्या के जानने वाले विद्वान से यानों में युक्ति से सेवन किये हुए अग्नि और जल सवारियों को चलाके सर्वत्र सुख पूर्वक गमन कराते हैं ॥३३॥

भद्रोमेऽसीत्यस्य वत्स ऋषिः । यजमानो देवता । पूर्वस्य भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । मान्त्वेत्यस्य भुरिगार्ची बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः । श्येनोभूत्वेत्यस्य विराडार्च्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

तेन यानेन विदुषा किं किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ।

उस यान से विद्वान् को क्या २ करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है।

भद्रोमेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभिधामानि । मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन् ॥ श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छतन्नौ सꣳस्कृतम् ॥ ३४ ॥

भद्रः । मे । असि । प्र । च्यवस्व । भुवः । पते । विश्वानि । अभि । धामानि । मा । त्वा । परिपरिणइति परिऽपरिणः । विदन् । मा । त्वा । परिपन्थिनइति परिऽपन्थिनः । विदन् । मा । त्वा । वृकाः । अघायवः । अघयवइत्यघऽयवः । विदन् । श्येनः । भूत्वा । परा । पत । यजमानस्य । गृहान् । गच्छ । तत् । नौ । संस्कृतम् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(भद्रः) सुखकारी । (मे) मम । (असि) भवासि । (प्र) प्रकर्षे । (च्यवस्व) गच्छ । (भुवः) पृथिव्याः । (पते) स्वामिन् । (विश्वानि) सर्वाणि । (अभि) आभिमुख्ये । (धामानि) स्थानानि । (मा) निषेधे । (त्वा) त्वां गृहादिपूपस्थितम् । (परिपरिणः) परितः सर्वतश्छलेन रात्रौ वा परस्वादायिनश्चोराः । छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्य्यवस्थातरि ॥ अ० ५। २।८९ । अनेनैतौ शब्दौ स्तेनविषये निपात्येते । (विदन्) विन्दन्तु प्राप्नुवन्तु । अत्र सर्वत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति नुमडोरभावो लोडर्थे लुङ् च । (मा) निषेधार्थे । (त्वा) प्रवाससेविनं त्वाम् । (परिपन्थिनः) उत्को-

चका दस्यवः । (विदन्) लभन्ताम् । (मा) निषेधार्थे । (त्वा) त्वामैश्वर्य्यवन्तम् । (वृकाः) स्तेनाः । वृकइति स्तेननामसु पठितम् । निघं० ३ । २४ । (अघायवः) आत्मनोऽघंपापमिच्छवः । (विदन्) लभन्ताम् । (श्येनः) श्येनइव (भूत्वा) (परा) दूरार्थे । (पत) गच्छ । (यजमानस्य) संगमकर्त्तुं योग्यस्य पूज्यस्य मनुष्यस्य । (गृहान्) द्वीपखण्डदेशान्तरस्थानानि । (गच्छ) गमनं कुरु । (तत्) (नौ) आवयोः । (संस्कृतम्) शिल्पविद्या संस्कारयुक्तं सर्वत्तुकम् । अयं मंत्रः । शत० ३।३।३।१४-१६ ॥ व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

अन्वयः— हे भुवस्पते विद्वंस्त्वं मे मम भद्रोऽसि । यत्ते तव मम च संस्कृतं यानमस्ति तेन विश्वानि धामान्यभिप्रच्यवस्त्वाभितः प्रकृष्टतया गच्छ यथा सर्वत्राभिगच्छन्तं त्वां परिपरिणो वृका माविदन् मा लभन्तां तथा प्रयतस्व । परदेशसेविनं त्वां यथा परिपन्थिनो वृका मा विदन् तथाऽनुतिष्ठ । यथा परदेशसेविनं त्वामघायवः पापिनो मनुष्या मा विदन् तथाऽनुजानीहि । त्वं श्येनो भूत्वा । तेभ्यः परापत गच्छैतान्वा परापत दूरे गमयैवं कृत्वा यजमानस्य गृहान् गच्छ यतो मार्गे किंचिदपि दुःखं न स्यात् ॥ ३४ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । मनुष्यैरुत्तमानि विमानादीनि यानानि रचयित्वा तत्र स्थित्वा तानि यथा योग्यं प्रचाल्य श्येनइव द्वीपाद्यन्तरं देशंगत्वा धनं प्राप्य तस्मादन्यदुष्टेभ्यः प्राणिभ्यो दूरे स्थित्वा सर्वदा सुखं भोक्तव्यम् ॥ ३४ ॥

पदार्थः— हे (भुवस्पते) पृथिवी के पालन करने वाले विद्वान् मनुष्य तू । (मे) मेरे । (भद्रः) कल्याण करनेवाला बन्धु (असि) है सो तू । (नौ) मेरा और तेरा (संस्कृतम्) संस्कार किया हुआ यान है । (तत्) उससे । (विश्वानि) सब । (धामानि) स्थानों को । (अभिप्रच्यवस्व) अच्छे प्रकार जा जिससे सब जगह जाते हुए । (त्वा)तुझ को जैसे । (परिपरिणः) छल से रात्रि में दूसरे के पदार्थों का ग्रहण करने वाले (वृकाः) चोर । (माविदन्)

प्राप्त न और परदेश को जानने वाले । (त्वा) तुझ को जैसे । (परिपन्थिनः) मार्ग में लूटने वाले डांकू । (माविदन्) प्राप्त न होवें जैसे परमैश्वर्य्य युक्त । (त्वा) तुझ को । (अघायवः) पापकी इच्छा करने वाले दुष्ट मनुष्य । (माविदन्) प्राप्त न हों वैसा कर्म सदा किया कर । (श्येनः) श्येन पक्षी के समान वेग बल युक्त । (भूत्वा) होकर उन दुष्टों से । (परापत) दूर रह और इन दुष्टों को भी दूरकर ऐसी क्रिया कर के (यजमानस्य) धार्मिक यजमान के । (गृहान्) घर वा देश देशान्तरों को । (गच्छ) जा कि जिस से मार्ग में कुछ भी दुःख न हो ॥ ३४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचक लुप्तोपमालंकार है । मनुष्यों को योग्य है कि उत्तमर विमान आदि यानों को रच उन में बैठ उनको यथायोग्य चला श्येन पक्षी के समान द्वीप वा देश देशान्तर को जा धनों को प्राप्त करके वहां से आ और दुष्ट प्राणियों से अलग रहकर सब काल में स्वयं सुखों का भोग करें और दूसरों को करावें॥३४

नमो मित्रस्येत्यस्य वत्स ऋषिः । सूर्यो देवता । निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

॥ पुनरीश्वर सवितारौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर ईश्वर और सूर्य्य कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तꣳ स॑पर्य्यत ॥ दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्य्या॑य शꣳसत ॥ ३५ ॥

नमः । मित्रस्य । वरुणस्य । चक्षसे । महः । देवाय । तत् । ऋतम् । सपर्य्यत । दूरेदृश इति दूरेदृशे । दे-

वजातायेति देवऽजाताय । केतवे । दिवः । पुत्राय । सूर्य्याय । शंसत ॥ १५ ॥

पदार्थः—(नमः) सत्करणमन्नं वा । नमइत्यन्न नामसु पठितम् । निघं० २ । ७ । (मित्रस्य) सर्वजगत्सुहृदः । प्रकाशस्य वा । (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य । (चक्षसे) सर्वद्रष्टुर्दर्शयितुर्वा । अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वार्त्तिकेन चतुर्थी । चष्ट इति पश्यति कर्मसु पठितम् । निघं० । ३ । ११ । (महः) महत् । । अत्र सुपांसुलुगितिङ्लुक् । (देवाय) दिव्यगुणाय । (तत्) चेतन स्वरूपं प्रकाशस्वरूपं वा । (ऋतम्) सत्यम् । (सपर्य्यत) परिचरत । सपर्य्यतीति परिचरणकर्मसु पठितम् । निघं० ३ । ५ । (दूरेदृशे) यो दूरेस्थितान् दर्शयति तस्मै (देवजाताय) देवैर्दिव्यैर्गुणैः प्रसिद्धाय (केतवे) विज्ञानस्वरूपाय ज्ञापकाय वा (दिवः) प्रकाशस्वरूपस्य । (पुत्राय) पवित्रकारकायाग्निपुत्राय वा (सूर्य्याय) चराचरात्मने । परमेश्वराय हेतवे वा (शंसत) प्रशंसत । अयं मंत्रः । शत० ३ । १ । २४ । व्याख्यातः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं यन्मित्रस्य वरुणस्य दिवऋतं सत्यं स्वरूपमस्ति तद्यूयमपि सपर्य्यत । यस्य महो महत दूरेदृशे चक्षसे देवजाताय केतवे देवाय पुत्राय पवित्र कर्त्रे सूर्य्यायपरमात्मने वयं नमस्कुर्मस्तस्मै यूयमपि कुरुत त्यक्त ॥ १ ॥ हे मनुष्या यथा वयं यन्मित्रस्य वरुणस्य दिवः प्रकाशस्वरूपस्य सूर्य्यलोकस्यर्त यथार्थं स्वरूपं सेवेमहि तद्यूयमपि विद्यया सपर्य्यत । यथा वयं यस्मै चक्षसे देवजाताय केतवे दिवोऽग्नेः पुत्राय दूरेदृशे

महोदेवाय सूर्य्याय लोकाय प्राप्त्यर्थं सपर्य्येमहि तथा यूयमपि सपर्य्यत ॥३५॥

भावार्थः—अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालंकारौ । यस्य कृपया प्रकाशेन वा चोर दस्य्वादयो निवर्त्तन्ते । यतः परमेश्वरेण समः समर्थं सूर्य्येण समो लोकश्च न विद्यते तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैः सएव प्रशंसनीय इति वेद्यम् ॥३५॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे हम लोग । (यत्) जो । (मित्रस्य) सब के सुहृत् । (वरुणस्य) श्रेष्ठ । (दिवः) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर का । (ऋतम्) सत्य स्वरूप है (तत्) उस चेतन की सेवा करते हैं । वैसे तुम भी उस का सेवन सदा । (सपर्य्यत) किया करो और जैसे उस । (महः) बड़े । (दूरेदृशे) दूरस्थित पदार्थों को दिखाने (चक्षसे) सब को देखने । (देवजाताय) दिव्य गुणों से प्रसिद्ध । (केतवे) विज्ञानस्वरूप । (देवाय) दिव्यगुण युक्त । (पुत्राय) पवित्र करने वाले । (सूर्य्याय) चराचरात्मा परमेश्वर को । (नमः) नमस्कार करते हैं वैसे तुम भी (प्रशंसत) उसकी स्तुति किया करो ॥ १ ॥ हे मनुष्यो जो । (मित्रस्य) प्रकाश । (वरुणस्य) श्रेष्ठ । (दिवः) प्रकाश स्वरूप सूर्य्य लोक का (ऋतम्) यथार्थ स्वरूप है । (तत्) उस प्रकाश स्वरूप को तुम भी विद्या से (सपर्य्यत) सेवन किया करो । जैसे हम लोग जिस । (चक्षसे) सब के दिखाने । (देवजाताय) दिव्यगुणों से प्रसिद्ध । (केतवे) ज्ञान कराने अग्नि के । (पुत्राय) पुत्र (दूरेदृशे) दूर स्थित हुए पदार्थों को दिखाने । (महः) बड़े । (देवाय) दिव्यगुण वाले सूर्य्याय) सूर्य्य के लिये प्रवृत्त हों वैसे तुम भी प्रवृत्त होवो ॥ ३५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालंकार है । सब मनुष्यों को जिसकी कृपा वा प्रकाश से चोर डाकू आदि अपने कार्यों से निवृत्त होजाते हैं उसी की प्रशंसा और गुणों की प्रसिद्धि करनी और परमेश्वर के समान समर्थ वा सूर्य्य के समान कोई लोक नहीं है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

वरुणस्येत्यस्य वत्स ऋषिः । सूर्य्यो देवता । विराड्ब्राह्मी

बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

॥ पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर वे कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

वरु॑णस्योत्तम्भ॑नमसि वरु॑णस्य स्कम्भ॒ स॒र्जनी॑स्थो वरु॑णस्य ऋत॒सद॑न्यसि॒ वरु॑णस्य ऋत॒ सद॑नमसि॒ वरु॑णस्य ऋत॒सद॑नमासी॑द ॥ ३६ ॥

वरु॑णस्य । उ॒त्तम्भ॑नम् । अ॒सि॒ । वरु॑णस्य । स्क॒म्भ॒स॒र्जनी॒ इति॑ स्कम्भऽस॒र्जनी॑ । स्थः॒ । वरु॑णस्य । ऋ॒त॒स॒दनी॒त्यृ॑तऽस॒दनी॑ । वरु॑णस्य । ऋ॒त॒ सद॑न॒मित्यृ॑त॒ऽसद॑नम् ॥ अ॒सि॒ । वरु॑णस्य । ऋ॒त॒ सद॑न॒मित्यृ॑त॒ऽसद॑नम् । आ । सी॒द॒ ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(वरुणस्य) वरितुं प्राप्तुं योग्यस्य श्रेष्ठस्य जगतः वरुण इति पद नामसु पठितम् । निघं० ५ । ४ (उत्तम्भनम्) उत्कृष्टं प्रतिबन्धनम् । अत्र उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्य ॥ अ० ८ । ४ । ६१ । अनेन पूर्वस्य सस्य पूर्वसवर्णादेशः (असि) अस्तित्वा । (वरुणस्य) वायोः । अनेन ज्ञान प्राप्ति गमधातो रर्थस्यग्रहणम् । (स्कम्भसर्जनी) या क्रिया स्कम्भानामाधारकाणां सर्जन्युत्पादिका सा (स्थः) स्तः । (वरुणस्य) सूर्य्यस्य । (ऋतसदनी) याक्रिया ऋतानां जलानां सदनी गमनागमनकारिणी । (असि) अस्तित्वा

(वरुणस्य) वरपदार्थसमूहस्य । (ऋतसदनम्) ऋतानां यथार्थानां पदार्थानां सदनं स्थानम् । (असि) अस्ति वा । (वरुणस्य) उत्कृष्ट गुण समूहस्य । (ऋतसदनम्) यद्दतानां सत्यानां बोधानां स्थानं तत् । (आ) समन्तात् । (सीद) प्रापयसि प्रापयति वा । अयं मंत्रः । शत० ३ । ३ । ४ । २५-२६ । व्याख्यातः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर यतस्त्वं वरुणस्योत्तम्भनमसि या वरुणस्य स्कम्भसर्जनी या च वरुणस्यर्त्तसदनी क्रियास्थस्तस्त्वं धारितवानसि । यद्वरुणस्यर्त्तसदनमसि तत्कृपया वरुणस्यर्त्तसदनमासीद समन्तात्प्रापयस्यतस्त्वां वयमाश्रयामहइत्येकः ॥ १ ॥ यो वरुणस्योत्तम्भनं धरति या वरुणस्य स्कम्भसर्जनी या च वरुणस्यर्त्तसदनी क्रियास्थः स्तां धरत्यर्कोऽस्ति यद्वरुणस्यर्त्तसदनमस्ति सद्वरुणस्यर्त्तसदनमासीद समन्तात्प्रापयति स कर्त्तोपयोक्तव्यः ॥ ३६ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । नहि कश्चित्परमेश्वरेण विना सर्वं जगद्रचितुं धर्तुं पालयितुं विज्ञातुं वा शक्नोति । न किल कश्चित् सूर्येण विना सर्वं भूम्यादि जगत् प्रकाशितुं धर्तुं वा शक्नोति तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्योपासनं सूर्यस्योपयोगो यथावत् कार्य इति ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर जिस से आप । (वरुणस्य) उत्तम जगत् के । (उत्तम्भनम्) अच्छे प्रकार प्रतिबन्ध करने वाले । (असि) हैं । जो (वरुणस्य) वायु के । (स्कम्भसर्जनी) आधाररूपी पदार्थों के उत्पन्न करने (वरुणस्य) सूर्य के । (ऋतसदनी) जलों का गमनागमन कराने वाली क्रिया । (स्थः) हैं उनको धारण किये हुए हैं । (वरुणस्य) उत्तम । (ऋतसदनम्) पदार्थों का स्थान । (असि) हैं । (वरुणस्य) उत्तम । (ऋतसदनम्) सत्यरूपी बोधों के स्थान को । (आसीद) अच्छे प्रकार प्राप्त कराते हैं इससे आप का आश्रय हम लोग करते हैं ॥ १ ॥ जो । (वरुणस्य) जगत् का । (उत्तम्भनम्) धारण करने वाला । (असि) है । जो ।

(वरुणस्य) वायु के । (स्कम्भसर्जनी) आधारों को उत्पन्न करने वा जो । (वरुणस्य) सूर्य्य के । (ऋतसदनी) जलों का गमनागमन कराने वाली क्रिया । (स्थः) हैं । उनका धारण करने तथा जो । (वरुणस्य) उत्तम । (ऋतसदनम्) सत्य पदार्थों का स्थान रूप । (असि) है वह (वरुणस्य) उत्तम । (ऋतसदनम्) पदार्थों के स्थान को । (आसीद) अच्छे प्रकार प्राप्त और धारण करता है उसका उपयोग क्यों न करना चाहिये ॥ ३६ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में श्लेषालंकार है । कोई परमेश्वर के विना सब जगत् के रचने वा धारण पालन और जानने को समर्थ नहीं हो सकता और कोई सूर्य्य के विना भूमि आदि जगत् के प्रकाश और धारण करने को भी समर्थ नहीं हो सकता इस मे सब मनुष्यों को ईश्वर की उपासना और सूर्य्य का उपयोग करना चाहिये ॥ ३६॥

याते धामानीत्यस्य गोतम ऋषिः । यज्ञो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरेतौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर ये कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

याते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ॥ गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोमदुर्य्यान् ॥ ३७ ॥

या । ते । धामानि । हविषा । यजन्ति । ता । ते । विश्वा । परिभूरिति परिऽभूः । अस्तु । यज्ञम् । गयस्फान इति गयऽस्फानः । प्रतरण इति प्रऽतरणः । सुवीर इति सुऽवीरः । अवीरहेत्यवीरऽहा । प्र । चर । सोम । दुर्य्यान् ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(या) यानि । अत्र सर्वत्र शेश्छन्दसीति शेर्लोपः । (ते) तव तस्य वा । (धामानि) अधिकरणानि द्रव्याणि । (हविषा) ग्राह्येण दातव्येन पदार्थेन साधकेन वा । (यजन्ति) पूजयन्ति संगमयन्ति वा । (ता) तानि । (ते) तव तस्य वा । (विश्वा) सर्वाणि । (परिभूः) परितःसर्वतो भवतीति । (अस्तु) भवतु । (यज्ञम्) यष्टुमर्हम् । (गयस्फानः) गयानामपत्यधनगृहाणां स्फानो वर्धयिता । गय इत्यपत्यनामसु पठितम् । निघं० २।२। धन नामसु । निघं० २ । १० । गृह नामसु च । निघं० ३ । ४ । (प्रतरणः) प्रतरति दुःखानि येन सः । (सुवीरः) शोभना वीरा यस्मिन्सः । (अवीरहा) अवीरान् कातरान् मनुष्यान् हन्ति येन सः । अत्र कृतो बहुलमिति करणेक्विप् । (प्रचर) विजानीह्यनुतिष्ठ । (सोम) सोम विद्या संपादक विद्वन् । (दुर्यान्) गृहाणि । दुर्या इति गृहनामसु पठितम् । निघं० ३ । ४ । अयं मंत्रः । शत० ३ । ३ । १ । १० । व्याख्यातः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर यथा विद्वांसो या यानि ते तव धामानि हविषा यजन्ति तथा ता तानि विश्वा सर्वाणि वयमपि यजेमैतेषां यथा यस्ते तव गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा परिभूर्यज्ञःप्रदोऽस्ति तथा स भवत्कृपयाऽस्मभ्यमपि सुखकार्य्यस्तु । हे सोम विद्वन् यथा वयमेतं यज्ञमनुष्ठाय गृहेषु प्रचरेम विजानीयामानुतिष्ठेम तथात्वमप्येतं दुर्यान् गृहाणि प्रचर विजानी-ह्यनुतिष्ठ ॥ ३७ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेष वाचकलुप्तोपमालंकारौ । यथा विद्वांस ईश्वरे प्रीतिं संसारे यज्ञानुष्ठानं कुर्वन्ति तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयम् ॥ ३७ ॥

किस २ प्रयोजन के लिये यज्ञ का अनुष्ठान करना योग्य है इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया ॥

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे॒ त्वाऽति॑थेराति॒थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒ विष्ण॑वे त्वा॒ऽग्नये॑ त्वा रा॒यस्पो॑षदे॒ विष्ण॑वे त्वा ॥ १ ॥

अ॒ग्नेः । त॒नूः । अ॒सि॒ । विष्ण॑वे । त्वा॒ । सोम॑स्य । त॒नूः । अ॒सि॒ । विष्ण॑वे । त्वा॒ । अति॑थेः । आ॒ति॒थ्यम् । अ॒सि॒ । विष्ण॑वे । त्वा॒ । श्ये॒नाय॑ । त्वा॒ । सो॒म॒ऽभृत॒ इति॑ सोम॒ऽभृते॑ । विष्ण॑वे । त्वा॒ । अ॒ग्नये॑ । त्वा॒ । रा॒य॒स्पो॒ष॒दऽइति॑ राय॒स्पो॒ष॒ऽदे । विष्ण॑वे । त्वा॒ ॥ १ ॥

पदार्थः—(अग्नेः) विद्युत्प्रसिद्धरूपस्य । (तनूः) शरीरवत् (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (विष्णवे) यज्ञानुष्ठानाय । (त्वा) तद्धविः । (सोमस्य) जगत्युत्पन्नस्य पदार्थसमूहस्य रसस्य वा । (तनूः) विस्तारकम् । (असि) भवति । (विष्णवे) व्या-

पनशीलस्य वायोश्च शुद्धये । (त्वा) तां सामग्रीम् । (अतिथेः) अविद्यमानतिथेर्विदुषः । (आतिथ्यम्) यदतिथेर्भावः सत्काराख्यं कर्म वा । (असि) वर्त्तते तत् । (विष्णवे) व्याप्तिशीलाय विज्ञान प्राप्तिलक्षणाय वा यज्ञाय । (त्वा) तद्यज्ञसाधनम् । (श्येनाय) श्येनवद्वेगवद्गमनाय । (त्वा) तद्गमनं कर्म । (सोमभृते) यः सोमान् बिभर्त्ति तस्मै यजमानाय । (विष्णवे) सर्वविद्या कर्म व्यापन स्वभावाय । (त्वा) तदुत्तम सुखम् । (अग्नये) पावक वर्द्धनाय (त्वा) तदिन्धनादिकं वस्तु (रायस्पोषदे) यो रायो विद्याधनसमूहस्य पोषं पुष्टिं ददाति तस्मै । (विष्णवे सर्वसद्गुणविद्याकर्मव्यापिने) । (त्वा) तामेतां क्रियाम् । अयं मंत्रः । शत० ३।३।२।८—१४ । व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः— हे मनुष्या यथाऽहं यदग्नेस्तनूरसि भवति त्वा तद्विष्णवे स्वीकरोमि । या सोमस्य सामग्र्यस्ति भवति त्वा तां विष्णवे उपयुञ्जामि यदतिथेरातिथ्यमसि वर्त्तते त्वा तद्विष्णवे परिगृह्णामि यच्छ्येनवच्छीघ्रगमनाय प्रवर्त्तते त्वा तदग्न्यादिषु प्रक्षिपामि । यत्कर्म विष्णवे सोमभृते वर्त्तते त्वा तदादद्दे यदग्नये वरीवृत्यते त्वा तत्स्वीकरोमि । यद्रायस्पोषदे विष्णवे समर्थकमस्ति त्वा तत्संगृह्णामि तथैतत्सर्वं यूयमपि सेवध्वम् ॥ १ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । मनुष्यैरेतत्फलप्राप्तये त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेय इति ॥ १ ॥

पदार्थः— हे मनुष्यो तुम लोग जैसे मैं जो हवि । (अग्नेः) बिजली प्रसिद्ध रूप अग्नि के । (तनूः) शरीर के समान । (असि) है । (त्वा) उसको (विष्णवे) यज्ञ की सिद्धि के लिये स्वीकार करता हूं जो । (सोमस्य) जगत् में उत्पन्न हुए पदार्थ समूह की । (तनूः) विस्तार पूर्वक सामग्री । (असि) है । (त्वा) उसको । (विष्णवे) वायु की शुद्धि के लिये उपयोग करता हूं जो । (अतिथेः) संन्यासी आदिकों । (आतिथ्यम्) अतिथिपन वा उनकी सेवा रूप कर्म । (असि) है । (त्वा)

उसको । (विष्णवे) विज्ञान यज्ञ की प्राप्ति के लिये ग्रहण करता हूं जो । (श्येनाय) श्येनपक्षी के समान शीघ्र जाने के लिये । (असि) है । (त्वा) उस द्रव्य को अग्नि आदि में छोड़ता हूं जो । (विष्णवे) सब विद्या कर्म युक्त । (सोमभृते) सोमों को धारण करने वाले यजमान के लिये सुख । (असि) है । (त्वा) उसको ग्रहण करता हूं । (जो) (अग्नये) अग्नि बढ़ाने लिये के काष्ठ आदि हैं । (त्वा) उसको स्वीकार करता हूं जो । (रायस्पोषदे) धन की पुष्टि देने वा । (विष्णवे) उत्तम गुण कर्म विद्या की व्याप्ति के लिये समर्थ पदार्थ है । (त्वा) उसको ग्रहण करता हूं वैसे इस सबका सेवन तुम भी किया करो ॥ १ ॥

भावार्थ :— इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है । मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त फल की प्राप्ति के लिये तीन प्रकार के यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करें ॥ १ ॥

अग्नेर्जनित्रमित्यस्य गोतमऋषिः । विष्णुर्यज्ञो देवता । पूर्वस्यार्षीगायत्री छन्दः षड्जः स्वरः । गायत्रेत्यस्यार्च्चीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः कीदृश इत्युपदिश्यते ।

फिर वह यज्ञ कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवाऽअसि गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ॥ २ ॥

अग्नेः । जनित्रम् । असि । वृषणौ । स्थः । उर्वशी । असि । आयुः । असि । पुरूरवाः । असि । गायत्रेण ।

भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ३ ॥

भवतम्। नः। समनसाविति समऽमनसौ। सचेतसाविति सऽचेतसौ। अरेपसौ। मा। यज्ञम्। हिꣳसिष्टम्। मा। यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम्। जातवेदसाविति जातऽवेदसौ। शिवौ। भवतम्। अद्य। नः॥३॥

पदार्थः—(भवतम्) स्यातम् (नः) अस्मभ्यम्। (**समनसौ**) समानं मनो विज्ञानं ययोस्तौ (सचेतसौ) समानं चेतनं ज्ञानं संज्ञापनं ययोस्तौ। (अरेपसौ) अविद्यमानं रेपो व्यक्तं शाकृतं वचनं ययोरध्येत्रध्यापकयोः स्तौ। (मा) निषेधार्थे। (यज्ञम्) अध्ययनाध्यापनाख्यं कर्म। (हिंसिष्टम्) हिंस्याताम्। (मा) निषेधार्थे। (यज्ञपतिम्) एतद्यज्ञपालयितारम्। (जातवेदसौ) जातं वेदो विज्ञानं ययोस्तौ। (शिवौ) मंगलकारिणौ। (भवतम्) भवेतम्। (अद्य) अस्मिन् दिने। (नः) अस्मभ्यम्। अयं मंत्रः। शत० ३।१।२।२४। व्याख्यातः॥ ३॥

अन्वयः—यावरेपसौ समनसौ सचेतसौ जातवेदसावध्येत्रध्यापकौ नोऽस्मभ्यमुपदेष्टारौ भवतं स्यातां तौ यज्ञं यज्ञपतिं च मा हिंसिष्टं मा हिंस्याताम्।

एतावद्यास्मभ्यं शिवौ मंगलकारिणौ भवतं स्याताम् ॥ ३ ॥

भावार्थः— मनुष्यैर्नैव कदाचित् विद्याप्रचारायाध्ययनमध्यापनं च त्यक्तव्यं मंगलाचरणं चास्य सर्वोत्कृष्टत्वात् ॥ ३ ॥

पदार्थः— जो । (अरेपसौ) प्राकृत मनुष्यों के भाषा रूपी वचन से रहित । (समनसौ) तुल्य विज्ञान युक्त । (सचेतसौ) तुल्य ज्ञान ज्ञापन युक्त । (जातवेदसौ) वेद और उन विद्याओंको सिद्ध किये हुए पढ़ने पढ़ाने वाले विद्वान् । (नः) हम लोगों के लिये उपदेश करने वाले । (भवतम्) होवें जो । (यज्ञम्) पढ़ने पढ़ाने रूप यज्ञ वा । (यज्ञपतिम्) विद्या प्रद यज्ञ के पालन करने वाले यजमान को। (माहिंसिष्टम्) न पीड़ित करें वे । (अद्य) आज । (नः) हम लोगों के लिये । (शिवौ) मंगल करने वाले । (भवतम्) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थः— मनुष्यों को उचित है कि विद्या प्रचार के लिये पढ़ना पढ़ाना वा मंगलाचरण को न छोड़ें क्योंकि यही सर्वोत्तम कर्म है ॥ ३ ॥

अग्नावग्निरित्यस्य गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः । अत्र महीधरेण विराडित्यशुद्धं व्याख्यातम् ॥

विद्युद्विद्वांसौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

विद्युत् और विद्वान् अग्नि कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा ॥ स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳ सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा ॥ ४ ॥

अग्नौ । अग्निः । चरति । प्रविष्ट इति प्रऽविष्टः । ऋषीणाम् । पुत्रः । अभिशस्तिपावेत्यभिशस्तिऽपावा । सः । नः । स्योनः । सुयजेति सुऽयजा । यज । इह । देवेभ्यः । हव्यम् । सदम् । अप्रयुच्छन्नित्यप्रऽयुच्छन् । स्वाहा ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अग्नौ) विद्युति । (अग्निः) विद्वान्मनुष्यः । (चरति) गच्छति । (प्रविष्टः) प्रवेशं कुर्वाणः । सन् । (ऋषीणाम्) वेदार्थविदाम् । (पुत्रः) सुशिक्षितोऽध्यापितः । अभिशस्तिपावा योऽभिशस्तेराभिमुख्याद्धिंसमानात्पाति रक्षति । (सः) विद्वान् । (नः) अस्मभ्यम् । (स्योनः) सुखकारी । (सुयजा) सुष्ठु यजन्ति यस्मिन् यज्ञे तेन । (यज) संगमयतु । (इह) जगति । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा । (हव्यम्) दातुं ग्रहीतुं योग्यं पदार्थम् । (सदम्) सद्यते विज्ञायते प्राप्यते यत्तम् (अप्रयुच्छन्) अप्रविवासयन् (स्वाहा) सुहुतं हविरन्नम् । अयं मंत्रः शत० ३ । ३ । २ । २५ । व्याख्यातः ॥ ४ ॥

अन्वयः—योऽभिशस्तिपावाऽग्नौ प्रविष्टऋषीणां पुत्रः स्योनः सुयजा अग्निर्विद्वानप्रयुच्छंश्चरति योऽस्मभ्यमिह देवेभ्यो हव्यं सदं स्वाहा सुहुतं हविरन्नादिकं प्रयच्छति प्रापयति तं वयं संगच्छेमहि ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरिह योऽग्निः किल कार्य्यकारणभेदेन द्विधास्ति तत्र कार्य्य रूपेण सूर्य्यादावग्नौ कारणरूपा विद्युत् सर्वभूतद्रव्येषु प्रविष्टा सती वर्त्तमानास्ति च विज्ञानेन प्रतिस्पर्धते सम्यक् संप्रयोज्य कार्य्योपयोगः कर्त्तव्यः ॥ ४ ॥

पदार्थः—जो । (अभिशस्तिपावा) सब प्रकार हिंसा करने वालों से रहित । (अग्नौ) विद्युत् अग्नि की विद्या में । (प्रविष्टः) प्रवेश करने कराने (ऋषीणाम्) वेदादि शास्त्रोंके शब्द अर्थ और संबन्धों को यथावत् जनाने वालों का । (पुत्रः) पुत्र हुआ । (स्योनः) सर्वथा सुखकारी (सुयजा) विद्याओं को अच्छी प्रकार प्रत्यक्ष संग कराने हारा (अग्निः) प्रकाशात्मा (अप्रयुच्छन्) प्रमाद रहित अव्यापक विद्वान् (चरति) जो । (नः) हम लोगों के लिये । (इह) इस संसार में । (देवेभ्यः) विद्वान् वा दिव्य गुणों से । (हव्यम्) लेने देने योग्य पदार्थ वा (सदम्) ज्ञान और । (स्वाहा) हवन करने योग्य उत्तम अन्नादि को प्राप्त करता है । (सः) सो आप (यज) सब विद्याओं को प्राप्त कराइये ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो अग्नि कार्य्य कारण के भेद से दो प्रकार का निश्चित अर्थात् जो कार्य्यरूप से सूर्य्यादि और कारण रूप से विद्युत् अग्नि सब मूर्तिमान् द्रव्यों में प्रवेश कर रहा है उसका इस संसार में विद्या से संप्रयोग करके कार्यों में उपयोग करना चाहिये ॥ ४ ॥

आपतयेत्वेत्यस्य गोतमऋषिः । विद्युद्देवता । पूर्वस्यार्च्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः । अनाधृष्टमित्यग्रस्य भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैः किमर्थः परमात्मा प्रार्थनीयः सा विद्युच्च स्वीकार्येत्युपदिश्यते ॥

मनुष्यों को किस २ प्रयोजन के लिये परमात्मा की प्रार्थना बिजली का स्वीकार करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

आप॑तये त्वा॒ परि॑पतये गृह्णामि॒ तनू॒नप्त्रे॑ शाक्व॒राय॒ शक्व॑न॒ ओजि॑ष्ठाय

अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजो

नभिशस्त्यभिशस्तिपाऽ अनभिशस्ते-

न्यमञ्जसा सत्यमुपगेषꣳ स्विते मा धाः ॥५॥

आपतयऽइत्याऽपतये । त्वा । परिपतयऽइति परिऽपतये । गृह्णामि । तनूनप्त्रऽइति तनूऽनप्त्रे । शाक्वराय । शक्वने । ओजिष्ठाय । अनाधृष्टम् । असि । अनाधृष्यम् । देवानाम् । ओजः । अनभिशस्तीत्यनभिऽशस्ति । अभिशस्तिपाऽइत्यभिशस्तिऽपाः । अनभिशस्तेन्यमित्यनभिऽशस्तेन्यम् । अञ्जसा । सत्यम् । उप । गेषम् । स्वितऽइति सुऽइते । मा । धाः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(आपतये) समन्तात्पतिः पालको यस्मिंस्तस्मै । (त्वा) परमेश्वरं विद्युतं वा (परिपतये) परितः सर्वतः पतयो यस्मिंस्तस्मै । (गृह्णामि) स्वीकरोमि । (तनूनप्त्रे) तनूः देहान् नयन्ति प्रापनुवन्ति येन तस्मै । (शाक्वराय) शक्तिजननाय । (शक्वने) शक्तिमद्वीरसैन्यप्राप्तये । (ओजिष्ठाय) अतिशयेनौजो विद्यते यस्मिन्व्यवहारे तस्मै । (अनाधृष्टम्) यन्न धृष्यते

और रखने वाले हैं इससे (त्वा) आपको (आपतये) सब प्रकार से स्वामी होने (परिपतये) सब ओर से रक्षा (शाक्वराय) सब सामर्थ्य की प्राप्ति (शक्वने) शूरवीर युक्त सेना (ओजिष्ठाय) जिसमें सर्वोत्कृष्ट पराक्रम होता है उस विद्या के होने और (तनूनप्त्रे) जिसमें उत्तम शरीर होता है उसके लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं । आप अपनी कृपा से उस (देवानाम्) विद्वानों का (अनाधृष्टम्) जिसका अपमान कोई नहीं कर सकता (अनाधृष्यम्) किसी के अपमान करने योग्य नहीं है । (अनभिशस्ति) किसी के हिंसा करने योग्य नहीं है (अभिशस्तेन्यम्) अहिंसारूप धर्म की प्राप्ति कराने हारा (सत्यम्) अविनाशी (ओजः) तेज है उसका ग्रहण कराके (स्विते) अच्छे प्रकार जिस व्यवहार में सब सुख प्राप्त होते हैं उसमें (मा) मुझको (धाः) धारण करें कि जिससे (सत्यम्) सत्य व्यवहार को (उपगेषम्) जान कर करूं ॥ १ ॥

मैं जो (अनाधृष्टम्) न हटाने (अनाधृष्यम्) न किसी से नष्ट करने (अनभिशस्ति) न हिंसा करने (अनभिशस्तेन्यम्) और हिंसारहित धर्म प्राप्त कराने योग्य (देवानाम्) विद्वान् वा पृथ्वी आदिकों के मध्य में (सत्यम्) कारणरूप नित्य (ओजः) पराक्रम स्वरूप वाली (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा का निमित्त रूप बिजली (अग्नि) है. जो (मा) मुझे (स्विते) उत्तम प्राप्त होने योग्य व्यवहार में (धाः) धारण करती है (अञ्जसा) सहजता से (ओजिष्ठाय) अत्यन्त तेजस्वी (आपतये) अच्छे प्रकार पालन करने योग्य व्यवहार (परिपतये) जिस में सब प्रकार पालन करने वाले होते हैं (तनूनप्त्रे) जिस से उत्तम शरीरों को प्राप्त होते हैं (शाक्वराय) शक्ति के उत्पन्न करने और (शक्वने) शक्ति वाली वीरसेना की प्राप्ति के लिये है (त्वा) उसको (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं कि जिससे उन सत्य कारण रूप पदार्थों को (उपगेषम्) जान सकूं ॥ ५ ॥

भावार्थः— मनुष्यों को परमेश्वर के विज्ञान के विना सत्य सुख और बिजली आदि विद्या और क्रियाकुशलता के विना संसार के सब सुख नहीं हो सकते, इसलिये यह कार्य्य पुरुषार्थ से सिद्ध करना चाहिये ॥ ५ ॥

अग्ने व्रतपास्त्वस्य गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । विराट् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्ते कीदृशावित्युपदिश्यते

फिर वह परमात्मा और बिजली कैसी है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अग्ने॑ व्रतपास्त्वे व्र॑तपा या तव॑ तनूरि॒य०
ᳫ सा मयि॒ यो मम॑ त॒नूरे॒षा सा त्वयि॑॥
स॒ह नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्य॑नु मे दी॒क्षान्
दी॒क्षाप॑ति॒र्मन्य॑ता॒मनु॒ तप॒स्तप॑स्पतिः
॥ ६ ॥

अग्ने॑ । व्र॒त॒पा॒ऽइति॑ व्रत॒ऽपाः । त्वे इति॒ त्वे । व्र॒त॒पा॒ऽइति॑ व्रत॒ऽपाः । या । तव॑ । त॒नूः । इ॒यम् । सा । मयि॑ । यो॒ऽइति॒ यो । मम॑ । त॒नूः । ए॒षा । त्वयि॑ । स॒ह । नौ॒ । व्र॒त॒प॒त॒ऽइति॑ व्रत॒ऽप॒ते॒ । व्र॒तानि॑ । अनु॑ । मे॒ । दी॒क्षाम् । दी॒क्षाप॑ति॒रिति॑ दी॒क्षाऽप॑तिः । मन्य॑ताम् । अनु॑ । तपः॑ । तप॑स्पति॒रिति॒ तपः॑ऽपतिः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विज्ञानस्वरूप परब्रह्मन् विद्युद्वा (व्रतपाः) व्रतानि सत्यभाषणादीनि पाति यस्मात्तथा वा (त्वे) त्वयि तस्यां वा (व्रतपाः) व्रतानि सुशीलादीनि पाति येन यथा वा (या) वक्ष्यमाणा (तव) भवतस्तस्या वा (तनूः) विस्तृता

होता हूं। (या) जो (इयम्) यह (तव) आप और उस की (तनूः) विस्तृत व्याप्ति है (सा) वह (मयि) मुझ में (यो) जो (एषा) यह (मम) मेरा (तनूः) शरीर है (सा) सो (त्वयि) आप वा उस में है (व्रतानि) जो ब्रह्मचर्य्यादि व्रत हैं वे मुझ में हों और जो (मे) मुझ में हैं वे (त्वयि) तुह्मारे में हैं जो आप वा वह (तपस्पतिः) जितेन्द्रियत्वादिपूर्वक धर्मानुष्ठान के पालक निमित्त हैं सो (मे) मेरे लिये (तपः) पूर्वोक्त तपको (अनुमन्यताम्, विज्ञापित कीजिये वा करती है और जो आप वा वह (दीक्षापतिः) व्रतोपदेशों के रक्षा करने वाले हैं सो (मे) मेरे लिये (दीक्षां) व्रतोपदेश को (अनुमन्यताम्) आज्ञा कीजिये वा करती है इस लिये भी (नौ) मैं और आप पढ़ने पढ़ाने हारे दोनों प्रीति के साथ वर्त्त कर विद्वान धार्मिक हों कि जिससे दोनों की विद्यावृद्धि सदा होवे ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। मनुष्यों को परस्पर प्रेम वा उपकार बुद्धिसे परमात्मा वा बिजली आदिका विज्ञान कर वा करा के धर्मानुष्ठान से पुरुषार्थ में निरन्तर प्रवृत्त होना चाहिये ॥ ६ ॥

अꣳशुरित्यस्य गोतमऋषिः। सोमो देवता। आद्यस्यार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः। आप्यायस्वेत्यन्तस्यार्षी जगतीछन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनस्ते कीदृशौ विद्वांश्चेत्युपदिश्यते

फिर वह ईश्वर बिजली और विद्वान् कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे॥ आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व। आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्न्या मेधया

स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय ॥ एष्टा रायः प्रेषे भगाय ऽऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥७॥

अꣳशुरꣳशुरित्यꣳशुःऽअꣳशुः । ते । देव । सोम । आ । प्यायताम् । इन्द्राय । एकधनविदऽइत्येकधनऽविदे । आ । तुभ्यम् । इन्द्रः । प्यायताम् । आ । त्वम् । इन्द्राय । प्यायस्व । आ । प्यायय । अस्मान् । सखीन् । सन्न्या । मेधया । स्वस्ति । ते । देव । सोम । सुत्याम् । अशीय । एष्टाऽइत्याऽइष्टा । रायः । प्र । इषे । भगाय । ऋतम् । ऋतवादिभ्यऽइत्यृतवादिऽभ्यः । नमः । द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अंशुरंशुः) अवयवोऽवयवः । अत्राशृङ्व्याप्तौ संघातेभो-ऽनेषत्यस्माद्धातुलकादौणादिक उप्रत्ययो नुमागमश्च (ते) तव तस्या वा (देव) दिव्यगुणैः संपन्नेश्वरविद्वन् ! वा (सोम) सकलपदार्थानां जनक ! प्रकाशिके ! वा (आ) समंतात् । (प्यायताम्) वर्धयताम् । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः ।

(इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्ताय (एकधनविदे) य एकेन धर्मेण विज्ञानेन वा धनं विन्दति तस्मै (आ) अभितः (तुभ्यम्) अध्यापकाय मह्ममध्येत्रे वा (इन्द्रः) परमात्मा विद्युद् वा (प्यायताम्) (आ) सर्वतः (इन्द्राय) दुःखविदारणाय (प्यायस्व) वर्धस्व वर्धयस्व । (आ) अभितः (प्यायय) वर्धय वर्धयति वा । (अस्मान्) (सखीन्) सुहृदः (सन्न्या) सम्यग्नानापदार्थान्नयति यया तया (मेधया) प्रज्ञया (स्वस्ति) सुखम् (ते) तव तस्याः सकाशाद्वा (देव) दिव्यगुणप्रद प्रदानहेतुर्वा (सोम) प्रेरक ओषधिरसो वा (सुत्याम्) सुन्वन्ति यया क्रियया ताम् (अशीय) व्याप्नुयां प्राप्नुयाम् । (एष्टाः) सर्वत इष्टकारिणः (रायः) धनसमूहाः (प्र) प्रकृष्टार्थे (इषे) अन्नायेच्छायै वा (भगाय) ऐश्वर्याय । (ऋतम्) यथार्थम् (ऋतवादिभ्यः) ऋतं वदितुं शीलं येषां तेभ्यः सत्यवादिभ्यो विद्वद्भ्यः (नमः) सत्कारमन्नम् । (द्यावापृथिवीभ्याम्) प्रकाशभूमिभ्याम् ॥ अयं मन्त्रः । शत० । ३ । ३ । ४ । १८—२१ । व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे सोम देवेश्वर विद्वन्! विद्युद्वा यतस्ते तव तस्या वा सामर्थ्यमंशुरंशुरङ्गमङ्गं सोमेनाप्यायतामाप्यायति चेन्द्रः सोमो भवानियं चैकधनविद इन्द्राय तुभ्यमह्यं वा प्यायतामाप्यायति वा त्वमिन्द्राय प्यायस्व वर्धयस्व वर्धयेद्वाऽतः सखीनस्मान्सन्न्या मेधया प्यायस्वाप्यायपयाप्याययेद्वा यतोऽहं सुत्यां दिव्यगुणसम्पन्नो भूत्वेष्टारायोऽशीय यैरिषे भगायर्तवादिभ्यो विद्वद्भ्य एतद्धनं दत्वा सत्यां विद्यां द्यावापृथिवीभ्यामन्नं च प्राप्य सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयाम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । मनुष्यैः परमेश्वरगुणाश्च विद्वांसः

विद्वांसमुपाचार्य्य विद्युद्विद्यां प्रचार्य्य शरीरात्मपुष्टिकरानोषधिसमूहान् धनसमुदायांश्च संगृह्य वैद्यकविद्यानुसारेण सर्वानन्दा भोक्तव्याः ॥ ७ ॥

पदार्थः— हे (सोम) पदार्थ विद्या को जानने वा (देव) दिव्यगुणसंपन्न जगदीश्वर ! विद्वन् ! विद्युद्वा जिससे (ते) आप वा इस विद्युत् का सामर्थ्य (अंशुरंशुः) अवयव२ अंश२ को (आप्यायताम्) रक्षा से बढ़ा अथवा बढ़ाती है । (इन्द्रः) जो आप वा बिजली (एकधनविदे) अर्थात् धर्मविज्ञान से धन को प्राप्त होने वाले (इन्द्राय) परमैश्वर्य्ययुक्त मेरे लिये (आप्यायताम्) बढ़ावें वा बढ़ाती है । (आप्यायस्व) वृद्धियुक्त कीजिये वा करती है । वह आप बिजली आदि पदार्थ के ठीक२ अर्थों की प्राप्ति को (सन्न्या) प्राप्ति कराने वाली (मेधया) प्रज्ञा से (अस्मान्) हम (सखीन्) सब के मित्रों को (आप्यायस्व) बढ़ाइये वा बढ़ावें जिससे (स्वस्ति) सुख सदा बढ़ता रहे (सोम) हे पदार्थविद्या को जानने वाले ईश्वर वा विद्वन् ! आप की शिक्षा वा बिजली की विद्या से युक्त होकर मैं (सुत्याम्) उत्तम २ उत्पन्न करने वाली क्रिया में कुशल होके (इषे) सिद्धि की इच्छा वा अन्न आदि (भगाय) ऐश्वर्य्य के लिये (एष्टाः) अभीष्ट सुखों को प्राप्त कराने वाले (रायः) धनसमूहों को (अशीय) प्राप्त हूजे । और (ऋतवादिभ्यः) सत्यवादी विद्वानों को यह धन देके सत्य विद्या और (द्यावापृथिवीभ्याम्) प्रकाश वा भूमि से (ऋतन्) अन्न को प्राप्त होऊं ॥ ७ ॥

भावार्थः— इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना, विद्वान् की सेवा और विद्युत् विद्या का प्रचार करके शरीर और आत्मा को पुष्ट करने वाली ओषधियों और अनेक प्रकार के धनों का ग्रहण करके चिकित्सा शास्त्र के अनुसार सब आनन्दों को भोगें ॥ ७ ॥

यात इत्यस्य गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । पूर्वस्य विराडार्षी बृहती छन्दः । यात इति द्वितीयस्य निचृदार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः सा विद्युत् कीदृशीत्युपदिश्यते ॥

फिर वह बिजली कैसी है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

या ते॑ऽअग्नेऽयःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त्स्वाहा॑॥ या ते॑ऽअग्ने रजःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त्स्वाहा॑॥ या ते॑ऽअग्ने हरिश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त्स्वाहा॑॥८॥

या। अ॒ग्ने॒। ते॒। अ॒यः॒। श॒येऽयशयः॒ऽश॒या। त॒नूः। वर्षि॑ष्ठा। ग॒ह्व॒रे॒ष्ठा। ग॒ह्व॒रे॒स्थेति॑ गह्वरे॒ऽस्था। उ॒ग्रम्। वचः॑। अप॑। अ॒व॒धी॒त्। त्वे॒षम्। वचः॑। अप॑। अ॒व॒धी॒त्। स्वाहा॑। या। ते॒। अ॒ग्ने॒। र॒जः॒श॒येति॑ रजः॒ऽश॒या। त॒नूः। वर्षि॑ष्ठा। ग॒ह्व॒रे॒ष्ठा। ग॒ह्व॒रे॒स्थेति॑ गह्वरे॒ऽस्था। उ॒ग्रम्। वचः॑। अप॑। अ॒व॒धी॒त्। त्वे॒षम्। वचः॑। अप॑। अ॒व॒धी॒त्। स्वाहा॑॥ ८॥

पदार्थः—(या) वक्ष्यमाणा (ते) अस्याः (अग्ने) विद्युतः (अयःशया) याऽयस्सु सुवर्णादिषु शेते सा । अयइति हिरण्यनामसु पठितम् निघं० १ । २ । (तनूः) व्याप्तं विस्तृतं शरीरम् । (वर्षिष्ठा) अतिशयेन वृद्धा (गह्वरेष्ठा) गह्वरे गहने गम्भीरे आभ्यन्तरे तिष्ठतीति (उग्रम्) क्रूरं भयङ्करम् (वचः) वचनम् (अप) क्रियायोगे (आवधीत्) हन्ति । अत्र सर्वत्र लडर्थे लुङ् । (त्वेषम्) प्रदीप्तम् (वचः) परिभाषणम् (अप) पृथक् करणे (आवधीत्) हन्ति । (स्वाहा) सुहुतं हविरन्नम् (या) (ते) (अग्ने) (रजःशया) या रजःसु सूर्यादिलोकेषु शेते सा (तनूः) व्याप्तिः (वर्षिष्ठा) (गह्वरेष्ठा) (उग्रम्) दुःसहम् (वचः) परिभाषणम् (अप) पृथक् करणे (आवधीत्) (त्वेषम्) प्रकाशितम् (वचः) वचनम् । (अप) पृथक् करणे । (आवधीत्) हन्ति । (स्वाहा) सुहुतां वाचम् । अयं मन्त्रः । शत० ।३।४।४।२३—२५ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या युष्माभिर्या तेऽग्नेऽस्याविद्युतो वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा तनूरुग्रं वचोऽपावधीदपहन्ति त्वेषं वचः स्वाहा सुहुतं हविरन्नं चापावधीत् । या तेऽग्नेऽस्याविद्युतो वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा रजःशया तनूरुग्रं वचोऽपावधीत्त्वेषं वचः स्वाहा सुहुतां वाचं चापावधीद्धन्ति तां सम्यग् विदित्वोपकुरुत ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्युतो या व्याप्तिर्मूर्त्तामूर्त्तद्रव्यस्था वर्त्तते तां युक्त्या सम्यग् विदित्वोपसंप्रयोज्य सर्वाणि दुःखान्यपहन्तव्यानि ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो तुम को (या) जो (ते) इस (अग्ने) बिजली रूप अग्नि का (अयःशया) सुवर्णादि में सोने (वर्षिष्ठा) अत्यन्त

षड़ा (गह्वरेष्ठाः) आभ्यन्तर में रहने वाला (तनूः) शरीर (उग्रम्) क्रूर भयंकर (वचः) वचन को (अपावधीत्) नष्ट करता और (त्वेषम्) प्रदीप्त (वचः) शब्द वा (स्वाहा) उत्तमता से हवन किये हुए अन्न को (अपावधीत्) दूर करता और जो (ते) इस (अग्ने) बिजलीरूप अग्नि का (वर्षिष्ठा) अत्यन्त विस्तीर्ण (गह्वरेष्ठा) आभ्यन्तर में स्थित होने (रजःशया) लोकों में सोने वाला (तनूः) शरीर (उग्रम्) क्रूर (वचः) कथन को (अपावधीत्) नष्ट करता है (त्वेषम्) प्रदीप (वचः) कथन वा (स्वाहा) उत्तम वाणी को (अपावधीत्) नष्ट करता है उसको जान के उससे कार्य लेना चाहिये ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि सब स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में रहने वाली जो बिजली की व्याप्ति है उसको अच्छे प्रकार जानकर उपयुक्त करके सब दुःखों का नाश करें ॥ ८ ॥

तप्तायनीत्यस्य गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । प्रथमस्य भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । विदेदग्निरित्यस्य भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः । नाम्नेहीत्यस्य निचृद्ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः । अनुत्वेत्यस्य याजुषी त्रिष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ किमर्थोऽग्न्यादिना यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते ॥

और किस लिये अग्नि आदि से यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त॒प्ताय॑नी मेऽसि वि॒त्ताय॑नी मे॒ऽस्यव॑तान्मा नाथि॒ताद॑वतान्मा व्यथि॒तात् । वि॒देद॒ग्निर्नभो॒ नामाग्ने॑ अङ्गिर॒ आयु॑ना॒ नाम्नेहि॒ योऽस्यां पृ॑थि॒व्यामसि॒ यत्तेऽना॑धृष्टं॒ नाम॑ य॒ज्ञियं॒ तेन॒ त्वा द॑धे वि॒देद॒-

ग्निर्नभो नामाग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे ॥ अनु त्वा देववीतये ॥९॥

तप्तायनीति तप्तऽअयनी । मे । असि । वित्तायनीति वित्तऽअयनी । मे । असि । अवतात् । मा । नाथितात् । अवतात् । मा । व्यथितात् । विदेत् । अग्निः । नभः । नाम । अग्ने । अङ्गिरः । आयुना । नाम्ना । आ । इहि । यः । अस्याम । पृथिव्याम । असि । यत् । ते । अनाधृष्टम् । नाम । यज्ञियम् । तेन । त्वा । आ । दधे । विदेत् । अग्निः । नभः । नाम । अग्ने । अङ्गिरः ।

आयुना । नाम्ना । आ । इहि । यः । द्वितीयस्याम् । पृथिव्याम् । असि । यत् । ते । अनाधृष्टम् । नाम । यज्ञियम् । तेन । त्वा । आ । दधे । विदत् । अग्निः ॥ नभः । नाम । अग्ने । अङ्गिरः । आयुना । नाम्ना । आ । इहि । यः । तृतीयस्याम् । पृथिव्याम् । असि । यत् । ते । अनाधृष्टम् । नाम । यज्ञियम् । तेन । त्वा । आ । दधे । अनु । त्वा । देववीतये । इति देववीतये ॥ ९ ॥

पदार्थः—(समायर्ना) समीपे स्थापनीयानि वस्तून्ययनं यस्या विद्युतः सा (मे) मम (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः (वित्तायर्नी) या वित्तानां भोगानां प्रतीतानां पदार्थानामयनी प्रापिका सा । वित्तो भोगप्रत्ययोः अ० ८ । २ । ५८ अनेन वित्तशब्दः प्रतीतार्थे भोगार्थे च निपातितः । (मे) मम (असि) यान्नि (अवतात्) रक्षति । अत्र सर्वत्र लडर्थे लोट् । (मा) माम् (नाथितात्) ऐश्वर्यात् (अवतात्) रक्षति । (मा) माम् (व्यथितात्) भयात्संचलनात् (विदत्) विजानीयात् (नभः) जलं प्रकाशं वा । नभ इति जलनामसु पठितम् निघं० १ । १२ साधारणनामसु च । निघं० १ । ४ (नाम) प्रसिद्धम् (अग्ने) जठरस्थः (अङ्गिरः) अङ्गानां रसः । (आयुना)

जीवनेन प्रापकत्वेन वा (नाम्ना) प्रसिद्ध्या (आ) समन्तात् (इहि) एति (यः) अग्निः (अस्याम्) प्रत्यक्षायाम् (पृथिव्याम्) भूमौ (असि) वर्त्तते (यत्) यादृशम् (ते) (अस्य) (अनाधृष्टम्) यत्स्य स्वाभ्युष्यते तत्तेजः (नाम) प्रसिद्धम्। (यज्ञियम्) यज्ञाङ्गसमृद्धिनिष्पादकम् (तेन) पूर्वोक्तेन (त्वा) तम् (आ) अभितः (दधे) धरामि (वि-देत्) प्राप्नुयात् (अग्निः) भौतिकः (नभः) अन्तरिक्षस्थं जलम् (नाम) प्रसिद्धम् (अग्ने) प्रसिद्धोऽग्निः (अङ्गिरः) अङ्गारस्थः (आयुना) प्रापकत्वेन (नाम्ना) प्रसिद्ध्या (आ) अभितः (इहि) प्राप्नुहि (यः) (द्वितीयस्याम्) अस्यां भिन्नायाम् (पृथिव्याम्) विस्तृतायां भूमौ (असि) अस्ति (यत्) येन (ते) (अनाधृष्टम्) प्रगल्भगुणसहितम् (नाम) प्रसिद्धम् (यज्ञियम्) यज्ञसम्बन्धि (तेन) (त्वा) तम् (आ) अभितः (दधे) धरामि (विदेत्) प्राप्नुयात् (अग्निः) सूर्यस्थः (नभः) अवकाशम् (नाम) प्रसिद्धम् (अग्ने) सूर्यरूपः (अङ्गिरः) अङ्गिना (आयुना) (नाम्ना) (आ) (इहि) उक्तार्थेषु (यः) अग्निः (तृतीयस्याम्) तृतीयकक्षायां वर्त्तमानायाम् (पृथिव्याम्) भूमौ (असि) वर्त्तते (यत्) येन (ते) (अनाधृष्टम्) भौतम् (नाम) प्रसिद्धम् (यज्ञियम्) शिल्पविद्यायज्ञसंबन्धि (तेन) (त्वा) तम् (आ) अभितः (दधे) स्वीकरोमि (अनु) आनुकूल्ये (त्वा) तम् (देववीतये) देवानां दिव्यानां गुणानां भोगानां वा प्राप्तये ॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ४। १। ९—१२ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः— हे विद्यांजिघृक्षो ! यथाऽहं तेन यथा तमाग्न्यस्यस्ति विज्ञायनी विद्युदस्यस्ति त्वा तां वेद्मि तथा त्वामेतेनैतद्विद्यां मे मम सकाशादेहि प्राप्नुहि यथाऽयं सुसेवितः सविता नभो जलं प्रकाशं वा प्रयच्छन् मा मां व्याधितादवता-

व्याथिताच्चावतात्तथा त्वया सेवितः संस्त्वामपि रक्षेत् तथाऽहं तेन । योऽस्मेऽङ्गिरोऽग्निरायुना नाम्नाऽस्यां पृथिव्यां नाम प्रसिद्धोऽस्ति त्वा तं देवर्यातये विजानामि यथैतेनैनं त्वमपि मे मम सकाशादेहि संजानीहि यथाऽहं तेन नाम्ना यदनाधृष्टं यज्ञियं नाम तेज आदधे तथा तेन त्वा तं त्वमेतेनैनमस्मान्नेहि सर्वो जनश्चानुविदेत् । यथाऽहं तेन योऽग्निर्द्वितीयस्यां पृथिव्यामग्नेऽङ्गिर आयुना नाम्ना नामासि वर्त्तते यो नभः सुखं प्रयच्छति त्वा तं संप्रयोजयामि तथैतेन त्वंनं त्वमेहि सर्वो जनश्चानुविदेत् । यथाऽहं तेन यदनाधृष्टं यज्ञियं नाम तेजोऽस्य त्वाऽऽदधे तथा त्वमेतेन नाम्ना त्वामिहि सर्वो जनश्चानुविदेत् । यथाऽहं तेन योऽग्निरायुना नाम्ना तृतीयस्यां पृथिव्यामग्नेऽङ्गिरः सूर्यरूपेण नामासि वर्त्तते यो नभोऽवकाशं द्योतयति त्वा तं जानामि तथैनमेतस्य त्वमपि सर्वो जनोऽपि विदेत् ॥ ९ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यः प्रसिद्धसूर्यविद्युद्रूपेण त्रिविधोऽग्निः सर्वेषु लोकेषु बाह्याभ्यन्तरतो वर्त्तते तं विदित्वा विज्ञाप्य च सर्वैर्मनुष्यैः सर्वकार्यसिद्धिः सम्पादनीया ॥ ९ ॥

पदार्थः— हे विद्या के ग्रहण करनेवाले विद्वान् ! जैसे मैं (यत्) जो (तप्तायनी) स्थापनीय वस्तुओं के स्थान वाली विद्युत् ज्वाला (असि) है । वा जो (वित्तायनी) भोग्य वा प्रतीत पदार्थों को प्राप्त कराने वाली बिजली (असि) है (त्वा) उसकी विद्या को जानता हूं वैसे तू भी इसको (मे) मुझसे (एहि) प्राप्त हो। जैसे यह (यत्) जो (अग्निः) प्रसिद्ध अग्नि (नभः) जल वा प्रकाश को प्राप्त कराता हुआ (मा) मुझको (व्यथितात्) भय से (अवतात्) रक्षा करता वा (नाथितात्) ऐश्वर्य से (अवतात्) रक्षा करता है वैसे तुझ से सेवन किया हुआ यह तेरी भी रक्षा करेगा । जैसे मैं (तेन) उस साधन से जो (अग्ने) जाठर रूप (अङ्गिरः) अङ्गों में रहने वाला अग्नि (आयुना) जीवन वा (नाम्ना) प्रसिद्धि से (अस्याम्) इस (पृथिव्याम्) पृथिवी में (नाम) प्रसिद्ध है (त्वा) उसको जानता

हूं वैसे तूभी इसको (मे) मुझसे (एहि) अच्छे प्रकार जान । जैसे मैं (तेन) उस ज्ञान से (यत्) जो (अनाधृष्टम्) नहीं नष्टहोने योग्य (यज्ञियम्) यज्ञाङ्ग समूह (नाम) प्रसिद्ध तेज है (त्वा) उसको (देववीतये) दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये (त्वा) उस यज्ञ को (आदधे) धारण करता हूं वैसे तू उससे इसको उत्तम गुणों की प्राप्ति के लिये धारण कर और वैसे सब मनुष्य भी उससे इसको (विदेत्) प्राप्त होवें । जैसे मैं (तेन) जो (द्वितीयस्याम्) दूसरी (पृथिव्याम्) भूमि में (अग्ने) (अङ्गिरः) अंगारों में रहने वाला अग्नि (आयुना) जीवन वा (नाम्ना) प्रसिद्धि में (नाम) प्रसिद्ध है वा (यः) जो (नमः) सुख को देता है (तेन) (त्वा) उससे उसको प्राप्त हुआ हूं वैसे तू उससे इसको (एहि) जान और सब मनुष्य भी उससे इस को (विदेत्) प्राप्त हों । जैसे मैं (तेन) पुरुषार्थ से जो (अनाधृष्टम्) प्रगल्भगुण सहित (यज्ञियम्) यज्ञ सम्बन्धि (नाम) प्रसिद्ध तेज है (त्वा) उससे भोगों की प्राप्ति के लिये (आदधे) धारण करता हूं तथा तू उस के लिये धारण कर और सब मनुष्य भी(विदेत) धारण करें । जैसे मैं (तेन) उस क्रियाकौशल से जो (अग्निः) अग्नि (आयुना) जीवन वा प्रसिद्धि में (अङ्गिरः) अंगों का सूर्यरूप से पोषण करता हुआ (नाम) प्रसिद्ध है वा जो (नमः) आकाश को प्रकाशित करता है (त्वा) उस को धारण करता हूं वैसे तू उसको धारण कर वा सब लोग भी (अनुविदेत्) उस को ठीक२ जान के कार्य सिद्ध करें । जैसे मैं (तेन) इन्धनादि सामग्री से जो (अनाधृष्टम्) प्रगल्भ सहित (यज्ञियम्) शिल्पविद्यासम्बन्धी (नाम) प्रसिद्ध तेज है (त्वा) उसको विज्ञानों की प्राप्ति के लिये (आदधे) धारण करता हूं वैसे तू उस से उस की प्राप्ति के लिये (अन्वेहि) खोज कर और सबमनुष्य भी विद्या से संप्रयोग करें॥९॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जो प्रसिद्ध सूर्य बिजली रूप से तीन प्रकार का अग्नि सब लोगों में बाहिर भीतर रहने वाला है उसको जान और जनाकर सब मनुष्यों को कार्यसिद्धि का सम्पादन करना कराना चाहिये ॥ ९ ॥

सिꣳह्यसीत्यस्य गोतमऋषिः । वाग्देवता । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ सर्वासां विद्यानां मुख्यसाधिकाया वाचो गुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब अगले मन्त्र में सब विद्याओं की मुख्य सिद्धि करने वाली वाणी के गुणों का उपदेश किया है ॥

सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व ॥ १० ॥

सिꣳही । असि । सपत्नसाहीति सपत्नऽसाही । देवेभ्यः । कल्पस्व । सिꣳही । असि । सपत्नसाहीति सपत्नऽसाही । देवेभ्यः । शुन्धस्व । सिꣳही । असि । सपत्नसाहीति सपत्नऽसाही । देवेभ्यः । शुम्भस्व ॥१०॥

पदार्थः—(सिꣳही) हिनस्ति दोषान्यया यद्वा सिञ्चत्युच्चारयति यया वाचा सा । हिंसः सिंह इति हयवरडिति व्याख्याने महाभाष्यकारोक्तिः । सिचेः संज्ञायां हनुमौ कश्च उ० ५।६२ अनेन कप्रत्ययो हकारादेशो नुमागमश्च । अत्र सर्वत्र गौरादाकृतिगणान्तर्गतत्वान्ङीप् (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (सपत्नसाही) यया सपत्नान् शत्रून् सहन्ते सा (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यो विद्वद्भ्यो विजिगीषुभ्यः शूरवीरेभ्यः (कल्पस्व) अध्यापनोपदेशाभ्यां समर्थय । (सिꣳही) अविद्या विनाशिका

(असि) अस्ति (सपत्नसाही) यया सपत्नान् दोषान् सहन्ते मृष्यन्ति दूरीकुर्वन्ति सा (देवेभ्यः) धार्म्मिकेभ्यः (शुन्धस्व) शोधय (सिंही) दुष्टशीलविनाशिनी (असि) अस्ति । (सपत्नसाही) यया सपत्नान् दुष्टानि शीलानि सहन्ते सा (देवेभ्यः) सुशीलेभ्यो विद्वद्भ्यः (शुम्भस्व) शोभायुक्तान् कुरु । अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । १ । ३३ । व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे विद्वँस्त्वं या सपत्नसाही सिंही वागस्ति तां देवेभ्यः कल्पस्व या सपत्नसाही सिंही वागस्ति तां देवेभ्यः शुन्धस्व या सपत्नसाही सिंही वागस्ति तां देवेभ्यः शुम्भस्व ॥ १० ॥

भावार्थः—त्रिविधा खलु वाग् भवति शिक्षाविद्यासंस्कृता सत्यभाषणा मधुरा चैषा मनुष्यैः सर्वदा स्वीकार्य्या ॥ १० ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्य तू जो (सपत्नसाही) जिस से शत्रुओं को सहन करते हैं वह (देवेभ्यः) उत्तम गुण शूर वीरों के लिये (कल्पस्व) पढ़ा और उपदेश करके प्राप्त कर (सिंही) जो दोषों को नष्ट करने वा शब्दों का उच्चारण करने वाली वाणी (असि) है उसको (देवेभ्यः) विद्वान् दिव्यगुण वा विद्या की इच्छा वाले मनुष्यों के लिये (शुन्धस्व) शुद्धता से प्रकाशित कर । जो (सपत्नसाही) दोषों को हनन वा (सिंही) अविद्या के नाश करने वाली वाणी (असि) है उसको (देवेभ्यः) धार्मिकों के लिये (शुन्धस्व) शुद्ध कर और जो (सपत्नसाही) दुष्ट स्वभाव और (सिंही) दुष्ट दोषों को नाश करने वाली वाणी (असि) है उसको (देवेभ्यः) सुशील विद्वानों के लिये (शुम्भस्व) शोभा युक्त कर ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को अति उचित है कि जो इस संसार में तीन प्रकार की वाणी होती है अर्थात् एक शिक्षा विद्या से संस्कार की हुई, दूसरी सत्यभाषण युक्त और तीसरी मधुरगुणसहित, उन का स्वीकार करें ॥ १० ॥

इन्द्रघोषस्त्वेत्यस्य गोतमऋषिः । वाग्देवता । निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स सा कीदृशीत्युपदिश्यते ॥

फिर वह कैसा और कैसी है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहन्तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निः सृजामि ॥ ११ ॥

इन्द्रघोषऽइतीन्द्रऽघोषः । त्वा । वसुभिरितिवसुऽभिः। पुरस्तात् । पातु । प्रचेताऽइति प्रऽचेताः । रुद्रैः । पश्चात् । मनोजवाऽइति मनःऽजवाः । पितृभिरितिपितृऽभिः । दक्षिणतः । पातु । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । आदित्यैः । उत्तरत । पातु । इदम् । अहम् । तप्तम् । वाः । बहिर्धेति बहिःऽधा । यज्ञात । निः । सृजामि ॥ ११ ॥

पदार्थः—(इन्द्रघोषः) इन्द्रस्य परमेश्वरस्य वेदाख्याया विद्युतो

वा घोषो विविधशब्दार्थसंबन्धो यस्य यस्या वा स सा वा। वाक् घोषइति वाङ्नामसु पठितम् निघं० १। ११। (त्वा) त्वाम् तां वाचं वा (वसुभिः) अग्न्यादिभिः कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यैर्वा सह वर्त्तमाना (पुरस्तात्) पूर्वस्मात् (पातु) रक्षतु। (प्रचेताः) या प्रकृष्टविज्ञाना यया प्रकृष्टया चेतन्ति संजानन्ति सा (त्वा) त्वां तां वा (रुद्रैः) या प्राणैः कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यैः सह वा वर्त्तते स सा वा (पश्चात्) पश्चिमदेशात् (पातु) पालयतु। (मनोजवाः) मनोवज्जवो वेगो यस्य यस्याः स सा वा (त्वा) त्वां तां वा (पितृभिः) ज्ञानिभिर्ऋतुभिर्वा। ते वा एत ऋतवः। शत० २। १। ३। २ अनेन पितृशब्दादृतवोऽपि गृह्यन्ते। पितर इति पदनामसु पठितम् निघं० ५। ५ अनेन ज्ञानवन्तो मनुष्या गृह्यन्ते (दक्षिणतः) दक्षिणदेशात् (पातु) रक्षतु। (विश्वकर्मा) विश्वानि सर्वाणि कर्माणि यस्या यस्य वा सा वाक् स विद्वान् वा (त्वा) त्वां तां वा (आदित्यैः) संवत्सरस्य मासैः कृताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यैः सह वा वर्त्तमाना (उत्तरतः) उत्तरस्माद्देशात्। (इदम्) अन्तःस्थमुदकम्। इदमित्युदकनामसु पठितम्। निघं० १। १२। (अहम्) सत्यधर्मानुष्ठानाऽध्यापनश्रेष्ठो वा सेवकः (वाः) वार्युदकम् वा। इत्युदकनामसु पठितम्। निघं० १। १२। (वाहिर्धा) या बहिर्बाह्ये देशे धरति शब्दान् सा (यज्ञात्) अध्ययनाध्यापनाख्यात्सत्कर्मणाद्वा (निः) नितराम् (सृजामि) संपद्ये प्रक्षिपामि वा। अथ मन्त्रः। शत० ३। ४। २। ४—८ व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अन्वयः— हे मनुष्या यथा प्रचेता इन्द्रघोषो विश्वकर्माहं यज्ञादिदमन्तःस्थमुदकं तथा वहिर्धा वर्त्तमानं शीतलं या उदकं च निःसृजामि, तथा या वसुभिः सह वर्त्तमानेन्द्रघोषो वागस्ति तां पुरस्ताद्रक्षामि तथा भवानपि पातु। या रुद्रैः

सह वर्त्तमाना प्रचेता वागस्ति तां पश्चात्पालयामि तथा भवानपि पातु । या पितृभिः सह वर्त्तमाना मनोजवा वागस्ति तां दक्षिणतोऽवामि तथा भवानपि पातु । या आदित्यैः सह वर्त्तमाना वागस्ति तामुत्तरतो रक्षामि तथा भवानपि पातु ॥ ११ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैर्वसुरुद्रादित्यपितृभिः सेवितां यज्ञाधिकृतां वाचमुदकं च विद्यया सत्क्रियया सह संसेव्य शुद्धां निर्मलं च सततं भावनीयम् ॥ ११ ॥

पदार्थः- हे विद्वान् मनुष्य ! जैसे (प्रचेताः) उत्तम ज्ञान युक्त (इन्द्रघोषः) परमात्मा वेदविद्या और बिजली का घोष अर्थात् शब्द अर्थ और सम्बन्धों के बोधवाला (विश्वकर्मा) सब कर्मवाला मैं (यज्ञात्) पढ़ना पढ़ाना वा होम रूप यज्ञ से (इदम्) आभ्यन्तर में रहनेवाले (तमम) तप्त जल (बहिर्धा) बाहर धारण होने वाले शीतल (वाः) जल को (निःसृजामि) संपादन करता वा निःक्षेप करता हूं वैसे आप भी कीजिये । जो (वसुभिः) अग्नि आदि पदार्थ वा चौबीश वर्ष ब्रह्मचर्य्य किये हुए मनुष्यों के साथ वर्त्तमान (इन्द्रघोष) परमेश्वर जीव बिजली के अनेक शब्द सम्बन्धी वाणी है उसको (पुरस्तात्) पूर्वदेश से जैसे मैं रक्षा करता हूं वैसे आप भी (पातु) रक्षा करो जो (रुद्रैः) प्राण वा चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य किये हुए विद्वानों के साथ वर्त्तमान (प्रचेताः) उत्तम ज्ञान करानेवाली वाणी है उसको (पश्चात्) पश्चिम देश में रक्षा करता हूं वैसे आप भी (पातु) रक्षा करें । जो (पितृभिः) ज्ञानी वा ऋतुओं के साथ वर्त्तमान (मनोजवाः) मन के समान वेगवाली वाणी है उसको (दक्षिणतः) दक्षिण देश में पालन करता हूं वैसे आप भी (पातु) रक्षा करें । जो (आदित्यैः) बारह महीनों वा अड़तालीश वर्ष ब्रह्मचर्य्य किये हुए विद्वानों के साथ वर्त्तमान (विश्वकर्मा) सब कर्मयुक्त वाणी है उसकी (उत्तरतः) उत्तर देश से पालन करता हूं वैसे आप भी (पातु) रक्षा करें ॥ ११ ॥

भावार्थः- इस मन्त्र में वाच० है । मनुष्यों को योग्य है कि जो वसु रुद्र आदित्य और पितरों से सेवन किई हुई वा यज्ञ को सिद्ध करने वाली वाणी वा जल

को सेवन विद्या वा उत्तम क्रिया के साथ बिजली है उसके सेवन में निरन्तर वर्तें ॥ ११ ॥

सिᳬंह्यसीत्यस्य गोतमऋषिः । वाग्देवताभुरिग्ब्राह्मीपंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशीत्युपदिश्यते ॥

फिर वह कैसी है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

सिᳬंह्यसि स्वाहा सिᳬंह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिᳬंह्यसिब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिᳬंह्यसि सुप्रजावनीरायस्पोषवनिः स्वाहा सिᳬंह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा ॥ १२ ॥

सिᳬंही । असि । स्वाहा । सिᳬंही । असि । आदित्यवनिरित्यादित्यऽवनिः । स्वाहा । सिᳬंही । असि । ब्रह्मवनिरिति ब्रह्मऽवनिः । क्षत्रवनिरिति । क्षत्रऽवनिः । स्वाहा । सिᳬंही । असि । सुप्रजावनिरिति । सुप्रजाः-

वनिः । रायस्पोषवनिरिति रायस्पोषऽवनिः । स्वाहा । सिंही । असि । आ । वह । देवान् । यजमानाय । स्वाहा । भूतेभ्यः । त्वा ॥ १२ ॥

पदार्थः— (सिंही) अविद्याहन्त्री (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (स्वाहा) वाक् (सिंही) क्रूरत्वादिदोषनाशिका (असि) अस्ति । (आदित्यवनिः) या आदित्यान्मासान्वनति संभजति सा (स्वाहा) ज्योतिःशास्त्रसंस्कारयुक्ता वाणी (सिंही) बलेन जाड्यत्वविनाशिनी (असि) अस्ति । (ब्रह्मवनिः) यया ब्रह्मविदो मनुष्या ब्रह्म परमात्मानं वेदं वा वनन्ति संभजन्ति सा । (क्षत्रवनिः) यया क्षत्रं राज्यं धनुर्विद्यां शूरवीरान्पुरुषान्वा वनन्ति संभजन्ति सा । (स्वाहा) अध्ययनाध्यापनराजव्यवहारकुशला वाक् । (सिंही) चोरदस्युन्यायप्रकाशकारिणी (असि) अस्ति । (सुप्रजावनिः) यया शोभनाः प्रजा वनति संभजति सा । (रायस्पोषवनिः) यया रायो विद्याधनसमूहस्य पोषं पुष्टिं वनति संभजति सा (स्वाहा) व्यवहारेण धनप्रापिका (सिंही) सर्वदुःखप्रणाशिका (असि) अस्ति । (आ) समन्तात् । (वह) वहति प्रापयति (देवान्) विदुषो दिव्यगुणान्दिव्यभोगान्वा । (यजमानाय) यजति विदुषः पूजयति सद्गुणान् संगच्छते ददाति वा तस्मै (स्वाहा) दिव्यविद्यासंपन्ना (भूतेभ्यः) मनुष्यादिप्राणिभ्यः । अयं मन्त्रः । शत० ३ । ४ । २ । ११–१३ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः— अहं याऽऽदित्यवनिः सिंही स्वाहास्यस्ति या ब्रह्मवनिः

सिंही स्वाहाऽस्यसि त्वा क्षत्रवनिः सिंही स्वाहास्यसि त्वा रायस्पोषवनिः सिंही स्वाहास्यसि त्वा सुप्रजावनिः सिंही स्वाहा त्वा यजमानाय देवानां वह मापयति तां भूतेभ्यो यज्ञाभिःसृजामि ॥ १२ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मान्मन्त्रात् (यज्ञात्) (निः) (सृजामि) इति पदत्रयमनुवर्त्तते मनुष्यैरध्ययनादिनेदृग्लक्षणां वेदादिवाणीं प्राप्यैतां सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽध्याप्यानन्दयितव्याः ॥ १२ ॥

पदार्थः—मैं जो (आदित्यवनिः) मासों का सेवन और (सिंही) क्रूरत्व आदि दोषों को नाश करने वाली (स्वाहा) ज्योतिः शास्त्र से संस्कार युक्त वाणी (असि) है, जो (ब्रह्मवनिः) परमात्मा वेद और वेद के जानने वाले मनुष्यों के सेवन और (सिंही) बल से जाड्यपन को दूर करनेवाली (स्वाहा) पढ़ने पढ़ाने व्यवहार युक्तवाणी (असि) है, जो (क्षत्रवनिः) राज्य धनुर्विद्या और शूरवीरों का सेवन और (सिंही) चोर डांकू अन्याय को नाश करनेवाली (स्वाहा) राज्य व्यवहार में कुशल वाणी (असि) है, जो (रायस्पोषवनिः) विद्या धन की पुष्टि का सेवन और (सिंही) अविद्या को दूर करने वाली (स्वाहा) वाणी (असि) है, जो (सुप्रजावनिः) उत्तम प्रजा का सेवन और (सिंही) सब दुष्टों का नाश और (स्वाहा) व्यवहार में धन को प्राप्त कराने वाली वाणी (असि) है और जो (यजमानाय) विद्वानों के पूजन करने वाले यजमान के लिये (स्वाहा) दिव्य विद्या संपन्न वाणी (देवान्) विद्वान् दिव्यगुण वा भोगों को (आवह) प्राप्त करती है (त्वा) उसको (भूतेभ्यः) सब प्राणियों के लिये (यज्ञात्) यज्ञ से (निःसृजामि) संपादन करता हूं ॥ १२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से (यज्ञात्) (निः) (सृजामि) इन तीन पदों की अनुवृत्ति है। मनुष्यों को उचित है कि पढ़ना पढ़ाना आदि से इसप्रकार लक्षण युक्त वाणी प्राप्त कर इसे सब मनुष्यों को पढ़ाकर सदा आनन्द में रहें ॥ १२ ॥

ध्रुवोऽसीत्यस्य गोतमऋषिः । यज्ञो देवता ।
भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

पुनरयं यज्ञः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर यह यज्ञ कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

ध्रुवोऽसि पृथिवीन्दृꣳह ध्रुवक्षिदस्य्न्तरिक्षन्दृꣳहाच्युतक्षिदसि दिवन्दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि ॥ १३ ॥

ध्रुवः । असि । पृथिवीम् । दृꣳह । ध्रुवक्षिदिति ध्रुवऽक्षित् । असि । अन्तरिक्षम् । दृꣳह । अच्युतक्षिदित्यच्युतऽक्षित् । असि । दिवम् । दृꣳह । अग्नेः । पुरीषम् । असि ॥ १३ ॥

पदार्थः—(ध्रुवः) निश्चलः (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (पृथिवीम्) भूमिं तत्स्थं पदार्थसमूहं वा (दृꣳह) वर्धय । (ध्रुवक्षित्) यो ध्रुवाणि सुखानि शास्त्राणि वा क्षियति निवासयति सः (असि) अस्ति । (अन्तरिक्षम्) आकाशस्थं पदार्थसमूहं (दृꣳह) वर्धय । (अच्युतक्षित्) योऽच्युतानाशरहितान्पदार्थान् क्षियति निवासयति सः असि) अस्ति। (दिवम्)

विद्यादिप्रकाशम् (दृंह) वर्धय । (अग्नेः) विद्युदादेः (पुरीषम्) पशूनां प्रपूर्तिकरं साधनम् पुरीष्योऽसि पशव्योऽसि । शत० । ६ । २ । ३ । १८। (असि) अस्ति । अयं मन्त्रः । शत० ३ । ४ । २ । १४ । व्याख्यातः ॥१३॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यो यज्ञो ध्रुवोऽस्यसि पृथिवीं वर्धयति तं त्वं दृंह यो ध्रुवक्षिदस्यस्यन्तरिक्षमाकाशस्थान्पदार्थान्पोषयति तं त्वं दृंह योऽच्युतक्षिदस्यस्ति दिवं प्रकाशयति तं त्वं दृंह योऽग्नेः पुरीषमस्यस्ति तं त्वमनुतिष्ठ ॥१३॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्याक्रियाभिद्धं त्रैलोक्यस्थपदार्थपोषकं विद्याक्रियामयं यज्ञमनुष्ठाय सुखयितव्यम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जो यज्ञ (ध्रुवः) निश्चल (पृथिवीम्) भूमि को बढ़ाता (असि) है उसको तुम (दृंह) बढ़ाओ जो (ध्रुवक्षित्) निश्चल सुख और शास्त्रों का निवास कराने वाला (असि) है वा (अन्तरिक्षम्) आकाश में रहने वाले पदार्थों को पुष्ट करता है उसको तुम (दृंह) बढ़ाओ जो (अच्युतक्षित्) नाश रहित पदार्थों का निवास कराने वाला (असि) है वा (दिवम्) विद्यादि प्रकाश को प्रकाशित करता है उसको तुम (दृंह) बढ़ाओ जो (अग्नेः) बिजली आदि अग्नि वा (पुरीषम्) पशुओं की पूर्ति करने वाला यज्ञ (असि) है उसका अनुष्ठान तुम किया करो ॥ १३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि विद्या क्रिया से सिद्ध वा त्रिलोकी के पदार्थों को पुष्ट करने वाले विद्याक्रियामय यज्ञ का अनुष्ठान करके सुखी रहें और सब को रक्खें ॥ १३ ॥

युञ्जते मनइत्यस्य गोतमऋषिः । सविता देवता ।
स्वराडार्षी जगतीछन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ योगीश्वरगुणाउपदिश्यन्ते ॥

अब अगले मन्त्र में योगी और ईश्वर के गुणों का उपदेश किया है ।

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा॥१४॥

युञ्जते। मनः। उत। युञ्जते। धियः। विप्राः। विप्रस्य। बृहतः। विपश्चितऽइति विपःऽचितः। वि। होत्राः। दधे। वयुनाविदिति वयुनऽवित्। एकः। इत्। मही। देवस्य। सवितुः। परिष्टुतिः। परिस्तुतिरिति परिऽस्तुतिः। स्वाहा॥१४॥

पदार्थः—(युञ्जते) समादधते (मनः) चित्तम् (उत) अपि (युञ्जते) स्थिराः कुर्वते (धियः) बुद्धीः कर्माणि वा (विप्राः) मेधाविनः। विप्र इति मेधाविनामसु पठितम्। निघं० ३। १५। (विप्रस्य) अनन्तप्रज्ञाकर्मणो जगदीश्वरस्य (बृहतः) व्यापकस्य वा (विपश्चितः) अनन्तविद्यस्य परमविदुषो वा (वि) विविधार्थे (होत्राः) ये जुह्वत्याददति वा ते (दधे) धरे कुर्णोमि कथयामि वा। (वयुनावित्) यो वयुनानि प्रशस्तानि कर्माणि वेत्ति सः। वयुनमिति प्रशस्यनामसु पठितम्। निघं० ३। ८। अत्रान्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः। (एकः) असहायः (इत्) एव (मही) महती

(देवस्य) सर्वप्रकाशकस्य (सवितुः) सकलोत्पादकस्य (परिष्टुतिः) परितःसर्वतस्स्तूयते यया सा (स्वाहा) सत्या वाक् । अयं मन्त्रः । शत० । ३ । ५ । ३ । ११ । १२ । व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः— यथा विहोत्रा विप्राः सन्ति ते या बृहतो विप्रस्य विपश्चितः सवितुर्देवस्य यस्य महीपरिष्टुतिस्स्वरूपा स्वाहास्ति तां विप्रा यथास्मिन्निदेव मनो युञ्जनतापि धियो युञ्जते तथैवैनां विदित्वाऽस्मिन्वयुनाविदेकोऽहं मनो युञ्ज धियं च ॥ १४ ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः । परमेश्वरएव मनो धियश्च समाधाय विदुषां सङ्गेन विद्यां प्राप्यान्यैरप्येवमेवोपदेष्टव्यम् ॥ १४ ॥

पदार्थः— जैसे जो (विहोत्रा) देने लेने वाले (विप्राः) बुद्धिमान् मनुष्य हैं वे जिस (बृहतः) सब से बड़े (विप्रस्य) अनन्त ज्ञान कर्म युक्त (विपश्चितः) सब विद्या सहित (सवितुः) सकल जगत् के उत्पादक (देवस्य) सब के प्रकाश करने वाले महेश्वर की (मही) बड़ी (परिष्टुतिः) सब प्रकार की स्तुति रूप (स्वाहा) सत्यवाणी को जान उस में (मनः) मन को (युञ्जते) युक्त करते हैं (उत) और (धियः) बुद्धियों को भी (युञ्जते) स्थिर करते हैं वैसे (वयुनावित्) उत्तम कर्मों को जाननेवाला (एकः) सहाय रहित मैं उसको जान उसमें अपना मन और बुद्धि को (विदधे) सदा निश्चल विधान कर रखता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर में ही मन बुद्धि को युक्त कर विद्वानों के संग से विद्या को पा सुखी हो अन्य मनुष्यों को भी इसी प्रकार आनन्दित करें ॥ १४ ॥

इदंविष्णुरित्यस्य मेधातिथिऋषिः ॥ विष्णुर्देवता ।
भुरिगार्षी गायत्रीछन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स जगदीश्वरः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह जगदीश्वर कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥ १५ ॥

इदम् । विष्णुः । वि । चक्रमे । त्रेधा । नि । दधे । पदम् । समूढमिति समऽऊढम् । अस्य । पांसुरे । स्वाहा ॥ १५ ॥

पदार्थः—(इदम्) प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं जगत् (विष्णुः) यो वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स जगदीश्वरः (वि) विविधार्थे (चक्रमे) क्रान्तवान् निक्षिप्तवान् क्राम्यति क्रमिष्यति वा अत्र सामान्यकालेऽर्थे लिट् (त्रेधा) त्रिप्रकारम् (नि) नितराम् (दधे) हितवान् दधाति धास्यति वा (पदम्) पद्यते गम्यते यत्तत् अत्र घञर्थे कविधानमिति कः प्रत्ययः (समूढम्) सम्यगूह्यतेऽनुमीयते शब्द्यते यत्तत् (अस्य) निखिलस्य जगतः (पांसुरे) पांसवो रेणवो रजांसि रमन्ते यस्मिन्नन्तरिक्षे तस्मिन् (स्वाहा) सुहुतं जुहोतीत्यर्थे इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं व्याख्यातवान् ॥ यदिदं किंच विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः समूढमस्य पांसुरेऽप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात्समूढमस्य पांसुर इव पदं न दृश्यत इति पांसवः पादैः सूयन्त इति वा पन्नाः शेरत इति

वः पादैः सूयन्त इति वा पद्माः शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा । निरु० १२ । १६ । अयं मन्त्रः १ । ४ । ३ । १३ व्याख्यातः ॥ १५ ॥

अन्वयः--यो विष्णुर्जगदीश्वरो यत्किञ्चिदिदं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं जगदस्ति तत्सर्वं विचक्रमे रचितवान् । त्रेधा निदधे निदधात्यस्य त्रिविधस्य जगतः परमाण्वादिरूपं स्वाहा सुहुतं समूढमदृश्यं पदं पांसुरेऽन्तरिक्षे निहितवानस्ति स सर्वैः सुसेवनीयः ॥ १५ ॥

भावार्थः--परमेश्वरेण यत्प्रथमं प्रकाशवत्सूर्यादि द्वितीयमप्रकाशवत्पृथिव्यादि प्रसिद्धं जगद्रचितमस्ति यच्च तृतीयं परमाण्वाद्यदृश्यं सर्वमेतत्कारणाद्विरचयित्वाऽन्तरिक्षे स्थापितं तत्रौषध्यादि पृथिव्यां प्रकाशादिकं सूर्ये परमाण्वादिकमाकाशे निहितं सर्वमेतत्प्राणानां शिरसि स्थापितमस्ति । साहैषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम ॥ शत० १४ । ७ । १ । ६-७ । अनेन गयशब्देन प्राणानां ग्रहणम् ॥ अत्र महीधरः प्रभुकृति विविक्रमावतारं कृत्वेत्यादि तदशुद्धं मन्तव्यम् ॥ १५ ॥

पदार्थः- (विष्णुः) जो सब जगत् में व्यापक जगदीश्वर जो कुछ यह जगत् है उसको (विचक्रमे) रचता हुआ । (इदम्) इस प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् को (त्रेधा) तीन प्रकार का धारण करता है । (अस्य) इस प्रकाशवान् प्रकाश-रहित और अदृश्य तीन प्रकार के परमाणु आदि रूप (स्वाहा) अच्छे प्रकार देखने और दिखलाने योग्य जगत् का ग्रहण करता हुआ । (इदम्) इस (समूढम्) अच्छे प्रकार विचार करके कथन करने योग्य अदृश्य जगत को (पांसुरे) अन्तरिक्ष में स्थापित करता है वही सब मनुष्यों को उत्तम रीति से सेवने योग्य है ॥ १५ ॥

भावार्थः— परमेश्वर ने जिस प्रथम प्रकाश वाले सूर्यादि, दूसरा प्रकाशरहित पृथिवी आदि और जो तीसरा परमाणु आदि अदृश्य जगत् है उस सबको कारण से रचकर अन्तरिक्ष में स्थापन किया है उनमें से ओषधि आदि पृथिवी में प्रकाश आदि

सूर्य लोक में और परमाणु आदि आकाश और इस सब जगत् को प्राणों के शिर में स्थापित किया है इस लिखे हुए शतपथ के प्रमाण से गय शब्द से प्राणों का ग्रहण किया है इस में महीधर जो कहता है त्रिविक्रम अर्थात् वामनावतार को धारण करके जगत् को रचा है यह उसका कहना सर्वथा मिथ्या है ॥ १८ ॥

इरावतीत्यस्य वसिष्ठऋषिः । विष्णुर्देवता स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरीश्वरसूर्यगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अगले मन्त्र में ईश्वर और सूर्य के गुणों का उपदेश किया है ॥

इरावती धेनुमती हि भूतꣳ सूयवसिनी मनवे दशस्या । व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्त्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा ॥ १९ ॥

इरावतीऽइतीरावती । धेनुमतीऽइति धेनुमती । हि । भूतम् । सूयवसिनी सुयवसिनीऽइति सुऽयवसिनी । मनवे । दशस्या । वि । अस्कभ्नाः । रोदसीऽइति रोदसी । विष्णोऽइति विष्णो । एतेऽइत्येते । दाधर्त्थ । पृथिवीम् । अभितः । मयूखैः । स्वाहा ॥ १९ ॥

पदार्थः—(इरावती) इराः प्रशस्तान्यन्नानि विद्यन्ते यस्यां सा । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । इरेत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० ।२।७। (धेनुमती) प्रशस्ता बह्वो धेनवो वाचः पशवो वा सन्त्यस्यां सा । अत्र प्रशंसार्थे भूम्यर्थे च मतुप् (हि) किल (भूतम्) उत्पन्नं सर्वं जगत् (सूयवसिनी) बहूनि शोभनानि मिश्रितान्य-मिश्रितानि वस्तूनि विद्यन्ते यस्यां सा (मनवे) मन्यते येन ज्ञानेन तस्मै बोधाय (दशस्या) दशाइवाचरति तस्मै । अत्र बाहुलकादमुन् स च कित् तत आचारे क्यच् । (वि) विशेषार्थे (अस्कभ्नाः) प्रतिबध्नासि प्रतिबध्नाति वा (रोदसी) प्रकाशपृथिवीलोकसमूहौ (विष्णो) सर्वव्यापिन् जगदीश्वर व्यापनशील: प्राणो वा (एते) विद्वांसः (दाधर्थ) धरसि धरति वा । दाधर्त्ति० अ० ७ । ४ । ६५ अनेनायं यङ्लुगन्तो निपातितः (पृथिवीम्) भूमिमन्तरिक्षं वा पृथि-वीत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् निघं० १ । ३ । (अभितः) सर्वतः (मयूखैः) ज्ञान-प्रकाशादिगुणैः रश्मिभिर्वा । मयूखा इति रश्मिनामसु पठितम् । निघं० १ । ५ । (स्वाहा) वेदवाणी वागिन्द्रियं वा । अयं मन्त्रः । शत० ३ । ४ । ३ । १४ व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे विष्णो जगदीश्वर यस्त्व यरावती धेनुमती सूयवसिनी भूमिं स्वाहा हि किल वाणी भूतमुत्पन्नं सकलं जगच्च मयूखैरभितो दाधर्थ धरसि रोदसी व्यस्कभ्नाः प्रतिबध्नासि तस्मै दशस्याय मनवे वयमेते च सर्वं जगन्नि-वेदयामो निवेदयन्तीत्येकः । यो विष्णुः प्राणो यरावती धेनुमती सूयवसिनी भूमि-र्व्वाग्वास्ति तां पृथिवीं स्वाहा वागिन्द्रियं च मयूखैरभितो दाधर्थ धरति रोदसी व्यस्कभ्नाः प्रतिबध्नाति तस्मै दशस्याय मनवे प्राणाय भूतं हि किलोत्पन्नं सर्वं कार्यं जगत्प्रकाशितुं समर्थं प्राणं सर्वे विजानीतेति द्वितीयः ॥ १६ ॥

भावार्थः--अत्र श्लेषालंकारः । यथा सूर्यः स्वकिरणैः स्वकान्तिभिः सर्वं भूम्यादिकं जगत्संस्तभ्याकृष्य धरति तथैव परमेश्वरः प्राणो वा स्वसामर्थ्येन सर्वं प्राणादिकं जगद्धाचित्वा संधार्य व्यवस्थापयति ॥ १६ ॥

पदार्थः--हे (विष्णो) सर्वव्यापी जगदीश्वर जो आप जिस (इरावती) उत्तम अन्न युक्त (धेनुमती) प्रशंसनीय बहुत वाणी युक्त प्रजा वा पशुयुक्त (सूयवसिनी) बहुत मिश्रित अमिश्रित वस्तुओं से सहित भूमि वा वाणी (पृथिवीम्) भूमि (हि) निश्चय करके (स्वाहा) वेद वाणी वा (भूतम्) उत्पन्न हुए सब जगत को (मयूखैः) ज्ञानप्रकाशादि गुणों से (अभितः) सब ओर से (दाधर्थ) धारण और (रोदसी) प्रकाश वा पृथिवी लोक का (व्यस्कभ्नाः) सम्यक् तम्भन करते हो उन (मनवे) विज्ञान युक्त (दशस्या) दशन अर्थात् दांतों के बीच में स्थित जिह्वा के समान आचरण करने वाले आप के लिये (एते) ये हम लोग सब जगत् को निवेदन करते हैं ॥ १ ॥ जो (विष्णोः) व्यापनशील प्राण जो (इरावती) उत्तम अन्नयुक्त (धेनुमती) पशु सहित (सूयवसिनी) बहुत मिश्रित अमिश्रित पदार्थ वाली भूमि वा वाणी है उस (पृथिवीम्) भूमि (स्वाहा) वा इंद्रिय को (मयूखैः) किरणों अपने बल आदि (अभितः) सब प्रकार (दाधर्थ) धारण करता वा (रोदसी) प्रकाश भूमि को (व्यस्कभ्नाः) तम्भन करता है उस (दशस्या) दशन और दान्त के समान आचरण करने वा (मनवे) विज्ञापन युक्त सूर्य के लिये (भूत हि) निश्चय करके सब जगत् को करने के लिये ईश्वर ने दिया है ऐसा (एते) ये सब हम लोग जानते हैं ॥ २ ॥ १६ ॥

भावार्थः--इस मन्त्र में श्लेषा० । जैसे सूर्य अपनी किरणों से सब भूमि आदि जगत् को प्रकाश आकर्षण और विभाग करके धारण करता है वैसे ही परमेश्वर और प्राण ने अपने सामर्थ्य से सब सूर्य आदि जगत् को धारण करके अच्छे प्रकार स्थापन किया है ॥ १६ ॥

देवश्रुतावित्यस्य वसिष्ठऋषिः । विष्णुर्देवता ।
स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर वे प्राण और अपान कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतम्प्राची प्रेतमध्वरङ्कल्पयन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञन्नयतम्मा जिह्वरतम् । स्वं गोष्ठमावदतन्देवी दुर्ये ऽआयुर्मा निर्वादिष्टम्प्रजाम्मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन्पृथिव्याः ॥ १७ ॥

देवश्रुताविति देवश्रुतौ । देवेषु । आ । घोषतम् । प्राचीमिति प्राचीम् । प्र । इतम् । अध्वरम् । कल्पयन्तीऽइति कल्पयन्ती । ऊर्ध्वम् । यज्ञम् । नयतम् । मा । जिह्वरतम् । स्वम् । गोष्ठम् । गोस्थमिति गोऽस्थम् । आ । वदतम् । देवीऽइतिदेवी । दुर्येऽइतिदुर्ये । आयुः । मा । निः । वादिष्टम् । प्रजामितिप्रऽजाम् । मा । निः । वादिष्टम् । अत्र । रमेथाम् । वर्ष्मन् । पृथिव्याः ॥ १७ ॥

पदार्थः—(देवश्रुतौ) यथा दिव्यविद्याश्रुतौ विद्वांसौ (देवेषु) विद्वत्सु दिव्यगुणेषु वा प्रसिद्धौ (आ) समंतात् (घोषतम्) घोषं कुर्वन्तौ स्तः (प्राची) प्रकृष्टमञ्चति याभ्यां ते रोदसी। अत्र सर्वत्र सुपांसुलुगिति प्रथमाद्विवचनस्य लुक् (प्र) प्रकृष्टार्थे (इतम्) प्राप्तौ भवतः। (अध्वरम्) अहिंसनीयम् (कल्पयन्ती) समर्थयन्त्यौ (ऊर्ध्वम्) उत्कृष्टगुणम् (यज्ञम्) विज्ञानशिल्पसंगमनीयम् (नयतम्) संप्रापयतम्। (मा) निषेधे (जिह्वरतम्) कुटिलौ भवतम्। (स्वम्) स्वकीयम् (गोष्ठम्) गवां स्थानम् अत्र घञर्थे कविधानमिति कः (आ) समंतात् (वदतम्) उपदिशतः। (देवी) दिव्यगुणसंपन्ने (दुर्ये) गृहरूपे (आयुः) जीवनं तन्निमित्तं वा (मा) निषेधे (निः) नितराम् (वादिष्टम्) वदतम्। (प्रजाम्) उत्पन्नां सृष्टिम् (मा) निषेधे (निः) नितराम् (वादिष्टम्) वदतम्। (अत्र) अस्मिन् जगति (रमेथाम्) (वर्ष्मन्) सुखवृष्टियुक्ते (पृथिव्याः) अन्तरिक्षस्य मध्ये। अयं मन्त्रः। शत० ३। ५। ३। १३–२०। व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा यौ देवेषु देवश्रुतौ घोषं व्यक्तं शब्दं कुरुते ये प्राची कल्पयन्त्यूर्ध्वं यज्ञमध्वरं नयतस्ते च रोदसी यथा माजिह्वरतं कुटिले न भवेतां तथा कुरुतं ये देवी दुर्ये स्वं गोष्ठं समंतात्प्रापयतस्ताभ्यां कल्याण्यायुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टम् विनाशयतमेवं कुरुत पृथिव्यामन्तरिक्षस्य च मध्ये वर्ष्मणि जगति रमेथां तथानुतिष्ठत ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्रवाच० मनुष्यैर्यावज्जगदन्तरिक्षस्य मध्ये वर्त्तते तावता सर्वेण बहूनि सुखानि संपादनीयानि ॥ १७ ॥

पदार्थः हे मनुष्यो तुम जैसे जो (देवेषु) विद्वान् वा दिव्यगुणों में

(देवश्रुतौ) विद्वानों से श्रवण किये हुए प्राण अपान वायु (घोषतम्) व्यक्तशब्द करें और जो (प्राची) प्राप्त करने वा (कल्पयन्ती) सामर्थ्य वाली प्रकाश भूमि (ऊर्ध्वम्) उत्तम गुण युक्त (यज्ञम्) विज्ञान वा शिल्पमय यज्ञ को (प्रेतम्) जानते रहें (नयतम्) प्राप्त करें (मा जिह्वरतम्) कुटिल गतिवाले न हों जो (देवी) दिव्यगुणसम्पन्न (दुर्ये) गृहरूप (स्वम्) अपने (गोष्ठम्) किरण और अवयवों के स्थान के (आवदतम्) उपदेश निमित्त हों (आयुः) आयु को (मा निर्वादिष्टम्) नष्ट न करें (प्रजाम्) उत्पन्न हुई सृष्टि को (मा निर्वादिष्टम्) न नष्ट करें और वे (पृथिव्याः) आकाश के मध्य (अत्र) इस (वर्ष्मन्) सुख से सेवन युक्त जगत् में (रमेथाम्) रमण करें तथा किया करें ॥ १७ ॥

भावार्थः— मनुष्यों को जितना जगत् अन्तरिक्ष में वर्त्तता है उतने से बहुत २ उत्तम सुखों का सम्पादन करना चाहिये ॥ १७ ॥

विष्णोर्नुकमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता ।
स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ व्यापकेश्वरगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब अगले मन्त्र में व्यापक ईश्वर के गुणों का उपदेश किया है ॥

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजाꣳसि ॥ यो अस्कभायदुत्तरꣳसधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ॥ १८ ॥

विष्णोः। नु। कम्। वीर्याणि। प्र। वोचम्। यः। पार्थिवानि। विमम इति विऽममे। रजांसि। यः। अस्कभायत्। उत्तरमित्युत्ऽतरम्। सधस्थमिति सधऽस्थम्। विचक्रमाण इति विऽचक्रमाणः। त्रेधा। उरुगाय इत्युरुऽगाय। विष्णवे। त्वा ॥१८॥

पदार्थः– (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (नु) शीघ्रम् (कम्) सुखस्वरूपम् (वीर्याणि) पराक्रमयुक्तानि कर्माणि (प्र) प्रकृष्टार्थे (वोचम्) कथयेयम् (यः) अनन्तपराक्रमः (पार्थिवानि) पृथिव्यां विदितानि अन्तरिक्षे विदितानि वा। अत्र तत्र विदितऽर्थे च। अ० ५।१।४३ अनेनाऽञ्प्रत्ययः (विममे) विविधतया निर्मिमीते (रजांसि) लोकान् लोका रजांस्युच्यन्ते। निरु० ४।१९॥ (यः) सर्वाधारः (अस्कभायत्) प्रतिबध्नाति (उत्तरम्) अन्त्यावयवम् (सधस्थम्) यत्सह तिष्ठति तत्कारणं तत्संयुक्तम् (विचक्रमाणः) यथायोग्यं जगद्रचनाय कारणपादान् प्रक्षिपन् निर्माणयन् (त्रेधा) त्रिःप्रकाराणि (उरुगाय) यो बहुभिर्वेदद्वारा गायनैरुपदिश्यते सः (विष्णवे) व्यापनशीलाय यज्ञाय (त्वा) त्वाम्। अयं मन्त्रः शत० ३।५।३।२१ व्याख्यातः ॥१८॥

अन्वयः– हे मनुष्या! वयं यो विचक्रमाण उरुगायो विष्णुर्जगदीश्वरः पार्थिवानि रजांसि त्रेधा विममे य उत्तरं सधस्थमस्कभायत्प्रतिबध्नाति यो विष्णवे उपासनाख्याय यज्ञायाश्रीयते यस्य विष्णोर्वीर्याणि विद्वांसो वदन्ति यं सर्वे संश्रयन्ते कं सुखरूपं देवमहं प्रवोचं नु शीघ्रमाश्रये ॥१८॥

भावार्थः— सर्वैर्मनुष्यैर्येन परमेश्वरेण पृथिवीसूर्यत्रसरेणुप्र-

येन त्रिविधं जगद्रचयित्वा ध्रियते स सर्वैरुपासनीयः ॥ १८ ॥

पदार्थ :-- हे मनुष्यो! तुम (यः) जो (विचक्रमाणः) जगत् रचने के लिये कारण के अंशों को युक्त करता हुआ (उरुगायः) बहुत अर्थों को वेद द्वारा उपदेश करने वाला जगदीश्वर (पार्थिवानि) पृथिवी के विकार अर्थात् पृथिवी के गुणों से उत्पन्न होने वाले वा अन्तरिक्ष में विदित (त्रेधा) तीन प्रकार के (रजांसि) लोकों को (विममे) अनेक प्रकार से रचता है जो (उत्तरम्) पिछले अवयवों के (सधस्थम्) साथ रहने वाले कारण को (अस्कभायत्) रोक रखता है (यः) जो (विष्णवे) उपासनादि यज्ञ के लिये आश्रय किया जाता है उस (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) पराक्रम युक्त कर्मों का (प्रवोचम्) कथन करूं और हे परमेश्वर (नु) शीघ्र ही (कम्) सुखस्वरूप (त्वा) आप का आश्रय करता हूं ॥ १८ ॥

भावार्थः - सब मनुष्यों को जिस परमेश्वर ने पृथिवी सूर्य और त्रसरेणु आदि भेद से तीन प्रकार के जगत् को रचकर धारण किया है उसी की उपासना करनी चाहिये ॥ १८ ॥

दिवो वेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता ।

निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह जगदीश्वर कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ॥ उभा हि हस्ता वसुनापृणस्वाप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ॥ १९ ॥

दिवः । वा । विष्णोऽइतिविष्णो । उत । वा । पृथिव्याः । महः । वा । विष्णोऽइतिविष्णो । उरोः । अन्तरिक्षात् । उभा । हि । हस्ता । वसुना । पृणस्व । आ । प्र । यच्छ । दक्षिणात् । आ । उत । सव्यात् । विष्णवे । त्वा ॥ १९ ॥

पदार्थः— (दिवः) प्रसिद्धात् विद्युतो वा (वा) पक्षान्तरे (विष्णो) वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् तत्सम्बुद्धौ (उत) अपि (वा) पक्षान्तरे (पृथिव्याः) भूमिप्रकाशात् (महः) महतस्तत्त्वात् (वा) पक्षान्तरे (विष्णो) सर्वान्तःप्रविष्ट (उरोः) बहोर्विस्तृतात् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (उभा) द्वौ (हि) खलु (हस्ता) हस्तौ बाहू वा अत्राकारादेशः सुपां पित्यकारादेशः (वसुना) द्रव्येण सह (पृणस्व) प्रीणीहि प्रीणय वा (आ) समन्तात् (प्र) प्रकृष्टार्थे (यच्छ) देहि (दक्षिणात्) दक्षिणपार्श्वात् (आ) अभितः (उत) च (सव्यात्) वामपार्श्वात् (विष्णवे) यज्ञाय (त्वा) त्वाम्। अयं मन्त्रः । श० ३।५।३।२१ व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः— हे विष्णो त्वं कृपयाऽस्मात् दिवः प्रसिद्धाग्नेर्विद्युतो वा वसुना पृणस्व सुखानि प्रयच्छ उतापि पृथिव्या प्रकाशादुत्पन्नेभ्यः पदार्थेभ्यो महत्तत्त्वाद्वाऽव्यक्तादुरोरन्तरिक्षाद्वा वसुना मां पृणस्व हे विष्णो त्वं दक्षिणादुत च सव्यात् सुखानि प्रयच्छ तं त्वा त्वां विष्णवे यज्ञाय वयमर्चयेम ॥ १९ ॥

भावार्थः—येन व्यापकेनेश्वरेण महत्तत्त्वसूर्यभूम्यन्तरिक्षवाय्वग्निजलादीन् पदार्थान् तत्रस्थानन्यांश्चौषध्यादीन् मनुष्यादींश्च रचित्वा धृत्वा सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः सुखानि धीयन्ते तस्यैवोपासना सर्वैः कार्य्येति ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे (विष्णो) सर्वव्यापी परमेश्वर ! आप कृपा करके हम लोगों को (दिवः) प्रसिद्ध वा बिजली रूप अग्नि से (वसुना) द्रव्य के साथ (आपृणस्व) सुखों से पूर्ण कीजिये और (पृथिव्याः) भूमि से उत्पन्न हुए पदार्थ (उत) भी (वा) अथवा (महः) महतत्त्व अव्यक्त और (उत) भी (उरोः) बहुत (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से द्रव्य के साथ सुखों को (हि) निश्चय करके पूर्ण कीजिये (विष्णो) सब में प्रविष्ट ईश्वर आप (दक्षिणात्) दक्षिण (उत) और (सव्यात्) वाम पार्श्व से सुखों को दीजिये (त्वा) उस आप को (विष्णवे) योग विज्ञान यज्ञ के लिये पूजन करते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को योग्य है कि जिस व्यापक परमेश्वर ने महत्तत्त्व सूर्य भूमि अन्तरिक्ष वायु अग्नि जल आदि पदार्थ वा उन में रहने वाले ओषधी आदि वा मनुष्यादिकों को रच धारण कर सब प्राणियों के लिये सुखों को धारण करना है उसी की उपासना करें ॥ १९ ॥

प्रतद्विष्णुरित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता ।
विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्य्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ॥ यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २० ॥

प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिष्ठाः । गिरिस्था इति गिरिऽस्थाः । यस्य । उरुषु । त्रिषु । विक्रमणेष्विति विऽक्रमणेषु । अधिक्षियन्तीत्यधिऽक्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा ॥२०॥

पदार्थः—(प्र) प्रकृष्टार्थे (तत्) तस्मात् (विष्णुः) व्यापकेश्वरः (स्तवते) स्तौत्युपदिशति । अत्र बहुलं छन्दसीति शपो लुगभावः (वीर्येण) पराक्रमेण (मृगः) यो मार्ष्टि निरन्तरं स्वराज्य जीवानिति इश्वरपक्षे तु मार्ष्टि व्यवस्था-पनाय जीवानिति (न) इव (भीमः) बिभेति सर्वो यस्मादिति व्याघ्रः भी-मादयोऽपादानइति निपातनात् (कुचरः) यः कुत्सितं प्राणिवधं चरति (गिरिष्ठाः) गिरौ तिष्ठतीति । क्विबन्तोऽयं प्रयोगः (यस्य) (उरुषु) बहुषु (त्रिषु) त्रि-विधेषु जगत्सु (विक्रमणेषु) विविधक्रमेषु (अधिक्षियन्ति) निवसन्ति (भुव-नानि) लोकजातानि (विश्वा) सर्वाणि । अयं मन्त्रः । श० ३ । ५ । ३ । २३ व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः—यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वानि भुवनान्यधिक्षियन्ति यश्चासौ विष्णुर्वीर्येण भीमः कुचरो गिरिष्ठा मृगो न सिंहइव विचरन्नुपदिशति (तत्) तस्मात् स नैव कदापि विस्मरणीयः ॥ २० ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यथा सिंहः स्वपराक्रमेण यथेष्टं विक्रमते तथैव जगदीश्वरः खलु पराक्रमेण सर्वान् लोकान् नियच्छति ॥ २० ॥

पदार्थः—(यस्य) जिसके (उरुषु) अत्यन्त (त्रिषु) (त्रिविक्रमणेषु) विविध प्रकार के कर्मों में (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक (अधिक्षियन्ति) निवास करते हैं और (वीर्येण) अपने पराक्रम से (भीमः) भय करने वाले (कुचरः) निन्दित प्राणिवध को करने और (गिरिष्ठाः) पर्वत में रहने वाले (मृगः) सिंह के (न) समान पापियों को खोज दुःख देता हुआ (प्रस्तवते) उपदेश करता है (तत्) इस से उसको कभी न भूलना चाहिये ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जैसे सिंह अपने पराक्रम से अपनी इच्छा के समान अन्य पशुओं का नियम करता फिरता है वैसे जगदीश्वर अपने पराक्रम से सब लोकों का नियम करता है ॥ २० ॥

विष्णोरराटमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स कथंभूत इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह जगदीश्वर कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

विष्णो॑र॒राट॑मसि॒ विष्णोः॑ श्न॒प्त्रे॑ स्थो॒ विष्णोः॒ स्यूर॑सि॒ विष्णो॑र्ध्रु॒वो॑ऽसि । वै॒ष्ण॒वम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा ॥ २१ ॥

विष्णोः । रराटम् । असि । विष्णोः । श्नप्त्रेऽइति श्नप्त्रे । स्थः । विष्णोः । स्यूः । असि । विष्णोः । ध्रुवः । असि । वैष्णवम् । असि । विष्णवे । त्वा ॥ २१ ॥

पदार्थः—(विष्णोः) व्यापकस्य सकाशात् (रराटम्) परिभाषित जगत् (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः (विष्णोः) सर्वत्राभिप्रविष्टस्य (श्नप्त्रे) शुद्धे इव । अत्र ष्णाशौचइत्यस्य वर्णव्यत्ययेन सस्य शः (स्यः) तिष्ठतः (विष्णोः) सर्वसुखाभिव्याप्तात् (स्यूः) यः सीव्यति सः (असि) अस्ति (विष्णोः) सर्वजगत्पालकात् (ध्रुवः) निश्चलः (असि) अस्ति । (वैष्णवम्)यद् विष्णोर्यज्ञस्येदं साधनं साधकं वा तत् (असि) अस्ति (विष्णवे) यज्ञाय (त्वा) त्वाम् । अयं मन्त्रः । शत० ३ । ५ । ३ । २४ । २५ । व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—यदिदं विविध जगदस्यस्ति वा विष्णो रराटमस्यस्ति विष्णोः सकाशादुत्पद्य वर्त्तत इति यावत् । विष्णोः स्यूरस्यस्ति सर्वं जगद्वैष्णवमस्यस्ति यस्य विष्णोर्जगति श्नप्त्रे इव जडचेतनसमूहो स्थः—वर्त्तेते तं सर्वजगदुत्पादकं जगदीश्वरं त्वां विष्णवे यज्ञानुष्ठानाय वयमाश्रयामः ॥ २१ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वस्यास्य जगतः परमेश्वर एव रचको धारको व्यापकइष्टदेवोऽस्तीति विज्ञाय सर्वकामसिद्धिः संपादनीया ॥ २१ ॥

पदार्थः—जो यह अनेक प्रकार का जगत् है वह (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के प्रकाश से (रराटम्) उत्पन्न होकर प्रकाशित है (विष्णोः) सर्व सुख प्राप्त करने वाले ईश्वर से (स्यूः) विस्तृत (असि) है । सब जगत् (वैष्णवम्) यज्ञ का साधन (असि) है और (विष्णोः) सब में प्रवेश करने वाले जिस ईश्वर के (श्नप्त्रे) जड़ चेतन के समान दो प्रकार का शुद्ध जगत् है उस सब जगत् के उत्पन्न करने वाले जगदीश्वर ! हम लोग (त्वा) आप को (विष्णवे) यज्ञ का अनुष्ठान करने के लिये आश्रय करते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि इस सब जगत् का परमेश्वर ही रचने और धारण करने वाला व्यापक इष्ट देव है ऐसा जान कर सब कामनाओं की सिद्धि करें ॥ २१ ॥

देवस्यत्वेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमाऋषिः । यज्ञोदेवता । पूर्वार्द्धस्य साम्नी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥ आददे इत्युत्तरस्य भुरिगार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनरयं यज्ञः किमर्थं कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते ॥

फिर यह यज्ञ किस लिये करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑म्पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ॥ आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳरक्ष॑सां ग्री॒वाऽअपि॑कृन्तामि । बृह॒न्न॑सि बृ॒हद्र॑वा बृह॒तीमिन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद ॥२२॥

दे॒वस्य॑ । त्वा॒ । स॒वि॒तुः । प्र॒स॒वऽइति॑प्रऽस॒वे । अ॒श्विनोः॑ । बा॒हुभ्या॒मिति॑बा॒हुऽभ्या॑म् । पू॒ष्णः । हस्ता॑भ्या॒मिति॒हस्ता॑ऽभ्याम् । आ । द॒दे॒ । नारि॑ । अ॒सि॒ । इ॒दम् । अ॒हम् । रक्ष॑साम् । ग्री॒वाः । अपि॑ । कृ॒न्ता॒मि॒ । बृह॑न् । अ॒सि॒ । बृ॒हद्र॑वा॒ऽइति॑बृ॒हत्ऽर॑वाः । बृ॒ह॒तीम् । इन्द्रा॑य । वाच॑म् । व॒द ॥ २२ ॥

पदार्थः– (देवस्य) सर्वप्रकाशकस्यानन्दप्रदेश्वरस्य (त्वा) तम् (सवितुः) सकलस्य जगतउत्पादकस्य (प्रसवे) यथा सृष्टौ (अश्विनोः) प्राणापानयोरध्वर्य्वोर्वा । (बाहुभ्याम्) यथा बलवीर्याभ्याम् । (पूष्णः) पुष्टिकारिकायाः पृथिव्याः पूषेति पृथिवी नामसु पठितम् । निघं० १ । १ । (हस्ताभ्याम्) यथाऽऽनन्दप्रदाभ्यां धारणाकर्षणाभ्याम् (आ) समन्तात् (ददे) स्वीकरोमि । (नारी) नराणामियं क्रिया (असि) अस्ति वा अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (इदम्) प्रत्यक्षं पालकं कर्म (अहम्) (रक्षसाम्) दुष्टस्वभावानाम् (ग्रीवाः) कण्ठान् (अपि) निश्चये (कृन्तामि) छिनद्मि । (बृहन्) वर्धमानो वर्धयन् । (असि) अस्ति वा (बृहद्रवाः) यथा बृहच्छब्दवान् । (बृहतीम्) महतीम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्रापकाय (वाचम्) वाणीम् (वद) उपदिश । अयं मन्त्रः । शत० ३ । ५ । ४ । ५ व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः– हे मनुष्य ! यथाऽहं देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्यथा बाहुभ्यां पूष्णोर्यथा हस्ताभ्यां यं यज्ञमाददे तथा तं त्वमपि तथाऽऽदत्स्व यथाऽहं नारि यज्ञक्रियामिदं यज्ञानुष्ठानं कर्म चाददे तथा त्वमप्याददत्स्व यथाऽहं रक्षसां ग्रीवाः कृन्तामि तथा त्वमपि कृन्त यथाऽहमनेनानुष्ठानेन बृहद्रवा बृहन्भवामि तथा त्वमपि भव यथाऽहमिन्द्राय बृहतीं वाचं वदामि तथा चैतां त्वमपि वद ॥ २२ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा विद्वद्भिरीश्वरसृष्टौ विद्यया पदार्थान् सुपरीक्ष्य कार्यप्रयुक्त्या सुखानि प्राप्यन्ते तथैव मनुष्यैरिदमनुष्ठाय सर्वाणि सुखानि प्रापणीयानि ॥ २२ ॥

पदार्थः— हे विद्वान् मनुष्य ! जैसे मैं (देवस्य) सबको प्रकाश करने आनन्द देने वा (सवितुः) सकल जगत् को उत्पन्न करने वाले ईश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में जिस यज्ञ को (आददे) ग्रहण करता हूं

वैसे तू भी (त्वा) उसको ग्रहण कर जैसे मैं (नारी) यज्ञ क्रिया वा (इदम्) यज्ञ के अनुष्ठान का ग्रहण करता हूं वैसे तू भी ग्रहण कर जैसे (अहम्) मैं (रक्षसाम्) दुष्ट स्वभाव वाले शत्रुओं के (ग्रीवाः) शिरों को भी (अपिकृन्तामि) छेदन करता हूं वैसे तुम भी छेदन करो। जैसे मैं इस अनुष्ठान से (बृहद्रवाः) बड़ाई पाया बड़ा होता हूं वैसे तू भी हो और जैसे मैं (इन्द्राय) परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये (बृहतीम्) बड़ी (वाचम्) वाणी का उपदेश करता हूं वैसे तू भी (वद) कर ॥ २२ ॥

भावार्थः- इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे विद्वान् लोग ईश्वर की सृष्टि में विद्या से पदार्थों की परीक्षा करके कार्यों में उपयोग कर सुखों में प्राप्त करते हैं वैसे ही सब मनुष्यों को इस यज्ञ का अनुष्ठान कर सब सुखों को पहुंचना चाहिये ॥ २२ ॥

रक्षोहणमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। यज्ञो देवता। आद्यस्याद्युष्णी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः। मध्यमस्य स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः। स्वयंभूरसीत्युत्तरस्य स्वराड् ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

सृष्टेर्मनुष्यैः कीदृश उपकारो ग्राह्य इत्युपदिश्यते ॥

सृष्टि से मनुष्यों को किस प्रकार का उपकार ग्रहण करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

र॒क्षो॒हणं॑ बलग॒हनं॑ वैष्ण॒वीमि॒द॒-
म॒हं तं ब॑ल॒गमुत्कि॑रामि॒ यम्मे॒ नि-

हृष्यो यममात्यो निचखानेदमहन्तं बलगमुत्किरामि यम्मे समानो यमसमानो निचखानेदमहन्तं बलगमुत्किरामि यम्मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहन्तं बलगमुत्किरामि यम्मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्याङ्किरामि ॥ २३ ॥

रक्षोहणम् । रक्षोहनमिति रक्षःऽहनम् । बलगहनमिति बलऽगहनम् । वैष्णवीम् । इदम् । अहम् । तम् । बलगम् । उत । किरामि । यम् । मे । निष्ट्यः । यम् । अमात्यः । निचखानेति निऽचखान । इदम् । अहम् । तम् । बलगम् । उत । किरामि । यम् । मे । समानः । यम् । असमानः । निचखानेति निऽचखान । इदम् । अहम् । तम् । बलगम् । उत । किरामि । यम् । मे । सबन्धुरिति सऽबन्धुः । यम् । असबन्धुरित्यसऽबन्धुः । निचखानेति निऽचखान । इदम् । अहम् । तम् । बलगम् । उत । किरामि । यम् । मे । सजात इति सऽजातः । यम् । असजातः । निचखानेति निऽचखान । उत । कृत्याम् । किरामि ॥ २३ ॥

पदार्थः—(रक्षोहणम्) यथा येन धार्मिकेण पुरुषेण रक्षांसि हन्यन्ते तथा (बलगहनम्) यथा यो बलानि गाहते तम् अत्र गाहूधातोर्बाहुलका-दौणादिकः क्युः प्रत्ययो ह्रस्वत्वं च । (वैष्णवीम्) विष्णोर्यज्ञस्येमां वाच-म् (इदम्) कर्म (अहम्) कर्मानुष्ठाता (तम्) यज्ञम् (बलगम्) बलं गच्छन्तम् (उत्) उत्कृष्टम् (किरामि) विक्षिपामि । (यम्) यज्ञम् (मे) मम (निष्ट्यः) नेशांसि मपादयन्ते येन यज्ञेन तत्सहितः साधुर्विद्वान् अत्र निशधातोर्बाहुलकादौणादिकस्तः प्रत्ययस्ततो यत् (यम्) यज्ञम् (अमात्यः) मेधावी खानकः प्रधानभृत्यः । (निचखान) यथा नितरां खात-वान (इदम्) भूगर्भविद्यापरीक्षार्थं स्थानं (अहम्) भूगर्भविद्यावेत्ता (तम्) कृष्याद्याख्यं यज्ञम् (बलगम्) बलप्रापकम् (उत्) उत्कृष्टे (किरामि) (यम्) अध्ययनाध्यापनाख्यम् (मे) मम (समानः) सदृशः (यम्) पूर्वोक्तम् (अ-समानः) असदृशः (निचखान) यथा नितरां खनति (इदम्) कर्म (अहम्) अध्यापकोऽध्येता वा (तम्) (बलगम्) आत्मबलप्रापकम् (उत्) उत्कृष्टे (किरामि) विक्षिपामि । (यम्) परस्परं पालनहेतुं यज्ञम् (मे) मम (सबन्धुः) यथा समाना बन्धवो यस्य मित्रस्य सः (यम्) पूर्वोक्तम् (असबन्धुः) यथा असमाना बन्धवो यस्य सः (निचखान) यथा नितरां खातवान् खनति वा (इदम्) कर्म (अहम्) सर्वसुहृत् (तम्)(बलगम्) राज्यबलप्रापकम् (उत्) उत्कृष्टे (किरामि) प्रक्षिपामि । (यम्) उत्कर्षप्रापकम् (मे) मम (सजातः) यथा सहैव जातः (यम्) उक्तम् (असजातः) यथा यः सह न जातः (नि-चखान) यथा नित्यं खातवान् खनति वा (उत्) उत्कृष्टे (कृत्याम्) करोति यथा ताम् (किरामि) प्रक्षिपामि । अयं मन्त्रः । शत० ३ । ५ । ४ । ८—१२ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः-- हे विद्वन्मनुष्य! यथा कश्चिद्बलगहनं यथा रक्षोहणं वैष्णवीं वाचमनुष्ठाय यं बलगं यज्ञं यथाहमुत्किरामि तथा त्वमप्येतमुत्किर यथा कश्चिन्मे मम निष्ट्योऽमात्यो यं यज्ञमिदं स्थानादि च निचखान तथा तव भृत्यो निखनतु। यथाऽहं यं बलगं यज्ञमुत्किरामि तथा तं त्वमप्युत्किर। यथा मे मम यः समानोऽसमानश्च यं यज्ञमिदं कर्म च निचखान तथा तवापि निखनतु यथाहं यं बलगं यज्ञमुत्किरामि तथा त्वमप्येतमुत्किर यथा मे मम सबन्धुरसबन्धुश्च यं यज्ञमिदं कर्म च निचखान तथा तवापि चैनं निखनतु। यथाऽहं यं बलगं यज्ञमुत्किरामि तथा त्वमप्येतमुत्किर। यथा मे मम सजातोऽसजातश्च यं यज्ञं कृत्यां निचखान तथा तवाप्येतमेतां च निखनतु यथाहमेतत्सर्वमुत्किरामि तथा त्वमप्येतमुत्किर ॥२३॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। मनुष्यैरस्यामीश्वरसृष्टौ धार्मिकविद्वदनुकरणं कार्यं नेतरेषामिति ॥२३॥

पदार्थः— हे विद्वान् मनुष्य जैसे (अहम्) मैं (बलगहनम्) बलों को बिडोलने और (रक्षोहणम्) राक्षसों के हनन करने वाले कर्म और (वैष्णवीम्) व्यापक ईश्वर की वेदवाणी का अनुष्ठान करके (यं) जिस (बलगम्) बल प्राप्त कराने वाले यज्ञ को (उत्किरामि) उत्कृष्ट यत्न से प्रेरित अर्थात् इस संसार में प्रकाशित करता हूं (तम्) उस यज्ञ को वैसेही तू भी (इदम्) इसको प्रकाशित कर और जैसे (मे) मेरा (निष्ट्यः) यज्ञ में कुशल (अमात्यः) मेधावी विद्वान् मनुष्य (यम्) जिस यज्ञ वा (इदम्) भूगर्भ विद्या की परीक्षा के लिये स्थान को (निचखान) सि सन्देह करता है वैसे (तम्) उसको तेरा भी भृत्य खोदे। जैसे (अहम्) भूगर्भ विद्या का जानने वाला मैं (यम्) जिस (बलगम्) बल प्राप्त करने वाले खेती आदि यज्ञ वा (इदम्) खननरूपी कर्म को (उत्किरामि) अच्छे प्रकार संपादन करता हूं वैसे (तम्)

उस को तू भी कर, जैसे (मे) मेरा (समानः) सदृश वा असदृश मनुष्य (यम्) जिस कर्म को (निचखान) खनन करता है वैसे तेरा भी खोदे, जैसे (अहम्) पढ़ने पढ़ाने वाला मैं (यम्) जिस (बलगम्) आत्मबल प्राप्त करने वाले यज्ञ वा (इदम्) इस पढ़ने पढ़ाने रूपी कर्म को (उत्किरामि) सम्पन्न करता हूं वैसे (तम्) उसको तू भी कर, जैसा (मे) मेरा (सबन्धुः) तुल्य बन्धु मित्र वा (असबन्धुः) तुल्य बन्धु रहित अमित्र (यम्) जिस पालनरूपी यज्ञ वा इस कर्म को (निचखान) निःसंदेह करता है वैसे उसको तेरा भी करे, जैसे (अहम्) सब का मित्र मैं (यम्) जिस (बलगम्) राज्य बल प्राप्त करने वाले यज्ञ वा (इदम्) इस कर्म को (उत्किरामि) संपादन करता हूं वैसे (तम्) उसको तू भी कर, जैसे (मे) मेरा (सजात) साथ उत्पन्न हुआ (असजात) साथ से अलग उत्पन्न हुआ मनुष्य (यम्) जिस यज्ञ वा (कृत्याम्) उत्तम क्रिया को (निचखान) निःसन्देह करता है वैसे तेरा भी इस यज्ञ वा इस क्रिया को निःसंदेह करे। जैसे मैं इस सब कर्म को (उत्किरामि) संपादन करता हूं वैसे तुम भी करो ॥ २३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्यों को ईश्वर की इस सृष्टि में विद्वानों का अनुकरण सदा करना और मूर्खों का अनुकरण कभी न करना चाहिये ॥ २३ ॥

स्वराडसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। सूर्यविद्वांसौ देवते।
भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथ सूर्यसभाध्यक्षगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब अगले मन्त्र में सूर्य और सभाध्यक्ष के गुणों का उपदेश किया है ॥

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा ॥ २४ ॥

स्वराडिति स्व॒ऽराट् । अ॒सि॒ । स॒प॒त्न॒हेति॑ सपत्न॒ऽहा । स॒त्र॒राडिति॑ सत्र॒ऽराट् । अ॒सि॒ । अ॒भि॒मा॒ति॒हेत्य॑भिमाति॒ऽहा । ज॒न॒राडिति॑ जन॒ऽराट् । अ॒सि॒ । र॒क्षो॒हेति॑ रक्षः॒ऽहा । स॒र्व॒राडिति॑ सर्व॒ऽराट् । अ॒सि॒ । अ॒मि॒त्र॒हेत्य॑मित्र॒ऽहा ॥२४॥

पदार्थः—(स्वराट्) यः स्वयं राजते सः (असि) अस्ति वा अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । (सपत्नहा) यः सपत्नान् शत्रून् मेघावयवान् वा हन्ति सः (सत्रराट्) यः सत्रेषु यज्ञेषु राजते सः (असि) अस्ति वा (अभिमातिहा) योऽभिमिमत इत्यभिमातयस्तान् हन्ति सः । अभीणादिकः क्तिच्च । (जनराट्) यो जनेषु धार्मिकेषु विद्वत्सु राजते सः (असि) अस्ति वा (रक्षोहा) यो रक्षांसि दुष्टान् हन्ति सः (सर्वराट्) यः सर्वस्मिन् राजते सः (असि) अस्ति वा (अमित्रहा) यो येन वाऽमित्रान् शत्रून् हन्ति सः । अयं मन्त्रः शत० ३ । ४ । ४ । १४ व्याख्यातः ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् मनुष्य यतस्त्वं स्वराडसि तस्मात्सपत्नहाऽसि भवसि यतस्त्वं सत्रराडसि तस्मादभिमातिहा वर्त्तसे यतस्त्वं जनराडसि तस्माद्रक्षोहाऽसि भवसि यतस्त्वं सर्वराडसि तस्मादमित्रहाऽसि भवसीत्येकः । यतोऽयं सूर्यलोकः स्वराडस्ति तस्मात्सपत्नहा भवति यतोऽयं सत्रराडस्ति तस्मादभिमातिहा वर्त्तते यतोऽयं जनराडस्ति तस्माद्रक्षोहा जायते यतोऽयं सर्वराडस्ति तस्मादमित्रहा वर्त्ततइति द्वितीयः ॥ २४ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । हे विद्वन् यथा सूर्यः स्वप्रकाशेन

चोरव्याघ्रादीन् भीषयित्वा सर्वान् सुखयति तथैव त्वं शत्रून्निवार्य प्रजाः सुखय ॥ २४ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्य ! जिस कारण आप (स्वराट्) अपने आप प्रकाशमान (असि) हैं इससे(सपत्नहा) शत्रुओं के मारने वाले होते हो, जिस कारण तुम (सत्रराट्) यज्ञों में प्रकाशमान हो इससे (अभिमातिहा) अभिमान युक्त मनुष्यों को मारने वाले होते हो, जिस से (जनराट्) धार्मिक विद्वानों में प्रकाशित हैं इस से (रक्षोहा) राक्षस दुष्टों को मारने वाले होते हैं, जिस से आप (सर्वराट्) सब में प्रकाशित हैं इससे (अमित्रहा) अमित्र अर्थात् शत्रुओं के मारने वाले होते हैं ॥ १ ॥ जिस कारण यह सूर्य लोक (स्वराट्) अपने आप (असि) प्रकाशित है इस से (सपत्नहा) मेघ के अवयवों को काटने वाला होता है, जिस कारण यह (सत्रराट्) यज्ञों में प्रकाशित (असि) है इस से (अभिमातिहा) अभिमानकारक चोर आदि का हनन करने वाला होता है, जिस कारण यह (जनराट्) धार्मिक विद्वानों के मन में प्रकाशित (असि) है इस से (रक्षोहा) राक्षस वा दुष्टों का हनन करने वाला होता है जिस से यह (सर्वराट्) सब में प्रकाशमान (असि) है इस से (अमित्रहा) दुष्टों को दण्ड देने का निमित्त होता है ॥ २४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। हे विद्वान् मनुष्य ! जैसे सूर्य अपने प्रकाश से चोर व्याघ्र आदि प्राणियों को भय दिखाकर अन्य प्राणियों को सुखी करता है वैसे ही तू भी सब शत्रुओं का निवारण कर प्रजा को सुखीकर ॥ २४ ॥

रक्षोहण इत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । यज्ञो देवता । आद्यस्य ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः । बलगहन इत्युत्तरस्यार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

यजमानः सभाद्यध्यक्षादयो यज्ञानुष्ठातृन्मनुष्यान् यज्ञसामग्रीं ग्राहयेयुरित्युपदिश्यते ॥

यजमान सभा आदि के अध्यक्ष यज्ञानुष्ठान करने वाले मनुष्यों को यज्ञ सामग्री का ग्रहण करावें इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

रक्षोहणों वो बलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् रक्षोहणों वो बलगहनोऽवं नयामि वैष्णवान् रक्षोहणों वो बलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान् रक्षोहणौं वां बलगहना उपंदधामि वैष्णवी रक्षोहणौं वां बलगहना पर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमंसि वैष्णवा स्थ॥ २५ ॥

रक्षोहणः। रक्षोहनऽइतिरक्षःऽहनः। वः। बलगहनऽइतिबलगऽहनः। प्र। उक्षामि। वैष्णवान्। रक्षोहनऽइतिरक्षःऽहनः। वः। बलगहनऽइतिबलगऽहनः। अवं। नयामि। वैष्णवान्। रक्षोहनऽइतिरक्षःऽहनः। वः। बलगहनऽइतिबलगऽहनः। अवं। स्तृणामि। वैष्णवान्। रक्षोहणौं। रक्षोहनावितिरक्षःऽहनौं। वाम्। बलगहनावितिबलगऽहनौं। उप। दधामि। वैष्णवीऽइतिवैष्णवी। रक्षोहणौं। रक्षोहनावितिरक्षःऽहनौं। वाम्। बलगहनावितिबलगऽहनौं। परि। ऊहामि। वैष्णवीऽइतिवैष्णवी। वैष्णवम्। असि। वैष्णवाः। स्थ॥ २५ ॥

पदार्थः-- (रक्षोहणः) यथा यूयं ये रक्षांसि दुःखानि हथ तथा (वः) युष्मानेतांश्च (बलगहनः) यथा यो बलानि गाहते तथा भूतोऽहम् (प्र) प्रकृष्टार्थे (उक्षामि) सिञ्चामि (वैष्णवान्) विष्णुर्यज्ञो देवता येषां तान् (रक्षोहणः) यथा यूयं रक्षांसि दुष्टान् दस्य्वादीन् हथ तथा तान् (वः) युष्मानेतान्वा (बलगहनः) यथा यो बलानि शत्रुसैन्यानि गाहते तथाऽहम् (अव) विनिग्रहार्थे (नयामि) प्राप्नोमि प्रापयामि वा (वैष्णवान्) विष्णोर्यज्ञस्येमान् (रक्षोहणः) यथा यूयं रक्षांसि शत्रून् हथ तथाऽहं तान् (वः) युष्मानेतान्वीरान्वा (बलगहनः) यथाऽहं बलानि स्वसैन्यानि गाहे तथा व्यूहादिरचनया विलोडयत (अव) विनिग्रहे (स्तृणामि) आच्छादयामि (वैष्णवान्) यज्ञानुष्ठातॄन् (रक्षोहणौ) यथा रक्षसां हन्तारौ प्रजासभाध्यक्षौ तथाऽहं (वाम्) उभौ (बलगहनौ) यथा युवां बलानि गाहेथे तथाऽहं (उप) सामीप्ये (दधामि) धरामि (वैष्णवी) विष्णोरियं क्रिया (रक्षोहणौ) यथा रक्षसां शत्रूणां हन्तारौ भवथस्तथाऽहं (वाम्) उभौ (बलगहनौ) यथा युवां बलानि गाहेथे तथाऽहं (परि) सर्वतः (ऊहामि) तर्केण निश्चिनोमि (वैष्णवी) विष्णोः समग्रविद्याव्यापकस्येयं रीतिरस्ताम् (वैष्णवम्) विष्णोरिदं विज्ञानम् (असि) अस्ति (वैष्णवाः) विष्णोर्व्यापकस्येश्वरस्योपासकाः (स्थ) भवत । अयं मन्त्रः शत० ३ । ४ । ४ । १८--२४ व्याख्यातः ॥ २५ ॥

अन्वयः--हे सभाध्यक्षादयो मनुष्या यूयं यथा रक्षोहणःस्थ तथा बलगहनोऽहं वो युष्मान्सत्कुर्वैतान्दुष्टान् युद्धे शस्त्रैः प्रोक्षामि यथा रक्षोहणो यूयं नो दुःखानि हथ तथा बलगहनोऽहं वो युष्मान्सुखैः समान्येतानवनयामि यथा रक्षोहणो वैष्णवान्वो युष्मानेतांश्चवस्तृणीथ तथा बलगहनोऽहमेवैतान्स्तृणामि ।

यथा रक्षोहणौ बलगहनौ यज्ञस्वामिसंपादकौ वामुपधत्तस्तथैवाहमेतानुपदधामि यथा रक्षोहणौ बलगहनौ वां या वैष्णवी क्रियाऽस्ति तया पर्यूहतस्तथैवाहमेतां पर्यूहामि यद्वैष्णवं ज्ञानं यूयं सर्वत ऊहथ तदहमपि पर्यूहामि यथा यूयं वैष्णवाः स्थ तथा वयमपि भवेम ॥ २५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। मनुष्यैः परमेश्वरोपासनायुक्तव्यवहाराभ्यां पूर्णं शरीरात्मबलं संपाद्य यज्ञेन प्रजापालनं शत्रून् विजित्य सार्वभौमराज्यं च प्रशासनीयम् ॥ २५ ॥

पदार्थः— हे सभाध्यक्ष आदि मनुष्यो ! जैसे तुम (रक्षोहणः) दुःखों का नाश करने वाले हो वैसे शत्रुओं के बलको अस्त व्यस्त करने हारा मैं (वैष्णवान्) यज्ञ देवता वाले (वः) आप लोगों का सत्कार कर युद्ध में शस्त्रों से (प्रोक्षामि) इन धर्मयुक्त मनुष्यों को शुद्ध करूं. जैसे आप (रक्षोहणः) अधर्मात्मा दुष्ट दस्युओं को मारने वाले हैं वैसे (बलगहनः) शत्रुसेना की थाह लेने वाला मैं (वैष्णवान्) यज्ञ संबन्धी (वः) तुमको सुखों से मान्य कर दुष्टों का (अववयामि) दूर करता हूं, जैसे (बलगहनः) अपनी सेना को व्यूहों की शिक्षा से विलोडन करने वाला मैं (रक्षोहणः) शत्रुओं को मारने वा (वैष्णवान्) यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले (वः) तुमको (अवस्तृणामि ,) सुख से आच्छादित करता हूं वैसे तुम भी किया करो, जैसे (रक्षोहणौ) राक्षसों के मारने वा (बलगहनौ) बलों को विलोडन करने वाले (वाम्) यज्ञपति वा यज्ञ कराने वाले विद्वान् का धारण करते हो वैसे मैं भी (उपदधामि) धारण करता हूं जैसे (रक्षोहणौ) राक्षसों के मारने (बलगहनौ) बलों को विलोडने वाले (वाम्) प्रजा सभाध्यक्ष आप (वैष्णवी) सब विद्याओं में व्यापक विद्वानों की क्रिया वा (वैष्णवम्) जो विष्णुसंबन्धी ज्ञान है इन सब को तर्क से जानते हैं वैसे मैं भी (पर्यूहामि) तर्क से अच्छे प्रकार जानूं और जैसे आप सबलोग

(वैष्णवाः) व्यापक परमेश्वर की उपासना करने वाले (स्थ)हैं वैसा मैं भी होऊं॥ २५॥

भावार्थः— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा और उपमालङ्कार हैं। मनुष्यों को परमेश्वर की उपासना युक्त व्यवहार से शरीर और आत्मा के बल को पूर्ण करके यज्ञ से प्रजा की पालना और शत्रुओं को जीतकर सब भूमि के राज्य की पालना करनी चाहिये॥ २५॥

देवस्यत्वेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमाऋषिः। यज्ञो देवता। आद्यस्य निचृदार्षी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः। यवोऽसीत्युत्तरस्य निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

किमर्थोऽयं यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते॥

किस लिये इस यज्ञ को करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि। यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा। शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥ २६॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसवऽइतिप्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामितिबाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्यामितिहस्ताऽभ्याम् । आ । ददे । नारि । असि । इदम् । अहम् । रक्षसाम् । ग्रीवाः । अपि । कृन्तामि । यवः । असि । यवय । अस्मत् । द्वेषः । यवय । अरातीः । दिवे । त्वा । अन्तरिक्षाय । त्वा । पृथिव्यै । त्वा । शुन्धन्ताम् । लोकाः । पितृषदनाः । पितृसदनाइतिपितृऽसदनाः । पितृषदनम् । पितृसदनमितिपितृऽसदनम् । असि ॥ २६ ॥

पदार्थः– (देवस्य) सर्वानन्दप्रदस्य (त्वा) त्वां होमशिल्पाख्ययज्ञकर्त्तारम् (सवितुः) सकलोत्पादकस्येश्वरस्य (प्रसवे) यथा सृष्टौ तथा (अश्विनोः) प्राणापानयोः (बाहुभ्याम्) यथा बलवीर्याभ्यां तथा (पूष्णः) पुष्टिमतो वीरस्य (हस्ताभ्याम्) यथा प्रबलभुजदण्डाभ्यां तथा (आ) समंतात् (ददे) गृह्णामि (नारि) नराणामियं शक्तिमती स्त्री तत्संबुद्धौ (असि) भवति (इदम्) विश्वम् (अहम्) सभाध्यक्षः (रक्षसाम्) दुष्टकर्मकारिणां प्राणिनाम् (ग्रीवाः) शिरांसि (अपि) निश्चये (कृन्तामि) छिनाद्मि (यवः) मिश्रणामिश्रणकर्ता (असि) वर्त्तसे (यवय) श्रेष्ठगुणैः सह मिश्रय दोषेभ्यश्च पृथक्कारय अत्र वा छन्दसीति वृद्ध्यभावः (अस्मत्) स्वेभ्यः (द्वेषः) ईर्ष्यादिदोषान् (यवय) दूरीकारय (अरातीः) शत्रून् (दिवे) सत्यधर्मप्रकाशाय (त्वा) त्वाम् (अन्तरिक्षाय) आकाशे गमनाय (त्वा) त्वाम् (पृथिव्यै) पृथिवीस्थपदार्थपुष्टये (त्वा)

त्वाम् (शुन्धन्ताम्) पवित्रीकुर्वन्तां (लोकाः) सर्वे (पितृषदनाः) यथा पितृषु ज्ञानिषु सीदन्ति तथा (पितृषदनम्) यथा विद्यावन्तो ज्ञानिनस्सीदन्ति यस्मिंस्तत्तथा (असि) अस्ति । अयं मन्त्रः । शत० ३ । ४ । ४ । ४—१४ व्याख्यातः ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य यथा अहं सवितुर्देवस्य प्रसवे यथाऽश्विनोर्बाहुभ्यां यथा पूष्णो हस्ताभ्यामनेकानुपकारानाददे । इदं विश्वं संरक्ष्य रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि यथा पदार्थान् यवयामि तथा त्वमप्यादत्स्व यवय च यथाऽहं द्वेषोऽरातीः शत्रूनस्मद् दूरीकारयामि तथा त्वमपि यवय हे विद्वन् ! यथाऽहं दिवे त्वा त्वामन्तरिक्षाय त्वा त्वां पृथिव्यै त्वा त्वामाश्रयामि तथा सर्वे जना आश्रयन्तां यथा पितृषदनमसि येन पितृषदना लोकाः शुन्धन्ति यदहं शुन्धे तथेदं सर्वे शुन्धन्तां हे नारि त्वमप्येतत्सर्वमेव समाचर ॥ २६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । मनुष्यैर्यथाक्रियं यथानुक्रमं विद्वदाश्रयं कृत्वा यज्ञमनुष्ठाय सर्वेषां शुद्धिः संपादनीया ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्य ! जैसे मैं (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करने और (देवस्य) सब आनन्द के देने वाले परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में (अश्विनोः) प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) बल और वीर्य तथा (पूष्णः) अति पुष्ट वीर के (हस्ताभ्याम्) प्रबल प्रतापयुक्त भुज और दण्ड से अनेक उपकारों को (आददे) लेता वा (इदम्) इस जगत् की रक्षा कर (रक्षसाम्) दुष्टकर्म करने वाले प्राणियों के (ग्रीवाः) शिरों को (अपि) (कृन्तामि) छेदन ही करता हूं तथा जैसे पदार्थों का उत्तम गुणों से मेल करता हूं वैसे तूं भी उपकार ले और (यवय) उत्तम गुणों से पदार्थों का मेल कर जैसे मैं (द्वेषः) ईर्षा आदि दोष वा (अरातीः) शत्रुओं को (अस्मत्) अपने से दूर कराता हूं वैसे तू भी (यवय) दूर करा। हे विद्वन् ! जैसे हम लोग (दिवे) ऐश्वर्य्यादि गुण के प्रकाश होने के लिये

(त्वा) तुझ को (अन्तरिक्षाय) आकाश में रहने वाले पदार्थ को शोधने के लिये (त्वा) तुझ को (पृथिव्यै) पृथिवी के पदार्थों की पुष्टि होने के लिये (त्वा) तुझ को सेवन करते हैं वैसे तुम लोग भी करो। जैसे (पितृषदनं) विद्या पढ़े हुए ज्ञानी लोगों का यह स्थान (असि) है और जिस से (पितृषदनाः) जैसे ज्ञानियों में ठहर पवित्र होते हैं वैसे मैं शुद्ध होऊं नथा सब मनुष्य (शुन्धन्ताम्) अपनी शुद्धि करें और हे स्त्री! तू भी यह सब इसी प्रकार कर ॥ २६ ॥

भावार्थः- इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्यों को योग्य है कि ठीक २ क्रियाक्रमपूर्वक विद्वानों का आश्रय और यज्ञ का अनुष्ठान करके सब प्रकार से अपनी शुद्धि करें ॥ २६ ॥

उद्दिवमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। यज्ञो देवता। ब्राह्मी जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

सेवितः सभाध्यक्षोऽनुष्ठितो यज्ञश्च किं करोतीत्युपदिश्यते ॥

अच्छे प्रकार सेवन किया हुआ सभापति और अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ क्या करता है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

उद्दिवꣳस्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजान्दृꣳह ॥ २७ ॥

उत्। दिवम्। स्तभान। आ। अन्तरिक्षम्। पृण। दृꣳहस्व। पृथिव्याम्। द्युतानः। त्वा। मारुतः। मिनोतु। मित्रावरुणौ।

ध्रुवेण । धर्मणा । ब्रह्मवनीति ब्रह्मऽवनि । त्वा । क्षत्रवनीति क्षत्रऽवनि । रायस्पोषवनीतिरायस्पोषऽवनि । परि । ऊहामि । ब्रह्म । दृꣳह । क्षत्रम् । दृꣳह । आयुः । दृꣳह । प्रजामितिप्रऽजाम् । दृꣳह ॥ २७ ॥

पदार्थः—(उत्) उत्कृष्टे (दिवम्) प्रकाशम् (स्तभान) (अन्तरिक्षम्) आकाशं तत्रस्थप्राणिवर्गं च अत्र तात्स्थ्योपाधिना प्राणिनामपि ग्रहणम् । (पृण) अत्रान्तर्भावितणिजर्थः । (दृꣳहस्व) वर्धय । (पृथिव्याम्) भूमौ (द्युतानः) यथा दिवं महिमागुणो विस्तारयति तथा (त्वा) त्वाम् (मारुतः) वायुः (मिनोतु) प्रक्षिपति (मित्रावरुणौ) यथा प्राणापानौ तथा (ध्रुवेण) निश्चलेन (धर्मणा) धर्मेण (ब्रह्मवनि) यथा वलविद्यासंभाजितारं तथा अत्र सर्वत्र सुपां सुलुगिति विभक्तेर्लुक् (त्वा) त्वाम् (क्षत्रवनि) चत्रस्य राज्यस्य संसेवयितारं तथा (रायस्पोषवनि) यथा रायो धनसमूहस्य पोषं पुष्टिं वनन्ति सेवन्ते यस्मात्तथा (परि) सर्वतः (ऊहामि) वितर्कयामि (ब्रह्म) विद्या विद्वांसं वा । (दृꣳह) वर्धय वर्धयति वा (क्षत्रम्) राज्यं क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन सः क्षत् घातादिस्ततस्त्रायते रक्षतीति क्षत्रः क्षत्रियादिवीरस्तं (दृꣳह) वर्धय (आयुः) जीवनम् (दृꣳह) वर्धय (प्रजाम्) उत्पादनीयाम् (दृꣳह) वर्धय । अयं मन्त्रः श० ३ । ४ । ४ । २-६ व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे परमविद्वन् यथा त्वा त्वां मारुतो ध्रुवेण धर्मणा

मिनोति मिनावरुणौ मिनुस्तथा त्वं कृपयाऽस्मदर्थं दिवमुत्भानान्तरिक्षं पृण पृथिव्यां पुनानः सन्सुखानि दृंह ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह प्रजां दृंह ब्रह्मवनिं क्षत्रवनिं रायस्पोषवनिं त्वामहं पर्यूहामि तथा त्वां सर्वे मनुष्याः पर्यूहन्तु ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्या यूयं यथा जगदीश्वरः सत्यभावेन प्रार्थितः सेवितः सन् सर्वान् सुखयति तथैवायं यज्ञो विद्यादीन् संवृध्य सर्वान् मनुष्यादीन् प्राणिनः सुखयतीति विजानीत ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे परमविद्वन् ! जैसे (त्वा) आप को (मारुतः) वायु (ध्रुवेण) निश्चल (धर्मणा) धर्म से (मिनोतु) प्रयुक्त करे (मित्रावरुणौ) प्राण और अपान भी धर्म से प्रयुक्त करते हैं वैसे आप कृपा करके हम लोगों के लिये (दिवम्) विद्या गुणों के प्रकाश को (उत्भान) अच्छे ज्ञान से उत्पन्न कीजिये तथा (अन्तरिक्षम्) सब पदार्थों के अवकाश को (पृण) परिपूर्ण कीजिये (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (पुनानः) सब विद्या के गुणों का विस्तार करते हुए आप सुखों को (दृंह) बढ़ाइये (ब्रह्म) वेद विद्या को (दृंह) बढ़ाइये (क्षत्रम्) राज्य को बढ़ाइये (आयुः) अवस्था को (दृंह) बढ़ाइये और (प्रजाम्) उत्तम २ प्रजा को सब वृद्धियुक्त कीजिये। इसी लिये मैं (ब्रह्मवनि) ब्रह्मविद्या का सेवन करने वा कराने (क्षत्रवनि) राज्य का सेवन करने कराने (रायस्पोषवनिं) और धनसमूह की पुष्टि को सेवने वा सेवन कराने वाले आप को (पर्यूहामि) सब प्रकार के तर्कों से निश्चय करता हूं वैसे आप मुझ को सर्वथा सुखदायक हूजिये और आप को सब मनुष्य तर्कों से जानें ॥२७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे मनुष्यो ! आप लोग जैसे जगदीश्वर सत्य भाव से प्रार्थित और सेवन किया हुआ अत्युत्तम विद्वान् सब को सुख देता है वैसे यह यज्ञ भी विद्या गुणों को बढ़ाकर सब जीवों को सुख देता है, यह जानो ॥ २७ ॥

ध्रुवासीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। यज्ञो देवता। आर्षी जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

पुनस्तेन किं भविष्यतीत्युपदिश्यते ॥

फिर उस यज्ञ से क्या होता है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात ॥ घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया ॥२८॥

ध्रुवा । असि । ध्रुवः । अयम् । यजमानः । अस्मिन् । आयतनऽइत्याऽयतने । प्रजेतिप्रऽजया । पशुभिरितिपशुऽभिः । भूयात । घृतेन । द्यावापृथिवीऽइतिद्यावापृथिवी । पूर्येथाम् । इन्द्रस्य । छदिः । असि । विश्वजनस्येतिविश्वऽजनस्य । छाया ॥ २८ ॥

पदार्थः—(ध्रुवा) निश्चला (असि) भवसि (ध्रुवः) निश्चलः (अयम्) वक्ष्यमाणः (यजमानः) यज्ञकर्त्ता (अस्मिन्) वर्त्तमाने यज्ञे (आयतने) आयन्ति आगच्छन्ति प्राणिनो यस्मिंस्तज्जगत्तस्मिन् जगति स्थाने यज्ञे वा (प्रजया) राज्येन सन्तानसमूहेन वा (पशुभिः) हस्त्यश्वगवादिभिः (भूयात) (घृतेन) आज्यादिना (द्यावापृथिवी) आकाशभूमी (पू-

येथाम्) (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यस्य (छदिः) दुःखापवारकत्वेन प्रापकः प्रापिका वा (असि) भवसि (विश्वजनस्य) विश्वस्मिन् जगति सर्वस्य जनसमूहस्य (छाया) दुःखच्छेदकाश्रयो वा । अयं मन्त्रः । शत० २।४।४।१९—२२ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे यज्ञानुष्ठात्रि यजमानपत्नि यथा त्वमस्मिन्नायतने जगति स्वस्थाने यज्ञे वा प्रजया पशुभिः सह ध्रुवाऽसि तथाऽयं यजमानोऽपि ध्रुवोऽस्ति युवां घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथां पूरयेतं कुर्यातमिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छायाऽसि तत्संगेन पतिरपि समूहः सुखी भवे-दस्मात्तां तं त्वां वयं प्रशंसामः ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्याभ्यां यज्ञानुष्ठातृभ्यां यजमानतत्पत्नीभ्यां येन यज्ञेन च निश्चला विद्या सुखानि च प्राप्य दुःखानि नश्येयुस्तौ सदा सत्कर्त्तव्यौ यज्ञश्च सदाऽनुष्ठेयः ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे यज्ञ करने वाले यजमान की स्त्री ! जैसे तू (प्रजया) सन्तान वा अपने सन्तानों और (पशुभिः) हाथी घोड़े गाय आदि पशुओं के सहित (अस्मिन्) इस (आयतने) जगत् वा अपने स्थान वा सब के सत्कार करा-ने के योग्य यज्ञ में (ध्रुवा) दृढ़संकल्प (असि) है वैसे (अयम्) यह (यज-मानः) यज्ञ करने वाला तेरा पति यजमान भी (ध्रुवः) दृढ़ संकल्प है। तुम दोनों (घृतेन) घृत आदि सुगन्धित पदार्थों से (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि को (पूर्येथाम्) परिपूर्ण करो। हे यज्ञ करने वाली स्त्री ! तू (इन्द्रस्य) अत्यन्त ऐश्वर्य को भी अपने यज्ञ से (छदिः) (असि) है अब तू और ते-रा पति यह यजमान (विश्वजनस्य) संसार को (छाया) सुख छाया करने वाला (भूयात्) हो ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जिन यज्ञ करने वाले यजमान की पत्नी और यजमान से तथा जिस यज्ञ से दृढ़ विद्या और सुखों को पाकर दुःखों को छोड़ें उन का सत्कार तथा उस यज्ञ का अनुष्ठान सदा ही करते रहें ॥ २८ ॥

परिवीरसीत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । ईश्वरसभाध्यक्षौ देवते ।
अनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ईश्वरसभाध्यक्षाभ्यां किं किं भवितुं योग्यमित्युपदिश्यते ॥

ईश्वर और सभाध्यक्ष से क्या२ होने को योग्य है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

परि त्वा गिर्वणो गिरऽइमा भवन्तु विश्वतः।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥ २९ ॥

परि । त्वा । गिर्वणः । गिरः । इमाः । भवन्तु । विश्वतः । वृद्धायुमिति वृद्धऽआयुम । अनु । वृद्धयः । जुष्टाः । भवन्तु । जुष्टयः ॥ २९ ॥

पदार्थः— (परि) सर्वतः (त्वा) त्वां (गिर्वणः) गीर्भिः स्तोतुमर्ह (गिरः) स्तुतिवाचः (इमाः) मत्कृताः (भवन्तु) (विश्वतः) सर्वाः। अत्र प्रथमार्थे तसिः। (वृद्धायुं) वृद्धइव आचरन्तम्। क्याच्छन्दसीत्युः। (अनु) पश्चाद्भावे (वृद्धयः) वृध्यन्ते यास्ताः। (जुष्टाः) प्रीताः सेविता वा (भवन्तु)(जुष्टयः) जुष्यन्ते प्रीयन्ते यास्ताः। अयं मन्त्रः। शत० ३। ४। ५। २४ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः— हे गिर्वण ईश्वर सभाध्यक्ष इमा मत्कृता विश्वता गिरस्त्वां परि प्रीता भवन्तु। न तत्त्वमेव किन्तु वृद्धायुं त्वामनु वृद्धयो जुष्टयो जुष्टाश्च भवन्तु ॥ २९ ॥

भावार्थः— अत्र श्लेषालङ्कारः। हे मनुष्या यथास्माभिः शुभगुणकर्मभिः सह वर्तमानो जगदीश्वरः सभापतिर्वा स्तोतुमर्होऽस्ति तथैव युष्माभिरपि भवितव्यम् ॥ २९ ॥

पदार्थः— हे (गिर्वणः) स्तुतियों से स्तुति करने योग्य ईश्वर वा सभाध्यक्ष (इमाः) ये मेरी किई हुई (विश्वतः) समस्त (गिरः) स्तुतियें (परि) सब प्रकार से (भवन्तु) हों और उसी समय की ही न हों किन्तु (वृद्धायु) वृद्धों के समान आचरण करने वाले आप के (अनु) पश्चात् (वृद्धयः) अत्यन्त बढ़ती हुई और (जुष्टयः) प्रीति करने योग्य (जुष्टाः) प्यारी हों ॥२९॥

भावार्थः— इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । हे मनुष्यो ! जैसे संपूर्ण उत्तम गुण कर्म्मों के साथ वर्तमान जगदीश्वर और सभापति स्तुति करने योग्य हैं वैसेही तुम लोगों को भी होना चाहिये ॥ २९ ॥

इन्द्रस्येत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । ईश्वरसभापती देवते ।
आर्च्युष्णिक्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
पुनस्तौ कथंभूतावित्युपदिश्यते ॥
फिर वे कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि ॥ ३० ॥

इन्द्रस्य । स्यूः । असि । इन्द्रस्य । ध्रुवः । असि । ऐन्द्रम् । असि । वैश्वदेवमितिवैश्वऽदेवम् । असि ॥३०॥

पदार्थः— (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यस्य (स्यूः) यः सीव्यति सह योजयति सः (असि) भवसि । (इन्द्रस्य) सूर्यादेराजस्य वा (ध्रुवः) निश्चलो निश्चलकर्त्ता (असि) (ऐन्द्रम्) इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्येदमधिकरणम् (असि) (वैश्वदेवम्) यथा विश्वेषांदेवानामिदमन्तरिक्षमधिकरणं तथा (असि) अयं मन्त्रः । शत० ३ । ४ । ५ । २५—२६ । व्याख्यातः ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर वा सभाध्यक्ष यथा वैश्वदेवमन्तरिक्ष-मस्ति तथा त्वमिन्द्रं परमैश्वर्य्यस्याधिकरणमसि । अतएव सर्वेषाम-स्मदादीनामिन्द्रस्य परमैश्वर्य्यस्य स्यूरसि इन्द्रस्य सूर्य्यादिलोकस्य रा-ज्यस्य वा ध्रुवोऽसि ॥ ३० ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषोपमालंकारः । यथा सकलैश्वर्य्यप्रदान-मीश्वरोऽस्ति तथा सभाध्यक्षादिभिरपि भवितव्यम् ॥ ३० ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर वा सभाध्यक्ष ! जैसे (वैश्वदेवम्) समस्त पदार्थों का निवासस्थान अन्तरिक्ष है वैसे आप (इन्द्रं) सब का आधार है इसी से हम लोगों को (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य का (स्यूः) संयोग करने वाले (असि) हैं और (इन्द्रस्य) सूर्य आदि लोक वा राज्य को (ध्रुवः) निश्चल करने वाले (असि) हैं ॥ ३० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेष और उपमालङ्कार है । जैसे सकल ऐश्वर्य का देने वाला जगदीश्वर है वैसे सभाध्यक्षादि मनुष्यों को भी होना चाहिये ॥ ३० ॥

विभूरसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्सो कथम्भूतोऽस्तीत्युपदिश्यते ॥

फिर वे कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

विभूर॑सि प्र॒वाह॑णो॒ वह्नि॑रसि हव्य॒वाह॑नः । श्वा॒त्रो॑ऽसि॒ प्रचे॑तास्तु॒थो॑ऽसि वि॒श्ववे॑दाः ॥ ३१ ॥

वि॒भूरिति॑ वि॒ऽभूः । अ॒सि॒ । प्र॒वाह॑णः । प्र॒वाह॑न॒ इति॑ प्र॒ऽवाह॑नः । वह्निः॑ । अ॒सि॒ । ह॒व्य॒वाह॑न॒ इति॑ ह॒व्य-

ऽवाहनः । श्वात्रः । असि । प्रचेताइतिप्रऽचेताः । तुथः । असि । विश्ववेदाइतिविश्वऽवेदाः ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(विभूः) यथा व्यापकआकाशो वैभवयुक्तो राजा वा (असि) (प्रवाहणः) यथा वायुर्महानदी वा तथा (वह्निः) वोढा (असि)(हव्यवाहनः) यथाऽग्निर्हव्यानि वहति तथा (श्वात्रः) ज्ञानवान् श्वात्रतीति गतिकर्मसु पठितम् निघं० २ । १४ (असि) (प्रचेताः) यथा प्राणः प्रचेतयति तथा (तुथः) ज्ञानवर्धकः (असि) (विश्ववेदाः) यथा सूत्रात्मा पवनस्तथा । अयं मन्त्रः । शतपथे व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर वा विद्वन् यस्मात्त्वं यथाऽऽकाशो वैभवयुक्तो राजा वा तथा विभूरसि यथा वायुर्महानदी वा तथा प्रवाहणोऽसि यथा वह्निस्तथा हव्यवाहनोऽसि यथा प्राणस्तथा प्रचेता श्वात्रोऽसि यथा सूत्रात्मा पवनस्तथा विश्ववेदास्तुथश्चासि तस्मात् स सत्कर्तव्योऽसीति वयं विजानीमः ॥ ३१ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषोपमालंकाराः । न सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरविदुषोः सत्कारः कदापि त्यक्तव्यो नैतयोः प्राप्त्या विना कस्याप्यद्भुतसुखलाभो भवितुमर्हति तस्मात्तौ सर्वथा सेव्यौ स्तः ॥ ३१ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर वा विद्वन् जिस से आप जैसे व्यापक आकाश और ऐश्वर्य युक्त राजा होता है वैसे (विभुः) व्यापक और ऐश्वर्ययुक्त (असि) हैं (वह्निः) जैसे होम किये पदार्थों को योग्यस्थान में पहुंचाने वाला अग्नि है वैसे (हव्यवाहनः) हवन करने के योग्य पदार्थों का सम्पादन करने वाले (असि) हैं जैसे जीवों में प्राण है वैसे (प्रचेताः) चेत कराने वाले (श्वात्रः)

विद्वान् (असि) हैं जैसे सूत्रात्मा पवन सब में व्याप्त है वैसे (विश्ववेदाः) विश्व को जानने (वृधः) ज्ञान को बढ़ाने वाले (असि) हैं इस से आप सत्कार करने योग्य हैं ऐसा हम लोग जानते हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थः इस मंत्र में श्लेष और उपमालङ्कार हैं। सब मनुष्यों को उचित है कि ईश्वर और विद्वान् का सत्कार करना कभी न छोड़ें क्योंकि अन्य किसी से विद्या और सुख का लाभ नहीं हो सकता है इस लिये इन को जानें ॥ ३१ ॥

उशिगसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर वे कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः ॥ सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदनऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥ ३२ ॥

उशिक्। असि। कविः। अङ्घारिः। असि। बम्भारिः। अवस्युः। असि। दुवस्वान्। शुन्ध्यूः। असि। मार्जालीयः। सम्राडिति सम्ऽराट्। असि। कृशानुः। परिषद्य इति परिऽसद्यः। असि। पवमानः। नभः। असि। प्रतक्वेति प्रऽतक्वा। मृष्टः। असि। हव्यसूदन इति हव्यऽसूदनः। ऋतधामेत्यृतऽधामा। असि। स्वर्ज्योतिरिति स्वःऽज्योतिः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(उशिक्) कांतिमान् (असि) (कविः) क्रां-

तमज्ञः क्रांतदर्शनो वा (अंघारिः) अंघस्य कुटिलगामिनो जीवस्यारिः शत्रुः (असि) (बंभारिः) बन्धस्यारिः अत्र वर्णव्यत्ययेन धस्य भः (अवस्यूः) योऽवसीव्यति तारादितंतून् संतानयति येन त्वा सः (असि) (दुवस्वान्) दुवः प्रशस्तं परिचरणं विद्यते यस्य सः (शुन्ध्यूः) शुद्धः (असि) (मार्जालीयः) शोधकः । स्थाचतिमृजेरालज् बालजालीयचः । उ० १ । ११५ अनेनसूत्रेणानेमृजूष शुद्धौ इत्यस्मादालीयच प्रत्ययः (सम्राट्) यथा सम्यग्राजते तथा (असि) (कृशानुः) तनूकर्त्ता (परिषद्यः) परिषदि भवः (असि) (पवमानः) पवित्रकारकः (नभः) यो नभत हन्ति परपदार्थं हन्तृन स । नभनइति वधकर्मसु पठितम् निघं० २ । १९ (असि) (प्रतक्वा) यथा प्रतकति प्रकर्षेण हर्षनीति अत्रान्येभ्योपिदृश्यन्त इति वनिप् तथा (मृष्टः) यो सर्वानि मार्जयति त्वा (असि) (हव्यसूदनः) यथा हव्यानि सूदति तथा (ऋतधामा) यथा सत्यं जलं वा दधाति तथा (असि) (स्वर्ज्योतिः) यथा स्वरंतरिक्षलोकसमूहं द्योतते तथा ॥ ३२ ॥

अन्वयः-हे भगवन्यतस्त्वमुशिगस्यंघारिः कविरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वान् शुन्ध्यूर्मार्जालीयोऽसि पवमानः परिषद्योऽसि यथा प्रतक्वा तथान्तरिक्षप्रकाशको नभोऽसि यथा हव्यसूदनस्तथा मृष्टोऽसि यथा स्वर्ज्योतिर्ऋतधामाऽसि तथा सत्यस्याग्नी वर्त्तसे सर्वेषु तत्तद्गुणैः प्रसिद्धो भवान् सर्वैरुपासनीयोऽस्तीति विजानीम॥३२॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः । येन जगदीश्वरेण यादृग्गुणं जगन्निर्मितं तादृग्गुणेन प्रसिद्धः स सर्वैर्मनुष्यैरुपासनीयः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! जिस कारण आप (उशिक्) कान्तिमान् (असि) हैं (अघारिः) खोटे चलन वाले जीवों के शत्रु वा (कविः) क्रान्तप्रज्ञ (असि) हैं (बम्भारिः) बन्धन के शत्रु वा तारादिजन्तुओं के विस्तार करने वाले (असि) हैं (दुवस्वान्) प्रशंसनीय सेवा युक्त स्वयं (शुन्ध्युः) शुद्ध (असि) हैं (मार्जालीयः) सब को शोधने वाले (सम्राट्) और अच्छे प्रकार प्रकाशमान (असि) हैं (कृशानुः) पदार्थों को अतिसूक्ष्म (पवमानः) पवित्र और (परिषद्यः) सभा में कल्याण करने वाले (असि) हैं जैसे (प्रतक्वा) हर्षित और (नभः) दूसरे के पदार्थ हर लेने वालों को मारने वाले (असि) हैं (हव्यसूदनः) जैसे होम के द्रव्य को यथायोग्य व्यवहार में लाने वाले और (ऋतधामा) सत्यधाम युक्त (असि) हैं वैसे ही उक्त गुणों से प्रसिद्ध आप सब मनुष्यों को उपासना करने योग्य हैं, ऐसा हम लोग मानते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थः— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जिस परमेश्वर ने समस्त गुण वाले जगत् को रचा है उन्हीं गुणों से प्रसिद्ध उसकी उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये॥ ३२॥

समुद्रोऽसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः ।
पञ्चमः स्वरः ॥

पुनरीश्वरो वर्णते तथा विद्वद्भिरपि भवितव्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर जैसा ईश्वर है वैसा विद्वानों को भी होना अवश्य है
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोस्यृतस्य द्वारौ

मा मा सं तांप्तमध्वंनामध्वपते प्र मां तिर स्व- स्ति मेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात् ॥ ३३ ॥

समुद्रः। असि। विश्वव्यचा इति विश्वऽव्यचाः। अजः। असि। एकपादित्येकऽपात्। अहिः। असि। बुध्न्यः। वाक्। असि। ऐन्द्रम्। असि। सदः। असि। ऋतस्य। द्वारौ। मा। मा। सम्। ताप्तम्। अध्वनाम्। अध्वपत इत्यध्वऽपते। प्र। मा। तिर। स्वस्ति। मे। अस्मिन्। पथि। देवयान इति देवऽयाने। भूयात् ॥ ३३ ॥

पदार्थः– (समुद्रः) समुद्रवन्ति भूतानि यस्मात् सः । (असि) । (विश्वव्यचाः) यथा विश्वस्मिन् व्यचा व्याप्तिर्यस्यास्ति तथा। (अजः) यः कदाचिन्न जायते (असि)(एकपात्) एकस्मिन् पादे विश्वं यस्यास्ति। (अहिः) समस्तविद्यासु व्यापनशीलः (असि) (बुध्न्यः) बुध्नेऽन्तरिक्षे भवः । बुध्नमन्तरिक्षं भवति । निरु० १० । ४४(वाक्) यया वक्ति सा (असि) (ऐन्द्रम्) परमैश्वर्यस्येदम् (असि) (सदः) सीदन्ति यस्मिंस्तत् (असि) (ऋतस्य) सत्यस्य कारणस्य व्यवहारस्य वा (द्वारौ) बाह्याभ्य-

न्तरस्थे सुखे (मा) माम् (मा) निषेधे (मम) सम्यगर्थे (मामम) तपः । अत्र लिङर्थे लुङ् । (अध्वनाम्) यथा विद्याधर्मशिल्पमार्गाणाम् (अध्वपते) धर्मव्यवहारमार्गपालयितः । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (मा) माम (तिर) तारय (स्वस्ति) सुखम् (मे) मम (अस्मिन्) प्रत्यक्षे (पथि) मार्गे (देवयाने) यथा विदुषां गमनागमनाधिकरणे तथा (भूयात्) भवतु ॥ ३३ ॥

अन्वयः— यः परमेश्वरः समुद्रो विश्वव्यचा अस्ति स एकपादजोऽस्ति अहिर्बुध्न्योऽसि हे अध्वपते यथैन्द्रसदोऽस्ति यथा स ऋतस्य द्वारौ न संतापयति तथा मा संतापयः । यथा चास्मिन् देवयाने पथि स्वस्ति भूयात्तथा त्वं सततं प्रयतस्व ॥ ३३ ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः । यथा कृपायमाण ईश्वरोऽस्मिन् संसारे सर्वेषां जीवानां शिक्षादिकर्मसु प्रवर्त्तते तथा विद्वद्भिरपि वर्त्तितव्यम् । परमेश्वरस्य जगत्कारणस्य जीवानां चाऽनादित्वाज्जन्मराहित्यमविनाशित्वं वर्त्तते तथा स्वस्य बोध्यं यथा परमेश्वरस्य कृपोपासनासृष्टिविद्या पुरुषार्थैः सहैव वर्त्तमानानां मनुष्याणां विद्वन्मार्गप्राप्तिस्तत्र सुखं च जायते तथेतरेषामिति ॥ ३३ ॥

पदार्थः— जैसे परमेश्वर (समुद्रः) सब प्राणियों का गमनागमन कराने हारे (विश्वव्यचाः) जगत् में व्यापक और (अजः) अजन्मा (असि) है (एकपात्) जिसके एकपाद् विश्व है (अहिः) वा व्यापनशील (बुध्न्यः) तथा अन्तरिक्ष में होने वाला (असि) है और (वाक्) वाणीरूप (असि) है । (ऐन्द्रं) परमैश्वर्य का (सदः) स्थानरूप है और (ऋतस्य) सत्य के (द्वारौ) मुखों को (मासंतापम्) संताप कराने वाला नहीं है । (अध्वपते) हे धर्म व्यवहार के मार्गों का पालन करने हारो विद्वानो ! वैसे तुम भी संताप न करो । हे ईश्वर ! (मा) मुझको (अध्वनम्) धर्मशिल्प के मार्ग से (प्रतिर) पार कीजिये और (मे) मेरे (अस्मिन्) इस (देवयाने) विद्वानों के जाने आने योग्य (पथि) मार्ग में जैसे (स्वस्ति) सुख (भूयात्) हो वैसा अनुग्रह कीजिये ॥ ३३ ॥

भावार्थः— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। ईश्वर वा जगत् के कारण रूप जीव को अनादित्व होने वा जन्म न होने से अविनाशीपन है। परमेश्वर की कृपा उपसना सृष्टि की विद्या वा अपने पुरुषार्थ के साथ वर्त्तमान हुए मनुष्यों को विद्वानों के मार्ग की प्राप्ति और उसमें मुख होना है और आलसी मनुष्यों को नहीं होता ॥ ३३ ॥

मित्रस्येत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। स्वराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः।
मध्यमः स्वरः॥

पुनर्विद्वांसः कीदृशाः सन्तीत्युपदिश्यते॥

फिर विद्वान् कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

मि॒त्रस्य॑ मा॒ चक्षु॑षेक्षध्व॒मग्न॑यः सगराः सगरा स्थ॒ सग॑रेण॒ नाम्ना॒ रौद्रे॒णानी॑केन पा॒त मा॑ग्नयः पिपृ॒त मा॑ग्नयो गोपा॒यत॑ मा॒ नमो॑ वोऽस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसिष्ट ॥ ३४ ॥

मि॒त्रस्य॑। मा॒। चक्षु॑षा। ई॒क्ष॒ध्व॒म्। अग्न॑यः। स॒ग॒राः॒। स॒ग॒राः॒। स्थ॒। स॒ग॑रेण। नाम्ना॑। रौद्रे॑ण। अनी॑केन। पा॒त। मा॒। अ॒ग्न॒यः॒। पि॒पृ॒त। मा॒। अग्न॑यः। गो॒पा॒यत॑। मा॒। नमः॑। वः॒। अ॒स्तु॒। मा। मा॒। हि॒ꣳसि॒ष्ट॒ ॥ ३४ ॥

पदार्थः— (मित्रस्य) सुहृदः (मा) माम् (चक्षुषा) दृष्ट्या (ईक्षध्वम्) संप्रेक्षध्वम् (अग्नयः) नेतारो नयन्ति प्रे-प्रान् पदार्थान् (सगराः) सगरोऽन्तरिक्षमवकाशो येषान्ते। अग्रेआदित्वादच्। (सगराः) सगरोन्तरिक्षं विद्योपदेशाव-काशो येषां ते(स्थ)भवत (सगरेण)अन्तरिक्षेण सह(नाम्ना)

ज्योतिरसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

ईश्वरः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

ईश्वर कैसा है यह अगले मंत्र में कहा है ॥

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषान्देवानाᳬं स॒मित् त्वᳬंसोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य उरु यन्तासि वरूथᳬं स्वाहा॥ जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा ॥ ३५ ॥

ज्योतिः। असि । विश्वरूपमिति विश्वऽरूपम् । विश्वेषाम् । देवानाम् । समिदिति सम्ऽइत् । त्वम् । सोम । तनूकृद्भ्य इति तनूकृत्ऽभ्यः । द्वेषोभ्य इति द्वेषःऽभ्यः । अन्यकृतेभ्य इत्यन्यऽकृतेभ्यः । उरु । यन्ता । असि । वरूथम् । स्वाहा । जुषाणः । अप्तुः । आज्यस्य । वेतु । स्वाहा ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(ज्योतिः) सर्वप्रकाशकः (असि) (विश्वरूपम्) यथा सर्वं रूपं यस्मिंस्तथा (विश्वेषाम्) अखिलानाम् (देवानाम्) विदुषां (समित्) यथा सम्यगिध्यते तथा (त्वम्) (सोम) ऐश्वर्य्यप्रद (तनूकृद्भ्यः) यथा विस्तारकारिभ्यस्तथा (द्वेषोभ्यः) यथा द्विषन्ति तेभ्यस्तथा (अन्यकृतेभ्यः) यथाऽन्यैर्यानि क्रियन्ते तेभ्यः (उरु)

बहु (यन्ता) नियमकर्त्ता (असि) (वरूथम्) वर्त्तुमर्हं गृहम् वरूथमिति गृहनामसु पठितम् निघं० ३ । ४ (स्वाहा) वाचम् (जुषाणः) प्रीतः (अप्तुः) व्यापकः (आज्यस्य) विज्ञानस्य (वेतु) जानातु (स्वाहा) वाचा । अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । ३ । ६८ व्याख्यातः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे सोम यथा त्वं विश्वेषां देवानां विश्वरूप ज्योतिः समिदसि तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यश्च यन्तासि तथोरु वरूथं स्वाहाप्तुराज्यस्य जुषाणः सन् मनुष्यः स्वाहा वेतु ॥ ३५ ॥

भावार्थः— यस्मात्परमेश्वरः सर्वेषां लोकानां नियन्तास्ति तस्माद्देते नियमेषु चलन्ति ॥ ३५ ॥

पदार्थः — हे (सोम) ऐश्वर्य देने वाले जगदीश्वर ! आप (विश्वेषाम्) सब (देवानाम्) विद्वानों के (विश्वरूप) सब रूपयुक्त (ज्योतिः) सब के प्रकाश करने वाले (समित्) अच्छे प्रकाशित (असि) हैं (तनूकृद्भ्यः) शरीरों को संपादन करने (द्वेषोभ्यः) और द्वेष करने वाले जीवों तथा (अन्यकृतेभ्यः) अन्य मनुष्यों के किये हुए दुष्कर्मों से (यन्ता) नियम करने वाले (असि) हैं उनमें (उरु) बहुत (वरूथम्) उत्तम गृह (स्वाहा) वाणी (अप्तुः) व्यापक (आज्यस्य) विज्ञान को (जुषाणः) सेवन करता हुआ मनुष्य (स्वाहा) वेद वाणी को (वेतु) जाने ॥ ३५ ॥

भावार्थः—जिस से परमेश्वर सब लोकों का नियमकरने वाला है इस से ये नियम में चलते हैं ॥ ३५ ॥

अग्नेनयेत्यस्यागस्त्यऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षीत्रिष्टुप्छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

पुनरीश्वरः किमर्थःप्रार्थनीय इत्युपदिश्यते ॥

फिर ईश्वर प्रार्थना किसलिये करनी चाहिये इस विषय का
उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अग्ने नयं सुपथां राये अस्मान्विश्वानि

देव व॒युना॑नि वि॒द्वान् । यु॒योध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठान्ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम ॥ ३६ ॥

अग्ने॑ । नय॑ । सु॒पथेति॑ सु॒ऽपथा॑ । रा॒ये । अ॒स्मान् । विश्वा॑नि । दे॒व॒ । व॒युना॑नि । वि॒द्वान् । यु॒यो॒धि । अ॒स्मत् । जु॒हु॒रा॒णम् । एनः॑ । भूयि॑ष्ठाम् । ते॒ । नम॑उक्तिमिति॒ नमः॑ऽउक्तिम् । वि॒धे॒म ॥ ३६ ॥

पदार्थः— (अग्ने) सर्वनेतः परमात्मन् (नय) प्रापय (सुपथा) यथा सुकृतः शोभनेन धर्ममार्गेण गच्छन्ति तथा (राये) परमश्रीमोक्षसुखप्राप्तये (अस्मान्) अभ्युदयनिःश्रेयससुखस्पृहावतः (विश्वानि) सर्वाणि (देव) सर्वानन्दप्रापक सर्वजगत्प्रकाशक (वयुनानि) प्रशस्तानि कर्माणि प्रजाश्च वयुनमिति प्रशस्यनामसु पठितम् निघं० ३। ८ वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा निरु० ५।१४ वयुनानि विद्वान् प्रज्ञानानि प्रजानन् निरु० ८।२० (विद्वान्) यः सर्वं वेत्ति सः (युयोधि) दूरीकुरु अत्र बहुलं छन्दसीति शपः श्लुः (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (जुहुराणम्) कुटिलम् (एनः) दुःखफलं पापं (भूयिष्ठाम्) बहुतमाम् (ते) तव (नमउक्तिम्) यथा नमोभिरुक्तिं विदधति तथा (विधेम) वदेम। अयं मन्त्रः शत० ३। ५। ७।११ व्याख्यातः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे अग्ने देव जगदीश्वर विद्वांस्त्वं यथा सुकृतो राये सुपथा विश्वानि वयुनानि प्राप्नुवन्ति तथास्मान्नय जुहुराणमेनोऽस्मद्युयोधि वयं ते तव भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम ॥ ३६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यथा प्रेम्णोपासितः सन् जगदीश्वरो जीवान् दुष्टमार्गान्निवर्त्य धर्ममार्गे स्थापयित्वैहिकपारमार्थिकसुखानि तत्तत्कर्मानुसारेण ददाति तथा न्यायाधीशैरपि विधेयम् ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) सब को अच्छे मार्ग में पहुंचाने (देव) और सब आनन्दों को देने वाले (विद्वान्) समस्त विद्यान्वित जगदीश्वर ! आप कृपा से (राये) मोक्ष रूप उत्तम धन के लिये (सुपथा) जैसे धार्मिक जन उत्तम मार्ग से (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) उत्तम कर्म विज्ञान वा प्रजा को प्राप्त होते हैं वैसे (अस्मान्) हम लोगों को (नय) प्राप्त कीजिये और (जुहुराणम्) कुटिल (एनः) दुःखफलरूपी पाप को (अस्मत्) हम लोगों से (युयोधि) दूर कीजिये हम लोग (ते) आप की (भूयिष्ठां) अत्यन्त (नमउक्तिम्) नमस्काररूप वाणी को (विधेम) कहते हैं ॥ ३६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमा०। जैसे सत्य प्रेम से उपासना किया हुआ परमेश्वर जीवों को दुष्ट मार्गों से अलग और धर्म मार्ग में स्थापन करके इस लोक के सुखों को उन के कर्मानुसार देता है वैसेही न्याय करने हारे भी किया करें ॥ ३६ ॥

अयन्नइत्यस्यागस्त्य ऋषिः। अग्निर्देवता। आर्षीत्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः शूरगुणा उपदिश्यन्ते ॥

फिर ईश्वर की उपासना करने हारे शूरवीर के गुणों का उपदेश किया है ॥

अयन्नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयंमृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन् ॥ अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳशत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥ ३७ ॥

अयम् । नः । अग्निः । वरिवः । कृणोतु । अयम् । मृधः । पुरः । एतु । प्रभिन्दन्निति प्रऽभिन्दन् । अयम् । वाजान् । जयतु । वाजसाताविति वाजऽसातौ । अयम् । शत्रून् । जयतु । जर्हृषाणः । स्वाहा ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(अयम्) परमेश्वरोपासको जनः (नः) अस्माकं प्रजास्थानां जीवानां (अग्निः) स्वयं प्रकाशमानोऽग्निरिव पापिनां दग्धा (वरिवः) भृशं रक्षणं (कृणोतु) करोतु (अयं) युद्धकुशलः (मृधः) कुत्सितान् (पुरः) पुरस्तात् (एतु) गच्छतु (प्रभिन्दन्) यथा शत्रुदलं विदारयंस्तथा (अयं) वीराणां प्रहर्षकः (वाजान्) संग्रामान् (वाजसातौ) यथा संग्रामे तथा (अयं) विजयप्रापकः (शत्रून्) अरीन् (जयतु) (जर्हृषाणः) अतिशयेन हृष्टः (स्वाहा) शोभनां वाचं वदन् सन् । अयं मन्त्रः शत० ।३।४।१।१२ व्याख्यातः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अयमग्निः परमेश्वरोपासको जनो नो वरिवः कृणोतु यथा कश्चिद्वीरः वाजसातौ मृधः शत्रून् पुर एति तथायं यथा च कश्चिद्वीरो मृधः शत्रून् प्रभिन्दन् वाजान् जयति पुर एतु तथाऽयं जर्हृषाणः स्वाहा शोभनां वाचं वदन् जयतु ॥ ३७ ॥

भावार्थः—ये परेशोपासनां न विदधते नैव तेषां सर्वत्र विजयो जायते ये सुशिक्षितान् वीरान् सत्कृत्य सेनां न रक्षन्ति तेषां सर्वत्र पराजयो भवति तस्मादेतद्द्वयं मनुष्यैः सदानुष्ठेयमिति ॥ ३७ ॥

पदार्थः—यह (अग्निः) परमेश्वर का उपासक जन (नः) हम प्रजास्थ जीवों की (वरिवः) निरन्तर रक्षा (कृणोतु) करे । जैसे कोई वीर पुरुष अपनी

सेनाको लेकर संग्राम में निश्चित दुष्ट वैरियों को पहिलेही जा घेरता है वैसे (अयं) यह शुद्ध करने में कुशल सेनापति (वाजसातौ) संग्राम में दुष्ट शत्रुओं को (पुरः) पहिलेही(एतु) जा घेरे । और जैसे (अयं) यह वीरों को हर्ष देने वाला सेनापति दुष्ट शत्रुओं को (मभिन्दन्) छिन्न भिन्न करता हुआ (वाजान्) संग्रामों को (जयतु) जीते (अयं) यह विजय कराने वाला सेनापति (जहृषाणः) निरंतर प्रसन्न हो कर (स्वाहा) युद्ध के प्रबंध की श्रेष्ठ बोलियों को बोलता हुआ (जयतु) अच्छी तरह जीते ॥ ३७ ॥

भावार्थः—जो लोग परमेश्वर की उपासना नहीं करते हैं उनका विजय सर्वत्र नहीं होता । जो अच्छी शिक्षा देकर शूरवीर पुरुषों का सत्कार करके सेना नहीं रखते हैं उनका सब जगह सहज में पराजय हो जाता है इस से मनुष्यों को चाहिये कि दो प्रबंध अर्थात् एक तो परमेश्वर की उपासना और दूसरा वीरों की रक्षा सदा करते रहें ॥ ३७ ॥

उरुविष्णविति्यस्यागस्त्य ऋषिः । विष्णुर्देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर वे कैसे हैं यह उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

उरु॑ विष्णो॒ वि क्र॑मस्वो॒रु क्षया॑य नस्कृधि ॥ घृ॒तं घृ॑तयोने पिब॒ प्रप्र॑ य॒ज्ञप॑तिं तिर॒ स्वाहा॑ ॥३८॥

उरु । विष्णो॒ऽइति॒ विष्णो । वि । क्र॒म॒स्व॒ । उ॒रु । क्षया॑य । नः॒ । कृ॒धि॒ । घृ॒तम् । घृ॒त॒यो॒ने॒ऽइति॑ घृतऽयोने । पि॒ब॒ । प्रप्रेति॒ प्रऽप्र । य॒ज्ञप॑ति॒मिति॑ य॒ज्ञऽप॑तिम् । ति॒र॒ । स्वाहा॑ ॥ ३८ ॥

पदार्थः–(उरु) बहु (विष्णो) यथा सर्वव्यापकेश्वरः सर्वं जगन्निर्मातुं तथा (विक्रमस्व) गच्छ (उरु) बहु (क्षयाय) निवासार्थाय गृहाय विज्ञानादिप्राप्तये वा (नः) अस्मान् (कृधि) कुरु (घृतम्) आज्यम् (घृतयोने) यथा घृतयोनिरग्निस्तथा तत्सम्बुद्धौ (पिब) (प्रप्र) प्रकृष्टार्थे (यज्ञपतिं) यथा होत्रादयो यज्ञपतिं रक्षन्तो यतन्ते तथा (तिर) प्लवस्व (स्वाहा) यज्ञक्रियया। अयं मन्त्रः। शत० ३।५।३।१५ व्याख्यातः ॥ ३८ ॥

अन्वयः–यथा विष्णुर्विक्रमते तथाऽऽत्व विक्रमस्व नः क्षयाय उरु कृधि हे घृतयोने यथाग्निराज्यं पिबति तथा त्वं घृतं प्रप्रपिब यथा च ऋत्विगादयो यज्ञपतिं संरक्ष्य दुःखं तरन्ति तथा त्वं स्वाहा वाचं वदन् सन् विजयेन यज्ञेन यज्ञं प्रतिर ॥ ३८ ॥

भावार्थः–अत्रोपमालं०। यथा परमेश्वरो व्यापकत्वात्सर्वं जगद्रचितुं रक्षितुं समर्थः सर्वान् सुखयति तथानन्दयितव्यम्। यथा चाग्निरिन्धनानि प्रदहति तथा शत्रवः प्रदग्धव्या यथा होत्रादयो धार्मिकं यज्ञपतिं प्राप्य स्वकार्याणि साध्नुवन्ति तथा प्रजास्थाः पुरुषा धर्मात्मानं सभापतिं प्राप्य सुखानि साध्नुवन्तु ॥ ३८ ॥

पदार्थः—जैसे सर्वव्यापक परमेश्वर सब जगत् की रचना करता हुआ जगत् के कारण को प्राप्त हो सब की रचना है वैसे हे विद्यादि गुणों में व्याप्त होने वाले वीर पुरुष! अपने विद्या के फल को (उरु) बहुत (नि) अच्छी तरह (क्रमस्व) पहुंच (क्षयाय) निवास करने योग्य गृह और विज्ञान की प्राप्ति के योग्य (नः) हम लोगों को (कृधि) कीजिये। हे (घृतयोने) विद्यादि सुशिक्षा युक्त पुरुष! जैसे अग्नि घृत पी के प्रदीप्त होता है वैसे तू भी अपने गुणों से (घृतं) घृत को (प्रप्र पिब) वारंवार पी के शरीर बलादि से प्रकाशित हो और ऋत्विज् आदि विद्वान् लोग (यज्ञपतिं) यजमान की रक्षा करते हुए उसे यज्ञ से पार करते हैं वैसे तू भी (स्वाहा) यज्ञ की क्रिया से (यज्ञं) यज्ञ के (तिर) पार हो ॥ ३८ ॥

भावार्थः—जैसे परमेश्वर अपनी व्यापकता से कारण को प्राप्त हो सब जगत् के रचने और पालने से सब जीवों को सुख देता है वैसे आनन्द में हम सभों को रहना उचित है। जैसे अग्नि काष्ठ आदि इन्धन वा घृत आदि पदार्थों को प्राप्त हो प्रकाशमान होता है वैसे हम लोगों को भी शत्रुओं को जीत प्रकाशित होना चाहिये और जैसे होता आदि विद्वान् लोग धार्मिक यज्ञ करने वाले यजमान को पाकर अपने कामों को सिद्ध करते हैं वैसे प्रजास्थ लोग धर्मात्मा सभापति को पाकर अपने२ सुखों को सिद्ध किया करें ॥ ३८ ॥

देवसवितरित्यस्यागस्त्यऋषिः । सोमसवितारौ देवते । आद्यस्य साम्नी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः । एतत्त्वमित्युत्तरस्यार्षी पंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर वे कैसे हैं यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

देवसवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा द-भन् । एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ ऽउपागा इदमहम्मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्व-रुणस्य पाशान्मुच्ये ॥ ३९ ॥

देव । सवितः । एषः । ते । सोमः । तम् । रक्षस्व । मा । त्वा । दभन् । एतत् । त्वम् । देव । सोम ॥ देवः । देवान् । उप । अगाः । इदम् । अहम् । मनुष्यान् । सह । रायः । पोषेण । स्वाहा । निः । वरुणस्य । पाशात् । मुच्ये ॥ ३९ ॥

पदार्थः- (देव) सकलविद्याद्योतक (सवितः) ऐश्वर्यवन् ! (एकः) प्रत्यक्षः (ते) तव (सोमः) ऐश्वर्यसमूहः (तं) (रक्षस्व) अत्र व्यत्ययेनात्मने पदम् (मा) निषेधे (त्वा) (त्वां (दभन्) हिंस्युः । अत्र लिङर्थे लङडभावश्च (एतत्) एतस्मात् (त्वम्) सभाध्यक्षो राजा (देव) सुखप्रद (सोम) सन्मार्गे प्रेरक (देवः) विद्याप्रकाशस्थः (देवान्) दिव्यान् विदुषः (उप) सामीप्ये (अगाः) गच्छ (इदम्) त्वदनुष्ठितं अहं (मनुष्यान्) मननशीलान् (सह) (रायः) धनसमुदायस्य (पोषेण) पुष्ट्या (स्वाहा) सत्यां वाचं वदन् सन् (निः) नितराम् (वरुणस्य) दुःख नाच्छादकस्य तिरस्कर्त्तुः (पाशान्) बन्धनान् (मुच्ये) मुक्तो भवामि अयंमन्त्रः शत० ३। ५। २। १८—२० व्याख्यातः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे देव सवितः सभाध्यक्ष यथाऽहं भवत्सहायेन स्वकीयमैश्वर्यं रक्षामि तथा त्वं य एष ते सोमोऽस्ति, तं रक्षस्व यथा मां शत्रवो न हिंसन्ति तथा त्वा त्वामस्मत्सहाये मा दभन् हे देव सोम देवस्त्वं यथैनदेतस्माद्देवानुपागास्तथाऽहमप्युपागाम । यथाऽहमिदमनुष्ठाय रायस्पोषेण सह वर्त्तमानो मनुष्यान् देवांश्चेत्यवरुणस्य पाशान् निर्मुच्ये तथा त्वमपि निर्मुच्यस्व ॥ ३९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । सर्वेषां मनुष्याणामियं योग्यतास्ति यद्प्राप्तस्यैश्वर्यस्य पुरुषार्थेन प्राप्तिस्तद्रक्षणं कृत्वा धार्म्मिकान् मनुष्यान् संगत्यैतेन सत्कृत्य च धर्ममनुष्ठाय विज्ञानमुन्नीय दुःखबन्धनान्मुक्ता भवन्तु ॥ ३९ ॥

पदार्थः-हे (देव) सब विद्याओं के प्रकाश करने वाले ऐश्वर्य्यवान् विद्वान् सभाध्यक्ष ! जैसे मैं आप के सहाय से अपने ऐश्वर्य्य को रखता हूं वैसे तू जो (एषः) यह (ते) तेरा (सोमः) ऐश्वर्य्य समूह है (तं) उसको (रक्षस्व)

रख। जैसे मुझ को शत्रुजन दुःख नहीं दे सकते हैं वैसे (त्वा) तुझे भी (मा दभन्) न दे सकें। हे (देव) सुख के देने और (सोम) सज्जनों के मार्ग में चलाने हारे राजा (त्वं) तू (एतत्) इस कारण मभाध्यक्ष और (देवः) परिपूर्ण विद्या प्रकाश में स्थित हुआ (देवान्) श्रेष्ठ विद्वानों के (उप) समीप (अगाः) जा और मैं भी जाऊं। जैसे मैं (इदं) इस आचरण को करके (रायः) अत्यन्त धन की (पुष्ट्या) पुष्टताई के साथ (मनुष्यान्) विचारवान् पुरुष और (देवान्) विद्वानों को प्राप्त होकर (वरुणस्य) दुःख से तिरस्कार करने वाले दुष्ट जन की (पाशात्) बन्धन से (मुच्ये) छूटूं वैसे तू भी (निः) निरंतर छूट ॥ ३९ ॥

भावार्थ—इस मंत्र में वाचक लुप्तोपमालंकार है। सब मनुष्यों को योग्य है कि जिस अप्राप्त ऐश्वर्य्य की पुरुषार्थ से प्राप्ति हो उस की रक्षा और उन्नति धार्मिक मनुष्यों का संग और इस से सज्जनों का सत्कार तथा धर्म का अनुष्ठान कर विज्ञान को बढ़ा के दुःखबन्धन से छूटें ॥ ३९ ॥

अग्ने व्रतपा इत्यस्यागस्त्य ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तौ कथं वर्त्तेयातामित्युपदिश्यते॥

फिर वे कैसे वर्त्ते यह अगले मन्त्र में किया है॥

अग्ने॑ व्रतपा॒स्त्वे व्र॑तपा या तव॑ त॒नूर्मय्य॒भू॑दे॒षा सा त्वयि॒ यो मम॑ त॒नूस्त्वय्य॒भू॑दि॒यꣳसा मयि॑। य॒था॒य॒थं नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षा-प॑ति॒रम॑ꣳस्ता॒नु तप॒स्तप॑स्पतिः ॥ ४० ॥

अग्ने॑। व्र॒त॒पा॒इति॑व्रत॒ऽपाः। ते॑। व्र॒त॒पा॒इति॑व्रत॒ऽपाः। या। तव॑। त॒नूः। मयि॑। अभू॑त्। ए॒षा। सा। त्वयि॑।

योऽइतियो । ममं । तुनूः । त्वयिं । अभूत् । इयम् । सा । मयिं । यथायथमितियथाऽयथम् । नौ । व्रतपतेऽइति व्रतऽपते । व्रतानिं । अनु । मे । दीक्षाम् । दीक्षापतिरितिदीक्षाऽपतिः । अमंस्त । अनु । तपः । तपस्पतिरितितपःऽपतिः ॥ ४० ॥

पदार्थः—(अग्ने) विज्ञानोन्नत (व्रतपाः) यथा सत्यपालको विद्वांस्तथा तत्सम्बुद्धौ (ते) तव (व्रतपाः) पूर्ववत् (या) (तव) (तनूः) यथाग्निनिमित्तं शरीरं (मयि) त्वत्सखे (अभूत्) भवतु (इयम्) समक्षे वर्त्तमाना (सा) (त्वयि) मन्मित्रे (यो) या (मम)(तनूः) विद्याविस्तृतिः (त्वयि) मद्ध्यापके (अभूत्) भवति (इयं) गोचरा (सा) (मयि) त्वच्छिष्ये (यथायथं) यथार्थं (नौ) आवां (व्रतपते) यथा सत्यानां रक्षकस्तथा तत्सम्बुद्धौ (व्रतानि) नियतानि सत्याचरणानि (अनु) पश्चादर्थे (मे) मम (दीक्षां) व्रतादेशं (दीक्षापतिः) यथा व्रतादेशपालकः (अमंस्त) मन्यते तथा पश्चाद्योगी (तपः) प्राकृक्लेशमुत्तरानन्दं ब्रह्मचर्यं (तपस्पतिः) यथा ब्रह्मचर्यादिपालकः। अयं मन्त्रः। शत० ३ । ५ । २ । २१ । व्याख्यातः॥ ४० ॥

अन्वयः—व्रतपा अग्ने विद्वांस्त्वं यथा मे व्रतपा अभूत् यथा तेऽहं व्रतपाः भवेयम् । या तव तनूः सा मयि भवतु येषा त्वयि मतिरस्ति सा मयि स्यात् । यो या मम तनूः सा त्वयि भवतु हे व्रतपते यथाऽयं जनो व्रतानि मन्यते तथा त्वं चाहं च नौ सत्या-

यौ भूत्वा यथायथं व्रतानि सत्याचरणान्यनुचरेव । हे मित्र ! यथा तव दीक्षापतिस्तु भ्यं दीक्षाममंस्त तथा मे मम दीक्षामन्वमंस्त । यथा ते तव तपस्पतिस्त्वदर्थं तपोऽन्वमंस्त तथा मे ममापि तपस्पतिर्मदर्थं तपोऽमंस्त ॥ ४० ॥

भावार्थः—यथा पूर्वं विद्यस्कारिणोऽध्यापका अभूवन् तथाऽस्मदादिभिरपि भवितव्यम् । यावन्मनुष्या सुखदुःखहानिलाभव्यवस्थायां परस्परं स्वात्मवन्न वर्त्तन्ते न तावत्पूर्णं सुखं लभन्ते तस्मादेतत्सर्वैर्मनुष्यैः कुतो नानुष्ठेयमिति ॥ ४० ॥

पदार्थः—(व्रतपा) जैसे सत्य का पालने हारा विद्वान् हो वैसे (अग्ने) हे विशेष ज्ञानवान् पुरुष जो (मेरा) (व्रतपाः) सत्य विद्या गुणों का पालने हारा आचार्य्य (अभूत्) हुआ था वैसे मैं (ते) तेरा होऊं (या) जो (तव) तेरी (तनूः) विद्या आदि गुणों में व्याप्त होने वाला देह है (सा) वह (मयि) तेरे मित्र मुझ में भी हो (एषा) यह (त्वयि) मेरेमित्र तुझ में बुद्धि हो । (या) जो (मम) मेरी (तनूः) विद्या की फैलावट है (सा) वह (त्वयि) मेरे पढ़ाने वाले तुझ में हो । (इयं) यह (मयि) तेरेशिष्य मुझ में बुद्धि हो । (व्रतपते) हे सत्य आचरणों के पालने हारे जैसे सत्यगुण सत्य उपदेश रक्षक विद्वान् होता है वैसे मैं और तू (यथायथं) यथायुक्तमित्र होकर (व्रतानि) सत्य आचरणों को नत्व वर्त्ते । हे मित्र ! जैसे (तव) तेरा (दीक्षापतिः) यथोक्त उपदेश का पालनेहारा तेरे लिये (दीक्षां) सत्य का उपदेश (अमंस्त) करना जान रहा है वैसे मेरा मेरे लिये (अनु) जाने । जैसे तेरा (तपस्पतिः) अखंड ब्रह्मचर्य्य का पालनेहारा आचार्य तेरे लिये (तपः) पहिले क्लेश और पीछे सुख देनेहारे ब्रह्मचर्य्य को करना जान रहा है वैसे मेरा अखंड ब्रह्मचर्य्य का पालनेहारा मेरे लिये जाने ॥ ४० ॥

भावार्थः—जैसे पहिले विद्या पढ़ाने वाले अध्यापक लोग हुए वैसे हम लोगों को भी होना चाहिये । जब तक मनुष्य सुख दुःख हानि और लाभ की व्यवस्था में परस्पर अपने आत्मा के तुल्य दूसरे को न जानते तब तक पूर्ण सुख को प्राप्त नहीं होता इस से मनुष्य लोग श्रेष्ठ व्यवहार ही किया करें ॥ ४० ॥

उरुविष्णावित्यस्यागस्त्य ऋषिः । विष्णुर्देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तौ कथं वर्त्तेयातामित्युपदिश्यते ॥

फिर वे कैसे वर्तें इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरुक्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्रयज्ञपतिन्तिरस्वाहा ॥४१॥

उरु । विष्णोऽइतिविष्णो । वि । क्रमस्व । उरु । क्षयाय । नः । कृधि । घृतम् । घृतयोनऽइति घृतऽयोने । पिब । प्रप्रेतिप्रऽप्र । यज्ञपतिमितियज्ञऽपतिम् । तिर । स्वाहा ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(उरु) बहु (विष्णो) यथाव्यापनशीलो वायुर्विक्रमते तथा तत्संबुद्धौ (विक्रमस्व) पादैः विद्याङ्गैः संपद्यस्व (उरु) विस्तीर्णे(क्षयाय)विज्ञानोन्नतये (नः) अस्मान्(कृधि) कुर्य्याः (घृतं) उदकं (घृतयोने) यथाजलनिमित्ताविद्युद्वर्त्तते तथा तत्संबुद्धौ (पिब) (प्रप्र)प्रकृष्टमिव (यज्ञपतिं) यथाऽहं यज्ञपतिं तथा त्वं (तिर)दुःखं प्लवस्व(स्वाहा)सुहुतं हविः। अयं मन्त्रः । श० ३ । ५ । ३ । २–३ व्याख्यातः ॥४१॥

अन्वयः—हे विष्णो त्वं उरुक्षयाय विक्रमस्व नोऽस्मान् सुखिनः कृधि । हे घृतयोने यथा विद्युत् तथा घृतं पिब यथाऽहं यज्ञपतिं सन्तरामि तथा स्वाहानुतिष्ठन् प्रप्रतिर ॥ ४१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा पवनः सर्वान् सुखयन् सर्वाधिष्ठानोऽस्ति तथैव विदुषा सं पत्तव्यम् ॥ ४१ ॥

पदार्थः—जैसे सब पदार्थों में व्याप्त होने वाला पवन चलता है वैसे हे

विद्या गुणों में व्याप्त होने वाले विद्वान् (उरु) अत्यन्त विस्तार युक्त (क्षयाय) विद्योन्नति के लिये (विक्रमस्व) अपनी विद्या के अंगों से परिपूर्ण हो और (नः) हमलोगों को सुखी (कृधि) कर। जैसे जलका निमित्त बिजली है वैसे हे पदार्थ ग्रहण करने वाले विद्वान बिजली के समान (घृतं) जल (पिब) पी और जैसे मैं यज्ञपति को दुःख से पार करता हूं वैसे तूं भी (स्वाहा) अच्छे प्रकार हवन आदि कर्मों को सेवन करके (प्रतिर) दुःखों से अच्छे प्रकार पारहो ॥ ४१ ॥

भावार्थः— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे पवन सब को सुख देता हुआ सब के रहने का स्थान होरहा है वैसेही विद्वान् को होना चाहिये ॥ ४१ ॥

अत्यन्यानित्यस्यागस्त्य ऋषिः। अग्निर्देवता। स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

मनुष्यैः पूर्वोक्ताभ्यां विरुद्धा मनुष्या न सेवनीया इत्युपदिश्यते ॥

मनुष्यों को उक्त व्यवहारों से विरुद्ध मनुष्य न सेवने चाहियें यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अत्यन्याँ २॥ऽअगान्नान्याँ २॥ उपागामर्वाक्त्वा परेभ्योऽविदम्परोऽवरेभ्यः। तन्त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः ॥ ४२ ॥

अति। अन्यान्। अगाम्। न। अन्यान्। उप। अगाम्। अर्वाक्। त्वा। परेभ्यः। अविदम्। परः।

अर्वरेभ्यः । तम् । त्वा । जुषामहे । देव । वनस्पते । देवयज्यायाऽइति देवऽयज्यायै । देवाः । त्वा । देवयज्यायाऽइतिदेवऽयज्यायै । जुषन्ताम् । विष्णवे । त्वा । ओषधे । त्रायस्व । स्वधिते । मा । एनम् । हिꣳसीः ॥४२॥

पदार्थः—(अति) अत्यन्ते (अन्यान्) पूर्वोक्तमिन्नानविदुषः (अगां) प्राप्नुयाम् (न) निषेधे (अन्यान्) अविदुषो विरुद्धान् विदुषः (उप) सामीप्ये (अगाम्) प्राप्नुयाम् (अर्वाक्) अवरः (त्वा) त्वां (परेभ्यः) उत्तमेभ्यः (अविदम्) लभेय (परः) उत्कृष्टः (अवरेभ्यः) उत्कृष्टेभ्यः (तं) (त्वा) त्वाम् (जुषामहे) प्रीणीयाम (देव) कमनीय (वनस्पते) वनानांरक्षक (देवयज्यायै) यथा दिव्यानांसंगतये तथा (देवाः) विद्वांसः (त्वा) त्वां (देवयज्यायै) यथा त्वमगुणदानायतथा (जुषन्तां) सेवन्तां (विष्णवे) यज्ञाय (त्वा) त्वां (ओषधे) यथा सोमाद्योषधिगणस्त्रायते तथा (त्रायस्व) रक्ष (स्वधिते) दुःखविच्छेदक (मा) निषेधे (एनं) ओषधिगणं परं पुरुषं वा (हिंसीः) विनाशयेः । अयं मन्त्रः । शत० । ३ । ६ । ३ । ५—१० व्याख्यातः ॥४२॥

अन्वयः—हे वनस्पते देव विद्वन् यथा त्वमन्यानतीत्यान्यानुपागच्छसि तथाऽहमन्यान् नागामन्यानुपागाम् यस्त्वं परेभ्यः परोऽस्यवरेभ्योऽर्वाक् च तं त्वामविदं यथा देवा देवयज्यायै त्वा त्वां जुषन्ते तथा त्वा त्वां वयं जुषामहे यथा वयं देवयज्यायै त्वां जुषामहे तथैते सर्वे ते त्वां जुषन्ताम् । यथौषधिगणो विष्णवे संभूय सर्वान् त्रायते तथा हे ओषधे ! सर्वरोगनिवारक स्वधिते दुःखविच्छेदक विद्वन् !

त्वा त्वां विष्णवे यज्ञाय वयं जुषामहे । हे देव विद्वन् यथाऽहमिमं यज्ञं न हिंसामि तथैनं त्वमपि मा हिंसीः ॥ ४२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैर्नीचव्यवहारान् नीचपुरुषांश्च त्यक्त्वोत्तमा व्यवहारा उत्तमाः पुरुषाश्च प्रतिदिनमेषितव्याः । उत्तमेभ्य उत्तमशिक्षावरेभ्योऽवरा च ग्राह्या यज्ञो यज्ञसामग्री च कदाचिन्न हिंसनीया सर्वैः परस्परं सुखेन भवितव्यम् ॥ ४२ ॥

पदार्थः— हे (वनस्पते) सब वृक्षों के रखने वाले (देव) विद्वान् जन ! जैसे तू (अन्यान्) विद्वानों के विरोधी मूर्ख जनों को छोड़ के (अन्यान्) मूर्खों के विरोधी विद्वानों के समीप जाता है वैसे मैं भी विद्वानों के विरोधियों को छोड़ (उप) समीप (अगाम) जाऊं । जो तू (परेभ्यः) उत्तमों से (परः) उत्तम और (अवरेभ्यः) छोटों से (अवाङ्) छोटा है (तं) (त्वां) उन्हें मैं (अविदम्) पाऊं जैसे (देवाः) विद्वान लोग (देवयज्यायै) उत्तम गुण देने के लिये (त्वा) तुझ को चाहते हैं वैसे हम लोग भी (त्वा) तुझे (जुषामहे) चाहें और जैसे हम लोग (देवयज्यायै) अच्छे २ गुणों का संग होने के लिये (त्वा) तुझे चाहते हैं वैसे और भी ये लोग चाहें । जैसे ओषधियों का समूह (विष्णवे) यज्ञ के लिये सिद्ध होकर सब की रक्षा करता है वैसे हे रोगों को दूर करने और (स्वधिते) दुःखों का विनाश करने वाले विद्वान् जन हम लोग (त्वा) तुझे यज्ञ के लिये चाहते हैं । हे विद्वान जन जैसे मैं इस यज्ञ का विनाश करना नहीं चाहता वैसे तू भी (एनं) इस यज्ञ को (मा) मत (हिंसीः) बिगाड़ ॥ ४२ ॥

भावार्थः- यहां वाचकलुप्तोपमालंकार है । मनुष्यों को चाहिये कि नीच व्यवहार और नीच पुरुषों को छोड़ के अच्छे २ व्यवहार तथा उत्तम विद्वानों को नित्य चाहें और उत्तमों से उत्तम तथा न्यूनों से न्यून शिक्षा का ग्रहण करें । यज्ञ और यज्ञ के पदार्थों का तिरस्कार कभी न करें तथा सब को चाहिये कि एक दूसरे के मेल से सुखी हों ॥४२॥

द्याम्मालेखीरित्यस्यागस्त्य ऋषिः । यज्ञो देवता । ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्यैर्यज्ञार्था विद्या सर्वदा संसेवनीयेत्युपदिश्यते ॥

मनुष्यों को योग्य है कि यज्ञ को सिद्ध कराने वाली जो विद्या है उस का नित्य सेवन करें इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

द्याम्मा लेखीरन्तरिक्षम्मा हिꣳसीः पृथिव्या सम्भव । अयꣳहि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय । अतस्त्वन्देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा विवयꣳरुहेम ॥ ४३ ॥

द्याम् । मा । लेखीः । अन्तरिक्षम् । मा । हिꣳसीः । पृथिव्या । सम् । भव । अयम् । हि । त्वा । स्वधितिरिति स्वऽधितिः । तेतिजानः । प्रणिनाय । प्रनिनायेति प्रऽनिनाय । महते । सौभगाय । अतः । त्वम् । देव । वनस्पते । शतवल्श इति शतऽवल्शः । वि । रोह । सहस्रवल्शा: । वि । वयम् । रुहेम ॥ ४३ ॥

पदार्थः– (द्यां) सूर्य्यप्रकाशं (मा) निषेधे (लेखीः) लिखेः (अन्तरिक्षं) अवकाशं (मा) निषेधे (हिंसीः) हन्याः (पृथिव्या) सह (सं) क्रियायोगे (भव) (अयं) वक्ष्यमाणः (हि) यतः (त्वा) त्वां (स्वधितिः) यथा वज्रस्तथा (तेतिजानः) भृशंतीक्ष्णः (प्रणिनाय) यथा त्वं प्रणयेस्तथा (महते) विशिष्टाय पूज्यतमाय (सौभगाय) सुष्ठुभगानामैश्वर्याणां भवाय (अतः) कारणात् (त्वं) (देव) आनन्दित (वनस्पते) वनानां रक्षक (शतवल्शः) यथा बहुङ्कुरो वृक्षस्तथा (विरोह) विविधतया प्रादुर्भव (सहस्रवल्शाः) यथा बहुमूला वृक्षा रोहन्ति तथा (वि) विविधतया (रुहेम) वर्द्धेमहि। अयं मन्त्रः शत० ३। ६। ४। १३–१६ व्याख्यातः॥ ४३॥

अन्वयः– हे विद्वन् यथाहं द्यां न लिखामि तथा त्वमेतां मा लेखीः। यथाऽहमन्तरिक्षं न हिनस्मि तथा त्वमेतन्मा हिंसीः। यथाऽहं पृथिव्या सह सम्भवामि तथैतया सह त्वमपि सम्भव। हि यतः कारणात् यथा तेतिजानः स्वधितिः शत्रून् विच्छिद्यैश्वर्य्यं प्रापयति तथा त्वमपि प्रापयेः। अतो वयं त्वां महते सौभगाय सम्भावयेम यथा कश्चिदैश्वर्य्यं प्रणिनाय प्रापयति तथा वयं त्वां प्रापयेम। हे देव वनस्पते पूर्वोक्तेन महता सौभगेन यथा शतवल्शो वृक्षो विरोहति तथा विरोह यथा सहस्रवल्शा वनस्पतयो विरोहन्ति तथा वयमपि विरोहेम॥ ४३॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। इह संसारे केनचिन्मनुष्येण विद्याप्रकाशाभ्यासः कदाचिन्नैव त्याज्यः स्यान्न्यायावकाशैश्वर्य्यसम्भावनायोगेनासंख्यातोन्नतिकरणं चेति॥ ४३॥

पदार्थः— हे विद्वन्! जैसे मैं सूर्य के सामने होकर (द्यां) उसके प्रकाश को दृष्टिगोचर नहीं करता हूं वैसे तू भी उसको (मा) (लेखीः) दृष्टिगोचर मत कर। जैसे मैं (अन्तरिक्षं) यथार्थ पदार्थों के अवकाश को नहीं बिगाड़ता हूं वैसे तू उसको (मा) (हिंसीः) मत बिगाड़। जैसे मैं (पृथिव्या) पृथिवी के साथ होता हूं वैसे तू भी उसके साथ (सं) (भव) हो (हि) जिस का-

रण जैसे (तेतिजानः) अत्यन्त पैना (स्वधितिः) वज्र शत्रुओं का विनाश करके ऐश्वर्य्य को देता है (अतः) इस कारण (अयं) यह (त्वा) तुझे (महते) अत्यन्त श्रेष्ठ (सौभगाय) सौभाग्यपन के लिये संपन्न करे । और भी पदार्थ जैसे ऐश्वर्य्य को (प्रणिनाय) प्राप्त करते हैं वैसे तुझ ऐश्वर्य्य पहुंचावें । हे (देव) आनन्दयुक्त (वनस्पते) वनों की रक्षा करने वाले विद्वान् जैसे (शतवल्शः) सैकड़ों अङ्कुरों वाला पेड़ फलता है वैसे तू भी इस उक्त प्रशंसनीय सौभाग्यपनसे (वि) (रोह) अच्छी तरह फल और जैसे (सहस्रवल्शाः) हज़ारों अङ्कुरों वाला पेड़ फले वैसे हमलोग भी तुझ सौभाग्यपन से फलें फूलें ॥ ४३ ॥

भावार्थः—यहां वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । इस संसार में किसी मनुष्य को विद्या के प्रकाश का अभ्यास अपनी स्वतन्त्रता और सब प्रकार से अपने कामों की उन्नति को न छोड़ना चाहिये ॥ ४३ ॥

अत्र यज्ञानुष्ठानस्वरूपसंपादकविद्वत्परमात्मप्रार्थना विद्याख्याप्तिविद्युद्व्याप्तिनिरूपणमग्न्यादिना यज्ञसाधनं सर्वविद्यानिमित्ताचार्य्यादयोऽध्ययनाध्यापनयज्ञविस्तृतियोगाभ्यासलक्षणं सृष्ट्युत्पत्तिरीश्वरसूर्य्यकर्माभिधानं प्राणापानक्रियानिरूपणं विभोरीश्वरस्य व्याप्त्युक्तिर्यज्ञानुष्ठानं सृष्टेरुपकारग्रहणं सूर्य्यसभाध्यक्षगुणाभिलापो यज्ञानुष्ठानशिक्षादानं सवितृसभाध्यक्षकृत्योपदेशो यज्ञात्सिद्धिरीश्वरसभाध्यक्षाभ्यां कार्य्यनिष्पत्तिर्नराः स्वरूपकृत्यवर्णनमीश्वरवद्विदुषां वर्त्तमानं लक्षणं चेश्वरोपासनं शूरवीरगुणकथनमीश्वरविद्वद्गुणवर्णनं परमैश्वर्य्यप्राप्तिराकाशादिदृष्टान्तेन विद्वद्गुणवर्णनमीश्वरोपासकगुणप्रकाशनं सर्वबन्धनाद्विमुक्तिः परस्परवर्णनप्रकारो दुष्टत्यागेन विदुषां संगकरणावश्यकता मनुष्यैर्यज्ञसिद्धये विद्यासंग्रहणं चोक्तमतः पञ्चमाध्यायोक्तार्थानां चतुर्थाध्यायोक्तार्थैः साकं संगतिरस्तीति वेदितव्यमिति ॥

इस अध्याय में यज्ञ का अनुष्ठान, यज्ञ के स्वरूप का सम्पादन, विद्वान् और परमात्मा की प्रार्थना, विद्या और विद्वान् की व्याप्ति का निरूपण, अग्नि आदि पदार्थों से यज्ञ की सिद्धि, सब विद्या निमित्त वाणी का व्याख्यान,पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ का विस्तरण, योगाभ्यास का लक्षण, सृष्टि की उत्पत्ति, ईश्वर और सूर्य के कर्म का कहना, प्राण और अपान की क्रिया का निरूपण, सब के नियम करने वाले परमेश्वर की व्याप्ति का कहना, यज्ञ का अनुष्ठान, सृष्टि से उपकार लेना, सूर्य और सभाध्यक्ष के गुणों का कहना, यज्ञ के अनुष्ठान की शिक्षा का देना, सविता और सभाध्यक्ष के कर्म का उपदेश यज्ञ से सिद्धि, ईश्वर और सभाध्यक्ष से कार्यों की सिद्धि तथा उन के स्वरूप और कर्मों का वर्णन, ईश्वर और विद्वानों का वर्त्ताव और उन के लक्षण, शूरवीरों के गुणों का कहना, ईश्वर और विद्वान् के गुणों का वर्णन, ईश्वर की उपासना करने वाले के गुणों का प्रकाश, सब बन्धन से छूटना, परस्पर की चर्चा, दुष्टों से छूटने का प्रकार इन अर्थों के कहने से पञ्चमाध्याय में कहे हुए अर्थों की संगति चतुर्थाध्याय के अर्थों से जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतमहाविदुषां
विरजानन्दसरस्वती स्वामिनां शिष्येण दयान-
न्दसरस्वती स्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्य-
भाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते
यजुर्वेदभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः
पूर्त्तिमगात् ॥ ५ ॥

ओ३म्

अथ षष्ठाध्यायस्यारम्भः ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

अथ देवस्य त्वेत्यस्यागस्त्य ऋषिः । सविता देवता । पङ्क्तिश्छन्दः । धैवतः स्वरः । यवोऽसीत्यस्यासुरी द्विपदस्य च भुरिगार्ष्युष्णिक् छन्दसी । ऋषभः स्वरः ॥

अथ राज्याभिषेकाय सुशिक्षितं सभाध्यक्षं विद्वांस आचार्य्यादयः किं किमुपदिशेयुरित्युपदिश्यते ॥

अब पांचवें अध्याय के पश्चात् ६ षष्ठाऽध्याय का आरम्भ है इस के प्रथम मन्त्र में राज्याभिषेक के लिये अच्छी शिक्षायुक्त सभाध्यक्ष विद्वान् को आचार्य्यादि विद्वान् लोग क्या २ उपदेश करें यह उपदेश किया है ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि । यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥ १ ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् । आ । ददे । नारि । असि । इदम् । अहम् ।

रक्षसाम् । ग्रीवाः । अपि । कृन्तामि । यवः । असि । यवय । अस्मत् । द्वेषः । यवय । अरातीः । दिवे । त्वा । अन्तरिक्षाय । त्वा । पृथिव्यै । त्वा । शुन्धन्ताम् । लोकाः । पितृषदनाः । पितृषदना इतिपितृऽसदनाः । पितृषदनम् । पितृषदनमितिपितृऽसदनम् । असि ॥१॥

पदार्थः—(देवस्य) द्योतमानस्य (त्वा) त्वां सभाध्यक्षं (सवितुः) सर्वविश्वोत्पादकस्य (प्रसवे) यथेश्वरसृष्टौ (अश्विनोः) प्राणोदानयोः (बाहुभ्याम्) यथा बलवीर्याभ्याम् (पूष्णः) पुष्टिनिमित्तस्य प्राणस्य (हस्ताभ्याम्) धारणाकर्षणाभ्यां (आददे) गृह्णामि (नारि) यज्ञसहकारिणि (असि) (इदम्) गृहाश्रमं कृत्वा (अहं) (रक्षसाम्) दुष्टकर्मकारिणाम् (ग्रीवाः) कण्ठान् (अपि) (कृन्तामि) छिनद्मि (यवः) संयोगविभागकर्त्ता (असि) (यवय) वाच्छन्दसीति वृद्ध्यभावः (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (द्वेषः) द्वेषकान् (यवय) वियुधि (अरातीः) शत्रून् (दिवे) विद्यादिप्रकाशाय (त्वा) त्वां न्यायप्रकाशं (अन्तरिक्षाय) अन्तरक्षयमिति । अन्तरिक्षमित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् निघं० । १ । ३ (त्वा) सत्यानुष्ठानावकाशदम् (पृथिव्यै) भूमिराज्याय (त्वा) राज्यविस्तारकम् (शुन्धन्ताम्) (लोकाः) न्यायदृष्ट्या समीक्षणीयाः (पितृषदनाः) यथा पितृषु सीदन्तिते । पितर इति पदनामसु पठितम् । निघं०५।४।(पितृषदनम्) यथा विद्व-

त्स्थानम् (असि) अयं मन्त्रः। श० ३। ५। ४। १—२ व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः- हे सभाध्यक्ष! यथा पितृषदना देवस्य सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददति तथाऽहमाददे। यथाऽहं रक्षसां ग्रीवाः कृन्तामि तथा त्वमपि कृन्त हे सभाध्यक्ष! त्वं यवोऽस्यस्मद् द्वेषो यवयारातीर्यवय यथाऽहं दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा त्वां शुन्धामि तथैते पितृषदना लोकास्त्वां शुन्धन्तां यतस्त्वं पितृषदनमसि तस्मात्पितृपालको भव हे सभापतेर्नारि! भवत्याऽप्येवमेवाचरणीयम् ॥ १ ॥

भावार्थः-अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। ये विद्यानिष्णाता ईश्वरसृष्टौ स्वस्य परेषां च दुष्टानां निग्रहं राज्यं सेवन्ते ते सुखिनो भवन्ति ॥ १ ॥

पदार्थः -हे सभाध्यक्ष! जैसे (पितृषदनाः) पितरों में रहने वाले विद्वान् लोग (देवस्य) प्रकाशमय और (सवितुः) सब विश्व के उत्पन्न करने वाले जगदीश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में (अश्विनोः) प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) बल और उत्तम वीर्य से तथा (पूष्णः) पुष्टि का निमित्त जो प्राण है उस के (हस्ताभ्याम्) धारण और आकर्षण से (त्वा) तुझे ग्रहण करते हैं वैसे ही मैं (आददे) ग्रहण करता हूं जैसे मैं (रक्षसाम्) दुष्ट काम करने वाले जीवों के (ग्रीवाः) गले (कृन्तामि) काटता हूं वैसे (त्वं) तू (अपि) भी काट। हे सभाध्यक्ष! जिस कारण तू (यवः) संयोग विभाग करने वाला (असि) है इस कारण (अस्मत्) मुझ से (द्वेषः) द्वेष अर्थात् अप्रीति करने वाले वैरियों को (यवय) अलग कर और (अरातीः) जो मेरे निरन्तर शत्रु हैं उन को (यवय) दूर कर। जैसे मैं न्याय व्यवहार से रक्षा करने योग्य जन (दिवे) विद्या आदि गुणों के प्रकाश करने के लिये (त्वा) न्याय प्रकाश करने वाले तुझ को (अन्तरिक्षाय) आभ्यन्तर व्यवहार में रक्षा करने के लिये (त्वा) तुझ सत्य अनुष्ठान करने का अवकाश देने वाले को तथा (पृथिव्यै) भूमि के राज्य के लिये (त्वा) तुझ राज्य विस्तार करने वाले को पवित्र करता हूं वैसे ये लोग भी (त्वा) आप को (शुन्धन्ताम्) पवित्र करें जैसे तू (पितृषदनम्) विद्वानों के घर के समान (असि) है पिता के सदृश सब प्रजा को पाला कर। हे सभापति की नारि स्त्री! तू भी ऐसा ही किया कर ॥ १ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो विद्या में। आति विचक्षण पुरुष ईश्वर की सृष्टि में अपनी और औरों की दुष्टता को छुड़ाकर राज्य सेवन करते हैं वे सुख संयुक्त होते हैं ॥ १ ॥

अग्रेणीरित्यस्य शाकल्य ऋषिः। सविता देवता। निचृद्ब्राह्मी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः। देवस्त्वेत्यस्य स्वराट्पङ्क्तिश्छन्दः। धैवतः स्वरः।

पुनः सोऽभिषिक्तः सभाध्यक्षः कथं प्रवर्त्ततेत्युपदिश्यते ॥

फिर वह तिलक किया हुआ सभाध्यक्ष कैसे वर्ते इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतॄणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः। द्यामग्रेणास्पृक्ष आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृंहीः ॥ २ ॥

अग्रेणीः। अग्रनीरित्यग्रऽनीः। असि। स्वावेश इति सुऽआवेशः। उन्नेतॄणामित्युत्ऽनेतॄणाम्। एतस्य। वित्तात्। अधि। त्वा। स्थास्यति। देवः। त्वा। सविता। मध्वा। अनक्तु। सुपिप्पलाभ्य इति सुऽपिप्पलाभ्यः। त्वा। ओषधीभ्यः। द्याम्।

अग्रे॑ण । अस्पृ॑क्षः । आ । अन्तरि॑क्षम् । मध्ये॑न । अप्राः । पृथिवीम् । उप॑रेण । अदृंहीः ॥२॥

पदार्थः—(अग्रेणीः) यथाध्यापकाः शिष्यान् । पिता स्वसंतानान् वा पुरस्तादेव सुशिक्षया विद्यां प्रापयति तथा (असि) (स्वावेशः) यथाप्रः शोभनं धर्ममाविशति तथा नेता (उन्नेतृणाम) यथोन्नेतृणां उत्कर्षं प्रापयितॄणां राज्यं तथा एतस्य प्रकृतं राज्यं पालितु (वित्तात्) विजानीहि (अधि) उपरिभावे (त्वा) त्वाम् (स्थास्यति) (देवः) अखिलराज्येश्वरः (त्वा) त्वां (सविता) सर्वस्य विश्वस्य जनिता (मध्वा) मधुरगुणेन (अनक्तु) सिंचतु (सुपिप्पलाभ्यः) यथा सुष्ठु फलाभ्यः (त्वा) त्वां (ओषधीभ्यः) प्रसिद्धाभ्यः (यथाम्) विद्यान्यायप्रकाशं (अग्रेण) पुरस्तात् (अस्पृक्षः) स्पृश । अत्र सर्वत्र लडर्थे लुङ् (आ) समन्तात् (अन्तरिक्षम्) धर्मप्रचारस्यावकाशं (मध्येन) मध्यमावस्थाविशेषेण (अप्राः) पिपृहि (पृथिवीम्) भूमिराज्यम (उपरेण) उत्कृष्टनियमेन (अदृंहीः) प्राप्य वर्द्धस्व । अयं मन्त्रः शत० ।३।४।४।८। व्याख्यातः ॥ २ ॥

अन्वयः—हे सभाध्यक्ष यथाग्रं णीरसि तथा त्वमसि उन्नेतृणां स्वावेशः मधुरं ... विजानीहि तं ... त्वं विजानीहि हे राजन् यथा ते त्वां राजपुरुषसमूहः सुपिप्पलाभ्यः ... ओषधीभ्यो मध्वाऽनक्तु एवं प्रजापुरुषसमूहोऽपि त्वां चानक्तु त्वमग्रेण ... द्यामस्पृक्षो मध्येनान्तरिक्षमाप्राः उपरेण पृथिवीं प्राप्यैवादृंहीः देवः सविता सर्वप्रेरको जगदीश्वरस्त्वाऽधि स्थास्यति ॥ २ ॥

भावार्थः नहि कश्चिज्जनो राजप्रजापुरुषैरस्वीकृतो राज्यमर्हति नचापि राजाप्राप्तः साम्राज्यं कीर्त्यनुक्रमेण विना ऐश्वर्य्यं दण्डनेतृत्वं सर्वलोकाधिपतित्वं च ॥ २ ॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष ! जैसे (अग्रेणीः) पढ़ाने वाला अपने शिष्यों को वा पिता अपने पुत्रों को उनके पठनारंभ से पहिले ही अच्छी शिक्षा से उन्हें सुशील जितेन्द्रिय धार्मिकता युक्त करता है वैसे हम सभों के लिए तू (असि) है (उन्नेतॄणाम्) जैसे उत्कर्षता पहुंचाने वालों का राज्य हो वैसे (स्वावेशः) अच्छे गुणों में प्रवेश करने वाले के समान होकर तू (एतस्य) इस राज्य के पालने को (वित्तात्) जान । हे राजन् ! जैसे (त्वा) तुझे सभासद्जन (सुपिप्पलाभ्यः) अच्छे फलों वाली (ओषधीभ्यः) ओषधियों से (मध्वा) निष्पन्न किये हुए मधुर गुणों से युक्त रसों से (अनक्तु) सींचें वैसे प्रजाजन भी तुझे सींचें तू इस राज्य में अपने (अग्रेण) प्रथम यश से (द्याम्) विद्या और राजनीति के प्रकाश को (अस्पृक्षः) स्पर्श कर (मध्येन) मध्य अर्थात् तदनन्तर बढ़ाए हुए यश से (अन्तरिक्षम्) धर्म के विचार करने के मार्ग को (आप्राः) पूरा कर और (उपरेण) अपने राजकर्म नियम से (पृथिवीम्) इस भूमि के राज्य को प्राप्त होकर (अदृंहीः) दृढ़ कर ऐसा करते हुए तुझ को और (देवः) सबसे राजाओं का राजा (सविता) सब जगत् को अन्तर्यामी पन से प्रेरणा देने वाला जगदीश्वर (त्वा) तुझ को राजा करके तेरे पर (अधिस्थास्यति) अधिष्ठाता होकर रहेगा ॥ २ ॥

भावार्थः—प्रजा पुरुषों के स्वीकार किये विना राजा राज्य करने को योग्य नहीं होता तथा राजा आदि सभा सिंह को आदर से न चाहें वह मंत्री होने को वा कोई पुरुष अपनी कीर्ति की उत्तरोत्तर उन्नति के विना सेना का ईश्वर यथायोग्य न्याय से दंड करने अर्थात् न्यायाधीश होने और राज्य के मंडल की ईश्वरता के योग्य नहीं हो सकता ॥ २ ॥

या ते धामानीत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। विष्णुर्देवता। आद्यस्य द्विपदा छन्दः।
अत्राहेति साम्नी उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः । ब्रह्मवनिमित्यस्य
निचृत्प्राजापत्या बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः।
पुनस्तं कीदृशं विदित्वा वाणिज्यकर्म कुर्याज्जना
आश्रयन्तीत्युपदिश्यते ॥

फिर वाणिज्य कर्म करने वाले मनुष्य उस को कैसा जानकर आश्रय करते हैं यह उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमम्पदमव भारि भूरि। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह ॥ ३ ॥

या। ते। धामानि। उश्मसि। गमध्यै। यत्र। गावः। भूरिशृङ्गा इति भूरिशृङ्गाः। अयासः। अत्र। अह। तत्। उरुगायस्येत्युरुऽगायस्य। विष्णोः। परमम्। पदम्। अव। भारि। भूरि। ब्रह्मवनीति ब्रह्मऽवनि। त्वा। क्षत्रवनीति क्षत्रऽवनि। रायस्पोषवनीति रायस्पोषऽवनि। परि। ऊहामि। ब्रह्म। दृꣳह। क्षत्रम्। दृꣳह। आयुः। दृꣳह। प्रजामिति प्रऽजाम्। दृꣳह ॥ ३ ॥

पदार्थः—(या) यानि (ते) तव सभाध्यक्षस्य (धामानि) दधति सुखानि येषु तानि राज्यप्रबन्धस्थानानि देशदेशान्तरवाणिज्याहाणि (उश्मसि) उश्मः कामयामहे (गमध्यै) गन्तुं प्राप्तुं (यत्र) येषु (गावः) रश्मयः। गाव इति रश्मिनामसु पठितम्। निघं० १। ५ (भूरिशृङ्गाः) भूरीणि शृङ्गाणि प्रकाशा यासु ताः। शृङ्गाणीति ज्वलननामसु पठितम्। निघं० १। १७ (अ-

यासः) अयन्तइत्ययासः । महीधरेणात्रायगताविल्यस्य यदयन्तीतिपरस्मैपदमुक्तम् तदसदात्मनेपदोपयोग्यत्वात् । (अत्र) येषु (अह) निश्चये (तत्) तस्य (उरुगायस्य) उरुर्बहुर्गायः स्तुतिर्यस्य तस्य । अत्र गैशब्दस्य-स्मादघञर्थकविधानमिति कर्म्मणि कः । (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (परमम्) सर्वथोत्कृष्टम् (पदम्) पत्तुं योग्यं (अव)क्रियायोगे (भारि) भ्रियते । अत्रल-ङर्थे लुङ्भृञ् धातो श्चिणि परेऽडभावः । अत्र बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपीति सूत्रेणाडभावः । (भूरि) बहु (ब्रह्मवनि) ब्रह्मणो वेतॄणां संविभक्तारम् तन्नथ । (त्वा) त्वाम् (क्षत्रवनि) क्षत्रस्य राज्यस्य क्षत्रियाणां वा सं-विभाजकम् (रायस्पोषवनि) रायो धनस्य पोषो दृढतां संविभाजिनम् (परि) परितः (ऊहामि) विविधतया तर्कयामि (ब्रह्म) परमात्मानं वेदं वा (दृंह) स्थिरी-कुरु (क्षत्रम) राज्यं धनुर्वेदविदं क्षत्रियं वा (दृंह) उन्नय (आयुः) जीवनम् (दृंह) प्रजां स्वसन्तानान् मे रक्ष-णीयान्जनान् (दृंह) ब्रह्मचर्य्यराज्यधर्माभ्यां परिपालय । अत्राह यास्कमुनिः – ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि तानि वां वास्तूनि काम-यामहे गमनाय यत्र गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा भूरी-ति बहुनामधेयं प्रभवतीति सतः शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणोतेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमितिवा शिरसोनिर्गतमिति वाऽयासो-

अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भाति भूरि ॥ ऋ० १ । १५४ । ६ ॥ निरु० २ । ७ ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे सभाध्यक्ष या यानि ते धामानि गमध्यै गन्तुं वयमुश्मसि तानि किंभूतानि सन्ति यत्र येषूरुगायस्य विष्णोर्भूरिशृङ्गा गावो अयासो भवन्ति तदुरुगायमानाः प्रकाशन्तएवेति यावत् अत्राह—एषु हि तत्तस्य विष्णोःपरमं पदं विद्वद्भिर्भूर्यवभारि अतस्त्वा यथा ब्रह्मवनि यथा क्षत्रवनि यथा रायस्पोषवनि तथा पर्यूहामि त्वं ब्रह्मदृंह क्षत्रं दृंह आयुर्दृंह प्रजां चापि दृंह ॥ ३ ॥

भावार्थः—नहि सभाध्यक्षरक्षितस्थानकामनया विना कश्चिदपि सुखं प्राप्तुं शक्नोति नहि कोपि जनः परमेश्वरमनादृत्य धर्मराज्यं भोक्तुमर्हति नैव कोपि विज्ञानं सेनां जीवनं प्रजां चारक्षित्वा समेधत इति ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष ! (या) जिन में (ते) तेरे (धामानि) धाम अर्थात् जिन में प्राणी सुखपाते हों उन स्थानों को हम (गमध्यै) (उश्मसि) प्राप्त होने की इच्छा करते हैं वे स्थान कैसे हैं कि जैसे सूर्य का प्रकाश है वैसे (यत्र) जिन में (उरुगायस्य) स्तुति करने के योग्य (विष्णोः) सर्वव्यापक परमेश्वर की (भूरिशृङ्गाः) अत्यन्त प्रकाशित (गावः) किरणें चैतन्यकला (अयासः) फैली हैं (अत्र) (अह) इन्हीं में (तत्) उस परमेश्वर का (परमं) सब प्रकार उत्तम (पदम्) और प्राप्त होने योग्य परमपद विद्वानों ने (भूरि) (अव) (भारि) बहुधा अवधारण किया है इस कारण (त्वा) तुझे (ब्रह्मवनि) परमेश्वर वा वेद का विज्ञान (क्षत्रवनि) राज्य और वीरों की चाहना (रायस्पोषवनि) धन की पुष्टि के विभाग करने वाले आप को मैं (पर्यूहामि) विविध तर्कों से समझाता हूं कि तूं (ब्रह्म) परमात्मा और वेद को (दृंह) दृढ़कर अर्थात् अपने चित्त में स्थिरकर वह (क्षत्रं) राज्य और धनुर्वेदवेत्ता क्षत्रियों को (दृंह) उन्नति दे (आयुः) अपनी अवस्था को (दृंह) बढ़ा अर्थात् ब्रह्मचर्य और राज्यधर्म से दृढ़कर तथा (प्रजाम्) अपने संतान वा रक्षा करने योग्य प्रजा जनों को (दृंह) उन्नति दे ॥ ३ ॥

भावार्थः—सभाध्यक्ष के रक्षा किये हुए स्थानों की कामना के विना कोई भी पुरुष सुख नहीं पासकता न कोई जन परमेश्वर का अनादर करके चक्रवर्त्ती राज्यभोगने के योग्य होता है नहीं कोई भी जन विज्ञान सेना और जीवन अर्थात् अवस्था संतान और प्रजा की रक्षा के विना अच्छी उन्नति कर सकता है ॥ ३ ॥

विष्णोः कर्म्माणीत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । निचृदार्षीगायत्रीछन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ सभाध्यक्षः सभ्यादीन्मनुष्यान्प्रतिकिं किमुपदिशेदित्याह ॥

अब सभापति अपने सभासद आदि को क्या २ उपदेश करे यह अगले मंत्र में कहा है ॥

विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्प॒शे । इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ ४ ॥

विष्णोः । कर्म्माणि । पश्यत । यतः । व्रतानि । पस्पशे । इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ४ ॥

पदार्थः—(विष्णोः) व्यापकस्य (कर्माणि) जगतउत्पत्तिस्थितिसंहरणादीनि (पश्यत) संप्रेक्षध्वम् (यतः) येनविज्ञानेन (व्रतानि) नियतसत्यभाषणादीनि (पस्पशे) बध्नाति । अत्र लडर्थे लिट् । (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यस्य (युज्यः) युनक्ति सदाचारेणेतियुज्यः । अत्रौणादिःकप् । (सखा) मित्रम् । अयं मंत्रःशत० ३ । ५ । ४ । १७ । व्याख्यातः । ४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं यथेन्द्रस्य युज्यः सखाविष्णोः कर्माणि पश्यन्नहंयतो विज्ञानेन मनसि — व्रतानि सत्यभाषणादि-

नियमान् पस्पशे बध्नामि तथा तेनैव विज्ञानेन तानि यूयं पश्यत यतो राज्यकर्माणि सत्यानुष्ठातारो भवत ॥ ४ ॥

भावार्थः—नहि परमेश्वरानुविरोधसत्याचरणाभ्यां विना कश्चिदीश्वरगुणकर्मस्वभावान् द्रष्टुमर्हति न तथाभूतेन विना राज्यकर्माणि यथार्थतया सेवितुं शक्नोति नो खलु सत्याचरणमन्तरा राज्यं वर्धयितुं प्रभुर्भवति ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे सभासदो ! जैसे (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (युज्यः) सदाचार युक्त (सखा) मित्र (विष्णोः) उस व्यापक ईश्वर के (कर्माणि) जो संसार का बनाना पालन और संहार करना सत्यगुण हैं उन को देखता हुआ मैं (यतः) जिस ज्ञान से (व्रतानि) अपने मन में सत्यभाषणादि नियमों को (पस्पशे) बांधरहा अर्थात् नियम कररहा हूं वैसे उसी ज्ञान से तुम भी परमेश्वर के उत्तम गुणों को (पश्यत) दृढ़ता से देखो कि जिस से राज्यादि कामों में सत्य व्यवहार के करने वाले होओ ॥ ४ ॥

भावार्थः—परमेश्वर से प्रीति और सत्याचरण के विना कोई भी मनुष्य ईश्वर के गुण कर्म और स्वभाव को देखने के योग्य नहीं हो सकता न वैसे हुए विना राज्यकर्मों को यथार्थ न्याय से सेवन कर सकता है न सत्य धर्माचार से रहित जन राज्य बढ़ाने को कभी समर्थ हो सकता है ॥ ४ ॥

तद्विष्णोरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता ।
निचृदार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
तदनुष्ठानेन किंफलमित्याह ॥

उक्त मन्त्र के विषय में जो अनुष्ठान कहा है उस से क्या सिद्ध होता है
यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

तद्विष्णोः परमम्पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥ ५ ॥

तत् । विष्णोः । परमम् । पदम् । सदा । पश्यन्ति । सूरयः । दिवीवेतिदिवीइव । चक्षुः । आततमित्यार्ततम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(तत्) (विष्णोः) पूर्वमंत्रप्रतिपादितस्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहृतिविधातुः परमेश्वरस्य (परमम्) सर्वोत्कृष्टम् (पदम्) प्राप्तुमर्हम् (सदा) सर्वस्मिन् काले (पश्यन्ति) अवलोकन्ते (सूरयः) वेदविदः स्तोतारः। सूरिरितिस्तोतृनामसु पठितम् निघं० ३।१६।(दिवीव) आदित्यप्रकाशइव (चक्षुः) चष्टेयेन तत् (आततम्) व्याप्तिमत् । अयं मंत्रः शत० ३।५।१।१८। व्याख्यातः॥५॥

अन्वयः—भो सभ्यजना येन पूर्वोक्तेन कर्मणा सूरयः स्तोतारः विष्णो र्यत् परमं पदं दिवि आततं चक्षुरिव सदा पश्यन्ति तेनैव तद् यूयमपि सततं पश्यत ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्र मंत्रे पूर्वमन्त्रात (पश्यत) इत्यस्य पदस्यानुवृत्तिः क्रियते पूर्णोपमालङ्कारश्चास्ति । मिर्दूषमला विद्वांसः स्वविद्याप्रकाशेन यथे श्वरगुणान् दृष्ट्वा विशुद्धावरदर्शिनो जायन्ते तथाऽस्माभिरपि भवितव्यम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे सभ्यजनो ! जिस पूर्वोक्त कर्म से (सूरयः) स्तुति करने वाले वेदवेत्ता जन (विष्णोः) संसार की उत्पत्ति पालन और संहार करने वाले परमेश्वर के जिस (परमम्) अत्यन्त उत्तम (पदम्) प्राप्त होने योग्य पद को (दिवि) सूर्य के प्रकाश में (आततम्) व्याप्त (चक्षुः) नेत्र के (इव) समान (सदा) सब समय में (पश्यन्ति) देखते हैं (तत्) उस को तुम लोग भी निरन्तर देखो ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से (पश्यत) इस पद का अनुवर्तन किया

जाता है और पूर्णोपमालंकार है। निर्धूत अर्थात् छूट गये हैं पाप जिन के वे विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से जैसे ईश्वर के गुणों को देख के सत्य धर्माचार युक्त होते हैं वैसे हम लोगों को भी होना चाहिये ॥ ५ ॥

परिवीरित्यस्य दीर्घतमाऋषिः । विद्वांसोदेवताः । आद्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः । दिवः सूनुरसीत्यस्य भुरिक् साम्नी बृहतीछन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनरेतदुपासकः सभाध्यक्षः कीदृगित्युपदिश्यते ॥

फिर इस उपासना करने वाला सभाध्यक्ष किस प्रकार का होता है यह अगले मंत्र में उपदेश किया है ॥

परि॒वीर॑सि॒ परि॑त्वा॒ दैवी॒र्विशो॑ व्ययन्ता॒म्परी॒मं य॒जमा॑न॒ꣳ रायो॑ मनु॒ष्या᳖णाम् । दि॒वः सू॒नुर॑स्ये॒ष ते॑ पृथि॒व्याँल्लो॒क आ॑र॒ण्यस्ते॑ प॒शुः ॥ ६ ॥

परि॒वीरिति॑ परि॒ऽवीः । अ॒सि॒ । परि॑ । त्वा॒ । दैवीः॑ । विशः॑ । व्य॒य॒न्ता॒म् । परि॑ । इ॒मम् । यज॑मानम् । रायः॑ । म॒नु॒ष्या᳖णाम् । दि॒वः । सू॒नुः । अ॒सि॒ । ए॒षः । ते॒ । पृ॒थि॒व्याम् । लो॒कः । आ॒र॒ण्यः । ते॒ । प॒शुः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(परिवीः) यथा परितः सर्वतः सर्वा विद्या-व्येति व्याप्नोति तथा (असि) (परि) सर्वतः (त्वा)

त्वां सभाध्यक्षम (दैवीः) देवानां विदुषामिमाः । विशः) प्रजाः (व्ययन्ताम) विशिष्टतया प्राप्नुवन्तु जानन्तु वा (परि) सर्वतः (इमम्) प्रत्यक्षम् (यजमानम्) प्रज्ञानुष्ठातारम् (रायः) धनानि (मनुष्याणाम्) (दिवः) प्रकाशमयात् सूर्यात् सूयत उत्पद्यते किरणसमूह इव (असि) (एषः) (ते) तव (पृथिव्याम्) (लोकः) राष्ट्रं राज्यस्थानम् (आरण्यः) अरण्ये भवः (ते) तव (पशुः) पश्यश्चतुष्पात् सिंहादिः । अयं मंत्रः शत० ३ । ५ । ४—२३ व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे सभाध्यक्ष राजँस्त्वं परिवीः सर्वविद्याध्यापकवदसि त्वां त्वां दैवीर्विशः परिव्ययन्ताम्, त्वं दिवः सूनुरिवासि पृथिव्यामेष ते तव लोकोऽस्तु आरण्यः पशुः सिंहादिस्त्वदधीनोऽस्तु ॥ ६ ॥

भावार्थः—राज्यमाचरन्तं राजानं प्रजाजना अभ्यर्थयित्वैवं विनयन्तु स राजा प्रजापालनाय सिंहादीन् पशून् दस्यून् स्तेनांश्च निहत्य स्वप्रजा यथायोग्यं धर्मे संस्थापयेत् ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष राजन् (तू) (परिवीः) सब विद्याओं में अच्छे व्याप्त होने वाले के समान (असि) है (त्वाम्) तुझ को (दैवीः) विद्वानों के (विशः) सन्तान के समान प्रजा (परि) (व्ययन्ताम्) सब व्याप्त अर्थात् सब ओर से व्याप्त हुए तेरे कार्यकारी हों (दिवः) प्रकाश के पुञ्ज सूर्य से (सूनुः) उत्पन्न हुए किरण समुदाय के तुल्य तू (असि) है (ते) तेरा (पृथिव्याम्) पृथिवी में (लोकः) राजधानी का देश हो और (आरण्यः) वनैले सिंहादि दुष्ट पशु तेरे वश भी हों ॥ ६ ॥

भावार्थः—राज्य का आचरण करते हुए राजा को प्रजा लोग प्राप्त हो कर अपने पदार्थों का कर चुकावें और वह राजा उन प्रजाओं की रक्षा करने के लिये सिंह और शूकर आदि अन्य और दुष्ट जीव तथा डाकू चोर उठाईगीरे और गांठकटे आदि दुष्ट जनों को दृढ़ से वश में कर अपनी प्रजा को यथायोग्य धर्म में प्रवृत्त करें ॥ ६ ॥

उपावीरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । त्वष्टा देवता । आर्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः सतान्प्रति किं कुर्य्यात् ते च तं प्रति किं कुर्य्युरित्युपदिश्यते ॥
फिर वह प्रजा जनों के प्रति क्या करे और वे प्रजा जन उस राजा के प्रति क्या करें यह उपदेश अगले मंत्र किया है ॥

उपावीरसि उपदेवान्दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वन्हितमान्। देवं त्वष्टर्वसु रमहव्याते स्वदन्ताम् ॥ ७ ॥

उपावीरित्युपअवीः । असि । उप । देवान् । दैवीः । विशः । प्र । अगुः । उशिजः । वन्हितमानितिवन्हितमान् । देव । त्वष्टः । वसु । रम । हव्या । ते । स्वदन्ताम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(उपावी) उपागतपालक इव (असि) (देवान्) विदुषः (दैवीः) देवसम्बन्धिन्यो दिव्याः (विशः) प्रजाः (प्र) प्रकृष्टार्थे (अगुः) अगमन् (उशिजः) कमनीयान् (वन्हितमान्) अतिशयितावन्हयो वोढारस्तान् (देव) दिव्यगुणसम्पन्न ! (त्वष्टः) सर्वदुःखच्छित् (वसु) वसूनि धनानि । अत्र सुपां सुलुगिति शसो लुक् (रम) रमस्व । अत्रात्मनेपदव्यत्ययेन परस्मैपदम् । (हव्या) होतुमर्हाणि (ते) तव (स्वदन्ताम्) भुञ्जताम् । अयम्मंत्रः शत० ३ । ५ । ९ । १२ व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः- हे देव ! त्वष्टः सभापते यतस्त्वमुपावीरिवासितस्माद्दैवी-र्विशो यथा उशिजोवन्हितमान् देवान् उपप्रागुस्तथात्वां प्राप्नुवन्ति यथैता

स्त्वदाश्रयेणाढ्याभूत्वा रमन्ते तथा त्वमपि तासु रम रमस्व भवानेतेषां पदार्थान् भुङ्क्ते तथैते ते हव्या होतुमर्हाणि हव्यानि वसु वसूनि स्वदन्ताम् ॥७॥

भावार्थः–यथा गुणग्राहिण उत्तमगुणं सेवन्ते तथा न्याय विचक्षणं राजानं प्रजाश्च सेवन्ते येन मिथः प्रीत्या परस्परोन्नतिर्भवतीति ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे देव ! दिव्यगुण संपन्न (त्वष्टः) सब दुःख के छेदन करने वाले सभाध्यक्ष जिस से तू (उपावीः) शरणागत पालक मद्दश (असि) है इसी से (देवीः) विद्वानों से सम्बन्ध रखने वाली दिव्यगुण सम्पन्न (विशः) प्रजा जैसे (उशिजः) श्रेष्ठ गुण शोभित कामना के योग्य (वह्नितमान) अतिशय धर्म मार्ग में चलने और चलाने वाले (देवान) विद्वानों को (उपप्रागुः) प्राप्त हुए वैसे तुझे भी प्राप्त होते हैं जैसे तेरे आश्रय से प्रजा धनाढ्य होके सुखी हो वैसे तू भी प्राप्त हुए प्रजाजनों से सत्कृत होकर (रमस्व) हर्षित हो जैसे तू प्रजा के पदार्थों को भोगता है वैसे प्रजा भी तेरे (हव्या) भोगने योग्य अमूल्य (वसु) धनादि पदार्थों को (स्वदन्ताम्) भोगें ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे गुण के ग्रहण करने वाले उत्तम गुणवान् विद्वान् का सेवन करते हैं वैसे न्याय करने में चतुर राजा का सेवन प्रजाजन करते हैं इसी से परस्पर की प्रीति से सब की उन्नति होती है ॥ ७ ॥

रेवती रमध्वमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः बृहस्पतिर्देवता । प्राजापत्यनुष्टुप् छन्दः । ऋषभः स्वरः । ऋतस्य त्वेत्यस्य निचृत् प्राजापत्या बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ पित्रादयः स्वसन्तानान् कथमध्यापकाय प्रदद्युः स च तान् कथं गृह्णीयादित्युपदिश्यते ॥

अब पिता आदि रक्षकजन अपने सन्तानों को कैसे पढ़ाने वालों को कैसे दें ? और वह उन को कैसे स्वीकार करें ? यह अगले मंत्र में उपदेश किया है ॥

रेवती॒रम॑ध्वम् बृह॑स्पते धा॒रया॒ वसू॑नि । ऋ॒तस्य॑ त्वादेवहविः पाशे॑न प्रति॑मुञ्चा॒मि॒ धर्षा॒ मानु॑षः ॥ ८ ॥

रेव॑तीः । रम॑ध्वम् । बृह॑स्पते । धा॒रय॑ । वसू॑नि । ऋ॒तस्य॑ । त्वा॒ । दे॒व॒ह॒वि॒रिति॑देवहविः । पाशे॑न । प्रति॑ । मु॒ञ्चा॒मि॒ । धर्ष॑ । मानु॑षः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(रेवतीः) रायः प्रशस्तानि धनानि विद्यन्ते यासुताः प्रजाः (रमध्वम) क्रीडध्वम (बृहस्पते) बृहत्यावेदवाचः पते ! पातः ! परमविद्वन् ! (धारय) अन्येषामपि दृश्यतइति दीर्घः (वसूनि) (ऋतस्य) सत्यन्यायाख्ययज्ञस्य (देवहविः) यथा देवानांहविरादातुमर्हंचरित्रमस्ति तथा (पाशेन) बन्धनेन (प्रति) (मुञ्चामि) (धर्ष) धृष्णुहि ह्यचोतस्तिङ इति दीर्घः विकरणव्यत्ययेन शप् च (मानुषः) सर्वशास्त्रमननशीलः । अयम्मंत्र.शत० ३ । ५ । ६ । १३ । ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे (रेवतीः) रेवत्यः प्रजा ! यूयं विद्यासु शिक्षासुरमध्वम् । हे बृहस्पते त्वमृतस्य वसूनि धारय । अयशिष्यायोपदिशतिगुरुः । हे राजन् ! प्रजाजन वा ! मानुषोऽहं पाशेनाविद्याबन्धनेन देवहविर्यथा तथा त्वां प्रतिमुञ्चामि त्वं विद्यासुशिक्षासु धर्षं धृष्टोभव ॥ ८ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिः सुशिक्षया कुमाराणां कुमारीणां च जगदीश्वरात्पृथिवीपर्य्यन्तपदार्थानां बोधः संपादनीयो यतस्ते मूर्खत्वबन्धनं परित्यज्य सदासुखिनः स्युरिति ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे (रेवतीः) अच्छे धन वाले सन्तानो ! प्रजा जनो ! तुम विद्या और अच्छी शिक्षा में (रमध्वम्) रमो । हे (बृहस्पते) वेदवाणी पालने वाले विद्वन् ! आप (ऋतस्य) सत्य न्याय व्यवहार से प्राप्त (वस्तूनि) धन अर्थात् हम लोगों के दिये द्रव्य आदि पदार्थों को (धारय) स्वीकार कीजिये (अब अध्यापक का उपदेश शिष्य के लिये है) हे राजन् ! प्रजा पुरुष ! वा (मानुषः) सर्व शास्त्र का विचार करने वाला मैं (पाशेन) अविद्या बन्धन से तुझे (प्रति) मुञ्चामि छुटाता हूं तू विद्या और अच्छी शिक्षाओं में धृष्ट हो ॥ ८ ॥

भावार्थः—विद्वानों को अपनी शिक्षा से कुमार ब्रह्मचारी और कुमारी ब्रह्मचारिणीओं को परमेश्वर से ले के पृथिवी पर्य्यन्त पदार्थों का बोध कराना चाहिये । कि जिस से वे मूर्खपनरूपी बन्धन को छोड़ के सदा सुखी हों ॥ ८ ॥

देवस्यत्वेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । सविता-आश्विनौ-पूषा च देवताः । प्रजापत्या बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः । अग्नीषोमाभ्यामित्यस्य पङ्क्तिश्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स शिष्यं किमुपदिशेदित्याह ॥

फिर वह गुरु शिष्य को क्या उपदेश करे यह अगले मंत्र में कहा है ॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑म्पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । अ॒ग्नीषोमा॑भ्या॒ञ्जुष्टं॒ नियु॑नज्मि । अ॒द्भ्यस्त्वौष॑धीभ्यो॒नु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒तानु॒ भ्राता॒ सग॑र्भ्यो॒नु सखा॒ सयू॑थ्यः ।

अग्नीषोमाभ्यान्त्वा जुष्टम्प्रोक्षामि ॥ ९ ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसवइतिप्रसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामितिबाहुभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् । अग्नीषोमाभ्याम् । जुष्टम् । नि । युनज्मि । अद्भ्यऽइत्यद्भ्यः । त्वा ओषधीभ्यः । अनु । त्वा । माता । मन्यताम् । अनु । पिता । अनु । भ्राता । सगर्भ्यऽइति सगर्भ्यः । अनु । सखा । सयूथ्यइतिसयूथ्यः । अग्नीषोमाभ्याम् । त्वा । जुष्टम् । प्र । उक्षामि ॥९॥

पदार्थः—(देवस्य) वेदविद्याप्रकाशकस्य (त्वा)त्वाम् विद्यार्थिनम् (सवितुः) सकलैश्वर्यवतः (प्रसवे) प्रसूयते विश्वस्मिन् यस्तस्मिन् (अश्विनोः) सूर्याचन्द्रमसोः (बाहुभ्याम्) तत्तद्गुणाभ्याम् (पूष्णः) पृथिव्याः पूषेति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं० १ । १ (हस्ताभ्याम् हस्तइव वर्त्तमानाभ्यां धारणाकर्षणाभ्याम् (अग्नीषोमाभ्याम्) एतयोस्तेजः शान्तिगुणाभ्याम् (जुष्टम्) प्रीतम् (नि) (युनज्मि) (अद्भ्यः) यथाजलेभ्यः(ओषधीभ्यः रोगनिवारिकाभ्यः(अनु)(त्वा)त्वाम्(माता)जननी

(मन्यताम्) (अनु) (पिता) जनकः (अनु) भ्राता (बन्धुः) (सगर्भ्यः) सोदरः (अनु) (सखा) सुहृत् (सयूथ्यः) ससैन्यः (अग्नीषोमाभ्याम् पूर्वोक्ताभ्याम् (त्वा) जुष्टम् (प्रीतम्) (प्र उक्षामि) सिञ्चामि । अयम्मंत्रः शत० ३ । ५ । ७ । ३--५ । व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः--हे शिष्य अहं सवितुर्देवस्य प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा--त्वामाददे । अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा त्वां ये ब्रह्मचर्य धर्मानुकूला आप ओषधयश्च सन्ति ताभ्योऽद्भ्य ओषधीभ्यो नियुनज्मि । त्वां मत्समीपे स्थातुं माताजननी अनुमन्यताम् पितानुमन्यताम् सगर्भ्यो-भ्रातानुमन्यताम् सखानुमन्यताम् सयूथ्योनुमन्यताम् अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं प्रीतियुक्तं त्वामहम् प्रोक्षामि तद्गुणैरभिषिञ्चामि ॥ ९ ॥

भावार्थः--अस्मिन् संसारे मात्रादिभिः पित्रादिभिर्बन्धु वर्गैर्मित्रवर्गैश्च स्वापत्यादीनि सुशिक्ष्य तैर्ब्रह्मचर्यं कारयितव्यं यतस्ते सद्गुणिनस्युरिति ॥ ९ ॥

पदार्थः--हे शिष्य मैं (सवितुः) समस्त ऐश्वर्य युक्त (देवस्य) वेदविद्या प्रकाश करने वाले परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए इस जगत् में (अश्विनोः) सूर्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्याम्) गुणों से वा (पूष्णः) पृथिवी के (हस्ताभ्याम्) हाथों के समान धारण और आकर्षण गुणों से (त्वाम्) तुझे (आददे) स्वीकार करता हूं तथा (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों से (जुष्टम्) प्रीति करते हुए (त्वा) तुझ को जो ब्रह्मचर्य धर्म के अनुकूल जल और ओषधि हैं उन (अद्भ्यः) जल और (ओषधीभ्यः) गोधूम आदि अन्नादि पदार्थों से (नियुनज्मि) नियुक्त करता हूं तुझे मेरे समीप रहने के लिये तेरी (माता) जननी (अनु) (मन्यताम्) अनुमोदित करे (पिता) पिता अनुमोदित करे (सगर्भ्यः) सहोदर (भ्राता) भाई (अनु) अनुमोदित करे (सखा) मित्र (अनु) अनुमोदित करे और (सयूथ्यः) तेरे

सहवासी (अनु) अनुमोदित करे (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों में (जुष्टम्) प्रीति करते हुए (त्वा) तुझ को (प्र) (उक्षामि) उन्हीं गुणों से ब्रह्मचर्य के नियम पालने के लिये अभिषिक्त करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस संसार में माता पिता बन्धु वर्ग और मित्र वर्गों को चाहिये कि अपने संतान आदि को अच्छी शिक्षा देकर ब्रह्मचर्य करावें जिस से वे गुणवान् हों ॥६॥

अपांपेरुरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । आपो देवता । प्राजापत्या बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः । सन्तङ्गत्यस्या निचृदार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथोपनीतेन शिष्येण विद्यासुशिक्षाग्रहणाग्निहोत्रादि यज्ञोऽवश्यमनुष्ठातव्य इति गुरुरुपदिशेत ॥

अब यज्ञोपवीत होने के पश्चात् शिष्य को अत्यावश्यक है कि विद्या उत्तमशिक्षा ग्रहण और अग्निहोत्रादिक का अनुष्ठान करे ऐसा उपदेश गुरु शिष्य को यह अगले मंत्र में कहा है ॥

अपाम्पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तञ्चित्सद्देवहविः । सन्ते प्राणो वातेन गच्छताᳯसमङ्गानि यजत्रैः सय्यज्ञपतिराशिषा ॥ १० ॥

अपाम् । पेरुः । असि । आपः । देवीः । स्वदन्तु । स्वात्तम् । चित् । सत् । देवहविरिति देवहविः । सम् । ते । प्राणः । वातेन । गच्छताम् । अङ्गानि । यजत्रैः । यज्ञपतिरिति यज्ञपतिः । आशिषेत्याशिषा ॥१०॥

पदार्थः— (अपाम्) जलानाम् (पेरुः) रक्षकः (असि) (आपः) (देवीः) शुद्धादिव्यसुखप्रदाः (स्वदन्तु) (स्वात्तम्) स्वेनसमन्ताद् गृहीतम् (चित्) अपि (सत्) (देवहविः) देवेभ्योहविरिव (सम्) (ते) तव (प्राणः) (वातेन) पवनेन सह (गच्छताम्) (अङ्गानि) शिरआदीनि (यजत्रैः) यज्ञसाधकैर्विद्वद्भिः सह (यज्ञपतिः) यज्ञस्यपालकः (आशिषा) अयम्मन्त्रः शत० ३।६।६—९ व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे शिष्य त्वमपांपेरुरसि संसारस्थाः प्राणिनस्त्वद्यज्ञशोधिता देवीरापश्चित्स्वात्तं धर्मानुष्ठानस्वीकृतं देवहविरिवसंस्वदन्तु मदाशिषा तवांगानियजत्रैः सह गच्छन्ताम् प्राणोवातेन संगच्छतां त्वं यज्ञपतिर्भव ॥१०॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। या यज्ञे प्रास्ताहुतयस्ता आदित्यमुपतिष्ठन्ते आदित्याकर्षणशक्त्या पृथिवी जलाकर्षणेन वृष्टिर्भवति ततोऽन्नमन्नाद्भूतानीति परंपरासंबन्धेन यज्ञशोधिता अपोहुतद्रव्यं च सर्वेजीवा भुञ्जते ॥ १० ॥

पदार्थः—हे शिष्य तू (अपाम्) जल आदि पदार्थों का (पेरुः) रक्षा करने वाला (असि) है संसारस्थ जीव तेरे यज्ञ से शुद्ध हुए (देवीः) दिव्य सुख देने वाले (आपः) जलों को (चित्) और (स्वात्तम्) धर्म युक्त व्यवहार से प्राप्त हुए पदार्थों को (देवहविः) विद्वानों के भोगने के समान (संस्वदन्तु) अच्छी तरह से भोगें (आशिषा) मेरे आशीर्वाद से (ते) तेरे (अंगानि) शिर आदि अवयव (यजत्रैः) यज्ञ कराने वालों के साथ (सम्) सम्यक् नियुक्त हों और (प्राणः) प्राण (वातेन) पवित्र वायु के संग (संगच्छताम्) उत्तमता से रमण-

करै और तू (यज्ञपतिः) विद्या प्रचार रूपी यज्ञ का पालन करने हारा हो॥ १० ॥

भावार्थः- अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। जो यज्ञ में दीहुई आहुती हैं वे सूर्य के उपस्थित रहती हैं अर्थात् सूर्य्य की आकर्षण शक्ति से परमाणुरूप होकर सब पदार्थ पृथिवी के ऊपर आकाश में हैं उसी पृथिवी का जल ऊपर खिंचकर वर्षा होती है उस वर्षा से अन्न और अन्न से सब जीवों को सुख होता है इस परंपरा संबन्ध से यज्ञ शोधित जल और होम किये द्रव्य को सब जीव भोगते हैं॥ १० ॥

घृतेनाक्ताविन्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। वातादयो देवता। भुरिगार्च्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

अथ यज्ञकर्तृकारयित्रोः कर्त्तव्यमुपदिश्यते॥

अब यज्ञ करने और कराने वालों को कर्त्तव्य काम का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाꣳरेवति यजमाने प्रियंधा आविश। उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव। वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ ११॥

घृतेन। अक्तौ। पशून्। त्रायेथाम्। रेवति। यजमाने। प्रियम्। धाः। आ। विश। उरोः। अन्तरिक्षात्। सजूरितिसजूः। देवेन। वातेन। अस्य। हविषः।

त्मना । यज । सम् । अस्य । तन्वा । भव । वर्षोऽइति वर्षो । वर्षीयसि । यज्ञे । यज्ञपतिमिति यज्ञपतिम् । धाः । स्वाहा । देवेभ्यः । देवेभ्यः । स्वाहा ॥ ११ ॥

पदार्थः–(घृतेन) (अक्तौ) घृतेनासक्तचित्तौ यज्ञकर्त्ता यज्ञकारयिता च (पशून्) गवादीन् (त्रायेथाम्) रक्षेताम् (रेवति) प्रशस्तैश्वर्ययुक्ते (यजमाने) यज्ञानुष्ठातरि (प्रियम्) प्रसन्नतासंपादि सुखम् (धाः) धेहि । अत्र लोडर्थे लुङ् अडभावश्च (आ) समंतात् (विश) (उरोः) बहोः (अन्तरिक्षात्) (सजूः) मित्रमिव (देवेन) सर्वगतेन (वातेन) वायुना सह (अस्य) (हविषः) होतव्यस्य कर्मणि षष्ठी (त्मना) आत्मना (यज) संगच्छस्व एकीभव (सम्) (अस्य) (तन्वा) (भव) (वर्षो) यज्ञकर्मणा सर्वसुखसेचक (वर्षीयसि) सर्वसुखमभिवर्षति (यज्ञपतिम्) यज्ञपालकम् (धाः) धेहि (स्वाहा) सत्कृत्यनुकूलाम् (देवेभ्यः) दीव्यन्ति प्रकाशन्ते सत्कर्मानुष्ठानेन ये तेभ्यो धार्मिकेभ्यो विद्वद्भ्यः (देवेभ्यः) शुभेभ्यो गुणेभ्यः (स्वाहा) सत्कृत्यनुरूपाम् । अयम्मंत्रः शत० ३ । ६ । २ । ५–१६ व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अन्वयः–हे यज्ञकर्त्ताकारयितारौ घृतेनाक्तौ घृतमनस्कौ युवां पशून् त्रायेथाम् त्वमेकैको देवेन वातेन सजूरोरन्तरिक्षात्प्रियंप्रेमोत्पादकम् सुखं रेवति यजमाने धा आविश । त्वमन्तर्वृत्तिमनाः प्रविश अस्य हविषः त्मना आत्मना यज अस्य तन्वा सम्भवैकी

भव न हूर्धमाचर हेवर्षो! यज्ञकर्मणा सुखसेचक त्वं देवेभ्यःस्वाहा देवेभ्यः स्वाहा तद्यज्ञंदिदृक्षुभ्यः पुनः पुनरागतेभ्यो विद्वद्भ्यः सकृत् सत्कृत्यनुरूपां वाचमुदीरयन् वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः ॥११॥

भावार्थः—यज्ञार्थं घृतादिमभीप्सुभिर्मनुष्यैः पशवो रक्षणीया घृतादि सद्द्रव्येणाग्निहोत्रादियज्ञान् संप्राप्यतैर्जलवायू संशोध्य सर्वेषां प्राणिनामभीष्टं सुखं संसाध्यम् ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे (घृतेन.अक्तौ) घृतप्रसक्त अर्थात् घृतचाहने और यज्ञ के करानेहारो ! तुम (पशून्) गो आदि पशुओं को (त्रायेथाम्) पालो, तुम एकरजन (देवेन) सर्वगत (वातेन) पवन से (सजूः) समान प्रीति करते हुए समान (उरोः) विस्तृत(अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुए (प्रियम्) प्रिय सुख को (रेवति) अच्छे ऐश्वर्ययुक्त (यजमाने) यज्ञ करने वाले धनी पुरुष में (धाः) स्थापन करो तथा(आविश) इस के अभिप्राय को प्राप्त होओ और (अस्य) इस के (हविषः) होम के योग्य पदार्थ को (त्मना) आप ही निष्पादन किये हुए के समान (यज) अग्नि में होमो अर्थात् यज्ञ की किसी क्रिया का विपरीत भाव न करो और (अस्य) इस के (तन्वा) शरीर के साथ (सम्) (भव) एकीभाव रक्खो किन्तु विरोध से क्रिया आचरण मत करो । हे (वर्षो) यज्ञ कर्म से सर्व सुख के पहुंचाने वालो ! (देवेभ्यः) (स्वाहा) (देवेभ्यः) (स्वाहा) सत्कर्म के अनुष्ठान से प्रकाशित धर्मिष्ठ ज्ञानी पुरुष जो कि यज्ञ देखने की इच्छा करते हुए बार बार यज्ञ में आते हैं उन विद्वानों के लिये अच्छे सत्कार कराने वाली वाणियोंको उच्चारण करते हुए यज्ञ पति को (वर्षीयसि) सर्व सुख वर्षने वाले यज्ञ में (धाः) अभियुक्त करो ॥११॥

भावार्थः—यज्ञ के लिये घृत आदि पदार्थ चाहने वाले मनुष्यों को गाय आदि पशु रखने चाहियें और घृतादि अच्छे २ पदार्थों से अग्निहोत्र से लेकर उत्तम२ यज्ञों से जल और पवन की शुद्धि कर सब प्राणियों को सुख उत्पन्न करना चाहिये ॥ ११ ॥

माहिर्भूरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विद्वांसो देवताः । भुरिक् प्राजापत्यानुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

स विद्वान् कीदृग्भवेदित्युपदिश्यते ॥

वह विद्वान् कैसा हो इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नर्मस्तऽआतानानर्वा प्रेहि । घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु ॥१२॥

मा । अहिः । भूः । मा । पृदाकुः । नमः । ते । आतानेत्याऽतान । अनर्वा । प्र । इहि । घृतस्य । कुल्याः । उप । ऋतस्य । पथ्याः । अनु ॥ १२ ॥

पदार्थः--(मा) निषेधे (अहिः) सर्पवत् (भूः) भवेः अत्र लिङर्थे लुङ् (पृदाकुः) मूढवदभिमानी व्याघ्रवद्वा हिंसकः (नमः) अन्नम् । नम इत्यन्ननामसु पठितम् निघं० २ । ७ (ते) तुभ्यम् (आतान) समन्तात्सुखं तनितः (अनर्वा) अश्वहीनः । अर्वेत्यश्वनामसु पठितम् निघं० १ । १४ (प्र) प्रकृष्टार्थे (इहि) गच्छ (घृतस्य) उदकस्य (कुल्याः) घृतधाराः (उप) (ऋतस्य) सत्यस्य (पथ्याः) वीथीः (अनु) । अयं मन्त्रः शत० ३।८। २ ।१-३ व्याख्यातः ॥१२॥

अन्वयः--हे आतान त्वं अहिर्माभूः पृदाकुर्माभूस्ते तुभ्यं नमोऽस्तु सर्वत्र त्वत्सुखायान्नादि पदार्थः पुरत एव प्रवर्त्तत इतिभावः । अनर्वा घृतस्य कुल्या ऋतस्य पथ्या उपानु प्रेहि ॥१२॥

भावार्थः--केनापि मनुष्येण धर्ममार्गे कुटिलमार्गगामि सर्पादिवत्कुटिलाचरणेन न भवितव्यं किंतु सर्वदा सरलभावेनैव भवितव्यम् ॥१२॥

पदार्थः—हे (आतान) अच्छे प्रकार सुख के विस्तार करने वाले विद्वान्! तूं (मा) मत (अहिः) सर्प के समान कुटिल मार्गगामी और (मा) मत (पृदाकुः) मूर्खजन के समान अभिमानी वा व्याघ्र के समान हिंसा करने वाला (भूः) हो (ते) (नमः) सब जगह तेरे सुख के लिये अन्न आदि पदार्थ पहिले ही प्रवृत्त हो रहे हैं और (अनर्वा) अश्व आदि सवारी के बिना निराश्रय पुरुष जैसे (घृतस्य) जल की (कुल्याः) बड़ी धाराओं को प्राप्त हो वैसे (ऋतस्य) सत्य के (पथ्याः) मार्गों को प्राप्त हो ॥ १२ ॥

भावार्थः—किसी मनुष्य को कुटिलगामी सर्प आदि दुष्ट जीवों के समान धर्म मार्ग में कुटिल न होना चाहिये किन्तु सर्वदा सरल भाव से ही रहना चाहिये ॥ १२ ॥

देवीराप इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । आपो देवताः ।
निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ ब्रह्मचारिभिर्ब्रह्मचारिणीभिश्च गुरुपत्न्यः कथं सम्मा-
ननीया इत्युपदिश्यते ॥

अब ब्रह्मचारी बालक और ब्रह्मचारिणी कन्याओं को गुरुपत्नियों का कैसे मान करना चाहिये यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

देवी॑रापः शुद्धा॑ वोड्ढ्वꣳ सुप॑रिविष्टा देवेषु सुप॑रिवि-
ष्टा वयम्प॑रिवेष्टारो॑ भूयास्म ॥ १३ ॥

देवीः । आपः । शुद्धाः । वोढ्वम् । सुपरिविष्टा इति सुपरिविष्टाः । देवेषु । सुपरिविष्टाऽइति सुपरिविष्टाः । वयम् । परिवेष्टारऽइति परिवेष्टारः । भूयास्म ॥ १३ ॥

पदार्थः—(देवीः) सद्विद्याप्रकाशवत्यः (आपः) आप्नुवंति सद्गुणानूयास्ताः (शुद्धाः) सत्कर्म्मानुष्ठानपूताः (वोढुम्) स्वयंवरविवाहविधिं प्राप्नुत। अत्र वहप्रापण इत्यस्माल्लोटि मध्यमबहुवचने बहुलंछन्दसीति शपो लुकि कृते सहिवहोरोदवर्णस्य। अ० ६। ३। ११२। इत्यनेनोकारः (सुपरिविष्टाः) तत्तत्सेवामुन्मुख्यएव। अत्र वर्त्तमाने लोट् (देवेषु) सद्विद्यादिदिव्यगुणेषु विद्वत्सु (सुपरिविष्टाः) तथा भूताएव (वयम्) (परिवेष्टारः) परितो व्याप्ताः (भूयास्म) ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे कुमार्यो यथापः सद्गुणेषु व्याप्ताः शुद्धा देवीः विदुष्यः सत्स्त्रियो देवेषु सद्विद्यादिदिव्यगुणेषु विद्वत्सु स्वपतिषु सुपरिविष्टाः कृतब्रह्मचर्याः स्वसमानुवरान् स्वीकृतवत्यः यथास्तैर्विद्वांसः स्ता विदुषीः प्राप्तास्तथायूयं स्त्रीभावेनास्मान् प्राप्नुतैव वयमपिपरिवेष्टारो भूयास्म ॥ १३ ॥

भावार्थः अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। यथाविदुष्योविदुषा स्त्रियः पातिव्रत्यधर्मतत्परा भवन्ति तथा ब्रह्मचारिण्यः कन्यास्तद्गुणस्वभावा भवेयुर्ब्रह्मचारिण्य गुरुजनस्वभावास्यु यतः सुशिक्षया स्वापुत्रादिरक्षणशीला भवेयुरिति ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे कुमारियो तुम जैसे (आपः) श्रेष्ठगुणों में रमण करने वाली (शुद्धाः) सत्कर्मानुष्ठान से पवित्र (देवीः) विद्याप्रकाशवती विदुषी स्त्रीजन (देवेषु) श्रेष्ठ विद्वान पतियों के निमित्त (सुपरिविष्टाः) और उन की सेवा करने को सन्मुख प्रवृत्त होकर अपने समान पतियों को (वोढुम्) प्राप्त होती हैं और वे विद्वान पतिजन उन स्त्रियों को प्राप्त होते हैं वैसे तुम हो और हम भी (परिवेष्टा) उस कर्म की योग्यता को (भूयास्म) पहुंचे ॥ १३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। जैसे विदुषी अर्थात् विद्वानों की

स्त्री पातिव्रतधर्म में तत्पर रहती हैं वैसे ब्रह्मचारिणी कन्या भी उन के गुण और स्वभाव वाली हों और ब्रह्मचारी भी गुरुजनों की शिक्षा से स्त्री और पुरुष आदि की रक्षा करने में तत्पर हों ॥ १३ ॥

वाचन्त इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विद्वांसो देवताः ।
भुरिगार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ कथं ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्यशिक्षया स्वस्यान्तेवासिनः सद्गुणेषु प्रकाशयन्तीत्युपदिश्यते ॥

अब वे गुरुपत्नी और गुरुजन यथायोग्य शिक्षा से अपने २ विद्यार्थियों को अच्छे २ गुणों में कैसे प्रकाशित करते हैं यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

वाचं ते शुन्धामि प्राणन्ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रन्ते शुन्धामि नाभिन्ते शुन्धामि मेढ्रन्ते शुन्धामि पायुन्ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि ॥ १४ ॥

वाचम् । ते । शुन्धामि । प्राणम् । ते । शुन्धामि । चक्षुः । ते । शुन्धामि । श्रोत्रम् । ते । शुन्धामि । नाभिम् । ते । शुन्धामि । मेढ्रम् । ते । शुन्धामि । पायुम् । ते । शुन्धामि । चरित्रान् । ते । शुन्धामि ॥ १४ ॥

पदार्थः—(वाचम्) वक्तव्यनया तां वाणीम् (ते) तव (शुन्धामि) निर्मलां करोमि (प्राणम्) प्राणिति येन तं जीवनहेतुम् (ते) (शुन्धामि) (चक्षुः) चष्टेऽनेन

तन्नेत्रम् (ते) (शुन्धामि) (श्रोत्रम्) शृणोति येन तत् (ते) (शुन्धामि) (नाभिम्) नह्यते बध्यते यया ताम् (ते) (शुन्धामि) (मेढ्रम्) मेहत्यनेन तदुपस्थेन्द्रियम् (ते) (शुन्धामि) (पायुम्) पात्यनेन तं गुह्येन्द्रियम् (ते) (शुन्धामि) (चरित्रान्) व्यवहारान् (ते) (शुन्धामि) अयम्मंत्रः शत० । ३ ।८ । २ । ६ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे शिष्य ! विविधशिक्षाभिरहं वाचं शुन्धामि ते प्राणं शुन्धामि ते चक्षुः शुन्धामि ते श्रोत्रं शुन्धामि ते नाभिं शुन्धामि ते मेढ्रं शुन्धामि ते पायुं शुन्धामि ते चरित्रान् शुन्धामि ॥ १४ ॥

भावार्थः—गुरुभिर्गुरुपत्नीभिश्च *वेदोपवेदवेदांगोपाङ्गशिक्षया देहेन्द्रियान्तःकरणात्मनःशुद्धिशरीरपुष्टिप्राणसंतुष्टीः प्रदाय सर्वे कुमाराः सर्वाः कन्याश्च सद्गुणेषु प्रवर्त्तयितव्या इति ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे शिष्य ! मैं विविधशिक्षाओं से (ते) तेरी (वाचम्) जिस से बोलता है उस वाणी को (शुन्धामि) शुद्ध अर्थात् सद्धर्मानुकूल करता हूं (ते) तेरे (चक्षुः) जिस से देखता है उस नेत्र को (शुन्धामि) शुद्ध करता हूं (ते) तेरी (नाभिम्) जिस से नाड़ी आदि बांधे जाते हैं उस नाभि को (शुन्धामि) पवित्र करता हूं (ते) तेरे (मेढ्रम्) जिस से मूत्रोत्सर्गादि किये जाते हैं उस लिङ्ग को (शुन्धामि) पवित्र करता हूं (ते) तेरे (पायुम्) जिस से रक्षा की जाती है उस गुदेन्द्रिय को (शुन्धामि) पवित्र करता हूं (चरित्रान्) समस्त व्यवहारों को (शुन्धामि) पवित्र शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूं । तथा गुरुपत्नी पक्ष में सर्वत्र " करती हूं " यह योजना करनी चाहिये ॥ १४ ॥

भावार्थः—गुरु और गुरुपत्नियों को चाहिये कि वेद और उपवेद तथा वेद के अंग और उपाङ्गों की शिक्षा से देह इन्द्रिय अन्तःकरण और मन की शुद्धि शरीर

* वेदाः-ऋग्यजुः सामाथर्वाणः, उपवेदाः-अर्थवेदधनुर्वेदगान्धर्ववेदायुर्वेदाः, वेदाङ्गानि-शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति उपाङ्गानि-मीमांसा वैशेषिकन्याय पातञ्जल साङ्ख्यवेदान्ताः ॥

की पुष्टि तथा प्राण की संतुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे २ गुणों में प्रवृत्त करावें ॥ १४ ॥

मनस्त इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विद्वांसो देवताः ।
निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनरुक्तोऽर्थः प्रकारान्तरेण प्रकाश्यते ॥

फिर भी प्रकारान्तर से अगले मन्त्र में उक्त अर्थ का प्रकाश किया है ॥

मनस्त आप्यायतां वाक्तऽआप्यायताम्प्राणस्तऽआप्यायताञ्चक्षुस्तऽआप्यायताᳬश्रोत्रन्तऽआप्यायताम् । यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽआप्यायतान्निष्ट्यायतान्तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनᳬहिᳬसीः ॥ १५ ॥

मनः । ते । आप्यायताम् । वाक् । ते । आप्यायताम् । प्राणः । ते । आप्यायताम् । चक्षुः । ते । आप्यायताम् । श्रोत्रम् । ते । आप्यायताम् । यत् । ते । क्रूरम् । यत् । आस्थितमित्याऽस्थितम् । तत् । ते । आप्यायताम् । निः । स्त्यायताम् । तत् । ते ।

शुध्यतु । शम् । अहोभ्यऽइत्यहःऽभ्यः । ओषधे । त्रायस्व । स्वधितऽइति स्वऽधिते । मा । एनम् । हिंसीः ॥१५॥

पदार्थः–(मनः) संकल्पविकल्पात्मकम् (ते) तव (आ) (प्यायताम्) सत्कर्म्मानुष्ठानेन वर्द्धताम् (वाक्) (ते) (आ) (प्यायताम्) (प्राणः) (ते) (आप्यायताम्) (श्रोत्रम्) (ते) (आप्यायताम्) (यत्) (ते) तव (क्रूरम्) दुश्चरित्रम् (यत्) (आस्थितम्) निश्चितम् (तत्) (ते) (आप्यायताम्) (नि) पृथग्भावे (त्यायताम्) संहन्यताम् (ते) (शुध्यतु) (शम्) सुखम् (अहोभ्यः) कालविशेषेभ्यः (ओषधे) ओषो विज्ञानं धीयते यस्मिंस्तत्सं बुद्धौ ! । अत्र ओषमनार्वित्यस्माद्गतिरत्र विज्ञानं गृह्यते (त्रायस्व) (स्वधिते) स्वेष्वात्मीयेषु धितिःपोषणं यस्यास्तत्संबुद्धौ (मा) निषेधे (एनम्) पूर्वोक्तम् (हिंसीः) कुशिक्षया लालनेन वा मा विनाशयेः ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे शिष्य ! मदीयशिक्षणेन ते तव मन आप्यायताम् ते प्राण आप्यायताम् ते चक्षुराप्यायताम् ते श्रोत्रमाप्यायताम् ते यत्क्रूरं दुश्चरित्रं तत् निष्ट्यायताम् दूरीगच्छतु यत् ते तवास्थितम् निश्चितं तदाप्यायताम् इत्थं ते सर्वं शुध्यतु अहोभ्यो दिनेभ्यस्तुभ्यं शमस्तु । अथ स्वस्वामिनि शिष्यलालनापरं गुरुपत्नीवाक्यम् । हे ओषधे ! विज्ञानवराध्यापक ! त्वमेनं शिष्यं त्रायस्व माहिंसीः । स च स्वपत्नीं प्रत्याह । हे स्वधितेऽध्यापिके स्त्रि ! त्वमेनां त्रायस्व माहिंसीश्च ॥१५॥

भावार्थः— सत्कर्मानुष्ठानेन सर्वोदयोन्नतिर्भवत्यतः सर्वैर्मनुष्यैर्गुरु-शिक्षया समस्तसत्कर्मानुष्ठेयम् गुरवो गुणग्रहणायैव शिष्याणां ताडनं विदधति तदस्तैषामिदमभ्युदयनिःश्रेयसकारि जायतएवेतिबोध्यम् । दम्पती परस्परमेवमुपदिशेताम् । हे पते ! भवानयं शिष्यो यथा सद्योविद्वान् स्यात्तथा प्रयतताम् हे धर्मपत्नि ! भवती यथेयं कन्या तूर्णं विदुषी भवेत्तथा विदधातु ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे शिष्य ! मेरी शिक्षा से (ते) तेरा (मनः) मन (आप्यायताम्) पर्याप्त गुणयुक्त हो (ते) तेरा (प्राणः) प्राण (आप्यायताम्) बलादिगुण युक्त हो (ते) तेरी (चक्षुः) (आप्यायताम्) निर्मल दृष्टि वाली हो (ते) तेरे (श्रोत्रम्) (आप्यायताम्) कर्ण सद्गुण व्याप्त हों (ते) तेरा (यत्) जो (क्रूरम्) दुष्ट व्यवहार है वह (निः) (स्त्यायताम्) दूर हो और (यत्) जो (ते) तेरा (आस्थितम्) निश्चय है वह (आप्यायताम्) पूरा हो इस प्रकार से (ते) तेरा समस्त व्यवहार (शुध्यतु) शुद्ध हो और (अहोभ्यः) प्रतिदिन तेरे लिये (शम्) सुख हो । हे (ओषधे) प्रवर अध्यापक ! आप (एनम्) इस शिष्य की (त्रायस्व) रक्षा कीजिये और (माहिंसीः) व्यर्थ ताडना मत कीजिये । हे (स्वधिते) प्रशस्ताध्यापिके ! तू इस कुमारिका शिष्या की (त्रायस्व) रक्षा कर और इस को अयोग्य ताड़ना मत दे ॥ १५ ॥

भावार्थः—सत्कर्म करने से सब की उन्नति होती है इस से सब मनुष्यों को चाहिये कि सुशिक्षा पाकर समस्त सत्कर्मों का अनुष्ठान करें इसी से अध्यापक जन गुण ग्रहण कराने ही के लिये शिष्यों को ताड़ना देते हैं वह उन की ताड़ना अत्यन्त सुख की करने वाली होती है । स्त्री और पुरुष इस प्रकार उपदेश करें कि हे सर्वोत्तम अध्यापक ! यह आप का विद्यार्थी जैसे शीघ्र विद्वान् होजाय वैसा प्रयत्न कीजिये । हे प्रिये! यह कन्या जिस प्रकार अतिशीघ्र विद्यायुक्त हो वैसा काम कर ॥ १५ ॥

रक्षसामित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ देवते । ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ।

अथ शिष्यवर्गेषु यथायोग्योपदेशकरणमाह ॥

अब शिष्यवर्गों में से प्रति शिष्य को यथा योग्य उपदेश करना अगले मंत्र में कहा है ॥

रक्षसाम्भागोसि निरस्तꣳरक्षऽइदमहꣳरक्षो-भितिष्ठामीदमहꣳरक्षोवबाधऽ इदमहꣳरक्षोधमन्तमो नयामि । घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वेः स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृतऽऊर्ध्वनभसम्मारुतङ्गच्छतम् ॥ १६ ॥

रक्षसाम् । भागः । असि । निरस्तमितिनिः ऽअस्तम् । रक्षः । इदम् । अहम् । रक्षः । अभि । तिष्ठामि । इदम् । अहम् । रक्षः । अव । बाधे । इदम् । अहम् । रक्षः । अधमम् । तमः । नयामि । घृतेन । द्यावापृथिवीऽइतिद्यावापृथिवी । प्र । ऊर्णुवाथाम् । वायोऽइतिवायो । वेः । स्तोकानाम् । अग्निः । आज्यस्य । वेतु । स्वाहा । स्वाहाकृतऽइतिस्वाहाकृते । ऊर्ध्वनभसमित्यूर्ध्वनभसम् । मारुतम् । गच्छतम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(रक्षसाम्) रक्षन्ति परार्थहननेन स्वार्थमितिरक्षांसि तेषाम् (भागः) सेवनीयः (असि) (निरस्तम्) निःसृतम् (रक्षः) सर्वतः स्वार्थरक्षकः परार्थहन्ता (इदम्) (अहम्) (रक्षः) (अभि) सन्मुखे (तिष्ठामि) (इदम्) (अहम्) (रक्षः) रक्षति सर्वतः स्वार्थनिमित्तेषु तत्कर्म (अव) अर्वागर्थे (बाधे) नाशयामि (इदम्) (अहम्) (रक्षः) (अधमम्) नीचंतमोन्धकारम् (नयामि) प्रापयामि (घृतेन) जलेन (द्यावापृथिवी) भूमिप्रकाशौ (प्र) प्रकृष्टार्थे (ऊर्णुवाथाम्) आच्छादयताम् (वायो) वाति जानाति सूचयति सदसत्पदार्थानिति वा वायुस्तत्संबुद्धौ (वेः) विद्धि अत्र लोडर्थे लङ् (स्तोकानाम्) स्वल्पानामृशेषविवक्षातः कर्मणिषष्ठी (अग्निः) सर्वविद्या प्राप्तोविद्वान् (आज्यस्य) स्नेहद्रव्यस्य (स्वाहाकृते) सत्य वाचामुपगतेव्यवहारे (ऊर्ध्वनभसम्) ऊर्द्धं नभोजलंयस्मात्तम् (मारुतम्) (गच्छतम्) ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे दुष्टकर्मकारिन्! त्वं रक्षसांभागोस्यतोरक्षो निरस्तं भव अहम् इदम् रक्षोभितिष्ठामि तिरस्करणाय तत्सन्मुखमुपविशामि न केवलमभितिष्ठामि किन्तु अहमिदं रक्षोदुष्टस्वभावविनमवबाधेऽर्वाचीनो यथा स्यात्तथा हन्मि यतो न पुनः सन्मुखो भूयादिति भावः । अहमिदंरक्षोऽधमं तमो नयामि दुःखहदुःखं प्रापयामि च । हे वायो! गुणग्राहकसदसद्विवेचनशील शिष्य! त्वं स्तोकानां स्तोकान् सूक्ष्मव्यवहारान् वेः विद्धि त्वद्यज्ञशोधितेन घृतेन द्यावापृथिवीप्रोर्णुवाथाम् आच्छादयेताम् । अग्निः समस्तविद्याप्राप्तो विद्वांस्त्वञ्चाज्यस्य स्नेहद्रव्यंस्वाहा वेत्तु जानातु तथा स्वाहाकृते पूर्वोक्ते द्यावापृथिव्यौ ऊर्ध्वनभसं त्वद्यज्ञशोधितजलमूर्धप्रापकं मारुतं गच्छतम्प्राप्नुतम् ॥ १३ ॥

भावार्थः— बुद्धिमन्तः सदसद्विवेचका विद्वांसः शिष्येषु यथायोग्यं शिक्षणमनुविदधति यज्ञकर्मणा जलवायुशुद्ध्या वृष्टिर्भवति वृष्ट्यैव सर्वप्राणिभ्यः सुखं संपद्यते ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे दुष्टकर्म करने वाले जन ! तू (रक्षसाम्) दुष्टों अर्थात् पराये नाशकर आपना अभीष्ट करने वालों का (भागः) भाग (असि) है इस कारण (रक्षः) राक्षस स्वभावी तू (निरस्तम्) निकल जा (अहम्) मैं (इदम्) ऐसे (रक्षः) स्वार्थसाधक का (अभितिष्ठामि) तिरस्कार करने के लिये सन्मुख होता हूं और केवल सन्मुख ही नहीं किन्तु (अहम्) मैं (इदम्) ऐसे (रक्षः) दुष्ट जन को (अवबाधे) अत्यन्त तिरस्कार के साथ पीटता हूं जिस से वह फिर सामने न हो और (अहम्) मैं (इदम्) ऐसे (रक्षः) दुष्टजन को (अधमम्) दुःसह दुःख को (नयामि) पहुंचाता हूं । अब श्रेष्ठ गुणग्राही शिष्य के लिये उपदेश है। हे वायो ! गुण ग्राहक सत् असत् व्यवहार की विवेचना करने वाला तू (स्तोकानाम्) सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यवहारों को (वेः) जान और तेरे यज्ञ शोधित जल से (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (प्रोर्णुवाथाम्) अच्छे आच्छादित हों (अग्निः) समस्त विद्यायुक्त विद्वान् तेरे घृत आदि पदार्थ के (स्वाहा) अच्छे होम किये हुए को (वेतु) जाने तथा (स्वाहाकृते) हवन किये हुए स्नेहद्रव्य को प्राप्त पूर्वोक्त जो सूर्य और भूमि हैं वे (ऊर्ध्वनभसम्) तेरे यज्ञ से शुद्ध हुए जल को ऊपर पहुंचाने वाले (मारुतम्) पवन को (गच्छतम्) प्राप्त हों ॥ १६ ॥

भावार्थः—बुद्धिमान् श्रेष्ठ और अनिष्ट के विवेक करने वाले विद्वान् लोग अपने शिष्यों में यथायोग्य शिक्षा विधान करते हैं यज्ञ कर्म से जल और पवन की शुद्धि उस की शुद्धि से वर्षा और उस से सब प्राणियों को सुख उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥

इदमापइत्यस्य दीर्घतमाऋषिः । आपो देवताः । निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

शुद्धेन जलेन किं भावनीयमित्युपदिश्यते ॥

अब निर्दोष जल से क्या संभावना करनी चाहिये यह अगले मंत्र में उपदेश किया है ॥

इदमापः प्रवहतावद्यञ्चमलञ्च यत् । यच्चा-

भिद्रुद्रोहानृतं यच्चं शेपेऽअभीरुणंम्। आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥ १७॥

इदम् । आपः । प्र । वहत । अवद्यम् । च । मलम् । च । यत् । यत् । च । अभिद्रुद्रोहेत्यभिऽदुद्रोह । अनृतम् । यत् । च । शेपे । अभिरुणम् । आपः । मा । तस्मात् । एनसः । पवमानः । च । मुञ्चतु ॥ १७॥

पदार्थः-(इदम्) वक्ष्यमाणम् (आपः) आप्नुवन्तीत्यापः (प्र) (वहत) अत्र लडर्थे लोट् । (अवद्यम्) निंद्यम् (च) विकारिसमुच्चये (मलम्) अशुद्धिकरम् (यत्) (च) प्रकृतिविरुद्धग्रहणे (यत्) (च) लोकविप्रुष्टसमुच्चये (अभिदुद्रोह) यथाभिद्रुह्यति तथा (अनृतम्) असत्यम् (यत्) (च) परुषवचः समुच्चये (शेपे) आक्रुश्यामि (अभीरुणम) निर्भयम् (आपः) (मा) माम् (तस्मात्) (एनसः) धर्मविरुद्धाचरणात् (पवमानः) पवित्रीकरोत्यवहारः (च) शुद्धोपदेशसमुच्चये (मुञ्चतु) पृथक्करोतु ॥ १७ ॥

अन्वयः-आपः सर्वविद्याव्यापिनो विपश्चितो यूयं यथापः शुद्धिकारास्तथा मम यदवद्यम् निन्द्यं कर्म यच्च मलम् अविद्यारूपं तदिदं प्रवहत अपनयत च-पुनः यदहमनृतं कच दुद्रोह च यत् अभीरुणम् निरपराधिनम् पुरुषं शेपे तस्मात् पूर्वोक्तादेनसः मा मां पृथक् रक्षतु यथा पवमानो

मालिन्यात्सांसद्योदूरीकरोति तथान्यानपि मुञ्चतु पृथक् करोतु ॥ १७ ॥

भावार्थः अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारउपमालङ्कारश्च । विद्वान् जल-मिव सांसारिकपदार्थानांशोधकोभूत्वा धर्म्यं कर्माचरेत् । मनुष्यैरीश्वरप्रार्थन-या दुष्टाचारात् पृथक् भूत्वा निर्मलेषु विद्यादिग्रहणकर्मसु सदाप्रवर्तितव्य-मिति ॥ १७ ॥

पदार्थः—भो (आपः) सर्व विद्याव्यापक विद्वान् लोगो ! आप जैसे (आपः) जल शुद्धि करते हैं वैसे मेरा (यत्) जो (अवद्यम्) अकथनीय निं-द्यकर्म (च) और विकार तथा (यत्) जो (मलम्) अविद्यारूपी मल है (इदम्) इस को (प्रवहत) बहाइये अर्थात् दूर कीजिये (च) और (यत्) जो मैं (अनृतम्) झूंठ मूंठ किसी से (दुद्रोह) द्रोह करता होऊं (च) और (यत्) जो (अभीरुणम्) निर्भय निरपराधी पुरुष को (शेपे) उलाहने देता हूं (तस्मात्) उस उक्त (एनसः) पाप से (मा) मुझ को अलग रक्खो (च) और जैसे (पवमानः) पवित्र व्यवहार (मा) मुझ को पाप व्यवहार से अलग रखता है वैसे (च) अन्य मनुष्यों को भी रक्खे ॥ १७ ॥

भावार्थः—जैसे जल सांसारिक पदार्थों की शुद्धि का निदान है वैसे विद्वान् लोग सुधार का निदान हैं इस से वे अच्छे कामों को करें । मनुष्यों को चाहिये कि ईश्वर की उपासना और विद्वानों के संग से दुष्टाचरणों को छोड़ सदा धर्म में प्रवृत्त रहें ॥ १७ ॥

सन्तइत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता । प्राजापत्यानुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः । रेडसीत्यस्य दैवीपाङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमःस्वरः ॥

अथ रणे योद्धाकीदृग्भवेदित्युपदिश्यते ॥

अब रण में युद्ध करने वाला शिष्य कैसा हो यह अगले मंत्र में कहा है ॥

सन्ते मनो मनसा सम्प्राणः प्राणेन गच्छ-ताम् । रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वास

मरिणन्वातस्य त्वाध्राज्यै पूष्णोरᳬह्यांऽऊष्म- णोव्यथिषत्प्रयुतन्द्वेषः ॥ १८ ॥

सम् । ते । मनः । मनसा । सम् । प्राणः । प्राणेन । गच्छताम् । रेट् । असि । अग्निः । त्वा । श्रीणातु । आपः । त्वा । सम् । अरिणन् । वातस्य । त्वा । ध्राज्यै । पूष्णः । रᳬह्यै । ऊष्मणः । व्यथिषत् । प्रयुतमितिप्रयुतम् । द्वेषः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(सम्) (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् (मनसा) विज्ञानेन (सम्) (प्राणः) (प्राणेन) बलेन (गच्छताम) (रेट्) शत्रुहिंसकः । अत्र रिषतेर्हिं सार्थात् कर्त्तरिविच् (अग्निः) युद्धजन्यक्रोधाग्निः (त्वा) त्वाम् (श्रीणातु) परिपचतु (त्वा) त्वाम् (आपः) जलानि (सम्) (अरिणन्) प्राप्नुवन्तु रिणातीति गति- कर्म्मसु पठितम् निघं० २ । १४ (वातस्य) वायोः (ध्राज्यै) गत्यै अत्रगत्यर्थाद् ध्रजधातोः इञ्वपादिभ्यइती ञ प्रत्य- यः (पूष्णः) पोषकस्यादित्यस्य (रंह्यै) गत्यै (ऊष्मणः) आतपात् (व्यथिषत्) व्यथते (प्रयुतम्) एतत्संख्याकम् (द्वेषः) द्वेष्टि येनसः । अयम्मन्त्रः शत० ३ । ६ । ४ । ९—२१ व्याख्यातः । १८ ॥

अन्वयः—हे योद्धः ! संग्रामे ते मनो मनसा प्राणः प्राणेन च संग च्छताम् हे वीर त्वं रेडसि त्वा त्वामग्निर्युद्धजन्यक्रोधाग्निश्श्रीणातु त्वं

प्रयुतं शत्रुसैन्यं प्राप्य तज्जन्यादूष्मणो द्वेषो मा व्यथिषत् त्वां वातस्य ध्राज्यै वातस्य गतिभिर्युद्धकर्मणि गत्यै यद्वा पूष्णो रंह्यै सूर्यस्य गतिरिव युद्धभूमिषु गत्यै यथार्थतया युद्धकर्मणि प्रवृत्त्यै आपः समरिणन् ॥ १८ ॥

भावार्थः-मनुष्यैः संग्रामे मनः समाधाय स्वबलवर्द्धकान्नपानशस्त्रादिपदार्थान् संपाद्य शत्रून् निहत्य संग्रामो विजेतव्य इति ॥ १८ ॥

पदार्थः —हे युद्धशील शूरवीर ! संग्राम में (ते) तेरा (मनः) मन (मनसा विद्याबल और (प्राणः) प्राण (प्राणेन) प्राण के साथ (सम्) (गच्छताम्) संगत हो हे वीर ! तू (रट्) शत्रुओं को मारने वाला (असि) है (त्वा) तुझे (अग्निः) युद्ध से उत्पन्न हुए क्रोध का अग्नि (श्रीणातु) अच्छे पचावे तू (प्रयुतम्) करोड़ों प्रकार के शत्रुओं की सेना को प्राप्त होता है तुझ को तज्जन्य (ऊष्मणः) गरमी का (द्वेषः) द्वेष मत (व्यथिषत्) अत्यन्त पीड़ायुक्त करे जिस से (वातस्य) (ध्राज्यै) पवन की गति के तुल्य गति के लिये वा (पूष्णः) पुष्टिकारक सूर्य के (रंह्यै) वेग के तुल्य वेग के लिये अर्थात् यथार्थता से युद्ध करने में प्रवृत्ति होने के लिये (आपः) अच्छे २ जल (सम्) (अरिणन्) अच्छे प्रकार प्राप्त हों ॥ १८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अपने बल के बढ़ाने वाले अन्न जल और शस्त्र अस्त्र आदि पदार्थों को इकट्ठा करके शत्रुओं को मारकर संग्राम जीतें ॥ १८ ॥

घृतं घृतपावान इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।

ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तत्र किं भवितुमर्हतीत्युपदिश्यते ॥

फिर युद्धकर्म में क्या होना चाहिये यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा । दिशः

प्रदिशऽ आदिशो विदिशः उद्दिशोदिग्भ्यः स्वाहा ॥ १९ ॥

घृतम् । घृतपावानऽइति घृतपावानः । पिबत । वसाम् । वसापावानऽइति वसापावानः । पिबत । अन्तरिक्षस्य । हविः । असि । स्वाहा । दिशः । प्रदिशइतिप्रदिशः । आदिशइत्यादिशः । विदिशऽइति-विदिशः । उद्दिशऽइत्युत् दिशः । दिग्भ्यऽइति दिग्भ्यः । स्वाहा ॥ १९ ॥

पदार्थः– (घृतम) उदकं । घृतमित्युदनामसु पठितम । निघं० १। १२।(घृतपावानः) उदकपावो राः(पिवत)(वसाम) वीररसमीतिम् (वसापावानः) वसां निवास पान्ति ते (पिवत) (अन्तरिक्षस्य) आकाशस्य (हविः) आदीयतइति (असि)(स्वाहा) युद्धानुकूलां शोभनां वाचम् (दिशः) पूर्वाद्याः (प्रदिशः) अभ्यन्तरदिशः (आदिशः) आभिमुख्यादिशः (विदिशः) विरुद्धदिशः (उद्दिशः) या उद्दिश्यन्ते ताः (दिग्भ्यः) पूर्वप्रतिपादिताभ्यः सर्वाभ्यः (स्वाहा) तत्तत्स्थानानुकूलं शोभनां वाचम् । अयम्मन्त्रः शत० ३ । ६ । ४ । ३२–३६ व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः- हे घृतपावानो वीरा ! यूयं घृतं पिबत हे वसापावानो! यूयं वसां पिबत हे सेनाध्यक्ष ! चक्रव्यूहादिसेनारचक ! त्वं प्रतिवीरमन्तरिक्षस्य हविरसीति स्वाहा शोभनया वाचा सर्वान् वीरान्या दिशः, प्रदिश, आदिशो, विदिश, उद्दिशश्च सन्ति ताभ्यः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो सर्वाःसेना विभज्य शत्रून् विजयस्व ॥ १९ ॥

भावार्थः—सेनाध्यक्षाणामुचितमस्ति स्वसेनास्थान् वीरान् शरीर बलयुक्तान् युद्धविद्यासुशिक्षितान् संपाद्य युद्धे सर्वासु दिक्षु यथायोग्यान् स्वसेनाभागान्संस्थाप्य सर्वतः शत्रूनावृत्य विजित्य च न्यायेन प्रजां पालयेयुरिति ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे (घृतपावानः) जल के पीने वाले वीर पुरुषो ! तुम (घृतम्) अमृतात्मक जल को (पिबत) पिओ हे (वसापावानः) नीति के पालने वाले ! वीरो तुम (वसाम्) जो वीर रस की वाणी अर्थात् शत्रुओं को स्तंभन करने वाली है उस को(पिबत) पिओ हे सेनाध्यक्ष चक्रव्यूहादि सेना रचक प्रत्येक वीर को तू जिस से (अन्तरिक्षस्य) आकाश की (हविः) रुकावट अर्थात् युद्ध में बहुतों के बीच शत्रुओं को लेना (असि) है उस (स्वाहा) शोभन वाणी से जो (दिशः) पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण(प्रदिशः) आग्नेयी नैर्ऋति वायवी और ऐशानी उपदिशा (आदिशः) आपने सामने मुहाने की दिशा (विदिशा) पीछे की दिशा और (उद्दिशः) जिस ओर शत्रु लक्षित हो वे दिशा हैं उन सब (दिग्भ्यः) दिशाओं से यथायोग्य वीरों को बांट के शत्रुओं को जीत॥१९॥

भावार्थः—सेनाध्यक्षों को उचित है कि अपनी २ सेना के वीरों को अत्यन्त पुष्टकर युद्ध के समय चक्रव्यूह श्येनव्यूह तथा शकट व्यूह आदि रचनादि युद्ध कर्मों से सब दिशाओं में अपनी सेनाओं के भागों को स्थापन कर सब प्रकार से शत्रुओं को घेर घार जीतकर न्याय से प्रजापालन करें॥ १९ ॥

ऐन्द्रः प्राण इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । त्वष्टा देवता ।
ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।
पुनस्तत्रान्योन्यं कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर संग्राम में बीर पुरुष आपस में कैसे बर्त्तें यह उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

ऐन्द्रः प्राणो ऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्र ऽउदानो ऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः । देवत्वष्टर्भूरि ते सᳬसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपम्भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोनु त्वा मातापितरो मदन्तु ॥ २० ॥

ऐन्द्रः । प्राणः । अङ्गेऽअङ्ग इत्यङ्गेऽअङ्गे । नि । दीध्यत् । ऐन्द्रः । उदानऽइत्युत्ऽआनः । अङ्गेअङ्गऽइत्यङ्गेअङ्गे । निधीतइतिनिधीतः । देव । त्वष्टः । भूरि । ते । सᳬसमिति सम् सम् । एतु । सलक्ष्मेतिसलक्ष्म । यत् । विषुरूपमितिविषुरूपम् । भवाति । देवत्रेतिदेवत्रा । यन्तम् । अवसे । सखायः । अनु । त्वा । माता । पितरः । मदन्तु ॥ २० ॥

पदार्थः—(ऐन्द्रः) इन्द्रो जीवो देवताऽस्य स ऐन्द्रः (प्राणः) शरीरस्थो वायुविशेषः (अंगे अंगे) यथा प्रत्यङ्गं प्रकाशते (नि) नितराम् (दीध्यत्) युद्धे शत्रून् वञ्चि-

त्वा स्वयं प्रकाशेत (ऐन्द्रः) विद्युद्देवताकः (उदानः) य ऊर्द्ध्वमनिति (अंगे अंगे) प्रत्यङ्गम् (निधीतः) निहित इव (देव) दिव्यविद्यासम्पन्न सेनाध्यक्ष ! (त्वष्टः) शत्रुबलच्छेत्तः !(भूरि) बहु (ते) तव (सम् सम्) एकीभावे अत्र प्रसमुपोदः पादपूरणे अ० ८ । १ । ६ । इति समित्यस्य द्वित्वम् (एतु) प्राप्नोतु (सलक्ष्म) समानं लक्ष्म यस्य तत् । अन्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः (विषुरूपम्) व्यापकं विविधरूपं वा (भवाति) भवतु (देवत्रा) देवं देवमिति देवत्रा (यन्तम्) गच्छन्तम् (अवसे) रक्षणाद्याय (सखायः) सुहृदः सन्तः (अनु) (त्वा) त्वाम् (माता) जननी (पितरः) रक्षका जनकाः (मदन्तु) हर्षन्तु । अयम्मन्त्रः शत० ३।५।४।३७ व्याख्यातः॥२०॥

अन्वयः—हे त्वष्टर्देव सेनापते ! भगवन् अङ्गे अङ्गे ऐन्द्रः प्राणस्त्वावसे संग्रामे निदीध्यत् यद्वा अङ्गे अङ्गे उदान इव संग्रामे निधीतो भवाति यत् ते तव विषुरूपं सलक्ष्म भवाति तत् संग्रामे भूरि यथा स्यात्तथा संसमेतु । सखायो माता पितरश्च देवत्रा धर्म्यं युद्धं व्यवहारं वा यन्तं त्वा त्वामनुमदन्तु ॥ २० ॥

भावार्थः—सेनापतिः सर्वमित्रोऽङ्गेऽङ्गे प्राण उदान इव संग्रामेविचरन् सेनास्थवीरान् प्रजास्थपुरुषांश्च हर्षयित्वा शत्रून्विजयीत ॥ २० ॥

पदार्थः—हे (त्वष्टः) शत्रुबलविदारक (देव) दिव्यविद्यासंपन्न सेनापति ! आप (अवसे) रक्षा आदि के लिये (अङ्गे अङ्गे) जैसे अङ्ग अङ्ग में(ऐन्द्रः) इन्द्र अर्थात् जीव जिस का देवता है वह सब शरीर में ठहरने वाला प्राणवायु सब वायुओं को तिरस्कार कर्त्ता हुआ आपही प्रकाशित होता है वैसे आप संग्राम में

सब शत्रुओं का तिरस्कार करते हुए (निदीध्यत्) प्रकाशित हूजिये अथवा (अङ्गे अङ्गे) जैसे अङ्ग अङ्ग में (उदानः) अन्न आदि पदार्थों को ऊर्ध्व पहुंचाने वाला उदानवायु प्रवृत्त है वैसे अपने विभव से सब वीरों को उन्नति देते हुए संग्राम में (निधीतः) निरंतर स्थापित किये हुए के समान प्रकाशित हूजिये (यत्) जो (ते) आप का (विषुरूपम्) विविध रूप (सलक्ष्म) परस्पर युद्ध का लक्षण (भवाति) हो वह (संग्रामे) संग्राम में (भूरि) विस्तार से (संसम्) (एतु) प्रवृत्त हो। हे सेनाध्यक्ष! तेरी रक्षा के लिये सब शूर वीर पुरुष (सखायः) मित्र होके वर्तें (माता) माता (पितरः) पिता, चाचा, ताऊ, भृत्य और शुभचिन्तक (देवत्रा) देवों अर्थात् विद्वानों, धर्मयुक्त युद्ध और व्यवहार को (यंतम्) प्राप्त होते हुए (त्वा) तेरा (अनुमदन्तु) अनुमोदन करें ॥ २० ॥

भावार्थः—सेनापति सब प्राणियों का मित्र भाव वर्त्तने वाला जैसे प्रत्येक अङ्ग में प्राण और उदान प्रवर्तमान हैं वैसे संग्राम में विचरता हुआ सेना और प्रजा पुरुषों को हर्षित करके शत्रुओं को जीते ॥ २० ॥

समुद्रं गच्छेत्यादेर्दीर्घतमा ऋषिः। सेनापतिर्देवता। याजुष्यउष्णिषश्छन्दांसि। ऋषभः स्वरः ॥

अथ राजकर्मानुष्ठातुमर्हाय शिष्याय गुरुः किं किमुपदिशेदित्याह ॥

अब राज्य कर्म करने योग्य शिष्य को गुरु क्या २ उपदेश करे यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

समुद्रङ्गच्छ स्वाहान्तरिक्षङ्गच्छ स्वाहा देवꣳसवितारङ्गच्छ स्वाहा ॥ मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दांꣳसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा

दि॒व्यन्नभो॑ गच्छ॒ स्वाहा॒ग्निं वै॑श्वान॒रं ग॑च्छ॒ स्वाहा॑ मनो॑ मे॒ हार्दि॑ यच्छ॒ दिवं॑ ते धू॒मो ग॑च्छतु॒ स्व॒र्ज्योतिः॑ पृथि॒वीं भस्म॒नापृ॑ण॒ स्वाहा॑ ॥ २१ ॥

स॒मु॒द्रम् । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । अ॒न्तरि॑क्षम् । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । दे॒वम् । स॒वि॒तार॑म् । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । मि॒त्रावरु॑णौ । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । अ॒हो॒रा॒त्रे इत्य॑होरा॒त्रे । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । छन्दां॑सि । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॒ द्यावा॑-पृथि॒वी । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । य॒ज्ञम् । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । सोम॑म् । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । दि॒व्यम् । नभः॑ । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । अ॒ग्निम् । वै॒श्वा॒न॒रम् । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ । मनः॑ । मे॒ । हार्दि॑ । य॒च्छ॒ । दिव॑म् । ते॒ । धू॒मः । ग॒च्छ॒तु॒ । स्वः॑ । ज्योतिः॑ । पृ॒थि॒वीम् । भस्म॑ना । आ । पृ॒ण॒ । स्वाहा॑ ॥ २१ ॥

पदार्थः—(समुद्रम्) समुद्रवन्ति जलानि यस्मिन् तमुदधिम् (गच्छ) (स्वाहा) बृहन्नौकारचनादिविद्यासिद्धेन यानेन (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (गच्छ) (स्वाहा) खगोलप्रकाशिकया विद्यया सम्पादितेन विमानेन (देवम्) द्योतमानम् परमेश्वरम् (गच्छ) जानीहि । (स्वाहा) वेदवाचा सत्सङ्गसंस्कृतया वा (मित्रावरुणौ) प्राणोदानौ । (गच्छ) प्राणायामाभ्यासेन विद्धि । (स्वाहा) योगयुक्तया वाचा (अहोरात्रे) अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रे हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि । अ० २ । ४ । २८ । अनेन नपुंसकत्वम् । (गच्छ) कालविद्यया जानीहि याहि वा (स्वाहा) ज्योतिर्बोधयुक्तया वाचा (छन्दांसि) ऋग्यजुः सामाथर्वाणश्चतुरो वेदान् । (गच्छ) पठनपाठनपुरस्सरेण श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्कारेण विजानीहि । (स्वाहा) वेदाङ्गादिविज्ञानसहितया वाचा । (द्यावापृथिवी) द्यौश्च पृथिवी च तौ भूमिसूर्यौ तद्गतावभीष्टदेशदेशान्तरावितियावत् (गच्छ) जानीहि (स्वाहा) भूमियानाकाशयानरचनभूगोलभूगर्भखगोलविद्यया (यज्ञम्) अग्निहोत्रशिल्पराजव्यवहारादिकम् (गच्छ) (सोमम्) ओषधिसमूहम् (गच्छ) जानीहि (स्वाहा) वैद्यकशास्त्रबोधार्हया वाचा (दिव्यम्) व्यवहर्त्तव्यं शुद्धम् (नभः) जलम् (गच्छ) प्राप्नुहि (स्वाहा) तद्गुणविज्ञापयित्र्या वाचा (अग्निम्) विद्युतम् (वैश्वानरम्) सर्वत्र प्रकाशमानम् (गच्छ) जानीहि (स्वाहा) तद्बोधयुक्तयावाण्या (मनः) चित्तम् (मे) मम (हार्द्दि) हृदयस्यातिशयेन प्रियम् (गच्छ)

निधेहि (दिवम्) सूर्यम् (ते) तव (धूमः) यन्त्रज्वलनवाष्पः (स्वः) सुखम् (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् (ज्योतिः) ज्वालाम् (पृथिवीम्) भस्मना (आ) समन्तात् (पृण)योजय (स्वाहा) यज्ञानुष्ठानयन्त्ररचनविद्या। अयम्मन्त्रः शत० ३ । ६ । ५ । ११–१८ तथा ७ । १ । १-५ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे राजकर्मानुष्ठानार्हविद्वंस्त्वं स्वाहा समुद्रं गच्छ । स्वाहान्तरिक्षं गच्छ । स्वाहा देवं सवितारं गच्छ । स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ । स्वाहाहोरात्रे गच्छ । स्वाहा यज्ञं गच्छ । स्वाहा सोमं गच्छ । स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ । स्वाहाग्निं वैश्वानरं च गच्छ । मे मह्यं मनो हार्दिं गच्छ । ते तव धूमो दिव्यं ज्योतिः स्वर्गच्छतु । त्व स्वाहा भस्मना पृथिवीमापृण ॥ २१॥

भावार्थः—धर्मादिराज्यव्यापारकरणवृत्तिमद्भीप्सुभिर्जनैर्भूमियानान्तरिक्षयानाकाशयानैर्विविधयन्त्रकलारचनैश्च सर्वाः सामग्रीः संपाद्य द्रव्यसंचयः कार्यः ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे धर्मादिराज्यकर्म करने योग्य शिष्य ! तू (स्वाहा) बड़े २ अश्वतरी नाव अर्थात् धुआंकश आदि बनाने की विद्या से नौकादि यान पर बैठ (समुद्रम्) समुद्र को (गच्छ) जा । (स्वाहा) खगोलप्रकाश करने वाली विद्या से सिद्ध किये हुए विमानादियानों से (अन्तरिक्षम्) आकाश को (गच्छ) जा । (स्वाहा) वेद वाणी से (देवम्) प्रकाशमान (सवितारम्) सब को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर को (गच्छ) जान । (स्वाहा) वेद और सज्जनों के सङ्ग से शुद्ध संस्कार को प्राप्त हुई वाणी से (मित्रावरुणौ) प्राण और उदान को (गच्छ) जान । (स्वाहा) ज्योतिषविद्या से (अहोरात्रे) दिन और रात्रि वा उन के गुणों को(गच्छ) जान (स्वाहा) वेदाङ्ग विज्ञान सहित वाणी से (छन्दांसि) ऋग्यजुःसाम और अथर्व इन चारों वेदों को (गच्छ) अच्छे प्रकार से जान । (स्वाहा) भूमियान आकाश मार्ग विमान और भूगोल वा भूगर्भ आदि यान बनाने की विद्या से (द्यावापृथिवी) भूमि और सूर्यप्रकाशस्थ अभीष्ट देश देशान्तरों को (गच्छ) जान और प्राप्त हो । (स्वाहा) संस्कृत वाणी से (यज्ञम्)अग्निहोत्र कारीगरी और राजनीति आदि यज्ञ को (गच्छ) प्राप्त हो ।(स्वाहा) वैद्यक विद्या से (सोमम्) ओषधिसमूह अर्थात् सोमलतादि को (गच्छ) जान । (स्वाहा)जल के गुण और अवगुणों को बोध कराने वाली विद्या से (दिव्यम्) व्यवहार में लाने योग्य

पवित्र (नभः) जल को (गच्छ) जान और (स्वाहा) बिजली आग्नेयास्त्रादि तारबर्क़ी तथा प्रसिद्ध सब कलायंत्रों को प्रकाशित करने वाली विद्या से (अग्निम्) विद्युत् रूप अग्नि को (गच्छ) अच्छी प्रकार जान और (मे) मेरे (मनः) मन को (हार्दि) प्रीतियुक्त (गच्छ) सत्यधर्म में स्थित कर अर्थात् मेरे उपदेश के अनुकूल वर्त्ताव वर्त्त और (ते) तेरे (धूमः) कलाओं और यज्ञ के अग्नि का धूंआं (दिवम्) सूर्य्य प्रकाश को तथा (ज्योतिः) उस की लपट (स्वः) अन्तरिक्ष को (गच्छतु) प्राप्त हो और तू यन्त्रकला अग्नि में (स्वाहा) काष्ठ आदि पदार्थों को भस्मकर उस (भस्मना) भस्म से (पृथिवीम्) पृथिवी को (आपृण) ढांप दे ॥ २१ ॥

भावार्थः—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, राज्य, और बनिजव्यपार चाहने वाले पुरुष भूमियान, अन्तरिक्षयान और आकाशमार्ग में जाने आने के विमान आदि रथ वा नाना प्रकार के कलायंत्रों को बनाकर तथा सब सामग्री को जोड़ कर धन और राज्य का उपार्जन करें ॥ २१ ॥

मापइत्यस्यदीर्घतमा ऋषिः । वरुणोदेवता । ब्राह्मीस्वराडुष्णिक्छन्दः । ऋषभःस्वरः । सुमित्रियानइत्यस्य विराड्गायत्री छन्दः । षड्जःस्वरः ।

अथ बणिज्यार्थं राजप्रबन्धमाह ॥

अब बनिजव्यापार करने के लिये राज्य प्रबन्ध अगले मंत्र में कहा है ॥

मापो मौषधीर्हिंᳪंसीर्द्धाम्नोधाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च ॥ यदाहुरघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च । सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मः ॥ २२ ॥

मा । अपः । मा । ओषधीः । हिꣳसीः । धाम्नोधाम्नऽइतिधाम्नःधाम्नः । राजन् ! । ततः । वरुण । नः । मुञ्च । यत् । आहुः । अघ्न्याः । वरुणइति । शपामहे । सुमित्रियाऽइति सुमित्रियाः । नः । आपः । ओषधयः । सन्तु । दुर्मित्रियाऽइतिदुःमित्रियाः । तस्मै । सन्तु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः ॥ २२ ॥

पदार्थः—(मा) निषेधे (अपः) जलानि (मा) निषेधे (ओषधीः) यवादीन् (हिंसीः) (धाम्नोधाम्नः) स्थानात् स्थानात् (राजन्) सभापते ! (ततः) तस्मात् (वरुण) प्रशस्त (नः) अस्मान् (मुञ्च) (यत्) (आहुः) (अघ्न्याः) हन्तुमयोग्या गावस्ताः । अघ्न्या इति गोनामसु पठितम् । निघं० २ । ११ । (इति) अनेन प्रकारेण (वरुण) न्यायकारिन् ! (इति) प्रकारान्तरे (शपामहे) सुमित्रियाः (सुमित्राणीव) (नः) अस्मभ्यम् (आपः) (ओषधयः) (सन्तु) (दुर्मित्रियाः) (दुर्मित्राणीव (तस्मै) द्विषते (सन्तु) (यः) अमित्रः (अस्मान्) द्वेष्टि (यम्) (च) (वयम्) (द्विष्मः) ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे राजन् ! त्वमपओषधीश्च माहिंसीः । न केवलमिदमेव कुर्याः किन्तु ततोधाम्नोधाम्नोऽस्मान् मामुञ्च । हे वरुण अघ्न्या इति यद्वयमा आहुः

अघ्न्या इति यद्वदन्त आहुः वयं चैतं शपामहे ततस्त्वं मामुंच वयमपि न मुञ्चामः हे वरुण ! नःअस्मभ्यमापश्रोषधयश्च सुमित्रियास्सुमित्रवत् सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मै दुर्मित्रियाः शत्रुवत् सन्तु ॥ २२ ॥

भावार्थः—राजपुरुषाःप्रजाभ्योऽनीत्या धनं न गृह्णीयुः । राजरक्षणाय प्रतिज्ञांकुर्युरन्यायं वयं न करिष्याम इति दुष्टान् सततं दण्डयेयुरिति ॥२२॥

पदार्थः—हे (राजन) सभापति ! आप अपने प्रत्येक स्थानों में (आपः) जल और (ओषधीः) अन्न पान पदार्थ तथा छिपाने आदि वस्त्र के पदार्थों को (मा) मत (हिंसीः) नष्टकरो अर्थात् प्रत्येक जगह हम लोगों को सब चाहिते पदार्थ मिलते रहें न केवल यही करो किन्तु (ततः) उस (धाम्न) (धाम्नः) स्थान २ से (नः) हम लोगों को (मा) मत (मुञ्च) त्यागो । हे (वरुण) न्याय करने वाले सभापति किये हुए न्याय में (अघ्न्याः) न मारने योग्य गौ आदि पशुओं की शपथ है (इति) इस प्रकार जो आप कहते हैं और हम लोग भी (शपामहे) शपथ करते हैं आप भी उस प्रतिज्ञा को मत छोड़िये और हम लोग भी न छोड़ें। हे वरुण ! आप के राज्य में (नः) हम लोगों को (आपः) जल और ओषधियां (सुमित्रियाः) श्रेष्ठमित्र के तुल्य (सन्तु) हों तथा (यः) जो (अस्मान) हम लोगों से (द्वेष्टि) वैर रखता है (च) और (वयम्) हम लोग (यम्) जिस से (द्विष्मः) वैर करते हैं (तस्मै) उस के लिये वे ओषधियां (दुर्मित्रियाः) दुःख देने वाले शत्रु के तुल्य (सन्तु) हों ॥ २२ ॥

भावार्थः—राजा और राजाओं के कामदार लोग अनीति से प्रजा जनों का धन न लेवें किन्तु राज्य पालन के लिये राज पुरुष प्रतिज्ञा करें कि हम लोग अन्याय न करेंगे अर्थात् हम सर्वदा तुम्हारी रक्षा और डांकू चोर लम्पट लवाड़ कपटी कुमार्गी अन्यायी और कुकर्मियों को निरन्तर दण्ड देवेंगे ॥ २२ ॥

हविष्मतीरित्यस्य दीर्घतमाऋषिः । अप्, यज्ञ, सूर्यो, देवताः ।
निचृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

पुनरन्योन्यं मिलित्वा राजप्रजे केन किंकिंकुर्यातामित्याह ॥

फिर परस्पर मिल कर राजा और प्रजा किस से क्या २ करें इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

हविष्मतीरिमाऽआपो हविष्माँ२ ॥ ऽआविवासति । हविष्मान् देवोऽअध्वरो हविष्माँ२॥ ऽअस्तु सूर्य्यः ॥ २३ ॥

हविष्मतीः । इमाः । आपः । हविष्मान् । आ । विवासति । हविष्मान् । देवः । अध्वरः । हविष्मान् । अस्तु । सूर्य्यः ॥ २३ ॥

पदार्थः—(हविष्मतीः)प्रशस्तानि हवींषि विद्यन्ते यासुताः (इमाः) प्रत्यक्षाः (आपः) जलानि (हविष्मान्) प्रशस्तानि हवींषि विद्यन्ते यस्य वायोः सः । दीर्घादटिसमानपाद इति रुः । आतोऽटिनित्यमिति सानुनासिकत्वम् । (आ) समन्तात् (विवासति) सेवते । विवासतीति परिचरणकर्मसु पठितम् निघं० ५ । ३ । (हविष्मान्) (देवः) सुखयिता (अध्वरः) यज्ञः (हविष्मान्) अस्तु (सूर्य्यः) ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो यथेमा आपो हविष्मतीर्हविष्मत्यः स्युर्यं वायुर्हविष्मानेवाविवासति सर्वान्परिचरति देवोऽध्वरो हविष्मान् स्यात् सूर्यो हविष्मान् अस्तु भवेत् तथा भवन्तो यज्ञेनैतान् शुद्धान् कुर्वन्तु ॥ २३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । येन वायुजलसंयोगेनानेकानि सुखानि साध्यन्ते यैर्विविधदेशदेशान्तरगमनेनवस्तुप्रापणं भवति तैरेतत्

कर्म क्रियाविचक्षणएवंकर्त्तुं शक्नोति यो विविधक्रियाप्रकाशकोऽस्ति स यज्ञो वृष्ट्यादिसुखकरो भवति ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो! तुम उन कामों को किया करो कि जिन से (इमाः) ये (आपः) जल (हविष्मतीः) अनेक २ दान और आदान क्रिया शुद्धि और सुख देने वाले हों अर्थात् जिन से नाना प्रकार का उपकार किया लिया जाय (हविष्मान्) पवन उपकार अनुपकार को (आ) अनेक प्रकार (विवासति) प्राप्त होता है (देवः) सुख का देने वाला (अध्वरः) यज्ञ भी (हविष्मान्) परमानन्दप्रद (सूर्य्यः) तथा सूर्य्यलोक भी (हविष्मान्) सुगन्ध्यादियुक्त होके सुख दायक (अस्तु) हो ॥ २३ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। जिस वायु जल के संयोग से अनेक सुख सिद्ध किये जाते हैं, जिन से देश देशान्तरों में जाने से उत्तम वस्तुओं का पहुंचाना होता है उन अग्नि जल आदि पदार्थों से उक्त काम को क्रियाओं में चतुर ही पुरुष कर सकता है और जो नाना प्रकार की कारीगरी आदि अनेक क्रियाओं का प्रकाश करने वाला है वही यज्ञ वर्षा आदि उत्तम २ सुख का करने वाला होता है ॥२३॥

अग्नेर्वइत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

अमूर्य्येत्यस्य त्रिपाद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथ गृहपत्न्यो ब्रह्मचर्य्यमनुवर्त्तिनीः कन्याः किं किमुपदिशेयुरित्याह ॥

अब गृहपत्नी ब्रह्मचर्य्य के अनुकूल जो कन्याजन हैं उन को क्या २ उपदेश करें यह अगले मंत्र में कहा है ॥

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयीस्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयीस्थ विश्वेषान्देवानां भागधेयीस्थ॥ अमूर्या उपसूर्य्ये

याभिर्व्वा॒सूर्य्यः॑ स॒ह तानो॑ हिन्वन्त्वद्ध्व॒रम्॥२४॥

अ॒ग्नेः। वः॒। अ॒पन्नगृहस्येत्यपन्नगृहस्य। सद॑सि। सा॒द॒या॒मि॒। इ॒न्द्रा॒ग्न्योः। भा॒ग॒धेयी॒रिति॑ भा॒ग॒धेयीः॑। स्थ॒। मि॒त्रावरु॑णयोः। विश्वे॑षाम्। दे॒वाना॑म्। अ॒मूः। याः। उप॑। सूर्य्ये॑। याभिः॑। वा॒। सूर्य्यः॑। स॒ह। ताः। नः॒। हि॒न्व॒न्तु॒। अ॒ध्व॒रम्॥ २४॥

पदार्थः-(अग्नेः) विद्यादिगुणप्रकाशितस्य सभ्यजनस्य (वः) युष्मान् युष्माकं वा (अपन्नगृहस्य) अप्राप्तगृहस्यकुमारब्रह्मचारिणः। (सदसि) सीदन्ति बुद्धिविषयायस्मिन्निति सदः अध्ययनाध्यापननिमित्ता सभा तत्र (सादयामि) स्थापयामि (इन्द्राग्न्योः) सूर्यविद्युतोर्गुणानाम् (भागधेयीः) विभागविज्ञानयुक्ताः। नामरूपभागेभ्यः स्वार्थे धेयः प्रत्ययः अ० ५।४।३६ केवलमामकेत्यादिना अ० ४।१।३० ङीप् (स्थ) भवथ। (मित्रावरुणयोः) प्राणोदानयोः (विश्वेषाम्) सर्वेषाम् (देवानाम्) विदुषां पृथिव्यादीनां वा (अमूः) प्रत्यक्षाः (याः) (उप) (सूर्ये) सवितृलोके (याभिः) (वा) पक्षान्तरे (सूर्यः) सूर्यलोकः (सह) (ताः) (नः) अस्माकम् (हिन्वन्तु) प्रीणन्तु (अध्वरम्) गृहाश्रमक्रियासिद्धिकरं यज्ञम्॥ २४॥

अन्वय—हे ब्रह्मचारिण्यो यूयं या अमूः स्वयंवरविवाहं कृतवत्यः सन्ति इन्द्राग्न्योर्भागधेयीः स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयीः स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयीः स्थ ता वो गृहस्थान् अपन्नगृहस्याग्नेः सदस्यहं सादयामि या उपसूर्ये सूर्यगुणेषु तिष्ठन्ति वा याभिः सह सूर्यो वर्त्तते ता नोऽस्माकमध्वरं विवाहं कृत्वा हिन्वन्तु ॥ २४ ॥

भावार्थः— ब्रह्मचर्यधर्ममनुवर्त्तिनीनां कन्यानामविवाहितैः स्वतुल्यगुणकर्मस्वभावैः पुरुषैः सहैव विवाहकरणयोग्यतास्तीति हेतोर्गुरुपत्न्यो ब्रह्मचारिण्यः कन्यास्तादृशमेवोपदिशन्तु खल्वापत्काले कृतविवाहयोर्नियोगो भवितुमर्हति नान्यथेति ॥ २४ ॥

पदार्थः—हे ब्रह्मचारिणी कन्याओ ! (अमूः) वे (याः) जो स्वयंवर विवाह से पतियों को स्वीकार किये हुए हैं उन के समान जो (इन्द्राग्न्योः) सूर्य और बिजली के गुणों को (भागधेयीः) अलग २ जानने वाली (स्थ) हैं (मित्रावरुणयोः) प्राण और उदान के गुणों को (भागधेयीः) अलग २ जानने वाली (स्थ) हैं (विश्वेषाम्) विद्वान् और पृथिवी आदि पदार्थों के सेवने वाली (स्थ) हैं उन (वः) तुम सभों को (अपन्नगृहस्य) जिस को गृहकृत्य नहीं प्राप्त हुआ है उस ब्रह्मचर्य धर्मानुष्ठान करने वाले और (अग्नेः) सब विद्यादि गुणों से प्रकाशित उत्तम ब्रह्मचारी की (सदसि) सभा में मैं (सादयामि) स्थापित करती हूं और जो (याः)(उप) (सूर्ये) सूर्यलोक गुणों में उपस्थित होती हैं (वा) अथवा (याभिः) जिन के (सह) साथ (सूर्यः) सूर्यलोक वर्त्तमान जो सूर्य के गुणों में अति चतुर हैं (ताः वे सब (नः) हमारे (अध्वरम्) घर के काम काज को विवाह करके (हिन्वन्तु) बढ़ावें ॥ २४ ॥

भावार्थः— ब्रह्मचर्य धर्म को पालन करने वाली कन्याओं को अविवाहित ब्रह्मचारी और अपने तुल्य गुण कर्म स्वभाव युक्त पुरुषों के साथ विवाह करने की योग्यता है इस हेतु से गुरुजनों की स्त्रियां ब्रह्मचारिणी कन्याओं को वैसाही उपदेश करें कि जिस से वे अपने प्रसन्नता के तुल्य पुरुषों के साथ विवाह करके सदा सुखी रहें और जिस का पति वा जिस की स्त्री मरजाय और सन्तान की इच्छा हो वे दोनों नियोग करें अन्य व्यभिचारादि कर्म कभी न करें ॥ २४ ॥

हृदे त्वेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । सोमो देवता । आर्षी विराडनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

पुनस्ताः किं कुर्युरित्युपदिश्यते ॥

फिर वे क्या २ उपदेश करें यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा ऊर्ध्वमिममध्वरन्दिवि देवेषु होत्रा यच्छ ॥२५॥

हृदे । त्वा । मनसे । त्वा । दिवे । त्वा । सूर्याय । त्वा । ऊर्ध्वम् । इमम् । अध्वरम् । दिवि । देवेषु । होत्राः । यच्छ ॥ २५ ॥

पदार्थः— (हृदे) हृत्सुखाय । (त्वा) त्वाम । (मनसे) सदसन्मननाय (त्वा) त्वाम् (दिवे) सर्वसुखद्योतनाय (सूर्याय) सूर्यगुणाय (त्वा) त्वाम् (ऊर्ध्वम्) उत्कृष्टम् (इमम्) प्रत्यक्षम् (अध्वरम्) अविनस्वरं यज्ञम् (दिवि) शुभगुणप्रकाशे (देवेषु) विद्वत्सु (होत्राः) हवनकर्मानुष्ठातृः (यच्छ) उपगृह्णीहि । अयं मन्त्रः शत० ३ । ७ । ४ । ४–५ व्याख्यातः ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मचारिणि कन्ये ! त्वं यथा वयं सर्वा देवेषु स्वपतिषु समीपवर्तिन्यो होत्रा हवनकर्मानुष्ठात्र्यः स्मस्तथा भव यथा वयं हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वानुशास्मस्तथा दिवीममध्वरमूर्ध्वं यच्छ ॥२५॥

भावार्थः यथा पतिव्रताः स्वपतिषु तत्प्रियमाचरन्त्योऽग्निहोत्रादिकर्मसु निरताः स्युस्तथाविवाहानन्तरं ब्रह्मचारिणीभिर्ब्रह्मचारिभिरपिपरस्परम् मुवर्त्तितव्यमिति ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे ब्रह्मचारिणी कन्या ! तू जैसे हम सब (देवेषु) अपने सुख देने वाले पतियों के निकट रहने और अग्निहोत्र आदि कर्म का अनुष्ठान करने वाली हैं वैसी हो और जैसे हम (हृदे) सौहार्द सुख के लिये (त्वा) तुझे वा (मनसे) भला बुरा विचारने के लिये (त्वा) तुझे वा (दिवे) सब सुखों के प्रकाश करने के लिये (त्वा) तुझे वा (सूर्याय) सूर्य्य के सदृश गुणों के लिये (त्वा) तुझे शिक्षा करती हैं वैसे तू भी (दिवि) समस्त सुखों के प्रकाश करने के निमित्त (इमम्) इस (अध्वरम्) निरन्तर सुख देने वाले गृहाश्रम रूपी यज्ञ को (ऊर्ध्वम्) उन्नति (यच्छ) दिया कर ॥ २५ ॥

भावार्थः—जैसे अपने पतियों की सेवा करती हुई उन के समीप रहने वाली पतिव्रता गुरुपत्नी अग्निहोत्रादिकर्मों में स्थिर बुद्धि रखती हैं वैसे विवाह के अनन्तर ब्रह्मचारिणी कन्याओं और ब्रह्मचारियों को परस्पर वर्त्तना चाहिये ॥ २५ ॥

सोमराजन्नित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । गायत्रीछन्दः । षड्जः स्वरः ।
शृणोत्वित्यस्यार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ गुरुजनः क्षत्रियं शिष्यं प्रजाजनांश्च प्रत्युपदिशति ॥

अब गुरुजन क्षत्रिय शिष्य और प्रजाजन को उपदेश करता है
यह अगले मंत्र में कहा है ॥

सोमराजन्विश्वास्त्वम् प्रजा ऽ उपावरोह विश्वास्त्वाम्प्रजा ऽउपावरोहन्तु ॥ शृणोत्वग्निः समिधाहवम्मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च

देवीः श्रोताग्ग्रावाणो विदुषो न यज्ञꣳ शृणो-
तु देवः सविता हवम्मे स्वाहा ॥ २६ ॥

सोम । राजन् । विश्वाः । त्वम् । प्रजाऽइतिप्रजाः । उपावरोहेत्युपऽअवरोह । विश्वाः । त्वाम् । प्रजाऽइति- प्रजाः । उपावरोहन्त्वित्युपऽअवरोहन्तु । शृणोतु । अग्निः । समिधेतिसम् इधा । हवम् । मे । शृण्वन्तु । आपः । धिषणाः । च । देवीः । श्रोता । ग्रावाणः । विदुषः । न । यज्ञम् । शृणोतु । देवः । सविता । हवम् । मे । स्वाहा ॥ २६ ॥

पदार्थः—((सोम) प्रशस्तैश्वर्य्ययुक्त (राजन्) सर्वो- त्कृष्टगुणैः प्रकाशमान ! (विश्वाः) सर्वाः (त्वम्) (प्रजाः) पालनीयाः (उपावरोह) उपवर्त्तस्व (विश्वाः) सर्वाः (त्वा) पितरमपत्यानीव (प्रजाः) सुखायप्रजननीयाः (उपावरोहन्तु) समुपाश्रयन्तु (शृणोतु) (अग्निः) पावकः (समिधा) समिधेव (हवम्) अर्जनम् (मे) मम (शृण्वन्तु) (आपः) शुभगुणकर्मव्याप्ताः (धिषणाः) धृष्टावाचो यासां ताः । धिषणेतिवाङ्नाम०

निघं० १ । ११ (च) पक्षान्तरे (देवीः) विदुष्यः (श्रोत) शृणुत अत्रतस्य स्थाने तप् तनप् तनथनाश्च अ० ७ । १ । ४५ अनेन तवादेशः (द्व्योचतस्तिङ इतिदीर्घः) बहुलंछन्दसो तिश्लुलोपश्च । (ग्रावाणः) सदसद्विवेचका विद्वांसः ग्रावाणइति पदनामसु पठितम् नि० ५ । ३ । (विदुषः) (न) इव (यज्ञम्) (शृणोतु) (देवः) विद्याप्रकाशितः (सविता) ऐश्वर्य्यवान् (हवम्) (मे) मम (स्वाहा) स्तुतियुक्तावाग्यथा तथा । अयम्मन्त्रः शत० ३ । ७ । ६—२४ व्याख्यातः ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे सोमराज स्त्वं पितेवाग्निश्वाः प्रजा उपावरोह त्वां विश्वाः प्रजा अपत्यानीवोपावरोहन्तु । भवान् समिधाग्निरिवमे—मम प्रजाजनस्य हवं शृणोतु या आपो धिषणा देवीः देव्यः पत्न्यश्च मातरमिवस्त्रीत्वायं शृणवन्तु । हे ग्रावाणः स्तावका विद्वांसः सभासदो यूयं मम हवं श्रोत देवः सविताभवान् विदुषोयज्ञं न—इव मे मम हवं स्वाहा शृणोतु ॥ २६ ॥

भावार्थ—राजा प्रजाश्च परस्परानुमत्या सर्वान् राज्यव्यवहारान् पालयेयुरिति ॥ २६ ॥

पदार्थः– हे (सोम) श्रेष्ठ ऐश्वर्ययुक्त (राजन्) समस्त उत्कृष्ट गुणों से प्रकाशमान सभाध्यक्ष तू पिता के तुल्य (विश्वाः) समस्त (प्रजाः) प्रजा जनों का (उपावरोह) समीप वर्ती होकर रक्षा कर और (त्वा) तुझे (प्रजा) प्रजा जन पुत्र के समान (उपावरोहन्तु) आश्रित हों हे सभाध्यक्ष आप जैसे (समिधा) प्रदीप्त करने वाले पदार्थ से अग्निः) सर्व गुण वाला अग्नि प्रकाशित होता है वैसे (मे) मेरी (हवम्) प्रगल्भवाणी को (शृणोतु) सुन के न्याय से प्रकाशित हूजिये (च) और (आपः) सब गुणों में व्याप्त (धिषणाः) विद्या बुद्धि युक्त (देवीः) उत्तमोत्तम गुणों से प्रकाशमान तेरी पत्नी भी माताओं के

समान स्त्रीजनों के न्याय को (शृण्वन्तु) सुनें। हे (ग्रावाणः) सत् असत् के करने वाले विद्वान् सभासदो! तुम हम लोगों के अभिप्राय को हमारे कहने से (श्रोत) सुनो। तथा (देवः) विद्या से प्रकाशित (सविता) ऐश्वर्यवान् सभापति (वि-दुषः) विद्वानों के (यज्ञम्) यज्ञ के (न) समान (मे) हमारे प्रजा लोगों के (हवम्) निवेदन को (स्वाहा) स्तुतिरूप वाणी जैसे हो वैसे (शृणोतु) सुने ॥२६॥

भावार्थः— राजा और प्रजा जन परस्पर सम्मति से समस्त राज्य व्यवहारों की पालना करें ॥ २६ ॥

देवीरापइत्यस्यमेधातिथिर्ऋषिः। आपोदेवताः। निचृदार्षीत्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्ते कथं वर्त्तेरन्नित्युपदिश्यते॥

फिर राजा और प्रजा कैसे वर्त्ताव को वर्त्तें यह अगले मंत्र में कहा है ॥

देवीरापोऽअपान्नपाद्यो वऽऊर्म्मिर्हविष्यऽइन्द्रियावान्मदिन्तमः। तन्देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यः। येषां भाग स्थ स्वाहा ॥ २७ ॥

देवीः। आपः। अपाम्। नपात्। यः। वः। ऊर्म्मिः। हविष्यः। इन्द्रियावानितीन्द्रियऽवान्। मदिन्तमऽइति मदिन्ऽतमः। तम्। देवेभ्यः। देवत्रेति देवऽत्रा। दत्त। शुक्रपेभ्यऽइति शुक्रऽपेभ्यः। येषाम्। भागः। स्थ। स्वाहा ॥ २७ ॥

पदार्थः—(देवीः) दिव्याः (आपः) आप्ताःप्रजाः (अपां नपात्) अविनश्वरः (यः) (वः) युष्माकम् (ऊर्मिः) जलतरंग इव (हविष्यः) हविर्भ्यो हितः (इन्द्रियावान्) प्रशस्तानीन्द्रियाणि यस्मिन् सः (मदिन्तमः) मदयतीति मदी सोतिशयितः नाद्घस्य अ० ८।२।१७। इति मदिनशब्दान्नुमागमः (तम्) (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (देवता) दिव्यान् गुणान् (दत्त) (शुक्रपेभ्यः) शुक्रं वीर्यं रक्षन्ति तेभ्यः (येषाम्) (भागः) (स्थ) (स्वाहा) अयम्मन्त्रः शत० ३। ७। ४। ५ व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे आपोदेवीर्दिव्यःप्रजा यूयं राजभक्ता स्थ भवत शुक्रपेभ्यो देवेभ्यो येषां सोयुष्माकमपांनपादूर्मिरिवेन्द्रियावान् मदिन्तमो हविष्यो भागोस्ति तं स्वाहा सद्वाचा गृह्णीत तथा राजादयःसभ्या जन देवत्रा दिव्यान् भोगान् युष्मभ्यं प्रददति तथैतेभ्यो यूयमपि दत्त ॥ २७ ॥

भावार्थः—प्रजाजनानामिदमुचितमुत्कृष्टगुणं सभापतिं मत्वा राजपालनाय करं दत्वा न्यायं प्राप्नुयुरिति ॥ २७ ॥

पदार्थः हे (आपः) श्रेष्ठ गुणों में व्याप्त (देवीः) शुभकर्मों से प्रकाशमान प्रजालोगो तुम राजसेवी (स्थ) हो (शुक्रपेभ्यः) शरीर और आत्मा के पराक्रम के रक्षक (देवेभ्यः) दिव्यगुण युक्त विद्वानों के लिये (येषाम्) जिन (वः) तुम्हारा बलीरूप विद्वानों का (यः) जो (अपांनपात्) जलों के नाशरहित स्वाभाविक (ऊर्मिः) जल तरंग के सदृश प्रजा रक्षक (इन्द्रियावान्) जिस में प्रशंसनीय इन्द्रियां होती हैं और (मदिन्तमः) आनन्द देने वाला (हविष्यः) भोग के योग्य पदार्थों से निष्पन्न (भागः) भाग है वे तुम सब (तम्) उस को (स्वाहा) आदर के साथ ग्रहण करो जैसे राजादि सभ्यजन (देवत्रा) दिव्य भोग देते हैं वैसे तुमभी इन को आनन्द (दत्त) देओ ॥ २७ ॥

भावार्थः–प्रजाजनों को यह उचित है कि आपस में संमति कर किसी उत्कृष्टगुणयुक्त सभापति को राजा मान कर राज्य पालन के लिये कर देकर न्याय को प्राप्त हों ॥ २७ ॥

कार्षिरसीत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । प्रजा देवताः । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

अथाध्यापको जनः प्रतिजनं किं किमुपदिशेदित्युच्यते ॥

अब अध्यापक जन प्रत्येक जन को क्या२ उपदेश करे यह अगले मंत्र में कहा है ॥

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वा क्षित्या उन्नयामि । समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः ॥२८॥

कार्षिः । असि । समुद्रस्य । त्वा । अक्षित्यै । उत् । नयामि । सम् । आपः । अद्भिरित्यत्ऽभिः । अग्मत । सम् । ओषधीभिः । ओषधीः ॥ २८ ॥

पदार्थः—(कार्षिः) कर्षति हलेन भूमिमिति इञ् वपादिभ्य इतीञ् (असि) (समुद्रस्य) अन्तरिक्षस्य । समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् निघं० १। ३० (त्वा) त्वाम् (अक्षित्यै) (उत्) उत्कृष्टे (नयामि) (सम्) (आपः) जलानि (अद्भिः) जलैरेव (अग्मत) प्राप्नुत । लोडर्थे लुङ् (सम्) (ओषधीभिः) सोमादिभिः (ओषधीः) अयं मन्त्रः शत० ३ । ७ । ४ । ३१ । व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः-हे वैश्यजन त्वं कार्षिरसित्वां समुद्रस्याक्षित्यै उन्नयामि सर्वे यूयं यज्ञशोधिताभिरद्भिरेवापओषधीभिरोषधीः समग्मत ॥ २८ ॥

भावार्थः-क्षेत्रादिभूमिषु नानोषधयो जायन्तओषधीभिरग्निहोत्रादयो यज्ञा यज्ञैरन्तरिक्षं जलपरमाणुभिःपूर्णं भवतीति हेतोर्विद्वांसो निर्बुद्धिजनान् क्षेत्रादिषु नयन्ति कुतस्ते विद्याभ्यसितुं समर्था एव न भवन्तीति ॥ २८ ॥

पदार्थः-हे वैश्यजन ! तू (कार्षिः) हल जोतने योग्य (असि) है (त्वा) तुझे (समुद्रस्य) अन्तरिक्ष के (अक्षित्यै) परिपूर्ण होने के लिये (उत्, यामि) अच्छे प्रकार उत्कर्ष देता हूं तुम सब लोग (अद्भिः) यज्ञ शोधित जलों से (आपः) जल और (ओषधीभिः) ओषधियों से ओषधियों को (सम्) (अग्मत) प्राप्त होओ ॥ २८ ॥

पदार्थः-क्षेत्र आदि स्थानों में अनेक ओषधी उत्पन्न होती हैं ओषधियों से अग्नि-होत्र आदि यज्ञ यज्ञों से शुद्ध हुए जो जल के परमाणु ऊंचे होते हैं उन से आकाश भरा रहता है इस कारण विद्वान् लोग निर्बुद्धि जनों को खेती बारी ही के कामों में रखते हैं क्योंकि वे विद्या का अभ्यास करने को समर्थ ही नहीं होते हैं ॥ २८ ॥

यमग्नइत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता ।
भुरिगार्षी गायत्रीछन्दः । षड्जः स्वरः ।
अथ स विद्वांसं किमाहेत्युपदिश्यते ॥
अब वह अध्यापक को क्या कहता है यह अगले
मन्त्र में उपदेश किया है ॥

यमग्ने पृत्सुमर्त्यमवा वाजेषु यञ्जुनाः ।
मयन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥ २९ ॥

यम् । अग्ने । पृत्स्विति॑पृत्सु । मर्त्य॑म् । अवाः । वाजे॑षु । यम् । जुनाः । सः । यन्ता । शश्व॑तीः । इषः । स्वाहा ॥ २९ ॥

पदार्थः--(यम्) (अग्ने) सर्वगुणवर ! (पृत्सु) संग्रामेषु । पृत्स्विति संग्रामनामसुपठितम् निघं० २ । १७ । (मर्त्यम्) मनुष्यम् (अवाः) रक्षेः (वाजेषु) अन्ननिमित्तक्षेत्रादिषु (यम्) (जुनाः) गमयेः (सः) (यन्ता (शश्वतीः) अविनश्वराः (इषः) इष्यन्तेयास्ताः प्रजाः (स्वाहा) उत्साहिकया वाचा । अयं मंत्रः शत० ३ । ७ । ४ । ३१--३२ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः हे अग्ने त्वं पृत्सु यं मर्त्यमवा यं च वाजेषु जुनाः स शश्वतीरिषो यन्ता स्यात् ॥ २९ ॥

भावार्थः गुरुशिक्षया सर्वस्य सुखं वर्द्धत एव ॥ २९ ॥

पदार्थः--हे (अग्ने) सब कभी विवेक के करने वाले आप (पृत्सु) संग्रामों में (यम्) जिस मनुष्य को (अवाः) रक्षा करते और (वाजेषु) अन्न आदि पदार्थों की सिद्धि करने के निमित्त (यम्) जिसको (जुनाः) नियुक्त करते हो (सः) वह (शश्वतीः) निरंतर अनादिरूप (इषः) अपनी प्रजाओं का(यन्ता) निर्वाह करने हारा होता है अर्थात् उन के नियमों को पहुंचाता है॥ २९ ॥

भावार्थः--गुरु जनों की शिक्षा से सब का सुख बढ़ता ही है ॥ २९ ॥

देवस्यत्वेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । सवितादेवता ।
स्वराडार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ सभापतिः करधनप्रदं प्रजापुरुषं कथं स्वीकुर्य्यादित्युपदिश्यते ॥

अब सभापति करधन देने वाले प्रजाजन को कैसे स्वीकार करे यह गुरुजन का उपदेश अगले मंत्र में कहा है ॥

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे रावासि गभीरमिममध्वरङ्कृधीन्द्राय सुषूतमम् । उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तम्मधुमन्तम्पयस्वन्तन्निग्राभ्या स्थ देवश्रुतं स्तर्प्पयत मा ॥ ३० ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति बाहुभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्यामिति-हस्ताभ्याम् । आददे । रावा । असि । गभीरम् । इमम् । अध्वरम् । कृधि । इन्द्राय । सुषूतममिति-सुषूतमम् । उत्तमेनेत्युत्तमेन । ऊर्ज्जस्वन्तम् । मधु-मन्तमितिमधुमन्तम् । पयस्वन्तम् । निग्राभ्याऽइति-निग्राभ्याः । स्थ । देवश्रुतऽइतिदेवश्रुतः । तर्प्पयत । मा ॥ ३० ॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वसुखप्रदातुः (त्वा) त्वाम करधनदातारम (सवितुः) सकलैश्वर्य्यस्य प्रसवितुर्जगदीश्वरस्य (प्रसवे) प्रसूते जगति (अश्विनोः) सूर्य्याचन्द्रमसोः (बाहु-

भ्याम्) बलवीर्य्याभ्याम (पूष्णः) सोमाद्योषधिगणस्य (हस्ताभ्याम) रोगनाशकधातुसाम्यकारकाभ्यां गुणाभ्याम् (आददे) गृह्णामि (रावा) दाता (असि) (गभीरम्) अगाधगुणम् (इमम्) प्रत्यक्षम् (अध्वरम्) निष्कौटिल्यम् (कृधि) कुरु (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते मह्यम् (सुषूतमम्) सुष्ठु सूतं तम (उत्तमेन) प्रशस्तेनेव (पविना) वाचा पविरितिवाङ्नामसु पठितम् निघं० १ । ११ (ऊर्जस्वन्तम्) उत्तमपराक्रमसम्बन्धिनम् (मधुमन्तम्) प्रशस्तमध्वादिपदार्थयुक्तम् (पयस्वन्तम्) बहुदुग्धादिमन्तम् (निग्राभ्याः) नितरां ग्रहीतुं योग्याः (स्थ) भवथ (देवश्रुतः) या देवान् शृण्वन्ति ताः (तर्पयत) प्रीणीत (मा) माम । अयम्मन्त्रः शत: ३ । ९ । ४ । ३–६ व्याख्यातः ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे प्रजाजन अहं देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां रावासादद्दे त्वमिन्द्राय मह्यमुत्तमेन पविना वचसेमं गभीरं सुषूतममूर्जस्वन्तं काद्दायमध्वरं कृधि । हे देवश्रुतो प्रजा यूयं निग्राभ्या मया नितरां ग्रहीतुं योग्याः स्थ मा मामनेन तर्प्पयत ॥ ३० ॥

भावार्थः—प्रजाजनानां योग्यतास्ति राजानमागत्य तस्मै सर्वेषां स्वकीयपदार्थानां यथायोग्यमंशं दद्युर्यतः स भूमिगतपदार्थानामंशभागी भवतीति ॥ ३० ॥

पदार्थः—सब सुख देने (सवितुः) और समस्त ऐश्वर्य्य के उत्पन्न करने वाले जगदीश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में (अश्विनोः) सूर्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्याम्) बल और पराक्रम गुणों से (पूष्णः) पुष्टि करने वाले सोम आदि

ओषधिगण के (हस्ताभ्याम्) रोगनाश करने और धातुओं की समता रखने वाले गुणों से (त्वा) तुझ करधन देने वाले को (आददे) स्वीकार करता हूं तू (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य वाले मेरे लिये (उत्तमेन) उत्तम अर्थात् सभ्यताकी (पविना) वाणी से (इमम्) इस (गभीरम्) अत्यन्त समझने योग्य (सुषूतमम्) सब पदार्थों से उत्पन्न हुए (ऊर्जस्वन्तम्) राज्य को बलिष्ठ करने वाले (मधुमन्तम्) समस्त मधु आदि श्रेष्ठ पदार्थ युक्त (पयस्वन्तम्) दुग्धआदिसहित करधन को (अध्वरम्) निष्कपट (कृधि) कर दे (देवश्रुतः) श्रेष्ठ राज्य गुणों को सुनने वाले तुम मेरे (निग्राभ्याः) निरन्तर स्वीकार करने के योग्य (स्थ) हो (मा) मुझे इस करके देने से (तर्पयत) तृप्त करो ॥ ३० ॥

भावार्थः—प्रजा जनों की योग्यता है कि सभाध्यक्ष को प्राप्त होकर उस के लिये अपने समस्त पदार्थों से यथायोग्य भाग दें जिस कारण राजा, प्रजा पालन के लिये संसार में उत्पन्न हुआ है इसी से राज्य करने वाला यह राजा संसार के पदार्थों का अंश लेने वाला होता है ॥ ३० ॥

मनोमइत्यस्यमधुच्छन्दाऋषिः। प्रजासभ्यराजानोदेवताः। उष्णिपश्छन्दांसि। ऋषभः स्वरः ॥

अथ राजा सभ्यजनान् सभा राजानञ्च किमुपदिशेदित्याह ॥

अब राजा अपने सभासदों और सभा राजा को क्या उपदेश करे यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

मनो॑ मे तर्पयत॒ वाचं॑म्मे तर्पयत प्रा॒णम्मे॑ तर्प्पयत॒ चक्षु॑र्मे तर्प्पयत॒ श्रोत्रं॑म्मे तर्प्पयता॒त्मानं॑म्मे तर्प्पयत प्र॒जाम्मे॑ तर्प्पयत प॒शून्मे॑ तर्प्पयत ग॒णान्मे॑ तर्प्पयत ग॒णा मे॒ मा वितृ॑षन् ॥ ३१ ॥

मनः। मे। तर्प्पयत। वाचम्। मे। तर्प्पयत। प्राणम्। मे। तर्प्पयत। चक्षुः। मे। तर्प्पयत। श्रोत्रम्॥ मे। तर्प्पयत। आत्मानम्। मे। तर्प्पयत। प्रजामिति प्रजाम्। मे। तर्प्पयत। पशून्। मे। तर्प्पयत। गणान्। मे। तर्प्पयत। गणाः। मे। मा। वि। तृषन्॥ ३१॥

पदार्थः–(मनः) अन्तःकरणम् (मे) मम (तर्प्पयत) (वाचम्) (मे) (तर्प्पयत) (प्राणम्) (मे) (तर्प्पयत) (चक्षुः) (मे) (तर्प्पयत) (श्रोत्रम्) (मे) (तर्प्पयत) (आत्मानम्) (मे) (तर्प्पयत) प्रजाम् सन्तानादिकाम् (मे) (तर्प्पयत) (पशून्) गोहस्त्यश्वादीन् (मे) (तर्प्पयत) (गणान्) परिचारकादीन् (तर्प्पयत) (गणाः) (मे) मम (मा) निषेधार्थे (वि) विरुद्धार्थे (तृषन्) तृषिताभवन्तु अत्रलोडर्थे लुङ् अयं मन्त्रः शत० ३। ७। ४। ७–८ व्याख्यातः॥ ३१॥

अन्वयः–हे सभाजनाः प्रजाजना वा यूयं स्वगुणैर्मे ममनस्तर्प्पयत मे वाचं तर्प्पयत मे प्राणं तर्प्पयत मे चक्षुस्तर्प्पयत मे श्रोत्रं तर्प्पयत मे ममात्मानं तर्प्पयत प्रजां तर्प्पयत मे पशूंस्तर्प्पयत मे गणांस्तर्प्पयत यतो मे गणा मा वितृषन् तृषिता मा भवन्तु॥ ३१॥

भावार्थः–सभाधीनमेवराज्यप्रबंधो भवितुमर्हति । यतः सर्वे प्रजाजना राजसेवका राजजनाः प्रजासेविनो भूत्वा स्वेषु स्वेषु कर्म्मसु प्रवृत्यान्यो-न्यमभिमोदयेयुरिति ॥ ३१ ॥

पदार्थः—हे सभ्यजनो ! और प्रजाजनो ! तुम अपने गुणों से (मे) मेरे (मनः) मन को (तर्प्पयत) तृप्त करो मेरी (वाचम्) वाणी को (तर्प्पयत) तृप्त करो (मे) मेरे (प्राणम्) प्राण को (तर्प्पयत) तृप्त करो (मे) मेरे (चक्षुः) नेत्रों को (तर्प्पयत) तृप्त करो (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कानों को (तर्प्पयत) तृप्त करो (मे) मेरे (आत्मानम्) आत्मा को (तर्प्पयत) तृप्त करो (मे) मेरी (प्रजाः) संतानादि प्रजा को (तर्प्पयत) तृप्त करो (मे) मेरे (पशून्) गौ हाथी घोड़े आदि पशुओं को (तर्प्पयत) तृप्त करो (मे) मेरे (गणान्) सेवकों को (तर्प्पयत) तृप्त करो जिस से (मे) मेरे (गणाः) राज्य वा प्रजा कर्माधिकारी वा सेवक जन कामों में (मा) मत (वितृपन्) उदास हों ॥ ३१ ॥

भावार्थः—राज्य का प्रबन्ध सभाधीन ही होने के योग्य है जिस से प्रजाजन राज सेवक और राज पुरुष प्रजा की सेवा करने हारे अपने २ कामों में प्रवृत्त होके सब प्रकार एक दूसरे को आनन्दित करते रहें ॥ ३१ ॥

इन्द्रायत्वेत्यस्यमधुच्छन्दाऋषिः । सभापतीराजादेवता । पञ्चपाज्ज्योतिष्मतीजगतीछन्दः । निषादःस्वरः ॥

राज्यव्यवहारःसभाधीनएवनर्हि कस्मैप्रयोजनायप्रजा पुरुषैः सभापतिस्स्वीकार्य्यइत्युपदिश्यते ॥

जो राज्य व्यवहार सभा के ही आधीन हो तो किस लिये प्रजाजनों को सभापति का स्वीकार करना चाहिये यह अगले मंत्र में उपदेश किया है ॥

इन्द्रा॑यत्वा वसु॒मते॑ रु॒द्रव॑त॒ऽइन्द्रा॑य त्वादि॒त्यव॑त॒ इन्द्रा॑य त्वाभिमाति॒घ्ने श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृ॒तेऽग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे ॥ ३२ ॥

इन्द्राय । त्वा । वसुमत इति वसुमते । रुद्रवत इति रुद्रवते । इन्द्राय । त्वा । आदित्यवत इत्यादित्यवते । इन्द्राय । त्वा । अभिमातिघ्न इत्यभिमातिघ्ने । श्येनाय । त्वा । सोमभृते । अग्नये । त्वा । रायस्पोषदे ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(इन्द्राय) परमैश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (वसुमते) बहवो वसवश्चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यसंपन्ना विद्वांसो विद्यन्ते यत्र तस्मै कर्मणे (रुद्रवते) प्रशस्ताः कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्या विद्वांसो वीराः शत्रुरोदयितारो रुद्रा भवन्ति यत्र तस्मै (इन्द्राय) परमविद्याप्रकाशेनाविद्याविदारकाय (त्वा) त्वाम् (अभिमातिघ्ने) येनाभिमानयुक्ताः शत्रवो हन्यन्ते तस्मै (श्येनाय) श्येनवत्प्रवर्त्तमानाय (त्वा) त्वाम् (सोमभृते) यः सोममैश्वर्यसमूहं बिभर्त्तीति तस्मै (अग्नये) विद्युदाद्याय (त्वा) त्वाम् (रायः) धनस्य (पोषदे) पुष्टिप्रदाय सुपांसुलुगिति ङेःस्थाने "शे" इत्यादेशः । अयम् मन्त्रः शत० ३ । ७ । ४ । ९९ व्याख्यातः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे सभापते ! वयं रुद्रवतइन्द्राय त्वा आदित्यवत इन्द्राय त्वा अभिमातिघ्न इन्द्राय त्वा सोमभृते श्येनायत्वारायस्पोषदेऽग्नये त्वा त्वां वृणुमः ॥ ३२ ॥

भावार्थः—यइन्द्रानिलयमार्काग्निवरुणचंद्रविष्णुशानां गुणैर्युक्तो विद्वद्भिप्रियो विद्याप्रचारी सर्वेभ्यः सुखं दद्यात् सएव सर्वैराजा मंतव्य इति ॥३२॥

पदार्थः—हे सभापते ! (वसुमते) जिस कर्म में चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य से

बनकर अच्छे २ विद्वान होते हैं (रुद्रवते) जिस में चवालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य सेवन करते हैं उस (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त पुरुष के लिये (त्वा) आप को ग्रहण करते हैं (आदित्यवते) जिस में अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य वन कर सूर्य सदृश परम विद्वान होते हैं उस (इन्द्राय) उत्तम गुण पाने के लिये (त्वा) आप के (अभिमातिघ्ने) जिस कर्म में बड़े २ अभिमानी शत्रु जन मारेजायं उस (इन्द्राय) परमोत्कृष्ट शत्रु विदारक काम के लिये (त्वा) आप (सोमभृते) उत्तम ऐश्वर्य धारण करने हार (श्येनाय) युद्धादि कामों में श्येनपक्षी के तुल्य लपट झपट मारने वाले (त्वा) (आप) (रायस्पोषदे) धन की दृढ़ता देने के लिये और (अग्नये) विद्युत् आदि पदार्थों के गुण प्रकाश कराने के लिये (त्वा) आप को हम लोग स्वीकार करते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थः—जो इन्द्र अग्नि यम सूर्य वरुण और धनाढ्य के गुणों से युक्त विद्वानों का प्रिय विद्या का प्रचार करानेवाला सब को सुखदेव उसी को राजा मानना चाहिये ॥३२॥

यत्त इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः सोमो देवता भुरिग्गायत्री बृहती छन्दः मध्यमः स्वरः ।
ईदृशः सभापतिः प्रजाभ्यः किं प्रापयितुं शक्नोतीत्युपदिश्यते ।

ऐसा सभापति प्रजा को क्या लाभ पहुंचा सकता है यह
अगले मन्त्र में कहा है ॥

यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे तेनास्मै यजमानायोरुराये कृद्ध्यधि दात्रे वोचः ॥ ३३ ॥

यत् । ते । सोम । दिवि । ज्योतिः । पृथिव्याम् । उरौ । अन्तरिक्षे । तेन । अस्मै । यजमानाय । उरु ।

राये । कृधि । अधि । दात्रे । वोचः ॥ ३३ ॥

पदार्थः-(यत्) (ते) तव । सोम ! सकलैश्वर्यप्रेरक ! (दिवि) सूर्ये (ज्योतिः) ज्योतिरिव (पृथिव्याम्) (उरौ) विस्तृते (अन्तरिक्षे) अंतराल आकाशे (यत्) (अस्मै) (यजमानाय) परोपकारार्थं यज्ञानुष्ठात्रे (उरु) बहु (राये) धनाय (कृधि) कुरु (अधि) अधिकार्थे (दात्रे) (वोचः) उच्याः । अत्रलिङर्थे लुङ् छन्दस्यमाङ्योगे पीत्यडभावः । अयंमत्रः शत० ३ । ७ । ५ । ८२--१५ व्याख्यातः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे सोम सभापते ! ते तव यत् दिवि पृथिव्यां यदुरावंतरिक्षे ज्योतिरिव राज्यकर्मास्ति तेन त्वं दात्रे ऽस्मै यजमानायोरुकृधि रायेऽधिवोचश्च ॥ ३३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । सभापतिस्स्वराज्योत्कर्षेण विद्यादिशुभगुणकर्मसु सर्वाञ्जनान् सुशिक्ष्यनिरालस्यान् संपादयेत् यतस्ते पुरुषार्थमनुवर्तिनो भूत्वा धनादिपदार्थान् सततं वर्द्धयेयुरिति ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे (सोम) समस्त ऐश्वर्य के निमित्त प्रेरणा करने हारे सभापति ! (ते) तेरा यत् जो (दिवि) सूर्यलोक में (पृथिव्याम्) पृथिवी में और (यत्) जो (उरौ) विस्तृत (अन्तरिक्षे) आकाश में (ज्योति) जैसे ज्योति हो वैसा राजकर्म है (तेन) उस से तू (अस्मै) इस परोपकार के अर्थ (यजमानाय) यज्ञ करते हुए यजमान के लिये (उरु) (कृधि) अत्यन्त उपकार कर तथा (राये) धन बढ़ने के लिये (अधि, वोचः) अधिक २ राज्य प्रबंध कर ॥ ३३

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है सभापति राजा अपने राज्य के उत्कर्ष से सब जनों को निरालस्य करता रहे जिस से वे पुरुषार्थी हो कर धनादि पदार्थों को निरन्तर बढ़ावें ॥ ३३ ॥

श्वात्रास्थ इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । यज्ञो देवता ।
स्वराडार्षीपथ्याबृहती च्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथोक्तानां सभापत्यादिविदुषां पत्न्यः कीदृशकर्मानुष्ठात्र्यो भवन्त्वित्युपदिश्यते ॥

अब उक्तसभाध्यक्षादिकों की स्त्री कैसे कर्म करने वाली हों यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

श्वात्राः स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्त्ताऽअमृतस्य पत्नीः । ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत ॥ ३४ ॥

श्वात्राः । स्थ । वृत्रतुर इति वृत्रऽतुरः । राधोगूर्त्ता इति राधःऽगूर्त्ताः । अमृतस्य । पत्नीः । देवीः । देवत्रेति देवऽत्रा । इमम् । यज्ञम् । नयत । उपहूता इत्युपऽहूताः । सोमस्य । पिबत ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(श्वात्राः) श्वात्रं क्षिप्रं कर्मविज्ञानं वर्त्तते यासां ताः । अत्र अर्शआदित्वादच् श्वात्रमिति क्षिप्रनामसु पठितम् निघं० ५ । ३ (स्थ) भवत (वृत्रतुरः) वृत्रं मेघं तूर्यति यास्ता विद्युत इव । (राधोगूर्त्ताः) धनवृद्धिं न्य एव (अमृतस्य) अविनश्वरादिष्टस्य (पत्नीः) पत्न्यः (ताः) (देवीः) देदीप्यमानाः (देवत्रा) देवेषु पतिषु (इमम्) गृहसम्बन्धिनम् (यज्ञम्) संगन्तव्यम् (नयत) (उपहूताः) सामीप्यमाहूता (सोमस्य) सोमाद्योषधिनिष्पादितस्य सा-

रम् अत्रकर्मणिषष्ठी अयम्मन्त्रः शत० ३ । ७ । ५ । १६—१७ व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

अन्वयः हे देवीर्देव्यः पत्न्यः स्त्रियो यूयं वृत्रतुरइव राधोगूर्त्ता इव सत्यो यज्ञसहकारिण्यः श्वात्राः स्थ ता देवत्रेमं यज्ञं नयत उपहूताइवामृतस्य सोमस्यातिस्वादिष्ठं सोमाद्योषधिरसं पिबत ॥ ३४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यथा विदुष्यो विद्वत्स्त्रियः स्वधर्मव्यवहारेण स्वपतीन् प्रसादयन्ति तथैव पुरुषाः स्वाः स्त्रीस्सततं प्रसादयेयुरित्थं परस्परानुमोदेन गृहाश्रमधर्ममलंकुर्वंतु ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे (देवीः) विद्या युक्त स्त्रियो ! तुम (वृत्रतुरः) बिजली के सदृश मेघ की वर्षा के तुल्य सुखदायक की गति के तुल्य चलने (राधोगूर्त्ताः) धन का उद्योग करने (पत्न्यः) और यज्ञ में सहाय देने वाली (स्थ) हो (देवत्रा) तथा अच्छे २ गुणों से प्रकाशित विद्वान् पतियों में प्रीति से स्थित हो (इदम्) इस यज्ञ को (नयत) सिद्धि को प्राप्त किया कीजिये और (उपहूताः) बुलाई हुई अपने पतियों के साथ (अमृतस्य) अति स्वाद युक्त सोम आदि ओषधियों के रस को (पिबत) पीओ ॥ ३४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है जैसे विद्वानों की पत्नी स्त्रीजन स्वधर्म व्यवहार से अपने पतियों को प्रसन्न करती है उसी प्रकार पुरुष उन अपनी स्त्रियों को निरन्तर प्रसन्न करें ऐसे परस्पर अनुमोद से गृहाश्रमधर्म को पूर्ण करें ॥ ३४ ॥

घामसंर्त्स्थत्यस्यमधुच्छंदाऋषिः । द्यावापृथिवी देवते भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

पुनः स्त्रीपुरुषौ परस्परं कथं वर्त्तेयातामित्युपदिश्यते ॥

फिर स्त्री पुरुष परस्पर कैसा वर्त्ताव वर्त्तें यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

माभेर्म्मा संविक्था ऽऊर्ज्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्ज्जं दधाथाम् । पाप्मा हतो न सोमः ॥ ३५ ॥

मा । भेः । मा । सम् । विक्थाः । ऊर्ज्जम् । धत्स्व । धिषणेऽइति धिषणे । वीड्वीऽइति वीड्वी । सतीऽइति सती । वीडयेथाम् । ऊर्जम् । दधाथाम् । पाप्मा । हतः । न । सोमः ॥ ३५ ॥

पदार्थः— (मा)(भेः) मा बिभीयाः लिङर्थे लुङ् (मा) (सम्) (विक्थाः) भयंकम्पनं च कुर्याः (ऊर्ज्जम्) स्वशरीरात्मबलं पराक्रमं वा (धत्स्व) (धिषणे) द्यावापृथिव्याविव (वीड्वी) बलवती । वीड्वीति बलनामसु पठितम् निघं० २।९। (सती) सद्गुणयुक्ता (वीडयेथाम्) दृढबलौ भवेताम् (ऊर्ज्जम्) सन्तानादिभ्योऽपि बलं पराक्रमं च (दधाथाम्)(पाप्मा) अपराधः (हतः) नष्टः (न) इव (सोमः) ।अयं मन्त्रः शत० । २ । ७ । ५ । १८ व्याख्यातः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि! त्वं वीड्वी सती पत्युः सकाशात् माभेर्मा संविक्था ऊर्ज्जं धत्स्व । हे पुरुष ! त्वमप्येवं भवेर्युवां धिषणेइवोर्ज्जं दधाथां वीडयेथाम् एवमनुवर्तिनोर्युवयोः पाप्मा हतो भवतु सोमोन चन्द्रइवाल्हादशान्त्यादिगुणवृन्दः प्रकाशितो भवतु ॥३५॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । इत्थं स्त्रीपुरुषौ व्यवहारमनुवर्त्तेयातां यतः परस्परं भयोद्वेगौ नश्येतामात्मनो दृढोत्साहः प्रीतिर्गृहाश्रमव्यवहारासिद्धैश्वर्यं च वर्द्धेत दोषदुःखानि निवर्त्य चन्द्रइव परस्परमाह्लादकारिणौ भवेताम् ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! तू (वीड्वी) शरीरात्मबल युक्त होती हुई पति से (मा,भेः) मत डर (मा संविक्थाः) मत कंप और (ऊर्ज्जम्) देह और आत्मा के बल और पराक्रम को (धत्स्व) धारण कर । हे पुरुष ! तू भी वैसे ही अपनी स्त्री से वर्त । तुम दोनों स्त्री पुरुष (धिषणे) सूर्य्य और भूमि के समान परोपकार और पराक्रम को धारण करो जिस से (वीडयेथाम्) दृढ बल वाले हो ऐसा वर्त्ताव वर्तते हुए तुम दोनों का (पाप्मा) अपराध (हतः) नष्ट हो और (सोमः) चन्द्र के तुल्य आनन्द शान्त्यादि गुण बढ़ा कर एक दूसरे का आनन्द बढ़ाते रहो ॥ ३५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है । स्त्री पुरुष ऐसे व्यवहार में वर्त्तें कि जिस से उन का परस्पर भय और उद्वेग नष्ट हो कर आत्मा की दृढता, उत्साहता और गृहाश्रम व्यवहार की सिद्धि से ऐश्वर्य्य बढ़े और वे दोष तथा दुःख को छोड़ चन्द्रमा के तुल्य आल्हादित हों ॥ ३५ ॥

अथैनयोरपत्यानि किं२ कुर्युस्तां कथं पालयेयुरित्याह ॥

अब उनके पुत्र क्या२ करें और वे पुत्रों को कैसे पालें यह अगले मंत्र में कहा है ॥

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वादिश ऽआधावन्तु अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् ॥ ३६ ॥

प्राक् । अपाक् । उदक् । अधराक् । सर्वतः । त्वा । दिशः । आधावन्तु । अम्ब । निः । पर । सम् । अरीः । विदाम् ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(प्राक्) पूर्वस्याः (अपाक्) पश्चिमायाः (उदक्) उत्तरस्याः (अधराक्) दक्षिणस्याः (सर्वतः) अन्याभ्यः (त्वा) त्वाम् (दिशः) (आ) समंतात् (धावंतु) (अम्ब) अम्बति प्रेमभावेन प्राप्नोति तत्सम्बुद्धौ। अम्बोणादिर्शन् प्रत्ययः। (निः) नितराम् (पर) पालय (सम्) (अरीः) सुखप्रापिकाः प्रजाः (विदां) विदताम्। विद ज्ञानइत्यस्माल्लुटि प्रथमबहुवचने लोपस्त आत्मनेपदेषु अ०। ७। १। ४८ अनेन तकारलोपे सवर्णदीर्घे विदामितिरूपम्। अयं मंत्रः शत० ३। ७। ५। २०—२३॥ ३६॥

अन्वयः—हे अम्ब! त्वं या अरीः सुखप्रापिकाः प्रजाः ते प्रागपागुदगधराक् सर्वतोदिशस्त्वामाधावन्तु तास्त्वं निष्पर नितराम् रक्ष ता अपि त्वा त्वां संविदाम् जानन्तु॥३६॥

भावार्थः—मातापित्रोर्योग्यतास्ति स्वापत्यानि विद्यादिसद्गुणेषु नियोज्य निरंतरं रक्षणीयानि अपत्यानां योग्यतास्ति सर्वतः पित्रोः सेवनं कुर्युरिति॥३६॥

पदार्थः—हे अम्ब) प्रेम से प्राप्त होने वाली माता! जो तेरी (अरीः) संतानादि प्रजा (प्राक्) पूर्व (अपाक्) पश्चिम (उदक्) उत्तर (अधराक्) दक्षिण और भी (सर्वतः) सब (दिशः) दिशाओं से (त्वा) तुझे (आ) (धावंतु) धाय धाय प्राप्त हों उन्हें (निः) (पर) निरन्तर प्यार कर और वे भी तुझे (सम्) अच्छे भाव से जानें॥३६॥

भावार्थः—माता और पिता को योग्य है कि अपने संतानों को विद्यादि अच्छे २ गुणों में प्रवृत्त कराकर अच्छे प्रकार उन के शरीर की रक्षा करें अर्थात् जिस से वे नीरोग शरीर और उत्साह के साथ गुण सीखें और उन पुत्रों को योग्य है कि माता पिता की सब प्रकार से सेवा करें॥३६॥

त्वमङ्गइत्यस्य गौतमऋषिः। इन्द्रोदेवता। भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। गांधारः स्वरः।

अथ प्रजाजनाः कृतं सभापतिं कथं प्रशंसेयुरित्युपदिश्यते ॥

अब प्रजाजन किये हुए सभापति की प्रशंसा कैसे करें यह अगले मंत्र में उपदेश किया है ।

त्वमङ्ग प्रशꣳसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् । न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥३७॥

त्वम् । अङ्ग । प्र । शꣳसिषः । देवः । शविष्ठ । मर्त्यम् । न । त्वत् । अन्यः । मघवन्निति मघवन् । अस्ति । मर्डिता । इन्द्र । ब्रवीमि । ते । वचः ॥३७॥

पदार्थः—(त्वम्) (अङ्ग) संबोधने (प्र) (शंसिषः) प्रशंस । लेड्मध्यमैकवचनप्रयोगः । (देवः) शत्रून् विजिगीषुः (शविष्ठ) बहु शवो बलं विद्यते यस्य स शवस्वान् सोतिशयितस्तत्सम्बुद्धौ । अत्रः शव शब्दाद्भूम्न्यर्थे मतुप् तत इष्ठन् विन्मतोर्लुक् अ० ५ । ३ । ६५ । इति मतुपो लुक् टेः अ० ६ । १५५ अनेन टिलोपः । (मर्त्यम्) प्रजास्थं मनुष्यम् (न) निषेधे (त्वत्) (अन्यः) (मघवन्) ईश्वरइव समृद्धः (अस्ति) (मर्डिता) सुखयिता (इन्द्र) परमैश्वर्य्यान्वित (ब्रवीमि) (ते) तुभ्यम् (वचः) प्राक्प्रतिपादितं राजधर्मानुरूपं वचः । अयं मंत्रः शत० ३ । ७ । ५ । २४ व्याख्यातः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे अंग शविष्ठ मघवन्निन्द्र सभापते ! त्वं मर्त्यंप्रशंसिषो नत्वदन्यो र्डिता देवोस्त्यतोऽहं ते तुभ्यं वचो ब्रवीमि ॥ ३७ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः । यथा पक्षपातविरहः सर्वसुहृदीश्वरस्तदनुकूलः सभापतीराज्यधर्म्मानुवर्त्ती राजा प्रशंसनीयं प्रशंसयन् निन्द्यं निंदन् दण्डार्हं दंडयन् रक्षितव्यं रक्षन् सर्वेषामभीष्टं संपादयेत् ॥ ३७ ॥

अत्राध्याये राज्याभिषेकपुरःसरशिक्षा राज्यकृत्यं, प्रजाया राजाश्रयः, सभाद्दीक्षादिकृत्यं, विष्णोःपरमपदादिवर्णनं, सभाध्यक्षेण तदुपासनं, परस्परराजसभाकृत्यं, गुरुणा शिष्यस्वीकारस्तच्छिक्षाकरणं, यज्ञानुष्ठानं, हुतद्रव्यफलं, विद्वल्लक्षणं, मनुष्यकृत्यं, मनुष्याणां परस्परं वर्तमानं, दुष्टदोषनिवृत्तिफलमीश्वरात्किं किं प्रार्थनीयं, रणे योद्धृवर्णनं, युद्धकृत्यं, युद्धेऽन्योन्यवर्त्तमानप्रकारो योद्धृणामनुमोदनं, राज्यप्रबंधकरणं, तत्र साध्यसाधनं, राज्यकर्मकरणं प्रतीश्वरोपदेशो राज्यकर्मानुष्ठानं, राजप्रजाकृत्यं, प्रजाराजसभयोः परस्परानुमानं, प्रजया सभापत्युत्कर्षकरणं, प्रजाजनंप्रति सभापतिप्रेरणं, प्रजया स्वीकर्तव्यं, सभापतेर्लक्षणं, प्रजाराजसभयोः परस्परं प्रतिज्ञाकरणं, सभापतिस्वीकरणप्रयोजनं, प्रजासुखाय सभापतेः कर्तव्यकर्मानुष्ठानं सभापत्यादीनां पत्नीभिः किं किं कर्म कर्त्तव्यं, स्त्रीपुंसयोः परस्परमनुवर्त्तमानं, पितरौ प्रति संतानकृत्यं, सभापतिं प्रति प्रजाजनोपदेशवर्णनं चास्तीत्यतः पञ्चमाध्यायोक्तार्थैः सहास्य षष्ठाध्यायस्यार्थानां संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

पदार्थः—हे (अंग) शविष्ठ अत्यन्त बल युक्त (मघवन्) महाराज के समान (इन्द्र) ऋद्धि सिद्धि देनेहारे सभापते ! (त्वम्) आप (मर्त्यं) प्रजास्थ मनुष्य को (प्रशंसिषः) प्रशंसायुक्त कीजिये आप (देवः) देव अर्थात् शत्रुओं को अच्छे प्रकार जीतने वाले हैं (न) नहीं (त्वदन्यः) तुम से अन्य (मर्डिता) सुख देने वाला है ऐसा मैं (ते) आप को (वचः) पूर्वोक्त राज्यप्रबन्ध के अनुकूल वचन (ब्रवीमि) कहता हूं ॥ ३७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालंकार है। जैसे ईश्वर सर्व सुहृत् पक्षपात रहित है वैसे सभापति राज्यधर्म्मानुवर्त्ती राजा होकर प्रशंसनीय की प्रशंसा निंदनीय की निंदा दुष्ट को दण्ड श्रेष्ठ की रक्षा करके सब का अभीष्ट सिद्ध करे॥ ३७॥

इस अध्याय में राज्य के अभिषेक पूर्वक शिक्षा, राज्य का कृत्य, प्रजा को राजा का आश्रय, सभाध्यक्षादिकों का काम, विष्णु का परम पद वर्णन, सभाध्यक्ष को ईश्वरोपासना करनी, राजा प्रजा का आपस में कृत्य, गुरु को शिष्य का स्वीकार और उस शिष्य को शिक्षा करना, यज्ञ का अनुष्ठान, होम किये द्रव्य के फल का वर्णन, विद्वानों के लक्षण, मनुष्यकृत्य, मनुष्यों का परस्पर वर्त्तमान, दुष्ट दोष निवृत्ति फल, ईश्वर से क्या क्या प्रार्थना करनी चाहिये, रण में योद्धा का वर्णन, युद्धकृत्य निरूपण, युद्ध में परस्पर वर्त्ताव का प्रकार, वीरों को उत्साह देना, राज्यप्रबन्ध का कारण और साध्य साधन, राजा के प्रति ईश्वरोपदेश, राज्यकर्म का अनुष्ठान, राजा और प्रजा का कृत्य, राजा और प्रजा की सभाओं का परस्पर वर्त्ताव, प्रजा से सभापति का उत्कर्ष करना, प्रजा जन के प्रति सभा पति की प्रेरणा, प्रजा को स्वीकार करने के योग्य, सभापति की लक्षण, प्रजा और राज सभा की परस्पर प्रतिज्ञा करनी, सभापति के स्वीकार करने का प्रयोजन, प्रजा सुख के लिये सभापति के कर्तव्य कामों का अनुष्ठान, सभापत्यादिकों की पत्नियों को क्या करना चाहिये, स्त्री पुरुषों का परस्पर वर्त्ताव, माता पिता के प्रति संतानों का काम और सभापति के प्रति प्रजाजनों का उपदेश वर्णन है, इस से पंचम अध्याय में कहे हुए अर्थों के साथ इस छठे अध्याय के अर्थों की संगति है, ऐसा जानना चाहिये।

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतमहाविदुषां विरजानन्द सरस्वती स्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वती स्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये षष्ठाऽध्यायः पूर्त्तिमगात्॥ ६॥

ओ३म्

अथ सप्तमाध्यायस्य प्रारम्भः ॥

अब सप्तम अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रंतन्न आसुव ॥ १ ॥

वाचस्पतयइत्यस्य गोतम ऋषिः। प्राणो देवता। भुरिगार्च्यनुष्टुप्छन्दः ।
गांधारः स्वरः ॥

तस्य प्रथममंत्रे सृष्टिनिमित्तोबाह्याभ्यन्तरव्यवहार उपदिश्यते ॥

इस सप्तमअध्याय के प्रथम मंत्र में सृष्टि के निमित्त बाहर
और भीतर के व्यवहार का उपदेश है ॥

वाचस्पतये पवस्व वृष्णोऽअꣳशुभ्याङ्गभस्तिपूतः । देवो देवेभ्यः पवस्व येषांम्भागोऽसि ॥ १ ॥

वाचः । पतये । पवस्व । वृष्णः । अꣳशुभ्यामित्यꣳशुऽभ्याम् । गभस्तिपूतऽइतिगभस्तिऽपूतः । देवः । देवेभ्यः । पवस्व । येषाम् । भागः । असि ॥ १ ॥

पदार्थः—(वाचः) वाण्याः (पतये) पालकेश्वराय (पवस्व) पवित्रोभव (वृष्णः) वीर्य्यवतः (अंशुभ्याम्)

बाहुभ्यामिव (गभस्तिपूतः) गभस्तिभिः किरणैः पूतइव। गभस्तयइति रश्मिनामसु पठितम् निघं० १ । ५ । (देव) विद्वान् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (पवस्व) शुद्धोभव (येषां) विदुषाम् (भागः) भजनीयः (असि)॥ अयम्मन्त्रः शत० ४ । १ । १ । ८—११ व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! त्वंवाचस्पतये पवस्व वृष्णोंशुभ्या मिव बाह्याभ्यांतरव्यवहाराय गभस्तिपूतइव देवो भूत्वा येषां विदुषां भागोसि तेभ्यो देवेभ्यः पवस्व ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। सर्वेषां जीवानां योग्यतास्ति वेदपतिं सततं पूतं परमेश्वरं विज्ञाय विदुषां संगेन विद्यादिगुणेषु सुस्नाताः सत्यवागनुष्ठातारः स्युरिति ॥ १ ॥

पदार्थः–हे मनुष्य ! तू (वाचः) वाणी के (पतये) पालने हारे ईश्वर के लिये (पवस्व) पवित्र हो (वृष्णः) बलवान पुरुष के (अंशुभ्यां) भुजाओं के समान बाहर भीतर का व्यवहार होने के लिये जैसे (गभस्तिपूतः) सूर्य्य की किरणों से पदार्थ पवित्र होते हैं वैसे शास्त्रों से (देवः) दिव्य गुण युक्त विद्वान् होकर (येषां) जिन विद्वानों को (भागः) सेवन करने के योग्य है उन (देवेभ्यः) देवों के लिये (पवस्व) पवित्र हो ॥ १ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। सब जीवों को योग्य है कि वेदों की रक्षा करने वाले नित्य पवित्र परमात्मा को जान और विद्वानों के संग से विद्यादि उत्तम गुणों में निष्णात होकर सत्यवाणी के बोलने वाले हों ॥ १ ॥

मधुमतीरित्यस्य गोतमऋषिः। सोमोदेवता । निचृदार्षीपंक्तिश्छन्दः। पंचमः स्वरः ॥

मनुष्याः परस्परं कथं व्यवहरेयुरित्याह ॥

मनुष्य लोग परस्पर व्यवहार में कैसे वर्ते यह अगले मंत्र में कहा है ॥

मधुमतीर्न्नऽइषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्युन्नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्व्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ २ ॥

मधुमतीरिति मधुऽमतीः । नः । इषः । कृधि । यत् । ते । सोम । अदाभ्यम् । नाम । जागृवि । तस्मै । ते । सोम । सोमाय । स्वाहा । स्वाहा । उरु । अन्तरिक्षम् । अनु । एमि ॥ २ ॥

पदार्थः—(मधुमतीः) मधुरगुणवतीः (नः) अस्मभ्यम् (इषः) अन्नानि (कृधि) कुरु (यत्) यस्मात् (ते) तव (सोम) ऐश्वर्ययुक्त विद्वन् ! (अदाभ्यम्) अहिंसनीयम् (नाम) संज्ञा (जागृवि) जागरूकं प्रसिद्धं (तस्मै) (ते) तुभ्यम् (सोम) शुभकर्मसुप्रेरक (सोमाय) ऐश्वर्य्यस्यप्राप्तये (स्वाहा) सत्यांक्रियाम् (स्वाहा) सत्यां वाचम् (उरु) विस्तीर्णाम् (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् (अनु)(एमि) अनुगच्छामि । अयं मंत्रः शत० ४ । १ । १ । १२–२१ व्याख्यातः ॥२॥

अन्वयः—हे सोम ऐश्वर्य्ययुक्त विद्वंस्त्वं नोऽस्मभ्यं मधुमतीरिषस्कृधि तथा हे सोमाहं यत्यस्मात् ते तवादाभ्यं जागृवि नामास्ति तस्मै सोमाय ते तुभ्यं च स्वाहा सत्यां क्रियां स्वाहा सत्यां वाणीमन्तरिक्षं चान्वेमि ॥२॥

भावार्थः—मनुष्या यथा स्वसुखायान्नजलादिपदार्थान् सम्पादयेयुस्तथान्येभ्योपि देया यथा कश्चित् स्वस्य प्रशंसां कुर्य्यात् तथान्यस्य स्वयमपि कु-

र्थात् यथा विद्वांस सद्गुणवंतः सन्ति तथा तेऽपि भवेयुरिति ॥ २ ॥

पदार्थः—हे (सोम) ऐश्वर्य्य युक्त विद्वन् ! आप (नः) हम लोगों के लिये (मधुमतीः) मधुरादिगुणसहित (इषः) अन्न आदि पदार्थों को (कृधि) कीजिये तथा हे (सोम) शुभकर्मों में प्रेरणा करने वाले विद्वन ! मैं (यत्) जिस से (ते) आप का (अदाभ्यम्) अहिंसनीय अर्थात् रक्षा करने के योग्य (जागृवि) प्रसिद्ध (नाम) नाम है (तस्मै) उस (सोमाय) ऐश्वर्य की प्राप्ति और (ते) आप के लिये अर्थात् आप की आज्ञा वर्त्तने के लिये (स्वाहा) सत्यधर्म्म युक्त क्रिया (स्वाहा) सत्य वाणी और (उरु) (अन्तरिक्षं) अवकाश को (एमि) प्राप्त होता हूं ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य जैसे अपने सुख के लिये अन्न जलादि पदार्थों को संपादन करें वैसे ही औरों के लिये भी किया करें और जैसे कोई मनुष्य अपनी प्रशंसा करें वैसे ही औरों की आप भी किया करें जैसे विद्वान् लोग अच्छे गुण वाले होते हैं वैसे आप भी हों ॥ २ ॥

स्वांकृतइत्यस्य गोतमऋषिः । विद्वांसो देवताः । विराड्ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादःस्वरः ॥

पुनरात्मकृत्यमाह ॥

फिर अगले मन्त्र में आत्मक्रिया का निरूपण किया है ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा ॥ ३ ॥

स्वाङ्कृतऽइति स्वाम्ऽकृतः । असि । विश्वेभ्यः । इंद्रियेभ्यः । दिव्येभ्यः । पार्थिवेभ्यः । मनः । त्वा । अष्टु । स्वाहा । त्वा । सुभवेतिसुऽभव । सूर्य्याय । देवेभ्यः । त्वा । मरीचिपेभ्यइतिमरीचिऽपेभ्यः । देव । अंशो-ऽइत्यंशो । यस्मै । त्वा । ईडे । तत् । सत्यम् । उपरिप्रुतेत्युपरिप्रुता । भंगेन । हतः । असौ । फट् । प्राणाय । त्वा । व्यानायेतिविऽआनाय । त्वा ॥ ३ ॥

पदार्थः—(स्वाङ्कृतः) स्वयंकृतइव (असि) (विश्वेभ्यः) समस्तेभ्यः (इन्द्रियेभ्यः) श्रोत्रादिभ्यः (दिव्येभ्यः) दिवि भवेभ्यः (पार्थिवेभ्यः) पृथिव्यां विदितेभ्यः (मनः) शुद्धं विज्ञानं (त्वा) त्वाम् (अष्टु) व्याप्नोतु (स्वाहा) वेदोक्ता वाक् (त्वा) त्वाम् (सुभव) भवतीति भवः शोभनश्चासौ भवश्च सुभवस्तत्सम्बुद्धौ (सूर्य्याय) सवित्रे (देवेभ्यः) शोधकेभ्यो वाय्वादिभ्यः (त्वा) त्वाम् (मरीचिपेभ्य) किरणरक्षितृभ्यइव (देव) दिव्यात्मन् (अंशो) सूर्य्यवत् प्रकाशमान (यस्मै) (त्वा) त्वाम् (ईडे) स्तौमि (तत्) सत्यम् (उपरिप्रुता) उपरि प्रवते यस्तेन (भंगेन) मर्दनेन (हतः) नष्टः (असौ) शत्रुः (फट्) विशीर्णः (प्राणाय) जीवनहेतवे(त्वा)(व्यानाय) विविधमानयतियस्माइव (त्वा) त्वाम् । अयम्मन्त्रः शत० ४ । १ । १ । २२–२८ व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे अंशो देव दिव्यात्मन् यस्त्वं दिव्येभ्यो विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः पार्थिवेभ्यो मरीचिपेभ्यो देवेभ्यस्स्वाकृतोऽसि तं त्वां मनः स्वाहाऽऽप्नोतु हे सुभव यस्मै सूर्याय चराचरात्मने परमेश्वराय त्वामहमीडे तत्सत्यं परिप्रशंसां गृहाणोपरिप्रुतेव येन त्वया भंगेनाऽसौ शत्रुः फड्ढतस्तं त्वा त्वां प्राणायेडे व्यानाय त्वा त्वामीडे ॥ ३ ॥

भावार्थः—स्वयंभूभिर्जीवैर्देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि निर्मलीकृत्य धर्म्यव्यापारेषु प्रवर्त्य परमेश्वरोपासने च संस्थाय पुरुषार्थेन दुष्टान् हत्वा श्रेष्ठान् रक्षित्वानन्दितव्यमिति ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे (अंशो) सूर्य के तुल्य प्रकाशमान जो तू (दिव्येभ्यः) दिव्य (विश्वेभ्यः) समस्त (पार्थिवः) पृथिवी पर प्रसिद्ध (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों और (मरीचिपेभ्यः) किरणों के समान पवित्र करने वाले (देवेभ्यः) विद्वानों और वायु आदि पदार्थों के लिये (स्वाङ्कृतः) स्वयं सिद्ध (असि) है उस (त्वा) तुझ को (मनः) विज्ञान और (स्वाहा) वेद वाणी (अश्नु) प्राप्त हों। हे (सुभव) श्रेष्ठ गुणवान् होने वाले मैं सूर्याय सर्वप्रेरक चराचरात्मा परमेश्वर के लिये (त्वां) तेरी (ईडे) प्रशंसा करता हूं तू भी (तत्) उस प्रशंसा के योग्य (सत्यम्) सत्य परमात्मा को प्रीति से ग्रहण कर (उपरिप्रुता) सब से उत्तम उत्कर्ष पाने हारे तूने (भंगेन) मर्दन से (असौ) यह अज्ञान रूप शत्रु (फट्) झट (हतः) मारा उस (त्वाम्) तुझे (प्राणाय) जीवन के लिये प्रशंसित करता और (व्यानाय) विविध प्रकार के सुख प्राप्त करने के लिये (त्वा) तुझे प्रशंसा देता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थः—जीव आप ही स्वयंसिद्ध अनादिरूप हैं इस से इन को चाहिये कि देह प्राण इन्द्रियों और अंतःकरण को निर्मल धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त हो कर परमेश्वर की उपासना में स्थिर हो तथा पुरुषार्थ से दुष्टों को झट पट मार और भलों की रक्षा करके आनन्दित रहें ॥ ३ ॥

उपयामगृहीत इत्यस्य गोतमऋषिः। मघवा देवता।
आर्च्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनरात्मनाभ्यन्तरं कथं प्रयतितव्यमित्याह ॥

फिर मन से आत्मा के बीच में कैसे प्रयत्न करे यह उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन्पाहि सोमम् । उरुष्य राय एषो यजस्व ॥ ४ ॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । अन्तः । यच्छ । मघवन्निति मघऽवन् । पाहि । सोमम् । उरुष्य । रायः । आ । इषः । यजस्व ॥ ४ ॥

पदार्थः— (उपयामगृहीतः) उपायैर्यमैर्गृहीतइव (असि) (अंतः) आभ्यंतरस्थान् प्राणादीन् (यच्छ) निगृहाण (मघवन्) परमपूजित धनिसदृश ! (पाहि) रक्ष (सोमम्) योगसिद्धमैश्वर्यम् (उरुष्य) बहुना योगाभ्यासेनाविद्यादिक्लेशान्नंतय । अत्रोरुपपदात्षोऽन्तकर्म्मणीत्यस्मात् क्विप् ततो नामधातुत्वात् क्विप् ततो मध्यमैकवचनप्रयोगः । (रायः) ऋद्धिसिद्धिधनानि (आ) समंतात् (इषः) इच्छासिद्धीः (यजस्व) । अयं मंत्रः शत० ४ । १ । १ । १४ । व्याख्यातः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे योगजिज्ञासो ! यतस्त्वमुपयामगृहीतइवासि तस्मादंतर्यच्छ हे मघवन् सोमं पाहि क्लेशानुरुष्य यतो रायइष आयजस्व ॥ ४ ॥

भावार्थः—अत्रवाचकलुप्तोपमालङ्कारः । योगार्थिना यमादिभिर्योगांगैश्चित्तादीन्निरुध्याविद्यादिदोषान्निवार्य्य संयमेनर्द्धिसिद्धयो निष्पाद्याः स्युः ॥४॥

पदार्थः—हे योग चाहने वाले ! जिस से तू (उपयामगृहीतः) योग में प्रवेश करने वाले नियमों से ग्रहण किये हुए के समान (असि) है इस कारण (अन्तः) भीतरले जो प्राणादि पवन मन और इन्द्रियां हैं इन को (यच्छ) नियम में रख । हे (मघवन्) परम पूजित धनी के समान ! तू (सोमम्) योगविद्यासिद्ध ऐश्वर्य्य को (पाहि) रक्षा कर (उरुष्य) और जो अविद्या आदि क्लेश हैं उन को अत्यन्त योग विद्या के बल से नष्ट कर जिससे (रायः) ऋद्धि और । (इषः) इच्छासिद्धियों को (आयजस्व)अच्छे प्रकार प्राप्त हो ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है । योगजिज्ञासु पुरुष को चाहिये कि यम नियम आदि योग के अंगों से चित्त आदि अन्तःकरण की वृत्तियों को रोक और अविद्यादि दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि सिद्धियों को सिद्ध करें ॥ ४ ॥

अन्तस्तइत्यस्य गोतमऋषिः । ईश्वरो देवता । आर्षीपंक्तिश्छन्दः । पञ्चमःस्वरः ।

अथेश्वरः प्राथमकल्पिकाय योगिने विज्ञानमाह ।

अब ईश्वर जो योग में प्रथमही प्रवृत्त होता है उस के लिये विज्ञान का उपदेश अगले मंत्र से करता है ।

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् । सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥ ५ ॥

अन्तरित्यन्तः । ते । द्यावापृथिवी इतिद्यावापृथिवी । दधामि । अन्तः । दधामि । उरु । अन्तरिक्षम् । सजूरितिसऽजूः । देवेभिः । अवरैः । परैः । च । अन्त-

द्यामि इत्यन्तः ऽयामे । मघवन्निति॑मघवन् । मादयस्व ॥ ५ ॥

पदार्थः— (अन्तः) आकाशाभ्यन्तर इव (ते) तव (द्यावापृथिवी) भूमिसूर्य्याविव (दधामि) स्थापयामि (अन्तः) शरीराभ्यन्तरे (दधामि) स्थापयामि (उरु) बहु (अन्तरिक्षम्) अन्तरालमवकाशम् (सजूः) मित्र इव (देवेभिः) विद्वद्भिः (अवरैः) निकृष्टैः (परैः) उत्तमैश्वर्य्यव्यवहारैः (च) समुच्चये (अन्तर्यामे) यमानामयं यामः अन्तश्चासौयामश्च तस्मिन् (मघवन्) परमोत्कृष्टधनितुल्य ! (मादयस्व) हर्षयस्व । अयं मन्त्रः शत० ४ । १ । २ । १६ । व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मघवन् योगिन्नहं ते तवान्तर्द्यावापृथिवीइव विज्ञानादिपदार्थान् दधामि उर्वन्तरिक्षमन्तर्दधामि सजूस्त्वं देवेभिः प्राप्तैरवरैः परैश्च सहान्तर्यामे वर्त्तमानः सन्नस्मान् मादयस्व ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । ईश्वर उपदिशति ब्रह्माण्डे यादृशा यावंतः पदार्थाः संति तादृशास्तावंतो मम ज्ञाने वर्त्तन्ते योगविद्यादिरहितस्तान् द्रष्टुं न शक्नोति नहीश्वरोपासनया विना कश्चिद्योगी भवितुमर्हति ॥५॥

पदार्थः—हे (मघवन्) योगी ! मैं परमेश्वर (ते) तेरे (अंतः) हृदयाकाश में (द्यावापृथिवी) सूर्य्य भूमि के समान विज्ञानादि पदार्थों को (दधामि) स्थापित करता हूं तथा (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अवकाश को (अन्तः) शरीर के भीतर (दधामि) धरता हूं (सजूः) मित्र के समान तू (देवेभ्यः) विद्वानों से विद्या को प्राप्त हो के (अवरैः) (परैः) (च) थोड़े वा बहुत योग व्यवहारों से (अन्तर्यामी)

भीतरले नियमों में वर्त्तमान होकर अन्य सब को (मादयस्व) प्रसन्न किया कर॥ ५॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। ईश्वर का यह उपदेश है कि ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार के जितने पदार्थ हैं उसी प्रकार के उतने ही मेरे ज्ञान में वर्त्तमान हैं। योग विद्या को नहीं जानने वाला उन को नहीं देख सकता और मेरी उपासना के विना कोई योगी नहीं हो सकता है॥ ५॥

स्वाङ्कृतोसीत्यस्य गोतमऋषिः। योगी देवता। भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनरीश्वरो योगजिज्ञासुं प्रत्याह॥

फिर ईश्वर योगविद्या चाहने वाले के प्रति उपदेश करता है॥

स्वाङ्कृतोसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्य्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य ऽउदानाय त्वा॥ ६॥

स्वाङ्कृतऽइति स्वांऽकृतः। असि। विश्वेभ्यः। इन्द्रियेभ्यः। दिव्येभ्यः। पार्थिवेभ्यः। मनः। त्वा। अष्टु। स्वाहा। त्वा। सुभवेति सुऽभव। सूर्य्याय। देवेभ्यः। त्वा। मरीचिपेभ्यऽइति मरीचिपेभ्यः। उदानायेत्युत्ऽआनाय। त्वा॥ ६॥

पदार्थः--(स्वाङ्कृतः) स्वयंसिद्धोऽनादिस्वरूपः (असि) (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (इन्द्रियेभ्यः) कार्य्यसाधकतमेभ्यः (दिव्येभ्यः)निर्मलेभ्यः (पार्थिवेभ्यः) पृथिव्यांविदितेभ्यः (मनः) योगमननम् (त्वा) त्वां योगममीप्सुम् (अष्टु) प्राप्नोतु (स्वाहा) सत्यवचनरूपा-क्रिया (त्वा) त्वाम् (सुभव) सुष्ठ्वैश्वर्य(सूर्याय) सूर्यस्येव योगप्रकाशाय (देवेभ्यः) प्रशस्तगुणपदार्थेभ्यः (त्वा) त्वाम् (मरीचिपेभ्यः) रश्मिभ्यः । मरीचिपा-इतिरश्मिनामसु पठितम् निघं० १। ५ । (उदानाय) उत्कृष्टाय जीवनवलसाधनायैव (त्वा) त्वाम् । अयम्मन्त्रः शत० ४ । १ । २ । २१–२४ ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे सुभवयोगिंस्त्वंस्वाङ्कृतोस्यहं दिव्येभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरीचिपेभ्यश्च त्वा त्वां स्वीकरोमि पार्थिवेभ्यस्त्वा त्वां स्वीकरोमि यतस्त्वा त्वां मनः स्वाहा सत्यारूढाक्रिया चाष्टु ॥ ६ ॥

भावार्थः–यावन्मनुष्यः श्रेष्ठाचारी न भवति तावदीश्वरोऽपि तं न स्वीकरोति यावदयं न स्वीकरोति तावत्तस्यात्मबलं पूर्णं न भवति यावदिदं न जायते तावन्नात्यन्तं सुखं भवतीति ॥ ६॥

पदार्थः—हे (सुभव) शोभन ऐश्वर्य युक्त योगी तू (स्वाङ्कृतः) अनादि काल से स्वयंसिद्ध (असि) है मैं (दिव्येभ्यः) शुद्ध (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) प्रशस्त गुण और प्रशंसनीय पदार्थों से युक्त विद्वानों और (मरीचिपेभ्यः) योग के प्रकाश से युक्त व्यवहारों से (त्वा) तुझ को स्वीकार करता हूं (पार्थिवेभ्यः) पृथिवी पर प्रसिद्ध पदार्थों के लिये भी (त्वा) तुझ को स्वीकार करता हूं (सूर्याय) सूर्य के समान योग प्रकाश करने के लिये वा (उदानाय) उत्कृष्ट जीवन और बल के अर्थ (त्वां) तुझे ग्रहण करता हूं जिस से (त्वा) तुझे योग चाहने वाले को (मनः) योग समाधि

युक्त मन और (स्वाहा) सत्यानुष्ठान करने की क्रिया (अस्तु) प्राप्त हो ॥ ६॥

भावार्थः--मनुष्य जबतक श्रेष्ठाचार करने वाला नहीं होता तबतक ईश्वर भी उस को स्वीकार नहीं करता जबतक जिस को ईश्वर स्वीकार न करता है तबतक उस का पूरा २ आत्मबल नहीं हो सकता और जबतक आत्मबल नहीं बढ़ता तबतक उस को अत्यंत सुख भी नहीं होता ॥ ६ ॥

आवायोभूषेत्यस्य वसिष्ठऋषिः । वायुर्देवता । निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्योगिकृत्यमाह ॥

फिर योगी का कृत्य अगले मंत्र में कहा है ॥

आ वा॑यो भूष शुचिपाऽउप॑ नः स॒हस्रं॑न्ते नि॒युतो॑ विश्ववार॒ उपो॑ ते॒ऽअन्धो॒ मद्य॑ मयामि॒ य॒स्य देव दधि॒षे पूर्व॒पेयं॑ वा॒यवे॑ त्वा ॥ ७ ॥

आ । वा॒यो॒ऽइति॒वायो॑ । भू॒ष॒ । शु॒चि॒पा॒ऽइति॑शुचि॒ऽपाः । उप॑ । नः॒ । स॒हस्र॑म् । ते॒ । नि॒युत॒ऽइति॑नि॒ऽयुतः॑ । वि॒श्ववा॒रेति॑वि॒श्वऽवार । उपो॒ऽइत्युपो॑ । ते॒ । अंधः॑ । मद्य॑म् । अ॒या॒मि॒ । यस्य॑ । दे॒व॒ । द॒धि॒षे । पू॒र्व॒पेय॒मिति॑पूर्व॒ऽपेय॑म् । वा॒यवे॑ । त्वा॒ ॥ ७ ॥

पदार्थः--(आ) समंतात् (वायो) वायुरिव वर्त्तमान (भूष) अलंकुरु (शुचिपाः) शुचं पवित्रतां पालयतीति

शुचिपाः पवित्रपालक (उप) (नः) अस्मान् (सहस्रं) (ते) तव (नियुतः) नियुज्यंते ये तान् निश्चितान् शमादिगुणान् अत्र कर्म्मणि क्विप् (विश्ववार) विश्वान् सर्वानानंदान् वृणोति तत्सम्बुद्धौ (उपो) समीपम् (ते) (अंधः) अन्नम् (मद्यम्) तृप्तिप्रदम् (अयामि) प्राप्नोमि (यस्य)(देव) योगेनात्माप्रकाशित (दधिषे) धरसि (पूर्वपेयम्) पूर्वैः पातुं योग्यमिव (वायवे) (त्वा) त्वाम् अयं मंत्रः । शत० । ४ । १ । ३ । १८ ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे शुचिपावायो त्वं सहस्रं नियुत आभूष हे विश्ववार ते तव सकाशान्मद्यमन्धउपो अयामि हे देव यस्य ते तव पूर्वपेयमस्ति यच्च त्वं दधिषे तद्वायवे त्वा त्वाहं स्वीकरोमि ॥ ७ ॥

भावार्थः— अत्रवाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यो योगी प्राणइव सर्वानलंकरोति ईश्वरइव सद्गुणेषु व्याप्नोत्यन्नजलेइव सर्वान् सुखयति सएव योगे प्रभवति॥७॥

पदार्थः— हे (शुचिपाः) अत्यन्त शुद्धता को पालने और (वायो) पवन के तुल्य योग क्रियाओं में प्रवृत्त होने वाले योगी ! तू (सहस्रम्) हज़ारों (नियुतः) निश्चित शमादिक गुणों को (आभूष) सब प्रकार सुभूषित कर ! हे (विश्ववार) समस्त गुणों के स्वीकार करने वाले ! जो (ते) तेरा (मद्यम्) अच्छी तृप्ति देने वाला (अन्धः) अन्न है उस को (उपो) तेरे समीप (अयामि) पहुंचाता हूँ ! हे (देव) योग बल से आत्मा को प्रकाश करने वाले ! (यस्य) जिस तेरा (पूर्वपेयम्) श्रेष्ठ योगियों को रक्षा करने के योग्य योग बल है जिस को तू (दधिषे) धारण कर रहा है (वायवे) उस योग के जानने के लिये (त्वा) तुझे स्वीकार करता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है । जो योगी प्राण के तुल्य सब को भूषित करता ईश्वर के तुल्य अच्छे २ गुणों में व्याप्त होता है और अन्न वा जल के सदृश सुख देता है वही योग के बीच में समर्थ होता है ॥ ७ ॥

इन्द्रवायूइत्यस्य मधुच्छन्दाऋषिः । इन्द्रावायूदेवते ।
इन्द्रवायूइत्यस्यार्षीगायत्री छन्दः । उपयामगृहीत
इत्यस्यार्षी स्वराड् गायत्रीच्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स योगी कीदृशोभवतीत्युच्यते ॥
फिर वह योगी कैसा होता है यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

इन्द्रवायूऽइमे सुताऽ उप्रप्रयोभिरागतम् । इन्दवो वामुशन्ति हि । उपयामगृहीतोसि वायवऽइन्द्रवायुभ्यान्त्वैषते योनिः सजोषोभ्यां त्वा ॥८॥

इन्द्रवायूऽइतीन्द्रवायू । इमे । सुताः । उप । प्रयोभिरितिप्रयःऽभिः । आ । गतम् । इन्दवः । वाम् । उशन्ति । हि । उपयामगृहीतऽइत्युपयामऽगृहीतः । असि । वायवे । इन्द्रवायुभ्यामितीन्द्रवायुभ्याम् । त्वा । एषः । ते । योनिः । सजोषोभ्यामितिसजोषःऽभ्याम् । त्वा ॥८॥

पदार्थः–(इन्द्रवायू) प्राणसूर्यसदृशौ योगस्योपदेष्ट्रभ्यासिनौ (इमे) समक्षाः (सुताः) निष्पन्नाः पदार्थाः (उप) समीपे (प्रयोभिः) कमनीयैर्लक्षणैः (आ) (गतम्) आगच्छतम् । गम्लृ-

गतावित्यस्माद्बहुलं छन्दसीति शपोलुकि सति शित्वाभा-वाच्छ्रस्याभावोऽनुदात्तोपदेशेत्यादिनामलोपश्च (इन्दवः) सुखकारकाजलादिपदार्थाः । इन्दुरित्युदकनामसु पठितम् । निघं० १ । १२ । (वाम) युवां (उशन्ति) कामयन्ते (हि) सादृश्ये (उपयामगृहीतः) योगस्य यमनियमाङ्गैः सह स्वीकृतः (असि) (वायवे) वायुवद्दृत्यादिसिद्धये यद्वा वाति प्रापयति योगबलेन व्यवहारानिति वायुर्योग-विचक्षणस्तस्मै तादृशसम्पन्नाय (इन्द्रवायुभ्याम्) विद्यु-त्प्राणाभ्यामिव योगाकर्षणनिष्कर्षणाभ्यां (त्वा) त्वाम् (एषः) योगः (ते) तव (योनिः) गृहम् । योनिरितिगृहनामसु पठितम् निघं० ३ । ४ । (सजोषोभ्याम्) यौ जोषसा सेवनेन सह वर्त्तमानौ ताभ्याम् (त्वा) त्वाम् ॥८॥

अन्वयः—हे इन्द्रवायू हि यत इमे सुता इन्दवो वामुशन्ति तस्माद्युवा-मेतैः प्रयोभिः पदार्थैः सहैवोपयागमुपागच्छतम् । भो योगमभीप्सो त्वमनेना-ध्यापकेन वायवे उपयामगृहीतोऽसि । हे भगवन् ! योगाध्यापक एष योगस्ते तव योनिः सर्वदुःखनिवारक गृहमिवास्ति । इन्द्रवायुभ्यां जुष्टं त्वां तथा योगमभीप्सो सजोषोभ्यामृत्विग्यजमानाभ्यां जुष्टं त्वा त्वां चाहं वृणे ॥ ८ ॥

भावार्थः—तएव जना योगिनस्सिद्धाश्च भवितुं शक्नुवन्ति ये योगविद्या-भ्यासं कृत्वेश्वरमारभ्य भूमिपर्यन्तान् पदार्थान् साक्षात्कर्तुं प्रयतन्ते यमा-दिसाधनान्विताश्च योगे रमन्ते ये चैतान्सेवन्ते तेऽप्येतत्सर्वं प्राप्नुवन्ति नेतरे॥८॥

पदार्थः—हे (इन्द्रवायू) प्राण और सूर्य्य के समान योगशास्त्र के पढ़ने पढ़ाने वालो (हि) जिस से (इमे) (सुताः) ये उत्पन्न हुए (इन्दवः) सुख-कारक जलादि पदार्थ (वाम्) तुम दोनों को (उशन्ति) प्राप्त होते हैं इस से तुम (प्रयोभिः) इन मनोहर पदार्थों के साथ ही (आगतम्) अपना आगमन

जानो । भो योगचाहने वाले तू इस योगपदाने वाले अध्यापक से (वायवे) पवन के तुल्य योगसिद्धि को पाने के लिये अथवा योगबल से चराचर के ज्ञान की प्राप्ति के लिये (उपयामगृहीतः) योग के यम नियमों के साथ स्वीकार किया गया (असि) है । हे भगवन् योगाध्यापक (एषः) यह योग (ते) तुम्हारा (योनिः) सब दुःखों के निवारण करने वाले घर के समान है और (इन्द्रवायुभ्याम्) बिजली और प्राणवायु के समान योगवृद्धि और समाधि चढ़ाने और उतारने की शक्तियों से (जुष्टम्) प्रसन्न हुए (त्वा) आप को और हे योगचाहने वाले (सजोषाभ्याम्) सेवन किये हुए उक्त गुणों से प्रसन्न हुए (त्वा) तुझे मैं अपने सुख के लिये चाहता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थः—वे ही लोग पूर्ण योगी और सिद्ध हो सकते हैं जो कि योगविद्याऽभ्यास करके ईश्वर से लेके पृथिवी पर्य्यन्त पदार्थों को साक्षात् करने का यत्न किया करते और यमनियम आदि साधनों से युक्त योग में रम रहे हैं और जो इन सिद्धों का सेवन करते हैं वे भी इस योगसिद्धि को प्राप्त होते हैं अन्य नहीं ॥ ८ ॥

अयं वामित्यस्य गृत्समद ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । आर्षी गायत्रीच्छन्दः । उपयामगृहीतोसीत्यस्यासुरी गायत्री छन्दः । षड्जस्स्वरः ॥

पुनरध्यापकशिष्यकृत्यमाह ॥

फिर अध्यापक और शिष्य का कर्म अगले मंत्र में कहा है ।

अयं वां॑ मित्रावरुणा सु॒तः सोम॑ ऋतावृधा । ममेदि॒ह श्रु॑तꣳ हव॑म् । उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोसि मि॒त्रा॒वरु॑णाभ्यां त्वा ॥ ९ ॥

अ॒यम् । वा॒म् । मि॒त्रा॒व॒रु॒णा॒ । सु॒तः । सोम॑ । ऋ॒ता॒वृ॒धे॒त्यृ॑तऽवृधा । मम॑ । इत् । इ॒ह । श्रु॒तम् ।

हवम् । उपयामगृहीतइत्युपयामऽगृहीत । असि ।
मित्रावरुणाभ्याम् । त्वा ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अयं) (वाम्) युवयोः (मित्रावरुणा) प्राणोदानाविव वर्त्तमानौ (सुतः) निष्पादितः (सोमः) योगैश्वर्य वृन्दः (ऋतावृधा) यौ ऋतं विज्ञानं वर्द्धयतस्तौ (इत्) इव (इह) अस्मिन् योगविद्याग्राहके व्यवहारे (श्रुतम्) शृणुतम् (हवम्) स्तुतिसमूहम् (उपयामगृहीतः) (असि) (मित्रावरुणाभ्याम्) (त्वा) त्वाम् । अयं मंत्रः शत० ४ । १ । ४ । ७ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मित्रावरुणा ऋतावृधाध्यापकाध्येतारौ वां युवयोरयं सोमः सुतोऽस्ति युवामिह मम हवं श्रुतं हे यजमान यतस्त्वमुपयामगृहीत इदेवास्यतोऽहं मित्रावरुणाभ्यां सह वर्त्तमानं त्वा त्वां गृह्णामि ॥ ९ ॥

भावार्थः—अत्रवाचकलुप्तोपमालंकारः । मनुष्याणामुचितमेतद्द्वियां गृहीत्वोपदेशं श्रुत्वा यमनियमान् धृत्वा योगाभ्यासेन सह वर्त्तितव्यम् ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे (मित्रावरुणा) प्राण और उदान के समान वर्त्तमान (ऋतावृधा) सत्य विज्ञान वर्द्धक योग विद्या के पढ़ने पढ़ाने वालो (वाम्)तुम्हारा (अयम्) यह (सोमः) योग का ऐश्वर्य (सुतः) सिद्ध किया हुआ है उस से तुम (इह) यहां (मम) योगविद्या से प्रसन्न होने वाले मेरी (हवम्) स्तुति को (श्रुतम्) सुनो, हे यजमान! जिस से तू (उपयामगृहीतः) अच्छे नियमों के साथ स्वीकार किया हुआ (इत्) ही (असि) है इस से मैं (मित्रावरुणाभ्याम्) प्राण और उदान के साथ वर्त्तमान (त्वा) तुझ को ग्रहण करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्यों को उचित है कि इस योग विद्या का ग्रहण श्रेष्ठ पुरुषों का उपदेश सुन और यमनियमों को धारण कर के योगाभ्यास के साथ अपना वर्ताव रक्खें ॥ ९ ॥

रायावयमित्यस्य त्रिसदस्युर्ऋषिः। मित्रावरुणौ देवते। ब्राह्मी बृहतीच्छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनरेतयोः कृत्यमाह ॥

फिर भी योग पढ़ने पढ़ाने वालों के कृत्य का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

राया व॒यꣳ स॑स॒वाꣳसो॑ मदेम ह॒व्येन॑ दे॒वा यव॑सेन॒ गावः॑ ॥ तां धे॒नुम्मि॑त्रावरुणा यु॒वन्नो॑ वि॒श्वाहा॑ धत्त॒मन॑पस्फुरन्तीमे॒ष ते॒ योनि॑र्ऋता॒युभ्यां॑ त्वा ॥ १० ॥

रा॒या। व॒यम्। स॒स॒वाꣳस॒ इति॑ सस॒ऽवाꣳसः॑। म॒दे॒म। ह॒व्येन॑। दे॒वाः। यव॑सेन। गावः॑। ताम्। धे॒नुम्। मि॒त्रा॒व॒रु॒णा॒। यु॒वम्। नः॒। वि॒श्वाहा॑। ध॒त्त॒म्। अन॑पस्फु॒र॒न्ती॒मित्यन॑पऽस्फुरन्तीम्। ए॒षः। योनिः॑। ऋ॒ता॒यु॒भ्या॒मित्यृ॑त॒युऽभ्याम्। त्वा ॥ १० ॥

पदार्थः—(राया) धनेन सह (वयम्) पुरुषार्थिनः (ससवांसः) संविभक्ताः (मदेम) हृष्येम (हव्येन) गृहीतव्येन

(देवाः) विद्वांसः (यवसेन) अभीष्टेन तृणबुसादिना (गावः) गवादयः पशवः (ताम्) (धेनुम्) धयति पिबत्यानन्दरसमनयाताम्। धेनुरिति वाङ्नामसु पठितम्। निघं० १। ११। (मित्रावरुणा) प्राणवत् सखायावुत्तमौ जनौ (युवम्) युवाम् (नः) अस्मभ्यम् (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (धत्तम्) (अनपस्फुरन्तीम्) विज्ञापयित्रीमिव योगविद्याजन्यां वाचम् (एषः) (ते) (योगः) (ऋतायुभ्याम्) आत्मन ऋतमिच्छद्भ्यामिव (त्वा) त्वाम्। अयम्मन्त्रः शत० ४। १। ४। १०। व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः — सधवांसो देवा वयं यवसेन गाव इव हव्येन राया मदेम हे मित्रावरुणा युवं युवां नोऽस्मभ्यं विश्वाहा—विश्वान्यहान्यनपस्फुरन्तीं तां धेनुं धत्तम् हे यजमान यस्यैष ते विद्याबोधो योनिरस्ति अत ऋतायुभ्यां सहितं त्वा त्वां वयमाददीमहे ॥ १० ॥

भावार्थः— अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। मनुष्यैः पुरुषार्थेन विद्वत्संगेन च परोपकारनिष्पादयित्रीं कामदुघां वेदवाचं प्राप्यानन्दयितव्यमिति ॥ १० ॥

पदार्थः— (हे सधवांसः) भले बुरे के अलग२ करने वाले (देवाः) विद्वानो! आप और (वयम्) हम लोग (यवसेन) तृण घास भूसा से (गावः) गौ आदि पशुओं के समान (हव्येन) ग्रहण करने के योग्य (राया) धन से (मदेम) हर्षित हों। और हे (मित्रावरुणा) प्राण के समान उत्तम जनो! (युवम्) तुम दोनों (नः) हमारे लिये (विश्वाहा) सब दिनों में (अनपस्फुरंतीम्) ठीक२ ज्ञान देने वाली (धेनुम्) वाणी को (धत्तम्) धारण कीजिये। हे यजमान! जिस से (ते) तेरा (एषः) यह विद्याबोध (योनिः) घर है इस से (ऋतायुभ्याम्) सत्य व्यवहार चाहने वालों के सहित (त्वा) तुझ को हम लोग स्वीकार करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः— इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालंकार हैं। मनुष्यों को चाहिये कि अपने पुरुषार्थ और विद्वानों के संग से परोपकार की सिद्धि और कामना को पूर्ण करने वाली वेद वाणी को प्राप्त होकर आनन्द में रहें ॥ १० ॥

याबाङ्कशेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। अश्विनौ देवते।
ब्राह्मीउष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥
पुनरप्येतयोः कर्त्तव्यमुपदिश्यते ॥
फिर भी इन योगविद्या पढ़ने पढ़ाने वालों के करने योग्य काम का
उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

या वाङ्कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तयां युज्ञम्मिमिक्षतम ॥ उपयामगृहीतोस्यश्विभ्यान्त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यान्त्वा ॥ ११ ॥

या। वाम्। कशा। मधुमतीतिमधुऽमती। अश्विना। सूनृतावतीतिसूनृताऽवती। तया। युज्ञम्। मिमिक्षतम्। उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। अश्विभ्यामित्यश्विऽभ्याम्। त्वा। एषः। ते। योनिः। माध्वीभ्याम्। त्वा ॥ ११ ॥

पदार्थः—(या) (वां) युवयोः (कशा) वाणी। कशेति वाङ्नामसु पठितम् निघं० १। ११ (मधुमति) प्रशस्तमाधुर्य्यगुणयुक्तेव (अश्विना) सूर्य्यचन्द्रवत् प्रकाशमानौ (सूनृतावती) उषाइव (तया) (यज्ञम्) योगम् (मिमिक्षतम्) सेक्तुमिच्छतम (उपायामगृहीतः) उपनियमैः स्वीकृतः (असि) (अश्विभ्याम)

प्राणापानाभ्याम् (त्वा) त्वाम् (एषः) (ते) तव(योनिः) गृहम् (माध्वीभ्याम्) सुनीतियोगरीतिभ्याम् (त्वा) त्वाम् । अयं मंत्रः शत० ४ । १ । ५ । १७ तथा ब्राह्म० ६ । १–८ ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे अश्विनौ योगाध्येत्रध्यापकौ या वां मधुमती सूनृतावती कशाऽस्ति तया यज्ञं मिमिक्षतम् हे योगमभीप्सो त्वमुपयामगृहीतोऽसि किं च ते तत्रैव योगो योनिरस्त्यतोऽश्विभ्यां सह वर्त्तमानं त्वां हे योगाध्यापक माध्वीभ्यां सह वर्त्तमानं च त्वां वयमुपाश्रयामः ॥ ११ ॥

भावार्थः— अत्रोपमालंकारः । योगिनो मधुरवाचाध्येतृन् प्रतियोगमुपदिशेयुस्तत्सर्वस्वं योगमेव मन्येरन्नितरे जनास्तादृशं योगिनं सर्वदाऽऽश्रयेयुरिति ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे (अश्विनौ) सूर्य और चंद्र के तुल्य प्रकाशित योग के पढ़ने पढ़ाने वालो (या) जो (वाम्) तुम्हारी (मधुमती) प्रशंसनीय मधुरगुण युक्त (सूनृतावती) प्रभात समय में क्रम २ से प्रदीप्त होने वाली उषा के समान (कशा) वाणी है (तया) उस से (यज्ञम्) ईश्वर से संग कराने हारे योगरूपी यज्ञ को (मिमिक्षतम्) सिद्ध करना चाहो हे योग पढ़ने वाले तू (उपयामगृहीतः) यमनियमादिकों से स्वीकार किया गया (असि) है (ते) तेरा (एषः) यह योग (योनिः) घर के समान सुखदायक है इस से (अश्विभ्याम्) प्राण और अपान के योगोचितनियमों के साथ वर्त्तमान (त्वा) तुझ और हे योगाध्यापक (माध्वीभ्याम्) माधुर्य्य लिए जो श्रेष्ठ नीति और योग रीति हैं उन के साथ वर्त्तमान (त्वा) आप का हम लोग आश्रय करते हैं अर्थात् समीपस्थ होते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में उपमालंकार है । योगी लोग मधुर प्यारी वाणी से योग सीखने वालों को उपदेश करें और अपना सर्वस्व योग ही को जानें तथा अन्य मनुष्य वैसे योगी का सदा आश्रय किया करें ॥ ११ ॥

तं प्रत्नथेत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः । उपयामगृहीतइत्यस्य पङ्क्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

पुनर्योगिगुणाउपदिश्यन्ते ॥

फिर भी अगले मंत्र में योगी के गुणों का उपदेश किया है ॥

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदंꣳस्वर्विदम् । प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्द्धसे । उपयामगृहीतोसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ १२ ॥

तम् । प्रत्नथेति प्रत्नऽथा । पूर्वथेति पूर्वऽथा । विश्वथेति विश्वऽथा । इमथेतीमऽथा । ज्येष्ठतातिमिति ज्येष्ठऽतातिम् । बर्हिषदम् । बर्हिसदमिति बर्हिःऽसदम् । स्वर्विदमिति स्वःऽविदम् । प्रतीचीनम् । वृजनम् । दोहसे । धुनिम् । आशुम् । जयन्तम् । अनु । यासु । वर्द्धसे ।

उपयामगृहीतइत्युपयामऽगृहीतः। असि। शण्डाय। त्वा। एषः। ते। योनिः। वीरताम्। पाहि। अपमृष्टऽइत्यपमृष्टः। शण्डः। देवाः। त्वा। शुक्रपाइतिशुक्रऽपाः। नयन्तु। अनाधृष्टा। असि ॥ १२ ॥

पदार्थः—(तम) योगम् (प्रत्नथा) प्राक्तनानां योगिनामिव (पूर्वथा) पूर्वेषां योगिनामिव (विश्वथा) सर्वेषामिव (इमथा) इदानीन्तनानामिव (ज्येष्ठतातिम्) प्रशस्तं ज्येष्ठम् (बर्हिषदम्) योऽन्तरिक्षे सीदति तम् (स्वर्विदम्) स्वः सुखं वेदयति तम् (प्रतीचीनम्) अविद्यादिदोषेभ्यः प्रतिकूलम् (वृजनम्) योगबलम् (दोहसे) प्रपिपर्सि उत्कर्षं प्रापकम् (धुनिम्) इन्द्रियकम्पकम् (आशुम्) शीघ्रं सिद्धिप्रदम् (जयन्तम्) उत्कर्षं प्रापकम् (अनु) क्रियायोगे (यासु) कुशलासु (वर्द्धसे) शमादिषु स्वात्मानमुन्नयसि (उपयामगृहीतः) उपयामाः शौचादयो नियमा गृहीता येन सः (असि) वर्त्तसे (शण्डाय) (त्वा) त्वाम् (एषः) योगयुक्तः स्वभावः (ते) योगविद्याध्यापकस्य तव (योनिः) सुखहेतुः। (वीरताम्) वीरस्य भावम् (पाहि) रक्ष (अपमृष्टः) अपमृज्यते दूरीक्रियतेऽविद्यादिक्लेशौघैः सः शुद्धः (शण्डः) शमान्वितः (देवाः) देदीप्यमाना योगिनः (त्वा) त्वाम् (शुक्रपाः) शुक्रं योगवीर्यं योगबलं वा पान्ति ते (प्र)

(नयन्तु) (अनाधृष्टा) समन्ताद्धर्षितुमनर्हा (असि) अस्तु । अयम्मन्त्रः । शत० ४ । १ । ३ । ९—१५ ॥ १२ ॥

अन्वयः--हे योगिन् त्वमुपयामगृहीतोऽसि ते तवैष योगस्वभावो योनिः सुखहेतुरस्तिन । येन योगेन त्वमपमृष्टः शण्डोऽसि यासु योगक्रियासु त्वं वर्द्धसे विश्वथा प्रत्नथा पूर्वथेमथा ज्येष्ठतातिम् बर्हिषद् स्वर्विदं प्रतीचीनमाशु जयन्तं धुनिं वृजनं दोहसे च तं योगबलं शुक्रा देवास्त्वां प्रणयन्तु तस्मै शण्डाय तुभ्यमस्य योगस्यानाधृष्टा वीरतास्तु त्वमिमां वीरतां पाहि तदनु त्वामियं वीरता पातु ॥ १२ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यथा शमादिगुणयुक्तः पुरुषो योगबलेन विद्याबलमुन्नेतुं शक्नोति नाविद्याऽस्वांतो विध्वंसिनी योगविद्या पुरुषानभ्येत्य यथार्थं सुखयति तथा त्वामपि सुखयतु ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे योगिन्! आप (उपयामगृहीतः) योग के अंगों अर्थात् शौच आदि नियमों के ग्रहण करने वाले (असि) हैं । (ते) आप का (एषः) यह योगयुक्त स्वभाव (योनिः) सुख का हेतु है । योग से आप (अपमृष्टः) अविद्यादि दोषों से अलग हुए (शण्डः) शमादि गुण युक्त (असि) हैं (यासु) जिन योगक्रियाओं में आप (वर्द्धसे) वृद्धि को प्राप्त होते हैं और (विश्वथा) समस्त (प्रत्नथा) प्राचीन महर्षि (पूर्वथा) पूर्व काल के योगी और (इमथा) वर्त्तमान योगियों के समान (ज्येष्ठतातिम्) अत्यन्त प्रशंसनीय (बर्हिषदम्) हृदयाकाश में स्थिर (स्वर्विदम्) सुख लाभ करने (प्रतीचीनम्) अविद्यादि दोषों से प्रतिकूल होने (आशुम्) शीघ्र सिद्धि देने (जयन्तम्) उत्कर्ष पहुंचाने और (धुनिम्) इन्द्रियों को कंपाने वाले (वृजनम्) योगबल को (दोहसे) परिपूर्ण करते हैं उस योगबल को (शुक्राः) जो कि योगबल की रक्षा करने हारे (देवाः) योगबल के प्रकाश से प्रकाशित योगी लोग हैं वे (त्वा) आप को (प्रणयन्तु) अच्छे प्रकार पहुंचावें । उस योगबल को प्राप्त हुए (शण्डाय) शमदमादिगुणयुक्त आप के लिये उसी योग की (अनाधृष्टा) दृढ़वीरता (असि) हो आप उस (वीरताम्) वीरता की (पाहि) रक्षा कीजिये (अनु) वह रक्षा को प्राप्त हुई वीरता (त्वा) आप की पाले ॥ १२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालंकार है। हे योगविद्या की इच्छा करने वाले जैसे शमदमादि गुणयुक्त पुरुष योगबल से विद्याबल की उन्नति कर सकता है वही अविद्यारूपी अन्धकार का विध्वंस करने वाली योगविद्या सज्जनों को प्राप्त होकर जैसे यथोचित सुख देती है वैसे आप को दे ॥ १२ ॥

सुवीरइत्यस्य वत्सार: काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
निचृदार्षीत्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः । शुक्रस्येत्यस्य
प्राजापत्या गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ।

उक्त योगमनुष्ठाता योगी कीदृग्भवतीत्युपदिश्यते ।

उक्त योग का अनुष्ठान करने वाला योगी कैसा होता है
यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।

सुवीरो वीरान्प्रजनयन्परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम् । सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः शुक्रस्याधिष्ठानमसि ॥ १३ ॥

सुवीरऽइतिसुवीरः । वीरान् । प्रजनयन्नितिप्रऽजनयन् । परि । इहि । अभि । रायः । पोषेण । यजमानम् । संजग्मानऽइतिसम्ऽजग्मानः । दिवा । पृथिव्या । शुक्र । शुक्रशोचिषेतिशुक्रऽशोचिषा । नि-

रस्तऽइतिनिः अस्तः । शण्डः । शुक्रस्य । अधिष्ठानम् । अधिस्थानमित्यधिस्थानम् । असि ॥ १३ ॥

पदार्थः–(सुवीरः) शोभनश्चासौ वीरइव (वीरान्) उत्कृष्टगुणान् (प्रजनयन्) निष्पादयन्नेव (परि) सर्वतः (इहि) प्राप्नुहि (अभि) आभिमुख्ये (रायः) धनस्य (पोषेण) पुष्ट्या (यजमानम्) दातारम् (संजग्मानः) संगतवान् (दिवा) सूर्य्येण (पृथिव्या) भूम्या सह (शुक्रः) वीर्य्यवान् (शुक्रशोचिषा) शुक्रस्य शोधकस्य सूर्य्यस्य शोचिर्दीपनं तेनैव (निरस्तः) निःसारितोऽन्धकारइव (शण्डः) शमादिसहितः (शुक्रस्य) शोधकस्य योगस्य (अधिष्ठानम) अभितिष्ठन्ति यस्मिन्निति तत् (असि) अयं मन्त्रः । शत० ४। १ । ६ । व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे योगिन् सुवीरस्त्वं वीरान् प्रजनयन् परीहि एवं यजमानमभि रायस्पोषेण संगमानो दिवा पृथिव्या सह शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्त एव विषयवासनारहितः शण्डस्त्वं शुक्रस्याधिष्ठानमसि ॥ १३ ॥

भावार्थः- शमदमादिगुणाधिष्ठानो योगाभ्यासनिरतो योगी स्वयोगविद्याप्रचारेण जिज्ञासूनामात्मबलं वर्द्धयन् सर्वथा सूर्य्य इव प्रकाशमानो भवति ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे योगिन् (सुवीरः) श्रेष्ठ वीर के समान योगबल को प्राप्त हुए आप (वीरान्) अच्छे २ गुणयुक्त पुरुषों को (प्रजनयन्) प्रसिद्ध करते हुए (परीहि) सब जगह भ्रमण कीजिये इसी प्रकार (यजमानम्) धन आदि पदार्थों को देने वाले उत्तम पुरुषों के (अभि) सन्मुख (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से

(संजग्मानः) संगत हूजिये । और आप (दिवा) सूर्य्य और (पृथिव्या) पृथिवी के गुणों के साथ (शुक्रः) अति बलवान् (शुक्रशोचिषा) सब को शोधने वाले सूर्य्य की दीप्ति से (निरस्तः) अन्धकार के समान पृथक् हुए ही योगबल के प्रकाश से विषयवासना से छूटे हुए (शण्डः) शमदमादि गुणयुक्त (शुक्रस्य) अत्यन्त योगबल के (अधिष्ठानम्) आधार (असि) हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः—शमदमादि गुणों का आधार योगाभ्यास में तत्पर योगी जन अपनी योगविद्या के प्रचार से योगविद्या चाहने वालों का आत्मबल बढ़ाता हुआ सब जगह सूर्य्य के समान प्रकाशित होता है ॥ १३ ॥

अच्छिन्नस्य त इत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । स्वराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथशिष्यायाध्यापककृत्यमाह ॥

अब शिष्य के पढ़ाने की युक्ति अगले मंत्र में कही है ॥

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम । सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः ॥१४॥

अच्छिन्नस्य । ते । देव । सोम । सुवीर्य्यस्येतिसुऽवीर्य्यस्य । रायः । पोषस्य । ददितारः । स्याम । सा । प्रथमा । संस्कृतिः । विश्ववारेतिविश्वऽवारा । सः । प्रथमः । वरुणः । मित्रः । अग्निः ॥ १४ ॥

पदार्थः— (अच्छिन्नस्य) अखण्डितस्य (ते) तुभ्यं तव वा योगजिज्ञासोः (सोम) प्रशस्तगुण शिष्य (सुवीर्य्यस्य) शोभनानि वीर्य्याणि पराक्रमाणि यस्मात् तस्यैव (रायः) सर्वविद्याजनितस्य बोधधनस्य (पोषस्य) पुष्टेः (ददितारः) (स्याम)(सा) (प्रथमा) आदिमा (संस्कृतिः) विद्यासुशिक्षाजनिता नीतिः (विश्ववारा) सर्वैरेव स्वीकर्त्तुं योग्या (स) (प्रथमः) (वरुणः) श्रेष्ठः (मित्रः) सखा (अग्निः) पावक इव देदीप्यमानः । अयं मंत्रः शत० ४ । १ । ६ । २२—२६ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे देव सोम वयमध्यापकास्ते तुभ्यं सुवीर्य्यस्यैवाच्छिन्नस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम या प्रथमा विश्ववारा संस्कृतिरस्ति सा तुभ्यं सुखदा भवतु । योऽस्माकम्मध्ये वरुणोऽग्निरिवाध्यापकोऽस्ति स प्रथमस्ते मित्रो भवतु ॥ १४ ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः । योगविद्यासंपन्नमनसां योगिनां योग्यतास्ति जिज्ञासुभ्यो नित्यं योगविद्यां प्रदाय ते सुशरीरात्मबलाः संपादनीयाः ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे (देव) योगविद्या चाहने वाले (सोम) प्रशंसनीयगुणयुक्त शिष्य ! हम अध्यापक लोग (ते) तेरे लिये (सुवीर्य्यस्य) जिस पदार्थ से शुद्ध पराक्रम बढ़े उस के समान (अच्छिन्नस्य) अखण्ड (रायः) योगविद्या से उत्पन्नहुए धन की (पोषस्य) दृढ़पुष्टि के (ददितारः) देने वाले (स्याम) हों जो यह (प्रथमा) पहिली (विश्ववारा) सब ही सुखों के स्वीकार कराने योग्य (संस्कृतिः) विद्यासुशिक्षाजनित नीति है (सा) वह तेरे लिये इस जगत् में सुखदायक हो और हम लोगों में जो (वरुणः) श्रेष्ठ (अग्निः) अग्नि के समान सब विद्याओं से प्रकाशित अध्यापक है (सः) वह (प्रथम) सब से प्रथम तेरा (मित्रः) मित्र हो ॥ १४ ॥

भावार्थः— इस मंत्र में उपमालंकार है । योगविद्या में संपन्न शुद्धचित्त

युक्त योगियों को योग्य है कि जिज्ञासुओं के लिये नित्य योग और विद्यादान दे-कर उन्हें शारीरक और आत्मबल से युक्त किया करें ॥ १२ ॥

स प्रथम इत्यस्य वत्सारः काश्यपऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

अथ स्वामिसेवककृत्यमाह ॥

अब स्वामी और सेवक के कर्म्म को अगले मंत्र में कहा है ॥

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा इन्द्राय सुतमा जुहोत स्वाहा । तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहायाडग्नीत् ॥ १५ ॥

सः । प्रथमः । बृहस्पतिः । चिकित्वान् । तस्मै । इन्द्राय । सुतम् । आ । जुहोत । स्वाहा । तृम्पन्तु । होत्राः । मध्वः । याः । स्विष्टा इति सुऽइष्टाः । याः । सुप्रीता इति सुऽप्रीताः । सुहुता इति सुऽहुताः । यत् । स्वाहा । अयाट् । अग्नीत् ॥ १५ ॥

पदार्थः—(सः) (प्रथमः) आदिमः (बृहस्पतिः) बृहत्या विद्यायुक्ताया वाचः पालकः (चिकित्वान्) विज्ञानवान् (तस्मै) (इन्द्राय) ऐश्वर्य्याय (सुतम्) निष्पादितं व्यवहारम् (आजुहोत) आदत्त (स्वाहा) सत्यां

वाचम् (तृप्यन्तु) प्रीणन्तु (होत्राः) स्वीकर्त्तुमर्हाः (मध्वः) माधुर्य्यादिगुणोपेताः (याः) (स्विष्टाः) शोभनानीष्टानि याभ्यस्ताः (याः) (सुप्रीताः) सुप्रसन्नाः (सुहुताः) सुष्ठु हुतानि योगादानरूपाणि कर्म्माणि याभिर्योगिनीभिः स्त्रीभिस्ताः (यत्) या (स्वाहा) शोभनया वाचा (अयाट्) अयाक्षीत् (अग्नीत्) संप्रेषितः । अयं मंत्रः शत० ४ । १ । ६ । २७—२८ व्याख्यातः ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे शिष्या यूयं यथा सपूर्वोक्तो मित्रः प्रथमश्चिकित्वान् बृहस्पतिर्यस्मै प्रयतेत तस्मै इन्द्राय स्वाहा सुतमाजुहोत तथा यद्याहोत्रा या मध्वः स्विष्टा याः सुहुताः सुप्रीताः स्त्रियोऽग्नीत्कश्चिद्योगी च स्वाहायाट् तथा भवन्तस्तृप्यन्तु ॥ १५ ॥

भावार्थः—अत्रवाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा योगिनो विद्वांसो योगिन्यो विदुष्यश्च परमैश्वर्य्यप्राप्तये प्रयतन्ते यथा च सेवकः स्वामिसेवनमाचरति तथैवान्यैस्तत्तत्कर्माणि प्रवर्त्य स्वाभीष्टसिद्धिः सम्पादनीया ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे शिष्यो ! तुम लोग जैसे वह पूर्व मंत्र में प्रतिपादित (प्रथमः) आदि मित्र (चिकित्वान्) विज्ञानवान् (बृहस्पतिः) सब विद्या युक्त वाणी का पालने वाला जिस ऐश्वर्य के लिये प्रयत्न करता है वैसे (तस्मै) उस (इन्द्राय) ऐश्वर्य के लिये (स्वाहा) सत्य वाणी और (सुतम्)निष्पादित श्रेष्ठव्यवहार को (आजुहोत) अच्छे प्रकार ग्रहण करो और जैसे (यत्) जो (होत्राः) योग स्वीकार करने के योग्य वा (याः) जो(मध्वः)माधुर्य्यादिगुणयुक्त (स्विष्टाः) जिन से कि अच्छे २ इष्ट काम बनते हैं (याः) वा जो ऐसी हैं कि (सुहुताः) जिन से अच्छे प्रकार हवन आदि कर्म सिद्ध होते हैं (सुप्रीताः) और अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती हैं व विद्वान् स्त्रीजन (अग्नीत्) वा कोई अच्छी प्रेरणा को प्राप्त हुआ विद्वान् योगी (स्वाहा) सत्यवाणी से (अयाट्) सभों को सत्कृत करता और तृप्त रहता है । आप लोग उन स्त्रियों और उस योगी के समान (तृप्यन्तु) तृप्त हूजिये ॥ १५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। जैसे योगी विद्वान् और योगिनी विद्वानों की स्त्रीजन परमैश्वर्य्य के लिये यत्न करें और जैसे सेवक अपने स्वामी का सेवन करता है वैसे अन्य पुरुषों को भी उचित है कि उन २ कामों में प्रवृत्त होकर अपनी अभीष्ट सिद्धि को पहुंचे ॥ १५ ॥

अयं वेन इत्यस्य वत्सारः काश्यपऋषिः। विश्वेदेवा देवताः।
आद्यस्य निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः।
उपयामइत्यस्य साम्नी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथसभाध्यक्षेण राज्ञा किंकर्त्तव्यमित्युपदिश्यते॥

अब सभाध्यक्ष राजा को क्या करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है॥

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। इममपाꣳ संगमे सूर्य्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति। उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा॥ १६॥

अयम्। वेनः। चोदयत्। पृश्निगर्भाऽइतिपृश्निऽगर्भाः। ज्योतिर्जरायुरितिज्योतिःऽजरायुः। रजसः। विमानऽइतिविऽमाने। इमम्। अपाम्। सङ्गमऽइतिसंऽगमे। सूर्य्यस्य। शिशुम्। न। विप्राः। मतिभिरितिमतिऽभिः। रिहन्ति। उपयामगृहीतइत्युपयामऽगृहीतः। असि। मर्काय। त्वा॥ १६॥

पदार्थः–(अयम्) (वेनः) कमनीयश्चन्द्रः (चोदयत्) प्रेरयति । अत्र लडर्थे लङडभावश्च । (पृश्निगर्भाः) पृश्निरंतरिक्षं गर्भो येषां ते पृश्निगर्भाः (ज्योतिर्जरायुः) ज्योतिषां जरायुरिवाच्छादकः (रजसः) लोकसमूहस्य (विमाने) विगतंमानं परिमाणं यस्यान्तरिक्षस्य तस्मिन् (इमम्) प्रत्यक्षम् (अपाम्) जलानाम् (संगमे) संग्राम इव । संगमइतिसंग्रामनामसु पठितम् । निघं० २ । १७ । (सूर्यस्य) मार्तण्डस्य (शिशुं) शासनीयं कुमारं बालकं (न) इव (विप्राः) मेधाविनः (मतिभिः) बुद्धिभिः (रिहंति) सत्कुर्वन्ति । रिहंतीत्यर्चतिकर्म्मसु पठितम् । निघं० ३ । १४ । (उपयामगृहीतः) राज्यांगैर्युक्तः (मर्काय) मृत्युनिमित्ताय वायवे (त्वा) त्वाम् ॥ १६ ॥ इमं मंत्रं निरुक्तकार एवं समाचष्टे वेनो वेनतेः कान्तिकर्म्मणस्तस्यैषा भवति । निरु० १० । ३८ । अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा प्राष्टवर्णगर्भा आप इति वा ज्योतिर्जरायुर्ज्योतिरस्य जरायुः स्थानीयं भवति जरायुजरया गर्भस्य जरया यूयत इति वेममपां संगमने सूर्य्यस्य च शिशुमिव विप्रा मतिभीरिहंति लिहंति स्तुवंति वर्द्धयन्ति पूजयंतीति वा शिशुः–शंसनीयो भवति शिशीतेर्वास्याद्दानकर्म्मणश्चिरलब्धोगर्भो भवति । निरु० १० । ३९ । अयं मंत्रः । शत० ४ । १ । ६ । १० । ११ । व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे शिल्पविधिविद्विद्वन् ! त्वमुपयामगृहीतोऽस्यतोऽहं रजसो मध्ये पृश्निगर्भा लोका इव ज्योतिर्जरायुरिवायं वेनश्चोदयदिमं चन्द्रमपां सूर्यस्य संगमे शिशुं विप्रा मतिभीरिहंति नेव मर्काय दुष्टानां प्रशमनाय श्रेष्ठव्यवहारस्थापनाय च विमानेत्वा त्वां गृह्णामि ॥ १६ ॥

भावार्थः—सभाध्यक्षेण सूर्याचंद्रमसोर्गुणानिव श्रेष्ठगुणान् प्रकाशयित्वा दुष्टप्रशमनेन श्रेष्ठव्यवहारेण सज्जना आल्हादयितव्याः ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे शिल्पविधि के जानने वाले सभाध्यक्ष विद्वन् ! आप (उपयामगृहीतः) सेना आदि राज्य के अंगों से युक्त (असि) हैं इस से मैं (रजसः) लोकों के मध्य (पृश्निगर्भाः) जिन में अवकाश अधिक है उन लोगों के (ज्योतिर्जरायुः) तारागणों को ढांपने वाले के समान (अयम्) यह (वेनः) अतिमनोहर चंद्रमा (चोदयत्) यथायोग्य अपने २ मार्ग में अभियुक्त करता है (इमम्) इस चंद्रमा को (अपां) जलों और (सूर्यस्य) सूर्य के (संगमे) संबन्धी आकर्षणादि विषयों में (शिशुम्) शिक्षा के योग्य बालक को (मतिभिः) विद्वान लोग अपनी बुद्धियों से (रिहंति) सत्कार करके (न) समान आदर के साथ ग्रहण कर रहे हैं और मैं (मर्काय) दुष्टों को शांत करने और श्रेष्ठ व्यवहारों के स्थापन करने के लिये (विमाने) अनन्त अन्तरिक्ष में (त्वा) तुझे विविध प्रकार के यान बनाने के लिये स्वीकार करता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थः—सभाध्यक्ष को चाहिये कि सूर्य और चंद्रमा के समान श्रेष्ठ गुणों को प्रकाशित और दुष्ट व्यवहारों को शांत करके श्रेष्ठ व्यवहार से सज्जन पुरुषों को आल्हाद देवे ॥ १६ ॥

मनो न येष्वित्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वे देवा देवताः ।
स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ।
पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी उसी विषय को अगले मंत्र में कहा है ॥

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता। आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्याश्रीणीतादिशं गभस्तावेष ते योनिः प्रजाः पाह्यपमृष्टो मर्को देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ १७ ॥

मनः। न। येषु। हवनेषु। तिग्मम्। विपः। शच्या। वनुथः। द्रवन्ता। आ। यः। शर्याभिः। तुविनृम्ण इति तुविऽनृम्णः। अस्य। अश्रीणीत। आदिशमित्याऽदिशम्। गभस्तौ। एषः। ते। योनिः। प्रजा इति प्रऽजाः। पाहि। अपमृष्ट इत्यपऽमृष्टः। मर्कः। देवाः। त्वा। मन्थिपा इति मन्थिऽपाः। प्र। नयन्तु। अनाधृष्टा। असि ॥ १७ ॥

पदार्थः— (मनः) विज्ञानम् (न) इव (येषु) (हवनेषु) धर्म्मग्रहणादानेषु (तिग्मं) वज्रवत्तीव्रम्। तिग्ममिति वज्रनामसु पठितम्। निघं० २।२०। (विपः) विविधं पातीति विपो मेधावी विप इति मेधाविनामसु पठितम्। निघं० ३।१५। शच्या

प्रज्ञया। शचीति प्रज्ञानामसु पठितम् निघं० ३।९। (वनुथः) कामयेथे वनोतीति कांतिकर्म्मसु पठितम् निघं०। २।६। (द्रवन्ता) गन्तारौ अत्र सुपां सुलुगित्याकारादेशः (आ) (यः) (शर्य्याभिः) गतिभिः (तुविनृम्णः) तुवीनि बहूनि धनानि यस्य सः। तुवीति बहुनामसु पठितम्। निघं०।३।१ (अस्य) (अश्रीणीत) श्रीणाति पचति (आदिश) दिशमभिव्याप्येव (गभस्तौ) अङ्गुल्यानिर्देशे गभस्तयइत्यङ्गुलीनामनुसुपठितम्। निघं० २।५। (एषः)राजधर्म्मः (ते) तव(योनिः)गृहम्(प्रजाः) संरक्षणीयाः (पाहि) (अपमृष्टः) दूरीकृतः (मर्कः) मरणदुःखदो दुर्नयः (देवाः) विद्वांसः (त्वा) त्वाम् ये(मन्थिपा)मन्थन्ति। शत्रून् तान् वीरान् पांति ते (प्र) (नयंतु) पीणयंतु (अनाधृष्टा) अधर्षणीया (असि) लोडर्थे लट्। अयं मन्त्रः। शत०। ४।१।६।१२–१५। व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे शिल्पविद्याविचक्षण सभापते विद्वन्नेष राजधर्मस्ते तव योनिरस्ति त्वं यथा यस्तुविनृम्णः प्रजापतिर्विपः प्रजाजनश्च तौ द्वौ युवां येषु हवनेषु शर्य्याभिस्तिग्मं मनो न द्रवन्तौ संतौ शच्या सह आवनुथ इत्थं प्रत्येकः प्रजाजनोऽस्य गभस्तावादिशं यथा स्यात्तथा शत्रूनाश्रीणीत मर्कश्चापमृष्टो भवतु प्रजाः पाहि मन्थिपा देवास्त्वा—त्वां प्रणयन्तु हे प्रजे यतोऽनाधृष्टा निर्भया स्वतन्त्रा त्वमसि त राजानं सततं रक्ष ॥ १७ ॥

भावार्थः— प्रजापुरुषा राज्यकर्म्मणि यं राजानमाश्रयेयुस्स तेषां न्यायेन रक्षां कुर्यात्। ते च तं न्यायाधीशं प्रति स्वाभिप्रायं प्रवदेयुः। राजसेवकाश्च न्यायकर्म्मणैव प्रजापुरुषान् रक्षेयुरिति ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे शिल्पविद्या में चतुर सभापते (एषः) यह राजधर्म (ते) तेरा (योनिः) सुखपूर्वक स्थिरता का स्थान है जैसे तू (यः) जो (तुविनृम्णः) अत्यंतधनयुक्त प्रजा का पालने वाला वा (विपः) बुद्धिमान् प्रजाजन ये तुम दोनों (येषु) जिन हवनादि कर्म्मों में (शर्य्याभिः) वेगों से (तिग्मम्) वज्र के तुल्य अतिदृढ (मनः) मनके (न) समान वेग से (द्रवन्तो) चलते हुए (शच्या) बुद्धि के साथ (आवतुथः) परस्पर कामना करते हो वैसे प्रत्येक प्रजापुरुष (अस्य) इस प्रजापति का (गभस्तौ) अंगुली निर्देश से (आदिशम्) सब दिशाओं में तेज जैसे हो वैसे शत्रुओं को (आ, अश्रीणीत) अच्छे प्रकार दुःख दिया कर (मर्कः) मरण के तुल्य दुःख देने और कुढंग चालचलन रखने वाला शत्रु (अपमृष्टः) दूर हो और तू (प्रजाः) प्रजाका (पाहि) पालन कर (मंथिपाः) शत्रुओं को मथने वाले वीरों के रक्षक (देवाः) विद्वान लोग (त्वा) तुझे (प्र, नयतु) प्रसन्न करें। हे प्रजाजनो ! तुम जिस से (अनाधृष्टा) (असि) प्रगल्भ निर्भय और स्वाधीन (असि) हो उस राजा की रक्षा किया करो ॥ १७ ॥

भावार्थः— प्रजापुरुष राज्यकर्म्म में जिस राजा का आश्रय करें वह उन की रक्षा करे और वे प्रजाजन उस न्यायाधीश के प्रति अपने अभिप्राय को शंका समाधान के साथ कहें राजा के नौकर चाकर भी न्यायकर्म्म ही से प्रजाजनों की रक्षा करें ॥ १७ ॥

सुप्रजाइत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। निचृत् त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः। मन्थिने त्वेष्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

न्यायाधीशेन प्रजा प्रति कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते ॥

न्यायाधीश को प्रजाजनों के प्रति कैसे वर्त्तना चाहिये यह अगले मंत्र में कहा है ॥

सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन्परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवापृथिव्या। मन्थीमन्थि-

शोचिषानिरस्तो मर्को मन्थिनोऽधिष्ठानमसि॥१८॥

सुप्रजाऽइतिसुऽप्रजाः । प्रजाऽइतिप्रऽजाः । प्रजनयन्निति प्रऽजनयन् । परि । इहि । अभि । रायः । पोषेण । यजमानम् । संजग्मानऽइतिसम्ऽजग्मानः । दिवा । पृथिव्या । मन्थी । मान्थिशोचिषेति मान्थिऽशोचिषा । निरस्तऽइति निः अस्तः । मर्कः । मन्थिनः । अधिष्ठानम् । अधिस्थानमित्यधिऽस्थानम् । असि ॥ १८ ॥

पदार्थः—(सुप्रजाः) शोभना प्रजा यस्य सः सुप्रजाः सयथा स्यात्तथा (प्रजाः) प्रजा एव (प्रजनयन्) परमेश्वर इव प्रकटयन् (परि) सर्वतः (इहि) जानीहि (अभि) आभिमुख्ये (रायः) धनसमूहस्य (पोषेण) पुष्ट्या (यजमानम्) सुखप्रदम् (संजग्मानः) धीरतादिशुभगुणेष्वासक्तः (दिवा) सूर्येण (पृथिव्या) भूम्या (मन्थी) मन्थितुं शीलमस्य न्यायाधीशस्य सः (मन्थिशोचिषा) सूर्यदीप्त्येव(निरस्तः) नितरांप्रक्षिप्त इव (मर्कः) मृत्युनिमित्तः खल्वन्यायकारी (मन्थिनः) न्यायकारिणः(अधिष्ठानम्) आधार इव (असि) अयं मंत्रः । शत० १। ४। १। ६। १७ व्याख्यातः ॥ १८ ॥

अन्वयः—भोन्यायाधीश सुप्रजास्त्वं प्रजा प्रजनयन् रायस्पोषेण सह यजमानमभिपरीहि सर्वथा तस्य धनवृद्धिमिच्छ मन्थी त्वं दिवा पृथिव्या

संजग्मानो भव तद्गुणीभवेति भावः । यतस्त्वं मन्थनीऽधिष्ठानमस्यतस्ते मन्थिशोचिषा मर्को निरस्तो भवतु ॥ १८ ॥

भावार्थः–अत्रोपमालङ्कारः । न्यायाधीशो यजमानस्य पुरोहित इव प्रजाः सततं पालयेत् ॥ १८ ॥

पदार्थः—भो न्यायाधीश (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त आप (प्रजाः) प्रजाजनों को (प्रजनयन्) प्रकट करते हुए (रायः) धन की (पोषेण) दृढ़ता के साथ (यजमानम्) यज्ञादि अच्छे कामों के करने वाले पुरुष को (अभि) (परि) (इहि) सर्वथा धन की वृद्धि से युक्त कीजिये (मन्थी) वादविवाद के मंथन करने और (दिवा) सूर्य वा (पृथिव्या) पृथिवी के (संजग्मानः) तुल्य धीरतादि गुणों में वर्त्तने वाले आप (मन्थिनः) सदसद्विवेचन करने योग्य गुणों के (अधिष्ठानम्) आधार के समान(असि) हो इस कारण तुम्हारी (मन्थिशोचिषा) सूर्य की दीप्ति के समान न्यायदीप्ति से (मर्कः) मृत्युदेने वाला अन्यायी (निरस्तः) निवृत्त होवे ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालंकार है । न्यायाधीश राजा को चाहिये कि धर्म्म से यज्ञ करने वाले सत्पुरुष पुरोहित के समान प्रजा का निरंतर पालन करे ॥ १८ ॥

ये देवास इत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ राजसभ्यजनकृत्यमाह ॥

अब राजा और सभासदों के काम अगले मंत्र में कहे हैं ॥

ये दे॑वासो दि॒व्येका॑दश॒ स्थ पृ॑थि॒व्यामध्येका॑दश॒ स्थ। अ॒प्सु॒क्षितो॑ महि॒नैका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो य॒ज्ञमि॒मं जु॑षध्वम् ॥ १९॥

ये । देवासः । दिवि । एकादश । स्थ । पृथिव्याम् । अधि । एकादश । स्थ । अप्सुक्षितऽइत्यप्सुऽक्षितः । महिना । एकादश । स्थ । ते । देवासः । यज्ञम् । इमम् । जुषध्वम् ॥ १९ ॥

पदार्थः—(ये) (देवासः) दिव्यगुणयुक्ताः (दिवि) विद्युति (एकादश) प्राणापानोदानसमाननागकूर्म्मकृकलदेवदत्तधनंजयजीवाः (स्थ) संति अत्र पुरुषव्यत्ययः (पृथिव्याम्) भूमौ (अधि) उपरिभावे (एकादश) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादित्यचन्द्रनक्षत्राहंकारमहत्तत्वप्रकृतयः । (स्थ) संति (अप्सुक्षितः) प्राणेषु क्षयन्ति निवसन्ति ते (महिना) महिम्ना (एकादश) श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनांसि (स्थ) सन्ति (ते) (देवासः) राजसभासदो विद्वांसः (यज्ञम्) राजप्रजासम्बद्धव्यवहारम् (इमम्) प्रत्यक्षम् (जुषध्वम्) सेवध्वम् । अयम्मन्त्रः शत० ४। २। १। ९ व्याख्यातः ॥१९॥

अन्वयः—ये महिना स्वमहिम्ना दिव्येकादश देवासः स्थ संति पृथिव्यामध्येकादश स्थ संति अप्सुक्षितश्चैकादश स्थ संति ते यथा स्वस्वकर्म्मसु वर्त्तन्ते तद्वद्वर्त्तमाना हे देवासो राजसभायाः सभ्यजना यूयमिमं यज्ञं जुषध्वम् ॥ १९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । यथा स्वकर्म्मणि प्रवर्त्तमाना इमेऽन्तरिक्षादिषु पदार्थाः संति तथा सभाजनैः स्वस्वन्यायकर्म्मणि प्रवर्त्तितव्यमिति ॥ १९ ॥

पदार्थः–(ये) जो (महिना) अपनी महिमा से (दिवि) विद्युत् के स्वरूप में (एकादश) ग्यारह अर्थात् प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीवात्मा (देवासः) दिव्यगुणयुक्त देव (स्थ) हैं (पृथिव्याम्) भूमि के (अधि) ऊपर (एकादश) ग्यारह अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृति (स्थ) हैं तथा (अप्सुक्षितः) प्राणों में ठहरने वाले (एकादश) ग्यारह श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाणी, हाथ, पांव, गुदा, लिंग और मन (स्थ) हैं (ते) वे जैसे अपने २ कामों में वर्त्तमान हैं वैसे हे (देवासः) राजसभा के सभासदो आप लोग यथायोग्य अपने २ कामों में वर्त्तमान होकर (इमम्) इस (यज्ञम्) राज और प्रजा संबन्धी व्यवहार का (जुषध्वम्) सेवन किया करें ॥ १९ ॥

भावार्थः– इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। जैसे अपने २ कामों में प्रवृत्त हुए अंतरिक्षादिकों में सब पदार्थ हैं वैसे राजसभासदों को चाहिये कि अपने २ न्यायमार्ग में प्रवृत्त रहें ॥ १९ ॥

उपयामगृहीतोसीत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः। यज्ञो देवता।

निचृदार्षी जगतीछन्दः। निषादः स्वरः॥

अथ राजविदुषां चोपदेशप्रकारमाह ॥

अब राजा और विद्वानों के उपदेश की रीति अगले मन्त्र में कही है ॥

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेणं पातु विष्णुन्त्वम्पाह्यभि सवनानि पाहि ॥ २० ॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। आग्रयणः। असि। स्वाग्रयण इति सुआग्रयणः। पाहि।

यज्ञम् । पाहि । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । विष्णुः । त्वां । इन्द्रियेण । पातु । विष्णुम् । त्वम् । पाहि । अभि । सवनानि । पाहि ॥ २० ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) विनयादिराजगुणैर्युक्तः (असि) (आग्रयणः) समन्तादग्राणि विज्ञानयुक्तानि प्रशस्तानि कर्म्माण्ययते सः । शकंध्वादिषु पररूपं वाच्यम् । इति पररूपम् । (असि) (स्वाग्रयणः) शोभनश्चासावाग्रयणश्च तद्वत् (पाहि) (यज्ञम्) राजप्रजापालकम् (पाहि) (यज्ञपतिम्) संगतस्य न्यायस्य पालकम् (विष्णुः) सकलशुभगुणकर्म्मव्यापी विद्वान् (त्वां) (इन्द्रियेण) मनसा धनेन वा । इन्द्रियमिति धननामसु पठितम् निघं० २ । १० । (पातु) (विष्णुम्) विद्वांसं (त्वम्) न्यायाधीशः (पाहि) (अभि) (सवनानि) ऐश्वर्य्याणि (पाहि) । अयं मंत्रः शत० ४ । २ । १ । ९—११ व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः—हे सभापते राजन् उपदेशक वा यतस्त्वमुपयामगृहीतोस्यतो यज्ञम्पाहि स्वाग्रयणश्चाग्रयणोसि तस्माद् यज्ञपतिं पाहि । अयं विष्णुरिन्द्रियेण त्वां पातु त्वमेनं विष्णुम्पाहि सवनान्यभिपाहि ॥ २० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । राज्ञो विदुषां च योग्यतास्ति ते सततं राज्योन्नतिं कुर्य्युर्नहि राज्योन्नत्या विना विद्वांसो स्वास्थ्येन विद्याप्रचारयितुमुपदेष्टुं च शक्नुवन्ति न खलु विदुषां संगोपदेशाभ्यां विना कश्चिद् राज्यं रक्षितुमर्हति न खलु राजप्रजोत्तमविदुषां परस्परं प्रीतिमन्तरैश्वर्य्योन्नतिरैश्वर्य्योन्नत्याविनाऽऽनन्दश्च सततं जायते ॥ २० ॥

पदार्थः--हे सभापते राजन् वा उपदेश करने वाले ! जिस कारण आप (उपयामगृहीतः) विनय आदि राजगुणों वा वेदादि शास्त्र बोध से युक्त (असि) हैं इस से (यज्ञम्) राजा और प्रजा की पालना कराने हारे यज्ञ को (पाहि) पालो और (स्वाग्रयणः) जैसे उत्तम विज्ञान युक्त कर्म्मों को पहुंचाने वाले होते हैं वैसे (आग्रयणः) उत्तम विचार युक्त कर्म्मों को प्राप्त होने वाले हूजिये इस से (यज्ञपतिम्) यथावत् न्याय की रक्षा करने वाले को (पाहि) पालो यह (विष्णुः) जो समस्त अच्छे गुण और कर्म्मों को ठीक २ जानने वाला विद्वान् है वह (इन्द्रियेण) मन और धन से (त्वां) तुझे (पातु) पाले और तुम उस (विष्णुम्) विद्वान् की (पाहि) रक्षा करो (सवनानि) ऐश्वर्य देने वाले कामों की (अभि) सब प्रकार से (पाहि) रक्षा करो ॥ २० ॥

भावार्थः--इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। राजा और विद्वानों को योग्य है कि वे निरंतर राज्य की उन्नति किया करें क्योंकि राज्य की उन्नति के विना विद्वान् लोग सावधानी से विद्या का प्रचार और उपदेश भी नहीं कर सकते और न विद्वानों के संग और उपदेश के विना कोई राज्य की रक्षा करने के योग्य होता है तथा राजा प्रजा और उत्तम विद्वानों की परस्पर प्रीति के विना ऐश्वर्य्य की उन्नति और ऐश्वर्य्य की उन्नति के विना आनन्द भी निरन्तर नहीं हो सकता ॥ २० ॥

सोमः पवतइत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । सोमो देवता ।

स्वराड् ब्राह्मीत्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

एषतइत्यस्य याजुषी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ राजकृत्यमाह ।

अब राजों का कर्म्म अगले मंत्र में कहा है ॥

सोमः॑ पवते॒ सोमः॑ पवते॒ऽस्मै ब्रह्म॑णे॒ऽस्मै क्ष॒त्राया॒स्मै सु॑न्व॒ते यज॑मानाय पवतऽइ॒ष-

ऊर्ज्जे पवतेद्भ्यऽओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्याम्पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यंऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ २१ ॥

सोमः । पवते । सोमः । पवते । अस्मै । ब्रह्मणे । अस्मै । क्षत्राय । अस्मै । सुन्वते । यजमानाय । पवते । इषे । ऊर्ज्जे। पवते । अद्भ्य इत्यत्ऽभ्यः । ओषधीभ्यः । पवते द्यावापृथिवीभ्याम् । पवते । सुऽभूतायेति सुऽभूताय। पवते । विश्वेभ्यः । त्वा । देवेभ्यः। एषः । ते । योनिः । विश्वेभ्यः । त्वा । देवेभ्यः ॥२१॥

पदार्थः—(सोमः) सौम्यगुणसंपन्नोराजा (पवते) विजानीयात् लेट्प्रयोगः राजसभायाः सभासत् प्रजाजनो वा (पवते) पूतोभवेत् (अस्मै) प्रत्यक्षाय (ब्रह्मणे) परमेश्वराय वेदाय वा (अस्मै) (क्षत्राय) राज्याय क्षत्रियाय वा (अस्मै) (सुन्वते) सर्वविद्यासिद्धान्तं निष्पादयते (यजमानाय) संगच्छमानाय (पवते) (इषे) अन्नाय (ऊर्ज्जे) पराक्रमाय (प-

वते) (अद्भ्यः) जलेभ्यः प्राणेभ्यो वा (ओषधीभ्यः) सोमादिभ्यः (पवते)(द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य्यभूमिभ्याम् (पवते) (सुभूताय)सुष्ठुसत्याय व्यवहाराय (पवते) (विश्वेभ्यः) समस्तेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) दिव्येभ्यो गुणेभ्यः (एषः) राजधर्म्मगुणग्रहणम(तं)तत्र (योनिः) वसतिः (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः। अयम्मन्त्रः शत० ४। २। १। १७–१९ तथा ब्रा० २। १—९ व्याख्यातः॥ २१॥

अन्वयः– हे विद्वांसो यथाऽयं सोमोऽस्मै ब्रह्मणे पवतेऽस्मै क्षत्राय पवतेस्मै सुन्वते यजमानाय पवतइषऊर्जे पवतेऽद्भ्य ओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते तद्वत् सोमः सभ्यजनः प्रजाजनोप्येतस्मै सर्वस्मै पवतां हे राजन् यस्य ते तवैष योनिरस्ति तं त्वा विश्वेभ्यो देवेभ्यो वयं स्वीकुर्म्मस्तथा विश्वेभ्यो गुणेभ्यश्च त्वा त्वामङ्गीकुर्म्मह॥ २१॥

भावार्थः–अत्रवाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथाचन्द्रलोकः सर्वस्मै जगते हितकारी वर्त्तते यथा च राजासभ्यजनप्रजाजनाभ्यां सह तदुपकाराय धर्म्मानुकूलं व्यवहारमाचरति तथैव सभ्यजनप्रजाजनौ राज्ञा सह वर्त्तेताम्। यउत्तमव्यवहारगुणकर्म्मानुष्ठाता भवति स एव राजा सभ्यजनश्च न्यायाधीशो भवितुमर्हति यो धर्म्मात्मा जनः स एव प्रजायामग्र्यो गणनीयोऽस्त्येवमेते त्रयः परस्परं प्रीत्या पुरुषार्थेन विद्यादिगुणेभ्यः पृथिव्यादिपदार्थेभ्यश्चाखिलं सुखं प्राप्तुं शक्नुवंति॥२१॥

पदार्थः– हे विद्वान लोगो ! जैसे यह (सोमः) सोम्यगुण सम्पन्न राजा (अस्मै) इस (ब्रह्मणे) परमेश्वर वा वेद को जानने के लिये (पवते) पवित्र होता है (अस्मै) इस (क्षत्राय) क्षत्रियधर्म के लिये (पवते) ज्ञानवान होता है (अस्मै) इस (सुन्वते) समस्तविद्या के सिद्धांत को निष्पादन (यजमानाय)

और उत्तम संग करने हारे विद्वान् के लिये (पवते) निर्मल होता है (इषे) अन्न के गुण और (ऊर्जे) पराक्रम के लिये (पवते) शुद्ध होता है (अद्भ्यः) जल और प्राण वा (ओषधीभ्यः) सोम आदि ओषधियों को (पवते) जानता है (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य्य और पृथिवी के लिये (पवते) शुद्ध होता है (सुभूताय) अच्छे व्यवहार के लिये (पवते) बुरे कामों से बचता है। वैसे (सोमः) सभाजन और प्रजाजन भी सब को यथोक्त जाने माने और आप भी वैसा पवित्र रहे। हे राजन् सभ्यजन वा प्रजाजन जिस (ते) आप का (एषः) यह राजधर्म्म (योनिः) घर है उस (त्वा) आप को (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये तथा (त्वा) आप को (विश्वेभ्यः) संपूर्ण दिव्यगुणों के लिये हम लोग स्वीकार करते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थः— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। जैसे चंद्रलोक सब जगत् के लिये हितकारी होता है और जैसे राजा सभा के जन और प्रजाजनों के साथ उन के उपकार के लिये धर्म्म के अनुकूल व्यवहार का आचरण करता है वैसे ही सभ्यपुरुष और प्रजाजन राजा के साथ वर्त्तें जो उत्तम व्यवहार गुण और कर्म्म का अनुष्ठान करने वाला होता है वही राजा और सभापुरुष न्यायकारी हो सकता है तथा जो धर्म्मात्मा जन है वही प्रजा में अग्रगण्य समझा जाता है। इस प्रकार ये तीनों परस्पर प्रीति के साथ पुरुषार्थ से विद्याआदि गुण और पृथिवी आदि पदार्थों से अखिल सुख को प्राप्त हो सकते हैं ॥ २१ ॥

उपयामगृहीतोसीत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः।
आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ॥
कीदृशं जनं सेनापतिं कुर्य्यादित्युपदिश्यते ॥
अब कैसे मनुष्य को सेनापति करे यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत ऽउक्थाव्यं गृह्णामि ॥ यत्तऽइन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं गृह्णामि यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥२२॥

उपयामगृहीतऽइत्युपयामऽगृहीतः। असि। इन्द्राय। त्वा। बृहद्वतऽइतिबृहत्ऽवते। वयस्वते। उक्थाव्यमित्युक्थऽअव्यम्। गृह्णामि। यत्। ते। इन्द्र। बृहत्। वयः। तस्मै। त्वा। विष्णवे। त्वा। एषः। ते। योनिः। उक्थेभ्यः। त्वा। देवेभ्यः। त्वा। देवाव्यमितिदेवऽअव्यम्। गृह्णामि। यज्ञस्य। आयुषे। गृह्णामि॥ २२॥

पदार्थः-(उपयामगृहीतः) सुनियमैर्धातविद्यः (असि) (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते (त्वा) त्वाम् (बृहद्वते) प्रशस्तानि बृहंति कर्म्माणि यस्य तस्मै (वयस्वते) बहु जीवनं विद्यते यस्य तस्मै (उक्थाव्यम्) प्रशंसार्हाणि स्तोत्राणि शस्त्रविशेषाणि वा तस्य तमिव सेनापतिम् (गृह्णामि) (यत्) (ते) तव (इन्द्र) (बृहत्) (वयः) जीवनम् (तस्मै) (त्वा) त्वाम् (विष्णवे) परमेश्वराय यज्ञाय वा (त्वा) त्वाम् (एषः) (ते) तव (योनिः) स्थित्यर्थः स्थानविशेषः (उक्थेभ्यः) प्रशंसनीयेभ्यो वेदोक्तेभ्यः कर्म्मभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम्) उक्तानान्देवानाम्पालकम् (गृह्णामि) (यज्ञस्य) राज्यपालनादेः (आयुषे) जीवनाय (गृह्णामि) अयम्मन्त्रः। शत० ४।२।२। १०-११। व्याख्यातः॥ २२॥

अन्वयः—धर्मार्थकाममोक्षानिच्छुरहं हे इंद्र सेनापते त्वमुपयामगृहीतोऽस्यतो बृहद्वते वयस्वत इन्द्रा । योक्थाव्यं त्वा त्वां गृह्णामि । यत् ते बृहत् वयस्तस्मै तत् पालनाय विष्णवे त्वा त्वां गृह्णामि एष सेनाधिकारस्ते योनिरस्ति उक्थेभ्यस्त्वा त्वां देवेभ्यो देवाव्यं त्वा त्वां यज्ञस्यायुषेवर्द्धनायापि गृह्णामि ॥ २२ ॥

भावार्थः—सर्ववेत्ता विद्वान् राज्यव्यवहारे सैन्यवीराणां पालनाय सुशिक्षितं शस्त्रास्त्रपरमप्रवीणं यज्ञकर्म्मानुष्ठातारं वीरपुरुषं सेनापतित्वेऽभियुंजीयात् । सभापतिसेनापती परस्परानुमत्या राज्यं यज्ञं च वर्द्धयेतामिति ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) सेनापति तू (उपयामगृहीतः) अच्छे नियमों से विद्या को पढ़ने वाला (असि) है इस हेतु से (बृहद्वते) जिस के अच्छे बड़े २ कर्म्म हैं (वयस्वते) और जिसकी दीर्घ आयु है उस (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यवाले सभापति के लिये (उक्थाव्यम्) प्रशंसनीय स्तोत्र वा विशेषशस्त्र विद्यावाले (त्वा) तेरा (गृह्णामि) ग्रहण जैसे मैं करता हूं वैसे (यत्) जो (ते) तेरा (बृहत्) अत्यन्त (वयः) जीवन है (तस्मै) उस के पालन करने के अर्थ और (विष्णवे) ईश्वर ज्ञान वा वेदज्ञान के लिये (त्वा) तुझे (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं और (एषः) यह सेना का अधिकार (ते) तेरा (योनिः) स्थित होने के लिये स्थान है । हे सेनापति (उक्थेभ्यः) प्रशंसा योग्य वेदोक्त कर्मों के लिये (त्वा) तुझे (देवेभ्यः) और विद्वानों वा दिव्यगुणों के लिये (देवाव्यम्) उन के पालन करने वाले (त्वा) तुझ को (यज्ञस्य) राज्यपालनादिव्यवहार के (आयुषे) बढ़ाने के लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥२२॥

भावार्थः—सब विद्याओं के जानने वाले विद्वान् को योग्य है कि राज्य व्यवहार में सेना के वीर पुरुषों की रक्षा करने के लिये अच्छी शिक्षायुक्त, शस्त्र और अस्त्र विद्या में परम प्रवीण यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले वीर पुरुष को सेनापति के काम में युक्त करे और सभापति तथा सेनापति को चाहिये कि परस्पर सम्मति करके राज्य और यज्ञ को बढ़ावें ॥ २२ ॥

मित्रावरुणाभ्यान्त्वेत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । मित्रावरुणाभ्यामित्यस्यानुष्टुप् , इन्द्राग्निभ्या मित्यस्य प्राजापत्यानुष्टुप् , इन्द्रावरुणाभ्यामित्यस्य स्वराट् साम्न्यनुष्टुप् छन्दांसि । गांधारः स्वरः । इन्द्राबृहस्पतिभ्यामित्यस्य भुरिगार्ची ग यत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । इन्द्राविष्णुभ्या मित्यस्य भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरश्च ॥

सर्वविद्याप्रवीणं सभापतिं कुर्यादित्युपदिश्यते ॥

सब विद्याओं में प्रवीण पुरुष को सभा का अधिकारी करे यह अगले मंत्र में कहा है ॥

मि॒त्रावरु॑णाभ्यां त्वा दे॒वाव्यं॑ य॒ज्ञस्यायु॑षे गृ॒ह्णामीन्द्रा॑य त्वा दे॒वाव्यं॑ य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णा॒मीन्द्रा॒ग्निभ्यां॑न्त्वा दे॒वाव्यं॑य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णा॒मीन्द्रा॒वरु॑णाभ्यान्त्वा दे॒वाव्यं॑ य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णा॒मीन्द्रा॒बृह॒स्पति॑भ्यान्त्वा दे॒वाव्यं॑य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णा॒मीन्द्रा॒विष्णु॑भ्यान्त्वा दे॒वाव्यं॑य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णा॒मि ॥ २३ ॥

मि॒त्रावरु॑णाभ्याम् । त्वा॒ । दे॒वा॒व्यमिति॑ देव॒ऽअव्य॑म् । य॒ज्ञस्य॑ । आयु॑षे । गृ॒ह्णा॒मि॒ । इन्द्रा॑य । त्वा॒ । दे॒वा॒व्यमिति॑ ।

देवऽअव्यम् ।यज्ञस्य।आयुषे।गृह्णामि।इन्द्राग्निभ्या-मितीन्द्राग्निऽभ्याम्।त्वा। देवाव्यमितिदेवऽअव्यम् । यज्ञस्य ।आयुषे ।गृह्णामि ।इन्द्रावरुणाभ्याम्। त्वा । देवाव्यमितिदेवऽअव्यम् । यज्ञस्य। आयुषे । गृह्णा-मि । इन्द्राबृहस्पतिभ्यामितीन्द्राबृहस्पतिऽभ्याम । त्वा । देवाव्यमितिदेवअव्यम् । यज्ञस्य । आयुषे । गृह्णामि।इन्द्राविष्णुभ्यामितीन्द्राविष्णुभ्याम्।त्वा।देवा-मितिदेवअव्यम् ।यज्ञस्य । आयुषे । गृह्णामि ॥२३॥

पदार्थः—(मित्रावरुणाभ्याम्) सख्युत्कृष्टाभ्याम् (त्वा)सभापतिं पूर्णविद्यसुपदेशकं वा (देवाव्यम्) योदेवानवति स देवावीस्तं । अवितृस्तृतंत्रिभ्यईः । उ० ३ । १५६ । इति सूत्रेणावधातोरीःप्रत्ययः (यज्ञस्य) अग्निहोत्रादे राज्यपालनांतस्य (आयुषे) उन्नत्यै (गृह्णामि) (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यवते (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम्) विद्वद्रक्षकम (यज्ञस्य) सत्संगतिकरणस्य (आयुषे) (गृह्णामि) (इन्द्राग्निभ्याम) विद्युत्प्रसिद्धाभ्यांवन्हिभ्याम् (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम्) दिव्यविद्याबोधकम (यज्ञस्य) शिल्पविद्याकार्य्यसिद्धिकरस्य (आयुषे) (गृह्णामि) वृणोमि (इन्द्रावरुणाभ्याम्)

विद्युज्जलाभ्याम (त्वा) त्वाम (देवाव्यम) एतद्दिव्यविद्याऽध्यापकम् (यज्ञस्य) क्रियाकौशलसंगतस्य (आयुषे) (गृह्णामि) (इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्) राजानूचानाभ्यां विद्वद्भ्याम् (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम्) प्रशस्तयोगविद्याप्रापकम् (यज्ञस्य) योगविद्याप्रापकस्य विज्ञानस्य (आयुषे) (गृह्णामि) अङ्गीकरोमि (इन्द्राविष्णुभ्याम) ईश्वरवेदज्ञानाभ्याम (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम) ब्रह्मविदांतर्पकम् (यज्ञस्य) ज्ञानमयस्य (आयुषे) वृद्धये (गृह्णामि)। अयं मंत्रः शत० ४।२।२।१२-१८। व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे सभापते धर्मार्थकाममोक्षानिच्छुरहं यज्ञस्यायुषे मित्रावरुणाभ्यां देवाव्यं त्वां गृह्णामि हे सेनापते विद्वन् यज्ञस्यायुष इन्द्राय देवाव्यं त्वा गृह्णामि हे यज्ञ।स्वविद्याविद्यायुक्तस्यायुष इन्द्राग्निभ्यां त्वा त्वां गृह्णामि हे शिल्पिन् यज्ञस्यायुष इन्द्रावरुणाभ्यां त्वा त्वां गृह्णामि तथा यज्ञस्यायुष इन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा त्वां गृह्णामि हे विद्वन् यज्ञस्यायुष इन्द्राविष्णुभ्यां त्वा त्वां गृह्णामि ॥ २३ ॥

भावार्थः—प्रजाजनैः सकलशास्त्रप्रचाराय सर्वविद्याकुशलोऽतिशयितब्रह्मचर्यादिकर्मानुष्ठाता सभाध्यक्षः कर्त्तव्यः सोपि प्रीत्या सकलशास्त्रं प्रचारयेत् ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे सभापते ! धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की इच्छा करने वाला मैं (यज्ञस्य अग्निहोत्र से लेकर राज्यपालन पर्यन्त यज्ञ की (आयुषे) उन्नति होने के लिये (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्र और उत्तम विद्यायुक्त पुरुषों के अर्थ (देवाव्यम्) विद्वानों की रक्षा करने वाले (त्वा) तुझ को (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं। हे सेनापते विद्वन (यज्ञस्य) सत्संगति करने की (आयुषे) उन्नति

के लिये (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यवान् पुरुष के अर्थ (देवाव्यम्) विद्वानों की रक्षा करने वाले (त्वा) तुझ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं । हे शस्त्रास्त्रविद्या के जानने वाले प्रवीण (यज्ञस्य) शिल्पविद्या के कामों की सिद्धि की (आयुषे) प्राप्ति के लिये (इन्द्राग्निभ्याम्) बिजली और प्रसिद्ध आग के गुण प्रकाश होने के अर्थ (देवाव्यम्) दिव्यविद्या बोध की रक्षा करने वाले (त्वा) तुझ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं । हे शिल्पिन (यज्ञस्य) क्रियाचतुराई का (आयुषे) ज्ञान होने के लिये (इन्द्रावरुणाभ्याम्) बिजली और जल के गुणप्रकाश होने के अर्थ (देवाव्यम्) जल की विद्या जानने वाले (त्वा) तुझ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं । हे अध्यापक (यज्ञस्य) पढ़ने पढ़ाने की (आयुषे) उन्नति के लिये (इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्) राजा और शास्त्रवक्ताओं के अर्थ (देवाव्यम्) प्रशंसित योग विद्या के जानने और प्राप्त कराने वाले (त्वा) तुझ को (गृह्णामि)ग्रहण करता हूं । हे विद्वन् (यज्ञस्य) विज्ञान की (आयुषे) बढ़ती के लिये (इन्द्राविष्णुभ्याम्) ईश्वर और वेदशास्त्र के जानने के अर्थ (देवाव्यम्) ब्रह्मज्ञानी को तृप्त करने वाले (त्वा) तुझ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ २३ ॥

भावार्थः— प्रजाजनों को उचित है कि सकल शास्त्र का प्रचार होने के लिये सब विद्याओं में कुशल और अत्यन्त ब्रह्मचर्य्य के अनुष्ठान करने वाले पुरुष को सभापति करें और वह सभापति भी परम प्रीति के साथ सकल शास्त्र का प्रचार करता कराता रहे ॥ २३ ॥

मूर्द्धानमित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
आर्षीत्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अथ विद्वत्कृत्यमाह ॥
इसके अनन्तर विद्वानों का कर्म्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

मूर्द्धानन्दिवोऽअरतिम्पृथिव्यावैश्वानरमृतऽआजातमग्निम् । कविꣳसम्राजमतिथिं जनानामासन्नापात्रं जनयंत देवाः ॥ २४ ॥

मूर्द्धानम् । दिवः । अरतिम् । पृथिव्याः । वैश्वानरम् । ऋते । आ । जातम् । अग्निम् । कविम् । सम्राजमिति सम्ऽराजम् । अतिथिम् । जनानाम् । आसन् । आ । पात्रम् । जनयन्त । देवाः ॥ २४ ॥

पदार्थः–(मूर्द्धानम्) शिरोवद्वर्त्तमानम् (दिवः) द्योतमानस्य सूर्य्यस्य (अरतिम्) ऋच्छति प्राप्नोति तम् । (पृथिव्याः) (वैश्वानरम्) यो विश्वान् नरानानन्दान्नयति तम् । वैश्वानरः कस्माद्विश्वान्नरान्नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वापि वा विश्वानर एव स्यात् । निरु० ७ । २१ । (ऋते) सत्ये । ऋतमिति सत्यनामसु पठितम् निघं० ३ । १० । (आ) समन्तात् (जातम्) प्रसिद्धम् (अग्निम्) शुभगुणैः प्रकाशमानम् (कविम्) क्रान्तदर्शनम् (सम्राजम्) चक्रवर्त्तिनामिव (अतिथिम्) अतिथिवत्पूज्यम (जनानाम) सत्पुरुषाणाम् (आसन्) मुखे । अत्रास्य शब्दस्य पद्दन्नोमास० ६ । १ । ६३ । अनेनासन्नादेशः । सपां सलुगिति सप्तम्येकवचनस्य लुक् । (आ) समन्तात् (पात्रम्) पाति रक्षति समस्तं शिल्पव्यवहारं यस्तम् (जनयन्त) उत्पादयन्त । अत्र लोडर्थे लङडभावश्च (देवाः) धनुर्वेदविदो विद्वांसः । अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । ३ । २४ तथा ब्रा० ४ । १ । व्याख्यातः ॥ २४ ॥

अन्वयः–यथा देवा धनुर्विदो विद्वांसो धनुर्वेदशिक्षया दिवो मूर्द्धानं पृथिव्या अरतिमृते राजानं वैश्वानरं जनानामतिथिमासन् पात्रं कविमग्निं सम्राजमिवाजनयन्त तथा सर्वैरनुष्ठेयम् ॥ २४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः । यथा सत्पुरुषाः धनुर्वेदज्ञाः परोपकारिणो विद्वांसो धनुर्वेदोक्तक्रियाभिः यानेषु शस्त्रास्त्रविद्यायां चानेकधाग्निं प्रदीप्य शत्रून्विजयंते तथैवान्यैरपि सर्वैर्जनैराचरणीयम् ॥ २४ ॥

पदार्थः—जैसे (देवाः) धनुर्वेद के जानने वाले विद्वान् लोग इस धनुर्वेद की शिक्षा से (दिवः) प्रकाशमान सूर्य्य के (मूर्द्धानम्) शिर के समान (पृथिव्याः) पृथिवी के गुणों को (अरतिम्) प्राप्त होने वाले (ऋते) सत्यमार्ग में (आजातम्) सत्यव्यवहार में अच्छे प्रकार प्रसिद्ध (वैश्वानरम्) समस्त मनुष्यों को आनन्द पहुंचाने और (जनानाम्) सत्पुरुषों के (अतिथिम्) अतिथि के समान सत्कार करने योग्य और (आसन्) अपने शुद्ध यज्ञरूप मुख में (पात्रम्) समस्त शिल्प व्यवहार की रक्षा करने (कविम्) और अनेक प्रकार से प्रदीप्त होने वाले (अग्निम्) शुभगुण प्रकाशित अग्नि को (सम्राजम्) एकचक्रराज्य करने वाले के समान (आ) अच्छे प्रकार से (जनयंत) प्रकाशित करते हैं वैसे सब मनुष्यों को करना योग्य है ॥ २४ ॥

भावार्थः— इस मन्त्र में उपमालंकार है । जैसे सत्पुरुष धनुर्वेद के जानने वाले परोपकारी विद्वान् लोग धनुर्वेद में कही हुई क्रियाओं से यानों और शस्त्रास्त्र विद्या में अनेक प्रकार से अग्नि को प्रदीप्त कर शत्रुओं को जीता करते हैं वैसे ही अन्य सब मनुष्यों को भी अपना आचरण करना योग्य है ॥ २४ ॥

उपयामगृहीतस्येत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । वैश्वानरो देवता । याजुष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः । ध्रुवोसीत्यस्य ध्रुवमित्यस्य च विराडार्षी बृहतीछन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथेश्वरगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब अगले मन्त्र में ईश्वर के गुणों का उपदेश किया है ॥

उपयामगृहीतोसिध्रुवोसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोच्युतानामच्युतक्षित्तमएष ते योनिर्वै-

श्वानरार्य त्वा । ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सो-
ममवनयामि । अथा नऽइन्द्रऽइद्विशोऽसपत्नाः
समनसस्करत् ॥ २५ ॥

उपयामगृहीतइत्युपयामगृहीतः । असि । ध्रुवः ।
असि । ध्रुवक्षितिरितिध्रुवऽक्षितिः । ध्रुवाणाम् । ध्रु-
वतमइतिध्रुवऽतमः । अच्युतानाम् । अच्युताक्षित्तम-
ऽइत्यच्युतक्षित् तमः । एषः । ते । योनिः । वैश्वान-
राय । त्वा । ध्रुवम् । ध्रुवेण । मनसा । वाचा । सो-
मम् । अव । नयामि । अथ । नः । इन्द्रः । इत् । विशः ।
असपत्नाः । समनसऽइति सऽमनसः । करत् ॥ २५ ॥

पदार्थः— (उपयामगृहीतः) यमानां समूहो यामम् । उ-
पगतं च तद्याम चोपयाममुपयामेन गृहीतउपयामगृहीतः
परमेश्वरः (असि) (ध्रुवः) स्थिरः (असि) (ध्रुव-
क्षितिः) ध्रुवा क्षितयो भूमयो यस्मिन् (ध्रुवाणाम्) आ-
काशादीनां मध्ये (ध्रुवतमः) अतिशयेन ध्रुवो ध्रुवतमः
(अच्युतानाम्) कारणजीवानाम् (अच्युतक्षित्तमः) अ-
च्युतं क्षयति निवासयति सोऽतिशयितः (एषः)

सत्यमार्गप्रकाशः (ते) तव (योनिः) स्थानमिव(वैश्वानराय) विश्वेषां नराणां नायकाय सत्यप्रकाशकाय (त्वा) त्वाम् (ध्रुवम्) निश्चयम् (ध्रुवेण) निष्कम्पेण (मनसा) अन्तःकरणेन (वाचा) वाण्या (सोमम्) सकलजगतः प्रसवितारम् (अव) (नयामि)स्वीकरोमि (अथ) अनन्तरम् (नः) अस्माकम् (इन्द्रः) सर्वदुःखविदारकः (इव) एव (विशः) प्रजाः (असपत्नाः) अजातशत्रवः (समनसः) समानंमनः स्वान्तंयासांताः । (करत) करोतु । लेट्प्रयोगोऽयम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर ! त्वमुपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिध्रुवाणां ध्रुवतमस्तथा चाच्युतानामच्युतक्षित्तमोऽसि । एष ते योनिरस्ति । अस्मै वैश्वानराय राज्यप्रकाशकाय ध्रुवेण मनसा ध्रुवया वाचा च सोमं त्वां ध्रुवमवनयामि ! अथेन्द्रो भवान् नो विशोऽसपत्नाः समनसइदेव करत्करोतु ॥ २५ ॥

भावार्थः— योऽनित्यानां नित्यो ध्रुवाणामपि ध्रुवः परमेश्वरस्तस्य सर्वजगदेकस्येश्वरस्य प्राप्त्या योगाभ्यासानुष्ठानेन चैव विज्ञानं जायते नान्यथा ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! आप (उपयामगृहीतः) शास्त्रप्राप्तनियमों से स्वीकार किये जाते (असि) हैं ऐसे ही (ध्रुवः) स्थिर (असि) हैं कि (ध्रुवक्षितिः) जिन आप में भूमि स्थिर हो रही हैं और (ध्रुवाणाम्) स्थिर आकाश आदि पदार्थों में (ध्रुवतमः) अत्यन्त स्थिर (असि) हैं तथा (अच्युतानाम्) अविनाशी जगत् का कारण और अनादि सिद्ध जीवों में (अच्युतक्षित्तमः) अतिशय करके अविनाशिपन बसाने वाले हैं (एषः) यह सत्य के मार्ग का प्रकाश (ते) आप के (योनिः) निवासस्थान के समान है (वैश्वानराय) समस्त मनुष्यों को सत्यमार्ग में प्राप्त कराने वाले वा इस राज्यप्रकाश के लिये (ध्रुवेण) दृढ़ (मनसा) मन और (वाचा) वाणी से (सोमम्) समस्त जगत् के उत्पन्न करने वाले (त्वा) आप को (ध्रुवम्) निश्चय पूर्वक जैसे

हो वैसे (अवनयामि) स्वीकार करता हूं (अथ) इस के अनन्तर (इन्द्रः) सब दुःख के विनाश करने वाले आप (नः) हमारे (विशः) प्रजा जनों को (असपत्नाः) शत्रुओं से रहित और (समनसः) एकमन अर्थात् एक दूसरे के सुख चाहने वाले (इत्) ही (करत्) कीजिये ॥ २५ ॥

भावार्थः—जो नित्य पदार्थों में नित्य और स्थिरों में भी स्थिर परमेश्वर है उस समस्त जगत् के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर की प्राप्ति और योगाभ्यास के अनुष्ठान से ही ठीक २ ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २५ ॥

यस्त इत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । यज्ञो देवता । स्वराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथेश्वरो यज्ञानुष्ठातारमुपदिशति ॥

अब ईश्वर यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले को उपदेश करता है ॥

यस्ते॑ द्र॒प्सस्कन्द॑ति॒ यस्ते॑ अ॒ꣳशुर्ग्राव॑च्युतो धि॒षण॑योरु॒पस्था॑त् । अ॒ध्व॒र्योर्वा॒ परि॑ वा॒ यः प॒वित्रा॒त्तन्ते॑ जुहोमि॒ मन॑सा॒ वष॑ट्कृत॒ꣳ स्वाहा॑ दे॒वाना॑मुत्क्रम॑णमसि ॥ २६ ॥

यः । ते॒ । द्र॒प्सः । स्कन्द॑ति । यः । अ॒ꣳशुः । ग्राव॑च्युत॒ इति॒ ग्राव॑ऽच्युतः । धि॒षण॑योः । उ॒पस्था॒दित्यु॒पऽस्था॑त् । अ॒ध्व॒र्योः । वा॒ । परि॑ । वा॒ । यः । प॒वित्रा॑त् । तम् । ते॒ । जु॒हो॒मि॒ । मन॑सा । वष॑ट्कृत॒मिति॒ वष॑ट्ऽकृतम् । स्वाहा॑ । दे॒वाना॑म् । उ॒त्क्रम॑ण॒मित्यु॑त्ऽक्रम॑णम् । अ॒सि॒ ॥ २६ ॥

पदार्थः—(यः) यजमानः (ते) तव (द्रप्सः) यज्ञपदार्थसमूहः अत्र—बाशर्मकरणे खर्परलोपइतिविसर्जनीयलोपः । (स्कन्दति) अन्यान् प्रति गच्छति (यः) (ते) तव (अंशुः) संविभागः अत्रामधातोरुः प्रत्ययः शकारागमश्च । (ग्रावच्युतः) ग्राव्णो मेघाच्च्युतः ग्रावेति मेघनामसु पठितम् निघं० १। १० । (धिषणयोः) द्यावापृथिवीनामसु पठितम् । ३। ३० (उपस्थात्) समीपस्थात् (अध्वर्योः) (वा) होत्रादीनां समुच्चये (परि) सर्वतः (वा) शुद्धगुणानां समुच्चये (यः) शुद्धपदार्थसमूहः (पवित्रात्) निर्मलात् (तं) (ते) तुभ्यम् (जुहोमि) ददामि (मनसा) सुविचारेण (वषट्कृतम्) संकल्पितमिव (स्वाहा) सत्यवाचा (देवानाम्) आप्तानां विदुषाम् । (उत्क्रमणम्) ऊर्ध्वक्रमणं तेजइव (असि) अयं मंत्रः । शत० ४। २। ४। २। व्याख्यातः ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे यज्ञपते ! यस्ते द्रप्सः स्कंदति वायुना सह सर्वत्र गच्छति यश्च ग्रावच्युतोंऽशुर्धिषणयोः पवित्रादुपस्थात्। योवा अध्वर्योः सकाशात् परितो वा प्रकाशते तस्मात्तमहं ते स्वाहा मनसा वषट्कृतं जुहोमि तत्फलदानेन तुभ्यं प्रयच्छामि यतस्त्वं यज्ञानुष्ठाता देवानामुत्क्रमणमिवासि॥२६॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। होत्रादयो विद्वांसोऽतीवदृढया सामग्र्या यज्ञमनुष्ठीयमानान् सुरभियुक्तान् पदार्थानग्नौ प्रक्षिपन्ति ते जलवायुं संशोध्य मेघेन सह पृथिवीं प्राप्य सर्वान् रोगान्निवर्त्य सर्वान् प्राणिन आनन्दयन्ति । अतः सर्वैर्मनुष्यैरयं यज्ञः सदा सेव्यः ॥ २६ ॥

पदार्थः— हे यज्ञपते ! (यः) जो (ते) तेरा (द्रप्सः) यज्ञ के पदार्थों का समूह (स्कन्दति) पवन के साथ सब जगह में प्राप्त होता है और (यः) जो (ते) तेरे यज्ञ से युक्त (ग्रावच्युतः) मेघमण्डल से छूटा हुआ (अंशुः) यज्ञ के पदार्थों का विभाग (धिषणायाः) प्रकाश भूमि के (पवित्रात्) पवित्र (उपस्थात्) गोद के समान स्थान से (वा) अथवा (यः) जो (अध्वर्योः) यज्ञ करने वालों से (वा) अथवा (परि) सब से प्रकाशित होता है इस से (तम्) उस यज्ञ को मैं (ते) तेरे लिये (स्वाहा) सत्यवाणी और (मनसा) मन से (वषट्कृतम्) किये हुए संकल्प के समान (जुहोमि) देता हूं अर्थात् उस के फलदायक होने से तेरे लिये उस पदार्थ को पहुंचाता हूं जिस लिये यज्ञ का अनुष्ठान करने हारा तू (देवानाम्) विद्वानों के लिये (उत्क्रमणम्) ऊंची श्रेणी को प्राप्त करने वाले ऐश्वर्य के समान (असि) है इस से मुझ को सुख प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालङ्कार है । होता आदि विद्वान् ! लोग अत्यन्त द्रव सामग्री से यज्ञ करते हुए जिन सुगन्धि आदि पदार्थों को अग्नि में छोड़ते हैं वे पवन और जलादि पदार्थों को पवित्र कर उस के साथ पृथिवी पर आ और सब प्रकार के रोगों को निवृत्त कर के सब प्राणियों को आनन्द देते हैं इस कारण सब मनुष्यों को इस यज्ञ का सदा सेवन करना चाहिये ॥ २६ ॥

प्राणायेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । यज्ञपतिर्देवता । प्राणायेत्यस्य स्य चासुर्य्यनुष्टुप्, उदानायेत्यस्यासुर्य्युष्णिक्, व्यानायेत्य वाचेम इत्यस्य साम्नी गायत्री, क्रतुदक्षाभ्यामित्यस्या-सुरी गायत्री, श्रोत्रायेत्यस्यासुर्य्यनुष्टुप्, चक्षुर्भ्यामित्यस्य चासुर्य्युष्णिक् छन्दांसि । अनुष्टुभो गान्धारो गायत्र्याः षड्जः उष्णिज ऋषभश्च स्वराः ॥

पुनरध्ययनाध्यापनाख्ययज्ञकर्तुर्विषयान्तरमाह ।

फिर पठनपाठन यज्ञ के करने वाले का विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व क्रतुदक्षाभ्यां मे वर्चोदा

वर्चसे पवस्व श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व चक्षुर्भ्याम् मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २७ ॥

प्राणाय । मे । वर्चोदाऽइति वर्चः ऽदाः । वर्चसे । पवस्व । व्यानायेति विऽआनाय । मे । वर्चोदाऽइति वर्चः ऽदाः । वर्चसे । पवस्व । उदानायेत्युत्ऽआनाय । मे । वर्चोदा ऽइति वर्चः ऽदाः । वर्चसे । पवस्व । वाचे । मे । वर्चोदाऽइति वर्चः ऽदाः । वर्चसे । पवस्व । क्रतूदक्षाभ्याम् । मे । वर्चोदाऽइति वर्चः ऽदाः । वर्चसे । पवस्व । श्रोत्राय । मे । वर्चोदाऽइति वर्चः ऽदाः । वर्चसे । पवस्व । चक्षुर्भ्यामिति चक्षुःऽभ्याम् । मे । वर्चोदसाविति वर्चःऽदसौ । वर्चसे । पवेथाम् ॥२७॥

पदार्थः—(प्राणाय) प्राणिति जीवयतीति प्राणो हृदयस्थो वायुस्तस्मै (मे) मम (वर्चोदाः) यथायोग्यं प्रकाशं ददाति तत्संबुद्धौ (वर्चसे) विद्याप्रकाशाय (पवस्व) पवित्रतया प्राप्नुहि । (व्यानाय) सर्वशरीरगतवायवे (मे) मम (वर्चोदाः) दीप्तिप्रदो जाठराग्निरिव (वर्चसे) अन्नाय । वर्च इत्यन्ननामसु

पठितम् निघं०२। ७। (पवस्व) (उदानाय) (मे) मम (वर्चोदाः) वर्चो विद्याबलं ददातीति (वर्चसे) पराक्रमाय (पवस्व)(वाचे)वाण्यै (मे) मम (वर्चोदाः) सत्यवक्तृत्वप्रदः (वर्चसे) प्रागल्भ्याय(पवस्व)प्रवर्त्तस्व(क्रतूदक्षाभ्याम्)प्रज्ञाबलाभ्याम् (मे)मम(वर्चोदाः)विज्ञानप्रदः(वर्चसे)शब्दार्थसंबन्धविज्ञानाय(पवस्व)उपदिश(श्रोत्राय) शब्दज्ञानाय (मे)मम (वर्चोदाः) तज्ज्ञानदः (वर्चसे) अध्ययनदीप्त्यै (पवस्व) प्रापको भव (चक्षुर्भ्याम्) (मे) मम (वर्चोदसौ) सूर्याचंन्द्रमसाविवातिशयव्यापकौ (वर्चसे) शुद्धसिद्धांतप्रकाशाय (पवेथाम्)प्राप्नुतम्। अयम्मंत्रः। शत० ४। २। ४। ३—६ व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे वर्चोदा अध्येतरध्यापक त्वं मम प्राणायवर्चसे पवस्व। हेवर्चोदा मम व्यानाय वर्चसेपवस्व। हे वर्चोदा मे ममोदानाय वर्चसे पवस्व। हेवर्चोदा मे मम वाचे वर्चसे पवस्व हे वर्चोदसौ युवां मे मम चक्षुर्भ्यां वर्चसे पवेथाम् ॥ २७ ॥

भावार्थः—यो मनुष्यो विद्यावृद्धये पठनपाठनरूपं यज्ञकर्म करोति स सर्वे पुष्टिसंतुष्टिकरो भवत्यत एवं सर्वैरनुष्ठातव्यम् ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे (वर्चोदाः) यथायोग्य विद्या पढ़ने पढ़ाने रूप यज्ञ कर्म करने वाले आप (मे)मेरे (प्राणाय)हृदयस्थजीवन के हेतु प्राणवायु और (वर्चसे) वेद विद्या के प्रकाश के लिये (पवस्व) पवित्रता से वर्त्तें, हे (वर्चोदाः) ज्ञान दीप्ति के देने वाले जाठराग्नि के समान आप (मे) मेरे(व्यानाय) सब शरीर में रहने वाले पवन और (वर्चसे) अन्न आदि पदार्थों के लिये (पवस्व) पवित्रता से प्राप्त होवें हे (वर्चोदाः) विद्या बल देने वाले आप (मे) (उदानाय) श्वास से ऊपर को आने वाले उदान संज्ञक पवन और (वर्चसे) पराक्रम के लिये (पवस्व) ज्ञान दीजिये। हे(वर्चोदाः) सत्य बोलने का उपदेश करने वाले आप (मे) मेरी (वाचे) वा-

णी और (वर्चसे) प्रगल्भता के लिये (पवस्व) प्रवृत्त हूजिये (वर्चोदाः) विज्ञान देने वाले आप (मे) मेरे (क्रतूदक्षाभ्याम्) बुद्धि और आत्मबल की उन्नति और (वर्चसे) अच्छे बोध के लिये (पवस्व) शिक्षा कीजिये। हे (वर्चोदाः) शब्द ज्ञान के देने वाले यज्ञपति आप (मे) मेरे (श्रोत्राय) शब्द ग्रहण करने वाले कर्णेन्द्रिय के लिये (वर्चसे) शब्दों के अर्थ और सम्बन्ध का (पवस्व) उपदेश करें हे (वर्चोदसौ) सूर्य और चन्द्रमा के समान अतिथि और पढ़ाने वाले आप दोनों (मे) मेरे (चक्षुर्भ्याम्) नेत्रों के लिये (वर्चसे) शुद्ध सिद्धांत के प्रकाश को (पवस्व) प्राप्त हूजिये ॥ २७ ॥

भावार्थः— जो विद्या की वृद्धि के लिये पठन पाठन रूप यज्ञ कर्म करने वाला मनुष्य है वह अपने यज्ञ के अनुष्ठान से सब की पुष्टि तथा संतोष करने वाला होता है इस से ऐसा प्रयत्न सब मनुष्यों को करना उचित है ॥ २७ ॥

आत्मन इत्यस्य देवश्रवा ऋषिः। यज्ञपतिर्देवता।
ब्राह्मी बृहतीच्छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेवाह ॥

फिर भी उक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २८ ॥

आत्मने। मे। वर्चोदाऽइति वर्चःऽदाः। वर्चसे। पवस्व। ओजसे। मे। वर्चोदाऽइतिवर्चःऽदाः। वर्चसे। पवस्व। आयुषे। मे। वर्चोदाऽइति वर्चःऽदाः। वर्चसे।

पवस्व । विश्वाभ्यः । मे । प्रजाभ्य इति प्रजाऽभ्यः । वर्चोदसाविति वर्चःऽदसौ । वर्चसे । पवेथाम् ॥ २८ ॥

पदार्थः— (आत्मने) इच्छादिगुणसमवेताय स्वस्वरूपाय (मे) मम (वर्चोदाः) योगब्रह्मविद्याप्रद (वर्चसे) निजात्मप्रकाशाय (पवस्व) प्रापय (ओजसे) आत्मबलाय । ओज इति बलनामसु पठितम् निघं० २ । ९ (मे) मम (वर्चोदाः) विद्याप्रद (वर्चसे) योगबलप्रकाशाय (पवस्व) विज्ञापय (आयुषे) जीवनाय (मे) (वर्चोदाः) वर्चो बलं ददाति तत्सम्बुद्धौ (वर्चसे) रोगापहारकायौषधाय (पवस्व) गमय (विश्वाभ्यः) समस्ताभ्यः (मे) मम (प्रजाभ्यः) पालनीयाभ्यः (वर्चोदसौ) न्यायप्रकाशकौ सर्वाभिप्रायतारौ सभापतिन्यायाधीशाविव योगारूढयोगजिज्ञासू (वर्चसे) सद्गुणप्रकाशाय (पवेथाम्) प्रापयेथाम् ॥ २८ ॥

अन्वयः— हे वर्चोदा विद्वंस्त्वं मे ममात्मने वर्चसे पवस्व हे वर्चोदा म ओजसे वर्चसे पवस्व हे वर्चोदा मे ममायुषे वर्चसे पवस्व हे वर्चोदसौ युवाम्मे मम विश्वाभ्यः प्रजाभ्यो वर्चसे पवेथाम् ॥२८ ॥

भावार्थः - नैव योगेन विना कश्चिदपि पूर्णविद्यो भवति नच पूर्णया विद्यया विना स्वात्मपरमात्मनोर्बोध कथंचिज्जायते नापि तेन विना सत्पुरुषवत् प्रजाः पालयितुम् कश्चिदपि शक्नोति तस्माद्योगविधिरयं सर्वजनैः संसेव्यः ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे (वर्चोदाः) योग और ब्रह्मविद्या देने वाले विद्वन् आप (मे) मेरे (आत्मने) इच्छादिगुणयुक्त चेतन के लिये (वर्चसे) अपने आत्मा के प्रकाश

को (पवस्व) प्राप्त कीजिये। हे (वर्चोदाः) उक्त विद्या देने वाले विद्वान् आप (मे) मेरे (ओजसे) आत्मबल होने के लिये (वर्चसे) योग बल को (पवस्व) जनाइये हे (वर्चोदाः) बल देने वाले (मे) मेरे (आयुषे) जीवन के लिये (वर्चसे) रोग छुड़ाने वाले औषध को (पवस्व) प्राप्त कीजिये हे (वर्चोदसौ) योगविद्या के पढ़ने पढ़ाने वालो तुम दोनों (मे) मेरी (विश्वाभ्यः) समस्त (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (वर्चसे) सद्गुण प्रकाश करने को (पवेथाम्) प्राप्त कराया करो ॥ २८ ॥

भावार्थः—योग विद्या के बिना कोई भी मनुष्य पूर्ण विद्यावान् नहीं होसकता और न पूर्णविद्या के बिना अपने स्वरूप और परमात्मा का ज्ञान कभी होता है और न इसके बिना कोई न्यायाधीश सत्पुरुषों के समान प्रजा की रक्षा कर सकता है इस लिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस योगविद्या का सेवन निरन्तर किया करें ॥ २८ ॥

कोऽसीत्यस्य देवश्रवा ऋषिः प्रजापतिर्देवता । आर्षीपंक्तिश्छन्दः । भूर्भुवस्वरित्यस्य भुरिक् साम्नी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ।

सभापती राजा प्रजासेनासभ्यजनान् प्रति किं किं वदेदित्याह ।

सभापति राजा प्रजा सेना और सभ्यजनों को क्या २ कहे यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ॥ यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम । भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ २९ ॥

कः । असि । कतमः । असि । कस्य । असि । कः । नाम । असि । यस्य । ते । नाम । अमन्महि ।

यम् । त्वा । सोमेन । अतीतृपाम । भूरिति भूः । भुवरिति भुवः । स्वरिति स्वः । सुप्रजाइतिसुऽप्रजाः । प्रजाभिः । स्याम् । सुवीरइतिसुऽवीरः । वीरैः । सुपोषइतिसुऽपोषः । पोषैः ॥ २९ ॥

पदार्थः—(कः) (असि) (कतमः) बहूनां मध्ये कः (असि) (कस्य) (असि) (कः) (नाम) ख्यातिः (असि) (यस्य) (ते) तव (नाम) (अमन्महि) विजानीमहि । अत्र लिङर्थे लङ् । बहुलं छन्दसीति विकरणलुक् (यम) (त्वा) त्वाम् (सोमेन) ऐश्वर्य्येण (अतीतृपाम) तर्प्पयाम (भूः) भूमेः (भुवः) अंतरिक्षस्य (स्वः) आदित्यलोकस्य (सुप्रजाः) सुष्ठु प्रजासहितः (प्रजाभिः) अनुकूलाभिः पालनीयाभिः सह (स्याम्) भवेयम (सुवीरः) प्रशस्तवीरयुक्तः (वीरैः) शरीरात्मबलयुक्तैर्युद्धकुशलैः सह (सुपोषः) प्रशस्तपुष्टिः (पोषैः) पुष्टिभिः ॥ २९ ॥

अन्वयः— सभ्यसेनास्थप्रजाजना वयं त्वं कोसि कतमोसि कस्यासि कोनामासि किन्नामा प्रसिद्धोसि यस्य ते तव नाम वयममन्महि यं त्वा त्वां सोमेनातीतृपामेति पृच्छामो ब्रूहि तान् प्रति सभापतिराह भूर्भुवः स्वर्लोकमुखमिवात्मसुखमभीप्सुरहं युष्माभिः प्रजाभिः सुप्रजाः वीरैः सुवीरः पोषैः सुपोषश्च स्यामिति प्रति जाने ॥ २९ ॥

भावार्थः— सभापती राजा सत्यन्यायप्रियव्यवहारेण सभ्यसैन्यप्रजाजनानभिरक्ष्य वर्द्धयेत् प्रबलतरवीरान् सेनासु संपादयेद्यत उत्कृष्टसुखवर्द्धकेन साम्येन भूम्यादिसुखं प्राप्नुयादिति ॥ २९ ॥

पदार्थः—सभा सेना और प्रजा में रहने वाले हम लोग पूछते हैं कि तू (कः) कौन (असि) है (कतमः) बहुतों के बीच कौनसा (असि) है (कस्य) किसका (असि) है (कः) क्या (नाम) तेरा नाम (असि) है (यस्य) जिस (ते) तेरी (नाम) संज्ञा को (अमन्महि) जानें और (यम्) जिस (त्वा) तुझको (सोमेन) धन आदि पदार्थों से (अतीतृपाम) तृप्त करें यह कहे उन से सभापति कहता है कि (भूः) भूमि (भुवः) अन्तरिक्ष और (स्वः) आदित्यलोक के सुख के सदृश आत्म सुख की कामना करने वाला मैं तुम (प्रजाभिः) प्रजालोगों के साथ (सुप्रजाः) श्रेष्ठप्रजा वाला (वीरैः) तुम वीरों से (सुवीरः) श्रेष्ठ वीर युक्त (पोषैः) पुष्टिकारक पदार्थों से (सुपोषः) अच्छा पुष्ट (स्याम्) होऊं । अर्थात् तुम सब लोगों से पृथक् न तो स्वतन्त्र मेरा कोई नाम और न कोई विशेष संबन्धी है ॥ २९ ॥

भावार्थः—सभापति राजा को योग्य है कि सत्यन्यायुक्त प्रिय व्यवहार से सभा सेना और प्रजा के जनों की रक्षा कर के उन सभों की उन्नति देवे और अतिप्रबल वीरों को सेना में रक्खे जिस से कि बहुत सुख बढ़ाने वाले राज्य में भूमि आदि लोकों के सुख को प्राप्त होवे ॥ २९ ॥

उपयामगृहीतोसीत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । आद्यस्य साम्नी गायत्री द्वितीयस्यासुर्यनुष्टुप् तृतीयचतुर्थपंचमानां साम्नी गायत्री षष्ठस्यासुर्यनुष्टुप् सप्तमाष्टमयोर्याजुषी पंक्तिर्नवमस्य साम्नी गायत्री दशमस्यासुर्यनुष्टुप् एकादशस्य साम्नी गायत्री द्वादशस्यासुर्यनुष्टुप् त्रयोदशस्यासुर्युष्णिक् छन्दांसि, अत्र गायत्र्याः षड्जः, अनुष्टुभो गांधारः, पंक्तेः पंचमः, उष्णिज ऋषभश्च स्वराः ॥

पुनर्विषयान्तरेण तदेवाह ।

फिर भी विषयान्तर से वही उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

उपयामगृहीतोसि मधवे त्वोपयामगृहीतोसि माधवाय त्वोपयामगृहीतोसि शुक्राय त्वोपयामगृहीतोसि शुचये त्वोपयामगृहीतोसि नभसे त्वोपयामगृहीतोसि नभस्याय त्वोपयामगृहीतोसीषे त्वोपयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वोपयामगृहीतोसि सहसे त्वोपयामगृहीतोसि सहस्याय त्वोपयामगृहीतोसि तपसे त्वोपयामगृहीतोसि तपस्याय त्वोपयामगृहीतोस्यꣳहसस्पतये त्वा॥३०॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । मधवे । त्वा । उपयामगृहीत इत्युपयामगृहीतः । असि । माधवाय । त्वा । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । शुक्राय । त्वा । उपयामगृहीत इत्युपयामगृहीतः । असि । शुचये । त्वा । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । नभसे । त्वा । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः ।

असि । नभस्याय । त्वा। उपयामगृहीतइत्युपया-मऽगृहीतः । असि । इषे । त्वा । उपयामगृहीतइत्यु-पयामऽ गृहीतः । असि । ऊर्ज्जे । त्वा । उपयामगृ-हीतइत्युपयामऽगृहीतः । असि । सहसे । त्वा । उ-पयामगृहीतइत्यु पयामऽगृहीतः । असि । सहस्याय । त्वा । उपयामगृहीतइत्युपयामऽगृहीतः । असि । तपसे। त्वा । उपयामगृहीतइत्युपयामऽगृहीतः । असि । तप-स्याय । त्वा । उपयामगृहीतइत्युपयामऽगृहीतः । अ-सि । अꣳहसस्पतये । अꣳहसः पतयऽइत्यꣳहसःऽप-तये । त्वा ॥ ३० ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) सुनियमैस्स्वीकृतः (असि) (मधवे) चैत्रमासाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (माधवाय) वैशाखमासाय (त्वा) त्वाम् (उ-पयामगृहीतः) (असि) शुक्राय) ज्येष्ठाय(त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (शुचये) आषाढाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (नभसे) श्रावणाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (नभस्याय) भाद्राय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि)(इषे)

आश्विनाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (ऊर्ज्जे) कार्त्तिकाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (सहसे) मार्गशीर्षाय (त्वा) त्वाम् । (उपयामगृहीतः) असि (सहस्याय) पौषाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) असि (तपसे) माघाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) असि (तपस्याय) फाल्गुनाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) असि (अंहसस्पतये) सर्वेषां वेगस्य पालकाय (त्वा) त्वाम् । अयम्मंत्रः । शत० ४। ३। ५। १४—२३ व्या० ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे राजन् यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि तस्मात्त्वा त्वाम्मधवे वयं स्वीकुर्म्मः। सभापतिराह हे प्रजासभासेनाजना यतो युष्माकं प्रत्येक उपयामगृहीतोऽसि तस्मादेकैकं त्वा त्वाम् मधवेऽहं स्वीकरोमि। इत्थं सर्वत्र योजना कार्य्या॥३०॥

भावार्थः—सभापतिर्यथाकालं श्रेष्ठं राज्यं प्राप्याप्तव्यवहारेण प्रजाजनेभ्यः सर्वं सुखं दद्यात् ते च राजाज्ञानुकूलव्यवहारे वर्त्तेरन्निति ॥ ३० ॥

पदार्थः—हे राजन् जिस से आप (उपयामगृहीतः) अच्छे २ राज्य प्रबन्ध के नियमों से स्वीकार किये हुए (असि) हैं इस से (त्वा) आप को (मधवे) चैत्रमास की रक्षा के लिये अर्थात् चैत्रमास प्रसिद्ध सुख कराने वाले व्यवहार की रक्षा के लिये हम लोग स्वीकार करते हैं सभापति कहता है कि हे सभासदो तथा प्रजा वा सेना जनो तुम में से एक २ (उपयामगृहीतः) अच्छे २ नियमों से स्वीकार किया हुआ (असि) है इसलिये तुम को चैत्रमास के सुख के लिये स्वीकार करता हूं इसी प्रकार बारहों महीनों के यथोक्त सुख के लिये राजा, राजसभासद्, प्रजाजन और सेनाजन परस्पर एक दूसरे को स्वीकार करते रहैं ॥ ३० ॥

भावार्थः—सभाध्यक्ष राजा को चाहिये कि यथोचित् समय को प्राप्त हो कर श्रेष्ठ राज्य व्यवहार से प्रजाजनों के लिये सब सुख देता रहे और प्रजाजन भी राजा की आज्ञा के अनुकूल व्यवहारों में वर्त्ता करें ॥ ३० ॥

इन्द्राग्नीत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । आर्षी ।
धैवतः स्वरः ॥

अथ राज्यव्यवहारेण नियुक्ते कर्म्मणि प्रवर्त्तमानौ राजप्रजा-
पुरुषौ प्रति कश्चित् स कारेणाह ॥

अब राज्य के व्यवहार से नियत राज कर्म्म में प्रवृत्त हुए राजा और प्रजा के पुरुषों
के प्रति कोई सत्कार से कहता है यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

इन्द्राग्नीऽआ गतꣳ सुतं गीर्भिर्नभो वरे-
ण्यम् । अस्य पातं धियेषिता । उपयामगृहीतो-
सीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्या-
न्त्वा ॥ ३१ ॥

इन्द्राग्नी ऽइतीन्द्राग्नी । आ । गतम् । सुतम् ।
गीर्भिरिति गीः ऽभिः । नभः । वरेण्यम् । अस्य । पातम् ।
धिया । इषिता । उपयामगृहीतइत्युपयामगृही-
तः । असि । इन्द्राग्निभ्यामितीन्द्राग्निभ्याम् । त्वा ।
एषः । ते । योनिः । इन्द्राग्निभ्यामितीन्द्राग्निऽ-
भ्याम् ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) सूर्य्याग्नी इव प्रकाशमानौ सभा-
पतिसभासदौ (आगतम्) आगच्छतम् (सुतम्) सुनुतम् ।
अत्र बहुलं छन्दसीति विकरणस्य लुक् (गीर्भिः)
सुशिक्षिताभिर्वाग्भिः (नभः) सुखम् नभ इति साधार-

णनामसु पठितम् निघं० १। ४। (वरेण्यम्) (अस्य) नभस: कर्म्मणि षष्ठी (पातम्) रक्षतम् (धिया) प्रज्ञया कर्म्मणा वा (इषिता) प्रेषितौ प्रार्थितौ वा (उपयामगृहीत:) (असि) (इन्द्राग्निभ्याम्) (त्वा) त्वाम् (एष:) राजन्याय: (ते) तव (योनि:) गृहम् (इन्द्राग्निभ्याम्) (त्वा) त्वाम्। अयंमन्त्र: शत० ४। २। ५। २४। व्याख्यात: ॥ ३१ ॥

अन्वय:—हे राजप्रजाजनौ युवामिन्द्राग्नी आगतं गीर्भिरस्मभ्यं वरेण्यं नभ: सुनं धियेषितौ युवामस्य नभम: पातं रक्षतम् तावाहतु:। हे प्रजाजन त्वमुपयामगृहीतोसि त्वामिन्द्राग्निभ्यां स्वीकृतं वयं मन्यामहे एष ते योनिरस्त्यतस्त्वामिन्द्राग्निभ्यां चेतयामहे ॥ ३१ ॥

भावार्थ: – नह्येकाकी पुमान् यथोक्तराज्यकर्म्म कर्त्तुं शक्नोति अत: प्रजाजनान् सत्कृत्य राज्यकर्म्मणि नियोजयेत् ते च यथोक्तव्यवहारेण तं राजानं सत्कुर्य्युरिति ॥ ३१ ॥

पदार्थ:—हे इन्द्राग्नी सूर्य और अग्नि के तुल्य प्रकाशमान सभापति और सभासद् तुम दोनों (आगतम्) आओ मिलकर (गीर्भि:) अच्छी शिक्षा युक्त वाणियों से हमारे लिये (वरेण्यम्) श्रेष्ठ (नभ:) सुख को (सुनम्) उत्पन्न करो तथा (इषिता) पठाये हुए वा हमारी प्रार्थना को प्राप्त हुए तुम (धिया) अपनी बुद्धि वा राजशासन कर्म से (अस्य) इस सुख को (पातम्) रक्षा करो। वे राजा और सभासद् कहते हैं कि हे प्रजाजन तू (उपयामगृहीत:) प्रजा के धर्म और नियमों से स्वीकार किया हुआ (असि) है (त्वा) तुझ को (इन्द्राग्निभ्याम्) उक्त महाशयों के लिये हम लोग वैसा ही मानते हैं (एष:) यह राजनीति (ते) तेरा (योनि:) घर है (इन्द्राग्निभ्याम्) उक्तमहाशयों के लिये (त्वा) तुझ को हम चिताते हैं अर्थात् राजशासन को प्रकाशित करते हैं ॥

भावार्थः—अकेला पुरुष यथोक्तराजशासन कर्म नहीं कर सकता इस कारण और श्रेष्ठ पुरुषों का सत्कार करके राज कार्य्यों में युक्त करे वे भी यथा योग्य व्यवहार में इस राजा का सत्कार करें ॥ ३१ ॥

आघाये अग्निमित्यस्य त्रिशोक ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
आद्यस्यार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः,
उपेस्यस्यार्च्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
अथोक्तमर्थप्रकारान्तरेणाह ॥

अब उक्तविषय को प्रकारान्तर से अगले मन्त्र में कहा है ॥

आघायेऽअग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् । येषामिन्द्रो युवा सखा । उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यान्त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यान्त्वा ॥ ३२ ॥

आ । घा । ये । अग्निम् । इन्धते । स्तृणन्ति । बर्हिः । आनुषक् । येषाम् । इन्द्रः । युवा । सखा । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । अग्नीन्द्राभ्याम् । त्वा । एषः । ते । योनिः । अग्नीन्द्राभ्याम् । त्वा ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (घ) एव । अत्र ऋचितुनुघ० इतिदीर्घः । (ये) वेद पारगा विद्वांसः (अग्निम्) विद्यादिस्वरूपम् (इन्धते) प्रदीपयन्ति (स्तृणन्ति) यन्त्रैश्छादयन्ति (बर्हिः) अन्तरिक्षम् (आ-

नुषक्) अनुकूलतया (येषाम्) विदुषाम् (इन्द्रः) सकलैश्वर्य्यवान् सभापतिः प्रत्येकाङ्गपुष्टः (युवा) तरुणावस्थः (सखा) सुहृत् (उपयामगृहीतः) (असि) (अग्नीन्द्राभ्याम्) सकलराज्यकर्म्मविचारविचक्षणाभ्यामग्नीन्द्रगुणयुक्ताभ्याम् (त्वा) त्वाम् (एषः) (ते) (योनिः) (अग्नीन्द्राभ्याम्) (त्वा) त्वाम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः– ये वेदपारगा विद्वांसस्सभासदोऽग्निं घेन्धते । येषामानुषग्बर्हिरास्तृणन्ति युवेन्द्रः सभापतिः सखास्ति यस्त्वमग्नीन्द्राभ्यामुपयामगृहीतोऽसि यस्य ते तवैष योनिरस्ति तं त्वां प्राप्ता वयमग्नीन्द्राभ्यां त्वामुपादिशामः ॥ ३२ ॥

भावार्थः– राजधर्म्मे सर्वकर्म्मणः सभाधीनत्वाद्विचारसभासु प्रवृत्तेषु राजवर्गीयजनेषु द्वौ त्रयो बहवो वा सभासदः स्वविचारेण यमर्थं निष्पादयेयुस्तदनुकूला एव राजप्रजाजना वर्त्तेरन् ॥ ३२ ॥

पदार्थः– (ये) जो वेदविद्यासंपन्न विद्वान् सभासद (अग्निम्) विद्युत् आदि अग्नि (घ) ही को (इन्धते) प्रकाशित करते और (आनुषक्) अनुक्रम अर्थात् यज्ञ के यथोक्त क्रम से (बर्हिः) अन्तरिक्ष को (आ) (स्तृणन्ति) आच्छादन करते हैं तथा (येषाम्) जिनका (युवा) सर्वाङ्ग पुष्ट सर्वाङ्ग सुन्दर सर्व विद्या विचक्षण तरुण अवस्था और (इन्द्रः) सकलैश्वर्य्य युक्त सभापति (सखा) मित्र है (अग्नीन्द्राभ्याम्) उन अग्नि और सूर्य्य के समान प्रकाशमान सभासदों से (उपयामगृहीतः) प्रजाधर्म्म से युक्त तू ग्रहण किया गया (असि) है जिस (ते) तेरा (एषः) न्याययुक्त सिद्धान्त । (योनिः) घर के सदृश है । उस (त्वा) तुझ को प्राप्त हुए हम लोग (अग्नीन्द्राभ्याम्) उक्त महा पदार्थों के लिये (त्वा) तुझ को उपदेश करते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थः— राजधर्म्म में सब काम सभा के आधीन होने से विचारसभाओं में प्रवृत्त राजमार्गी जनों में से दो तीन, वा बहुत सभासद मिल कर अपने विचार से जिस अर्थ को सिद्ध करें उसी के अनुकूल राजपुरुष और प्रजाजन अपना बर्त्ताव रक्खें ॥ ३२ ॥

ओमासइत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । आद्यस्यार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । उपयामइत्यस्यार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अध्यापकाध्येतॄणां परस्परं कर्त्तव्यमुपदिश्यते ॥

पढ़ने और पढ़ाने वालों का परस्पर व्यवहार अगले मंत्र में कहा है ॥

ओमा॑सश्चर्षणीधृतो॒ विश्वे॑देवास॒ऽआग॑त। दा॒श्वा॒ᳬसो॑ दा॒शुषः॑ सु॒तम्। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ऽए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॑ ॥ ३३ ॥

ओमा॑सः। च॒र्ष॒णी॒धृ॒तः॒। च॒र्ष॒णी॒धृ॒त॒ऽइति॑च॒र्ष॒णि॒धृ॒तः। विश्वे॑। दे॒वा॒सः॒। आ। ग॒त॒। दा॒श्वा॒ᳬसः॑। दा॒शुषः॑। सु॒तम्। उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः। अ॒सि॒। विश्वे॑भ्यः। त्वा॒। दे॒वेभ्यः॑। ए॒षः। ते॒। योनिः॑। विश्वे॑भ्यः। त्वा॒। दे॒वेभ्यः॑ ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(ओमासः) अवन्ति सद्गुणै रक्षन्ति ते (चर्षणीधृतः) चर्षणयो मनुष्यास्तान् धरन्ति पोषयन्ति ते। अन्येषामपिदृश्यत इति दीर्घः (विश्वे) सर्वे (देवासः) विद्वांसः (आ) (गत) (दाश्वांसः) उत्कृष्टज्ञानं दत्तवन्तः दाश्वान् साह्वान् अ० ६। १। १२ इतिनिपातनम्

(दाशुषः) दानशीलस्योत्तमजनस्य (सुतम्) सवति सत्कर्मानुष्ठानेनैश्वर्य्यं प्राप्नोतितम् बालकम् (उपयामगृहीतः) अध्यापननियमैः स्वीकृतः (असि) (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (ते) तव (एषः) विद्याशिक्षासंग्रहः (योनिः) कारणम् (त्वा) त्वाम् (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः ॥३३॥

अन्वयः—हे चर्षणीधृत ओमासो विश्वेदेवासो यूयं दाश्वांसो दाशुषः सुतमागत हे दाशुषः सुताऽयेतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि। अतस्त्वा विश्वेभ्यो देवेभ्यस्तत्सेवनायाज्ञापयामि यतस्त एष योनिरस्ति। अतस्त्वा विश्वेभ्यो देवेभ्यः शिक्षयामि ॥ ३३ ॥

भावार्थः—सर्वेषां विदुषांविदुषीनां च योग्यतास्ति सर्वेभ्योबालकेभ्यः कन्याभ्यश्चानिशं विद्यादानं राज्ञां धनिनां च पदार्थैः स्वजीविकां च कुर्युः। ते राजानो धनिनश्च विद्यासुशिक्षाभ्यां प्रवीणा भूत्वा स्वस्याऽध्यापकेभ्यो विद्वद्भ्योविदुषीभ्यश्च धनादि पदार्थान् दत्वा तेषां सेवनं कुर्युः। माता पितरावष्टवार्षिककुमारान् कुमारीश्च विद्याब्रह्मचर्य्यसेवन शिक्षाकरणाय विद्वद्भ्यो विदुषीभ्यश्च समर्पयेयुस्ताम् तेऽप्यंतारो विद्यापठने चेतो नित्यमभिदध्युस्तथाऽध्यापकाश्च विद्यासुशिक्षादाने नित्यं प्रयतेरन् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(चर्षणीधृतः) मनुष्यों की पुष्टि संतुष्टि करने और (ओमासः) उत्तम २ गुणों से रक्षा करने हारो, हे (विश्वे) समस्त (देवासः) विद्वानो तुम (दाश्वांसः) उत्कृष्ट ज्ञान को देते हुए (दाशुषः) दान करने वाले उत्तम जन को (सुतम्) जो अच्छे कामों के करने से ऐश्वर्य्य को प्राप्त होने वाला है उस के (आ, गत) सन्मुख आओ। हे उक्त दानशील पुरुष के पढ़ने वाले बालक (उपयामगृहीतः) पढ़ाने के नियमों से ग्रहण किया हुआ (असि) है इस लिये

(त्वा) तुझे (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये अर्थात् उन की सेवा करने को आज्ञा देता हूं जिस लिये (ते) तेरा (एषः) यह विद्या और अच्छी २ शिक्षा का संग्रह होना (योनिः) कारण है इस लिये (त्वा) तुझे (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) विद्वानों से विद्या अच्छी२ शिक्षा दिलाता हूं॥३३॥

भावार्थः—सब विद्वान् और विदुषी स्त्रियों की योग्यता है कि समस्त बालक और कन्याओं के लिये निरन्तर विद्यादान करें राजा और धनी आदि लोगों के धन आदि पदार्थों से अपनी जीविका करें और वे राजा आदि धनी जन भी विद्या और अच्छी शिक्षा से प्रवीण हो कर अपने पढ़ाने वाले विद्वान् वा विदुषी स्त्रियों को धन आदि अच्छे २ पदार्थों को देकर उन की सेवा करें माता और पिता आठ २ वर्ष के पुत्र वा आठ २ वर्ष की कन्याओं को विद्याभ्यास ब्रह्मचर्य्य सेवन और अच्छी शिक्षा किये जानेके लिये विद्वान् और विदुषीस्त्रियों को सौंपदें वे भी विद्या ग्रहण करने में नित्य मन लगावें और पढ़ाने वाले भी विद्या और अच्छी शिक्षा देने में नित्य प्रयत्न करें ॥ ३३ ॥

विश्वेदेवास आगत इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । आद्यस्यार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । उपयामगृहीतस्य निचृदार्च्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ प्रत्यहमध्यापनविषयमाह ॥

अब प्रति दिन पढ़ाने की योग्यता का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।

विश्वे देवास आगत शृणुता मऽइमꣳ हवम् । एदं बर्हिर्निषीदत । उपयामगृहीतोसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ३४ ॥

विश्वे । देवासः । आ । गत । शृणुत । मे । इमम् । हवम् । आ । इदम् । बर्हिः । नि । सीदत ।

उपयामगृहीतइत्युंपयामऽगृहीतः । असि । विश्वेभ्यः । त्वा । देवेभ्यः । एषः । ते । योनिः । विश्वेभ्यः । त्वा । देवेभ्यः ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(विश्वे) सर्वे (देवासः) विद्वांसः (आ) (गत) आगच्छत (शृणुत) अत्र संहितायामिति दीर्घः (मे) मम विद्यार्थिनः (इमम्) वक्ष्यमाणम् (हवम्) स्तुतिवादम् (आ) समन्तात् (इदम्) अस्माभिर्दत्तम् (बर्हिः) उत्तममासनम् (नि) नितराम् (सीदत) आस्वम् (उपयामगृहीतः) (असि) (विश्वेभ्यः) समस्तेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) अध्यापकेभ्यः (एषः) सकलविद्यासंग्रहः (ते) तव (योनिः) गृहम् (विश्वेभ्यः) (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । ५ । २६ व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे पूर्वमंत्रप्रतिपादित गुणकर्मस्वभावा विश्वे देवासो यूयमस्माकं निकटमागत अस्माभिर्दत्तमिदं बर्हिरासनमानिषीदत मे ममेमं हवं शृणुत । गृहस्थाः स्वपुत्रादीन् प्रत्येवं ब्रूयुर्यतस्त्वमुपयामगृहीतोसि तस्मात्त्वा त्वा विश्वेभ्यो देवेभ्यः प्रयच्छेमते तवैष योनिरस्ति त्वा त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्योधिकां विद्यां दापयेम ॥ ३४ ॥

भावार्थः—एके विद्वांसोऽन्वहं विद्यार्थिनः पाठयेयुरपरे विपश्चितो विद्वांसः प्रतिमासमध्येतृणां परीक्षणं च कुर्युः । तत्कृत्वाऽध्यापकाः प्रतीक्षीणबुद्धीन् परिश्रमं कुर्वतोऽध्येतृनतिश्रमेण पाठयेयुरिति ॥ ३४ ॥

पदार्थः-हे पूर्वमन्त्रप्रतिपादितगुणकर्म्मस्वभाववाले (विश्वेदेवासः) समस्त विद्वान् लोगो आप हमारे समीप (आगत) आइये और हम लोगों के दिये हुए (इदम्) इस (बर्हिः) आसन पर (आनिषीदत) यथावकाश सुखपूर्वक बैठिये (मे) मेरी (इमम्) इस स्तुतियुक्तवाणी को (शृणुत) सुनिये । गृहस्थ अपने पुत्रादि को के प्रति कहे कि हे पुत्र ! जिस कारण तू (उपयामगृहीतः) विद्वानों का ग्रहण किया हुआ (असि) है इस से हम (त्वा) तुझे (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) अच्छे २ विद्या पढ़ाने वाले विद्वानों को सौंप दिये जिस लिये (एषः) यह समस्त विद्या का संग्रह (ते) तेरा (योनिः) घर के तुल्य है इस लिये (त्वा) तुझे (विश्वेभ्यः) (देवेभ्यः) समस्त उक्त महाशयों से विद्या दिलाना चाहते हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थः-विद्वान् लोगों को उचित है कि प्रतिदिन विद्यार्थियों को पढ़ावें और परम विद्वान् पंडित लोग उन की परीक्षा भी प्रत्येक महीने में किया करें उस परीक्षा से जो तीक्ष्णबुद्धियुक्त परिश्रम करने वाले प्रतीत हों उन को अत्यन्त परिश्रम से पढ़ाया करें ॥३४॥

इन्द्र इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
निचृदार्षीत्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ।
उपयामगृहीत इत्यस्यार्षी उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ।
अथ राजाऽध्यापनादिव्यवहाररक्षणं कथं कुर्य्यादित्युपदिश्यते ।
अब राजा पढ़ाने आदि व्यवहार की रक्षा को किस प्रकार से करे
यह अगले मंत्र में कहा है ॥

इन्द्रं मरुत्व इह पाहि सोमं यथा शार्य्याते अपिबः सुतस्य । तव प्रणीती तव शूर शर्म्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः । उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ ३५ ॥

इन्द्र। मरुत्वः। इह। पाहि। सोमम्। यथा। शार्य्याते। अपिबः। सुतस्य। तव। प्रणीती। प्रणीतीति प्रऽनीती। तव। शूर। शर्म्मन्। आ। विवासन्ति। कवयः। सुयज्ञाइति सुऽयज्ञाः। उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। इन्द्राय। त्वा। मरुत्वते। एषः। ते। योनिः। इन्द्राय। त्वा। मरुत्वते॥ ३५॥

पदार्थः—(इन्द्र) सर्वविघ्नविदारक सकलैश्वर्य्ययुक्त सम्राट् (मरुत्वः) मरुतः प्रशस्ता धर्म्मसम्बद्धाः प्रजा यस्य तत्सम्बुद्धौ (इह) अस्मिन् संसारे (पाहि) रक्ष (सोमम्) सकलगुणैश्वर्य्यकल्याणकर्म्माध्ययनाध्यापनाख्ययज्ञम् (यथा) शार्य्याभिरङ्गुलिभिर्निर्वृत्तानि कर्म्माणि शार्य्याणि तान्यततिव्याप्नोति स शार्य्यातस्तस्मिन्। शर्य्या इत्यङ्गुलिनामसुपठितम। निघं० २।५। (अपिबः) (सुतस्य) (तव) (प्रणीती) प्रकृष्टां नीतिम। अत्र सुपांसुलुगिति पूर्वसवर्णादेशः। (तव) (शूर) धर्म्मविरोधिहिंसक (शर्म्मन्) न्याय्यगृहे अत्र सुपांसुलुगिति ङेर्लुक्। नङिसम्बुद्ध्योः अ० ८।२।८। इतिनलोपाभावः (आ) (विवासन्ति) परिचरन्ति विवासतीति परिचरणकर्म्मसु पठितम। निघं० ३।५। (कवयः) मेधाविनः कविरिति मेधाविनामसु पठितम। निघं० ३।१५ (सुयज्ञाः) शोभनोऽध्ययनाध्यापनाख्योयज्ञो येषां त इव (उपयामगृहीतः) (असि) (इन्द्राय) परमैश्वर्य्याय (त्वा)

त्वाम् (मरुत्वते) प्रजासम्बन्धाय । अत्र सम्बन्धे मतुप् ऋथ इति मस्य वत्वम् (एषः) (ते) (योनिः)(त्वा) (मरुत्वते) अयं मंत्रःशत० ४।२।७।१३ व्याख्यातः ॥ ३५ ॥

अन्वयः–हे मरुत्व इन्द्र त्वमिह यथा शार्य्याते सुतस्यापिबस्तथा सोमस्या हि हे शूर तव शर्म्मन् न्यायगृहे सुयज्ञा इव कवयस्तव प्रणीतिमाविवासन्ति यतस्त्वमुपयामगृहीतोसि तस्मात्त्वामिन्द्राय मरुत्वते वयं वेविष्महि ते तवैष विद्याप्रचारो योनिरस्त्यतस्त्वामिन्द्राय मरुत्वते मन्यामहे ॥ ३५ ॥

भावार्थः— सर्वेषां विदुषामुचितमस्ति न्यायकर्त्तारं सभेशं मोक्षद्येरन् स यैते राजसभासभ्यजना अपि विद्वद्भ्यांनोल्लङ्घेरन् । यः सर्वोत्कृष्टस्तं सभापतिं कुर्य्युः । स सभापतिरुत्तमनीत्या सर्वं राज्यप्रबन्धं कुर्य्यात् ॥ ३५ ॥

पदार्थः– हे (इन्द्र) सब विघ्नों के नष्ट करने वाले सब सम्पत्ति से युक्त तेजस्वी (मरुत्वः) प्रशंसनीय धर्म्मयुक्त प्रजा पालने हारे सभापति राजन् ! आप (इह) इस संसार में (यथा) जैसे (शार्य्याते) अपने हाथ पांवों के परिश्रम से निष्पन्न किये हुए व्यवहार में (सुतस्य) अभ्यास किये हुए विद्या रस को (अपिबः) पी चुके हो वैसे (सोमम्) समस्त अच्छे गुण ऐश्वर्य्य और सुख करने वाले पठन पाठन रूपी यज्ञ को (पाहि) पालो । हे (शूर) धर्म्म विरोधियों को दण्ड देने वाले (तव) तुम्हारे (शर्म्मन्) राज्य घर में (सुयज्ञाः) अच्छे पढ़ने पढ़ाने वाले विद्वानों के समान (कवयः) बुद्धिमान लोग (तव) तुम्हारी (प्रणीतिः) उत्तमनीति का (आविवासन्ति) सेवन करते हैं । हे शूर जिस कारण तुम (उपयामगृहीतः) प्रजापालनादिनियमों से स्वीकार किये हुए (असि) हो इस से (त्वा) इन्द्राय परमैश्वर्य्य और (मरुत्वते) प्रजा सम्बन्ध के लिये हम लोग चाहते हैं कि जो (ते) तेरा (एषः) यह विद्या का प्रचार (योनिः) घर के समान है इस से (त्वा) तुम को (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य और (मरुत्वते) प्रजा पालन सम्बन्ध के लिये मानते हैं ॥ ३५ ॥

भावार्थः– सब विद्वानों को उचित है कि जैसे न्यायाधीशों की न्याय युक्त सभा में जो आज्ञा हो उस को कभी उल्लङ्घन न करें वैसे वे राजसभा के सभासद् भी वेदज्ञ विद्वानों की आज्ञा को उलङ्घन न करें जो सब गुणों से उत्तम हो उसी को सभापति करें और वह सभापति भी उत्तमनीति से समस्त राज्य के प्रबन्धों को चलावे ॥ ३५ ॥

मरुत्वन्तमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। प्रजापतिर्देवता।
विराडार्षीत्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।
उपयामेत्यस्य द्वितीयभागस्यार्षीनुनीयस्य
साम्न्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

पुना राजप्रजाकृत्यमाह ॥

फिर भी राजा और प्रजा को क्या करना चाहिये यह उपदेश
अगले मन्त्र में किया है ॥

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिन्दिव्यꣳ शासमिन्द्रम्। विश्वासाहमवसेनूतनायोग्रꣳसहोदामिहतꣳहुवेम। उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एषते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते उपयामगृहीतोसि मरुतान्त्वौजसे ॥ ३६ ॥

मरुत्वन्तम्। वृषभम्। वावृधानम्। ववृधानमिति ववृधानम्। अकवारिमित्यकवारिम्। दिव्यम्। शासम्। इन्द्रम्। विश्वासाहम्। विश्वसहमिति विश्वऽसह-

हम् । अर्वसे । नूतनाय । उग्रम् । सहोदामितिसहः ऽदाम् । इह । तम् । हुवेम । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । मरुत्वते । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । मरुत्वते । उपयामगृहीतइत्युपयामऽगृहीतः । असि । मरुताम् । त्वा । ओजसे ॥३६॥

पदार्थः—(मरुत्वन्तम्) प्रशस्तप्रजायुक्तम् (वृषभम्) सर्वोत्तमम् (वावृधानम्) अतिशयेन शुभगुणकर्मसु वर्द्धमानम् (अकवारिम्) कौति धर्म्ममुपदिशतीति कवोनकवोऽकवोऽधर्म्मात्मातस्यारिः शत्रुस्तम् (दिव्यम्) शुद्धम् (शासम्) शासितारम् (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवन्तम् (विश्वासाहम्) विश्वान्सर्वान् सहते तम् । अत्रविश्वपूर्वात्सहधातोःछन्दसि सहः अ० ३।२।६३। इति ण्विः । अन्येषामपिदृश्यत इतिदीर्घश्च (अवसे) रक्षणाद्याय (नूतनाय) नवीनाय (उग्रम्) प्रचण्डपराक्रमम् (सहोदाम्) यः सहोबलंददाति तम् (इह) अस्याम्प्रजायाम् (हुवेम) स्वीकुर्वीमहि (उपयामगृहीतः) सर्वनियमोपनियमसामग्रीसहितः (असि)(इन्द्राय) परमैश्वर्याय (त्वा) (त्वाम्) मरुत्वते प्रशंसितप्रजायुक्ताय एषः (ते) (योनिः) (इन्द्राय) (त्वा) (मरुत्वते) (उपयामगृहीतः) (असि) मरुताम् (त्वा) त्वाम् (ओजसे) बलाय । अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । ७ । १४ । व्याख्यातः ॥ ३६ ॥

अन्वयः- कवयो वयं नूतनायावसे मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं विश्वासाहमुग्रं सहोदां शासं तं पूर्वोक्तमिन्द्रं हुवेम। हे मुख्यसभासद् यतस्त्वमुपयामगृहीतोसि तस्मात्त्वा त्वां मरुत्वत इन्द्राय यतस्ते एष योनिरस्त्यतस्त्वा मरुत्वत इन्द्राय यतस्त्वमुपयामगृहीतोसि तस्मान्मरुतामोजसे बलाय च त्वा त्वां हुवेम ॥ ३६ ॥

भावार्थः -अत्र पूर्वस्मान्मन्त्रात् (कवयः) इत्येकपदमनुवर्त्तते। प्रजाजनानां योग्यतास्ति यः सर्वोत्तमः सकलगुणयुक्तो विपश्चिच्छूरवीरो भवेत्तं सभाया मुख्यकर्मणि संस्थापयेयुः स सभायां नियुक्तः सत्यन्यायधर्मयुक्तराज्यकर्मणा प्रजाबलंवर्द्धयेत् ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(कवयः) पूर्वोक्त हम विद्वान् लोग (नूतनाय) नवीन २ (अवसे) रक्षा आदि गुणों के लिये (मरुत्वन्तम्) प्रशंसनीय प्रजा युक्त (वृषभम्) सब से उत्तम (वावृधानम्) अत्यन्त शुभगुण और कर्मों में उन्नति को प्राप्त (अकवारिम्) समस्त धर्म विरोधी दुष्टों का निवारण करने वाले (दिव्यम्) शुद्ध (विश्वासाहम्) सब सहनशील (उग्रम्) प्रचण्ड पराक्रमयुक्त (सहोदाम्) सहायता (शासम्) और सब को शिक्षा देने वाले (तम्) उस पूर्वोक्त (इन्द्रम्) परमैश्वर्य युक्त सभापति को निम्नलिखित प्रकार से (हुवेम) स्वीकार करें। हे मुख्य सभासद् राजन्! तू जिस कारण (उपयामगृहीतः) समस्त बड़े २ और छोटे २ नियमों की सामग्री से सहित (असि) है इस से (त्वा) तुझ को (मरुत्वते) प्रशंसनीय प्रजायुक्त (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् सभापति होने के लिये स्वीकार करते हैं (एषः) यह सभा में न्याय करने का काम (ते) तेरा (योनिः) घर के तुल्य है इस से (त्वा) तुझे (मरुत्वते) उत्तम प्रजा से युक्त (इन्द्राय) अत्यन्त ऐश्वर्य के पालन और वृद्धि होने के लिये स्वीकार करते हैं और जिस कारण तू (उपयामगृहीतः) उक्त सब नियम और उपनियमों से संयुक्त (असि) है इस से (मरुताम्) प्रजाजनों का (ओजसे) बल बढ़ने के लिये (त्वा) तुझे ग्रहण करते हैं ॥ ३६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पिछले मन्त्र से (कवयः) इस पद की अनुवृत्ति आ-ती है प्रजा जनों को योग्य है कि जो सर्वोत्तम समस्त विद्याओं में निपुण सकलशुभ-गुणयुक्त विद्वान् शूरवीर हो उस को सभा के मुख्य काम में स्थापन करें और वह सभा-के सब कामों में स्थापित किया हुआ सभापति सत्यन्याययुक्त धर्म्म कार्य्य से प्रजा के उत्साह की उन्नति करे ॥ ३६ ॥

सजोषेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । आद्यस्यार्षीस्वराडार्षीत्रिष्टुप् । उपयामेत्यस्य प्राजापत्यात्रिष्टुप् छन्दसी । धैवतः स्वरः ॥

अथ सेनापतिकृत्यमाह ॥

अब सेनापति का काम अगले मन्त्र में कहा है ॥

स॒जोषा॑ इन्द्र॒ सग॑णो म॒रुद्भिः॒ सोमं॑ पिब वृत्र॒हा शू॑र वि॒द्वान् । ज॒हि शत्रूँ॒२॥ रप॒मृधो॑ नु-दस्वाथाभ॑यं कृणुहि वि॒श्वतो॑ नः । उ॒प॒या॒मगृ॑ही॒तोऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥ ३७ ॥

स॒जोषा॒ इति॑ स॒ऽजोषाः॑ । इ॒न्द्र॒ । सग॑ण॒ इति॒ सऽग॑णः । म॒रुद्भि॒रिति॑ म॒रुत्ऽभिः॑ । सोम॑म् । पि॒ब॒ । वृ॒त्र॒हेति॑ वृत्र॒ऽहा । शू॒र॒ । वि॒द्वान् । ज॒हि । शत्रू॑न् । अप॑ । मृधः॑ । नु॒द॒स्व॒ । अथ॑ । अभ॑यम् । कृ॒णु॒हि॒ । वि॒श्व-

तः । नः । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । मरुत्वते । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । मरुत्वते ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(सजोषाः) समानं जोषः प्रीतिर्यस्य (इन्द्र) सर्वसुखधारक सेनापते (सगणः) गणेन स्वजनसेनापरिकरेण सहितः (मरुद्भिः) वायुभिरिव (सोमम्) सकलपदार्थरसम् (पिब) वृत्रहा यो वृत्रं मेघं हन्ति स वृत्रहासूर्यस्तद्वत् (शूर) शत्रुविनाशक निर्भय (विद्वान्) सकलविद्यावेत्ता (जहि) विनाशय (शत्रून्) सत्यन्यायविरोधे प्रवर्त्तमानान् (अप) दूरीकरणे (मृधः) मर्द्दन्ति उन्दन्ति परसुखैः स्वमनांसि येषु तान् संग्रामान् (नुदस्व) प्रेरय (अथ) अनन्तरम् (अभयम्) (कृणुहि) (विश्वतः) सर्वतः (नः) अस्मभ्यम् (उपयामगृहीतः) सेनासुनियमस्वीकृतः (असि) (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्रापकाय युद्धाय (त्वा) त्वाम् (मरुत्वते) प्रशस्तानि मरुदस्त्राणि विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मै (एषः) सेनाकृत्यव्यवहारः (ते) (योनिः) (इन्द्राय) त्वा)(मरुत्वते) ॥३७॥

अन्वयः—हे इन्द्र सेनापते शूर यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽस्यतो मरुत्वत इन्द्राय त्वा त्वामुपदिशामि किमित्यपेक्षायामाह ते तवैष योनिरस्त्यतस्त्वां मरुत्वत इन्द्राय प्रयतमानमङ्गीकरोमि सजोषा सगणस्त्वं मरुद्भिर्वृत्रहा इव सोमं पिब तं पीत्वा विद्वान् सन् शत्रून् जहि अथ मृधोऽपनुदस्व सोऽस्मभ्यं विश्वतोऽभयं कृणुहि ॥ ३७ ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः । यथा जीव प्रेम्णा स्वस्य मित्रस्य वा शरीरस्य रक्षणं करोति तथा राजा प्रजां पालयेत् यथा वा सूर्यो

वायुविद्युद्भ्यां संहत्य मेघान्निहत्य जलेन सर्वस्मै सुखं ददाति तथा राजा युद्धसाधनानि सम्पाद्य शत्रून्निहत्य प्रजायै सुखं दद्यात् धर्म्मात्मभ्यो-ऽभयं दुष्टेभ्यो भयं च दद्यात् ॥ ३७ ॥

पदार्थः—ईश्वर कहता है कि हे (इन्द्र) सब सुखों के धारण करने हारे (शूर) शत्रुओं के नाश करने में निर्भय ! जिस से तू (उपयामगृहीतः) सेना के अच्छे २ नियमों से स्वीकार किया हुआ (असि) है इस से (मरुत्वते) जिस में प्रशंसनीय वायु की अस्त्र विद्या है उस (इन्द्राय) परमेश्वर्य पहुंचाने वाले युद्ध के लिये (त्वा) तुझ को उपदेश करता हूं कि (ते) तेरा (एषः) यह सेनाधिकार (योनिः) इष्ट सुख दायक है इस से (मरुत्वते) (इन्द्राय) उक्त युद्ध के लिये यत्न करते हुए तुझ को मैं अङ्गीकार करता हूं और (सजोषाः) सब से समान प्रीति करने वाला (सगणः) अपने मित्र जनों के सहित तू (मरुद्भिः) जैसे पवन के साथ (वृत्रहा) मेघ के जल को छिन्न भिन्न करने वाला सूर्य्य (सोमम्) समस्त पदार्थों के रस को खींचता है वैसे सब पदार्थों के रस को (पिब) सेवन कर और इस से (विद्वान्) ज्ञानयुक्त हुआ तू (शत्रून्)स-त्याय के विरोध में प्रवृत्त हुए दुष्टजनों का (जहि) विनाश कर (अथ)इस के अनन्तर (मृधः) जहां दुष्ट जन दूसरे के सुख से अपने मन को प्रसन्न करते हैं उन संग्रामों को (अपनुदस्व) दूर कर और (नः)हम लोगों को(विश्वतः) सब जगह से (अभयम्) भय रहित (कृणुहि) कर ॥ ३७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालङ्कार है। जैसे जीव प्रेम के साथ अपने मित्र वा शरीर की रक्षा करता है वैसे ही राजा प्रजा की पालना करे और जैसे सूर्य्य वायु और बिजुली के साथ मेघ का भेदन कर जल से सब को सुख देता है वैसे राजा को चाहिये कि युद्ध की सामग्री जोड़ और शत्रुओं को मार कर प्रजा को सुख धर्म्मात्माओं को निर्भयता और दुष्टों को भय देवे ॥ ३७ ॥

मरुत्वाँ२ इत्यस्य विश्वामित्रऋषिः प्रजापतिर्देवता । निचृदार्षीत्रिष्टुप् । उपयामेत्यस्य प्राजापत्या त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ।

अथ सभाध्यक्षायोपदेशः क्रियते ॥

अब सभाध्यक्ष के लिये अगले मंत्र में उपदेश किया है ॥

मरुत्वाँ२॥इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोमम-नुष्वधम्मदाय। आसिंचस्व जठरे मध्वऊर्म्मिंत्वꣳ राजासि प्रतिपत्सुतानाम्। उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय-त्वा मरुत्वते॥ ३८॥

मरुत्वान्। इन्द्र। वृषभः। रणाय। पिब। सोमम्। अनुष्वधम्। अनुस्वधमित्यनुऽस्वधम्। मदाय। आ। सिंचस्व। जठरे। मध्वः। ऊर्म्मिम्। त्वम्। राजा। असि। प्रतिपदिति प्रतिऽपत्। सुतानाम्। उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। इन्द्राय। त्वा। मरुत्वते। एषः। ते। योनिः। इन्द्राय। त्वा। मरुत्वते॥३८॥

पदार्थः—(मरुत्वान्) प्रशस्ता मरुतः प्रजाः सेना वा विद्यन्ते यस्य सः (इन्द्र) शत्रुजित् (वृषभः) शरीरात्म-बलैश्वर्य्ययुक्तः (रणाय) संग्रामाय। रण इति संग्राम-नामसु पठितम् निघं० २। १७। (पिब) अत्रद्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (सोमम्) सोमाद्योषधिसमूहम् (अनुष्वधम्) स्वधेषु पक्वान्नेष्वनुकूलम्। अत्र विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः

समासः।(मदाय) हर्षाय(आसिंचस्व)(जठरे) उदरे (मध्वः) (ऊर्म्मिम्) लहरीम् (त्वम्) सभासेनापतिः (राजा) प्रकाशमानः (असि) (प्रतिपत्) पद्यते विचार्य्यते योऽर्थविषयः सपत् पतं पतं प्रतीति प्रतिपत् (सुतानाम्) सुसंस्कारेण निष्पादितानामन्नानाम् (उपयामगृहीतः) राजनियमैः स्वीकृतः (असि)(इन्द्राय) परमैश्वर्य्यप्रापकायरणाय(त्वा) (मरुत्वते) प्रशस्तानि मरुदस्त्राणि विद्यन्तेयस्मिंस्तस्मै (एषः) (ते) (योनिः) (इन्द्राय) राज्यैश्वर्य्याय (त्वा) (मरुत्वते) प्रजापालनसम्बद्धाय ॥ ३८ ॥

अन्वयः–हे इन्द्र यतस्त्वमुपयामगृहीतोसि तस्मात्त्वां त्वा त्वां मरुत्वत इन्द्राय नियोजयामोयतस्ते तवैष योनिरस्ति तस्मात्त्वा त्वां मरुत्वत इन्द्राय ब्रूमः। किंतत्तदाह त्वं प्रतिपद्राजास्यत्र कर्म्मणि प्रकाशमानो मरुत्वान् वृषभोन्त्यतोरणायायुष्ववं मदाय सोमं पिब सुतानामन्नानाम्मध्वऊर्म्मिं जठर आसिंचस्व ॥ ३८ ॥

भावार्थः–अत्रोपमालङ्कारः। सभासेनापत्यादिमनुष्या उत्तमोत्तमान् पदार्थान् भुक्त्वा शरीरात्मबलंसम्पाद्य शत्रून् विजित्य न्यायव्यवस्थया सर्वान् पालयेयुरिति ॥ ३८ ॥

पदार्थः हे (इन्द्र) शत्रुओं के जीतने वाले सभापते ! जिस कारण आप (उपयामगृहीतः) राजनियमों से स्वीकार किये हुए (असि) हो इस लिये हम लोग तुम को (मरुत्वते) जिस में अच्छे २ अस्त्रों और शस्त्रों का काम है उस (इन्द्राय) परमैश्वर्य को प्राप्त करने वाले युद्ध के लिये युक्त करते हैं जिस से (ते) आप का (एषः) यह युद्ध परमैश्वर्य्य का (योनिः) कारण है इस लिये (त्वा) तुम को (मरुत्वते) (इन्द्राय) उस युद्ध के लिये कहते हैं कि आप (प्रतिपत्) प्रत्येक बड़े २ विचार के कामों में (राजा) प्रकाशमान (मरुत्वान्) प्रशंसनीय प्रजायुक्त और (वृषभः) अत्यन्त श्रेष्ठ हो इससे (रणाय) युद्ध और (मदाय) आनन्द के लिये

(अनुष्वधम्) प्रत्येक भोजन में (सोमम्) सोमलतादि पुष्ट करने वाली ओषधियों के रस को (पिब) पीओ (सुतानाम्) उत्तम संस्कारों से बनाये हुए अन्नों के (मध्वः) मधुर रस की (ऊर्मिम्) लहरी को अपने (जठरे) उदर में (आसिञ्चस्व) अच्छे प्रकार स्थापन करो ॥ ३८ ॥

भावार्थः-इस मंत्र में उपमालङ्कार है। सभा और सेनापति आदि मनुष्यों को चाहिये कि उत्तम से उत्तम पदार्थों के भोजन से शरीर और आत्मा को पुष्ट और शत्रुओं को जीत कर न्याय की व्यवस्था से सब प्रजा का पालन किया करें ॥ ३८ ॥

महानित्यस्य भरद्वाजऋषिः। प्रजासेनापतिर्देवता। आद्यस्य भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः। उपयामेत्यस्य साम्नीत्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथेश्वरः स्वगुणानाह॥

अब ईश्वर अपने गुणों का उपदेश अगले मंत्र में करता है।

महाँ २ ॥ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हाऽअमिनः सहोभिः। अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्। उपयामगृहीतोसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥ ३९ ॥

महान्। इन्द्रः। नृवदिति नृऽवत्। आ। चर्षणिप्रा इति चर्षणिऽप्राः। उत। द्विबर्हा इति द्विऽबर्हाः। अमिनः। सहोभिरिति सहःऽभिः। अस्मद्र्यक्। वावृधे। वव-

धऽइतिवृधे। वीर्य्याय। उरुः। पृथुः। सुकृतऽइतिसुऽकृतः। कर्तृभिरितिकर्तृऽभिः। भूत्। उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। महेन्द्रायेतिमहाऽइन्द्राय। त्वा। एषः। ते। योनिः। महेन्द्रायेतिमहाऽइन्द्राय। त्वा ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(महान्) सर्वोत्कृष्टः पूज्यतमश्च (इन्द्रः) अत्युत्कृष्टैश्वर्य्यः (नृवत्) न्यायशीलैर्मनुष्यैस्तुल्यः (आ) (चर्षणिप्राः) चर्षणीन् मनुष्यान् प्रीतेः सुखैः प्रपूरयति सः (उत) अपि (द्विबर्हाः) द्वे बर्हसी व्यावहारिकपारमार्थिकवृद्धिकरे विज्ञाने यस्य सः। द्विबर्हा इति पदनामसु पठितम् निघं० ४।३। (अमिनः) अनुपमोऽतुलपराक्रमः। अमिनोमितमात्रोमहान्भवत्यमितोवा। निरु० ६। १६। (सहोभिः) बलैः (अस्मद्र्यक्) अस्मानञ्चति-सर्वज्ञतया जानाति (वावृधे) वर्द्धते वर्द्धयति वा (वीर्य्याय) पराक्रमाय (उरुः) बहुः (पृथुः) विस्तीर्णः (सुकृतः) शोभनं कृतं क्रियते येन सः (कर्तृभिः) सुकर्म्मकारिभिर्जीवैः सह (भूत्) भवति। अत्राडभावः। (उपयामगृहीतः) योगाभ्यासेन स्वीकर्त्तुं योग्यः (असि) (महेन्द्राय) अनुत्तमायैश्वर्य्याय (त्वा) (एषः) (ते) (योनिः) (महेन्द्राय)(त्वा) (त्वाम्)। अयं मंत्रः शत० ४।२।३।१८। व्याख्यातः ॥३९॥

अन्वयः—हे भगवन् जगदीश्वर ! यतस्त्वमुपयामगृहीतोसि तस्मान्महेन्द्राय त्वा वयमुपास्महे उतापि यतस्ते तवैष योनिरस्ति तस्मात्त्वां महेन्द्राय वयं सेवामहे। यो महान् नृवदाचर्षणिप्रा द्विबर्हास्मद्र्यङ् अमिन उरुः पृथुः कर्तृभिः सह

सुकृत इन्द्रोभूत् । तमेवाश्रितः सर्वोजनः सहोभिः सह वीर्य्याय वावृधे ॥ ३९ ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः । ईश्वरमनाश्रित्य काश्चिदपि पुरुषः प्रजाः पालयितुं न शक्नोति यथेश्वरः शाश्वतं न्यायमाश्रित्य सर्वान् प्राणिनः सुखयति तथैव राजापि सर्वान् तर्पयेत् ॥ ३९ ॥

पदार्थः— हे भगवन् जगदीश्वर ! जिस कारण आप (उपयामगृहीतः) योगाभ्यास से ग्रहण करने के योग्य (असि) हैं इस से (महेन्द्राय) अत्यन्त उत्तम ऐश्वर्य्य के लिये हम लोग (त्वा) आप की उपासना हमारे लिये (योनिः) कल्याण का कारण है इस से (त्वा) तुम को (महेन्द्राय) परमैश्वर्य्य पाने के लिये हम सेवन करते हैं जो (महान्) सर्वोत्तम अत्यन्तपूज्य (नृवत्) मनुष्यों के तुल्य (आ) अच्छे प्रकार (चर्षणिप्राः) सब मनुष्यों को सुखों से परिपूर्ण करने (द्विबर्हाः) व्यवहार और परमार्थ के ज्ञान को बढ़ाने वाले दो प्रकार के ज्ञान से संयुक्त (अस्मयुक्) हम सब प्राणियों को अपनी सर्वज्ञता से जानने वाले (अमिनः) अतुल पराक्रम युक्त (कर्म्मभिः) अच्छे कर्म्म करने वाले जीवों से (सुकृतः) अच्छे कर्म्म करने वाले के समान ग्रहण किए हुए और (इन्द्रः) अत्युत्तम उत्कृष्ट ऐश्वर्य्य वाले आप हैं उन्ही का आश्रम किये हुए समस्त हम लोग (सहोभिः) अच्छे २ बलों के साथ (वीर्य्याय) परम उत्तम बल की प्राप्ति के लिये (वावृधे) दृढ़ उत्साह युक्त होते हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थः— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । ईश्वर का आश्रय न करके कोई भी मनुष्य प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता । जैसे ईश्वर सनातन न्याय का आश्रय करके सब जीवों को सुख देता है वैसे ही राजा को भी चाहिये कि प्रजा को अपनी न्याय व्यवस्था से सुख देवे ॥ ३९ ॥

महानिन्द्रइत्यस्य वत्स ऋषिः । प्रजापतिर्देवता ।
आर्षीगायत्रीच्छन्दः । उपयामेत्यस्य विराडार्षी
गायत्री च्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरीश्वरगुणा उपदिश्यन्ते ॥

फिर भी ईश्वर के गुणों का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

महाँ २॥इन्द्रोयऽओजसा पुर्जन्यो वृष्टिमाँ २॥ इव । स्तोमैर्वृत्सस्य वावृधे। उपयामगृहीतोसि महेन्द्रायत्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥४०॥

महान् । इन्द्रः । यः । ओजसा । पुर्जन्यः । वृष्टिमानइंव।वृष्टिमानिवेतिवृष्टिमान्ऽइंव। स्तोमैः।वृत्सस्य। वावृधे । ववृधइतिववृधे । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । महेन्द्रायेतिमहाऽइन्द्राय । त्वा। एषः। ते । योनिः । महेन्द्राय । त्वा ॥ ४० ॥

पदार्थः—(महान्) महागुणकर्मस्वभावः (इन्द्रः) अखिलैश्वर्यः (यः) (ओजसा) अनन्तबलेन (पर्जन्यः) मेघः (वृष्टिमानिव) बह्व्यो वृष्टयो विद्यन्ते यस्मिंस्तद्वत् (स्तोमैः) स्तुतिभिः (वत्सस्य) यो वदति तस्य (वावृधे) अत्यन्तं वर्द्धते (उपयामगृहीतः) यमनियमादिभिर्योगाङ्गैः साक्षात् स्वीकृतः (असि) (महेन्द्राय) योगजाय म-

ऐश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (एषः) (ते) तव (योनिः) निमित्तम्(महेन्द्राय) मोक्षप्रापकाय महैश्वर्याय(त्वा)त्वाम्॥४०॥

अन्वयः--हे अनादिसिद्ध महायोगिन् सर्वव्यापिन्नीश्वर यतस्त्वं योगिभिरुपयामगृहीतोऽसि तस्मात्त्वा त्वां महेन्द्रायोपश्रयामहे यतस्ते तवैष योगो योनिरस्त्यतस्त्वा त्वां महेन्द्राय वयं ध्यायेम। यो महान् वृष्टिमान् पर्जन्य इव वत्सस्य स्तोमैरोजसेन्द्रः सुखवर्धको भवति तं विदित्वा योगी वावृधेत्यन्तं वर्द्धते ॥४०॥

भावार्थः-यथा मेघो वृष्टिसमये स्वजलसमूहेन सर्वान् पदार्थान् तर्पयन् सन् वर्द्धयति तथैवेश्वरो योगाराधनतत्परं योगिनमभिवर्द्धयति ॥ ४० ॥

पदार्थः—हे अनादिसिद्ध योगिन् सर्वव्यापी ईश्वर जो आप योगियों के (उपयामगृहीतः) यमनियमादियोग के अंगों से स्वीकार किये हुए (असि) हैं इस कारण हम लोग (त्वा) आप को (महेन्द्राय) योग से प्रकट होने वाले अच्छे ऐश्वर्य के लिये आश्रय करते हैं (ते) आपका (एषः) यह योग हमारे कल्याण का (योनिः) निमित्त है इस लिये त्वा आपका (महेन्द्राय) मोक्ष कराने वाले ऐश्वर्य के लिये ध्यान करते हैं। (यः) जो (महान्) बड़े २ गुण कर्म और स्वभाव वाला (वृष्टिमान्) वर्षने वाले (पर्जन्यइव) मेघ के तुल्य (वत्सस्य) स्तुति कर्त्ता की (स्तोमैः) स्तुतियों से (ओजसा) अनन्तबल के साथ प्रकाशित होता है उस ईश्वर को जान कर योगी (वावृधे) अत्यन्त उन्नति को प्राप्त होता है॥ ४० ॥

भावार्थः—जैसे मेघ वर्षासमय में अपने जल के समूह से सब पदार्थों को तृप्त करता हुआ उन्नति देता है वैसे ईश्वर भी योगाभ्यास करने के समय में योगाभ्यास करने वाले योगी पुरुष के योग को अत्यन्त बढ़ाता है ॥ ४० ॥

उदुत्यमित्यस्य प्रस्कण्वऋषिः। सूर्यो देवता। भुरिगार्षी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथ सूर्य्यदृष्टान्तेनेश्वरस्य गुणा उपदिश्यन्ते ॥

इस के पीछे सूरज की उपमा से ईश्वर के गुणों का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्य्यꣳ स्वाहा ॥ ४१ ॥

उत् । ऊँऽइत्यूँ । त्यम् । जातवेदसमिति जातऽवेदसम् । देवम् । वहन्ति । केतवः । दृशे । विश्वाय । सूर्य्यम् । स्वाहा ॥ ४१ ॥

पदार्थः— (उत्) क्रियायोगे (उ) वितर्के (त्यम्) अमुम् (जातवेदसम्) जातानि भूतानि सर्वाणि वेदजातान् मूर्त्तिमतः पदार्थान् विन्दति इति वातम् ४ । १ । इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं निराह जातवेदाः कस्माज्जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातप्रज्ञानो यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति । निरु० ७ । १९ (देवम्) दिव्यगुणसम्पन्नम् (वहन्ति) प्रापयन्ति (केतवः) प्रज्ञानानि । केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम् निघं० ३ । ९ (दृशे) द्रष्टुम् । दृशेविख्ये च । अ० ३ । ४ । ११ । (विश्वाय) सर्वाय (सूर्य्यम्) यः स्रियते विज्ञाप्यते वा विद्वद्भिर्बुद्धिमद्भिश्च तम (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥ इमम्मन्त्रं यास्कमुनिरेवं

व्याचष्टे उद्वहन्ति तं जातवेदसम् रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्य्यमिति कमन्यमादित्यादेवमवक्ष्यत् । निरु० १२ । १५ । अयम्मन्त्रः शत० ४ । ५ । २ । व्याख्यातः ॥ ४१ ॥

अन्वयः— यथा किरणा विश्वाय दृशे जातवेदसं त्यं सूर्य्यं देवमुदुहन्तीव विदुषः केतवः स्वाहान्यान्मनुष्यान्परंब्रह्म प्रापयन्ति ॥ ४१ ॥

भावार्थः— यथा प्राणिभ्यः किरणाः सूर्य्यं प्रकाशयन्ति तथा मनुष्यस्य प्रज्ञानानीश्वरंप्रापयन्ति ॥ ४१ ॥

पदार्थः— जैसे किरण (विश्वाय) समस्त जगत् के प्रयोजन के (दृशे) देखने जानने के लिये (जातवेदसम्) जो उत्पन्न हुए सब पदार्थों को जानता वा मूर्तिमान् पदार्थों को प्राप्त होता है (त्यम्) उस (सूर्य्यम्) (देवम्) दिव्यगुणसम्पन्न सूर्य्य को (उ) तर्क के साथ (उत्) (वहन्ति) प्राप्त कराते हैं वैसे विद्वान् के (केतवः) प्रकृष्ट ज्ञान और (स्वाहा) सत्य वाणी का उपदेश मनुष्य को परब्रह्म की प्राप्ति करा देता है ॥ ४१ ॥

भावार्थः—जैसे प्राणियों के लिये सूर्य्य के किरण उस को प्रकाशित करती हैं वैसे मनुष्य की अनेकविद्यायुक्त बुद्धियां ईश्वर का प्रकाश करा देती हैं ॥ ४१ ॥

चित्रन्देवानामित्यस्य कुत्स ऋषिः । सूर्यो देवता ।
भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेवेश्वरस्य गुणा उपदिश्यन्ते ॥

फिर भी वैसे ही ईश्वर के गुणों का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

चित्रन्देवानामुदगादनीकं चक्षुर्म्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ ४२ ॥

चित्रम् । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकम् । चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । अग्नेः । आ । अप्राः । द्यावापृथिवीऽइतिद्यावापृथिवी । अन्तरिक्षम् । सूर्यः । आत्मा । जगतः । तस्थुषः । च । स्वाहा ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(चित्रम्) अद्भुतम् (देवानाम्) चक्षुरादीनामिव विदुषाम् (उत्) उद् गमने (अगात्) प्राप्नोति (अनीकम्) बलवत्तरं सैन्यमिव प्रसिद्धम् । अनिति जीवयति सर्वान् प्राणिनः सः अनिहृषिभ्यां किच्च । उ० ४ १६ । अनेन ईकन् प्रत्ययः (चक्षुः) दर्शकम् (मित्रस्य) सख्युः प्राणस्य वा (वरुणस्य) श्रेष्ठस्योदानस्य वा अग्नेः विद्युतः (आ) समन्तात् (अप्राः) यः प्राति पिपर्त्ति अत्र लडर्थे लुङ् (द्यावापृथिवी) भूमिवियती (अन्तरिक्षम्) सर्वेषां मध्यस्थमवकाशम् (सूर्यः) स्वयंप्रकाशः आत्मा) अतति सर्वत्र व्याप्नोति (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) स्थावरस्य (च) जीवानां समुच्चये (स्वाहा) सत्यया क्रियया । इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं समाचष्टे । चायनीयं देवानामुदगमदनीकं ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चापुपूरद्द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन तेन सूर्य आत्मा जङ्गमस्य च स्थावरस्य च निरु० १२ । १६ । अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । १ । १० व्याख्यातः ॥ ४२ ॥

अन्वयः— हे मनुष्या युष्माभिः सूर्यः स्वाहा देवानां मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चित्रमनीकं चक्षुरुदगात् जगतस्तस्थुषश्चात्मासन् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षमाप्रा इव यो जगदीश्वरोऽस्ति स एव सततमुपासनीयः ॥ ४२ ॥

भावार्थः—यतः परमेश्वर आकाश इव सर्वत्र व्याप्तः सवितेव स्वयम्प्रकाशः प्राण इव सर्वान्तर्याम्यस्त्यतः सर्वेभ्यो जीवेभ्यः सत्यासत्यविज्ञापकोऽस्ति यस्य परमेश्वरस्य ज्ञानेच्छा भवेत् स योगमभ्यस्य स्वात्मन्येव तं द्रष्टुं शक्नोति नान्यत्रेति ॥ ४२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम को अति उचित है कि जो (सूर्यः) सविता (स्वाहा) सत्य क्रिया से (देवानाम्) नेत्र आदि के समान विद्वानों (मित्रस्य) मित्र वा प्राण (वरुणस्य) श्रेष्ठ पुरुष वा उदान और (अग्नेः) अग्नि के (चित्रम्) अद्भुत (अनीकम्) बलवत्तर सेना के तुल्य प्रसिद्ध (चक्षुः) प्रभाव के दिखलाने वाले गुणों को (उत्) (अगात्) अच्छे प्रकार प्राप्त होता और (जगतः) जंगम प्राणी और (तस्थुषः) स्थावर संसारी पदार्थों का (आत्मा) आत्मा के तुल्य हो कर (द्यावापृथिवी) आकाश तथा भूमि और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आ) सब प्रकार से (अप्राः) व्याप्त होने वाले के समान परमात्मा है उसी की उपासना निरन्तर किया करो ॥ ४२ ॥

भावार्थः—जिस कारण परमेश्वर आकाश के समान सब जगह व्याप्त सूर्य के तुल्य स्वयम्प्रकाशमान और सूत्रात्मा वायु के सदृश सब का अन्तर्यामी है इस से सब जीवों के लिये सत्य और असत्य का बोध कराने वाला है जिस किसी पुरुष को परमेश्वर को जानने की इच्छा हो वह योगाभ्यास करके अपने आत्मा में उस देख सकता है अन्यत्र नहीं ॥ ४२ ॥

अग्ने नयेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः। अन्तर्यामी जगदीश्वरो देवता
भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथैतदीश्वरप्रार्थनामाह ॥

अब ईश्वर की प्रार्थना अगले मन्त्र में कही है ॥

अग्ने नयं सुपथां रायेऽअस्मान्विश्वांनि देव वयुनांनि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुंहुराणमेनो

भूयिष्ठान्ते नमंउक्तिं विधेम स्वाहां ॥ ४३ ॥

अग्नें । नयं । सुपथेतिंसुऽपथां । राये । अस्मान् । विश्वानि । देव । वयुनानि । विद्वान् । युयोधि । अस्मत् । जुहुराणम् । एनः । भूयिष्ठाम् । ते । नमंउक्तिमितिनमः ऽउक्तिम् । विधेम ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(अग्ने) सर्वेषां प्रकाशक (नय) प्रापय (सुपथा) योगमार्गेण (राये) योगसिद्धये (अस्मान्) योगिनः (विश्वानि) अखिलानि (देव) योगप्रद (वयुनानि) योगविज्ञानानि (विद्वान्) यो वेत्ति सर्वं योगं सः (युयोधि) वियोजय (अस्मत्) अस्माकं योगानुष्ठातॄणांसकाशात् (जुहुराणम्) अस्मदन्तःकरणस्य कौटिल्यम् (एनः) दुष्कृतात्मकमपराधम (भूयिष्ठाम्) भूयसीम् (ते) तव योगोपदेष्टुः परमगुरोः (नमउक्तिम्) नतिपुरःसरां स्तुतिं(विधेम) कुर्य्याम (स्वाहा) सत्यया स्वकीयया वाचा वेदवाचा वा अयमन्त्रः शत० ४ । ३ । १ । १२ व्याख्यातः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं राये अस्मान् विश्वानि वयुनानि नय । यतो वयं स्वाहा ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम । हे देव विद्वंस्त्वं कृपया जुहुराणमेनश्चास्मद्युयोधि ॥ ४३ ॥

भावार्थः—न कश्चिदपि पुरुषः परमात्मनः सत्यप्रेमभक्त्या विना योगसिद्धिं प्राप्नोति यश्चेत्थम्भूतो योगबलेन परमेश्वरं स्मरति तस्मै स दयालुः शीघ्रं योगसिद्धिं ददाति ॥ ४३ ॥

पदार्थः— हे (अग्ने) सब के अन्तःकरण में प्रकाश करने वाले परमेश्वर आप (सुपथा) सत्यविद्याधर्म्मयोगयुक्त मार्ग से (राये) योग की सिद्धि के लिये (अस्मान्) हम लोगों को (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) योग के विज्ञानों को (नय) पहुंचाइये जिस से हम लोग (स्वाहा) अपनी सत्यवाणी वा वेदवाणी से (ते) आप की (भूयिष्ठाम्) बहुत (नमउक्तिम्) नमस्कार पूर्वक स्तुति को (विधेम) करें। हे (देव) योगविद्या को देने वाले ईश्वर (विद्वान्) समस्त योग के गुण और क्रियाओं को जानने वाले आप कृपा कर के (जुहुराणम्) हम लोगों के अन्तः करण के कुटिलता रूप (एनः) दुष्ट कर्म्मों को (अस्मत्) योगानुष्ठान करने वाले हम लोगों से (युयोधि) दूर कर कीजिये ॥ ४३ ॥

भावार्थः—कोई भी पुरुष परमात्मा की प्रेम भक्ति के विना योगसिद्धि को प्राप्त नहीं होता और जो प्रेम भक्ति युक्त होकर योग बल से परमेश्वर का स्मरण करता है उस को वह दयालु परमात्मा शीघ्र योगसिद्धि देता है ॥ ४३ ॥

अयमित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

अथ संग्रामे परमेश्वरोपासकैः शूरवीरैः कथं योद्धव्यमित्युपदिश्यते ॥

अब संग्राम में परमेश्वर के उपासक शूरवीरों को किस प्रकार युद्ध करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अयन्नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयम्मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन् । अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥ ४४ ॥

अ॒यम् । नः॒ । अ॒ग्निः । वरि॑वः । कृ॒णो॒तु॒ । अ॒यम् । मृधः॑ । पु॒रः । ए॒तु॒ । प्र॒भि॒न्दन्निति॑ प्रऽभि॒न्दन् । अ॒यम् । वाजा॑न् । ज॒य॒तु॒ । वाज॑सातावि॒ति वाज॑ऽसातौ । अ॒यम् । शत्रू॑न् । ज॒य॒तु॒ । जर्हृ॑षाणः । स्वाहा॑ ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(अयम्) सर्वाभिरक्षकः (नः) अस्माकम् (अग्निः) वैद्यविद्याप्रकाशकः सर्वरोगनिवारकः सद्वैद्यः (वरिवः) सुखकारकं सेवनम् (कृणोतु) करोतु (अयम्) मुख्ययोद्धा (मृधः) संग्रामात् (पुरः) पुरस्तात् (एतु) गच्छतु (प्रभिन्दन्) विदारयन् (अयम्) वक्तृत्वेनोपदेष्टुं कुशलो योद्धा (वाजान्) वेगादिगुणयुक्तान् स्वसेनास्थान् वीरान् (जयतु) उत्कर्षंतु (वाजसातौ) वाजानां संग्रामाणां संविभागे (अयम्) सर्वोत्कृष्टः (शत्रून्) धर्मशातकान् (जयतु) स्वोत्कर्षाय तिरस्करोतु (जर्हृषाणः) भृशमाल्हादितः (स्वाहा) वैद्यकयुद्धविद्यया शिक्षितया वाचा स्वाहेति वाङ्नामसु पठितम् निघं० १ । ११ । अयम्मन्त्रः शत० ४ । ३ । १ । १ ३ । व्याख्यातः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—अयमग्निः स्वाहा वाजसातौ नो वरिवस्कृणोतु । अयं प्रभिन्दन् मृधः पुर एतु । अयं वाजाञ् जयतु । अयं जर्हृषाणः सन् शत्रूञ् जयतु ॥ ४४ ॥

भावार्थः—यदा युद्धकर्मणि चत्वारो वीरा अवश्यमेव भवेयुस्तेष्वेको वैद्यकक्रियाकुशलः सर्वरक्षकः द्वितीयो हि शौर्यादिगुणप्रदेन व्याख्यानेन

हर्षयिता तृतीयः शत्रूणां तिरस्कर्त्ता चतुर्थः शत्रुविघातुकः स्यात् तदा सर्वा युद्धक्रिया प्रशस्ता भवेत् ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(अयम्) यह प्रथम (अग्निः) वैद्यक विद्या का प्रकाश करने वाला वैद्य (स्वाहा) वैद्यक और युद्ध की शिक्षायुक्त वाणी से (वाजसातौ) युद्ध में (नः) हम लोगों को (वरिवः) सुखकारक सेवन (कृणोतु) करे (अयम्) यह दूसरा युद्ध करने वाला मुख्य वीर (प्रभिन्दन्) शत्रुओं को विदीर्ण करता हुआ (मृधः) संग्राम के (पुरः) आगे (एतु) चले (अयम्) यह तीसरा वीर रसकारक उपदेश करने वाला योद्धा (वाजान्) अत्यन्त वेगादिगुणयुक्त वीरों को (जयतु) उत्साह युक्त करता रहै (अयम्) यह चौथा वीर (जर्हृषाणः) निरन्तर आनन्द युक्त हो कर (शत्रून्) धर्म विरोधी शत्रुजनों को (जयतु) जीते ॥ ४४ ॥

भावार्थः—जब युद्धकर्म में चार वीर अवश्य हों उन में से एक तो वैद्यकशास्त्र की क्रियाओं में चतुर सब की रक्षा करने हारा वैद्य, दूसरा सब वीरों को हर्ष देने वाला उपदेशक, तीसरा शत्रुओं का अपमान करने हारा और चौथा शत्रुओं का विनाश करने वाला हो, तब समस्त युद्ध की क्रिया प्रशंसनीय होती है ॥ ४४ ॥

रूपेणेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ सभात्रयेण राज्य शासनीयमित्युपदिश्यते ॥

अब तीन सभाओं से राज्य की शिक्षा करनी चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा वि भजतु । ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः ॥ ४५ ॥

रूपेण । वः । रूपम् । अभि । आ । अगाम् ।

तुथः। वः । विश्ववेदाइतिविश्वऽवेदाः । वि। भजतु।
ऋतस्य। पथा। प्र। इत। चन्द्रदक्षिणाऽइतिचन्द्रद-
क्षिणाः। वि। स्वरिति स्वः। पश्य। वि। अन्तरि-
क्षम्। यतस्व। सदस्यैः॥ ४५॥

पदार्थः-(रूपेण) चक्षुर्ग्राह्येण प्रियेण (वः) युष्माकम् (रू-
पम्) स्वरूपम् (अभि) सम्मुखे (आ) समन्तात् (अगाम्)
(तुथः) ज्ञानवृद्धः अत्र तु गतिवृद्धिहिंसास्वित्यस्माद्धौणा-
दिकः क्थन् प्रत्ययः (वः) युष्मान् (विश्ववेदाः) य परमा-
त्मा विश्वं सर्वं वेत्ति तद्वद्वर्त्तमानः (वि) (भजतु) विभागं
करोतु (ऋतस्य) सत्यस्य (पथा) मार्गेण (प्र) (इत) प्राप्नुत (च-
न्द्रदक्षिणाः) चन्द्रं सुवर्णं दक्षिणादानं येषां ते। चन्द्रमिति
हिरण्यनामसु पठितम् निघं० १। २। (वि) (स्वः) उपतप-
न्नादित्य इव। स्वरादित्यो भवति। निरु० २। ४१। (पश्य)
प्रचक्ष्व (वि) विविधार्थे (अन्तरिक्षम्) क्षयरहितमन्तर्यामि-
मिस्वाभाविकम्ब्रह्मविज्ञानं वा (अन्तरिक्षम्) कस्मादन्तरा-
क्षान्तं भवन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा निरु०
२। १०। (यतस्व) प्रयत्नं कुरु (सदस्यैः) सहसि भवैः स-
भ्यैर्जनैः सह। अयं मंत्रः शत० ४। ३। ४। १४। १८।
व्याख्यातः॥ ४५॥

अन्वयः-हे सेनाप्रजाजना यथाहं रूपेण वो युष्माकं रूपमभ्यागाम् तथा विश्ववेदा वो युष्मान् विभजतु तुथस्त्वं स्वरिवर्त्तस्य पथान्तरिक्षं विपश्य सभायां सदस्यैः सहर्तस्य पथा प्रयतस्व चन्द्रदक्षिणा यूयमृतस्य पन्थं मार्गं वीत॥ ४५॥

भावार्थः—सभापती राजा स्वात्मजानिव प्रजासेनासभ्यपुरुषान् प्रीणयेत् तथा पक्षपातरहितः परमेश्वर इव सततं न्यायं कुर्यात् धार्मिकाणां सभ्यानां जनानां तिस्रः सभा भवेयुः । तास्वेका राजसभा यया राजकार्याणि निर्वहेरन् सर्वविघ्ना निवर्त्तेरंश्च द्वितीयाविद्यासभा यया विद्याप्रचारः स्यादविद्या नश्येत तृतीया धर्मसभा यया धर्मोन्नतिरधर्महानिश्च सततं भवेत् सर्वेस्वात्मानं परमात्मानं समीक्ष्यान्यायमार्गात् पृथग्भूत्वा धर्मं सेवित्वा समयं पर्य्यालोच्य सत्यासत्यनिर्णये प्रयतेरन् ॥ ४५ ॥

पदार्थः—हे सेना और प्रजा जनो! जैसे मैं (रूपेण) अपने दृष्टिगोचर आकार से (वः) तुम्हारे (रूपम्) स्वरूप को (अभि) (आ) (अगाम्) प्राप्त होता हूं वैसे (विश्ववेदाः) सब को जानने वाले परमात्मा के समान सभापति (वः) तुम लोगों को (वि) (भजतु) पृथक् २ अपने २ अधिकार में नियत करे। हे सभापते (तुथः) सब से अधिक ज्ञान वाले परिपूर्ण आप (स्वः) प्रताप को प्राप्त हुए सूर्य्य के समान (ऋतस्य) सत्य के (पथा) मार्ग से (अन्तरिक्षम्) अविनाशी राजनीति वा ब्रह्मविज्ञान को (वि) अनेक प्रकार से (प्रख्य) देखो और सभा के बीच में (सदस्यैः) सभासदों के साथ सत्य मार्ग में (प्र) (यतस्व) विशेष २ यत्न करो तथा हे (चन्द्रदक्षिणाः) सुवर्ण के दान करने वाले राज पुरुषो! तुम लोग धर्म्म को (वीत) विशेषता से प्राप्त होओ ॥ ४५ ॥

भावार्थः—सभापति राजा को चाहिये कि अपने पुत्रों के तुल्य प्रजा सेना के पुरुषों को प्रसन्न रक्खे और परमेश्वर के तुल्य पक्षपात छोड़ कर न्याय करे। धार्म्मिक सभ्यजनों की तीन सभा होनी चाहियें उन में से एक राजसभा जिस के आधीन राज्य के सब कार्य्य चलें और सब उपद्रव निवृत्त रहें, दूसरी विद्यासभा जिस से विद्या का प्रचार अनेकविधि किया जावे और अविद्या का नाश होता रहे और तीसरी धर्म्मसभा जिस से धर्म्म की उन्नति और अधर्म्म की हानि निरन्तर की जाय। सब लोगों को उचित है कि अपने आत्मा और परमात्मा को देखकर अन्याय मार्ग से अलग हो, धर्म्म का सेवन और सभासदों के साथ समयानुकूल अनेक प्रकार से विचार करके सत्य और असत्य के निर्णय करने में प्रयत्न किया करें ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणमित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । विद्वांसो देवताः ।

भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ दक्षिणा कस्मै कथं च दातव्येत्युपदिश्यते॥

अब दक्षिणा किस को और किस प्रकार देनी चाहिये इस विषय का

उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

ब्राह्मणमद्य विदेयम्पितृमन्तम्पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳ सुधातुदक्षिणम् । अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणम् । अद्य । विदेयम् । पितृमन्तमिति पितृऽमन्तम् । पैतृमत्यमिति पैतृऽमत्यम् । ऋषिम् । आर्षेयम् । सुधातुदक्षिणमिति सुधातुऽदक्षिणम् । अस्मद्राता इत्यस्मत्ऽराताः । देवत्रेति देवऽत्रा । गच्छत । प्रदातारमिति प्रऽदातारम् । आ । विशत ॥ ४६ ॥

पदार्थः-(ब्राह्मणम्) वेदेश्वरविदम (अद्य)(विदेयम्) अत्र-छान्दसो वर्णलोपो वेति नलोपः (पितृमन्तम) प्रशस्ताः पितरो रक्षकाः सत्यासत्योपदेशकाः विद्यन्ते यस्य तमिव(पैतृमत्यम्) पितृमतांभावमेव (ऋषिम्) वेदार्थविज्ञापम(आर्षेयम्) ऋषीणामिदं योगजं विज्ञानं प्राप्तम् (सुदक्षिणम्)

शोभना धातवोदक्षिणा यस्य दातुस्तम् (अस्मद्राताः) येऽस्मभ्यम् रान्ति शुभान् गुणान् ददति ते (देवत्रा) देवेषु पवित्रगुणकर्मस्वभावेषु वर्त्तमानाः (गच्छत) प्राप्नुत (प्रदातारम्) प्रकृष्टतया दानशीलम् (आ) समन्तात् (विशत) अयंमन्त्रः शत० ४। ३१। १८। १९। व्याख्यातः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे प्रजासभासेनाजना यथाहमद्य ब्राह्मणंपितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सुधातुदक्षिणं प्रदातारं च विदेयं तथाऽस्मद्राताः सन्तो यूयं देवत्रा गच्छत शुभान् गुणानाविशत ॥ ४६ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। उत्साहितेन पुरुषेणकिमाप्तुमशक्यमस्ति को नाम खलु प्रयत्नेन विदुषः सेवित्वार्षं योगविज्ञानं साधितुमशक्नुयात् नहि कश्चिदपि विद्वान् सद्गुणस्वभावग्रहणाद् विरज्येत नहि दातृन् कार्पण्यं कदाचिदाविशत्यतो यैर्दक्षिणायां प्रशस्ताः पदार्थाः प्रदीयन्ते तेषामतुलाकीर्त्तिः कुतो न जायेत ॥ ४६ ॥

पदार्थः—हे प्रजा सभा और सेना के मनुष्यो ! जैसे मैं (अद्य) आज (ब्राह्मणम्) वेद और ईश्वर को जानने वाला (पितृमन्तम्) प्रशंसनीय पितृ अर्थात् सत्यासत्य के विवेक में जिस के सर्वथा रक्षक हैं (पैतृमत्यम्) पितृभाव को प्राप्त (ऋषिम्) वेदार्थ विज्ञान कराने वाला ऋषि (आर्षेयम्) जो ऋषिजनों के इस योग से उत्पन्न हुए विज्ञान को प्राप्त (सुधातुदक्षिणम्) जिस के अच्छी अच्छी पुष्टिकारक दक्षिणा रूप धातु हैं उस (प्रदातारम्) अच्छे दान शील पुरुष को (विदेयम्) प्राप्त होऊं वैसे तुम लोग (अस्मद्राताः) हमारे लिये अच्छे गुणों के देने वाले होकर (देवत्रा) शुद्ध गुण कर्म स्वभाव युक्त विद्वानों के (आगच्छत) समीप आओ और शुभ गुणों में (आविशत) प्रवेश करो ॥ ४६ ॥

भावार्थः— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। उत्साही पुरुष को क्या नहीं प्राप्त हो सकता कौन ऐसा पुरुष है कि जो प्रयत्न के साथ विद्वानों का

सेवन कर ऋषि लोगों के प्रकाशित किये हुये योग विज्ञान को न सिद्ध करसके कोई भी विद्वान् अच्छे गुण कर्म्म और स्वभाव से विपरीत नहीं हो सकता और दाता जनों को कृपणता कभी नहीं आती है इस से जो देने वाले दक्षिणा में प्रशंसनीय पदार्थ सुपात्र धार्मिक सर्वोपकारक विद्वानों को देते हैं उनकी अचल कीर्ति क्यों कर न हो ॥४६॥

अग्नयेत्वेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः। वरुणो देवता। आद्यस्य भुरिक् प्राजापत्या रुद्रायत्वेत्यस्य स्वराट् प्राजापत्या, बृहस्पतयेत्वेत्यस्य निचृदार्षी। यमायत्वेत्यस्य विराडार्षी जगत्यश्छन्दांसि निषादः स्वरः॥

अथ कस्मै प्रयोजनाय दानं प्रतिग्रहश्च सेवितव्यमित्युपदिश्यते।

अब किस प्रयोजन के लिये दान और प्रतिग्रह का सेवन करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है।

अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

अग्नये । त्वा । मह्यम् । वरुणः । ददातु । सः । अमृतत्वमित्यमृतऽत्वम् । अशीय । आयुः । दात्रे । एधि । मयः । मह्यम् । प्रतिग्रहीत्रऽइति प्रतिग्रहीत्रे । रुद्राय । त्वा । मह्यम् । वरुणः । ददातु । सः । अमृतत्वमित्यमृतऽत्वम् । अशीय । प्राणः । दात्रे । एधि । वयः । मह्यम् । प्रतिग्रहीत्रऽइतिप्रतिग्रहीत्रे । बृहस्पतये । त्वा । मह्यम् । वरुणः । ददातु । सः । अमृतत्वमित्यमृतऽत्वम् । अशीय । त्वक् । दात्रे । एधि । वयः । मह्यम् । प्रतिग्रहीत्रऽइतिप्रतिऽग्रहीत्रे । यमाय । त्वा । मह्यम् । वरुणः । ददातु । सः । अमृतत्वमित्यमृतऽत्वम् । अशीय । हयः । दात्रे । एधि । वयः । मह्यम् । प्रतिग्रहीत्रऽइतिप्रतिग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

पदार्थः-(अग्नये) चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तम्ब्रह्मचर्यं संसेव्याग्निवत्तेजस्विभवाय (त्वा) वसुसंज्ञकमध्यापकम् (मह्यम्) (वरुणः) वरः सर्वोत्तमः प्रशस्तविद्योऽनूचानो विद्वानध्यापकः (ददातु) (सः) विद्यार्थी (अमृतत्वम्)

क्रियासिद्धं नित्यं विज्ञानम् (अशीय) प्राप्नुयाम् (आयुः) अधिकं जीवनम् (दात्रे) विद्यादानशीलाय वरुणाय (एधि) वर्धयिता भव (मयः) सुखम् । मयइति सुखनामसु पठितम् निघं० ३ । ६ । (मह्यम्) विद्यार्थिने (प्रतिग्रहीत्रे) प्रतिग्रहकर्त्रे स्वस्तु (रुद्राय) चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तम्ब्रह्मचर्यं सुसेव्य रुद्रगुणधारणाय (त्वा) रुद्राख्यमध्यापकम् (मह्यम्) विद्यार्ज्जनतत्पराय (वरुणः) वरगुणप्रदः (ददातु) सः (अमृतत्वम्) (अशीय) (प्राणः) योगसिद्धबलयुक्तः (दात्रे) (एधि) वर्धय (वयः) अवस्थात्रये सुखभोगं जीवनम् (मह्यम्) विद्याग्रहणप्रवृत्ताय (प्रतिग्रहीत्रे) अध्यापकादागताया विद्यायाः सेवित्रे (बृहस्पतये) अष्टचत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तं ब्रह्मचर्यंसंसेवित्वा बृहत्या वेदविद्यावाचः पालकाय (त्वा) पूर्णविद्याध्यापयितारम् (मह्यम्) पूर्णविद्यामभीप्सवे (वरुणः) (ददातु) (सः) (अमृतत्वम्) (अशीय) (त्वक्) स्पर्शेन्द्रियसुखम् (दात्रे) एधि (मयः) सुखविशेषम् (मह्यम्) (प्रतिग्रहीत्रे) (यमाय) गृहाश्रमजन्यविषयसेवनादुपरताय यमनियमादियुक्ताय (त्वा) सर्वदोषरहितमुपदेशकम् (मह्यम्) सत्यासत्ययोर्निश्चयकरणशीलाय (वरुणः) सत्योपदेष्टाप्तः (ददातु) (सः) (अमृतत्वम्) (अशीय) (हयः) ज्ञानवर्द्धनम् हिगतिवृद्ध्योरित्यस्मादौणादिकोऽसुन् प्रत्ययः । (दात्रे) (एधि)

(वयः) चिरंजीवनसुखम् (मह्यम्) सर्वर्द्धिं चिकीर्षवे (प्रतिग्रहीत्रे) अयम्मन्त्रः श० । ४ । ३ । ४ । २८—३१ व्याख्यातः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे वसुसंज्ञकाध्यापक यस्माअग्नये मह्यं त्वा वरुणो ददातु सोऽहं यदमृतत्वमशीय प्राप्नुयां तस्मै दात्रे वरुणायायुश्चिरंजीवनमेधि प्रतिग्रहीत्रे मह्यं शिष्याय मयः सुखं च हे रुद्रसंज्ञकाध्यापक यस्मै रुद्राय मह्यं त्वा वरुणो ददातु सोऽहं यदमृतत्वमशीय तस्मै दात्रे वरुणाय प्राणस्त्वमेधि प्रतिग्रहीत्रे मह्यं वयोऽवस्थामयसुखं च हे आदित्यनामाध्यापक यस्मै बृहस्पतये मह्यं त्वा वरुणो ददातु सोऽहं यदमृतत्वमशीय तस्मै दात्रे वरुणाय त्वगिन्द्रियसुखत्वमेधि प्रतिग्रहीत्रे मह्यं सुखं च यस्मै जितेन्द्रिययमाय मह्यं त्वा वरुणो ददातु सोऽहं यदमृतत्वमशीय तस्मै दात्रे वरुणाय हयो ज्ञानवर्द्धनं त्वमेधि प्रतिग्रहीत्रे मह्यं वयोऽवस्थामयसुखं च ॥ ४७ ॥

भावार्थः—सर्वेषां जनानां योग्यमस्ति य सर्वोत्कृष्टोऽनूचानो विद्वान् भवेत्तस्य सकाशादितरानध्यापकान् परीक्ष्य स्वस्वकन्याः पुत्रान् तत्तत्सदृशाध्यापकात्पाठयेयुः । अध्येतारश्च स्वस्वबुद्धिं न्यूनाधिकां ज्ञात्वा स्वस्वसदृशानध्यापकान् प्रीत्या सेवमानास्तेभ्यो नैरन्तर्य्येण विद्याग्रहणं कुर्य्युः ॥ ४७ ॥

पदार्थः—हे वसु संज्ञक पढ़ाने वाले जिस (अग्नये) चौबीस वर्षतक ब्रह्मचर्य्य का सेवन कर के अग्नि के समान तेजस्वि होने वाले (मह्यम्) मेरे लिये (त्वा) तुझ अध्यापक को (वरुणः) सर्वोत्तम विद्वान् (ददातु) देवे (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) अपने शुद्ध कर्म्मों से सिद्ध किये सत्य आनन्द को (अशीय) प्राप्त होऊं उस (दात्रे) दानशील विद्वान् का (आयुः) बहुत कालपर्य्यन्त जीवन (एधि) बढ़ाइये और (प्रतिग्रहीत्रे) विद्याग्रहण करने वाले (मह्यम्) मुझ विद्यार्थी के लिये (मयः) सुख बढ़ाइये । हे दुष्टों को रुलाने वाले अध्यापक जिस (रुद्राय) चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम का सेवन करके रुद्र के गुण धारण करने की इच्छा वाले (मह्यम्) मेरे लिये (त्वा) रुद्र नामक पढ़ाने वाले आपको (वरुणः) अत्युत्तमगुणयुक्त (ददातु) देवे (सः) वह मैं (अमृत-

त्वम्) मुक्ति के साधनों को (अशीय) प्राप्त होऊं उस (दात्रे) विद्या देने वाले विद्वान के लिये (प्राणः) योगविद्या का बल (एधि) प्राप्त कराइये और (प्रतिग्रहीत्रे) विद्याग्रहण करने वाले (मह्यम्) मेरे लिये (वयः) तीनों अवस्था का सुख प्राप्त कीजिये । हे सूर्य के समान तेजस्वि अध्यापक जिस (बृहस्पतये) अड़तालीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन की इच्छा करने वाले (मह्यम्)मेरे लिये (त्वा) पूर्णविद्या पढ़ाने वाले आप को (वरुणः) पूर्णविद्या से शरीर और आत्मा के बलयुक्त विद्वान् (ददातु) देवे (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) विद्या के आनन्द का (अशीय) भोग करूं । उस (दात्रे) पूर्ण विद्या देने वाले महा विद्वान् के अर्थ (त्वक्) सरदी गरमी के स्पर्श का सुख (एधि) बढ़ाइये और प्रतिग्रहीत्रे पूर्ण विद्या के ग्रहण करने वाले (मह्यम्) मुझ शिष्य के लिये (मयः) पूर्णविद्या का सुख उत्पन्न कीजिये। हे गृहाश्रम से होने वाले विषय सुखमें विमुख विरक्त सत्योपदेश करने हारे आप्त विद्वन्! जिस (यमाय) गृहाश्रम के सुख के अनुराग से होने वाले (मह्यम्) मेरे लिये (त्वा) सर्वदोषरहित उपदेश करने वाले आप को (वरुणः) सकलशुभगुणयुक्त विद्वान् (ददातु) देवे (सः) वह मैं (अमृत्वम्) मुक्ति के सुख को (अशीय) प्राप्त होऊं । उस (दात्रे) ब्रह्म विद्या देने वाले महा विद्वान् के लिये (हयः) ब्रह्म ज्ञान की वृद्धि (एधि) कीजिये और (प्रतिग्रहीत्रे) मोक्ष विद्या के ग्रहण करने वाले (मह्यम्)मेरे लिये (वयः) तीनों अवस्था के सुख को प्राप्त कीजिये ॥ ४७ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को योग्य है कि जो सब से उत्तमगुण वाला सब विद्याओं में सब से बढ़कर विद्वान् हो उस के आश्रय से अन्य अध्यापक विद्वानों की परीक्षा करके अपनी २ कन्या और पुत्रों को उन २ के पढ़ाने योग्य विद्वानों से पढ़वावें और पढ़ने वालों को भी चाहिये कि अपनी २ अधिक न्यून बुद्धि को जान के अपने २ अनुकूल अध्यापकों की प्रीतिपूर्वक सेवा करते हुए उन से निरन्तर विद्या का ग्रहण करें ॥ ४७॥

कोदादित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । आत्मा देवता ।
आर्च्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथेश्वरो जीवानुपदिशति ॥

अब अगले मंत्र में ईश्वर जीवों को उपदेश करता है ॥

कोऽदात्कस्मा॑ऽअदात्कामो॑ऽदात्कामा॑याऽदात्। कामो॑ दा॒ता कामः॑ प्रतिग्रही॒ता कामै॒तत्ते॑ ॥ ४८ ॥

कः। अदात्। कस्मै॑। अदात्। कामः॑। अदात्। कामा॑य। अदात्। कामः॑। दा॒ता। कामः॑। प्रतिग्रहीतेति॑ प्रतिऽग्रही॒ता। काम॑। एतत्। ते॒॥ ४८॥

पदार्थः—(कः) (अदात्) कर्म्मफलानि ददाति (कस्मै) (अदात्) (कामः) कामयते यः परमेश्वरः (अदात्) ददाति (कामाय) कामयमानाय जीवाय (अदात्) ददाति (कामः) यः काम्यते सर्वैर्योगिभिः स परमेश्वरः (दाता) सर्वपदार्थप्रदायकः (कामः) जीवः (प्रतिग्रहीता) (काम) कामयते असौ तत्सम्बुद्धौ (एतत्) आज्ञापनम् (ते) त्वदर्थम्। अयम्मन्त्रः श०४। ३। ४। ३२ व्याख्यातः॥४८॥

अन्वयः—कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता हे काम जीव ते त्वदर्थमेतत् सर्वं मयाऽऽज्ञप्तमिति त्वं निश्चिनुहि॥४८॥

भावार्थः—अस्मिञ्जगति कर्मकर्त्तारो जीवाः फलप्रदातेश्वरोऽस्तीति वेद्यम्। नहि कामनया विना केनचित् चक्षुर्निमेषोन्मेषमपि कर्त्तुं शक्यते तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैर्विचारेण धर्म्म्यैव कामना कार्य्या नेतरस्येतीश्वराज्ञास्ति। अत्राह मनुः। कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता। काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥ ४८॥

अस्मिन्नध्याये बाह्याभ्यन्तरव्यवहारो मनुष्याणां परस्परं वर्त्तमानात्म-
कर्म्मात्मनि मनसः प्रवर्त्तनं प्रथमकल्पाय योगिन ईश्वरोपदेशो जिज्ञासुं
प्रति च योगिकृत्यं तल्लक्षणमध्यापकशिष्यकर्म्म योगविद्याभ्यासिनां कृत्यं यो-
गेनान्तःकरणशोधनं योगाभ्यासिलक्षणं शिष्याऽध्यापकव्यवहारः स्वामिसे-
वककृत्यं न्यायाधीशेन प्रजारक्षणप्रकारो राजसभ्यजनकृत्यं राजोपदेशकरणं
राजभिः कार्य्यं परीक्ष्य सेनापतिकरणं पूर्णविद्यस्य सभापतित्वाधिकारो-
विद्वत्कृत्यमीश्वरोपासकोपदेशो यथानुष्ठातृविषयः प्रजादीन् प्रतिसभापते-
र्वर्त्तनं राजप्रजाजनसत्कारोऽध्यापकाध्येतॄणां परस्परम् प्रवृत्तिः प्रतिदिनं
पठनविषयो विद्यावृद्धिकरणं राज्ञः कर्त्तव्यं कर्म्म सेनापतिकृत्यं सभाध्यक्षक्रि-
येश्वरगुणवर्णनं तत्प्रार्थनाशूरवीरैर्युद्धानुष्ठानं सेनास्थपुरुषकृत्यं ब्रह्मचर्य-
सेवनप्रकार ईश्वरस्य जीवान् प्रत्युपदेशश्चोक्तोऽत एतदध्यायार्थस्योक्तषष्ठाध्या-
यार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इति श्रीमत्परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण परिव्रा-
जकाचार्येण श्रीयुतपरमविदुषा दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विर-
चिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभा-
ष्ये सप्तमोऽध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥ ७ ॥

पदार्थः-(कः) कौन कर्म फलको (अदात्) देता और (कस्मै) कि-
सके लिये (अदात्) देता है । इन दो प्रश्नों के उत्तर (कामः) जिसकी का-
मना सब करते हैं वह परमेश्वर (अदात्) देता और (कामाय) कामना कर-
ने वाले जीव को (अदात्) देता है अब विवेक करते हैं कि (कामः) जि-
सकी योगी जन कामना करते हैं वह परमेश्वर (दाता) देने वाला है (कामः)
कामना करने वाला जीव (प्रतिग्रहीता) लेनेवाला है । हे (काम) कामना
करने वाले जीव ! (ते) तेरे लिये मैंने वेदों के द्वारा (एतत्) यह समस्त
आज्ञा की है ऐसा तू निश्चय कर के जान ॥ ४८ ॥

भावार्थः—इस संसार में कर्म करने वाले जीव और फल देने वाला ईश्वर है यहां यह जानना चाहिये कि कामना के विना कोई आंख का पलक भी नहीं हिला सकता इसकारण जीव कामना करे परन्तु धर्म सम्बन्धी कामना करे अधर्म्म की नहीं यह निश्चय कर जानना चाहिये कि जो इस विषय में मनुजी ने कहा है वह वेदानुकूल है। वैसे इस संसार में अति कामना करना प्रशंसनीय नहीं और कामना के विना कोई कार्य्य सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये धर्म्म की कामना करनी और अधर्म की नहीं क्योंकि वेदों का पढ़ना पढ़ाना और वेदोक्त धर्म्म का आचरण करना आदि कामना इच्छा के बिना कभी सिद्ध नहीं हो सकती। १। इस संसार में तीनों काल में इच्छा के विना कोई क्रिया नहीं दीख पड़ती जो २ कुछ किया जाता है सो २ सब इच्छा ही का व्यापार है। इस लिये श्रेष्ठवेदोक्त कामों की इच्छा करनी इतर दुष्टकामों की नहीं। ४८॥

इस अध्याय में बाहर भीतर का व्यवहार, मनुष्यों का परस्पर वर्त्ताव, आत्मा का कर्म्म, आत्मा में मन की प्रवृत्ति, प्रथम सिद्ध योगी के लिये ईश्वर का उपदेश, ज्ञान चाहने वाले को योगाभ्यास करना, योग का लक्षण, पढ़ने पढ़ाने वालों की रीति, योगविद्या के अभ्यास करने वालों का वर्त्ताव, योगविद्या से अन्तःकरण की शुद्धि, योगाभ्यासी का लक्षण, गुरु शिष्य का परस्पर व्यवहार, स्वामिसेवक का वर्त्ताव, न्यायाधीश को प्रजा के रक्षा करने की रीति, राजपुरुष और सभासदों का कर्म्म, राजा का उपदेश, राजाओं को कर्त्तव्य, परीक्षा करके सेनापति का करना पूर्णविद्वान् को सभापति का अधिकार देना, विद्वानों का कर्त्तव्य कर्म्म, ईश्वर के उपासक को उपदेश, यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले का विषय, प्रजाजन आदि के साथ सभापति का वर्त्ताव, राजा और प्रजा के जनों का सत्कार, गुरुशिष्य की परस्पर प्रवृत्ति, नित्य पढ़ने का विषय, विद्या की वृद्धि करना, राजा को कर्त्तव्य, सेनापति का कर्म्म, सभाध्यक्ष की क्रिया, ईश्वर के गुणों का वर्णन, उसकी प्रार्थना, शूरवीरों को युद्ध का अनुष्ठान, सेना में रहने वाले पुरुषों का कर्त्तव्य, ब्रह्मचर्य्य सेवन की रीति और ईश्वर का जीवों के प्रति उपदेश, इस वर्णन के होने से सप्तम अध्याय के अर्थ की षष्ठाध्याय के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये॥

इति श्रीमत्परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतपरमविदुषा दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये सप्तमोऽध्यायः पूर्त्तिमगात्॥ ७॥

ओ३म्

अथाष्टमाध्यायस्यारम्भः

—※—

अब आठवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आसु॑व ॥

उपयाम इत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । बृहस्पतिस्सोमो देवता । आर्ची पंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

तस्य प्रथममन्त्रेण गृहस्थधर्माय ब्रह्मचारिण्या कन्यया कुमारो ब्रह्मचारीस्वीकरणीय इत्युपदिश्यते ॥

उस के प्रथममंत्र से गृहस्थी धर्म के लिये ब्रह्मचारिणी कन्या को कुमार ब्रह्मचारी का ग्रहण करना चाहिये यह अगले मंत्र में उपदेश किया है ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्यादि॒त्येभ्य॑स्त्वा विष्ण॑ऽउरु-गा॒यै॒ष ते॒ सोम॒स्तꣳ र॑क्षस्व॒ मा त्वा॑ दभन् ॥ १ ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ऽइत्यु॑पया॒मगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । आ॒दि॒त्येभ्यः॑ । त्वा॒ । विष्णो॒ऽइति॒ विष्णो॑ । उ॒रु॒गा॒येत्यु॑रुऽगाय । ए॒षः । ते॒ । सोमः॑ । तम् । र॒क्ष॒स्व॒ । मा । त्वा॒ । द॒भ॒न् ॥ १ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) शास्त्रनियमोपनियमा गृहीता येन सः (असि) (आदित्येभ्यः) कृताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्य्येभ्यः पुंभ्यः (त्वा) त्वाम् सेविताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्य्यम् (विष्णो) सर्वशुभविद्यागुणकर्मस्वभावव्याप्त (उरुगाय) उरूणि बहूनि शास्त्राणि गायति पठति तत्संबुद्धौ (एषः) प्रत्यक्षो गृहाश्रमः (ते) तव (सोमः) मृदुगुणवर्धकः (तम्) (रक्षस्व) (मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (दभन्) दभ्नुवन्तु हिंसन्तु । अत्र लोडर्थे लुङडभावश्च । अयं मंत्रः शत० ४ । ३ । २ । ६ व्याख्यातः ॥१॥

अन्वयः—हे कुमारब्रह्मचारिन् सेवितचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्योऽब्रह्मचारिणयहमादित्येभ्यः त्वामङ्गीकरोमि त्वमुपयामगृहीतोसि हे विष्णो ते तवैषः सोमोस्ति तं त्वं रक्ष हे उरुगाय त्वां कामबाणा मा दभन् मा हिंसन्तु ॥ १ ॥

भावार्थः— सर्वासां सेवितब्रह्मचर्यांणां युवतीनां कन्यानामिदमवश्यमभीप्सितव्यम् । तां स्वस्वसदृशरूपगुणकर्मस्वभावविद्यान् बलाधिकान् स्वाभीष्टान् हृद्यान् पतीन् स्वयंवरविधिनोरीकृत्य परिचरेयुः । एवं ब्रह्मचारिभिरपि स्वतुल्यायुवतयः स्त्रीत्वेनाङ्गीकर्त्तव्या एवं द्वाभ्यां सनातनो गृहस्थधर्मः पालनीयः । परस्परमत्यन्तविषयभोगलोलुपत्वोपेक्षया: कदाचिन्न विधेयाः किंतु ऋतुगामिनौ सन्तौ दश सन्तानानुत्पाद्य तान् सुशिक्षयैश्वर्यमुन्नीय प्रीत्याऽऽसेताम् । यथा इतरेतरस्मिन्नप्रसन्नता वियोगव्यभिचारादयो दोषा न भवेयुः । तथाऽनुष्ठाय परस्परं सर्वथा सर्वदा रक्षा कार्या ॥ १ ॥

पदार्थः—हे कुमार ब्रह्मचारिन्! चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवने वाली मैं (आदित्येभ्यः) जिन्होंने अड़तालीस वर्षतक ब्रह्मचर्य सेवन किया है उन सज्जनों की सभा में (त्वा) अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य सेवन करने वाले आप को स्वीकार करती हूं आप (उपयामगृहीतः) शास्त्र के नियम और उपनियमों को ग्रहण करने वाले (असि) हो। हे (विष्णो) समस्त श्रेष्ठ विद्या गुण कर्म और स्वभाव वाले श्रेष्ठजन (ते) आप का (एषः) यह गृहस्थाश्रम (सोमः) सोमलता आदि के तुल्य ऐश्वर्य का बढ़ाने वाला है (तम्) इस की (रक्षस्व) रक्षा करो। हे (उरुगाय) बहुत शास्त्रों को पढ़ने वाले (त्वा) आप को काम के बाण जैसे (मा, दभन्) दुःख देने वाले न होवें वैसा साधन कीजिये ॥ १ ॥

भावार्थः—सब ब्रह्मचर्याश्रम सेवन की हुई युवती कन्याओं को ऐसी आकांक्षा अवश्य रखनी चाहिये कि अपने सदृश रूप गुण कर्म स्वभाव और विद्या वाला अपने से अधिक बलयुक्त अपनी इच्छा के योग्य अन्य कन्या से जिसपर विशेष प्रीति हो ऐसे पति को स्वयंवर विधि से स्वीकार करके उस की सेवा किया करें। ऐसे ही कुमार ब्रह्मचारी लोगों को चाहिये कि अपने अपने समान युवति स्त्रियों का पाणि ग्रहण करें इस प्रकार दोनों स्त्री पुरुषों को सनातन गृहस्थों के धर्म का पालन करना चाहिये। और परस्पर अत्यन्त विषय की लोलुपता तथा वीर्य का विनाश कभी न करें किन्तु सदा ऋतुगामी हों। दश सन्तानों को उत्पन्न करें और उन्हें अच्छी शिक्षा देकर अपने ऐश्वर्य की वृद्धि कर प्रीतिपूर्वक रमण करें जैसे आपस में एक से दूसरे का वियोग अप्रीति और व्यभिचार आदि दोष न हों वैसा बर्ताव वर्त्त कर आपस में एक दूसरे की रक्षा सब प्रकार सब काल में किया करें ॥ १ ॥

कदाचन इत्यस्याङ्गिरस ऋषिः। गृहपतिर्मघवा देवता। भुरिक् पंक्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनस्तमेवाह॥

फिर भी गृहस्थों के धर्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे उ-

प्रोपेन्नु मघवन्भूय ऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत-ऽआदित्येभ्यस्त्वा ॥ २ ॥

कदा । चन । स्तरीः । असि । न । इन्द्र । सश्चसि । दाशुषे । उपोपेत्युपऽउप । इत् । नु । मघवन्नितिमघऽवन् । भूयः । इत् । नु । ते । दानम् । देवस्य । पृच्यते । आदित्येभ्यः । त्वा ॥ २ ॥

पदार्थः—(कदा) कस्मिन् काले (चन) अपि (स्तरीः) स्वभावाच्छादकः संकुचितः (असि) भवसि (न) निषेधे (इन्द्र) परमैश्वर्यपते (सश्चसि) प्राप्नोषि । सश्चतीति गतिकर्मसु पठितम् निघं० २ । १४ (दाशुषे) दानशीलाय (उपोप) सामीप्ये । उपसर्गस्य सामीप्ये । अ० ८ । १ । ७ । इति द्वित्वम (इत्) एव (नु) क्षिप्रम् । न्विति क्षिप्र नामसु पठितम् निघं० । २ । १५ (मघवन्) प्रशंसितधनयुक्त (भूयः) अधिकम् (इत्) एव (नु) शीघ्रम (ते) तव (दानम) (देवस्य) विदुषः (पृच्यते) संबध्यते (आदित्येभ्यः) मासेभ्यः (त्वा) त्वां सुखदातारम् । अयं मंत्रः शत० ४ । ३ । २ । १० । ११ । व्याख्यातः ॥ २ ॥

अन्वयः-हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्तपते यतस्त्वं कदाचनस्तरीर्नासि तस्माद्दाशुष उपोप सश्चसि हे मघवन् देवस्य ते तव यद्दानमस्ति नु भूयः पृच्यते अतोहं सर्वेभ्यादित्येभ्यः सदा सुखप्रापकं त्वा त्वामाश्रये ॥ १ ॥

भावार्थः—विवाहकामनया युवत्या स्त्रिया यच्छलकपटाचरणरहितः

सत्यप्रकाशक एकस्त्रीव्रतो जितेन्द्रिय उद्योगी धार्मिको दाता विद्वान् भवेत् तमुपयम्य निरन्तरमानन्दितव्यम् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्य से युक्त पति ! जिस कारण आप (कदा) कभी (चन) भी (स्तरीः) अपने स्वभाव को छिपाने वाले (न) नहीं (असि) हैं इस कारण (दाशुषे) दान देने वाले पुरुष के लिये (उपोप) समीप (सश्चसि) प्राप्त होते हैं । हे (मघवन्) प्रशंसित धन युक्त भर्त्ता ! (देवस्य) विद्वान् (ते) आप का जो (दानम्) दान अर्थात् अच्छी शिक्षा वा धन आदि पदार्थों का देना है (इत्) वही (नु) शीघ्र (भूयः) अधिक करके मुझ को (पृच्यते) प्राप्त होवे इसी से मैं स्त्री भाव से (आदित्येभ्यः) प्रति महीने सुख देने वाले आप का आश्रय करती हूं ॥ २ ॥

भावार्थः—विवाह की कामना करने वाली युवति स्त्री को चाहिये कि जो छल कपट आदि आचरणों से रहित प्रकाश करने और एक ही स्त्री को चाहने वाला जितेन्द्रिय सब प्रकार का उद्योगी धार्मिक और विद्वान् पुरुष हो उस के साथ विवाह करके आनन्द में रहे ॥ २ ॥

कदाचनेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । आदित्यो गृहपतिर्देवता । निचृद्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थधर्ममाह ॥

फिर भी गृहस्थ का धर्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

कदा चन प्रयुच्छस्युभे नि पासि जन्मनि । तुरीयादित्य सवनन्तऽइन्द्रियमा तस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ ३ ॥

कदा । चन । प्र । युच्छसि । उभे इत्युभे । नि ।

पासि । जन्मनिऽइतिजन्मनी । तुरीय । आदित्य । सवनम् । ते । इन्द्रियम् । आ । तस्थौ । अमृतम् । दिवि । आदित्येभ्यः । त्वा ॥ ३ ॥

पदार्थः—(कदा) (चन) (प्र) युच्छसि अत्यन्तं प्रमाद्यसि (उभे) द्वे (नि) नितराम् (पासि) (जन्मनी) वर्त्तमानम्प्राप्स्यमानं च (तुरीय) चतुर्थवत् । अत्रार्शआदित्वादच् (आदित्य) विद्यया सूर्य इव प्रकाशमान (सवनम्) सवति प्रसूयतेऽनेन तत् (ते) तव (इन्द्रियम्) मनआदिकार्य्यसाधकम् (आ) (तस्थौ) (अमृतम्) मरणधर्म्मरहितम् (दिवि) द्योतनात्मके व्यवहारे (आदित्येभ्यः) संवत्सरेभ्यः (त्वा) त्वां दृढेन्द्रियम् । अयम्मन्त्रः शत० ४।३।५।१२ व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः— अत्र नेत्यध्याहार्य्यम् । हे पते त्वं यदि कदाचन न प्रयुच्छसि तर्हि स्वकीये उभे जन्मनी निपासि । हे आदित्य यदि ते तव सवनमिन्द्रियमास्थौ तर्हि दिव्यमृतं प्राप्नुयाः हे तुरीय आदित्येभ्यस्त्वा त्वामहमुपयच्छे ॥ ३ ॥

भावार्थः—यः प्रमादी विवाहितां स्त्रियं त्यक्त्वा परस्त्रियं सेवते स इहामुत्र च दुःखी भवति यश्च संयमी स्वस्त्रीसेवी त्यक्तपरस्त्रीः स उभयत्र परमं सुखं कथं न भुञ्जीत अतः सर्वासां स्त्रीणां योग्यतास्ति जितेन्द्रियान् पतीन् सेवेरन्निति ॥ ३ ॥

पदार्थः—इस मन्त्र में नकार का अध्याहार आकांक्षा के होने से होता है ॥ हे पते ! आप जो (कदा) कभी (चन) भी (प्र) (युच्छसि) प्रमाद नहीं करते हो तो अपने (उभे) दोनों (जन्मनी) वर्त्तमान और परजन्म की (पासि)

निरन्तर पालते हो। हे (आदित्य) विद्या गुणों में सूर्य के तुल्य प्रकाशमान जो (ते) आप के (सवनम्) उत्पत्ति धर्म युक्त कार्य सिद्ध करने हारे (इन्द्रियम्) मन आदि इन्द्रिय के वश में रहें तो आप (आ) (तस्थौ) (दिवि) प्रकाशित व्यवहारों में (अमृतम्) अविनाशी सुख को प्राप्त हो जावें। हे (तुरीय) चतुर्थाश्रम के पूर्ण करने वाले (आदित्येभ्यः) प्रतिमास के सुख के लिये (त्वा) इन्द्रिय आप को मैं भी स्वीकार करती हूं ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो प्रमादी पुरुष विवाहित स्त्री को छोड़कर पर स्त्री का सेवन करता है वह इस लोक और परलोक में दुर्भागी होता है और जो सयमी अपनी ही स्त्री का चाहने वाला दूसरे की स्त्री को नहीं चाहता यह दोनों लोक में परम सुख को क्यों न भोगे। इस से सब स्त्रियों को योग्य है कि जितेन्द्रिय पति का सेवन करें अन्य का नहीं ॥ ३ ॥

यज्ञो देवानामित्यस्य कुत्सऋषिः। आदित्यो गृहपतिर्देवता। निचृज्जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनर्गृहाश्रमविषयमाह ॥

फिर भी गृहाश्रम का विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

यज्ञो देवानाम्प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः। आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा ॥ ४ ॥

यज्ञः। देवानाम्। प्रति। एति। सुम्नम्। आदित्यासः। भवत। मृडयन्तः। आ। वः। अर्वाची। सुमतिरिति सुऽमतिः। ववृत्यात्। अꣳहोः। चित्। या। वरिवोवित्तरेति वरिवोवित्ऽतरा। असत्। आदित्येभ्यः। त्वा ॥ ४ ॥

पदार्थः-(यज्ञः) स्त्रीपुरुषाभ्यां सङ्गमनीयः (देवानाम्) विदुषाम् (प्रति) प्रतीतम् (एति) प्रापयति (सुम्नम्) सुखम्। सुम्नमिति सुखनामसु पठितम् निघं० ३। ६। (आदित्यासः) आदित्यवद्विद्यादिशुभगुणैः प्रकाशमानाः (भवत) मृडयन्तः) सर्वान् सुखयन्तः (आ) (वः) युष्माकम् (अर्वाची) सुशिक्षाविद्याभ्यासात्पश्चाद्विज्ञानमंचति प्राप्नोत्यनया सा (सुमतिः) शोभनाचासौ मतिः (ववृत्यात्) वर्त्तताम्। अत्र बहुलं छन्दसीति शपः श्लुर्व्यत्ययेन परस्मैपदञ्च (अंहोः) सुखप्रापकस्य गृहाश्रमस्याऽनुष्ठानस्य (चित्) अपि (या) (वरिवोवित्तरा) वरिवः सत्यं व्यवहारस्येत्यनया सातिशयिना (असत्) भवेत् लेट् प्रयोगोऽयम् (आदित्येभ्यः) सर्वेभ्यो मासेभ्यः (त्वा) त्वाम्। अयं मंत्रः शत० ४। ३। २। १५ व्याख्यातः॥ ४॥

अन्वयः-हे आदित्यासो यूयं देवानां वो युष्माकं यो गृहाश्रमाख्यो यज्ञः सुम्नं प्रत्येति यांहोऽर्वाची वरिवोवित्तरा सुमतिरावव्रृत्यात् यास्वादित्येभ्यः प्राप्तोत्तमविद्याशिक्षाऽसत्तयाविद्युक्तया वा वां मदा मृडयन्तो भवत॥ ४॥

भावार्थः-विवाहं कृत्वा स्त्रीपुरुषाभ्यामाप्तानां विदुषां संगाद्येन येन कर्मणा विद्यासुशिक्षाबुद्धिवर्द्धनं सौहार्दंपरोपकारश्च वर्द्धेत तत्तदनुष्ठेयमिति॥ ४॥

पदार्थः-हे (आदित्यासः) सूर्य्य लोकों के समान विद्या आदि शुभ गुणों से प्रकाशमान! आप जो (देवानाम्) विद्वान् (वः) आप लोगों का यह

(यज्ञः) स्त्रीपुरुषों के वर्त्तने योग्य गृहाश्रम व्यवहार (सुम्नम्) सुख को (प्रति) (एति) निश्चय करके प्राप्त करता है और (या) जो (अंहोः) गृहाश्रम के सुख को सिद्ध करने वाली (अर्वाची) अच्छी शिक्षा और विद्याभ्यास के पीछे विज्ञान प्राप्ति का हेतु (वरिवो वित्तरा) सत्यव्यवहार का निरन्तर विज्ञान देने वाली आप लोगों की (सुमतिः) श्रेष्ठ बुद्धि श्रेष्ठ मार्ग में निरन्तर (आ) (ववृत्यात्) प्रवृत्त होवे जो (आदित्येभ्यः) आप्तविद्वानों से उत्तम विद्या और शिक्षा जो (त्वा) तुझ को (असत्) प्राप्त हो (चित्) उस बुद्धि से ही युक्त हम दो स्त्री पुरुष को (मृडयन्तः) सदा सुख देते रहिये ॥ ४ ॥

भावार्थः— विवाह करके स्त्री पुरुषों को चाहिये कि जिस काम से विद्या अच्छी शिक्षा बुद्धि धन सुहृद्भाव और परोपकार बढ़े उस कर्म का सेवन अवश्य किया करें ॥ ४ ॥

विवस्वानित्यस्य कुत्स ऋषिः। गृहपतयो देवताः।
आद्यस्य प्राजापत्याऽनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥
आदित्युत्तरस्य निचृदार्षी जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥
पुनरपि गृहस्थधर्ममाह॥
फिर भी गृहस्थ का धर्म अगले मन्त्र में कहा है॥

विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व। अदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः। पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे ॥ ५ ॥

विवस्वन्। आदित्य। एषः। ते। सोमपीथऽइति सोमऽपीथः। तस्मिन्। मत्स्व। श्रत्। अस्मै। नरः। वचसे। दधातन। यत्। आशीर्दत्याशीःऽदा। दम्पतीति दम्ऽपती। वामम्। अश्नुतः। पुमान्। पुत्रः।

जायते । विन्दते । अध । विश्वाहा । अरपः । एधते । गृहे ॥ ५ ॥

पदार्थः— (विवस्वन्) विविधे स्थाने वसति तत् संबुद्धौ (आदित्य) अविनाशिस्वरूप विद्वन् (एषः) गृहाश्रमः (ते) तव (सोमपीथः) सोमः पीयते यस्मिन् सः (तस्मिन्) गृहाश्रमे (मत्स्व) आनन्दितो भव (श्रत्) सत्यम्। श्रत् इति सत्यनामसु पठितम् निघं० ३।१० (अस्मै) (नरः) ये नयन्ति तत् सम्बुद्धौ (वचसे) गृहाश्रमव्यवहाराय (दधातन) धरत सुपां सुलुगिति सुपो लुक् (यत्) यस्मिन् (आशीर्दा) आशीरिच्छां ददाति सः (दम्पती) जायापती (वामम्) प्रशस्यं गृहाश्रमं धर्मम। वाम इति प्रशस्यनामसु पठितम् निघं० ३। ८ (अश्नुतः) व्याप्नुतः (पुमान्) (पुत्रः) पुन्नाम्नो वृद्धावस्थाजन्मदुःखात् त्रायते सः। अत्राह मनुः॥ पुन्नाम्नो नरकाद्यास्मात् त्रायते पितरं सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा अ० ९ श्लो० १३८ ॥ (जायते) उत्पद्यते (विन्दते) लभते (वसु) धनम् (अध) अधेत्यनन्तरे। अत्र पृषोदरादित्वात् थस्य धः। निपातस्य चेति दीर्घः (विश्वाहा) बहूनि च तान्यहानि च। अत्र शेश्छन्दसि बहुलमिति लुक्। विश्वमिति बहुनामसु पठितम्। निघं० ३।१ (अरपः) निष्पापः (एधते) वर्द्धते (गृहे) अयं मंत्रः शत० ४। ३।२।१६–२४ तथा ४।३।३।१–५ व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः-- हे विवस्वन्नादित्य एषोऽग्निरेव ते तव सोमपीथो गृहाश्रमो- ऽस्ति तस्मिँस्त्वं विश्वाहा मत्स्व हर्षितो भव हे नरो गृहाश्रमस्था यूयमस्मै वचसे श्रद्धातन यत् यस्मिन् गृहे दम्पती वाममश्नुतस्तस्मिन् आशीर्दो ऽ- रपः पुमान् पुत्रो जायते वसु विन्दते अथैधते च ॥ ५ ॥

भावार्थः-- स्त्रीपुंसौ सुप्रेम्णा परस्परपरीक्षापूर्वकं स्वयंवरोद्वाहं वि- धाय सत्याचरणेन सन्तानानुत्पाद्य महदैश्वर्यं लब्ध्वा सुखिनौ स्यातां नित्यमुन्नयेता- ताम् ॥ ५ ॥

पदार्थः--हे (विवस्वन्) विविध प्रकार के स्थानों में बसने वाले (आदित्य) अविनाशी स्वरूप विद्वान् गृहस्थ ! (एषः) यह जो (ते) आप का(सोमपीथः) जिस में सोमलता आदि ओषधियों के रस पीने में आवें ऐसा गृहाश्रम है (त- स्मिन्) उस में आप (विश्वाहा) सब दिन (मत्स्व) आनन्दित रहो । हे (न- रः) गृहाश्रम करने वाले गृहस्थो ! आप लोग (अस्मै) इस (वचसे) गृहाश्रम के बाग व्यवहार के लिये (श्रत्) सत्य हो को (दधातन) धारण करो।(यत्) जिस (गृहे) गृहाश्रम में (दम्पती) स्त्रीपुरुष (वामम्) प्रशंसनीय गृहाश्रम के धर्म को (अश्नुतः) प्राप्त होते हैं उस में (आशीर्दः) कामना देने वाला (अरपः) निष्पाप धर्मात्मा (पुमान्) पुरुषार्थी (पुत्रः) वृद्धावस्था के दुःखों से रक्षा करने वाला पुत्र (जायते) उत्पन्न होता है और वह उत्तम (वसु) धन को (विन्दते) प्राप्त होता है (अथ) इस के अनन्तर वह (एधते) वि- द्या कुटुम्ब और धन के ऐश्वर्य से बढ़ता है ॥ ५ ॥

भावार्थः--स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि अच्छी प्रीति से परस्पर परीक्षा पूर्वक स्वयंवर विवाह और सत्य आचरणों से संतानों को उत्पन्न कर बहुत ऐश्वर्य को प्राप्त होके नित्य उन्नति पावें ॥ ५ ॥

वामम्यद्येत्यस्य भरद्वाजऋषिः गृहपतयो देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनश्च गृहाश्रमिणा कथं प्रयतितव्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर भी गृहस्थों को किस प्रकार प्रयत्न करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

वामम॒द्य स॑वितर्वा॒मम॒ु श्वो दि॒वे दि॑वे वा॒मम॒स्मभ्य॑ꣳ सावीः । वा॒मस्य॒ हि क्षय॑स्य देव॒ भूरे॑र॒या धि॒या वा॑म॒भाजः॑ स्याम ॥ ६ ॥

वा॒मम् । अ॒द्य । स॒वि॒त॒रिति॑ । वा॒मम् । ऊँ॒ऽइत्यूँ॑ । श्वः । दि॒वेदि॑व॒ इति॑ दि॒वेऽदि॑वे । वा॒मम् । अ॒स्मभ्य॑म् । सा॒वीः॒ । वा॒मस्य॑ । हि । क्षय॑स्य । दे॒व॒ । भूरेः॑ । अ॒या । धि॒या । वा॒म॒भाज॒ इति॑ वाम॒ऽभाजः॑ । स्या॒म॒ ॥ ६ ॥

पदार्थः—(वामम) प्रशस्यं सुखम (अद्य) अस्मिन्नह- नि (सवितः) सर्वस्यैश्वर्यस्य प्रसवितरीश्वर ! (वामम) (उ) वितर्के (श्वः) परस्मिन् दिने (दिवेदिवे) प्रतिदि- नम् (वामम्) (अस्मभ्यम्) (सावीः) सव । अत्र लोडर्थे लुडडभावश्च (वामस्य)अत्युत्कृष्टस्य (हि)खलु (क्षयस्य) गृहस्य(देव) सुखप्रद (भूरेः)बहुपदार्थान्वितस्य (अया)अ- नया । छांदसो वर्णलोपो वेति नलोपः (धिया) श्रेष्ठबु द्ध्या (वामभाजः) प्रशस्यकर्म्मसेविनः(स्याम)भवेमा ऽयम्मन्त्रः श० ४। ३। ३। ६। व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अन्वयः— हे देव सवितः पुरुषार्थेन बह्वैश्वर्य्यजनकत्वमस्मभ्य- मद्य वाममुश्वो वामं वा दिवे दिवे वाम सावीः सव । येन वयमयाधिया

भूरेर्वामस्य क्षयस्य गृहाश्रमस्य मध्ये वामभाजो हि स्याम ॥६॥

भावार्थः-- गृहस्थैर्जनैरीश्वरानुग्रहेणपरमपुरुषार्थेनप्रशस्तधियामङ्गलिकाः सन्तो गृहाश्रमिणो भूत्वैव प्रयतेरन् यतस्त्रिषु कालेषु प्रवृद्धसुखाः स्युः ॥६॥

पदार्थः—हे (देव) सुख देने (सवितः) और समस्त ऐश्वर्य के उत्पन्न करने वाले पूज्यजन ! आप (अस्मभ्यम्) हम लोगों के लिये (अद्य) आज (वामम्) अति प्रशंसनीय सुख (उ) और आज ही किन्तु श्वः (श्वः) अगले दिन (वामम्) उक्त सुख तथा (दिवे दिवे) दिन दिन (वामम्) उस सुख को (सावीः) उत्पन्न कीजिये जिस से हम लोग आप की कृपा से उत्पन्न हुई (अया) इस (धिया) श्रेष्ठ बुद्धि से (भूरेः) अनेक पदार्थों से युक्त(वामस्य) अत्यन्त सुन्दर (क्षयस्य) गृहाश्रम के बीच में (वामभाजः) प्रशंसनीय कर्म करने वाले (हि) ही (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थः--गृहस्थ जनों को चाहिये कि ईश्वर के अनुग्रह से प्रशंसनीय बुद्धियुक्त मङ्गलकारी गृहाश्रमी होकर इस प्रकार का प्रयत्न करें कि जिस से तीनों अर्थात् भूत भविष्यत् और वर्तमान काल में अत्यन्त सुखी हों ॥ ६ ॥

उपयामगृहीतोसीत्यस्य भरद्वाजऋषिः । सविता गृहपतिर्देवता ।
विराड् आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
पुनश्च गृहस्थधर्ममुपदिश्यते ॥

फिर भी गृहाश्रम का धर्म अगले मंत्र में कहा है ॥

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा असि चनो मयि धेहि । जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिम्भगाय देवाय त्वा सवित्रे ॥ ७ ॥

उपयामगृहीतऽइत्युपयामऽगृहीतः। असि। सावित्रः। असि। चनोधाऽइतिचनःऽधाः। चनोधाऽइतिचनःऽधाः। असि। चनः। मयि। धेहि। जिन्व। यज्ञम्। जिन्व। यज्ञपतिमितियज्ञऽपतिम्। भगाय। देवाय। त्वा। सवित्रे॥७॥

पदार्थः-(उपयामगृहीतः) उपयामेन विवाहनियमेनोगृहीतः (असि) (सावित्रः) सवितृ सकलजगदुत्पादकः परमेश्वरो देवता यस्य सः (असि) (चनोधाः) चनांस्यन्नानि दधातीति। चन इत्यन्ननामसु पठितम्। निरु० ६। १६ (चनोधाः) अभ्यासेनाधिकार्थो ग्राह्यः सर्वेभ्योऽधिकान्नवान् गम्यते। अभ्यासे भूयांसं समर्थं मन्यते निरु० १०। ४६ (असि) (चनः) (मयि) अन्नग्रहणनिमित्तायां विवाहितायां स्त्रियां (धेहि) धर (जिन्व) प्राप्नुहि जानीहि वा। जिन्वतीति गतिकर्मसु पठितम् निघं०२। १४ (यज्ञम्) धर्म्मेष्टहैः पुरुषैः संगन्तव्यम् (जिन्व) प्रणीहि (यज्ञपतिम्) गृहाश्रमस्य पालकं पुरुषपालिकां स्त्रियं वा (भगाय) धनोद्भाय सेवनीयायैश्वर्याय। भगइति धननामसु पठितम् निघं० २। १० (देवाय) दिव्याय कमनीयाय (त्वा) त्वाम् (सवित्रे) संतानोत्पादकाय। शत० ४। ३। ३। ६। व्याख्यातः॥ ७॥

अन्वयः—हे पुरुष त्वया यथाहं नियमोपनियमैः संगृहीतास्मि तथा मया त्वमुपयामगृहीतोसि त्वं चनोधा असि सावित्रश्चासि तथाहमस्मि त्वं मयि चनोधेहि । अहमपि त्वयि दध्याम् । त्वं यज्ञं जिन्व अहमपि जिन्वेयम् । सवित्रे देवाय भगाय यज्ञपतिं मां जिन्व एतस्मै यज्ञपतिं त्वामहमपि जिन्वेयम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । विवाहितस्त्रीपुरुषौ प्रापणनुकूलव्यवहारेण परस्परमैश्वर्यं प्राप्नुयातां प्रीत्या सन्तानोत्पत्तिं चाचरेताम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे पुरुष ! तुझ से जैसे मैं नियम और उपनियमों से ग्रहण करी गयी हूं वैसे मैंने आप को (उपयामगृहीतः) विवाह नियम से ग्रहण किया (असि) है जैसे आप (चनोधाः)(चनोधाः) अन्न के धारण करने वाले (असि) हैं और (सावित्रः) सविता समस्त संतानादि सुख उत्पन्न करने वाले आप को अपना इष्टदेव मानने वाले (असि) हैं वैसे मैं भी आप के निमित्त धारण करूं जैसे आप (यज्ञम्) इह पुरुषों के सेवने योग्य धर्म व्यवहार को (जिन्व) प्राप्त हों वैसे मैं भी प्राप्त होऊं । और जैसे (सवित्रे) सन्तानों की उत्पत्ति के हेतु (भगाय) धनादि सेवनीय (देवाय)दिव्य ऐश्वर्य के लिये (यज्ञपतिम्) गृहाश्रम को पालने हारे आप को मैं प्रसन्न रक्खूं वैसे आप भी (जिन्व) तृप्त कीजिये ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु० । विवाहित स्त्री पुरुषों को योग्य है कि लाभ के अनुकूल व्यवहार से परस्पर ऐश्वर्य पावें और प्रीति के साथ संतानोत्पत्ति का आचरण करें ॥ ७ ॥

उपयामगृहीतोसीत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः । आद्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । सुशर्म्मेत्यस्य निचृदार्षी बृहतीछन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनरपि गृहिकर्त्तव्यमुपदिश्यते ॥

फिर भी गृहस्थ को सेवने योग्य धर्म्म का उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

उपयामगृहीतोसि सुशर्म्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ८ ॥

उपयामगृहीतऽइत्युपयामऽगृहीतः। असि। सुशर्म्मेतिसुऽशर्म्मा। असि। सुप्रतिष्ठानः। सुप्रतिस्थानइतिसुऽप्रतिस्थानः। बृहदुक्षायेतिबृहत्ऽउक्षाय। नमः। विश्वेभ्यः। त्वा। देवेभ्यः। एष। ते। योनिः। विश्वेभ्यः। त्वा। देवेभ्यः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) (असि) (सुशर्म्मा) शोभनानि गृहाणि यस्य सः। शर्म्मेति गृहनामसु पठितम् निघं० ३। ४। (असि) (सुप्रतिष्ठानः) सुष्ठुप्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा यस्य सः (बृहदुक्षाय) बृहद्वीर्य्यमुक्षति सिञ्चति तस्मै। बृहदिति महन्नामसु पठितम्। निघं० ३। ३। (नमः) अन्नम्। नम इत्यन्ननामसु पठितम्। निघं० २। ७। (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) कमनीयदिव्यसुखेभ्यः (एषः) (ते) (योनिः) गृहम् (विश्वेभ्यः) समस्तेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः। अयम्मन्त्रः शत० ४।३।३। १४-१८ तथा ४।३।३।१-११ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे पते अहं यस्त्वमुपयामगृहीतोसि सुप्रतिष्ठानः सुशर्मासि तस्मै बृहदुक्षाय तुभ्यं नमोऽस्तु सुसंस्कृतं हृद्यमन्नमुचितसमये ददामि यथाहं यस्य ते तवैष योनिः प्रासादोऽस्ति तं त्वा विश्वेभ्यो देवेभ्यः सेवे तथा त्वं विश्वेभ्यो देवेभ्यो मां नियुङ्क्ष्व ॥ ८ ॥

भावार्थः—यस्य गृहाश्रममभीप्सोर्जनस्य सर्वर्तुसुखसंपादकं गृहं स्यात् स्वयं च वीर्यवान् तमेव स्त्री पतित्वेन गृह्णीयात् तस्मै यथोचितसमये सुखं दद्यात् स्वयं च तस्यै दिव्यसुखमादद्यात् तौ द्वौ विदुषां सेवनमाचरेताम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे पते ! जैसे मैंने आप को (उपयामगृहीतः) नियम उपनियमों से ग्रहण किया है (असि) हैं और (सुप्रतिष्ठानः) अच्छी प्रतिष्ठा और (सुशर्मा) अच्छे घर वाले (असि) हो उन (बृहदुक्षाय) अत्यन्त वीर्य देने वाले आप को (नमः) अच्छे प्रकार संस्कार किया हुआ अन्न चित्त को प्रसन्न करने वाला उचित समय पर देती हूं। जिस आप का (एषः) यह (योनिः) सुखदायक महल है (त्वा) उस आप को (विश्वेभ्यः) सब (देवेभ्यः) दिव्य सुखों के लिये सेवन करती हूं। और (त्वा) आप को (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) विद्वानोंके लिये नियुक्त करती हूं वैसे आप मुझ को कीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थः—जिस गृहाश्रम भोगने की इच्छा रखने वाले पुरुष का सब ऋतुओं में सुख देने वाला घर हो और आप वीर्यवान् हो उसी को स्त्री पति भाव से स्वीकार करें और उस के लिये यथोचित समय पर सुख देवें तथा आप उस पति से उचित समय में दिव्य सुख भोगें और वे स्त्री पुरुष दोनों विद्वानों का सत्संग किया करें ॥ ८ ॥

उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य भरद्वाजऋषिः। गृहपतयो विश्वेदेवा देवताः। आद्यस्य प्रजापत्या गायत्री, बृहस्पतिसुतस्येति मध्यस्य साम्नी उष्णिक्, अहमित्युत्तरस्य स्वराडार्षी पंक्तिश्छन्दांसि। क्रमेण षड्जर्षभपञ्चमाः स्वराः ॥

पुनर्गार्हस्थ्यधर्म्ममाह ॥

फिर गृहस्थ का धर्म्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देवसोम तऽइन्दोरिन्द्रियावतः । पत्नीवतोग्रहाँ२॥ऽऋध्यासम् । अहम्परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षन्तदुमेपिताभूत । अहꣳसूर्य्यमुभयतो ददर्शाहन्देवानाम्परमङ्गुहा यत् ॥ ९ ॥

उपयामगृहीत ऽ इत्युपयाम ऽ गृहीतः । असि । बृहस्पतिसुतस्येति बृहस्पतिऽसुतस्य । देव । सोम । ते । इन्दोः । इन्द्रियावतः । इन्द्रियवत ऽ इतीन्द्रियऽवतः । पत्नीवतऽइति पत्नीवतः । ग्रहान् । ऋध्यासम् । अहम । परस्तात् । अहम् । अवस्तात् । यत् अन्तरिक्षम् । तत् । ऊंऽइत्यूँ । मे । पिता । अभूत् । अहम् । सूर्य्यम । उभयतः । ददर्श । अहम । देवानाम । परमम् । गुहा । यत् ॥ ९ ॥

पदार्थः-(उपयामगृहीतः) (असि) (बृहस्पतिसुतस्य) बृहत्या वेदवाण्याः पतेः पालकस्य पुत्रस्य (देव) कमनीयतम (सोम) ऐश्वर्यसम्पन्न (ते) तव (इन्दोः) सोमगुणसम्पन्नस्य (इन्द्रियावतः) बहुधनयुक्तस्य । इन्द्रियमिति धननाoनिघंo २। १० (पत्नीवतः) प्रशस्ता यज्ञसम्बन्धिनी जाया यस्य (ग्रहान्) गृह्यन्ते स्वीक्रियन्ते त्रिवाहकाले नियतशिक्षाविषया ये तान्(ऋध्यासम्) वर्द्धिंशीय (अहम) (परस्तात्) उत्तरस्मात् (अहम्) (अवस्तात्) (अर्वाचीनात्) समयात् (यत्) (अन्तरिक्षम) अन्तरं क्षयमन्तःकरणे क्षयरहितं विज्ञानम् (तत्) (उ) वितर्के (मे) मम (पिता) पालको जनकः (अभूत्)भवति । वर्तमाने लट् उक्तपूर्वापरभावतः (अहम्)(सूर्यम्) चराचरात्मानमीश्वरम् (उभयतः) (ददर्श) दृष्टवान् दृष्टवती चास्मि अहम् (देवानाम्) विदुषाम् (परमम्) अत्युत्तमम् (गुहा) गुह्यन्ते संव्रियन्ते सकलाविद्या यया बुध्या तस्याम् । अत्र सुपां सुलुगिति ङेर्लुक् (यत्) ॥ अयं मंत्रः शत० ४। ३। ४। १२-१४ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः- -हे सोम देव यस्त्वमस्मया कुमार्योपयामगृहीतोऽसि तस्येन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो बृहस्पतिसुतस्य ते तव गृहान् प्राप्याहम्परस्तादवस्ताद्ध्यास्म्यहं वानां गुहास्थितमंतरिक्षं विज्ञानमन्वेमितत्त्वमपिप्राप्नुहि यो मे मम पिता पालकोऽध्यापको वा विद्वानभूत्तत्सकाशात्पूर्णां विद्यां प्राप्याहं यत्परमं सूर्यमुभयतो ददर्श त त्वमपि पश्य ॥ ९ ॥

भावार्थः —स्त्रीपुरुषौ परस्परं विवाहात्पूर्वं सम्यक् परीक्षां कृत्वा तुल्यगुणकर्मस्वभावरूपबलारोग्यपुरुषार्थविद्यायुक्तौ स्वयंवरविधाने न विवाहं

विधायेत्थम्प्रयतेतां यतोधर्म्मार्थकाममोक्षाणांवृद्धिं प्राप्नुयाताम् यस्य माता-पितरौ विद्वांसौ न स्यातांतयोरपत्यान्यप्युत्तमानि भवितुं न शक्नुवंति । अतः पूर्णविद्यासुशिक्षौभूत्वैव गृहाश्रममारभेताम् ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे (सोम) ऐश्वर्य्य सम्पन्न (देव) अति मनोहर पते जिस आप को मैं कुमारी ने (उपयामगृहीतः) विवाह नियमों से स्वीकार किया (असि) है उन (इन्दोः) सोम गुण सम्पन्न (इन्द्रियावतः) बहुत धन वाले और (पत्नीवतः) यज्ञ समय में प्रशंसनीय स्त्री ग्रहण करने वाले (बृहस्पतिसुतस्य) और बड़ी वेद वाणी के पालने वाले के पुत्र (ते) आप के गृह और संबन्धियों को प्राप्त होके मैं (परस्तात्) आगे और (अवस्तात्) पीछे के समय में (ऋध्यासम्) सुखों से बढ़ती जाऊं । (यत्) जिस (देवानाम्) विद्वानों की (गुहा) बुद्धि में स्थित (अन्तर्हितम्) सत्य चिह्न को मैं (एमि) प्राप्त होती हूं उसी को तू भी प्राप्त हो और जो (मे) मेरा (पिता) पालन करने हारा (अभूत्) हो (अहम्) मैं (उभयतः) उसके अगले पिछले उन शिक्षा विषयों से जिस (मृग्यम्) चर अचर के आत्मा रूप परमेश्वर को (ददर्श) देखूं उसी को तूभी देख ॥ ९ ॥

भावार्थः—स्त्री और पुरुष विवाह से पहिले परस्पर एक दूसरे को परीक्षा कर के अपने समान गुण कर्म्म स्वभाव रूप बल आरोग्य पुरुषार्थ और विद्या युक्त होकर स्वयंवर विधि से विवाह करके ऐसा यत्न करें कि जिस से धर्म्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि को प्राप्त हों जिनके माता और पिता विद्वान् न हों उनके संतान भी उत्तम नहीं हो सकते इस से अच्छी शिक्षा और पूर्ण विद्या को ग्रहण करके ही गृहाश्रम के आचरण करें इस के पूर्व नहीं ॥ ९ ॥

अग्नाँ २ ॥ इत्यस्य भरद्वाजऋषिः । गृहपतयो देवताः । विराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पत्नी स्वपुरुषस्य कथं प्रशंसां प्रार्थनाञ्च कुर्यादित्युपदिश्यते ॥

स्त्री अपने पुरुष की किस प्रकार से प्रशंसा और प्रार्थना करे इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अग्नाँ ॥इ पत्नीवन् सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं-

म्पिब स्वाहा । प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय ॥ १० ॥

अग्नाऽ२इ। पत्नीवन्निति पत्नीऽवन्। सजूरिति सऽजूः। देवेन। त्वष्ट्रा। सोमम्। पिब। स्वाहा। प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः। वृषा। असि। रेतोधाऽइति रेतःऽधः। रेतः। मयि। धेहि। प्रजापतेरिति प्रजाऽपतेः। ते। वृष्णः। रेतोधसऽइति रेतःऽधसः। रेतोधामिति रेतःऽधाम। अशीय ॥ १० ॥

पदार्थः—(अग्नाँ २ ॥ इ) सर्वसुखप्रापक (पत्नीवन्) प्रशस्ता यज्ञसम्बन्धिनी पत्नी यस्य तत्सम्बुद्धौ (सजूः) यः समानं जुषते सः (देवेन) दिव्यसुखप्रदेन (त्वष्ट्रा) सर्वदुःखविच्छेदकेन गुणेन (सोमम्) सोमवल्यादिनिष्पन्नमाह्लादकमासवविशेषम् (पिब)(स्वाहा) सत्यवाग्विशिष्टया क्रियया (प्रजापतिः) सन्तानादिपालकः (वृषा) वीर्यसेचकः (असि) (रेतोधाः) रेतोवीर्यंदधातीति (रेतः) वीर्यम् (मयि) विवाहितायां स्त्रियाम् (धेहि) धर (प्रजापतेः) सन्तानादिरक्षकस्य (ते) तव (वृष्णः)

वीर्य्यवतः (रेतोधसः) पराक्रमधारकस्य (रेतोधाम्) वीर्य्यधारकमिति पराक्रमवन्तम्पुत्रम् (अशीय प्राप्नुयाम् । अयम्मन्त्रः शत० ४।३।४।१५-१८ व्याख्यातः ॥१०॥

अन्वयः—हे अग्ने स्वामिन् मया सजूस्त्वं देवेन त्वष्ट्रा स्वाहा सोमम्पिब,हे पत्नीवन त्वं वृषा रेतोधाः प्रजापतिरसि मयि रेतो धेहि, हे स्वामिन्नहं वृष्णो रेतोधसः प्रजापतेस्ते तव सकाशाद्रेतोधाम् पुत्रमशीय ॥ १० ॥

भावार्थः— इह जगति मनुष्यजन्म प्राप्य स्त्रीपुरुषौ ब्रह्मचर्य्येणोत्तमविद्यासद्गुणपराक्रमिणौ भूत्वा विवाहं कुर्य्यातां विवाहमर्य्यादयैव सन्तानोत्पत्तिरतिक्रीडाजन्यसुखसम्भोगं प्राप्य नित्यम्प्रमुदेताम् । विनाविवाहेन पुरुषः स्त्रियं वा स्त्री पुरुषमनसापि नेच्छेयतः स्त्रीपुरुषसंबन्धेनैव मनुष्यवृद्धिर्भवति तस्मात् गृहाश्रमं कुर्य्यो ताम् ॥ १० ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) सम्पन्न सुख पहुँचाने वाले स्वामिन् ! (सजूः) समान प्रीति करने वाले आप मेरे (देवेन) दिव्य सुख देने वाले (त्वष्ट्रा) समस्त दुःख विनाश करने वाले गुण के साथ (स्वाहा)सत्य वाणी युक्त क्रिया से (सोमम्) सोम वल्ली आदि ओषधियों के विशेष आसव को (पिब) पीओ । हे(पत्नीवन्) प्रशंसनीय यज्ञ सम्बन्धिनी स्त्री को ग्रहण करने (वृषा) वीर्य सींचने (रेतोधाः) वीर्य धारण करने (प्रजापतिः) और सन्तानादि के पालने वाले ! जो आप (असि) हैं वह (मयि) मुझ विवाहित स्त्री में (रेतः) वीर्य को (धेहि) धारण कीजिये । हे स्वामिन ! मैं (वृष्णः) वीर्य सींचने (रेतोधसः) पराक्रम धारण करने (प्रजापतेः) सन्तान आदि की रक्षा करने वाले (ते) आप के संग से (रेतोधाम्) वीर्य्यवान अति पराक्रम युक्त पुत्र को (अशीय) प्राप्त होऊँ ॥ १० ॥

भावार्थः-इस संसार में मनुष्य जन्म को पाकर स्त्री और पुरुष ब्रह्मचर्य उत्तम विद्या अच्छागुण और पराक्रम युक्त होकर विवाह करें विवाह की मर्यादा ही से सन्तानों की उत्पत्ति और रतिक्रीडा से उत्पन्न हुए सुख को प्राप्त होकर नित्य आनन्द में रहे बिना विवाह के स्त्री

पुरुष वा पुरुष स्त्री के समागम की इच्छा मन से भी न करें जिससे मनुष्य व्याक्ति की बढ़ती होवी इससे गृहाश्रम का आरम्भ स्त्री पुरुष करें ॥ १० ॥

उपयामगृहीतोसीत्यस्य भरद्वाजऋषिः। गृहपतयो देवताः।
निचृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्गार्हस्थ्यधर्ममाह ॥

फिर गृहस्थों का धर्म अगले मंत्र में कहा है ॥

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यान्त्वा। हर्य्योर्धानास्थसहसोमाऽइन्द्राय॥११॥

उपयामगृहीतऽइत्युपयामऽगृहीतः। असि। हरिः। असि। हारियोजनऽइतिहारिऽयोजनः। हरिभ्यामिति हरिऽभ्याम्। त्वा। हर्य्योः। धानाः। स्थ। सहसोमाऽइतिसहऽसोमा। इन्द्राय ॥ ११ ॥

पदार्थः- (उपयामगृहीतः) उपयामाय गृहाश्रमाय गृहीतः (असि) (हरिः) हरते वहते यथायोग्यं गृहाश्रमव्यवहारान् (असि) (हारियोजनः) हरीन् योजयति यः सारथिः स हरियोजनः हरियोजन एव हारियोजनस्तद्वत (हरिभ्याम्) सुशिक्षिताभ्यां तुरंगाभ्याम् (त्वा) त्वाम् (हर्य्योः) अश्वयोः (धानाः) धारकाः। अत्र दधातेरौणादिको नः प्रत्ययः। (स्थ) भवत (सह-

सोमाः) सोमेनश्रेष्ठगुणसमूहेन सह वर्त्तमाना इव (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यप्राप्तये । अयं मंत्रः शत० ४ । ३ । ५ । १–१० व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे पते ! त्वमुपयामगृहीतोसि हारियोजन इव हरिरसि अतो हरिभ्यां युक्ते स्यंदने विराजमानं त्वा त्वामहं सेवे यूयं गृहाश्रमिणः सन्त इन्द्राय सहसोमाः सन्तो हर्य्योर्धानाः स्थ ॥ ११ ॥

भावार्थः— ब्रह्मचर्य्यसंस्कृता विवाहमिच्छवो युवतयः कन्या युवानश्च परस्परस्य धनोन्नतिम्परीक्ष्य विवाहं कुर्य्युर्नो चेद्धनाभावे दुःखोन्नतिर्भवेत् एवमुभयस्य परस्परमाल्हादयन्तः संतः प्रतिदिनमैश्वर्य्यमुन्नयेयुः ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे पते ! आप (उपयामगृहीतः) गृहाश्रम के लिये ग्रहण किये हुए (असि) हैं (हारियोजनः) घोड़ों को जोड़ने वाले सारथि के समान (हरिः) यथायोग्य गृहाश्रम के व्यवहार को चलाने वाले (असि) हैं इस कारण (हरिभ्याम्) अच्छी शिक्षा को पाए हुए घोड़े से युक्त रथ में विराजमान (त्वा) आप को मैं सेवा करूं। तुम लोग गृहाश्रम करने वाले (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (सहसोमाः) उत्तम गुण युक्त होकर (हर्य्योः) वेगादि गुण वाले घोड़ों को (धानाः) स्थानादि कों में स्थापन करने वाले वाले (स्थ) होओ ॥ ११ ॥

भावार्थः— ब्रह्मचर्य्य से शुद्ध शरीर सगुण सद्विद्यायुक्त होकर विवाह की इच्छा करने वाले कन्या और पुरुष युवावस्था को पहुंच और परस्पर एक दूसरे के धन की उन्नति को अच्छे प्रकार देखकर विवाह करें नहीं तो धन के अभाव में दुःख की उन्नति होती है, इस लिये उक्त गुणों से विवाह कर आनन्दित हुए प्रति दिन ऐश्वर्य्य की उन्नति करें ॥ ११ ॥

यस्तइत्यस्य भारद्वाजऋषिः । गृहपतयोदेवताः ।
आर्षीपंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ गृहस्थानाम्मित्रतामाह ॥
अब गृहस्थों की मित्रता अगले मंत्र में कही है ॥

यस्तेऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य तऽइष्टयजुषस्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि ॥ १२ ॥

यः । ते । अश्वसनिरित्यश्वऽसनिः । भक्षः । यः । गोसनिरिति गोऽसनिः । तस्य । ते । इष्टयजुषऽइतिइष्टऽयजुषः । स्तुतस्तोमस्येतिस्तुतऽस्तोमस्य । शस्तोक्थस्येतिशस्तऽउक्थस्य । उपहूतस्येत्युपऽहूतस्य । उपहूतऽइत्युपहूतः । भक्षयामि ॥ १२ ॥

पदार्थः— (यः)(ते) तव (अश्वसनिः) अश्वानामग्न्यादिपदार्थानां वा सनिदाता (भक्षः) सेवनीयः (यः) (गोसनिः) गोः संस्कृतवाचो भूमेर्विद्याप्रकाशादेः सनिदाता (तस्य) (ते) तव (इष्टयजुषः) इष्टानियजूंषियस्य (स्तुतस्तोमस्य) स्तुतः स्तोमः सामवेदगानविशेषो येनसः (शस्तोक्थस्य) शस्तानि प्रशंसितानि उक्थानि ऋक्-सूक्तानि येन तस्य (उपहूतस्य) सत्कारेणाहूयोपस्थितस्य (उपहूतः) सम्मानित उपस्थितः (भक्षयामि) लेट् प्रयोगोयम् । अयं मंत्रः शत० ४ । ३ । ५। ११—१३ व्याख्यातः॥१२॥

अन्वयः— हे प्रिय वीरपते यस्त्वं मयोपहूतोऽश्वसनिर्गोसनिरसि तस्य शस्तोक्थस्येष्टयजुषः स्तुतस्तोमस्योपहूतस्य तव यो भक्षोऽस्ति तमुपहूतः सन्नहं भक्षयामि । हे ! प्रिये सखि या त्वमश्वसनिर्गोसनिरसि तस्याः शस्तोक्थाया इष्टयजुषः स्तुतस्तोमाया उपहूतायास्ते तव यो भक्षोऽस्ति तमुपहूताहम्भक्षयामि ॥ १२ ॥

भावार्थः—सदुत्साहवर्द्धकेषु कार्य्येषु गृहाश्रममाचरन्त्यः स्त्रियः स्वसखिस्त्रीजनान् गृहाश्रमिणः पुरुषा वा स्वेष्टमित्रबन्धुजनादीनाहूय यथायोग्यं सत्कारेण भोजनादिना प्रसादयेयुरन्योन्यमुपदेशं शास्त्रार्थं विद्यावाग्विलासं च कुर्य्युः ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे प्रियवीर पुरुष मित्र ! जो आप (उपहूतः) मुझ से सत्कार प्राप्त होकर (अश्वसनिः) अग्नि आदि पदार्थ वा घोड़ों और (गोसनिः) संस्कृत वाणी भूमि और विद्या प्रकाश आदि अच्छे पदार्थों के देने वाले (असि) हैं उन (शस्तोक्थस्य) प्रशंसित ऋग्वेद के सूक्त युक्त (इष्टयजुषः) इष्ट सुख कारक यजुर्वेद के भागयुक्त वा (स्तुतस्तोमस्य) सामवेद के गानके प्रशंसा करने हारे (ने) आप का (यः) जो (भक्षः) चाहना से भोजन करने योग्य पदार्थ है उस को आप से सत्कृत हुई मैं (भक्षयामि) भोजन करूं । तथा हे प्रिये सखि ! जो तू अग्नि आदि पदार्थ वा घोड़ों के देने और संस्कृत वाणी भूमि विद्या प्रकाश आदि अच्छे २ पदार्थ देने वाली है उस प्रशंसनीय ऋक्सूक्त भाग से स्तुति किये हुए सामगान करने वाली तेरा जो यह भोजन करने योग्य पदार्थ है उस को अच्छे मान से बुलाया हुआ मैं भोजन करता हूं ॥ १२ ॥

भावार्थः—अच्छे उत्साह बढ़ाने वाले कामों में गृहाश्रम का आचरण करने वाली स्त्री अपनी सहेलियों वा पुरुष गृहाश्रमी पुरुष अपने इष्टमित्र और बन्धु जन आदि को बुलाकर भोजन आदि पदार्थों से यथा योग्य सत्कार करके प्रसन्न करें और परस्पर भी सदा प्रसन्न रहें और उपदेश शास्त्रार्थ विद्या वाग्विलास को करें ॥ १२ ॥

देवकृतस्येत्यस्य भारद्वाजऋषिः । गृहपतयो विश्वेदेवा देवताः ।
मनुष्यकृतस्येत्यस्य भाम्युष्णिक्, पितृकृतस्येत्यस्यात्मकृतस्येत्यस्य च निचृद्भाम्युष्णिक्, एनसइत्यस्य प्राजापत्योष्णिक्, यच्चाहमित्यस्य निचृदार्ष्युष्णिक् च छन्दांसि । ऋषभः स्वरः ॥

पूर्वोक्तविषयम्प्रकारान्तरेणाह ।

अगले मंत्र में पूर्वोक्त विषय प्रकारान्तर से कहा है ॥

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनसऽएनसोऽवयजनमसि। यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ १३ ॥

देवकृतस्येति देवऽकृतस्य । एनसः । अवयजनमित्यवऽयजनम् । असि । मनुष्यकृतस्येतिमनुष्यऽकृतस्य। एनसः। अवयजनमित्यवऽयजनम् । असि । पितृकृतस्येति पितृऽकृतस्य । एनसः । अवयजनमित्यवऽयजनम् । असि । आत्मकृतस्येत्यात्मऽकृतस्य । एनसः । अवयजनमित्यवऽयजनम् । असि । एनस ऽएनसऽइत्येनसः। एनसः।अवयजनमित्यवऽअयजनम् । असि यत् । च । अहम् । एनः। विद्वान्।चकार। यत्। च । अविद्वान् । तस्य । सर्वस्य । एनसः ।अवयजनमित्यवऽयजनम् । असि ॥ १३ ॥

पदार्थः— (देवकृतस्य) दानशीलकृतस्य (एनसः) पापस्य (अवयजनम्) पृथक्करणम् (असि) (मनुष्यकृतस्य) साधारणजनेनाचरितस्य (एनसः) अपराधस्य (अवयजनम्) दूरीकरणम् (असि) (पितृकृतस्य) जनककृतस्य (एनसः) विरोधाचरणस्य (अवयजनम्) परिहरणम् (असि) (आत्मकृतस्य) स्वयमाचरितस्य (एनसः) पापस्य (अवयजनम्) (असि) (एनसः) (एनसः) अधर्म्मस्याधर्म्मस्य (अवयजनम्) परिहरणम् असि (यत्) अतीतेकाले (च) वर्त्तमाने (अहम्) (एनः) अधर्म्माचरणम् (विद्वान्) जानन् सन् (चकार) कृतवान् करोमि करिष्यामि वा अत्र छंदसि लुङ्लिङ्लिट इति कालसामान्ये लिट् (यत्) (च) अविद्यासमुच्चये (अविद्वान्) अजानन् सन् (तस्य) (सर्वस्य) (एनसः) दुष्टाचरणस्य (अवयजनम्) दूरीकरणम् (असि) अयं मंत्रः श० । ४ । ३ । ६ । १ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः— हे सर्वोपकारिन् मखे ! त्वं देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । एनस एनसोऽवयजनमसि विद्वानहं यच्चैनः पापं चकार कृतवान्, करोमि, करिष्यामि, अविद्वानहं यच्चैनः कृतवान् करोमि करिष्यामि वा तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनं चासि ॥ १३ ॥

भावार्थः अत्रोपमालङ्कारः। यथा विद्वान् गृहाश्रमी पुरुषो दानादिप्रसक्तपुरुषाणामपराधदूरीकरणे प्रयतेत। जानन्नजानन् वात्मकृतमपराधं स्वयं त्यजेदन्यकृतमन्यस्मान्निवारयेत्। तथानुष्ठाय सर्वे यथोक्तं सुखं प्राप्नुयुरिति ॥१३॥

पदार्थः—हे सब के उपकार करने वाले मित्र! आप (देवकृतस्य) दान देने वाले के (एनसः) अपराध के (अवयजनम्) विनाश करने वाले (असि) हो (मनुष्यकृतस्य) साधारण मनुष्यों के किये हुए (एनसः) अपराध के (अवयजनम्) विनाश करने वाले (असि) हो (पितृकृतस्य) पिता के किये हुए (एनसः) विरोध आचरण के (अवयजनम्) अच्छे प्रकार हरने वाले (असि) हो (आत्मकृतस्य) अपने कर्तव्य (एनसः) पाप के (अवयजनम्) दूर करने वाले (असि) हो (एनसः) (एनसः) अधर्म अधर्म के (अवयजनम्) नाश करने हारे (असि) हो (विद्वान्) जानता हुआ मैं (यत्) जो (च) कुछ भी (एनः) अधर्माचरण (चकार) किया, करता हूं वा करूं। (अविद्वान्) अनजान में (यत्) जो (च) कुछ भी किया, करता हूं वा करूं (तस्य) उस (सर्वस्य) सब (एनसः) दुष्ट आचरण के (अवयजनम्) दूर करने वाले आप (असि) हैं॥ १३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे विद्वान् गृहस्थ पुरुष दान आदि अच्छे काम के करने वाले जनों के अपराध दूर करने में अच्छा प्रयत्न करें। जाने वा बिना जाने अपने कर्त्तव्य अर्थात् जिस को किया चाहता हो उस अपराध को आप छोड़ें तथा औरों के किये हुए अपराध को औरों से छुड़ावें वैसे कर्म करके सब लोग यथोक्त समस्त सुखों को प्राप्त हों॥ १३॥

संवर्चसेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। गृहपतयो देवताः। विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तदेवाह ॥

फिर भी मित्रकृत्य का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

सं वर्चसा पय॑सा सन्त॒नूभि॒रग॑न्महि॒ । मन॑सा स॑शि॒वेन॑ त्वष्टा॑ सु॒दत्रो॑ वि द॑धातु रा॒योऽनु

मार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १४ ॥

सम् । वर्चसा । पयसा । सम् । तनूभिः । अगन्महि । मनसा । सम् । शिवेन । त्वष्टा । सुदत्र इति सुऽदत्रः । वि । दधातु । रायः । अनु । मार्ष्टु । तन्वः । यत् । विलिष्टमिति विऽलिष्टम् ॥१४॥

पदार्थः-(सम्) क्रियायोगे (वर्चसा) अध्ययनाध्यापन प्रकाशेन (पयसा) जलेनान्नेन वा । पय इत्युदकनामसु पठितम् निघं० १। १२। अन्ननामसु च निघं० २ । ९ । सम्) (तनूभिः) शरीरैः (अगन्महि) प्राप्नुयाम । अत्र गम्लृधातोर्लिङर्थे लुङ् मन्त्रेघसह्वरेत्यादिना च्लेर्लुक् । म्वोश्च अ० ८ । २। ६५ । इति मस्य नः (मनसा) विज्ञानवतान्तःकरणेन (सम्) (शिवेन) कल्याणकारकेण (त्वष्टा) सर्वव्यवहाराणां तनुकर्त्ता (सुदत्रः) सुदानः (वि) (दधातु) करोतु (रायः) धनानि (अनु) मार्ष्टु) पुनः पुनः शुन्धतु (तन्वः) शरीरस्य (यत्) (विलिष्टम्) विशेषेण न्यूनमङ्गम् । अयम्मन्त्रः शत० ४ । ३। ५ । १४-१५ व्याख्यातः ॥१४ ॥

अन्वयः-हे अध्यापक ! त्वष्टा सुदत्रो विद्वान् भवान् सं शिवेन मनसा सं वर्चसा पयसा यत्तन्वो विलिष्टमनुमार्ष्टु रायो विदधातु तानि च वयन्तनूभिः समगन्महि ॥ १४ ॥

भावार्थः-अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । मनुष्याणां योग्यतास्ति पुरुषार्थेन विद्यां सम्पाद्य विधिवद्न्मोदकं संसेव्य शरीरारोग्यारोग्यो कृत्य

मनो धर्मे निवेश्य सदा सुखोन्नतिं कृत्वा या काचिन्न्यूनताऽस्ति तां सम्पूरयन्तु यथा कश्चित् सुहृत् सख्युः सुखाय वर्त्तेत तथा तत्सुखाय स्वयमपि वर्त्तेत ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे सब विद्याओं के पढ़ने (त्वष्टा) सब व्यवहारों के विस्तार कारक (सुदत्रः) अत्युत्तम दान के देने वाले विद्वन्! आप (संरिहाण) ठीक २ कल्याणकारक (मनसा) विज्ञानयुक्त अन्तःकरण (संवर्चसा) अच्छे अध्ययन अध्यापन के प्रकाश (पयसा) जल और अन्न से (यत्) जिस (तन्वः) शरीर की (विलिष्टम्) विशेष न्यूनता को (अनुमार्ष्टु) अनुकूल शुद्धि से पूर्ण और (रायः) उत्तम धनों को (विदधातु) विधान करो उस देह और शरीरों को हम लोग (तनूभिः) ब्रह्मचर्य व्रतादि सुनियमों से बलयुक्त शरीरों से (सम् अगन्महि) सम्यक् प्राप्त हों॥ १४॥

भावार्थः— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्यों को चाहिये कि पुरुषार्थ से विद्या का संपादन, विधिपूर्वक अन्न और जल का सेवन, शरीरों को निरोग और मन को धर्म में निवेश करके सदा सुख की उन्नति करें और जो कुछ न्यूनता हो उस को परिपूर्ण करें, तथा जैसे कोई मित्र तुम्हारे सुख के लिये वर्त्ताव वर्त्ते वैसे उस सुख के लिये आप भी वर्त्तो ॥ १४ ॥

समिन्द्रमित्यस्यात्रिर्ऋषिः। गृहपतिर्देवता भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनर्मित्रकृत्यमाह ॥

फिर मित्र का कृत्य अगले मन्त्र में कहा है ॥

समि॑न्द्र णो॒ मन॑सा नेषि॒ गोभि॒: सꣳसू॒रिभि॑र्मघव॒न्त्सꣳस्व॒स्त्या। सम्ब्रह्म॑णा दे॒वकृ॑तं॒ यदस्ति॒ सन्दे॒वाना॑ꣳसुम॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒ꣳस्वाहा॑ ॥ १५ ॥

सम् । इन्द्र । नः । मनसा । नेषि । गोभिः । सम् । सूरिभिरितिसूरिऽभिः । मघवन्नितिमघऽवन् । सम् । स्वस्त्या । सम् । ब्रह्मणा । देवकृतमितिदेवकृतम् । यत् । अस्ति । सम् । देवानाम् । सुमताविति सुऽमतौ । यज्ञियानाम् । स्वाहा ॥ १५ ॥

पदार्थः—(सम) (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त गृहपते! (नः) अस्मान् (मनसा) विज्ञानसहितेनान्तःकरणेन (नेषि) प्रापयसि अत्र बहुलंछन्दसीति शपो लुक्। (गोभिः) धेनुभिः सुष्ठुवाग्युक्तैर्व्यवहारैर्वा सम (सूरिभिः) मेधाविभिर्विद्वद्भिरिव (मघवन्) परमपूजितधनयुक्त! (सम्) (स्वस्त्या) सुखेन (सम्) (ब्रह्मणा) बृहता वेदज्ञानेन धनेन वा ब्रह्मेति धननामसु पठितम् निघं० २।१० । (देवकृतम्) इन्द्रियकृतं कर्म (यत्) (अस्ति) देवानाम् आप्तानां विपश्चिताम (सुमतौ) शोभनायां बुद्धाविव (यज्ञियानाम्) यज्ञस्य पतिं विद्यातुमर्हाणाम् (स्वाहा) सत्यया वाचा।अयं मंत्र शत० ४ । ३ । ६ । ७। व्याख्यातः॥ १५ ॥

अन्वयः—हे मघवन्निन्द्र विद्यादिपरमैश्वर्य्ययुक्त समध्यापकोपदेशक! यत्त्वं समनसा सन्मार्गगोभिः संस्वस्त्या पुरुषार्थं सूरिभिः सह ब्रह्मणा विद्यां यज्ञियानां देवानां स्वाहा सुमतौ देवकृतं यज्ञकृतम् नोऽस्मान् सन्नेषि तस्मात्त्वमस्माभिः सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ १५ ॥

भावार्थः—गृहस्थैर्विद्वांसोऽतः पूजनीया यतस्ते बालकान् स्वशिक्षया गुणयुक्तान् राजप्रजाजनांश्चैश्वर्यसहितान् सम्पादयन्ति ॥ १५ ॥

पदार्थः-हे (मघवन्) पूज्य धनयुक्त (इन्द्र) सत्यविद्यादि ऐश्वर्य्य सहित (सम्) सम्यक् पढ़ाने और उपदेश करने हारे ! आप जिस से (सम्) (मनसा) उत्तम अन्तःकरण से (सम्) अच्छे मार्ग (गोभिः) गौओं वा (सम्) (स्वस्त्या) अच्छे २ वचन युक्त सुख रूप व्यवहारों से (सूरिभिः) विद्वानों के साथ (ब्रह्मणा) वेद के विज्ञान वा धन से विद्या और (यत्) जो (यज्ञियानाम्) यज्ञ के पालन करने वाले को करने योग्य (देवानाम्) विद्वानों की (स्वाहा) सत्य वाणी युक्त (सुमतौ) श्रेष्ठ बुद्धि में (देवकृतम्) विद्वानों के किये कर्म्म हैं उन को (स्वाहा) सत्य वाणी से (नः) हम लोगों को (सृजामि) सम्यक् प्रकार से प्राप्त करते हो, इसी से आप हमारे पूज्य हो ॥ १५ ॥

भावार्थः गृहस्थ जनों को विद्वान् लोग इस लिये सत्कार करने योग्य हैं कि वे बालकों को अपनी शिक्षा से गुणवान् और राजा तथा प्रजा के जनों को ऐश्वर्य युक्त करते हैं ॥ १५ ॥

सं वर्चसेत्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतिर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥

फिर भी उक्त विषय को अगले मंत्र में कहा है ॥

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन । त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १६ ॥

सम् । वर्चसा । पयसा । सम् । तनूभिः । अगन्महि । मनसा । सम् । शिवेन । त्वष्टा । सुदत्र इति सुऽदत्रः ।

वि । दुधातु । रायः । अनु । माष्टुं । तन्वः । यत् । विलिष्टमिति विऽलिष्टम् ॥ १६ ॥

पदार्थः–(सम्) एकीभावे (वर्चसा) तेजसा (पयसा) रात्र्या । पयइति रात्रिनामसु पठितम् निघं० १ । ७ (सम्) (तनूभिः) बलविशिष्टशरीरैर्विद्वद्भिः (अगन्महि) प्राप्नुयाम (मनसा) मननेन (सम्) (शिवेन) सुखप्रदेन (त्वष्टा) अविद्याविच्छेदकः (सुदत्रः) सुष्टुज्ञानकर्त्ता (विदधातु) (रायः) विद्यादिधनानि (अनु) (मार्ष्टु) (तन्वः) शरीरस्य (यत्) (विलिष्टम्) रोगादिमललेशम् । अयं मंत्रः शत० ४ । ३ । ६ । ८ व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः–हे आप्ता विद्वांसो ! युष्माकं सुमतौ प्रवृत्ता वयं यो युष्माकम्मध्ये श्रेष्ठः सुदत्रस्त्वष्टा विद्वानस्त्यस्य संवर्चसा पयसा संशिवेन मनसा याम् रायो विदधातु यत्तन्वोविलिष्टमनुमार्ष्टु तैस्तां स्तनूभिः समगन्महि ॥ १५ ॥

भावार्थः मनुष्यैराप्तविद्वत्सङ्गेन धर्म्मार्थकाममोक्षाः सम्यक्साधनीयाः ॥१६॥

पदार्थः–हे आप्त अत्युत्तम विद्वानो ! आप लोगों की सुमति में प्रवृत्त हुए हम लोग जो आप लोगों के मध्य (सुदत्रः) विद्या के दान से विज्ञान को देने और (त्वष्टा) अविद्यादि दोषों का नष्ट करने वाला विद्वान् हम को (संवर्चसा) उत्तम दिन और (पयसा) रात्रि से (संशिवेन) अतिकल्याणकारक (मनसा) विज्ञान से (यत्) जिस (तन्वः) शरीर के हानिकारक कर्म्म को (अनुमार्ष्टु) दूर करे और (रायः) पुष्टिकारक द्रव्यों को (विदधातु) प्राप्त करावै उस और उन पदार्थों को (समगन्महि) प्राप्त हों ॥ १६ ॥

भावार्थः— मनुष्यों को चाहिये कि दिन रात उत्तम सज्जनों के संग से धर्म्मार्थ काम और मोक्ष की सिद्धि करते रहें ॥ १६ ॥

धाता रातिरित्यस्यात्रिर्ऋषिः । विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः ।

स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

पुनर्गार्हस्थ्यकर्म्म आह ।

फिर गृहस्थों के कर्म्म का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

धाता रातिः सविता इदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवोऽअग्निः । त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ॥ १७ ॥

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । निधिपा इति निधिऽपाः । देवः । अग्निः । त्वष्टा । विष्णुः । प्रजयेति प्रऽजया । सरराणा इति सम्ऽरराणाः । यजमानाय । द्रविणम् । दधात । स्वाहा ॥ १७ ॥

पदार्थः—(धाता) गृहाश्रमधर्त्ता (रातिः) सर्वेभ्यः सुखदायकः (सविता) सकलैश्वर्य्योत्पादकः (इदम्) गृहकृत्यम् (जुषन्ताम्) प्रीत्या सेवन्ताम् (प्रजापतिः) सन्तानादिपालकः (निधिपाः) विद्यावृद्धिरक्षकाः (देवः)

दोषविजेता (अग्निः) अविद्यान्धकारदाहकः (त्वष्टा) सुखविस्तारकः (विष्णुः) सर्वशुभगुणकर्मसु व्याप्तः (प्रजया) स्वसंतानादिना (संरराणः) सम्यग्दातारः सन्तः (यजमानाय) यज्ञानुष्ठात्रे (द्रविणम्) द्रवन्ति भूतानि यस्मिन् तद्धनम् द्रविणमिति धननामसु पठितम् । निघं० २ । ९ । (दधात) धरत (स्वाहा) सत्यया क्रियया । अयम्मंत्रः शत० ४ । ३ । ३ । ९ व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः-हे गृहस्था भवन्तो धातारातिः सविता प्रजापतिर्निधिपाद् वोऽग्निस्त्वष्टा विष्णुरिवैतत्स्वभावा भूत्वा प्रजया सह संरराणास्सन्त स्वाहेदं जुषन्तां बलवंतो भूत्वा यजमानाय स्वाहा द्रविणं दधात ॥ १७ ॥

भावार्थः गृहस्थैः सततं यथोचितसमये गृहाश्रमे स्थित्वा सद्गुणक-र्मधारणमैश्वर्योन्नतिरक्षणं प्रजापालनं सुपात्रेभ्यो दानं दुःखिनां दुःखच्छेदनं शत्रुविजयः शरीरात्मबलप्राप्तिश्च धार्य्या ॥ १७ ॥

पदार्थः-हे गृहस्थो तुम (धाता) गृहाश्रम धर्म धारण करने (रातिः) सब के लिये सुख देने (सविता) समस्त ऐश्वर्य के उत्पन्न करने (प्रजापतिः) संतानादि के पालने (निधिपाः) विद्या आदि ऋद्धिः अर्थात् धन समृद्धि के रक्षा करने (देवः) आप के जीतने (अग्निः) अविद्या रूप अन्धकार के दाह करने (त्वष्टा) सुख के बढ़ाने और (विष्णुः) समस्त उत्तम २ शुभ गुण कर्मों में व्याप्त होने वालों के सदृश हो के (प्रजया) अपने संतानादि के साथ (संरराणाः) उत्तम दान शील होते हुए (स्वाहा) सत्य क्रिया से (इदम्) इस गृहकार्य्य को (जुषन्ताम्) प्रीति के साथ सेवन करो और बलवान् गृहाश्रमी होकर (यजमानाय) यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले के लिये जिस बल से उत्तम २ बलीपुरुष बढ़ते जायं उस (द्रविणम्) धनको (दधात) धारण करो ॥ १७ ॥

भावार्थः गृहस्थों को उचित है कि यथायोग्य रीति से निरंतर गृहाश्रम में रह के अच्छे गुण कर्मों का धारण ऐश्वर्य की उन्नति तथा रक्षा प्रजा पालन योग्य पुरुषों को दान दुःखियों का दुःख छुड़ाना शत्रुओं को जीतने और शरीरात्म बल में प्रवृत्ति आदि गुण धारण करें ॥ १७ ॥

सुगाव इत्यस्यात्रिऋषिः । गृहपतयो देवताः ।

आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्गृहकृत्यमाह ॥

फिर गृह कर्म का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

सुगा वो देवाः सदना ऽअकर्म्म यऽआजग्मेदᳪ सवनं जुषाणाः । भरमाणा वहमाना हवीᳪष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥ १८ ॥

सुगेति सुऽगा । वः । देवाः । सदना । अकर्म्म । ये । आजग्मेत्याऽजग्म । इदम् । सवनम् । जुषाणाः । भरमाणाः । वहमानाः । हवीᳪषि । अस्मेऽइत्यस्मे । धत्त । वसवः । वसूनि । स्वाहा ॥ १८ ॥

पदार्थः—(सुगा) सुखु गन्तुं प्राप्तुं योग्यानि अत्र शेश्छन्दसि बहुलमिति लुक् (वः) युष्माकम् (देवाः) व्यवहरमाणाः (सदना) सीदन्ति गच्छन्ति पुरुषार्थेन येषु तानि गृहाणि (अकर्म्म) अकार्ष्म कुर्याम । अत्र डुकृञ् धातोर्लिङि मंत्रे घसेत्यादिना च्लेर्लुक् । (ये) (आजग्म) प्राप्नुवन्तु (इदम्) प्रत्यक्षम् (सवनम्) ऐश्वर्यम् (जुषाणाः) सेवमानाः (भरमाणाः) धरमाणाः (वहमा-

नाः) प्राप्नुवंतः (हवींषि) दातुमादातुमर्हाणि (अस्मे) अस्मभ्यम् । अत्र भ्यसःस्थाने सुपां सुलुगिति शे इत्यादेशः (धत्त) धरत (वसवः) ये वसंति सद्गुणकर्मसु ते (वसूनि) धनानि । वस्विति धननामसु पठितम् नि-घं० २ । १० । (स्वाहा) श्रेष्ठ क्रियया । अयम्मंत्रः शत० ४ । ३ । ६ । १० व्याख्यातः ॥ १८ ॥

यास्कमुनिरत्राह । सुगा वो देवाः सदनमकर्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनिस्वाहा । सुगानिवोदेवाःसुपथान्यकर्म्म य आगच्छत सवनानीमानि जुषाणाः खादितवंतः पीतवंतश्च सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि निरु० १२ । ४२ ॥ १८ ॥

अन्वयः–हे वसवो देवा ये यूयं स्वाहेदं सवनं जुषाणा भरमाणा वहमाना वो युष्मभ्यं यानि सुखसदना हवींषि वसूनि अकर्म्मांजग्म तेभ्योऽस्मे तानि यूयमपि धत्त ॥ १८ ॥

भावार्थः—यथा पितृपतिश्वशुरश्वश्रूमित्रस्वामिनः पदार्थैः पुत्रपुत्रीस्त्रीसखिभृत्यानां पालनं कुर्वन्तः सुखं ददति तथैव पुत्रादयोऽप्येतेषां सेवनं कुर्युः ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे (वसवः) श्रेष्ठ गुणों में रमण करने वाले (देवाः) व्यवहारी जनो ! (ये) जो (स्वाहा) उत्तम क्रिया से (इदम्) इस (सवनम्) ऐश्वर्य का (जुषाणाः) सेवन (भरमाणाः) धारण करने (वहमानाः) औरों से प्राप्त होते हुए हम लोग तुम्हारे लिये (सुगा) अच्छी प्रकार प्राप्त होने योग्य (सदना) जिन के निमित्त पुरुषार्थ किया जाता है उन (हवींषि) देने लेने योग्य (वसूनि) धनों को (अकर्म) प्रकट कर रहे और (आजग्म) प्राप्त हुवे हैं (अस्मे) हमारे लिये उन (वसूनि) धनों को आप (धत्त) धरो ॥१८॥

भावार्थः—जैसे पिता पति श्वशुर सासू मित्र और स्वामी पुत्र कन्या स्त्री स्नुषा सखा और भृत्यों का पालन करते हुए सुख देते हैं वैसे पुत्रादि भी इन की सेवा करना उचित समझें ॥ १८ ॥

याँ २॥ऽआवह इत्यस्यात्रिऋषिः। विश्वेदेवाः गृहपतयो देवताः। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः।

पुनर्गृहकृत्यमाह ॥

फिर भी घर का काम अगले मंत्र में कहा है ॥

याँ२॥आवहऽउशतो देव देवाँस्तान्प्रेरय स्वेऽअग्ने सधस्थे। जक्षिवाᳬसः पपिवाᳬसश्च विश्वेऽसुं घर्म्मᳬस्वरातिष्ठतानु स्वाहा ॥ १९ ॥

यान्। आ। अवहः। उशतः। देव। देवान्। तान्। प्र। ईरय। स्वे। अग्ने। सधस्थऽइति सधस्थे। जक्षिवाᳬसऽइति जक्षिऽवाᳬसः। पपिवाᳬसऽइति पपिवाᳬसः। च। विश्वे। असुम्। घर्म्मम्। स्वः। आ। तिष्ठत। अनु। स्वाहा ॥ १९ ॥

पदार्थः—(यान्) वक्ष्यमाणान् (आ) (अवहः) प्राप्नुयाः (उशतः) विद्यादिसद्गुणान् कामयमानान् (देव) दिव्यशीलयुक्ताध्यापक (देवान्) विदुषः

(तान्) (प्र) (ईरय) नियोजय (स्वे) स्वकीये (अग्ने) विज्ञानाढ्य विद्वन् ! (सधस्थे) सहस्थाने (जक्षिवांसः) अन्नं जग्धवन्तः (पपिवांसः) पीतवन्तः (च) अन्य सुखसेवन समुच्चये (विश्वे) सर्वे (असुम्) प्रज्ञाम् असुरिति प्रज्ञानामसुपठितम् निघं० ३ । ९ । अस्यतिदोषाननेनसोऽसुः प्रज्ञाताम् (घर्म्मम्) अन्नं यज्ञं वा घर्म्मइत्यन्ननामसुपठितम । निघं० । १ । ९ । यज्ञनाम-सुच निघं० ३ । १७ । (स्वः) सुखम् (आ) सर्वतः (तिष्ठत:) (अनु) (स्वाहा) सत्ययावाचा । अयं मंत्रः शत० ४ । ३ । ६ । ११ । व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः–हे देवाग्ने ! त्वं स्वे सधस्थे यानुशतो देवानावहस्तान् घर्म्मे प्रेरय हे गृहस्था जक्षिवांसः पपिवांसो विश्वे यूयं स्वाहा घर्म्ममनु स्वश्चाऽऽस्वा तिष्ठत ॥ १९ ॥

भावार्थः—इहाध्यापकेनोपदेष्टा ये जनाः विद्यां शिक्षां प्रापिताः सत्यधर्म्मकर्मचारिणो भवेयुस्ते सुखभाजिनः स्युर्नेतरे ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे (देव) दिव्य स्वभाव वाले अध्यापक ! तू (स्वे) अपने (सधस्थे) साथ बैठने के स्थान में (यान) जिन (उशतः) विद्या आदि अच्छे २ गुणों की कामना करते हुए (देवान) विद्वानों को (आ) (अवहः) प्राप्त हो (तान्) उन को धर्म में (प्र) ईरय नियुक्त कर हे गृहस्थ(जक्षिवांसः) अन्न खाते और (पपिवांसः) पानी पीते हुए (विश्वे)सब तुम लोग (स्वाहा) सत्य वाणी में (धर्मम्) अन्न और यज्ञ तथा (असुम्) श्रेष्ठ बुद्धि वा (स्वः) अत्यन्त सुख को (अनु) (आ) (तिष्ठत) प्राप्त होकर सुखी रहो ॥ १९ ॥

भावार्थः— इस संसार में उपदेश करने वाले अध्यापक से विद्या और श्रेष्ठ-गुण को प्राप्त जो बालक सत्य धर्म्म कर्म वर्त्तने वाले हों वे सुख भागी हों और नहीं॥१९॥

वयमित्यस्यात्रिर्ऋषिः। गृहपतयो देवताः।

स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ व्यवहारिणां गृहस्थायोपदिशति॥

अब व्यवहार करने वाले गृहस्थ के लिये उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

वयꣳहि त्वा प्रयति यज्ञेऽअस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह। ऋधगयाऽऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन्यज्ञमुप याहि विद्वान्त्स्वाहा॥२०॥

वयम्। हि। त्वा। प्रयतीति प्रऽयति। यज्ञे। अस्मिन्। अग्ने। होतारम्। अवृणीमहि। इह। ऋधक्। अयाः। ऋधक्। उत। अशमिष्ठाः। प्रजानन्निति प्रऽजानन्। यज्ञम्। उप। याहि। विद्वान्। स्वाहा॥२०॥

पदार्थः— (वयम्) गृहाश्रमस्थाः (हि) यतः (त्वा) विद्वांसम् (प्रयति) प्रयत्यते जनैर्यस्तस्मिन् कृतो बहुलमिति कर्मणि क्विप् (यज्ञे) सम्यक् ज्ञातव्ये (अस्मिन्) (अग्ने)

विज्ञापक विद्वन्! (होतारम्) यज्ञनिष्पादकम् (अवृणीमहि) स्वीकुर्वीमहि। अत्र लिङर्थे लङ् (इह) अस्मिन् संसारे (ऋधक्) समृद्धिवर्द्धके (अया:)यजेः सङ्गच्छस्व। अत्र लिङर्थे लङ् (ऋधक्) समृद्धिर्यथास्यात्तथा (उत) अपि (अशमिष्ठा:) शमादि गुणान् गृहाण (प्रजानन्) (यज्ञम्) (उप) (याहि) उपगतं प्राप्नुहि (विद्वान्) वेत्ति यज्ञविद्याक्रियाम् (स्वाहा) शास्त्रोक्तया क्रियया। अयं मंत्रः शत० ४। ३। ६। १२। व्याख्यातः॥ २०॥

अन्वयः—हे अग्ने! वयमिह प्रयति यज्ञे त्वा होतारमवृणीमहि विद्वन् प्रजानँस्त्वमस्मानयाः ऋधग् यज्ञं स्वाहोपयाहि उतापि प्रयाहि ऋधगशमिष्ठाः॥२०॥

भावार्थः—सर्वेषां व्यवहर्तॄणां योग्यतास्ति यो मनुष्यो यत्र कर्म्मणि विचक्षणः स तस्मिन्नेव कार्य्येऽभिप्रयोज्यः॥ २०॥

पदार्थः—हे (अग्ने) आप ऐसे ज्ञाते! (वयम्) हम लोग (इह) (प्रयति) इस प्रयत्न साध्य (यज्ञे) गृहाश्रम रूप यज्ञ में (त्वा) तुझ को (होतारम्) सिद्ध करने वाला (अवृणीमहि) ग्रहण करें (विद्वन्) सब विद्या युक्त (प्रजानन्) क्रियाओं के जानने वाले आप (ऋधक्) समृद्धि कारक (यज्ञम्) गृहाश्रम रूप यज्ञ को (स्वाहा) शास्त्रोक्त क्रिया से (उप) (याहि) समीप प्राप्त हो (उत) और केवल प्राप्ति ही नहीं किन्तु (अयाः) उस से दान सत्संग श्रेष्ठ गुण वालों का सेवन कर (हि) निश्चय करके (अस्मिन्) इस (ऋधक्) अच्छी वृद्धि सिद्धि के बढ़ाने वाले गृहाश्रम के निमित्त में (अशमिष्ठाः) शांत्यादि गुणों को ग्रहण करके सुखी हो॥ २०॥

भावार्थः—सब व्यवहार करने वालों को चाहिये कि जो मनुष्य जिस काम में चतुर हो उस को उसी काम में प्रवृत्त करें॥ २०॥

देवा गातुविदइत्यस्यात्रिर्ऋषिः। गृहपतयो देवताः।
स्वराडार्ष्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनर्गृहस्थकर्मविधिमाह ॥
फिर भी गृहस्थों का कर्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत ऽइमन्देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥२१॥

देवाः । गातुविदइति गातुऽविदः । गातुम् । वित्त्वा । गातुम् । इत । मनसः । पते । इमम् । देव । यज्ञम् । स्वाहा । वाते । धाः ॥ २१ ॥

पदार्थः–(देवाः) सत्यासत्यप्रस्तावका गृहस्थाः (गातुविदः) स्वगुणकर्मस्वभावेन गातुं पृथ्वीं विदन्तः । गातुरितिपृथ्वीनामसु पठितम् । निघं० १ । १ (गातुम्) भूगर्भविद्यान्वितं भूगोलम् (वित्त्वा) विज्ञाय (गातुम्) पृथिवीराज्यादिनिष्पन्नमुपकारम् (इत) प्राप्नुत (मनसस्पते) निगृहीतमनाः (इमम्) प्राप्तम् (देव) दिव्यविद्याव्युत्पन्न (यज्ञम्) सर्वसुखावहं गृहाश्रमम् (स्वाहा) धर्म्मया क्रियया (वाते) विज्ञातव्ये व्यवहारे । वात इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ४(धाः) धेहि । अत्राडभावः । अयं मन्त्रः शत० ४। ३ । ६ । १३ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे गातुविदो देवा यूयं गातुं वित्त्वा गातुमित हे मनसस्पते देव प्रतिगृहस्थस्त्वं स्वाहेमं यज्ञं वातेधाः ॥ २१ ॥

भावार्थः—गृहस्थानां योग्यतास्ति यत्प्रयत्नेन भूगर्भादिविद्याः संप्राप्य जितेन्द्रियाः परोपकारिणो भूत्वा सद्धर्मेण गृहाश्रमव्यवहारानुन्नीय सर्वान् प्राणिनः सुखयेयुः ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे (गातुविदः) अपने गुण कर्म और स्वभाव से पृथिवी के जाने आने को जानने (देवाः) तथा सत्य और असत्य के अत्यन्त प्रशंसा के साथ प्रचार करने वाले विद्वान् लोगो! तुम (गातुम्) भूगर्भ विद्या युक्त भूगोल को (वित्त्वा) जान कर (गातुम्) पृथिवी राज्य आदि उत्तम कामों के उपकार को (इत) प्राप्त हूजिये। हे (मनसस्पते) इन्द्रियों के रोकने हारे (देव) श्रेष्ठ विद्या बोध सम्पन्न विद्वानो! तुम में से प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ (स्वाहा) धर्म बढ़ाने वाली क्रिया से (इमम्) इस गृहाश्रम रूप (यज्ञम्) सब सुख पहुंचाने वाले यज्ञ को (वात) विशेष जानने योग्य व्यवहारों में (धाः) धारण करो ॥ २१॥

भावार्थः—गृहस्थों को चाहिये कि अत्यन्त प्रयत्न के साथ भूगर्भ विद्याओं को जान इन्द्रियों को जीत परोपकारी हो कर और उत्तम धर्म से गृहाश्रम के व्यवहारों को उन्नति देकर सब प्राणी मात्र को सुखी करें ॥ २१ ॥

यज्ञ यज्ञमित्यस्यात्रिर्ऋषिः। गृहपतयो देवताः। भुरिक् साम्न्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः। एष त इत्यस्य विराडार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनर्गृहस्थेभ्यो विशेषोपदेशमाह ॥

फिर गृहस्थों के लिये विशेष उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा। एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा ॥ २२ ॥

यज्ञ। यज्ञम्। गच्छ। यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम्।

गच्छ । स्वाम् । योनिम् । गच्छ । स्वाहा । एषः । ते । यज्ञः । यज्ञपतऽइति यज्ञऽपते । सहसूक्तवाकऽइति सहऽसूक्तवाकः । सर्ववीरऽइतिसर्वऽवीरः । तम् । जुषस्व । स्वाहा ॥ २२ ॥

पदार्थः—(यज्ञ) यो यजति संगच्छते स यज्ञो गृहस्थस्तत्सम्बुद्धौ अत्रौणादिको नन् प्रत्ययः (यज्ञम्) विद्वत्सत्काराख्यं गृहाश्रमधर्म्मम् (गच्छ) प्राप्नुहि (यज्ञपतिम्) संगम्यानां गृहाश्रमिणां पालकं राजानम् (गच्छ) (स्वाम्) स्वकीयां (योनिम्) प्रकृतिम् स्वात्मस्वभावम् (गच्छ) (स्वाहा) सत्यया क्रियया (एषः) विद्यमानः (ते) तव (यज्ञः) सम्पूजनीयः प्रजारक्षणनिमित्तो विद्याप्रचारार्थो गृहाश्रमः (यज्ञपते) राजधर्म्माग्निहोत्रादिपालक (सहसूक्तवाकः) ऋग्यजुरादिलक्षणैः सूक्तवाकैः सह वर्त्तमानः (सर्ववीरः) शरीरात्मबलसुभूषिताः सर्वे वीरा यस्मात् (तम्) (जुषस्व) सेवस्व (स्वाहा) सत्यन्यायप्रकाशिकया वाचा । अयं मंत्रः शत० ४। ३। ६-१४ व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे यज्ञ त्वं स्वाहा यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ यज्ञपते ते य एष सहसूक्तवाकः सर्ववीरो यज्ञोऽस्ति तं त्वं स्वाहा जुषस्व ॥ २२ ॥

भावार्थः—प्रजाजनो गृहस्थः पुरुषः प्रयत्नेन गृहकर्म्माणि यथावत् कुर्य्यात् राजभक्त्या राजाश्रयेण सद्धर्म्मव्यवहारेण च गृहाश्रमं परिपालयेत् राजा च सद्विद्याप्रचारेण सर्वान् पोषयेत् ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे (यज्ञ) सत्कर्म्मों से संगत होने वाले गृहाश्रमी! तू (स्वाहा) सत्य२ क्रिया से (यज्ञम्) विद्वानों के सत्कार पूर्वक गृहाश्रम को (गच्छ) प्राप्त हो (यज्ञपतिम्) संग करने योग्य गृहाश्रम के पालने वाले को (गच्छ) प्राप्त हो। (स्वाम्) अपने (योनिम्) घर और स्वभाव को (गच्छ) प्राप्त हो (यज्ञपते) गृहाश्रम धर्म्मे त्मक तू (ते) तेरा जो (एषः) यह (सहसूक्तवाकः) ऋग् यजुः साम और अथर्व वेद के सूक्त और अनुवाकों से कथित (सर्ववीरः) जिस से आत्मा और शरीर के पूर्णबल युक्त समस्त वीर प्राप्त होते हैं (यज्ञः) प्रशंसनीय प्रजा की रक्षा के निमित्त विद्या प्रचार रूप यज्ञ है (तम्) उसको तू (स्वाहा) सत्य विद्या न्याय प्रकाश करने वाली वेद वाणी क्रिया से (जुषस्व) प्रीति से सेवन कर ॥ २२ ॥

भावार्थः- प्रजा जन गृहस्थ पुरुष बड़े २ यत्नों से घर के कार्य्यों को उत्तम रीति से करें राजभक्ति राजसहायता और उत्तम धर्म्म से गृहाश्रम को सब प्रकार से पालें और राजा भी श्रेष्ठ विद्या के प्रचार से सब को संतुष्ट करे ॥ २२ ॥

माहिर्भूरित्यस्यात्रिर्ऋषिः। यज्ञपतयो देवताः। आद्यस्या याजुष्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः। उरुमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः। नम इत्यस्यासुरी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

अथ राजोपदेशमाह ॥

अब अगले मन्त्र में राजा के लिये उपदेश किया है ॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुः। उरुᳯहि राजा वरुणश्चकार सूर्य्याय पन्थामन्वेतवाऽउ। अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्। नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः ॥ २३ ॥

मा । अहिः । भूः । मा । पृदाकुः । उुरुम् । हि । राजा । वरुणः । चकार । सूर्य्याय । पन्थाम् । अन्वेतवाऽइत्यनुऽएतवै । उुँऽइत्यूँ । अपदे । पादा । प्रतिधातवऽइतिप्रतिऽधातवे । अकः । उुत । अपवक्तेत्यपऽवक्ता । हृदयाविधः । हृदयविधऽइतिहृदयऽविधः । चित् । नमः । वरुणाय । अभिष्ठितः । अभिस्थितऽइत्यभिऽस्थितः । वरुणस्य । पाशः ॥ २३ ॥

पदार्थः– (मा) निषेधे (अहिः) सर्पवत् क्रुद्धो विषधर (भूः) भवेः (मा) (पृदाकुः) कुत्सितवाक् (उरुम्) बहुगुणान्वित न्यायम् (हि) खलु (राजा) प्रशस्तगुणस्वभावैः प्रकाशमानः (वरुणः) वरः (चकार) कुर्य्याः अत्र लिडर्थे लिट् (सूर्य्याय) चराचरात्मेश्वरप्रकाशाय (पन्थाम्) न्यायमार्गम् (अन्वेतवै) अनुक्रमेण गन्तुम् (उ) वितर्के (अपदे) चौरादिनिष्पादितेऽप्रसिद्धे व्यवहारे (पादा) चरणौ, अत्राकारादेशः (प्रतिधातवे) प्रतिधर्त्तुम् (अकः) कुरु (उत) अपि (अपवक्ता) मिथ्यावादी (हृदयाविधः) यो हृदयमाविध्यति सः (चित) इव (नमः) वज्रम् (वरुणाय) प्रशस्तैश्वराय (अभिष्ठितः) अभितः स्थितः जाज्वल्यमानः (वरुणस्य) श्रेष्ठगुणोपेतस्य (पाशः) बन्धनम् । अयम्मंत्रः शत० ४ । ३ । ६ । ३ – ११ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः–हे राजन् सभेश्वर ! त्वं वरुणायोरुम्पायं कुर्वन्नन्वेतवै अपदे पादा प्रतिधातवे । कः सूर्याय पन्थां चकार उतापवक्ता हृदयाविधश्चिदिव मापृदाकुर्माहिर्भूर्यथा वरुणस्य तवाभिष्ठितो नमः पाशश्च प्रकाशेत तथा सततं प्रयतस्व ॥ २३ ॥

भावार्थः– प्रजापुरुषाणां योग्यतास्ति यो हि विद्वान् जितेन्द्रियो धार्मिकः पिता पुत्रानिव प्रजापालने तत्परः सर्वेभ्यः सुखकारी भवेत् तं सभापतिं कुर्वीरन् राजा वा प्रजापुरुषः कदापि दुष्टकर्मकारी न भवेत् कश्चिद्यदि स्यात् तर्हि प्रजा यथापराधं राजानं दण्डयेत् राजा च प्रजापुरुषम् कदाप्यपराधिनं दण्डेन विना न त्यजेत् अनपराधिनं च वृथा न पीडयेत् एवं सर्वे न्यायाचरणतत्परा भूत्वा प्रवर्तेरन् यतोऽधिका मित्रोदासीनशत्रवो न स्युः । पुनर्विद्याधर्ममार्गान् शुद्धान् प्रचार्य सर्वे परमात्मभक्तिपरायणा भूत्वा सदा सुखिनः स्युः ॥ २३ ॥

पदार्थः–हे राजन सभापते ! तू (वरुणाय) उत्तम ऐश्वर्य्य के वास्ते (उरुम्) बहुत गुणों से युक्त न्याय को (अकः) कर (सूर्याय) चराचर के आत्मा जगदीश्वर के विज्ञान होने (सूर्याय) और प्रजागणों को यथा योग्य धर्म्म प्रकाश में चलने के लिये (पन्थाम्) न्यायमार्ग को (चकार) प्रकाशित कर (उत) और कभी (अपवक्ता) झूंठ बोलने वाला (हृदयाविधः) धर्म्मात्माओं के मन को संताप देने वाले के (चित्) सदृश (पृदाकुः) खोटे वचन कहने वाला (मा) मत हो और (अहिः) सर्प के समान क्रोधरूपी विष का धारण करने वाला (मा) मत (भूः) हो और जैसे (वरुणस्य) वीर गुण वाले तेरा (अभिष्ठितः) अति प्रकाशित (नमः) वज्ररूप दण्ड और (पाशः) बंधन करने की सामग्री प्रकाशमान रहे वैसे प्रयत्न को सदा किया कर ॥ २३ ॥

भावार्थः— प्रजाजनों को चाहिये कि जो विद्वान् इन्द्रियों का जीतने वाला धर्म्मात्मा और पिता जैसे अपने पुत्रों को वैसे प्रजा की पालना करने में अति चित्त लगावे और सब के लिये सुख करने वाला सत्पुरुष हो उसी को

सभापति करें और राजा वा प्रजाजन कभी अधर्म्म के कामों को न करें जो किसी प्रकार कोई करे तो अपराध के अनुकूल प्रजा राजा को और राजा प्रजा को दण्ड देवे किन्तु कभी अपराधी को दण्ड दिये विना न छोड़े और निरपराधी को निष्प्रयोजन पीड़ा न देवें इस प्रकार सब कोई न्यायमार्ग से धर्म्माचरण करते हुए अपने २ प्रत्येक कामों के चिंतवन में रहें जिस से अधिक मित्र, थोड़े प्रीति रखने वाले, और शत्रु न हों और विद्या तथा धर्म्म के मार्गों का प्रचार करते हुए सब लोग ईश्वर की भक्ति में परायण हो के सदा सुखी रहें ॥ २३ ॥

अग्नेरनीकमित्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतिर्देवता । आर्षीत्रिष्टुप्छन्दः ।
धैवतः स्वरः ।

अथोभयेषां गृहस्थानामुपदेशमाह ॥

अब राजा और प्रजाजन गृहस्थों के लिये उपदेश
अगले मंत्र में किया है ॥

अग्नेरनीकमपऽआविवेशापान्नपात्प्रतिरक्षन्न-सुर्य्यम् । दमेदमे समिधं यक्ष्यग्नेप्रति ते जिह्वा-घृतमुच्चरण्यत्स्वाहा ॥२४॥

अग्नेः । अनीकम् । अपः । आ । विवेश । अपाम् । नपात् । प्रतिरक्षन्निति प्रतिऽरक्षन् । असुर्य्यम् । दमेदमऽइति दमेऽदमे । समिधमिति सम्ऽइधम् । यक्षि । अग्ने । प्रति । ते । जिह्वा । घृतम् । उत् । चरण्यत् । स्वाहा ॥ २४ ॥

पदार्थः—(अग्नेः) पावकस्य (अनीकम्) सैन्यमिवज्वाला-समूहम् (अपः) जलानि (आ) (विवेश) (अपाम्) आप्नुवन्ति याभिस्तासामुदकानाम् (नपात्) नाधःपतनशीलः

(प्रति) (रक्षन्) पालयन् (असुर्य्यम्) असुरेषु मेघेषु प्राणक्रीडासधनेषु भवं द्रव्यम् (दमेदमे) दाम्यन्ति जना यस्मिन् तस्मिन् गृहे गृहे। दम इति गृहनामसु पठितम्। निघं० ३। ४ वीप्सया द्वित्वम् (समिधम) समिध्यते प्रकाश्यतेऽर्थतत्त्वमनया क्रियया ताम् (यक्षि) यजसि संगच्छसे। अत्र बहुलं छन्दसीति शपो लुक् (अग्ने) विज्ञानयुक्त (प्रति) (ते) तव (जिह्वा) रसेन्द्रियम् (घृतम्) आज्यम् (उत्) (चरण्यत) चरणमिवाचरेत्। वा छन्दसीत्यत्राल्लोप इत्वाऽभावश्च (स्वाहा) सत्यया क्रियया। अयं मन्त्रः शत० ४। ३। ६। १२ व्याख्यातः॥ २४॥

अन्वयः- हे गृहस्थ त्वमग्नेरनीकमपामाविवेशापां न पात्वमसुर्यं प्रति रक्षन् दमेदमे समिधं यक्षि ते जिह्वा घृतमुत स्वाहोच्चरण्यत्॥ २४॥

भावार्थः-अग्निजले सर्वेषां सांसारिकपदार्थानां हेतू स्तः अतो गृहस्थो विशेषतोऽनयोर्गुणान् ज्ञात्वा गृहस्य सर्वाणि कार्याणि सत्यव्यवहारेण कुर्यात्॥ २४॥

पदार्थः-हे गृहस्थ ! तू (अग्नेः) अग्नि की (अनीकम्) लपट रूपी सेना के प्रभाव और (अपः) जलों को (आ) (विवेश) अच्छी प्रकार समझ (अपाम्) उत्तम व्यवहार सिद्धि कराने वाले गुणों को जान कर (नपात्) अविनाशिस्वरूप तू (असुर्यम्) मेघ और प्राण आदि अचेतन पदार्थों से उत्पन्न हुए सुवर्ण आदि धन को (प्रतिरक्षन्) प्रत्यक्ष रक्षा करता हुआ (दमे दमे) घर घर में (समिधम्) जिस क्रिया से ठीक २ प्रयोजन निकले उसको (यक्षि) प्रचार कर और (ते) तेरी (जिह्वा) जीभ (घृतम्) घी का स्वाद लेवे (स्वाहा) सत्यव्यवहार से (उत) (चरण्यत्) देह आदि साधनसमूह सब काम किया करे॥ २४॥

भावार्थः—अग्नि और जल संसार के सब व्यवहारों के कारण हैं इस से गृहस्थजन विशेष कर अग्नि और जल के गुणों को जानें और गृहस्थ के सब काम सत्य व्यवहार में करें ॥ २४ ॥

समुद्रेत इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतिर्देवता । भुरिगार्षीपंक्तिश्छन्दः ।

पंचमः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थोपदेशमाह ॥

फिर गृहस्थों के लिये उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः । यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत्स्वाहा ॥ २५ ॥

समुद्रे । ते । हृदयम् । अप्स्वित्यप्सु । अन्तरित्यन्तः । सम् । त्वा । विशंतु । ओषधीः । उत । आपः । यज्ञस्य । त्वा । यज्ञपत इति यज्ञऽपते । सूक्तोक्ताविति सूक्तऽउक्तौ । नमोवाक इति नमःऽवाके । विधेम । यत् । स्वाहा ॥ २५ ॥

पदार्थः—(समुद्रे) सम्यग् द्रवीभूते व्यवहारे (ते) तव (हृदयम्) (अप्सु) प्राणेषु (अन्तः) अन्तःकरणम् (संतु) (आ) (विशंतु) (ओषधीः) यवाद्याः (उत) अपि (आपः) जलानि (यज्ञस्य) गृहाश्रमानुकूलस्य व्यवहारस्य (त्वा) त्वां (यज्ञपते) गृहाश्रमस्य रक्षक !

(सूक्तोक्तौ) सूक्तानां वेदस्थानां प्रामाण्यस्योक्तिर्यस्मिन् गृहाश्रमे (नमोवाके) वेदस्थस्य नम इत्यन्नस्य सत्कारस्य च वाका वचनानि यस्मिन् (विधेम) निष्पादयेम (यत्) यतः (स्वाहा) प्रेमोत्पादयित्र्या वाचा । अयम्मन्त्रः शत० ४ । ४ । १ । १३-२० । व्याख्यातः ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे यज्ञपते ! यथा वयं स्वाहा यज्ञस्य सूक्तोक्तौ नमोवाके समुद्रेऽप्सु च ते तव हृदयमप्स्वन्तोन्तःकरणं विधेम तथा तेन विदिता ओषधीस्त्वा समाविशन्तु । उताप्यापस्तव सुखकारिकाः सन्तु ॥ २५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु० । अध्यापकोपदेशका गृहस्थान् सत्यां विद्यां ग्राहयित्वा प्रयत्नसाध्ये गृहकृत्यानुष्ठाने सर्वान् युञ्जीयुः । यतस्त्वैते शरीरात्मबलं वर्द्धयेरन् ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे (यज्ञपते) जैसे गृहाश्रम धर्म के पालने हारे ! हम लोग (स्वाहा) प्रेमास्पद वाणी से (यज्ञस्य) गृहाश्रमानुकूल व्यवहार के (सूक्तोक्तौ) उस प्रबन्ध कि जिस में वेद के वचनों के प्रमाण से अच्छी २ बातें हैं और (नमोवाके) वेद प्रमाण सिद्ध अन्न और सत्कारादि पदार्थों के वादानुवाद रूप (समुद्रे) आर्द्र व्यवहार और (अप्सु) सब के प्राणों में (ते) तेरे (यत्) जिस (हृदयम्) हृदय को सन्तुष्टि में (विधेम) नियत करें वैसे उस से जानी हुई (ओषधीः) यव गेहूं चना सोमलतादि सुख देने वाले पदार्थ (त्वा) (विशन्तु) प्राप्त हों (उत) और न केवल ये ही किन्तु (आपः) अच्छे जल भी तुझ को सुख करने वाले हों ॥ २५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु० । पढ़ाने और उपदेश करने वाले सज्जन पुरुष गृहस्थों को सत्य विद्या को ग्रहण कराकर अच्छे यत्नों से सिद्ध होने योग्य घर के कामों में सब को युक्त करें जिस से गृहाश्रम चाहने और करने वाले पुरुष शरीर और अपने आत्मा का बल बढ़ावें ॥ २५ ॥

देवीराप इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतयो देवताः । स्वराडार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ विवाहितस्त्रीभ्यः कर्त्तव्यमुपदिश्यते ॥

अब विवाहित स्त्रियों को करने योग्य उपदेश अगले मंत्र में किया जाता है ॥

देवीरापऽएष वो गर्भस्तꣳ सुप्रीतꣳ सुभृतम्बिभृत । देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छञ्च वक्ष्व परि च वक्ष्व ॥ २६ ॥

देवीः । आपः । एषः । वः । गर्भः । तम् । सुप्रीतमिति सुऽप्रीतम् । सुभृतमिति सुऽभृतम् । बिभृत । देव । सोम । एषः । ते । लोकः । तस्मिन् । शम् । च । वक्ष्व । परि । च । वक्ष्व ॥ २६ ॥

पदार्थः—(देवीः) देदीप्यमाना विदुष्यः (आपः) सर्वाः शुभगुणकर्मविद्याव्यापिन्यः (एषः) (वः) युष्माकम् (गर्भः) (तम्) (सुप्रीतम्) सुष्ठु प्रीति निबद्धम् (सुभृतम्) सुष्ठुधारितम् (बिभृत) धरत पुष्यत (देव) दिव्यगुणैः कमनीय ! (सोम) ऐश्वर्याढ्य गृहस्थजन ! (एषः) प्रत्यक्षः (ते) तव (लोकः) लोकनीयः पुत्रपत्यादिसंबन्धसुखकरो गृहाश्रमः । (तस्मिन्) (शम्) कल्याणकारकं ज्ञानम् (च) शिक्षाम्

(वक्ष्व) प्रापय (परि) (च) अनुक्तसमुच्चये (वक्ष्व) वह । अयं मंत्रः शत० ४ । ४ । १ । २१ । व्याख्यातः ॥२६॥

अन्वयः—हे आपो देवीर्देव्यो यूयं यो युष्माकं य एषो गर्भो लोकस्तं सुप्रीतं सुभृतं यथास्यात्तथा बिभृत । हे देव सोम य एष ते तव लोकोऽस्ति तस्मिन् शंचाच्छिक्षां वक्ष्व चाद्रक्षणं परिवक्ष्व । अयं मंत्रः श० ४।४।१।२१ व्याख्यातः ॥२६॥

भावार्थः—विदुषी स्त्री यथोक्तविवाहविधिना विद्वांसं पतिं प्राप्य तत्समनोरंजनपुरःसरं गर्भमादधीत स च पतिः स्त्रीरक्षणे तत्समनोरंजने च नित्यमुत्सहेत ॥ २६ ॥

पदार्थः— हे (आपः) समस्त शुभ गुण कर्म और विद्याओं में व्याप्त होने वाली (देवीः) अति शोभा युक्त स्त्रीजनो ! तुम सब (यः) जो (एषः) यह (वः) तुम्हारा (गर्भः) गर्भ (लोकः) पुत्र पौत्र आदि के साथ सुखदायक है (तम्) उसको (सुप्रीतम्) अच्छी प्रीति के साथ (सुभृतम्) जैसे उत्तम रक्षा से धारण किया जाय वैसे (बिभृत) धारण और उसकी रक्षा करो । हे (देव) दिव्य गुणों से मनोहर (सोम) ऐश्वर्य युक्त ! तू जो यह (ते) तुम्हारा (लोकः) देखने योग्य पुत्र स्त्री भृत्यादि सुखकारक गृहाश्रम है (तस्मिन्) इस के निमित्त (शम्) सुख (च) और शिक्षा (वक्ष्व) पहुंचा (च) तथा इसकी रक्षा (परिवक्ष्व) सब प्रकार कर ॥ २६ ॥

भावार्थः—पढ़ी हुई स्त्रियां यथोक्त विवाह की विधि से विद्वान् पति को प्राप्त होकर उस को आनन्दित कर परस्पर प्रसन्नता के अनुकूल गर्भ को धारण करें वह पति भी स्त्री की रक्षा और उसकी प्रसन्नता करने को नित्य उत्साही हो ॥ २६ ॥

अवभृथेत्यस्यात्रिर्ऋषिः । दम्पतीदेवते । भुरिक् प्राजापत्यानुष्टुप्छन्दः । गांधारः स्वरः । अवदेवैरित्यस्य स्वराडार्षी बृहतीछन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थधर्म्मे स्त्रीविषयमाह ॥

फिर गृहस्थ धर्म्म में स्त्री का विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि देवानाᳪ समिदसि ॥२७॥

अवभृथेत्यवऽभृथ । निचुम्पुणेति निऽचुम्पुण । निचेरुरिति निऽचेरुः । असि । निचुम्पुण इति निऽचुम्पुणः । अव । देवैः । देवकृतमिति देवऽकृतम् । एनः । अयासिषम् । अव । मर्त्यैः । मर्त्यकृतमिति मर्त्यऽकृतम् । पुरुराव्ण इति पुरुऽराव्णः । देव । रिषः । पाहि । देवानाम् । समिदिति समऽइत् । असि ॥ २७ ॥

पदार्थः—(अवभृथ) यो निषेकेण गर्भं बिभर्त्ति तत्सम्बुद्धौ (निचुम्पुणः) नितराम्मन्दगामिन् (निचेरुः) यो धर्म्मेण द्रव्याणि नित्यं चिनोति (निचुम्पुणः) नित्यं कमनीयः (अव) अर्वागर्थे (देवैः) विद्वद्भिः (देवकृतम्) कामिभिरनुष्ठितम्

(एनः) दुष्टाचरणम् (अयासिषम्) प्राप्नुयाम् (अव) निषेधे (मर्त्यैः) मृत्युधर्म्मैः (मर्त्यकृतम्) साधारणमनुष्याचरितम् (पुरुराव्णः) पुरवो बहवो राव्णोऽपराधादानशीला यस्मिन् तस्मात् (देव) विजिगीषो ! (रिषः) धर्म्मस्य हिंसनात् (पाहि) रक्ष (देवानाम्) विदुषाम्मध्ये (समित्) सम्यग्दीप्तः (असि) अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । १ । २२-२३ तथा २ । १–१८ तथा ३ । १–३ व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अन्वयः– हे अवभृथ निचुम्पुणपते ! त्वां निचुम्पुणो निचेरुरसि देवानां समिदसि हे देव देवैर्मर्त्यैः सह वर्त्तमानस्त्वं यद् देवकृतमेनोपराधमहमयासिषं तस्मात् पुरुराव्णोरिषो माम्पाहि दूरे रक्ष ॥ २७ ॥

भावार्थः– स्त्री स्वपतिं नित्यं प्रार्थयेत् यथाहं सेव्यं प्रसन्नचित्तं त्वामनुदिनमिच्छामि तथा त्वमपि मामिच्छ स्वबलेन रक्ष च यतोहं कस्यचिद् दुष्टाचरणशीलस्य जनाद् दुश्चरितं कदाचिन्न प्राप्नुयां कस्यचित्पराधं नाप्नुयाम् ॥ २७ ॥

पदार्थः– हे (अवभृथ) गर्भ के धारण करने के पश्चात् उसकी रक्षा करने (निचुम्पुण) और मन्द २ चलने वाले पति आप (निचुम्पुणः) नित्य मनहरने और (निचेरुः) धर्म्म के साथ नित्य द्रव्य का संचय करने वाले (असि) हैं। तथा (देवानाम्) विद्वानों के बीच में (समित्) अच्छे प्रकार तेजस्वी (असि) हैं। हे (देव) सब से आनन्द चाहने वाले (देवैः) विद्वान् और (मर्त्यैः) साधारण मनुष्यों के साथ वर्त्तमान आप जो मैं (देवकृतम्) कामी पुरुषों वा (मर्त्यकृतम्) साधारण मनुष्यों के किये हुए (एनः) अपराध को (अयासिषम्) प्राप्त होना चाहूं उस (पुरुराव्णः) बहुत से अपराध करने वालों के (रिषः) धर्म्म छुड़ाने वाले काम से मुझे (पाहि) दूर रख ॥ २७ ॥

भावार्थः– स्त्री अपने पति की नित्य प्रार्थना करे कि जैसे मैं सेवा के योग्य आनन्दित चित्त आप को प्रतिदिन चाहती हूं वैसे आप भी मुझे चाहो और अपने पुरुषार्थ भर मेरी रक्षा करो जिस से मैं दुष्टाचरण करने वाले मनुष्य के किये हुए अपराध की भागिनी किसी प्रकार न होऊं ॥ २७ ॥

एजत्वित्यस्याग्निर्ऋषिः । दम्पती देवते । एवायमित्यस्यापि सा-
म्न्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः । यथायमित्यस्य
प्राजापत्यानुष्टुप्छन्दः ।गान्धारः स्वरः ॥

अथ गार्हस्थ्यधर्मे गर्भव्यवस्थामाह ॥

अब गृहस्थ धर्म्म में गर्भ की व्यवस्था अगले मंत्र में कही है ॥

एजंतु दशंमास्यो गर्भों जरायुंणा सह ।यथा-
यं वायुरेजंति यथा समुद्रएजंति । एवायं दशं-
मास्योऽअस्रज्जरायुंणा सह ॥ २८ ॥

एजंतु । दशंमास्यऽइतिदशऽमास्यः । गर्भः। जरा-
युंणा । सह । यथा । अयम् । वायुः। एजंति ।यथा।
समुद्रः । एजंति । एव । अयम् । दशंमास्युऽइतिदश-
ऽमास्यः । अस्रंत् । जरायुंणा सह ॥ २८ ॥

पदार्थः—(एजतु) चलतु (दशमास्यः) दशसु मा-
सेषुभवः (गर्भः) ध्रियते स्त्रियते गृह्यते वा स गर्भः।गर्भो गृ-
भेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्रीगुणान् गृह्णा-
ति गुणाश्चास्या गृह्यंते निरू० १० । २३ (जरायुणा)
आवरणेन सह (यथा) (अयम्) (वायुः) (एजति)
कम्पते (यथा) (समुद्रः) उदधिः (एजति) वर्द्धते (ए-
व) अवधारणार्थे (अयम)वर्त्तमानः (दशमास्यः)
(अस्रत) स्रंसतोऽधः स्रवतु लोडर्थे लङ् (जरायुणा)
(सह) अयम्मंत्रः शत० ४। ४। ३ ।४—९ ।व्याख्यातः ॥२८॥

अन्वयः—हे दम्पती यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजति तथा जरायुणा सह दशमास्योगर्भ एजतु क्रमेण वर्द्धतामेवं वर्द्धमानोऽयं जरायुणा सह दशमास्य एवास्रत् स्रंसताम् ॥ २८ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्य्येण शरीरपुष्टिमनःसंतुष्टिविद्यावृद्धिसम्पन्नौ कृतविवाहौ दम्पती यत्नेन गर्भरक्षणं कुर्य्यातां यतः स दशमास्यो दशमासात्पूर्वं न स्खलेत् यो हि दशमासादूर्ध्वं जायते स प्रायशो बलबुद्धियुक्तो भवति तस्मात् पूर्वमुत्पद्यते नायं तादृग्भवति ॥ २८ ॥

पदार्थः— हे स्त्री पुरुष जैसे! (वायुः) पवन (एजति) कम्पता है वा जैसे (समुद्रः) समुद्र (एजति) अपनी लहरों से उछलता है वैसे तुम्हारा (अयम्) यह (दशमास्यः) पूर्ण दश महीने का गर्भ (एजतु) क्रम २ से बढ़े और ऐसे बढ़ता हुआ (अयम्) यह (दशमास्यः) दश महीने में परि पूर्ण हो कर ही (अस्रत्) उत्पन्न होवे ॥ २८ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्यधर्म्म में शरीर की पुष्टि, मन की संतुष्टि और विद्या की वृद्धि को प्राप्त हो कर और विवाह किये हुए जो स्त्री पुरुष हों वे यत्न के साथ गर्भ को रक्खें कि जिस से वह दश महीने के पहिले गिर न जाय क्योंकि जो गर्भ दश महीने से अधिक दिनों का होता है वह प्रायः बल और बुद्धि वाला होता है और जो इस से पहिले होता है वह वैसा नहीं होता ॥ २८ ॥

यस्यै इत्यस्याग्निर्ऋषिः । दम्पतीदेवते । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

पुनरपि गार्हस्थ्यधर्म्मे गर्भव्यवस्थामाह ॥

फिर भी गृहस्थ धर्म्म में गर्भ की व्यवस्था अगले मंत्र में कही है ॥

यस्यै ते य॒ज्ञियो॒ गर्भो॒ यस्यै॒ योनि॑र्हिर॒ण्ययी॑। अ॒ङ्गान्यहु॑ता॒ यस्य॒ तम्मा॒त्रा सम॑जीगम॒ꣳ स्वाहा॑॥२९॥

यस्यै । ते । युज्ञियः । गर्भः । यस्यै । योनिः । हिरण्ययी । अङ्गानि । अह्रुता । यस्य । तम् । मात्रा । सम् । अजीगमम् । स्वाहा ॥ २९ ॥

पदार्थः—(यस्यै) सुलक्षणायाः स्त्रियाः। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। (ते) तव (याज्ञियः) यो यज्ञमर्हति (गर्भः) (यस्यै) सुभगायाः (योनिः) जन्मस्थानम् (हिरण्ययी) रोगरहिता शुद्धा (अंगानि) अंकितानि व्यंजकानि वा। अंगांगनि क्षिप्रनामांकितमेवाङ्कितम्भवति। निरु० ५।१७। (अह्रुता) अकुटिलानि सरलानि शोभनानि। शेश्छन्दसि बहुलमिति लुक्। (यस्य) (तम्) (मात्रा) गर्भमानकर्त्र्या त्वया सह समागम्य (सम्) (अजीगमम्) सम्यक् प्राप्नुयाम (स्वाहा) धर्म्मयुक्तया क्रियया। अयम्मंत्रः शत० ४। ४। ३। १०—११ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे विवाहिते सुभगेऽहं पतिः यस्यै यस्यास्ते तव हिरण्ययी योनिरस्ति यस्यै यस्यास्तव याज्ञियो गर्भोऽस्ति तस्यां त्वयि यस्य गर्भस्याह्रुतानि कुटिलान्यङ्गानि स्युस्तम्मात्रा गर्भमानकर्त्र्या त्वया सह स्वाहा समजीगमम् सम्यक् प्राप्नुयाम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—पुरुषेण गृहाश्रमे जितेन्द्रियता वीर्य्यशुद्ध्युन्नतिब्रह्मचर्य्योता सम्पादनीया स्त्रियाप्येवं चान्यद्गर्भधारणं गर्भाशययोन्यारोग्यकरणं तद्रक्षणं च कार्य्यं परस्परमाह्लादेन संतानोत्पादने कृते प्रशस्तरूपगुणकर्मस्वभावान्यपत्यानि जायन्त इतिवेद्यम् ॥ २९ ॥

पदार्थः—हे विवाहित सौभाग्यवती स्त्री ! मैं तेरा स्वामी (यस्यै) जिस (ते) तेरी (हिरण्ययी) रोग रहित शुद्ध गर्भाशय है और (यस्यै) जिस तेरा (यज्ञियः) यज्ञ के योग्य (गर्भः) गर्भ है (यस्य) जिस गर्भ के (अह्रुता) सुन्दर सीधे (अङ्गानि) अंग हैं (तम्) उस को (माता) गर्भ की कामना करने वाली तेरे साथ समागम करके (स्वाहा) धर्म युक्त क्रिया से (सम्) (अजीगमम्) अच्छे प्रकार प्राप्त होऊं ॥ २८ ॥

भावार्थः—पुरुष को चाहिये कि गृहाश्रम के बीच इन्द्रियों का जीतना वीर्य्य की बढ़ती शुद्धि से उस की उन्नति करें स्त्री भी ऐसा ही करे और पुरुष से गर्भ को प्राप्त होके उस की स्थिति और योनि आदि की आरोग्यता तथा रक्षा करे और जो स्त्री पुरुष परस्पर आनन्द से सन्तान को उत्पन्न करें तो प्रशंसनीय रूप, गुण, कर्म, स्वभाव और बल वाले सन्तान उत्पन्न हों ऐसा सब लोग निश्चित जानें ॥ २९ ॥

पुरुदस्म इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । दम्पती देवते । आर्षी जगती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ॥

पुनर्गर्भव्यवस्थामाह ॥

फिर भी गर्भ की व्यवस्था अगले मन्त्र में कहा है ॥

पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः । एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताᳬ स्वाहा ॥ ३० ॥

पुरुदस्म ऽ इति पुरुऽदस्मः । विषुरूप ऽ इति विषुऽरूपः । इन्दुः । अन्तः । महिमानम् । आनञ्ज ।

धीरः । एकपदीमित्येकं ऽपदीम् । द्विपदीमितिद्विऽप-दीम् । त्रिपदीमिति त्रिऽपदीम । चतुष्पदीम । चतुः पदीमिति चतुः ऽपदीम् । अष्टापदीमित्यष्टाऽपदीम । भुवना । अनु । प्रथन्ताम । स्वाहा ॥ ३० ॥

पदार्थः—(पुरुदस्मः) पुरुबहुर्दस्म उपक्षयो दुःखानां यस्मात् सः (विपुरूपः) विपूणि व्याप्तानि रूपाणि येन सः (इन्दुः) परमैश्वर्य्यकारी (अन्तः) आभ्यन्तरं (महिमानम) पूज्यं ब्रह्मचर्य्यजितेन्द्रियत्वादिशुभकर्म्मसंस्कारजन्यम् (आनञ्ज) अञ्जयेत् कामयेत । अत्रलिङर्थे लिट् (धीरः) सर्वव्यवहारध्यानशीलः (एकपदीम्) एकमोमिति पदं प्राप्तव्यं यस्या ताम् (द्विपदीम्) द्वे अभ्युदयनिःश्रेयसे सुखे पदे यस्यां ताम् (त्रिपदीम) त्रीणि वाङ्मनःशरीरस्थानि सुखानि यस्यास्ताम् (चतुष्पदीम्) चत्वारि धर्मार्थकाममोक्षाः पदानि यस्यास्ताम् (अष्टापदीम्) अष्टौ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चत्वारो वर्णा ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसन्न्यासाश्चत्वार आश्रमापदानि प्राप्तव्यानि यस्यास्ताम् (भुवना)भवंति भूतानि येषु तानि गृहाणि । शेश्छन्दसि बहुलम् । इति लुक् । (अनु) (प्रथन्ताम) प्रख्यांतु (स्वाहा) सत्यां सकलविद्यायुक्तां वाचम्। अयम्मन्त्रः शत० ४ । ४ ।३।१२--१६ व्याख्यातः ॥३० ॥

अन्वयः—पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुर्धीरो गृहस्थो धर्मेण विवाहितायाः स्त्रियाः अन्तर्महिमानमानञ्ज ।हे गृहस्था यूयं सृष्ट्युत्पत्तिं विधाय यामेकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं स्वाहा समविद्यान्वितां वाचम् विदित्वा भुवनानि प्रथन्तां तया सर्वान् मनुष्याननुप्रथन्तम् ॥ ३० ॥

भावार्थः—दम्पतिभ्यां सर्वां गृहाश्रमविद्यामभिव्याप्य तदनुसारेण संता नानुत्पाद्य मनुष्यवृद्धिं विधाय ब्रह्मचर्येणाखिलविद्याः सर्वान् ग्राहयित्वा सुखानि प्राप्यानुमोदेताम् ॥ ३० ॥

पदार्थः—(पुरुदस्मः) जिस के गुणों से बहुत दुःखों का नाश होता है (विषुरूपः) जिस ने जन्म क्रम से अनेक रूप स्थानान्तर विद्या विषयों में प्रवेश किया है (इन्दुः) जो परमैश्वर्य को सिद्ध करने वाला (धीरः)समस्त व्यवहारों में ध्यान देने हारा पुरुष है वह गृहस्थ धर्म से विवाही हुई अपनी स्त्री के (अन्तः) भीतर (महिमानम्) प्रशंसनीय ब्रह्मचर्य और जितेन्द्रियता आदि शुभ कर्मों से संस्कार प्राप्त होने योग्य गर्भ को (आनञ्ज) कामना करे, गृहस्थ लोग ऐसे सृष्टि की उत्पत्ति का विधान करके जिस (एकपदीम्) जिस में एक यह ओम्पद (द्विपदीम्) जिस में दो अर्थात् संसार सुख और मोक्ष सुख (त्रिपदीम्) जिस से वाणी मन और शरीर तीनों के आनन्द (चतुष्पदीम्) जिस में चारों धर्म अर्थ काम और मोक्ष (अष्टापदीम्) और जिस से आठों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,वानप्रस्थ और सन्यास ये चारों आश्रम प्राप्त होते हैं उस (स्वाहा) समस्त विद्या युक्त वाणी को जान कर सब गृहस्थ जन (भुवना) जिन में प्राणीमात्र निवास किया करते हैं उन घरों की (प्रथन्ताम्) प्रशंसा करें और उस से सब मनुष्यों को (अनु)अनुकूलता से बढ़ावें ॥ ३० ॥

भावार्थः—विवाह किये हुए स्त्री पुरुषों को चाहिये कि गृहाश्रम की विद्या को सब प्रकार जानकर उस के अनुसार संतानों को उत्पन्न कर मनुष्यों को बढ़ा और उन को ब्रह्मचर्य नियम से समस्त अंग उपांग सहित विद्या का ग्रहण करा के उत्तम२ सुखों को प्राप्त होके आनन्दित करें ॥ ३० ॥

मरुतो यस्येत्यस्य गोतम ऋषिः । दम्पती देवते । आर्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरपि गार्हस्थ्यधर्म्म विषयमाह ॥

अगले मंत्र में भी गृहस्थधर्म्म का विषय कहा है ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः । स सुगोपातमो जनः ॥ ३१ ॥

मरुतः । यस्य । हि । क्षये । पाथ । दिवः । विमहस इति विऽमहसः । सः । सुगोपातम इति सुऽगोपातमः । जनः ॥ ३१ ॥

पदार्थः– (मरुतः) हिरण्यानि रूपाण्यृत्विजो विद्वांसश्च मरुदिति हिरण्यना० निघं० १ । २ रूपना० ३ । ७ ऋत्विङ्ना० ३ । १८ पदनामसु च निघं० ५ । ५ (यस्य) गृहस्थस्य (हि) खलु (क्षये) गृहे (पाथ) प्राप्नुत । द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः । (दिवः) दिव्या गुणाः स्वभावाः क्रिया वा (विमहसः) विविधतया पूजनीयाः (सः) (सुगोपातमः) शोभनधर्म्मेण गां पृथिवीं वाचं वा पाति सोऽतिशयितः (जनः) प्रसिद्धः । अयम्मन्त्रः शत० ४ । ४ । ३ । १७ व्याख्यातः ॥३१॥

अन्वयः–हे कृतविवाहा विमहस ऋत्विजो मरुतो गृहस्था! यूयं यस्य गृहस्थस्य क्षये गृहे हिरण्यानि सुखरूपाणि दिवः पाथ स हि सुगोपातमो जनः सदा सेव्यः ॥३१॥

भावार्थः—नहि केनचित् मनुष्येण किल ब्रह्मचर्य्यसुशिक्षाविद्याशरीरात्मबलारोग्यपुरुषार्थैश्वर्य्यसज्जनसङ्गालस्यत्यागयमनियमसेवनसुसहायैर्विना गृहाश्रमो धर्त्तुं शक्यः । नह्येतेन विना धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिर्भवितुं योग्या तस्मादयं सर्वैः प्रयत्नेन सेवितव्यः ॥३१॥

पदार्थः हे (विप्रासः) विविधप्रकार से प्रशंसा करने योग्य (मरुतः) विद्वान् गृहस्थ लोगो ! तुम (यस्य) जिस गृहस्थ के (क्षये) घर में सुवर्ण उत्तम रूप (दिवः) दिव्य गुण स्वभाव वा प्रत्येक कामों के करने की रीति को (पाथ) प्राप्त हो (सः) (हि) वह (सुगोपातमः) अच्छे प्रकार वाणी और पृथिवी की पालना करने वाला (जनः) मनुष्यों का सेव के योग्य है ॥ ३१ ॥

भावार्थः—इस बात का निश्चय है कि ब्रह्मचर्य्य उत्तम शिक्षा विद्या शरीर और आत्मा का बल आरोग्य पुरुषार्थ ऐश्वर्य सज्जनों का संग आलस्य का त्याग यम नियम और उत्तम सहाय के विना किसी मनुष्य से गृहाश्रम धारा जा नहीं सकता ॥ ३१ ॥

मही द्यौरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । दम्पती देवते ।

आर्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्गार्हस्थ्यकर्म्मोपदेशमाह ॥

फिर गृहस्थों के कर्मों का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

मही द्यौः पृथिवी च नऽइमं यज्ञम्मिमिक्षताम् । पिपृतान्नो भरीमभिः ॥३२॥

मही । द्यौः । पृथिवी । च । नः । इमम् । यज्ञम् । मिमिक्षताम् । पिपृताम् । नः । भरीमभिरिति भरीऽमभिः ॥३२॥

पदार्थः—(मही) महती पूज्या (द्यौः) दिव्या पुरुषाकृतिः (पृथिवी) विस्तृतशीला क्षमाधारणादिशक्तिमती (च) (नः) अस्माकम् (इमम्) वर्त्तमानम् (यज्ञम्) विद्वत्पूज्यं गृहाश्रमम् (मिमिक्षताम्) सुखैः सेक्तुमिच्छताम् (पिपृताम्) पिपूर्त्तः (नः) अस्माकम् (भरीमभिः) धारणपोषणादिगुणयुक्तैर्व्यवहारैर्वा पदार्थैः सह ।

अयंमन्त्रः शत० ४ । ४ । ३ । १८ व्याख्यातः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे दम्पती भवन्तौ मही द्यौः महान् प्रकाशमानः पतिः मही पृथ्वी स्त्री च त्वं भरीमभिर्नोऽस्माकं चादन्येषामिमं यज्ञं मिमिक्षताम् पिपृताञ्च ॥ ३२ ॥

भावार्थः—यथा सूर्यो जलाद्याकृष्य वर्षित्वा पाति पृथिव्यादिपदार्थान् प्रकाशयति तद्वदयम्पतिः सद्गुणान् पदार्थान् संगृह्य तद्दानेन रक्षेत् विद्यादिगुणान् प्रकाशयेत् यथेयम्पृथिवी सर्वान् प्राणिनो धृत्वा पालयति तथेयं स्त्री गर्भादीन् धृत्वा पालयेत् एव संहितौ भूत्वा स्वार्थं संसाध्य मनोवाक्कर्मभिरन्यान् सर्वान् प्राणिनः सततं सुखयेताम् ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे स्त्री पुरुष ! तुम दोनों (मही) अति प्रशंसनीय (द्यौः) दिव्य पुरुष की आकृति युक्त पति और अति प्रशंसनीय (पृथिवी) बड़े हुए शील और क्षमा धारण करने आदि की सामर्थ्य वाली तू (भरीमभिः) धीरता और सब को संतुष्ट करने वाले गुणों से युक्त व्यवहारों वा पदार्थों से (नः) हमारा (च) औरों का भी (इमम्) इस (यज्ञम्) विद्वानों के प्रशंसा करने योग्य गृहाश्रम को (मिमिक्षताम्) सुखों से अभिषिक्त और (पिपृताम्) परिपूर्ण करना चाहो ॥ ३२ ॥

भावार्थः—जैसे सूर्य लोक जलादि पदार्थों को खींच और वर्षा कर रक्षा और पृथिवी आदि पदार्थों का प्रकाश करता है वैसे यह पति श्रेष्ठ गुण और पदार्थों का संग्रह करके देने से रक्षा और विद्या आदि गुणों को प्रकाशित करता है तथा जिस

प्रकार यह पृथिवी सब प्राणियों को धारण कर उन की रक्षा करती है वैसे स्त्री गर्भ आदि व्यवहारों को धारण कर सब की पालना करती है इस प्रकार स्त्री और पुरुष इकट्ठे होकर स्वार्थ को सिद्ध कर मन वचन और कर्म से सब प्राणियों को भी सुख देवें॥३२॥

आतिष्ठेत्यस्य गोतम ऋषिः गृहपतयो देवताः। आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः। उपयामेत्यस्य विराडार्ष्युष्णिक् छन्दः।
ऋषभः स्वरः॥

अथ प्रकारांतरेण गृहस्थधर्ममाह॥

अब प्रकारान्तर से गृहस्थ का धर्म्म अगले मन्त्र में कहा है॥

आतिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी। अर्वाचीनꣳसु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥३३॥

आ। तिष्ठ। वृत्रहन्निति वृत्रऽहन्। रथम्। युक्ता। ते। ब्रह्मणा। हरीऽइति हरी। अर्वाचीनम्। सु। ते। मनः। ग्रावा। कृणोतु। वग्नुना। उपयामगृहीतऽइत्युपयामऽगृहीतः। असि। इन्द्राय। त्वा। षोडशिने। एषः। ते। योनिः। इन्द्राय। त्वा। षोडशिने॥३३॥

पदार्थः—(आ) (तिष्ठ) (वृत्रहन्) वृत्रान् शत्रून् हन्ति तत्सम्बुद्धौ (रथम्) रमणीयं विद्याप्रकाशं यानं वा (युक्ता) युक्तौ (ते) तव (ब्रह्मणा) जलेन धनेन वा (हरी) हरणशीलौ धारणाकर्षणगुणाविवाश्वौ (अर्वाचीनम्) अर्वागामि (सु) (ते) तव (मनः) अंतःकरणम् (ग्रावा) मेघः । ग्राव इति मेघना० । निघं० १ । १० । (कृणोतु) (वग्नुना) वाण्या । वग्नुरिति वाङ्ना० । निघं० १ । ११ । (उपयामगृहीतः) उपयामा सामग्री गृहीता येन सः (असि) (इन्द्राय) परमैश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (षोडशिने) प्रशस्ताः षोडश कला विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मै (एषः) गृहाश्रमः (ते) तव (योनिः) गृहम् । (इन्द्राय) ऐश्वर्यप्रदाय गृहाय (त्वा) त्वाम्) (षोडशिने) अयम्मन्त्रः शत० ४ । ४ । ४ । १—९ व्याख्यातः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे वृत्रहन् ग्रावेव सुखवर्षिता गृहस्थस्ते—तव यत्र रथे ब्रह्मणा सह हरी युक्ता—युक्तौ स्वीक्रियेते तं त्वमातिष्ठास्मिन् गृहाश्रमे ते—तव यन्मनोऽर्वाचीनमनुत्कृष्टगति जायते तद्वग्नुना वेदवाचा भवान् शान्तं कृणोतु यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽस्यतः षोडशिन इन्द्राय त्वा त्वामुपदिशामि । हे गृहाश्रममभीप्सो एष ते योनिरस्ति । अस्मै षोडशिन इन्द्राय त्वा त्वां नियुनज्मीति ॥३३॥

भावार्थः—गृहाश्रमाधीना एव सर्व आश्रमास्ते वेदोक्तसद्व्यवहारेण सेविताः सन्तोऽभ्युदयनिःश्रेयससुखसम्पत्तये भवन्त्येवातः परमैश्वर्यप्राप्तये गृहाश्रम एव सेव्य इति ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे (वृत्रहन्) शत्रुओं को मारने वाले गृहाश्रमी तू (ग्रावा) मेघ

के तुल्य सुख बरसाने वाला है (ते) तेरे जिस रमणीय विद्या प्रकाशमय गृहाश्रम वा रथ में (ब्रह्मणा) जल वा धन से (हरी) धारण और आकर्षण अर्थात् खींचने के समान घोड़े (युक्ता) युक्त किये जाते हैं उस गृहाश्रम करने की (प्रतिष्ठ) प्रतिज्ञा कर इस गृहाश्रम में (ते) तेरा जो (मनः) मन (अर्वाचीनम्) मन्दपन को पहुंचाता है उस को (वग्नुना) वेदवाणी से शान्त कर जिस से तू (उपयाम-गृहीतः) गृहाश्रम करने की सामग्री ग्रहण किये हुए (असि) है इस कारण (षोडशिने) सोलह कलाओं से परिपूर्ण (इन्द्राय) परमैश्वर्य देने वाले गृहाश्रम करने के लिये (त्वा) तुझ को आज्ञा देता हूं ॥ ३३ ॥

भावार्थः—गृहाश्रम के आधीन सब आश्रम हैं और वेदोक्त श्रेष्ठ व्यवहार से जिस गृहाश्रम की सेवा की जाय उस से इस लोक और परलोक का सुख होने से परमैश्वर्य पाने के लिये गृहाश्रम ही सेवना उचित है ॥ ३३ ॥

युक्ष्वाहित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गृहपतिर्देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः । उपयामेत्यस्य पूर्ववच्छन्दः स्वरश्च ॥

अथ राजविषये प्रतिपादितप्रकारेण गृहस्थधर्म्ममाह ॥

अब राजविषय में उक्त प्रकार से गृहाश्रम का धर्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा । अथा नऽइन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिञ्चर । उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३४ ॥

युक्ष्व । हि । केशिना । हरीऽइति हरी । वृषणा । कक्ष्यप्रेति कक्ष्यऽप्रा । अथ । नः । इन्द्र । सोमपाऽइति सोमऽपाः । गिराम् । उपश्रुतिमित्यु-

पऽश्रुतिम् । चर । उपयामगृहीतऽइत्युपयामऽगृं-हीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । षोडशिने । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । षोडशिने ॥ ३४ ॥

पदार्थः— (युक्ष्व) (हि) खलु (केशिना) प्रशस्ताः केशा विद्यन्ते ययोस्तौ । अत्र सर्वत्र सुपां सुलुगिति विभक्तेराकारः । (हरी) यानस्य हरणशीलौ (वृषणा) वृषवद्बलिष्ठौ (कक्ष्यप्रा) कक्ष्यं प्रातः पिपूर्तः (अथ) आनंतर्ये (नः) अस्माकम् (इन्द्र) शत्रुविदारक सेनाध्यक्ष (सोमपाः) ऐश्वर्यरक्षक (गिराम्) वाचम् (उपश्रुतिम्) उपगतां श्रूयमाणाम् (चर) विजानीहि । अत्र चर इत्यस्य गत्यर्थत्वात् प्राप्त्यर्थो गृह्यते (उपयामगृहीतः) इत्यादि पूर्ववत् । अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ३ । १०—११ व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे सोमपा इन्द्र त्वं केशिना वृषणा कक्ष्यप्रा हरी रथे युङ्क्ष्व । अथेत्यनंतरं नोऽस्माकं गिरामुपश्रुतिं हि चर । उपयामेत्यस्यान्वयोऽपि पूर्ववत् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—अस्मिन्मंत्रे रथे इति पदस्य सम्बन्धः । प्रजासभासेनाजनाः सभाध्यक्षं ब्रूयुः । शुचिना त्वया न्यायस्थितये चत्वारि सेनाङ्गानि सुशिक्षितानि हृष्टपुष्टानि रक्षणीयानि पुनरस्माकं प्रार्थनानुकूल्येन राजैश्वर्यरक्षापि कार्य्येति ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे (सोमपाः) ऐश्वर्य्य की रक्षा करने और (इन्द्र) शत्रुओं का विनाश करने वाले तुम (केशिना) जिन के अच्छे २ बाल हैं उन (वृषणा) बैल के

समान बलवान् (कक्ष्यप्रा) अभीष्ट देश तक पहुंचाने वाले (हरी) चलाने हारे घोड़ों को (रथे) रथ में (युङ्क्ष्व) जोड़ो (अथ) इस के अनन्तर (नः) हम लोगों की (गिराम्) विनयपत्रों की (उपश्रुतिम्) प्रार्थना को (हि) चित्त देकर (चर) जानो। आप (उपयामगृहीतः) गृहाश्रम की सामग्री को ग्रहण किये हुए (असि) हैं इस कारण (षोडशिने) सोलह कलाओं से परिपूर्ण (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य के लिये (त्वा) तुझ को उपदेश करता हूं कि जो (एषः) यह (ते) तेरा (योनिः) घर है इस (षोडशिने) सोलह कलाओं से परिपूर्ण (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य देने वाले गृहाश्रम के लिये (त्वा) तुझे आज्ञा देता हूं ॥ ३४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में पिछले मंत्र से " रथे " यह पद अर्थ से आता है। प्रजा, सेना और सभा के मनुष्य सभाध्यक्ष से ऐसे कहें कि आप को शत्रुओं के विनाश और राज्य भर में न्याय रहने के लिये घोड़े आदि सेना के अंगों को अच्छी शिक्षा देकर आनंदित और बल वाले रखने चाहिये फिर हम लोगों के विनयपत्रों को सुनकर राज्य की रक्षा करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

इन्द्रमिदित्यस्य गोतम ऋषिः। गृहपतिर्देवता। विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः। उपयामेत्यस्य सर्वं पूर्ववत् ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर भी उक्त विषय को अगले मंत्र में कहा है ॥

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३५ ॥

इन्द्रम्। इत्। हरीऽइतिहरी। वहतः। अप्रतिधृष्टशवसमित्यप्रतिऽधृष्टशवसम्। ऋषीणाम्। च। स्तुतीः। उप। यज्ञम्। च। मानुषाणाम्। उपयामेत्यारभ्यपूर्ववत् ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(इन्द्रम्) परमैश्वर्य्यवर्द्धकं सेनारक्षकम् (इत्) एव (हरी) शिक्षितावश्वौ (वहतः) (अप्रतिधृष्टशवसम्) धृष्टुमप्रगल्भं शवो बलं येन तम्प्रतीति । (ऋषीणाम्) मन्त्रार्थद्रष्टृणां विदुषाम् (च) वीराणाम् (स्तुतीः) गुणस्तवनानि (उप) (यज्ञम्) संगमनीयं व्यवहारम् (च) (मानुषाणाम्) (उपयामेति) पूर्ववत् । अयं मन्त्रः श० ४ । ४ । ५ । १—व्याख्यातः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे सोमपास्त्वं षोडशिन इन्द्राय यौ हरी अप्रतिधृष्टशवसमिन्द्र वहतस्ताभ्यामृषीणां चाहुतीनां स्तुतीर्मानुषाणां यज्ञं चात्पालनमुपचर यस्य ते तवैव योनिरस्ति यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि तं त्वां षोडशिन इन्द्राय जना उपाश्रयन्तु वयमपि त्वामाश्रयेम ॥ ३५॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मान्मन्त्रात् इन्द्र सोमपाश्चरेति पदत्रयमनुवर्त्तते । राज्ञो राजसभासभ्यानां प्रजास्थानां जनानामिदं योग्यमस्ति प्रशंसनीयविदुषां सकाशाद्विद्योपदेशं प्राप्यान्येषामुपकारादिकं च सततं कुर्युः ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे (सोमपाः) ऐश्वर्य्य की रक्षा और (इन्द्र) शत्रुओं का विनाश करने वाले सभाध्यक्ष आप जो (हरी) हरणकारक बल और आकर्षण रूप घोड़ों से (अप्रतिधृष्टशवसम्) जिस ने अपना अच्छा बल बढ़ा रक्खा है उस (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्य बढ़ाने और सेना रखने वाले सेना समूह को (वहतः) बहाते हैं उन से युक्त होकर (ऋषीणाम्) वेद मन्त्र जानने वाले विद्वानों और (च) वीरों के (स्तुतिः) गुणों के ज्ञान और (मानुषाणाम्) साधारण मनुष्यों के (यज्ञम्) सङ्गम करने योग्य व्यवहार और (च) उन की पालना करो और (उप) समीप प्राप्त हो

जिस (ते) तेरा (एषः) यह (योनिः) निमित्त राज्य धर्म्म है जो तू (उपयामगृहीतः) सब सामग्री से संयुक्त है उस (त्वा) तुझ को (षोडशिने) षोडश कलायुक्त (इन्द्राय) उत्तम ऐश्वर्य्य के लिये प्रजा सेना जन आश्रय लेवें और हम भी लेवें ॥ ३५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पिछले मन्त्र से (इन्द्र) (सोमपाः) (सर) इन तीन पदों की योजना होती है। राजा राज्य कर्म्म में विचार करने वाले सभ्य और प्रजाजनों को योग्य यह है कि प्रशंसा करने योग्य विद्वानों से विद्या और उपदेश पाकर औरों का उपकार सदा किया करें ॥ ३५ ॥

यस्मान्नेत्यस्य विवस्वान् ऋषिः । परमेश्वरो देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ गृहाश्रममिच्छद्भ्यो जनेभ्यः परमेश्वर एवोपास्य इत्युपदिश्यते ॥

अब गृहाश्रम की इच्छा करने वालों को ईश्वर ही की उपासना करनी चाहिये यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥ ३६ ॥

यस्मात् । न । जातः । परः । अन्यः । अस्ति । यः । आविवेशेत्याऽविवेश । भुवनानि । विश्वा । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । प्रजयेति प्रऽजया । सꣳरराणऽइति सम्ऽरराणः । त्रीणि । ज्योतीꣳषि । सचते । सः । षोडशी ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(यस्मात्) परमात्मनः (न) निषेधे (जातः) प्रसिद्धः (परः) उत्तमः (अन्यः) भिन्नः (अस्ति) (यः) (आविवेश) (भुवनानि) स्थानानि (विश्वा) सर्वाणि (अत्र शेर्लुक् (प्रजापतिः) विश्वस्याध्यक्षः (प्रजया) सर्वेण संसारेण (संरराणः) सम्यग्दातृशीलः । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदं बहुलं छन्दसीति शपः स्थाने श्लुः । (त्रीणि) (ज्योतींषि) सूर्यविद्युदग्न्याख्यानि (सचते) सर्वेषु समवैति (सः) (षोडशी) प्रशस्ताः षोडश कला विद्यन्ते यस्मिन्सः । इच्छा प्राणः श्रद्धा पृथिव्यापोऽग्निर्वायुराकाशमिन्द्रियाणि मनोऽन्नंवीर्यन्तपो मन्त्रा लोको नाम चैताः कलाः प्रश्नोपनिषदि प्रतिपादिताः । अयम्मन्त्रः शत० ४ । ४ । ५ । ६ । व्याख्यातः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यस्मात् परोऽन्यो न जातः किंच यो विश्वा भुवनान्याविवेश स प्रजापतिः प्रजया संरराणः षोडशी त्रीणि ज्योतींषि सचते ॥ ३६ ॥

भावार्थः—गृहाश्रममिच्छद्भिर्मनुष्यैर्यः सर्वत्राभिव्यापी सर्वेषां लोकानां स्रष्टा धर्ता दाता न्यायकारी सनातनः सच्चिदानन्दो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सूक्ष्मात् सूक्ष्मो महतो महान् सर्वशक्तिमान् परमात्माऽस्ति यस्मात् कश्चिदपि पदार्थ उत्तमः समो वा नास्ति स एवोपास्यः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(यस्मात्) जिस परमेश्वर से (परः) उत्तम (अन्यः) और दूसरा (न) नहीं (जातः) हुआ और (यः) जो परमात्मा (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोकों को (आविवेश) व्याप्त हो रहा है (सः) वह (प्रजया)

सब संसार से (संरराणः) उत्तम दाता होता हुआ (षोडशी) इच्छा प्राण श्रद्धा पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश दशों इन्द्रिय मन अन्न वीर्य्य तप मन्त्र लोक और नाम इन सोलह कलाओं के स्वामी (प्रजापतिः) संसार मात्र के स्वामी परमेश्वर (त्रीणि) तीन (ज्योतींषि) ज्योति अर्थात् सूर्य्य बिजुली और अग्नि को (सचते) सब पदार्थों में स्थापित करता है ॥ ३६ ॥

भावार्थः—गृहाश्रम की इच्छा करने वाले पुरुषों को चाहिये कि जो सर्वज्ञ व्याप्त सबलोकों का रचने और धारण करने वाला दाता न्यायकारी सनातन अर्थात् सदा ऐसाही बना रहता है सत् अविनाशी चैतन्य और आनन्दमय नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव और सब पदार्थों से अलग रहने वाला छोटे से छोटा बड़े से बड़ा सर्वशक्तिमान् परमात्मा जिस से कोई भी पदार्थ उत्तम वा जिसके समान नहीं है उस की उपासना करें ॥

इन्द्रश्चेत्यस्य विवस्वानृषिः । सम्राड्माण्डलिकौ राजानौ देवते । साम्नी त्रिष्टुप्छन्दः । तयोरहमित्यस्य विराडार्ची त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ गृहस्थोपयोगिराजविषयमाह ॥

अब गृहाश्रम के उपयोगी राजविषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्रऽएतम् । तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥ ३७ ॥

इन्द्रः । च । सम्राडिति सम्ऽराट् । वरुणः । च । राजा । तौ । ते । भक्षम् । चक्रतुः । अग्रे । एतम् । तयोः । अहम् । अनु । भक्षम् । भक्षयामि ।

वाक् । देवी । जुषाणा । सोमस्य । तृप्यतु । सह । प्राणेन । स्वाहा ॥ ३७ ॥

पदार्थः–(इन्द्रः) परमैश्वर्य्ययुक्तः (च) साङ्गोपाङ्गा-ज्याङ्गसहितः (सम्राट्) सम्यग्राजते स चक्रवर्त्ती (वरुणः) श्रेष्ठः (च) माण्डलिकः प्रतिमाण्डलिकश्च (राजा) न्यायादिगुणैः प्रकाशमानः (तौ) (ते) तव प्रजाजनस्य (भक्षम्) भजनं सेवनम् (चक्रतुः) कुर्य्याताम् । अत्र लिङर्थे लिट् (अग्रे) (एतम्) (तयोः) रक्षकयो राज्ञोः (अहम्) (अनु) पश्चात् (भक्षम्) (सेवनम्) (भक्षयामि) पालयामि (वाक्) वाणी (देवी) दिव्या (जुषाणा) प्रसन्ना सेवमाना सती (सोमस्य) विद्यैश्वर्य्यस्य (तृप्यतु) प्रीणातु (सह) (प्राणेन) बलेन (स्वाहा) सत्यया वाचा । अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ५ । ८ । व्याख्यातः ॥ ३७ ॥

अन्वयः–हे प्रजाजन य इन्द्रश्च सम्राड्वरुणो राजास्ति ना-वग्रे ते तव भक्षं चक्रतुः । अहन्तयोरेतं भक्षमनुभक्षयामि या सो-मस्य प्राप्तये जुषाणा देवी वागस्ति तया स्वाहा प्राणेन सह सर्वो जनस्तृप्यतु ॥ ३७ ॥

भावार्थः–प्रजायां द्वौ सभ्यौ राजानौ भवितुं योग्यौ, एक-श्चक्रवर्ती द्वितीयो माण्डलिकश्चैतौ श्रेष्ठन्यायविनयादिभ्यां प्रजाः संरक्ष्य पुनस्ताभ्यः करं सङ्गृह्णीयाताम् । सर्वस्मिन् व्यवहारे वि-द्यावर्द्धि सत्यवचनं चाचरेताम् । त एवं धर्मार्थकामैः प्रजाः संतोष्य

स्वयं संतुष्टौ स्याताम् । आपत्काले राजा प्रजां प्रजा च राजानं संरक्ष्य परस्परमानन्देताम् ॥ ३७ ॥

पदार्थः—हे प्रजाजन जो (इन्द्रः) परमैश्वर्य युक्त (च) राज्य के अंग, उपाङ्गसहित (सम्राट्) सब जगह एक चक्र राज करने वाला राजा (वरुणः) अति उत्तम (च) और (राजा) न्यायादि गुणों से प्रकाशमान माण्डलिक सेनापति है (तौ) वे दोनों (अग्रे) प्रथम (ते) तेरा (भक्षम्) सेवन अर्थात् नाना प्रकार से रक्षा करें और (अहम्) मैं (तयोः) उनका (एतम्) इस (भक्षम्) स्थित पदार्थ का (अनु) पीछे (भक्षयामि) सेवन करूं कराऊं । ऐसे करते हुए हम तुम सब को (सोमस्य) विद्यारूपी ऐश्वर्य के बीच (जुषाणा) प्रीति कराने वाली (देवी) सब विद्याओं की प्रकाशक (वाक्) वेदवाणी है उससे (स्वाहा) सब मनुष्य (तृप्यन्तु) संतुष्ट रहें ॥ ३७ ॥

भावार्थः—प्रजा के बीच अपनी २ सभाओं सहित राजा होने के योग्य दो होते हैं एक चक्रवर्ती अर्थात् एक चक्र राज करने वाला और दूसरा माण्डलिक कि जो मण्डल २ का ईश्वर हो ये दोनों प्रकार के राजा जन उत्तम २ न्याय नम्रता सुशीलता और वीरतादि गुणों से प्रजा की रक्षा अनेक प्रकार करें फिर उन प्रजा जनों से यथायोग्य राज्य कर लेवें और सब व्यवहारों में विद्या की वृद्धि सत्य वचन का आचरण करें इस प्रकार धर्म अर्थ और कामनाओं से प्रजाजनों को संतोष देकर आप संतोष पावें आपत्काल में राजा प्रजा की तथा प्रजा राजा की रक्षा कर परस्पर आनंदित हों ॥ ३७ ॥

अग्ने पवस्वेत्यस्य वैखानस ऋषिः । राजादयो गृहपतयो देवताः । भुरिक्त्रिपाद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । उपयामेत्यस्य स्वराडार्च्यनुष्टुप् छन्दः । अग्नेवर्चस्विन्नित्यस्य भुरिगार्च्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण तदेवाह ॥

फिर भी प्रकारान्तर से पूर्वोक्त विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

अग्ने पवस्व स्वपाऽअस्मे वर्चः सुवीर्य्यम् ।

दर्धद्रयिम्मयि पोषम् । उपयामगृहीतोस्यग्नये त्वा वर्चस एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे । अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वन्देवेष्वसि वर्चस्वानहम्मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३८ ॥

अग्ने । पर्वस्व । स्वपा इति सुऽअपाः । अस्मे इत्यस्मे । वर्चः । सुवीर्य्यमिति सुऽवीर्य्यम् । दधत् । रयिम् । मयि । पोषम् । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । अग्नये । त्वा । वर्चसे । एषः । ते । योनिः । अग्नये । त्वा । वर्चसे । अग्ने । वर्चस्विन् । वर्चस्वान् । त्वम् । देवेषु । असि । वर्चस्वान् । अहम् । मनुष्येषु । भूयासम् ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विज्ञानादिगुणप्रकाशक सभापते राजन् (पवस्व) शुन्ध (स्वपाः) शोभनान्यपांसि कर्म्माणि यस्य तद्वन् (अस्मे) अस्मभ्यम् (वर्चः) वेदाध्ययनम् (सुवीर्य्यम्) सुष्ठु वीर्य्यम्बलं यस्मात् (दधत्) धरन् सन् (रयिम्) धनम् (मयि) पालनीये जने (पोषम्) पुष्टिम् (उपयामगृहीतः) राज्यव्यवहाराय स्वीकृतः (असि) (अग्नये) विज्ञानमयाय न्यायव्यवहाराय (त्वा) त्वाम् (वर्चसे) तेजसे (एषः) (ते) तव (योनिः) राज्यभूमिर्निवासस्थितिः (अग्नये) विज्ञानमयाय परमेश्वराय (त्वा) त्वाम् (वर्चसे) स्वप्रकाशाय वेदप्रवर्त्तकाय (अग्ने) तेजोमय (वर्चस्विन्) बहु वर्चोऽध्ययनं विद्यते यस्मिन् (वर्चस्वान्) सर्वविद्याध्ययनयुक्तः (त्वम्) (देवेषु) विद्वद्-

व्येषु (असि) भवसि (वर्चस्वान्) प्रशस्तविद्याध्ययनः (अ- हम्) प्रजासभासेनाजनः (मनुष्येषु) मनस्विषु । मनुष्याः क- स्मान्मत्वा कर्माणि सीव्यंति मनस्यमानेन सृष्टा मनस्यतिः पुनर्म- नस्वीभावे मनोरपत्यम्मनुष्यो वा निरु० ३ । ७ । (भूयासम्) अ- यम्मंत्रः । शत० ४ । ४ । ५ । ९-१० व्याख्यातः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे स्वपा वर्चस्विन्नग्ने त्वमस्मे सुवीर्य्यं वर्चो मयि र- यिं पोषं च दधत् सन् पवस्व त्वमुपयामगृहीतोसि त्वां वर्चसे अ- ग्नये वयं स्वीकुर्म्मः । ते तव एष योनिस्त्वा वर्चसेऽग्नये सम्प्रेर- यामः । हे सभापते यथा त्वं देवेषु वर्चस्वानसि तथाहम्मनुष्येषु व- र्चस्वान् भूयासम् ॥ ३८ ॥

भावार्थः—राजादिसभ्यजनानामिदमुचितमस्ति मनुष्येषु स- र्वाः सद्विद्याः सद्गुणांश्च वर्द्धयेयुर्यतस्सर्वे श्रेष्ठगुणकर्मप्रचारेणोत्तमा भूयासुरिति ॥ ३८ ॥

पदार्थः—हे (स्वपाः) उत्तम २ काम तथा (वर्चस्विन्) सुन्दर प्रकार से वेदाध्ययन करने वाले (अग्ने) सभापति आप (अस्मे) हम लोगों के लिये (सुवी- र्यम्) उत्तम पराक्रम (वर्चः) वेद का पढ़ना तथा (मयि) निरन्तर रक्षा करने यो- ग्य असमदादि जन में (रयिम्) धन और (पोषम्) पुष्टि को (दधत्) धारण क- रते हुए (पवस्व) पवित्र कीजिए (उपयामगृहीतः) राज्य व्यवहार के लिये हम ने स्वीकार किये हुए (असि) आप हैं (त्वा) तुझको (वर्चसे) उत्तम तेज बल पराक्र- म के लिये (अग्ने) वा विज्ञानयुक्त परमेश्वर की प्राप्ति के लिये हम स्वीकार करते हैं (ते) तुम्हारा (एषः) यह (योनिः) राजभूमि निवास स्थान है (त्वा) तुझको (व- र्चसे) हम लोग अपने विद्या प्रकाश सब प्रकार सुख के लिये बार २ प्रत्येक कामों में प्रार्थना करते हैं । हे तेजधारी सभापते राजन् जैसे (त्वम्) आप (देवेषु) उत्तम २ विद्वानों में (वर्चस्वान्) प्रशंसनीय विद्याध्ययन करने वाले (असि) हैं वैसे (अहम्) मैं (मनुष्येषु) विचार शील पुरुषों में आप के सदृश (भूयासम्) होऊं ॥ ३८ ॥

भावार्थः—राजा आदि सभ्य जनों को उचित है कि सब मनुष्यों में उत्तम २ विद्या और अच्छे गुणों को बढ़ाते रहें जिससे समस्त लोग श्रेष्ठ गुण और कर्म प्रचार करने में उत्तम होवें ॥ ३८ ॥

उत्तिष्ठन्नित्यस्य वैखान ऋषिः । राजादयो गृहस्था देवताः । उत्तिष्ठन्नित्यस्योपेत्येतस्य चार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥ इन्द्रेत्यस्यार्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥

फिर भी उक्त विषय को अगले मंत्र में कहा है ॥

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रेऽअवेपयः सोममिन्द्र चमू सुतम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजस एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे । इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वन्देवेष्वस्योजिष्ठोहम्मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३९ ॥

उत्तिष्ठन्नित्युत्ऽतिष्ठन् । ओजसा । सह । पीत्वी । शिप्रेऽइति शिप्रे । अवेपयः । सोमम् । इन्द्र । चमू इति चमू । सुतम् । उपयामगृहीतऽइत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । ओजसे । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । ओजसे । इन्द्र । ओजिष्ठ । ओजिष्ठः । त्वम् । देवेषु । असि । ओजिष्ठः । अहम् । मनुष्येषु । भूयासम् ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(उत्तिष्ठन्) सद्गुणकर्मस्वभावेषूर्ध्वन्तिष्ठन् । (ओजसा) प्रशस्तशरीरात्मसभासेनाबलेन (सह) (पीत्वी) पीत्वा ।

स्नात्स्यादयश्च । अ० ७। १। ४९। इतीकारादेशः (शिप्रे) हनुप्रभृत्यङ्गानि । शिप्रे इत्युपलक्षणान्येषाञ्च शिप्रे हनुनासिके। निरु० ६। १७ (अवेपयः) वेपय। अत्र लोडर्थे लङ्। (सोमम्) ऐश्वर्यं सोमवल्ल्यादिरसं वा। (इन्द्र) ऐश्वर्य्याय द्रवन्। ऐश्वर्य्ये रममाण वा। इन्दवे द्रवतीति वेन्दौ रमत इति वा निरु० १०। ८ (चमू) सेनया। अत्र सुपां सुलुगिति तृतीयैकवचनस्य लुक् (सुतम्) सम्पादितम् (उपयामगृहीतः) (असि) (इन्द्राय) ऐश्वर्य्याय (त्वा) (ओजसे) पराक्रमाय (एषः) (ते) (योनिः) ऐश्वर्यकारणम् (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यप्रदाय राज्याय (त्वा) (ओजसे) अनन्तपराक्रमाय (इन्द्र) दुःखविदारक विद्वन् (ओजिष्ठ) अतिशयेनौजस्विन् (ओजिष्ठः) अतिपराक्रमी (त्वम्) (देवेषु) विजिगीषमाणेषु राजसु (असि) (ओजिष्ठः) अतिशयेन पराक्रमी (अहम्) (मनुष्येषु) (भूयासम्) अयं मन्त्रः। शत० ४।४।५।१०। व्याख्यातः ॥ ३९ ॥

अन्वयः-हे इन्द्र सभापते त्वं चमू सुतं सोमं पीत्वौजसा सहोत्तिष्ठन्सन् युद्धादिकर्मसु शिप्रे अवेपयः। अस्माभिस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि ते तवैष योनिरस्त्यतस्त्वां स्वस्थतयेन्द्रायौजसे परिचरामः। ओजस इन्द्राय परमेश्वराय त्वां प्रणोदयामः। हे ओजिष्ठेन्द्र यथा त्वं देवेष्वोजिष्ठोऽसि तथाऽहम्मनुष्येष्वोजिष्ठो भूयासम् ॥ ३९ ॥

भावार्थः—राजपुरुषाणां योग्यमस्ति भोजनाच्छादनादिपरिकरैश्शरीरबलमुन्नयेयुर्व्यभिचारादिदोषेषु कथंचिन्न प्रवर्त्तेरन् परमेश्वरोपासनं च यथोक्तव्यवहारेण कुर्य्युरिति ॥ ३९ ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य रखने वाले वा ऐश्वर्य में रमने वाले सभापति आप (चमू) सेना के साथ (सुतम्) उत्पादन किये हुए (सोमम्) सोम को (पीत्वी) पीके (ओजसा) शरीर आत्मा राजसभा और सेना के बल के (सह) साथ(उत्तिष्ठन्) अच्छे गुण कर्म और स्वभावों में उन्नति को प्राप्त होते हुए (शिप्रे) युद्धादि कर्मों में डाढ़ी और नासिका आदि अंगों को (अवेपयः) कम्पाओ अर्थात् यथा योग्यकामों में अङ्गों की चेष्टा करो। हम लोगों ने आप (उपयामगृहीतः) राज्य के नियम उपनियमों से ग्रहण किये (असि) हैं इस से (त्वा) आप को सावधानता से (इन्द्राय) परमैश्वर्य देने वाले जगदीश्वर की प्राप्ति के लिये सेवन करते हैं (ओजसे) अत्यन्त पराक्रम और (इन्द्राय) शत्रुओं के विदारण के लिये (त्वा) आप को प्रेरणा करते हैं। हे (ओजिष्ठ) अत्यन्त तेजधारी जैसे (त्वम्) आप (देवेषु) शत्रुओं को जीतने की इच्छा करने वालों में (ओजिष्ठः) अत्यन्त पराक्रम वाले (असि) हैं वैसे ही मैं भी (मनुष्येषु) साधारण मनुष्यों में (भूयासम्) होऊं ॥ ३९ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को यह योग्य है कि भोजन वस्त्र और खाने पीने के पदार्थों से शरीर के बल को उन्नति देवें किन्तु व्यभिचारादि दोषों में कभी न प्रवृत्त होवें और परमेश्वर की उपासना भी यथोक्त व्यवहारों में करें॥ ३९ ॥

अदृश्रमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः। गृहपतयो राजादयो देवताः। अदृश्रमित्यस्य सूर्य्येत्यस्य चार्षी गायत्री। उपयामगृहीतोसीत्यस्य स्वराडार्षी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण तदेवाह ॥

फिर भी प्रकारान्तर से पूर्वोक्त विषय ही अगले मंत्र में कहा है ॥

अदृश्रमस्य केतवो वि र॒श्मयो॒ जनाँ॒२॥ अनु॑ भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॑ यथा। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ सूर्य्या॑य

त्वा भ्राजायैषते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय। सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहम्मनुष्येषु भूयासम् ॥ ४० ॥

अदृश्रम्। अस्य। केतवः। वि। रश्मयः। जनान्। अनु। भ्राजन्तः। अग्नयः। यथा। उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। सूर्याय। त्वा। भ्राजाय। एषः। ते। योनिः। सूर्याय। त्वा। भ्राजाय। सूर्य। भ्राजिष्ठ। भ्राजिष्ठः। त्वम्। देवेषु। असि। भ्राजिष्ठः। अहम्। मनुष्येषु। भूयासम् ॥ ४० ॥

पदार्थः—(अदृश्रम्) पश्येयम्। अत्र लिङर्थे लुङ्। उत्तमैकवचनप्रयोगो बहुलं छन्दसीति रुडागमः। ऋदृशोऽङि गुण इति प्राप्तौ गुणाभावश्च (अस्य) जगतः (केतवः) ज्ञापकाः (वि) विशेषेण (रश्मयः) किरणाः (जनान्) मनुष्यादीन् प्राणिनः। (अनु) (भ्राजन्तः) प्रकाशमानाः (अग्नयः) सूर्यविद्युत्प्रसिद्धास्त्रयः (यथा) (उपयामगृहीतः) (असि) (सूर्याय) सूर्य इव विद्यादिसद्गुणैः प्रकाशमानाय (त्वा) (भ्राजाय) जीवनादिप्रकाशाय (एषः) (ते) (योनिः) (सूर्याय) चराचरात्मने जगदीश्वराय(त्वा) (भ्राजाय) सर्वत्र प्रकाशमानाय (सूर्य) सूर्यस्येव न्यायविद्यासु प्रकाशमान (भ्राजिष्ठ) अतिशयेन

सुशोभित (भ्राजिष्ठः) (त्वम्) (देवेषु) अखिलविद्यासु प्रकाशमाने-षु विद्वत्सु (असि) (भ्राजिष्ठः) (अहम्) (मनुष्येषु) विद्यान्यायाचरणे प्रकाशमानेषु मानवेषु (भूयासम्) अयम्मंत्रः शत० ४ । ४ । ५ । ११–१२ व्याख्यातः ॥ ४० ॥

अन्वयः—यथाऽस्य जगतः पदार्थान् भ्राजन्तो रश्मयः केतवोऽग्नयस्सन्ति तथैव जनानन्वहमदृश्रम् । त्वमुपयामगृहीतोऽसि यस्य ते तवैष योनिरस्तितं त्वां भ्राजाय सूर्याय प्रचोदयामि । तं त्वां भ्राजाय सूर्याय परमात्मने नियोजयामि । हे भ्राजिष्ठ सूर्य्य यथा त्वं देवेषु भ्राजिष्ठोऽसि तथाऽहम्मनुष्येषु भूयासम् ॥ ४० ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः—यथेह सूर्य्यकिरणाः सर्वत्र प्रसृताः प्रकाशंते तथा राजप्रजासभाजनाश्शुभगुणकर्म्मस्वभावेषु प्रकाशमानास्सन्तु कुतो नहि मनुष्यशरीरं प्राप्य कस्य चिदुत्साह पुरुषार्थसत्पुरुषसंगयोगाभ्यासाचरितस्य जनस्य धर्म्मार्थकाममोक्ष-सिद्धिः शरीरात्मसमाधानानि च दुर्लभानि तस्मात्सर्वैरालस्यं त्यक्त्वा नित्यं प्रयतितव्यम् ॥ ४० ॥

पदार्थः—जैसे (अस्य) इस जगत् के पदार्थों में (भ्राजन्तः) प्रकाश को प्राप्त हुई (रश्मयः) कान्ति (केतवः) वा उन पदार्थों को जनाने वाले (अग्नयः) सूर्य्य विद्युत् और प्रसिद्ध अग्नि हैं वैसे ही (जनान्) मनुष्यों को (अनु) एक अनुकूलता के साथ (अदृश्रम्) मैं दिखलाऊं हे सभापते आप (उपयामगृहीतः) राज्य के नियम और उपनियमों से स्वीकार किये हुए (असि) हैं जिन (ते) आपका (एषः) यह राज्य कर्म्म (योनिः) ऐश्वर्य्य का कारण है उन (त्वा) आप को (भ्राजाय) मिलाने वाले (सूर्य्याय) प्राण के लिये चिताता हूं तथा उन्हीं आप को (भ्राजाय) सर्वत्र प्रकाशित (सूर्य्याय) चराचरात्मा जगदीश्वर के लिये भी नियोजता हूं । हे (भ्राजिष्ठ)

अति पराक्रम से प्रकाशमान (सूर्य्य) सूर्य्य के समान सत्य विद्या और गुणों से प्रकाशमान जैसे (त्वम्) आप (देवेषु) समस्त विद्याओं से युक्त विद्वानों में प्रकाशमान (भ्राजिष्ठः) अत्यन्त प्रकाशित हैं वैसे मैं भी (मनुष्येषु) साधारण मनुष्यों में (भूयासम्) प्रकाशमान होऊं ॥ ४० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे इस संसार में सूर्य्य की किरण सब जगह फैल के प्रकाश करती हैं वैसे राजा प्रजा और सभासद जन शुभ गुण कर्म्म और स्वभावों में प्रकाशमान हों क्योंकि ऐसा है कि मनुष्य शरीर पाकर किसी उत्साह पुरुषार्थ सत्पुरुषों का संग और योगाभ्यास का आचरण करते हुए मनुष्य को धर्म्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि तथा शरीर आत्मा और समाज की उन्नति करना दुर्लभ नहीं है इस से सब मनुष्यों को चाहिये कि आलस्य को छोड़ के नित्य प्रयत्न किया करें ॥ ४० ॥

उदुत्यमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः। सूर्य्यो देवता। पूर्वस्य निचृदार्षी। उपयामेत्यस्य स्वराडार्षी गायत्री च छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथेश्वरपक्षे गृहस्थकर्म्माह ॥

अब ईश्वर पक्ष में गृहस्थ के कर्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

उदु॒ त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं व॑हन्ति के॒तवः॑। दृ॒शे विश्वा॑य॒ सूर्य॑म्। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जायै॒ष ते॒ योनिः॒ सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जाय॑॥ ४१ ॥

उत्। ऊँ इत्यूँ। त्यम्। जा॒तवे॑दस॒मिति॑ जा॒तऽवे॑दसम्। दे॒वम्। व॒हं॒ति। के॒तवः॑। दृ॒शे। विश्वा॑य। सूर्य्य॑म्। उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः। अ॒सि॒। सूर्य्या॑य। त्वा॒। भ्रा॒जाय॑। ए॒षः। ते॒। योनिः॑। सूर्य्या॑य। त्वा॒। भ्रा॒जाय॑ ॥ ४१ ॥

पदार्थः— (उत) (उ) वितर्के (त्यम्) अमुम् (जातवेदसम्) यो जातान् वेत्ति विन्दते वा जाता वेदसो वेदाः पदार्था वा यस्मात्तम् (देवम्) शुद्धस्वरूपम् (वहन्ति) प्रापयन्ति (केतवः) किरणा इव प्रकाशमाना विद्वांसः (दृशे) द्रष्टुम् (विश्वाय) सर्वजगदुपकाराय (सूर्यम्) चराचरात्मानमीश्वरम् (उपयामगृहीतः) उपगतैर्यामैर्यमैः स्वीकृतः (असि) (सूर्याय) प्राणाय सवित्रे वा (त्वा) त्वाम् (भ्राजाय) प्रकाशकाय (एषः) कार्यकारणसंगत्या यदनुमीयते (ते) तव (योनिः) असमं प्रमाणम् (सूर्याय) ज्ञानसूर्यस्य प्राप्तये (त्वा) त्वाम् (भ्राजाय) अयं मंत्रः शत० ४।३।१।१८ व्याख्यातः ॥४१॥

अन्वयः—यं जातवेदसं देवं सूर्यं जगदीश्वरं विश्वाय दृशे केतवो विद्वांस उद्वहन्तु त्वं जगदीश्वरं वयं प्राप्नुयाम। हे जगदीश्वर यस्त्वमस्माभिर्भ्राजाय सूर्यायोपयामगृहीतोऽसि तं त्वा त्वां सर्वे तदर्थं गृह्णन्तु यस्य ते तवैष योनिरस्ति तं त्वां भ्राजाय सूर्याय कारणं विजानीमः ॥ ४१ ॥

भावार्थः—यथा वेदविदो विद्वांसो वेदाऽनुकूलमार्गेण परमेश्वरं विज्ञाय श्रेष्ठविज्ञानेन तदुपासनं कुर्वन्ति तथैव स ईश्वरः सर्वैरुपासनीयः। न तादृशेन ज्ञानेन विनेश्वरोपासना भवितुं शक्या कुतो विज्ञानमेव परमेश्वरोपासनावधिरिति ॥ ४१ ॥

पदार्थः— (जातवेदसम्) जो उत्पन्न हुए पदार्थों को जानता वा प्राप्त कराता वा वेद और संसार के पदार्थ जिससे उत्पन्न हुए हैं (देवम्) शुद्ध स्वरूप जगदीश्वर जिसको (विश्वाय) संसार के उपकार के लिये (दृशे) ज्ञान चक्षु से

देखने को (केतवः) किरणों के तुल्य सर्व अंशों में प्रकाशमान विद्वान् (उत्) (वहन्ति) अपने उत्कर्ष से वादानुवाद कर व्याख्यान करते हैं (उ) तर्क वितर्क के साथ (त्यम्) उस जगदीश्वर को हम लोग प्राप्त हों । हे जगदीश्वर जो आप हम लोगों ने (भ्राजाय) प्रकाशमान अर्थात् अत्यन्त उत्साह और पुरुषार्थयुक्त (सूर्याय) प्राण के लिये (उपयामगृहीतः) यम नियमादि योगाभ्यास उपासना आदि साधनों से स्वीकार किये हुए (असि) हैं उन (त्वा) आपको उक्त कामना के लिये समस्त जन स्वीकार करें और हे ईश्वर जिन (ते) आपका (एषः) यह कार्य्य और कारण की व्याप्ती से एक अनुमान होना (योनिः) अनुपम प्रमाण है उन (त्वा) आपको (भ्राजाय) प्रकाशमान (सूर्याय) ज्ञान रूपी सूर्य को पाने के लिये एक कारण जानते हैं ॥ ४१ ॥

भावार्थः—जैसे वेद के वेत्ता विद्वान् लोग वेदानुकूल मार्ग से परमेश्वर को जानकर उत्तम ज्ञान से उसका सेवन करते हैं वैसे ही वह जगदीश्वर सब को उपासनीय अर्थात् सेवन करने के योग्य है वैसे ज्ञान के विना ईश्वर की उपासना कभी नहीं हो सक्ती क्योंकि विज्ञान ही उसकी अवधि है ॥ ४१ ॥

आजिघ्रेत्यस्य कुसुरुबिन्दु ऋषिः । पत्नी देवता । स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ गृहस्थकर्म्मणि पत्न्युपदेशविषयमाह ॥

अब गृहस्थ के कर्म्म में स्त्री के उपदेश विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

आ जिघ्र कुलशंम्मह्या त्वां विशन्त्विन्दंवः । पुनंरूर्जा नि वर्त्तस्व सा नंः सहस्रं धुक्ष्वोरुधांरा पयंस्वती पुनर्मा विंशताद्रयिः ॥ ४२ ॥

आ । जिघ्र । कुलशंम् । महि । आ । त्वा । विशन्तु । इन्दंवः । पुनः । ऊर्जा । नि । वर्त्तस्व । सा ।

नः । सहस्रम् । धुक्ष्व । उरुधारेत्युरुऽधारा । पयस्वती । पुनः । मा । आ । विशतात् । रयिः ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(आ) (जिघ्र) (कलशम्) नूतनं घटम् (महि) महागुणविशिष्टे पत्नि (आ) (त्वा) (विशन्तु) (इन्दवः) सोमाद्योषधिरसाः (पुनः) (ऊर्जा) पराक्रमेण (नि) (वर्त्तस्व) (सा) (नः) अस्मान् । (सहस्रम्) असंख्यम् (धुक्ष्व) प्रपूर्द्धि (उरुधारा) उर्वी धारा विद्यासुशिक्षाधारणा यस्याः सा (पयस्वती) प्रशस्तानि पयांस्यन्नान्युदकानि वा यस्यां सा (पुनः) (मा) माम् (आ) विशतात् (रयिः) धनम् । अयम्मंत्रः शत० ९ । ४ । ८ । ६-९ ॥ व्याख्यातः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे महि पत्नि या त्वमुरुधारा पयस्वत्यसि सा गृहस्थशुभकर्म्मसु कलशमाजिघ्र पुनस्त्वा त्वां सहस्रमिन्दव आविशन्तु पुनरूर्जा नोऽस्मान् धुक्ष्व पुनर्म्मा मां रयिराविशतात् । यतस्त्वं दुःखान्निवर्त्तस्व ॥ ४२ ॥

भावार्थः--विदुषीणां स्त्रीणां योग्यताऽस्ति । यादृशान् सुपरीक्षितान्पदार्थान् स्वयं भुञ्जीरन् तादृशानेव पत्ये दद्युः । यतोबुद्धिबलविद्यावृद्धिः स्यात् । धनादि पदार्थानामुन्नतिं च कुर्य्युः ॥ ४२ ॥

पदार्थः—हे (महि) प्रशंसनीय गुणवाली स्त्री जो तू (उरुधारा) विद्या और अच्छी २ शिक्षाओं को अत्यन्त धारण करने (पयस्वती) प्रशंसित अन्न और जल रखने वाली है वह गृहाश्रम के शुभ कामों में (कलशम्) नवीन घट का

(आजिघ्र) आघ्राण कर अर्थात् उस को जल से पूर्ण कर उस की उत्तम सुगन्धि को प्राप्त हो (पुनः) फिर (त्वा) तुझे (सहस्रम्) असंख्यात (इन्दवः) सोम आदि ओषधियों के रस (आविशन्तु) प्राप्त हों जिस से तू दुःख से (निवर्त्तस्व) दूर रहे अर्थात् कभी तुझ को दुःख न प्राप्त हो । तू (ऊर्जा) पराक्रम से (नः) हम को (धुक्ष्व) परिपूर्ण कर (पुनः) पीछे (मा) मुझे (रयिः) धन (आविशतात्) प्राप्त हो ॥ ४२ ॥

भावार्थः—विद्वान् स्त्रियों को योग्य है कि अच्छी परीक्षा किए हुए पदार्थ को जैसे आप खावें वैसे ही अपने पति को भी खिलावें कि जिस से बुद्धि बल और विद्या की वृद्धि हो और धनादि पदार्थों को भी बढ़ाती रहे ॥ ४२ ॥

इडेरन्त इत्यस्य कुसुरुविन्दुर्ऋषिः । पत्नी देवता । आर्षीपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण तदेवाह ॥

फिर भी प्रकारान्तर से उसी विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति । एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ ४३ ॥

इडे । रन्ते । हव्ये । काम्ये । चन्द्रे । ज्योते । अदिते । सरस्वति । महि । विश्रुतीति । विऽश्रुति । एता । ते । अघ्न्ये । नामानि । देवेभ्यः । मा । सुकृतमिति सुऽकृतम् । ब्रूतात् ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(इडे) स्तोतुमर्हे (रन्ते) रमणीये (हव्ये) स्वीकर्तुमर्हे (काम्ये) कमनीये (चन्द्रे) आह्लादकारके (ज्योते) सुशीलेन द्योतमाने (अदिते) आत्मस्वरूपेणाविनाशिनि (सरस्वति) प्रशस्तं सरो विज्ञानं विद्यते यस्यास्तत्सम्बुद्धौ (महि) पूज्यतमे (विश्रुति) विविधाः श्रुतयः श्रवणानि यस्याः तद्वति (एता) एतानि (ते) तव (अघ्न्ये) हन्तुं तिरस्कर्तुमयोग्ये (नामानि) गौणिक्य आख्याः (देवेभ्यः) । दिव्यगुणेभ्यो दिव्यगुणयुक्तपतिभ्यः (मा) माम् (सुकृतम्) सुष्ठु कर्त्तव्यं कर्म (ब्रूतात्) ब्रूहि । अयं मंत्रः शत० ४ । ४ । ८ । १० व्याख्यातः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—हे अघ्न्येऽदिते ज्योते इडे हव्ये काम्ये रन्ते चन्द्रे विश्रुति महि सरस्वति पत्नि यान्येता नामानि सन्ति त्वं देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—या विद्वद्भ्यः शिक्षां प्राप्तवती विदुषी स्त्री सा यथोक्तयाशिक्षया शिक्षेत् । एतास्सर्वा अधर्ममार्गे न प्रवर्त्तेरन् । परस्परं विद्यावृद्धिं स्वतनयान्कन्याश्च शिक्षिताः कुर्युः ॥ ४३ ॥

पदार्थः—हे (अघ्न्ये) ताड़ना न देने योग्य (अदिते) आत्मा से विनाश को प्राप्त न होने वाली (ज्योते) श्रेष्ठ शील से प्रकाशमान (इडे) प्रशंसनीय गुण युक्त (हव्ये) स्वीकार करने योग्य (काम्ये) मनोहर स्वरूप (रन्ते) रमण करने योग्य (चन्द्रे) अत्यन्त आनन्द देने वाली (विश्रुति) अनेक अच्छी बातें और वेद जानने वाली (महि) अत्यन्त प्रशंसा करने योग्य (सरस्वति) प्रशंसित विज्ञान वाली पत्नी उक्त गुण

प्रकाश करने वाले (ते) तेरे (एता) ये (नामानि) नाम हैं तू (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (मा) मुझ को (सुकृतम्) उत्तम उपदेश (ब्रूतात्) किया कर ॥४३॥

भावार्थः—जो विद्वानों से शिक्षा पाई हुई स्त्री हो वह अपने २ पति और अन्य सब स्त्रियों को यथायोग्य उत्तम कर्म सिखलावे जिस से किसी तरह वे अधर्म की ओर न डिगें वे दोनों स्त्री पुरुष विद्या की वृद्धि और बालकों तथा कन्याओं को शिक्षा किया करें ॥ ४३ ॥

विनइत्यस्य शासऋषिः । इन्द्रो देवता । भुरिगनुष्टुपछन्दः । गान्धारः स्वरः । उपयामेत्यस्य विराडार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

सिंहावलोकन्यायेन गृहस्थ धर्मे राजपक्षे किंचिदाह ॥

अब सिंह जैसे पीछे लौटकर देखता है इस प्रकार गृहस्थ कर्म के निमित्त राज पक्ष में कुछ उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । योऽअस्माँ२॥ ऽअभिदासत्यधरं गमया तमः । उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा विमृध एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे ॥ ४४ ॥

वि । नः । इन्द्र । मृधः । जहि । नीचा । यच्छ । पृतन्यतः । यः । अस्मान् । अभिदासतीत्यभिऽदासति । अधरम् । गमय । तमः । उपयामगृहीतऽइत्युपयामऽगृहीतः । असि । विमृधऽइतिविऽमृधे । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । विमृधइतिविऽमृधे ॥४४॥

पदार्थः--(वि) विशेषेण (नः) अस्माकम् (इन्द्र) सेनाध्यक्ष (मृधः) शत्रून् (जहि) (नीचा) दुष्टकारिणः (यच्छ) निगृह्णीहि (पृतन्यतः) आत्मनः सेनामिच्छतः (यः) (अस्मान्) (अभिदासति) सर्वत उपक्षयति । दसु उपक्षये । अत्र वर्णव्यत्ययेनाकारस्य स्थान आकारः (अधरम्) अधोगतिम् (गमय) अत्र संहितायामिति दीर्घः (तमः) अन्धकारं (उपयामगृहीतः) सेनादिसामग्रीसंगृहीतः (असि) (इन्द्राय) ऐश्वर्यप्रदाय (त्वा) (विमृधे) विशिष्टा मृधः शत्रवो यस्मिंस्तस्मै संग्रामाय (एषः) (ते) (योनिः) (इन्द्राय) परमानन्दप्राप्तये (त्वा) त्वाम् (विमृधे) विगतशत्रवे । अयमन्त्रः श० ४ । ५ । ६ । ४ । व्याख्यातः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र सेनापते त्वं नोऽस्माकं विमृधो जहि । पृतन्यतो नीचा नीचान् यच्छ । यः शत्रुरस्मानभिदासति तं तमस्सूर्य्ये इवाधरं गमय यस्य ते तवैष योनिरस्ति स त्वमस्माभिरुपयामगृहीतोऽसि । अत एवेन्द्राय विमृधे त्वां स्वीकुर्म्मो विमृध इन्द्राय त्वा नियोजयामश्च ॥ ४४ ॥

भावार्थः—यो दुष्टकर्मशीलपुरुषोऽनेकधा बलमुन्नीय सर्वान्पीडयितुमिच्छति तं राजा सर्वथा दण्डयेत् । यदि स प्रबलतरोपाधिशीलतां न त्यजेत्तर्हि राष्ट्रादेनं दूरं गमयेद्विनाशयेद्वा ॥४४॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) सेनापते तू (नः) हमारे (पृतन्यतः) हम से युद्ध करने के लिये सेना की इच्छा करने हारे शत्रुओं को (जहि) मार और उन (नीचा) नीचों को (यच्छ) वश में ला और जो शत्रुजन (अस्मान्) हमलोगों को (अभिदास-

ति) सब प्रकार दुःख देवे उस (विमृधः) दुष्ट को (तमः) जैसे अन्धकार को सूर्य्य नष्ट करता है वैसे (अधरम्) अधोगति को (गमय) प्राप्त कर जिस (ते) तेरा (एषः) उक्त कर्म्म करना (योनिः) राज्य का कारण है इस से (उपयामगृहीतः) सेना आदि सामग्री से ग्रहण किया हुआ (असि) है इसी से (त्वा) तुझ को (विमृधः) जिस में बड़े २ युद्ध करने वाले शत्रुजन हैं (इन्द्राय) ऐश्वर्य्य देने वाले उस युद्ध के लिये स्वीकार करते हैं (त्वा) तुझ को (विमृधे) जिस के शत्रु नष्ट होगये हैं उस (इन्द्राय) उस राज्य के लिये प्रेरणा देते हैं अर्थात् अधर्म्म से अपना वर्त्ताव न वर्ते ॥ ४४ ॥

भावार्थः—जो खोटे काम करने वाला पुरुष अनेक प्रकार से अपने बल को उन्नति देकर सब को दुःख देना चाहे उस को राजा सब प्रकार से दण्ड दे तो भी वह अपनी अत्यन्त खोटाइयों को न छोड़े तो उस को मार डाले अथवा नगर से इस को दूर निकाल बन्ध रक्खे ॥ ४४ ॥

वाचस्पतिमित्यस्य शास ऋषिः । ईश्वरसभेशौ राजानौ देवते । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । उपयामेत्यस्य स्वराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । आद्यस्य धैवतः परस्य गान्धारः स्वरश्च ॥

अथ गृहस्थकर्म्मणि राजविषयमीश्वरविषयं चाह ॥

अब गृहस्थ कर्म्म में राजा और ईश्वर का विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम । स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशंम्भूरवसे साधुकर्म्मा । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्म्मण एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्म्मणे ॥४५॥

वाचः । पतिम् । विश्वकर्म्माणमिति विश्वऽकर्म्माणम् । ऊतये । मनोजुवमिति मनःऽजुवम् । वाजे । अद्य । हुवेम । सः । नः । विश्वानि । हवनानि । जोषत् ।

विश्वशम्भुरिति विश्वऽशम्भूः । अवसे । साधुकर्मेति साधुऽकर्म्मा । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । विश्वकर्म्मणऽइति विश्वऽकर्म्मणे । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । विश्वकर्म्मणऽइति विश्वऽकर्म्मणे ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(वाचः) देववाण्याः (पतिम्) स्वामिनं पालकं वा (विश्वकर्म्माणम्) विश्वानि सर्वाणि धर्म्माणि कर्म्माणि यस्य तम् (ऊतये) रक्षणाय (मनोजुवं) मनोगतिम् (वाजे) विज्ञाने युद्धे वा (अद्य) अस्मिन्नहनि निपातस्येति दीर्घः । (हुवेम) आह्वयेम (सः) (नः) अस्माकम् (विश्वानि) अखिलानि (हवनानि) प्रार्थनावाग्दत्तानि (जोषत्) जुषेत । अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम् (विश्वशम्भूः) विश्वं सर्वं शं सुखं भावयति (अवसे) प्रीतये (साधुकर्म्मा) साधूनि श्रेष्ठानि कर्म्माणि यस्य (उपयामगृहीतः) (असि) (इन्द्राय) ऐश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (विश्वकर्म्मणे) अखिलकर्मणोत्पादनाय (एषः) (ते) (योनिः) (इन्द्राय) शिल्पविद्यैश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (विश्वकर्म्मणे) अखिलकर्म्मसाधनाय । अयं मन्त्रः श० ४ । ५ । ६ । ५ व्याख्यातः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—वयमद्य वाजऊतये यं वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणं मनोजुवं हुवेम । यः साधुकर्म्मा विश्वशम्भूः समापतिर्नोऽवसे विश्वानि हवनानि जोषत् । यस्य ते तवैष योनिरस्ति यस्त्वमुपयाम-

गृहीतोऽस्यतस्त्वां विश्वकर्म्मण इन्द्राय हुवेम विश्वकर्म्मण इन्द्राय त्वां सेवेमहि चेत्युपाशिलष्टोऽन्वयार्थः ॥ ४५ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालं०—यः परमेश्वरो न्यायाधीशो वाऽस्मदनुष्ठितानि कर्म्माणि विदित्वा तदनुसारेणास्मान्नियच्छति । यः कस्याप्यकल्याणमधर्म्मकं कर्म च न करोति ययोः सहायेन मनुष्यो योगमोक्षव्यवहारविद्याः प्राप्य धर्म्मशीलो जायेत । स एवास्माभिः परमार्थव्यवहारसिद्धये सेवनीयोऽस्ति ॥ ४५ ॥

पदार्थः—हम (अद्य) अब (वाजे) विज्ञान वा युद्ध के निमित्त जिन (वाचः) वेदवाणी के स्वामी वा रक्षा करने वाले (विश्वकर्म्माणम्) जिन के सब धर्म्मयुक्त कर्म्म हैं जो (मनोजुवम्) मन चाहती गति का जानने वाला है उस परमेश्वर वा सभापति को (हुवेम) चाहते हैं सो आप (साधुकर्म्मा) अच्छे २ कर्म्म करने वाले (विश्वशम्भूः) समस्त सुख को उत्पन्न कराने वाले जगदीश्वर वा सभापति (नः) हमारे (अवसे) प्रेम बढ़ाने के लिये (विश्वानि) (हवनानि) दिये हुये सब प्रार्थनावचनों को (जोषत्) प्रेम से मानें जिन (ते) आप का (एषः) यह उक्त कर्म्म (योनिः) एक प्रेमभाव का कारण है वे आप (उपयामगृहीतः) यमनियमों से ग्रहण किये हुए (असि) हैं इस से (विश्वकर्म्मणे) समस्त कामों के उत्पन्न करने तथा (इन्द्राय) ऐश्वर्य्य के लिये (त्वा) आप की प्रार्थना तथा (विश्वकर्म्मणे) समस्त काम की सिद्धि के लिये शिल्पक्रिया कुशलता से उत्तम ऐश्वर्य्य वाले आप का सेवन करते हैं ॥ ४५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालं०—जो परमेश्वर वा न्यायाधीश सभापति हमारे किये हुए कामों को जान कर उन के अनुसार हम को यथायोग्य नियमों में रखता है जो किसी को दुःख देने वाले छल कपट के काम को नहीं करता जिस परमेश्वर वा सभापति के सहाय से मनुष्य मोक्ष और व्यवहारसिद्धि को पाकर धर्म्म शील होता है वही ईश्वर परमार्थसिद्धि वा सभापति व्यवहार सिद्धि के निमित्त हम लोगों को सेवने योग्य है ॥ ४५ ॥

विश्वकर्म्मन्नित्यस्य शास ऋषिः । विश्वकर्मेन्द्रो देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः । उपयामेत्यस्य विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ राजधर्ममुपदिशति ॥

अब अगले मन्त्र में राजधर्म का उपदेश किया है ॥

विश्व॑कर्म्मन्ह॒विषा॒ वर्द्ध॑नेन त्रा॒तार॒मिन्द्र॑मकृणोरव॒ध्यम् । तस्मै॒ विशः॒ सम॑नमन्त पू॒र्वीर॒यमु॒ग्रो वि॒हव्यो॒ यथास॑त् । उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा वि॒श्वक॑र्म्मण ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा वि॒श्वक॑र्मणे ॥४६॥

विश्व॑कर्म॒न्निति॒ विश्व॑ऽकर्मन् । ह॒विषा॑ । वर्द्ध॑नेन । त्रा॒तार॑म् । इन्द्र॑म् । अ॒कृ॒णोः॒ । अ॒व॒ध्यम् । तस्मै॑ । विशः॑ । सम् । अ॒न॒म॒न्त॒ । पू॒र्वीः । अ॒यम् । उ॒ग्रः । वि॒हव्य॒ इति॑ वि॒ऽहव्यः॑ । यथा॑ । अस॑त् । उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । इन्द्रा॑य । त्वा॒ । वि॒श्वक॑र्मण॒ इति॑ वि॒श्वऽक॑र्मणे । ए॒षः । ते॒ । योनिः॑ । इन्द्रा॑य । त्वा॒ । वि॒श्वक॑र्मण॒ इति॑ वि॒श्वऽक॑र्मणे ॥४६॥

पदार्थः—(विश्वकर्म्मन्) अखिलसाधुकर्मयुक्त (हविषा) आदातव्येन (वर्द्धनेन) वृद्धिनिमित्तेन न्यायेन सह (त्रातारम्) रक्षितारम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्यप्रदम् (अकृणोः) कुर्य्याः (अवध्यम्) हन्तुमनर्हम् (तस्मै) (विशः) प्रजाः (सम्) (अ-

नमन्त) नमन्ते । लडर्थे लुङ् । (पूर्वीः) प्राक्तनैर्धार्मिकैः प्राप्तशिक्षाः । अत्र पूर्वसवर्णादेशः (अयम्) सभाधिकृतः (उग्रः) दुष्टदलने तेजस्वी (विहव्यः) विविधानि हव्यानि साधनानि यस्य (यथा) (असत्) भवेत् (उपयामगृहीतः) इत्यादि पूर्ववत् । अयं मन्त्रः श० ४ । ५ । ६ । ६ व्याख्यातः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे विश्वकर्मंस्त्वं वर्द्धनेन हविषा यमवध्यमिन्द्रं त्रातारमकृणोस्तस्मै पूर्वीर्विशः समनमन्त यथायमुग्रो विहव्योऽसत्तथा विधेहि । उपयामेत्यस्यान्वयः पूर्ववद्योजनीयः ॥ ४६ ॥

भावार्थः—अस्मिन्संसारे केचिदपि सर्वजगद्रक्षितारमीश्वरं सभाध्यक्षं च नैव तिरस्कुर्युः । किन्तु तदनुमतौ वर्त्तेरन् । न प्रजाविरोधेन कश्चिद्राजापि समृध्नोति नचैतयोराश्रयेण विना प्रजा धर्म्मार्थकाममोक्षसाधकानि कर्म्माणि कर्त्तुंशक्नुवन्ति तस्मादेतावीश्वरमाश्रित्य परस्परोपकाराय धर्म्मेण वर्त्तेयाताम् ॥ ४६ ॥

पदार्थः—हे (विश्वकर्म्मन्) समस्त अच्छे काम करने वाले जन आप (वर्द्धनेन) वृद्धि के निमित्त (हविषा) ग्रहण करने योग्य विज्ञान से (अवध्यम्) जिस दुर्व्यसन और अधर्म्म से रहित (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य्य देने तथा (त्रातारम्) समस्त प्रजा जनों की रक्षा करने वाले सभापति को (अकृणोः) कीजिये कि (तस्मै) उसे (पूर्वीः) प्राचीन धार्म्मिक जनों ने जिन प्रजाओं को शिक्षा दी हुई है वे (विशः) प्रजाजन (समनमन्त) अच्छे प्रकार मानें जैसे (अयम्) यह सभापति (उग्रः) दुष्टों को दण्ड देने को अच्छे प्रकार चमत्कारी और (विहव्यः) अनेक प्रकार के राज्य साधन पदार्थ अर्थात् शस्त्र आदि रखने वाला (असत्) हो वैसे प्रजा भी इस के साथ वर्त्तें ऐसी युक्ति कीजिये (उपयामगृहीतः) यहां से ले कर मंत्र का पूर्वोक्तही अर्थ जानना चाहिये ॥ ४६ ॥

भावार्थः—इस संसार में मनुष्य सब जगत् की रक्षा करने वाले ईश्वर तथा सभाध्यक्ष को न भूलें किन्तु उन की अनुमति में सब कोई अपना २ वर्त्ताव रक्खें प्रजा के विरोध से कोई राजा भी अच्छी ऋद्धि को नहीं पहुंचता और ईश्वर वा राजा के बिना प्रजा जन धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष के सिद्ध करने वाले काम भी नहीं कर सकते इस से प्रजा जन और राजा ईश्वर का आश्रय कर एक दूसरे के उपकार में धर्म्म के साथ अपना वर्त्ताव रक्खें ॥ ४६ ॥

उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य शास ऋषिः। विश्वकर्मेन्द्रो देवता। विराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण तदेवाह ॥

फिर भी प्रकारान्तर से उसी विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसङ्गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णाम्यनुष्टुप्तेऽभिगरः ॥ ४७ ॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। अग्नये। त्वा। गायत्रछन्दसमिति गायत्रऽछन्दसम्। गृह्णामि। इन्द्राय। त्वा। त्रिष्टुप्छन्दसम्। त्रिस्तुप्छन्दसमिति त्रिस्तुप्ऽछन्दसम्। गृह्णामि। विश्वेभ्यः। त्वा। देवेभ्यः। जगच्छन्दसमिति जगत्ऽछन्दसम्। गृह्णामि। अनुष्टुप्। अनुस्तुबित्यनुऽस्तुप्। ते। अभिगरऽइत्यभिऽगरः ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) साङ्गोपाङ्गसाधनैः स्वीकृतः (अग्नये) अग्न्यादिपदार्थविज्ञानाय (त्वा) त्वाम् (गायत्रछन्दसम्) गायत्रीछन्दोर्थविज्ञापकम् (गृह्णामि) वृणोमि (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्तये (त्वा) त्वाम् (त्रिष्टुप्छन्दसम्) त्रिष्टुप्छन्दोऽर्थबोधयितारम् (गृह्णामि) (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) दिव्यगुणकर्मस्वभावेभ्यः (जगच्छन्दसम्) जगच्छन्दोऽवगमकम् (गृह्णामि) (अनुष्टुप्) अनुष्टोमते स्तम्भात्यज्ञानं यः (ते) तव (अभिगरः) अभिगतस्तवः । अयं मंत्रः शत० ११ । ४ । ३ । ७ व्याख्यातः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे विश्वकर्म्मन्नहं यस्य तेऽनुष्टुबभिगरोऽस्ति तं गायत्रच्छन्दसं त्वाग्नये गृह्णामि त्रिष्टुप्छन्दसं त्वेन्द्राय गृह्णामि जगच्छन्दसं त्वा विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णामि । एतदर्थमस्माभिस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि ॥ ४७ ॥

भावार्थः—अत्र मन्त्रे पूर्वस्मान्मन्त्राद्विश्वकर्म्मन्निति पदमनुवर्त्तते मनुष्यैरग्न्यादिविद्यासाधनक्रियाविज्ञापकानां गायत्र्यादिछन्दोन्वितानामृग्वेदादीनां बोधयिताध्यापकः संसेवनीयोऽस्ति नह्येतेन विना कस्यचिद्विद्याप्राप्तिर्भवितुं शक्या ॥ ४७ ॥

पदार्थः—हे (विश्वकर्म्मन्) अच्छे २ कर्म करने वाले मन में जो (ते) आप का (अनुष्टुप्) अज्ञान का छुड़ाने वाला (अभिगरः) सब प्रकार से विख्यात प्रशंसा वाक्य है उन अग्नि आदि पदार्थों के गुण कहने और वेद मंत्र गायत्री छन्द के अर्थ को जनाने वाले (त्वा) आप को (अग्नये) अग्नि आदि पदार्थों के गुण जानने के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं वा (त्रिष्टुप्छन्दसम्) परम ऐश्वर्य देने वाले त्रिष्टुप् छन्द युक्त वेद मन्त्रों का अर्थ कराने हारे (त्वा) आपको (इन्द्राय)

परम ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं (जगच्छन्दसम्) समस्त जगत् के दिव्य २ गुण कर्म्म और स्वभाव के बोधक वेद मन्त्रों का अर्थ विज्ञान कराने वाले (त्वा) आप को (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) अच्छे २ गुण कर्म्म और स्वभावों के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं (उपयामगृहीतः) उक्त सब काम के लिये हम लोगों ने आप को सब प्रकार स्वीकार कर रक्खा (असि) है ॥ ४७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पिछले मन्त्र से विश्वकर्म्मन्) इस पद की अनुवृत्ति आती है मनुष्यों को चाहिये कि अग्नि आदि पदार्थविद्या साधन कराने वाली क्रियाओं का उत्तम बोध कराने वाले गायत्री आदि छन्दयुक्त ऋग्वेदादि वेदों के बोध होने के लिये उत्तम पढ़ाने वाले का सेवन करें क्योंकि उत्तम पढ़ाने वाले के विना किसी को विद्या नहीं प्राप्त हो सकती ॥ ४७ ॥

क्षेशीनांत्वेत्यस्य देवा ऋषयः । प्रजापतयो देवताः । याजुषी त्रिष्टुप् । कुकूननानामित्यस्य याजुषी जगती । भन्दनानामित्यस्य मदिन्तमानामित्यस्य मधुन्तमानामित्यस्य च याजुषीत्रिष्टुप् । शुक्रंत्वेत्यस्य साम्नी बृहती छन्दांसि । तेषु त्रिष्टुभो धैवतः । जगत्या निषादः । बृहत्या मध्यमश्च स्वराः ॥

अथ गार्हस्थ्यकर्म्मणि पत्नी पतिमुपदिशति ॥

अब गार्हस्थ्य कर्म्म में पत्नी अपने पति को उपदेश देती है, यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

क्षेशी॑नान्त्वा॒ पत्म॑न्ना धू॑नोमि । कुकू॒नना॑नान्त्वा॒ पत्म॑न्ना धूनोमि भन्द॒ना॑नान्त्वा॒ पत्म॑न्ना धू॑नोमि । म॒दिन्त॑मानान्त्वा॒ पत्म॑न्ना धू॑नोमि । मधु॒न्त॑मानान्त्वा॒ पत्म॑न्ना धू॑नोमि । शु॒क्रन्त्वा॑ शु॒क्र आ धू॑नो॒म्यह्नो॑ रू॒पे सूर्य्य॑स्य र॒श्मिषु॑ ॥ ४८ ॥

ऋशीनाम् । त्वा । पत्मन् । आ । धूनोमि । कुकूननानाम् । त्वा । पत्मन् । आ । धूनोमि । भन्दनानाम् । त्वा । पत्मन् । आ । धूनोमि । मदिन्तमानामिति मदिन्ऽतमानाम् । त्वा । पत्मन् । आ । धूनोमि । मधुन्तमानामिति मधुन्ऽतमानाम् । त्वा । पत्मन् । आ । धूनोमि । शुक्रम् । त्वा । शुक्रे । आ । धूनोमि । अन्हः । रूपे । सूर्यस्य । रश्मिषु ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(ऋशीनाम्) दिव्यानामपामिव निर्मलविद्यासुशीलव्याप्तानाम् । एता वै दैवीरापस्तद्याश्चैव दैवीरापो याश्चेमा मानुष्यस्ताभिरेवास्मिन्नेतदुभयीभीरसं दधाति । शत० ११ । ४ । २ । ८ (त्वा) त्वाम् (पत्मन्) धर्मे पतनशील (आ) (धूनोमि) समन्तात्कम्पयामि । अन्तर्गतो णिच् (कुकूननानाम्) भृशं शब्दविद्यया नम्राणाम् । कुङ् शब्दे इत्यस्माद्यङि गुणाभावेऽभ्यस्ततः कुकूपपदान्नम धातोरौणादिको नक् प्रत्ययश्च ततः षष्ठी बहुवचनम् (त्वा) (पत्मन्) (आ) (धूनोमि) (भन्दनानाम्) कल्याणाचरणानाम् (त्वा) (पत्मन्) (आ) (धूनोमि) (मदिन्तमानाम्) अतिशयितानन्दितानां परस्त्रीणां समीपे । (त्वा) (पत्मन्) चञ्चलचेतः (आ) (धूनोमि) (मधुन्तमानाम्) अतिशयेन माधुर्यगुणोपेतानाम् । वा छन्दसि प्राप्ते नुडागमः (त्वा) (पत्मन्) (आ) (धूनोमि) (शु-

कम्) शुद्धं वीर्यवन्तम् (त्वा) (शुक्रे) (आ) (धूनोमि) (अह्नः) दिनस्य (रूपे) (सूर्यस्य) (रश्मिषु) अयं मन्त्रः शत० ११ । ४ । ३ । ८–९ व्याख्यातः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—हे पत्मन् मेशीनामपामिव वर्तमानानां पत्नीनां मध्ये व्यभिचारेण वर्तमानं त्वाऽहमाधूनोमि । हे पत्मन् कुकूननानां समीपे मौर्ख्येण वर्तमानं त्वाहमाधूनोमि । हे पत्मन् भन्दनानां सन्निधावधर्मचारित्वेन प्रवृत्तं त्वाहमाधूनोमि । हे पत्मन् मन्दिन्तमानां सनीडे दुःखदायित्वेन चरन्तं त्वाहमाधूनोमि । हे पत्मन् मधुन्तमानां समर्यादं कुचारिणं त्वाहमाधूनोमि । हे पत्मन्नह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु च गृहे संगतिमीप्सुं शुक्रं त्वा शुक्रे आधूनोमि ॥ ४८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा सूर्यस्य रश्मीन् प्राप्य जगत्पदार्थाः शुद्धा जायन्ते तथैव दुराचारी सुशिक्षां दण्डं च प्राप्य पवित्रो भवति गृहस्थैरयमन्तर्दुष्टो व्यभिचारव्यवहारः सदैव निवर्तनीयः कुतोऽस्य शरीरात्मबलनाशकत्वेन धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रतिबन्धकत्वात् ॥ ४८ ॥

पदार्थः—हे (पत्मन्) धर्म में न चित्त देने वाले पते (मेशीनाम्) जलों के समान निर्मल विद्या और सुशीलता में व्याप्त जो पराई पत्नियां हैं उन में व्यभिचार से वर्तमान (त्वा) तुम को मैं वहां से (आधूनोमि) अच्छे प्रकार डिगाती हूं हे (पत्मन्) अधर्म्म में चित्त देने वाले पते (कुकूननानाम्) निरन्तर शब्द विद्या से नम्रीभाव को प्राप्त हो रही हुई औरों की पत्नियों के समीप मूर्खपन से जाने वाले (त्वा) तुझ को मैं (आ) (धूनोमि) वहां से अच्छे प्रकार छुड़ाती हूं ।

हे (पत्मन्) कुचाल में चित्त देने वाले पते (मन्दनानाम्) कल्याण के आचरण करती हुई पर पत्नियों के समीप अधर्म से जाने वाले (त्वा) तुझ को वहां से मैं (आ) अच्छे प्रकार (धूनोमि) पृथक् करती हूं । हे (पत्मन्) चंचल चित्त वाले पते (मदिन्तमानाम्) अत्यन्त आनन्दित परपत्नियों के समीप उन को दुःख देते हुए (त्वा) तुम को मैं वहां से (आ) बार २ (धूनोमि) कंपाती हूं । हे (पत्मन्) कठोर चित्त पते (मधुन्तमानाम्) अतिशय करके मीठी २ बोलियां बोलने वाली परपत्नियों के निकट कुचाल से जाते हुए (त्वा) तुम को मैं (आ) अच्छे प्रकार (धूनोमि) हटाती हूं । हे (पत्मन्) अविद्या में गमन करने वाले (अह्नः) दिन के (रूपे) रूप में अर्थात् (सूर्यस्य) सूर्य की फैली हुई किरणों के समय में घर में संगति की चाह करते हुए (शुक्रम्) शुद्ध वीर्य वाले (त्वा) तुम को (शुक्रे) वीर्य के हेतु (आ) भले प्रकार (धूनोमि) छुड़ाती हूं ॥ ४८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—जैसे सूर्य की किरणों को प्राप्त होकर संसार के पदार्थ शुद्ध होते हैं वैसे ही दुराचारी पुरुष अच्छी शिक्षा और स्त्रियों के सत्य उपदेश से दण्ड को पाकर पवित्र होते हैं गृहस्थों को चाहिये कि अत्यन्त दुःख देने और कुल को भ्रष्ट करने वाले व्यभिचार कर्म से सदा दूर रहें क्योंकि इस से शरीर और आत्मा के बल का नाश होने से धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि नहीं होती ॥ ४८ ॥

ककुभमित्यस्य देवा ऋषयः । विश्वेदेवा प्रजापतयो देवताः । विराट् प्राजापत्या जगती छन्दः । निषादः स्वरः । यत्ते सोमेत्यस्य भुरिगार्ष्युष्णिक् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ गृहस्थान्राजपक्षे पुनरुपदिशति ॥

अब फिर गृहस्थों को राज पक्ष में उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

क॒कु॒भꣳ रू॒पं वृ॑ष॒भस्य॑ रोचते बृ॒हच्छु॒क्रः शु॒क्रस्य॑ पुरो॒गाः सोमः॒ सोम॑स्य पुरो॒गाः । यत्ते॑ सोमा-

दाभ्यन्नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा ॥ ४९ ॥

ककुभम् । रूपम् । वृषभस्य । रोचते । बृहत् । शुक्रः । शुक्रस्य । पुरोगा इति पुरःऽगाः । सोमः । सोमस्य । पुरोगा इति पुरःऽगाः । यत् । ते । सोम । अदाभ्यम् । नाम । जागृवि । तस्मै । त्वा । गृह्णामि । तस्मै । ते । सोम । सोमाय । स्वाहा ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(ककुभम्) दिग्वच्छुद्धम् (रूपम्) (वृषभस्य) सुखाभिवर्षकस्य सभापतेः (रोचते) प्रकाशते (बृहत्) (शुक्रः) शुद्धः (शुक्रस्य) शुद्धस्य धर्म्मस्य (पुरोगाः) पुरः सराः (सोमः) सोमगुणसम्पन्नः (सोमस्य) ऐश्वर्य्यगुणयुक्तस्य गृहाश्रमस्य (पुरोगाः) पुरोगामिनः (यत्) यस्य (ते) तव (सोम) प्राप्तैश्वर्य्य विद्वन् (अदाभ्यम्) अहिंसनीयम् (नाम) ख्यातिः (जागृवि) जागरूकम् (तस्मै) (त्वा) त्वाम् (गृह्णामि) (तस्मै) (ते) तुभ्यम् (सोम) सत्कर्म्मसु प्रेरक (सोमाय) शुभकर्म्मसु प्रवृत्ताय (स्वाहा) सत्या वाक् । अयम्मंत्रः शत० ११। ४ । ३ । १० व्याख्यातः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—हे सोम यद्यस्य वृषभस्य बृहत्ककुभं रूपं रोचते स त्वं शुक्रस्य पुरोगाः शुक्रः सोमस्य पुरोगाः सोमो भव । यत्ते तवादाभ्यन्नाम जागृव्यस्ति तस्मै नाम्ने त्वा गृह्णामि । हे सोम तस्मै सोमाय ते तुभ्यं स्वाहाऽस्तु ॥ ४९ ॥

भावार्थः—सभाप्रजाजनैर्यस्य पुण्या प्रशंसा सौन्दर्य्यगुणयुक्तं रूपं विद्यान्यायो विनयः शौर्य्यं तेजः पक्षराहित्यं सुहृत्त्वोत्साहश्चारोग्यं बलं पराक्रमो धैर्य्यंजितेंद्रियता वेदादिशास्त्रे श्रद्धा प्रजापालनप्रियत्वं च वर्त्तते सएव सभाधिपति राजा मंतव्यः ॥ ४९ ॥

पदार्थः—हे (सोम) ऐश्वर्य्य को प्राप्त हुए विद्वान् आप (यत्) जिस (वृषभस्य) सब सुखों के वर्षाने वाले आप का (ककुभम्) दिशाओं के समान शुद्ध (बृहत्) बड़ा (रूपम्) सुन्दर स्वरूप (रोचते) प्रकाशमान होता है सो आप (शुक्रस्य) शुद्ध धर्म्म के (पुरोगाः) अग्रगामी वा (सोमस्य) अत्यन्त ऐश्वर्य के (पुरोगाः) अग्रगन्ता (शुक्रः) शुद्ध (सोमः) सोम गुण सम्पन्न ऐश्वर्य युक्त हूजिये जिस से आप का (अदाभ्यम्) प्रशंसा करने योग्य (नाम) नाम (जागृवि) जाग रहा है (तस्मै) उसी के लिये (त्वा) आप को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं और हे (सोम) उत्तम कामों में प्रेरक (तस्मै) उन (सोमाय) श्रेष्ठ कामों में प्रवृत हुए (ते) आप के लिये (स्वाहा) सत्य वाणी प्राप्त हो ॥ ४९ ॥

भावार्थः—सभाजन और प्रजाजनों को चाहिये कि जिसकी पुण्य, प्रशंसा, सुन्दररूप, विद्या, न्याय, विनय, शूरता, तेज, अपक्षपात, मित्रता, सब कामों में उत्साह आरोग्य बल पराक्रम धीरज जितेंद्रियता वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा और प्रजापालन में प्रीति हो उसी को सभा का अधिपति राजा मानें ॥ ४९ ॥

उशिक्त्वमित्यस्य देवा ऋषयः । प्रजापतयो देवताः । स्वराडार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण राजविषयमाह ॥

फिर प्रकारान्तर से राज विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

उ॒शिक्त्वन्दे॑व सोमा॒ग्नेः प्रि॒यम्पाथोऽपी॑हि व॒शी त्वन्दे॑व सोमेन्द्र॑स्य प्रि॒यम्पाथोऽपी॑ह्य॒स्मत्स॑खा त्वन्दे॑व सोम॒ विश्वे॑षान्दे॒वाना॑म्प्रि॒यम्पाथोऽपी॑हि॥५०॥

उशिक् । त्वम् । देव । सोम । अग्नेः । प्रियम् । पार्थः । अपि । इहि । वशी । त्वम् । देव । सोम । इन्द्रस्य । प्रियम् । पार्थः । अपि । इहि । अस्मत्सखेत्यस्मत्ऽसखा । त्वम् । देव । सोम । विश्वेषाम् । देवानाम् । प्रियम् । पार्थः । अपि । इहि ॥ ५० ॥

पदार्थः—(उशिक्) कामयमानः (त्वम्) (देव) दिव्यगुणसम्पन्न (सोम) सकलैश्वर्य्याढ्य (अग्नेः) सद्विदुषः (प्रियम्) प्रीतिजनकम् (पाथः) रक्षणीयमाचरणम् । पाथ इति पदाना० निघं० ४ । २ । (अपि) निश्चयार्थे (इहि) प्राप्नुहि जानीहि वा (वशी) जितेन्द्रियः (त्वम्) (देव) दातः (सोम) ऐश्वर्य्यान्वितो प्रेरक (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य धार्म्मिकस्य राज्ञः (प्रियम्) सुखस्तर्पकम् (पाथः) ज्ञातव्यं कर्म्म (अपि) (इहि) (अस्मत्सखा) वयं सखायो यस्य सः (त्वम्) (देव) विद्यासु द्योतमान (सोम) विद्यैश्वर्य्यसहित (विश्वेषाम्) सर्वेषाम् (देवानाम्) धार्म्मिकाणामाप्तानां विदुषाम् (प्रियम्) कमनीयम् (पाथः) विज्ञानाचरणम् (अपि) (इहि) अयम्मन्त्रः शत० ११ । ४ । ३ । १२ व्याख्यातः ॥ ५० ॥

अन्वयः—हे देव सोम राजन् त्वमुशिग्भवन्नग्नेः प्रियम्पाथोऽपीहि । हे देव सोम त्वं वशी भूत्वेन्द्रस्य प्रियम्पाथोऽपीहि । हे देव सोम त्वमस्मत्सखा विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि ॥ ५० ॥

भावार्थः—राज्ञो राजपुरुषाणां सभ्यानां चोचितमस्ति पुरुषार्थेन संयमेन मित्रतया धार्म्मिकाणां वेदपारगाणां मार्गे गच्छेयुर्नहि सत्पुरुषसंगानुकरणाभ्यां विना कश्चिद्विद्यां धर्म्मं सार्वजनिकप्रियतामैश्वर्य्यं च प्राप्तुं शक्नोति ॥ ५० ॥

पदार्थः—हे (देव) दिव्य गुण सम्पन्न (सोम) समस्त ऐश्वर्य्य युक्त राजन् आप (उशिक्) अतिमनोहर होके (अग्नेः) उत्तम विद्वान् के (प्रियम्) प्रेम उत्पन्न कराने वाले (पाथः) रक्षा योग्य व्यवहार को (अपि) निश्चय से (इहि) प्राप्त करो और जानो हे (देव) दानशील (सोम) हर एक प्रकार से ऐश्वर्य्य की उन्नति कराने वाले आप (वशी) जितेन्द्रिय होकर (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्य वाले धार्म्मिक जन के (प्रियम्) प्रेम उत्पन्न कराने वाले (पाथः) जानने योग्य कर्म को (अपि) निश्चय से (इहि) जानो हे (देव) समस्त विद्याओं में प्रकाशमान (सोम) ऐश्वर्य्य युक्त आप (अस्मत्सखा) हमलोग जिन के मित्र हैं ऐसे आप होकर (विश्वेषाम्) समस्त (देवानाम्) विद्वानों के प्रेम उत्पन्न कराने हारे (पाथः) विज्ञान के आचरण को (अपि) निश्चय से (इहि) प्राप्त हो तथा जानो ॥ ५० ॥

भावार्थः—राजा राजपुरुष सभासद् तथा अन्य सब सज्जनों को उचित है कि पुरुषार्थ, अच्छे २ नियम और मित्रभाव से धार्म्मिक वेद के पारगन्ता विद्वानों के मार्ग को चलें क्योंकि उन के तुल्य आचरण किये बिना कोई विद्या धर्म्म सब से एक प्रीति भाव और ऐश्वर्य्य को नहीं पा सकता है ॥ ५० ॥

इहरतिरित्यस्य देवा ऋषयः । प्रजापतयो गृहस्था देवताः । आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।

अथ गार्हस्थ्य विषये विशेषमाह ॥

अब गार्हस्थ्य धर्म्म में विशेष उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वा-

हा। उपसृजन्धरुणम्मात्रे धरुणो मातरं धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा ॥ ५१ ॥

इह। रतिः। इह। रमध्वम्। इह। धृतिः। इह। स्वधृतिरितिस्वऽधृतिः। स्वाहा। उपसृजन्नित्युपऽसृजन्। धरुणम्। मात्रे। धरुणः। मातरम्। धयन्। रायः। पोषम्। अस्मासु। दीधरत्। स्वाहा ॥ ५१ ॥

पदार्थः— (इह) अस्मिन्गृहाश्रमे (रतिः) रमणम् (इह) (रमध्वम्) (इह) (धृतिः) सर्वेषां व्यवहाराणां धारणा (इह) (स्वधृतिः) स्वेषां पदार्थानां धारणम् (स्वाहा) सत्यावाक् क्रिया वा (उपसृजन्) समीपं प्रापयन्निव (धरुणम्) धर्त्तव्यं पुत्रम् (मात्रे) मान्यकर्त्र्यै (धरुणः) धर्त्ता (मातरम्) मान्यप्रदाम् (धयन्) तस्याः पयः पिबन् (रायः) धनस्य (पोषम्) पुष्टिम् (अस्मासु) (दीधरत्) धारय। अत्र लोडर्थे लुङडभावश्च (स्वाहा) सत्यया क्रिया। अयम्मंत्रः शत० ४। ५। ११। ८। व्याख्यातः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे गृहस्था युष्माकमिह रतिरिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा चास्तु। यूयमिह रमध्वम्। हे गृहिस्त्वमपत्यस्य मात्रे यं धरुणं गर्भमुपसृजन्स्वगृहे रमस्व स धरुणो मात्रे धयन्निवास्मासु रायस्पोषं स्वाहा दीधरत् ॥ ५१ ॥

भावार्थः— यावद्राजादयः सभ्याः प्रजाजनाश्च सत्ये धैर्य्ये सत्येनोपार्जितेषु पदार्थेषु धर्म्मे व्यवहारे च न वर्त्तन्ते तावत्प्र-

जासुखं राज्यसुखं च प्राप्तुं न शक्नुवन्ति यावद्राजपुरुषाः प्रजापुरुषाश्च पितृपुत्रवत्परस्परं प्रीत्युपकारं न कुर्वन्ति तावत्सुखं क्व ॥५१॥

पदार्थः— हे गृहस्थो तुम लोगों की (इह) इस गृहाश्रम में (रतिः) प्रीति (इह) इस में (धृतिः) सब व्यवहारों की धारणा (इह) इसी में (स्वधृतिः) अपने पदार्थों की धारणा (स्वाहा) तथा तुम्हारी सत्य वाणी और सत्य क्रिया हो। तुम (इह) इस गृहाश्रम में (रमध्वम्) रमण करो। हे गृहाश्रमस्थ पुरुष तू सन्तानों की माता जो कि तेरी विवाहित स्त्री है उस (मात्रे) पुत्र का मान करने वाली के लिये (धरुणम्) सब प्रकार से धारण पोषण कराने योग्य गर्भ को (उपसृजन्) उत्पन्न कर और वह (धरुणः) उक्त गुण वाला पुत्र (मातरम्) उस अपनी माता का (धयन्) दूध पीवे। वैसे (अस्मासु) हम लोगों के निमित्त (रायः) धन की (पोषम) समृद्धि को (स्वाहा) सत्य भाव से (दीधरत्) उत्पन्न कीजिये ॥५१॥

भावार्थः— जब तक राजा आदि सभ्यजन वा प्रजाजन सत्य धैर्य वा सत्य से जोड़े हुए पदार्थ वा सत्य व्यवहार में अपना वर्त्ताव न रक्खें तब तक प्रजा और राज्य के सुख नहीं पा सकते और जबतक राज पुरुष तथा प्रजापुरुष पिता और पुत्र के तुल्य परस्पर प्रीति और उपकार नहीं करते तब तक निरन्तर सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ५१ ॥

सत्रस्येत्यस्य देवा ऋषयः। प्रजापतिर्देवता। भुरिगार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनरपि गृहस्थविषये विशेषमाह ॥

फिर भी गृहस्थों के विषय में विशेष उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

सत्रस्यऽऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृताऽअभूम। दिवं पृथिव्याऽअध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः॥५२॥

सत्रस्य। ऋद्धिः। असि। अगन्म। ज्योतिः। अ-

मृताः । अभूम । दिवम् । पृथिव्याः । अधि । आ । अरुहाम । अविदाम । देवान् । स्वः । ज्योतिः ॥५२॥

पदार्थः— (सत्रस्य) संगतस्य राजप्रजाव्यवहाररूपस्य यज्ञस्य (ऋद्धिः) सम्यग् वृद्धिः (असि) (अगन्म) प्राप्नुयाम (ज्योतिः) विज्ञानप्रकाशम् (अमृताः) प्राप्तमोक्षाः (अभूम) भवेम । अत्रोभयत्र लिङर्थे लुङ् (दिवम्) सूर्यादिम् (पृथिव्याः) भूम्यादेश्च जगतः (अधि) उपर्युत्कृष्टभावे (आ) समन्तात् (अरुहाम) प्रादुर्भवेम । अत्र विकरणव्यत्ययः (अविदाम) विन्देमहि (देवान्) विदुषो दिव्यान् भोगान् वा (स्वः) सुखम् (ज्योतिः) विज्ञानविषयम् । अयं मंत्रः श०त० ४ । ५ । ११ । ११ व्याख्यातः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—हे विद्वँस्त्वं सत्रस्य ऋद्धिरसि त्वत्संगेन वयं ज्योतिरगन्म अमृता अभूम दिवः पृथिव्या अध्यारुहाम देवाञ्ज्योतिः स्वश्चाऽविदाम ॥ ५२ ॥

भावार्थः—यावत्सर्वेषां रक्षको धार्मिको राजाऽऽप्तो विद्वांश्च न भवेत्तावत्कश्चिदपि विघ्नो विद्यामोक्षानुष्ठानं कृत्वा तत्सुखं प्राप्तुनाहेति न च मोक्षसुखादधिकतरं किंचित्सुखमस्ति ॥ ५२ ॥

पदार्थः— हे विद्वन् आप (सत्रस्य) प्राप्त हुए राजप्रजाव्यवहाररूप यज्ञ के (ऋद्धिः) समृद्धि रूप (असि) हैं आप के संग से हम लोग (ज्योतिः) विज्ञान के प्रकाश को (अगन्म) प्राप्त होवें और (अमृताः) मोक्ष पाने के योग्य (अभूम) हों (दिवः) सूर्यादि (पृथिव्याः) पृथिवी आदि लोकों के (अधि) बीच (अरुहाम) पूर्णवृद्धि को पहुंचें (देवान्) विद्वानों दिव्य २ भागों (ज्योतिः) विज्ञान विषय और (स्वः) अत्यन्त सुख को (अविदाम) प्राप्त होवें ॥ ५२ ॥

भावार्थः— जब तक सब की रक्षा करने वाला धार्मिक राजा वा आप्त विद्वान् न हो तब तक विद्या और मोक्ष के साधनों को निर्विघ्नता से पाने के योग्य कोई भी मनुष्य नहीं होता है और न मोक्ष सुख से अधिक कोई सुख है ॥ ५२ ॥

युवमित्यस्य देवा ऋषयः। गृहपतयो देवताः। पूर्वस्यार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः। दूरेचेत्यस्यासुर्युष्णिक्छन्दः। ऋषभः स्वरः। अस्माकमित्यस्य प्राजापत्या बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः। भूर्भुवरित्यस्य विराट्प्राजापत्या पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

युवन्तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तन्तमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्। दूरे चत्ताय छन्त्सद्गहनं यदिनक्षत्। अस्माकᳫं शत्रून्परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः। भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः ॥ ५३ ॥

युवम्। तम्। इन्द्रापर्वता। पुरोयुधेति पुरःऽयुधा। यः। नः। पृतन्यात्। अप। तन्तमिति तम्ऽतम्। इत्। हतम्। वज्रेण। तन्तमितितम्ऽतम्। इत्। हतम्। दूरे। चत्ताय। छन्त्सत्। गहनम्। यत्। इनक्षत्। अस्माकम्। शत्रून्। परि। शूर। विश्वतः। दर्मा। दर्षीष्ट। विश्वतः। भूरितिभूः। भुवरि-

ति भुवः । स्वरिति स्वः । सुप्रजा इति सुऽप्रजाः । प्रजाभिः । स्याम । सुवीराऽइति सुऽवीराः । वीरैः । सुपोषाऽइति सुऽपोषाः । पोषैः ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(युवम्) युवाम् (तम्) (इन्द्रापर्वता) सूर्यमेघसदृशौ सेनापतिसेनाजनौ । अत्र सुपां सुलुगित्याकारः (पुरोयुधा) पूर्वं युध्येते तौ (यः) (नः) अस्माकम् (पृतन्यात्) पृतनां सेनामिच्छेत् (अप) (तन्तम्) शत्रुम् (इत्) एव (हतम्) हन्यातम् (वज्रेण) शस्त्रास्त्रविद्याबलेन (तन्तम्) (इत्) एव (हतम्) विनश्यतम् (दूरे) (चत्ताय) आह्लादाय (छन्त्सत्) ऊर्जेत् (गहनम्) कठिनं सैन्यम् (यत्) (अनक्षत्) व्याप्नुयात् । इनक्षादिति व्याप्तिकर्मसु० । निघं० २ । १८ (अस्माकम्) (शत्रून्) (परि) सर्वतः (शूर) शृणाति शत्रून् तत्सम्बुद्धौ (विश्वतः) सर्वतः (दर्म्मा) शत्रुविदारयिता (दर्षीष्ट) विदारय (विश्वतः) (भूः) भूमौ (भुवः) अन्तरिक्षे (स्वः) सुखे (सुप्रजाः) प्रशस्तसन्तानाः (प्रजाभिः) (स्याम) (सुवीराः) बहुप्रेष्ठवीरयुक्ताः (वीरैः) उत्तमबलयुक्तैः पुरुषैः (सुपोषाः) अत्युत्तमपुष्टयः (पोषैः) पुष्टिभिः । अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ११ । १४ व्याख्यातः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हे पुरोयुधेन्द्रापर्वता युवं यो यो नः पृतन्यात् तन्तं वज्रेणेदपहतम् । तद्गहनं शत्रुदलमस्माकं सैन्यमिनक्षत् । यश्च छन्त्सत्तन्तं चत्तायानन्दायेद्धतं दूरे प्रापयतम् । हे शूर सभापते

दर्म्मा त्वमस्माकं शत्रून् विश्वतो परि दर्षीष्ट यतो वयं प्रजाभिः सुप्रजा वीरैः सुवीराः पोषैस्सुपोषा विश्वतः स्याम ॥ ५३ ॥

भावार्थः—यावत् सभापतिसेनापती प्रगल्भौ सन्तौ सर्वकार्येषु पुरस्सरौ न स्याताम् । तावत्सेनावीरा हर्षतो युद्धे न प्रवर्त्तन्ते नह्येतेन कर्मणा विना कदाचिद्विजयो जायते यावदजातशत्रवः सभापत्यादयो न जायेरन् तावत् प्रजाः पालयितुं शक्नुवन्ति न च सुप्रजाः सन्तः सुखिनः स्युः ॥ ५३ ॥

पदार्थः—हे (पुरोयुधा) युद्ध समय में आगे लड़ने वाले (इन्द्रापर्वता) सूर्य्य और मेघ के समान सेनापति और सेनाजन (युवम्) तुम दोनों (यः) जो (नः) हमारी (पृतन्यात्) सेना से लड़ना चाहे (तन्तम्) (इत्) उसी २ को (वज्रेण) शस्त्र और अस्त्र विद्या के बल से (हतम्) मारो और (यत्) जो (अस्माकम्) हमारे शत्रुओं की (गहनम्) दुर्जय सेना हमारी सेना को (इनक्षत्) व्याप्त हो और (यत्) जो २ (कृन्तत्) बल को बढ़ावे उस २ को (चत्ताय) आनन्द बढ़ाने के लिये (इद्धतम्) अवश्य मारो और (दूरे) दूर पहुंचा दो । हे (शूर) शत्रुओं को सुख से बचाने वाले सभापते आप हमारे (शत्रून्) शत्रुओं को (विश्वतः) सब प्रकार से (परिदर्षीष्ट) विदीर्ण कर दीजिये जिस से हमलोग (भूः) इस भूलोक (भुवः) अन्तरिक्ष और (स्वः) सुख कारक अर्थात् दर्शनीय अत्यन्त सुख रूप लोक में (प्रजाभिः) अपने सन्तानों से (सुप्रजाः) प्रशंसितसन्तानों वाले (वीरैः) वीरों से (सुवीराः) बहुत अच्छे २ वीरों वाले और (पोषैः) पुष्टियों से (सुपोषाः) अच्छी २ पुष्टि वाले (विश्वतः) सब ओर से (स्याम) होवें ॥ ५३ ॥

भावार्थः—जब तक सभापति और सेनापति प्रगल्भ हुए सब कामों में अग्रगामी न हों तबतक सेना वीर आनन्द से युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो सकते और इस काम के विना कभी विजय नहीं होता। तथा जबतक शत्रुओं को निर्मूल करने हारे सभापति आदि नहीं होते तबतक प्रजा का पालन नहीं कर सकते और न प्रजाजन सुखी हो सकते हैं ॥ ५३ ॥

परमेष्ठीत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। परमेष्ठी प्रजापतिर्देवता। साम्न्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनर्गार्हस्थ्यकर्म्माह ॥

फिर भी गृहस्थ का कर्म्म अगले मन्त्र में कहा है ॥

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धोऽअच्छेतः। सविता सन्यां विश्वकर्म्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयण्याम् ॥ ५४ ॥

परमेष्ठी। परमेस्थीति परमेऽस्थी। अभिधीतऽइत्यभिऽधीतः। प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः। वाचि। व्याहृतायामिति विऽआहृतायाम्। अन्धः। अच्छेतऽइत्यच्छऽइतः। स॒विता। सन्याम्। विश्वकर्म्मेति विश्वऽकर्म्मा। दीक्षायाम्। पूषा। सोमक्रयण्यामिति सोमऽक्रयण्याम् ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(परमेष्ठी) परमे प्रकृष्टे स्वरूपे तिष्ठतीति (अभिधीतः) निश्चितः (प्रजापतिः) प्रजायाः स्वामी (वाचि) वेदवाण्याम् (व्याहृतायाम्) उपदिष्टायां सत्याम् (अन्धः) अद्यते यत्तदन्धोऽन्नम्। अदेर्नुम् धौ च। उ० ४। २१३। अनेनादधातोरसुनि नुमधश्च। अन्ध इत्यन्नना०। निघं०। २। ७। उपलक्षणं चान्येषां पदार्थानाम् (अच्छेतः) अच्छं निर्मलं स्व-

रूपमितः प्राप्तः (सविता) जगदुत्पादकः (सन्याम्) सत्यं नीयते यया तस्याम् (विश्वकर्म्मा) सर्वोत्तमकर्म्मा सभापतिः (दीक्षायाम्) नियमधारणारम्भे (पूषा) पोषको वैद्यः (सोमक्रयण्याम्) सोमाद्योषधीनां ग्रहणे । अयम्मन्त्रः शत० १२ । १ । १ । १–८८ व्याख्यातः ॥ ५४ ॥

अन्वयः–हे गृहस्था युस्माभिर्यदि व्याहृतायां वाचि परमेष्ठी प्रजापतिरच्छेतो विश्वकर्मा दीक्षायां सोमक्रयण्यां पूषा सविता सन्यां चाभिधीतोऽन्धश्च प्रासं तर्हि सततं सुखिनः स्युः ॥५४॥

भावार्थः–यदीश्वरो वेदविद्यायाः स्वस्य जीवानां जगतश्च गुणकर्मस्वभावान् न प्रकाशयेत्तर्हि कस्यापि मनुष्यस्य विद्यैतेषां विज्ञानं च न स्यात् । एताभ्यां विना कुतः सततं सुखं च ॥ ५४ ॥

पदार्थः–हे गृहस्थो तुम ने यदि [व्याहृतायाम्] उच्चारित उपदिष्ट की हुई (वाची) वेदवाणी में [परमेष्ठी] परमानन्दस्वरूप में स्थित [प्रजापतिः] समस्त प्रजा के स्वामी को [अच्छेतः] अच्छे प्रकार प्राप्त [विश्वकर्म्मा] सब विद्या और कर्म्मों को जानने वाले सर्वथा श्रेष्ठ सभापति को [दीक्षायाम्] सभा के नियमों के धारण में [सोमक्रयण्याम्] ऐश्वर्य ग्रहण करने में [पूषा] सब को पुष्ट करने हारे उत्तम वैद्य को और [सन्याम्] जिस से सनातन सत्य प्राप्त हो उस में [सविता] सब जगत् का उत्पादक [अभिधीतः] सुविचार से धारण किया [अन्धः] उत्तम सुसंस्कृत अन्न का सेवन किया तो सदा सुखी हों ॥ ५४ ॥

भावार्थः–जो ईश्वर वेदविद्या से अपने सांसारिक जीवों और जगत् के गुण कर्म स्वभावों को प्रकाशित न करता तो किसी मनुष्य को विद्या और इन का ज्ञान न होता और विद्या वा उक्त पदार्थों के ज्ञान के बिना निरन्तर सुख क्योंकर हो सकता है ॥ ५४ ॥

इन्द्रश्चेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रादयो देवताः । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थ विषयमाह ॥

फिर भी उक्त विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितोऽसुरः पण्यमानो मित्रः क्रीतो विष्णुः शिपिविष्टऊरावासन्नो विष्णुर्नरन्धिषः ॥ ५५ ॥

इन्द्रः । च । मरुतः । च । क्रयाय । उपोत्थित इत्युपऽउत्थितः । असुरः । पण्यमानः । मित्रः । क्रीतः । विष्णुः । शिपिविष्ट इति शिपिऽविष्टः । ऊरौ । आसन्न इत्याऽसन्नः । विष्णुः । नरन्धिषः ॥५५॥

पदार्थः—(इन्द्रः) विद्युत् (च) पृथिव्यादयः (मरुतः) वायवः (च) जलादिकम् (क्रयाय) व्यवहारसिद्धये (उपोत्थितः) समीपे प्रकाशितइव (असुरः) मेघः । असुरइति मेघना० । निघं० १ । १० (पण्यमानः) स्तूयमानः (मित्रः) सुहृत् (क्रीतः) व्यवहृतः (विष्णुः) व्याप्तो धनंजयः (शिपिविष्टः) शिपिषु पदार्थेषु प्रविष्टः (ऊरौ) आच्छादने (आसन्नः) सर्वेषां निकटः (विष्णुः) हिरण्यगर्भः (नरन्धिषः) नरान्दिधेष्टि शब्दइति । अयम्मन्त्रः शत० । १२ । २ । १ । १—१२ व्याख्यातः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं विद्वद्भिर्यो क्रयायेन्द्रो मरुतोऽसुरः

पण्यमानो मित्रः शिपिविष्टो विष्णुर्नरंधिषो विष्णुश्चैवासन्नउपोस्थितः क्रीतोऽस्ति तं विजानीत ॥ ५५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परब्रह्मप्रकाशितानामग्न्यादीनां पदार्थानां सकाशात् क्रियाकौशलेनोपयोगं गृहीत्वा गार्हस्थ्यव्यवहाराः साधनीयाः ॥ ५५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग जो विद्वानों ने [क्रयाय] व्यवहार सिद्धि के लिये [इन्द्रः] बिजली [मरुतः] पवन [असुरः] मेघ [पण्यमानः] स्तुति के योग्य [मित्रः] सखा [शिपिविष्टः] समस्त पदार्थों में प्रविष्ट [विष्णुः] सर्व शरीर व्याप्त धनंजय वायु और इन में से एक २ पदार्थ [नरंधिषः] मनुष्यादि के आत्माओं में साक्षी [विष्णुः] हिरण्यगर्भ ईश्वर [उरौ] दापने आदि क्रियाओं में [आसन्नः] संनिकट वा [उपोस्थितः] समीपस्थ प्रकाश के समान और जो [क्रीतः] व्यवहार में वर्त्ता हुआ पदार्थ है इन सब को जानो ॥ ५५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि ईश्वर से प्रकाशित अग्नि आदि पदार्थों की क्रिया कुशलता से उपयोग लेकर गार्हस्थ्य व्यवहारों को सिद्ध करें ॥ ५५ ॥

प्रोह्यमाणइत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः विश्वेदेवा गृहस्था देवताः । आर्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥

फिर उक्त विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

प्रोह्यमाणः सोमऽआगतो वरुणऽआसन्द्यामासन्नोऽग्निराग्नीध्रऽइन्द्रो हविर्धानेऽथर्वोपावह्रियमाणः ॥ ५६ ॥

प्रोह्यमाण इति । प्रोह्यमान इति प्रऽउह्यमानः । सोमः । आगत इत्याऽगतः । वरुणः । आसन्द्यामित्याऽसन्द्याम् ।

आसंन्न इत्याऽसंन्नः। अग्निः। आग्नींद्ः। इन्द्रंः। हविर्द्धान इति हविःऽधानें। अथंर्वा। उपावह्रियमांण इत्युंपऽअवह्रियमांणः॥ ५६॥

पदार्थः—(प्रोह्यमाणः) प्रकृष्टतर्केणाऽनुष्ठितः। प्रोह्यमाण इति पदं महीधरेण भ्रांत्या पूर्वस्मिन् मन्त्रे पठितम् (सोमः) ऐश्वर्यसमूहः (आगतः) समन्तात्प्राप्तः सहायकारी पुरुषइव (वरुणः) जलसमूहः (आसंद्याम्) यानासनविशेषे (आसन्नः) समीपस्थः (अग्निः) (आग्नीध्रे) प्रदीपनसाधनइन्धनादौ (इन्द्रः) विद्युत् (हविर्द्धाने) हविषां ग्रहीतुं योग्यानां पदार्थानां धारणे (अथर्वा) अहिंसनीयः (उपावह्रियमाणः) क्रियाकौशलेनोपयोज्यमानः। अयम्मन्त्रः शत० १२। ३। १। १४—१८। व्याख्यातः॥ ५६॥

अन्वयः—हे गृहस्था युष्माभिरस्यामीश्वरस्य सृष्टावासन्द्यामागतइव प्रोह्यमाणः सोमो वरुणआग्नीध्रेऽग्निरुपावह्रियमाणोऽथर्वा हविर्द्धानइन्द्रः सततमुपयोजनीयः॥ ५६॥

भावार्थः—नहि तर्केण विना काचिद्विद्या कस्यचिद्भवति नहि विद्यया विना कश्चित्पदार्थेभ्यउपयोगं ग्रहीतुं शक्नोति॥ ५६॥

पदार्थः—हे गृहस्थो तुम को इस ईश्वर की सृष्टि में [आसन्द्याम्] बैठने की एक अच्छी चौकी आदि स्थान पर [आगत] आया हुआ पुरुष जैसे विराजमान हो वैसे [प्रोह्यमाणः] तर्क वितर्क के साथ वादानुवाद से माना हुआ [सोमः] ऐश्वर्य का समूह [वरुणः] सहायकारी पुरुष के समान जल का समूह [आग्नीध्रे]

बहुत इन्धनों में (अग्निः) अग्नि (उपावह्रियमाणः) क्रिया की कुशलता से युक्त किये हुए (अथर्वा) प्रशंसा करने योग्य के समान पदार्थ और (हविर्धाने) ग्रहण करने योग्य पदार्थों में (इन्द्रः) बिजली निरन्तर युक्त करनी चाहिये ॥ ५६ ॥

भावार्थः—तर्क के बिना कोई भी विद्या किसी मनुष्य को नहीं होती और विद्या के विना पदार्थों से उपयोग भी कोई नहीं ले सकता ॥ ५६ ॥

विश्वेदेवाइत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । भुरिक्साम्नी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ गार्हस्थ्य कर्म्मणि विद्वत्पक्षे किंचिदाह ॥

अब गृहस्थ कर्म में कुछ विद्वानों का पक्ष अगले मन्त्र में कहा है ॥

विश्वे॑देवा॒ऽअ॒ᳪ॒शुषु॒ न्यु॑प्तो॒ विष्णु॑राप्रीत॒पाऽआ॑प्या॒य्यमा॑नो य॒मः सू॒यमा॑नो॒ विष्णु॑: सम्भ्रि॒यमा॑णो वा॒युः पू॒यमा॑नः शु॒क्रः पू॒तः । शु॒क्रः क्षी॑र॒श्रीर्म॒न्थी स॑क्तु॒श्रीः ॥ ५७ ॥

विश्वे॑ । दे॒वाः । अ॒ᳪ॒शुषु॑ । न्यु॑प्त॒ इति॒ निऽउ॑प्तः । विष्णु॑: । आ॒प्री॒त॒पा इत्या॑प्रीत॒ऽपाः । आ॒प्या॒य्यमा॑न॒ इत्या॑ऽप्या॒य्यमा॑नः । य॒मः । सू॒यमा॑नः । विष्णु॑: । स॒म्भ्रि॒यमा॑ण॒ इति॑ सम्ऽभ्रि॒यमा॑णः । वा॒युः । पू॒यमा॑नः । शु॒क्रः । पू॒तः । शु॒क्रः । क्षी॒र॒श्रीरिति॑ क्षी॒र॒ऽश्रीः । म॒न्थी । स॒क्तु॒श्रीरिति॑ सक्तु॒ऽश्रीः ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (अंशुषु) विभक्तेषु सांसारिकेषु पदार्थेषु (न्युप्त) नित्यं व्यवहारः स्थापितः (विष्णुः) व्यापिका विद्युत् (आप्रीतपाः) समंतात् प्रीतान् कमनीयान् पदार्थान्पाति रक्षति (आप्याय्यमानः) वृद्धइव (यमः) यच्छति सोऽयं सूर्यः (सूयमानः) उत्पद्यमानः (विष्णुः) व्यापकः (संभ्रियमाणः) सम्यक् पोषितः (वायुः) प्राणः (पूयमानः) पवित्री कृतः (शुक्रः) वीर्य्यसमूहः (पूतः) शुद्धः (शुक्रः) आशुकर्त्ता (क्षीरश्रीः) यः क्षीरादीनि श्रृणाति (मंथी) मथ्नातीति (सक्तुश्रीः) यः सक्तूनि समवेतानि द्रव्याणि श्रयति ॥ अयम्मन्त्रः शत० १२ । ३ । ३ । १९–२६ व्याख्यातः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे विश्वे देवा युष्माभिरंशुषु न्युप्त आप्रीतपा विष्णुराप्याय्यमानो यमः सूयमानो विष्णुः संभ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्र पूतः शुक्रो मंथी सेव्यमानः सन् क्षीरश्रीः सक्तुश्रीश्च जायते ॥५७॥

भावार्थः—मनुष्यैर्युक्तिक्रियाभ्यां सेविता विद्युदादयः पदार्थाः शरीरात्मसमाजसुखप्रदा जायन्ते ॥ ५७ ॥

पदार्थः—हे (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वानो तुम्हारा जो (अंशुषु) अलग २ संसार के पदार्थों में (न्युप्तः) नित्य स्थापित किया हुआ व्यवहार (आप्रीतपाः) अच्छी प्रीति के साथ (विष्णुः) व्याप्त होने वाली बिजली (आप्याय्यमानः) अति बढ़े हुए के समान (यमः) सूर्य (सूयमानः) उत्पन्न होने हारा (विष्णुः) व्यापक अत्यन्त (संभ्रियमाणः) अच्छे प्रकार पुष्टि किया हुआ (वायुः) प्राण (पूयमानः) पवित्र किया हुआ (शुक्रः) पराक्रम का समूह (पूतः) शुद्ध (शुक्रः) शीघ्र चेष्टा करने हारा और (मंथी) विलोड़ने वाला ये सब प्रत्येक सेवन किये हुए (क्षीरश्रीः) दुग्धादि पदार्थों को पकाने और (सक्तुश्रीः) प्राप्त हुए पदार्थों का आश्रय करने वाले होते हैं ॥ ५७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को युक्ति और विद्या से सेवन किये हुए सब सृष्टिस्थ पदार्थ शरीर आत्मा और सामाजिक सुख कराने वाले होते हैं ॥ ५७ ॥

विश्वेदेवाश्चेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विश्वे देवा देवताः । भुरिगार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण विद्वद्विषयमाह ॥

फिर प्रकारान्तर से विद्वद्विषय को अगले मन्त्र में कहा है ॥

विश्वे देवाश्च॑मसेषून्नी॑तोऽसु॒र्होमा॒योद्य॑तो रु॒द्रो हूयमा॑नो वातो॒ऽभ्यावृ॑तो नृ॒चक्षाः॒ प्रति॑ख्यातो भ॒क्षो भक्ष्यमा॑णः पि॒तरो॑ नाराश॒ꣳसाः ॥ ५८ ॥

विश्वे॑ । दे॒वाः । च॒म॒सेषु॑ । उन्नी॑त॒ऽइत्यु॒त्ऽनी॑तः । असुः॑ । होमा॑य । उद्य॑त॒ऽइत्यु॒त्ऽय॑तः । रु॒द्रः । हू॒यमा॑नः । वातः॑ । अ॒भ्यावृ॑त॒ऽइत्य॑भि॒ऽआवृ॑तः । नृ॒चक्षा॒ऽइति॑ नृ॒ऽचक्षाः॑ । प्रति॑ख्यात॒ऽइति॒ प्रति॑ऽख्यातः । भ॒क्षः । भ॒क्ष्यमा॑णः । पि॒तरः॑ । ना॒रा॒श॒ꣳसाः ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (चमसेषु) मेघेषु । चमस इति मेघना॰ निघं॰ १ । १० (उन्नीतः) ऊर्ध्वं नीतः सुगन्धादिपदार्थः (असुः) प्राणः (होमाय) दानायादानाय वा (उद्यतः) प्रयत्नेन प्रेरितः (रुद्रः) जीवः (हूयमानः) स्वीकृतः (वातः) वायो वायुः (अभ्यावृतः) आभिमुख्येनाङ्गीकृतः

(नृचक्षाः) नॄन् मनुष्यान् चष्टइति (प्रतिख्यातः) ख्यातंख्यातं प्रतीति (भक्षः) भोज्यसमूहः (भक्ष्यमाणः) भुज्यमानः (पितरः) ज्ञानिनः (नाराशंसाः) नारानाशंसन्ति नराशंसानामिमउपदेशकाः। अयम्मन्त्रः शत० १२ । ३ । १ । २७—३३ व्याख्यातः ॥५८॥

अन्वयः—यैर्होमाय यज्ञविधानेन चमसेषु सुगन्ध्यादिरुन्नीतोऽसुरुद्यतो रुद्रो हूयमानो नृचक्षाः प्रतिख्यातो वातोऽभ्यागतस्तच्छोधितो भक्ष्यमाणो भक्षः कृतस्ते विश्वे देवा नाराशंसाः पितरश्च वेद्याः ॥ ५८ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसः परोपकारबुद्ध्या विद्यां विस्तार्य्य सुगन्धिपुष्टिमधुरतारोगनाशकगुणयुक्तानां द्रव्याणां यथावन्मेलनं कृत्वाऽग्नौ हुत्वा वायुवृष्टिजलौषधीः संशोध्य शरीरारोग्यं जनयंति त इह पूज्यतमाः सन्ति ॥ ५८ ॥

पदार्थः—जिन विद्वानों ने यज्ञ विधान से [चमसेषु] मेघों में सुगन्धि आदि वस्तु [उन्नीतः] ऊंचे पहुंचाया [असुः] अपना जीवन [उद्यतः] अच्छे यज्ञ में लगा रक्खा [रुद्रः] जीव को पवित्र कर [हूयमानः] स्वीकार किया [नृचक्षाः] मनुष्यों को प्रसन्न करने वाला [प्रतिख्यातः] जिन्होंने वादानुवाद से चाहा [वातः] बाहर के वायु अर्थात् मैदान के कठिन वायु के सह वायु शुद्ध किये फल [भक्ष्यमाणः] कुछ भोजन करने योग्य पदार्थ [भक्षः] खाइये [नाराशंसाः] प्रशंसाकर मनुष्यों के उपदेशक [विश्वेदेवाः] सब विद्वान् [पितरः] उन सब के उपकारकों को ज्ञानी समझने चाहिये ॥ ५८ ॥

भावार्थः—जो विद्वान् लोग परोपकार बुद्धि से विद्या का विस्तार करने सुगन्धि पुष्टि मधुरता और रोग नाशक गुण युक्त पदार्थों का यथायोग्य मेल अग्नि के

बीच में उन का होम कर शुद्ध वायु वर्षा का जल वा ओषधियों का सेवन कर के शरीर को आरोग्य करते हैं वे इस संसार में अत्यन्त प्रशंसा के योग्य होते हैं ॥ ५८ ॥

सन्नइत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। आर्षी बृहती छन्दः। निषादः स्वरः। यापत्येतेइत्यस्य विराडार्षी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

अथ गार्हस्थ्य कर्म्मणि यज्ञादि व्यवहारमाह ॥

अब गृहस्थ के कर्म्म में यज्ञादि व्यवहार का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः प्रप्लुतो ययोरोजसा स्कभिता रजांसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा या पत्येतेऽअप्रतीता सहोभिर्विष्णूऽअगन्वरुणा पूर्वहूतौ ॥ ५९ ॥

सन्नः। सिन्धुः। अवभृथायेत्यवऽभृथाय। उद्यत इत्युतऽयतः। समुद्रः। अभ्यवह्रियमाणइत्यभिऽअवह्रियमाणः। सलिलः। प्रप्लुत इति प्रऽप्लुतः। ययोः। ओजसा। स्कभिता। रजांसि। वीर्येभिः। वीरतमेति वीरऽतमा। शविष्ठा। या। पत्येतेऽइति पत्येते। अप्रतीतेत्यप्रतिऽइता। सहोभिरिति सहःऽभिः। विष्णूऽइति विष्णू। अगन्। वरुणा। पूर्वहूताविति पूर्वऽहूतौ ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(सन्नः) अवस्थापितः । सन्नइति पदं महीधरेण भ्रांत्या पूर्वस्य मन्त्रस्यान्ते स्वीकृतम् (सिन्धुः) नदी । सिंधवऽइति नदीना० निघं० १ । १३ (अवभृथाय) पवित्रीकरणाय यज्ञांतस्नानाय वा (उद्यतः) उत्कृष्टतया यतः (समुद्रः) अन्तरिक्षम् । समुद्रइत्यन्तरिक्षना० निघं० १ । ३ (अभ्यवह्रियमाणः) भुज्यमानः (सलिलः) शुद्धं जलं विद्यते यस्मिन् सः । अर्शआदित्वादच् । सलिलमित्युदकना० निघं० १ । १२ (प्रप्लुतः) प्रकृष्टगुणैः प्राप्तः (ययोः) होतृयजमानयोः प्रशंसिता गुणाः सन्ति (ओजसा) बलेन (स्कभिता) स्तम्भितानि धृतानि (रजांसि) लोकाः (वीर्य्येभिः) (वीरतमा) अतिशयेन वीरौ अत्र सर्वत्राकारादेशः (शविष्ठा) अतिशयेन नित्यबलसाधकौ (या) यौ (पत्येते) श्रेष्ठैः प्राप्येते (अप्रतीता) अप्रतीतगुणौ (सहोभिः) बलादिभिः (विष्णू) व्याप्तिशीलौ (अगन्) गच्छन्तु प्राप्नुवन्तु । अत्र गमधातोर्लोडर्थे लुङ् । मन्त्रे घसह्वरणशेति च्लेर्लुगनुनासिकलोपश्च (वरुणा) श्रेष्ठौ (पूर्वहूतौ) पूर्वैःशिष्टैर्विद्वद्भिराहूतौ ॥ अयम्मन्त्रः शत० १२ । ३ । १ । ३४–३६ व्याख्यातः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—यैरवभृथायाभ्यवह्रियमाणः सलिलउद्यतःसिन्धुः सन्नः समुद्रः प्रप्लुतः क्रियते ययोरोजसा रजांसि स्कभिता स्कभितानि या वीर्य्येभिर्वीरतमा शविष्ठा सहोभिरप्रतीता विष्णू वरुणा पूर्वहूतौ पत्येते तावगंस्ते सुखिनो भवन्ति ॥ ५९ ॥

भावार्थः—मनुष्याणां यज्ञादिव्यवहारेण विना गार्हस्थ्यकर्म्मणि सुखं न जायते ॥ ५९ ॥

पदार्थः—जिन्होंने (अवभृथाय) यज्ञान्त स्नान और अपने आत्मा के पवित्र करने के लिये (अभ्यवह्रियमाणः) भोगने योग्य (सलिलः) जिस में उत्तम जल है वह व्यवहार (उद्यतः) नियम से संपादन किया (सिन्धुः) नदियां (सन्नः) निर्माण की (समुद्रः) समुद्र (प्रप्लुतः) अपने उत्तम गुणों से पाया है वे विद्वान लोग (यशोः) जिन के (ओजसा) बल से (रजांसि) लोक लोकान्तर (स्कभिता) स्थित हैं (या) जो (वीर्येभिः) और पराक्रमों से (वीरतमा) अत्यन्त वीर (शविष्ठा) नित्य बल संपादन करने वाले (सहोभिः) बलों से (अप्रतीता) मूर्खों को जानने अयोग्य (विष्णू) व्याप्त होने हारे (वरुणा) अतिश्रेष्ठ स्वीकार करने योग्य (पूर्वहूतौ) जिस का सत्कार पूर्व उत्तम विद्वानों ने किया हो जो (पत्येते) श्रेष्ठसज्जनों को प्राप्त होते हैं उन यज्ञ कर्म भक्ष्य पदार्थ और विद्वानों को (अगन्) प्राप्त होते हैं वे सदा सुखी रहते हैं ॥ ५९ ॥

भावार्थः—यज्ञ आदि व्यवहारों के विना गृहाश्रम में सुख नहीं होता ॥ ५९ ॥

देवानित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । स्वराट् साम्नी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेवाह ॥

फिर भी यज्ञ विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

देवान्दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्याऽनन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन्पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ ६० ॥

देवान् । दिवम् । अगन् । यज्ञः । ततः । मा । द्रविणम् । अष्टु । मनुष्यान् । अन्तरिक्षम् । अ-

गन् । यज्ञः । ततः । मा । द्रविणम् । अष्टु । पितॄन् । पृथिवीम् । अगन् । यज्ञः । ततः । मा । द्रविणम् । अष्टु । यम् । कम् । च । लोकम् । अगन् । यज्ञः । ततः । मे । भद्रम् । अभूत् ॥ ६० ॥

पदार्थः—(देवान्) दिव्यभोगान् (दिवम्) विद्याप्रकाशम् (अगन्) प्राप्नुवन्ति । अत्र लिडर्थे लुङ् (यज्ञः) पूर्वोक्तस्सर्वैः संगमनीयः (ततः) तस्मात् (मा) माम् (द्रविणम्) विद्यादिकम् (अष्टु) प्राप्नोतु (मनुष्यान्) (अन्तरिक्षम्) मेघमण्डलम् (अगन्) (यज्ञः) (ततः) (मा) (द्रविणम्) धनादिकम् (अष्टु) (पितॄन्) ऋतून् (पृथिवीम्) (अगन्) (यज्ञः) (ततः) (मा) (द्रविणम्) प्रत्युत सुखकरम् (अष्टु) (यम्) (कम्) (च) (लोकम्) (अगन्) गच्छन्तु (यज्ञः) (ततः) (मे) मम (भद्रम्) भजनीयं कल्याणम् (अभूत्) भवतु ॥ ६० ॥

अन्वयः—विद्वांसो यो यज्ञो दिवं देवानगन्त्यगच्छन्ति तमगँस्ततो मा द्रविणमष्टु यो यज्ञोऽन्तरिक्षं मनुष्यानाप्नोति तमगँस्ततो मा द्रविणमष्टु यो यज्ञः पृथिवीं पितॄन् प्रापयति तमगँस्ततो मा द्रविणमष्टु यो यज्ञो यं कं च लोकमगँस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ ६० ॥

भावार्थः—यस्माद्यज्ञात्सर्वाणि सुखानि जायन्ते तस्यानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैः कुतो न कार्यमिति ॥ ६० ॥

पदार्थः—जो (यज्ञः) पूर्वोक्त सब के करने योग्य यज्ञ (दिवम्) विद्या के प्रकाश और (देवान्) दिव्य भोगों को प्राप्त करता है जिस को विद्वान् लोग

(अगन्) प्राप्त हों (ततः) उस से (मा) मुझ को (द्रविणम्) विद्यादि गुण (अष्टु) प्राप्त हों जो (यज्ञः) यज्ञ (अन्तरिक्षम्) मेघमण्डल और (मनुष्यान्) मनुष्यों को प्राप्त होता है जिस को भद्र मनुष्य (अगन्) प्राप्त होते हैं (ततः) उस से (मा) मुझ को (द्रविणम्) धनादि पदार्थ (अष्टु) प्राप्त हों जो (यज्ञः) यज्ञ (पृथिवीम्) पृथिवी और (पितॄन्) वसन्त आदि ऋतुओं को प्राप्त होता है जिस को आप्त लोग (अगन्) प्राप्त होते हैं (ततः) उस से (मा) मुझ को (द्रविणम्) प्रत्येक ऋतु का सुख (अष्टु) प्राप्त हो जो (यज्ञः) (कम्) किसी (च) (लोकम्) लोक को प्राप्त होता है (यम्) जिस को धर्मात्मा लोग (अगन्) प्राप्त होते हैं (ततः) उस से (मे) मेरा (भद्रम्) कल्याण (अभूत) हो ॥ ६० ॥

भावार्थः—जिस यज्ञ से सब सुख होते हैं उसका अनुष्ठान सब मनुष्यों को क्यों न करना चाहिये ॥ ६० ॥

चतुस्त्रिंशदित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । साम्न्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अस्य जगत उत्पत्तौ कति कारणानि सन्तीत्याह ॥

इस जगत् की उत्पत्ति में कितने कारण हैं यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

चतुस्त्रिꣳशत्तन्तवो ये वितत्निरे यऽइमं यज्ञꣳस्वधया ददन्ते । तेषां छिन्नꣳसम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मोऽअप्येतु देवान् ॥ ६१ ॥

चतुस्त्रिꣳशदिति चतुःऽत्रिꣳशत् । तन्तवः । ये । वितत्निर इति विऽतत्निरे । ये । इमम् । यज्ञम् । स्वधया । ददन्ते । तेषाम् । छिन्नम् । सम् । ऊँ इति । एतत् । दधामि । स्वाहा । घर्मः । अपि । एतु । देवान् ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(चतुस्त्रिंशत्) अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इन्द्रः प्रजापतिः प्रकृतिश्चेति (तंतवः) सूत्रवत्समवेतुं शीलाः (ये) (वितत्निरे) (ये) (इमम्) (यज्ञम्) सौख्यजनकम् (स्वधया) अन्नादिना (ददंते) (तेषाम्) (छिन्नम्) द्वैधीकृतम् (सम्) (उ) वितर्के (एतत्)(दधामि) (स्वाहा) सत्यया क्रियया वाचा वा (घर्म्मः)(यज्ञः) घर्म्मइतियज्ञना० निघं० ३। १७ (अपि) निश्चये (एतु) (देवान्) विदुषः। अयंमन्त्रः शत० १२। ३। १। ३७ व्याख्यातः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—ये चतुस्त्रिंशत्तन्तवो यज्ञं वितत्निरे ये च स्वधयेमं ददन्ते तेषां छिन्नं यद्द्वैधीकृतं तदेतत् स्वाहा संदधामि उइति वितर्के घर्म्मो देवानप्येतु ॥ ६१ ॥

भावार्थः—अस्य प्रत्यक्षस्य जगतश्चतुस्त्रिंशत्तत्त्वानि कारणानि सन्ति तेषां गुणदोषान् ये जानन्ति तानेव सुखमेति ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(ये) जो (चतुस्त्रिंशत्) आठोंवसु ग्यारह रुद्र बारह आदित्य इन्द्र प्रजापति और प्रकृति (तन्तवः) सूत के समान (यज्ञम्) सुख उत्पन्न करने हारे यज्ञ को (वितत्निरे) विस्तार करते हैं अथवा (ये) जो (स्वधया) अन्न आदि उत्तम पदार्थों से (इमम्) इस यज्ञ को (ददंते) देते हैं (तेषाम्) उन का जो (छिन्नम्) अलग किया हुआ यज्ञ (एतत्) उस को (स्वाहा) सत्य क्रिया वा सत्य वाणी से (सम्) (दधामि) इकट्ठा करता हूं (उ) और वही (घर्म्मः) यज्ञ (देवान्) विद्वानों को (अपि) निश्चय से (एतु) प्राप्त हो ॥ ६१ ॥

भावार्थः—इस प्रत्यक्ष चराचर जगत् के चौंतीस ३४ तत्त्व कारण हैं उन के गुण और दोषों को जो जानते हैं उन्हीं को सुख मिलता है ॥ ६१ ॥

यज्ञस्येत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। यज्ञो देवता। स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनर्यज्ञविषयमाह ॥

फिर यज्ञ का विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

यज्ञस्य दोहो वितंतः पुरुत्रा सोऽअष्टधा दिवंम-न्वातंतान। स यंज्ञ धुक्ष्व महिं मे प्रजायांᳪ रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा ॥ ६२ ॥

यज्ञस्य । दोहः । वितंत इति विऽतंतः । पुरुत्रेति पुरुऽत्रा । सः । अष्टधा । दिवंम् । अन्वातंतानेत्यंनुऽआतंतान । सः । यज्ञ । धुक्ष्व । महि । मे । प्रजायामिति प्रऽजायाम् । रायः । पोषंम् । विश्वम् । आयुः । अशीय । स्वाहा ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(यज्ञस्य) (दोहः) प्रपूर्णः सामग्रीसमूहः (विततः) विस्तीर्णः (पुरुत्रा) पुरुषु बहुषु पदार्थेषु (सः) (अष्टधा) दिग्भिरष्ट प्रकारः (दिवम्) सूर्यप्रकाशम् (अन्वाततान) आच्छाद्य विस्तारयति (सः) सूर्यप्रकाशः (यज्ञम्) यः सङ्गम्यते तत्सम्बुद्धौ (धुक्ष्व) (महि) महांतं महद्वा (मे) मम (प्रजायाम्) (रायः) धनादेः (पोषम्) पुष्टिम् (विश्वम्) सर्वम् (आयुः) जीवनम् (अशीय) प्राप्नुयाम (स्वाहा) सत्यवाग्युक्तया क्रियया ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे यज्ञसम्पादक विद्वन् यो यज्ञस्य पुरुत्रा विततोऽष्टधा दोहोऽस्ति तं त्वं दिवमन्वाततान स त्वं तं यज्ञं धुक्ष्व यो मे मम प्रजायां विश्वं महि रायस्पोषमायुश्चान्वाततनोति तमहं स्वाहाऽशीय ॥ ६२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदा यज्ञारम्भपूर्त्ती कृत्वा प्रजाभ्यो महत्सुखं प्रापणीयमिति ॥ ६२ ॥

पदार्थः—हे (यज्ञ) संगति करने योग्य विद्वन् आप जो (यज्ञस्य) यज्ञ का (पुरुत्रा) बहुत पदार्थों में (विततः) विस्तृत (अष्टधा) आठों दिशाओं से आठ प्रकार का (दोहः) परिपूर्ण सामग्रीसमूह है (सः) वह (दिवम्) सूर्य्य के प्रकाश को (अन्वाततान) व्याप्त कर फिर फैलने देता है (सः) वह आप सूर्य्य के प्रकाश में यज्ञ करने वाले गृहस्थ तू उस यज्ञ को (धुक्ष्व) परिपूर्ण कर जो (मे) मेरी (प्रजायाम्) प्रजा में (विश्वम्) सब (महि) महान् (रायः) धनादि पदार्थों की (पोषम्) समृद्धि को वा (आयुः) जीवन को बार २ विस्तारता है उस को मैं (स्वाहा) सत्ययुक्त क्रिया से (अशीय) प्राप्त होऊं ॥ ६२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सदा यज्ञ का आरम्भ और समाप्ति को करें और संसार के जीव को अत्यन्त सुख पहुंचावें ॥ ६२ ॥

आपवस्वेत्यस्य कश्यप ऋषिः । यज्ञो देवता । स्वराडार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मनुष्यैः किंवद्यज्ञः सेवनीय इत्याह ॥

मनुष्य किस के तुल्य यज्ञ का सेवन करें यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

आ पवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत् । वाजं गोमन्तमा भर स्वाहा ॥ ६३ ॥

आ । पवस्व । हिरण्यवदिति हिरण्यऽवत् । अश्ववदित्यश्वऽवत् । सोम । वीरवदिति वीरऽवत् । वाजम् । गोमन्तमिति गोऽमन्तम् । आ । भर । स्वाहा ॥ ६३ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (पवस्व) पवित्रीकुरु (हिरण्यवत्) हिरण्यादिना तुल्यम् (अश्ववत्) अश्वादिभिः समानम् (सोम) ऐश्वर्य्यमिच्छुक गृहस्थ (वीरवत्) प्रशस्तवीरसदृशमध्यादि-

पदार्थमयं यज्ञम्। अत्राऽर्शआदित्वादच् (गोमंतम्) प्रशस्तेन्द्रियादिसम्बन्धम् (आ) (भर) धर (स्वाहा) सत्यया वाचा सत्यक्रिया वा॥६३॥

अन्वयः—हे सोम त्वं स्वाहा हिरण्यवदश्ववद्वीरवद्गोमन्तमन्नं वाजमाभर तेन जगदापवस्व ॥ ६३ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं०—मनुष्यैः पुरुषार्थेन सुवर्णादिधनमासाद्याश्वादयो रक्षणीयास्तदनन्तरं वीराश्च कुतो यावदेतां सामग्रीं नाभरंति तावद्गृहाश्रमारब्धव्यो यज्ञमप्यलं कर्त्तुं न शक्नुवन्ति ॥ ६३॥

अस्मिन्नध्याये गृहस्थधर्मसेवनाय ब्रह्मचारिण्या कन्यया कुमारब्रह्मचारिस्वीकरणं गृहाश्रमधर्मवर्णनं राजप्रजासभापत्यादिकृत्यमुक्तमत एतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह संगतिरस्तीति बोद्धव्यम् ॥

पदार्थः—हे सोम ऐश्वर्य्य चाहने वाले गृहस्थ तू (स्वाहा) सत्य वाणी वा सत्य क्रिया से (हिरण्यवत्) सुवर्ण आदि पदार्थों के तुल्य (अश्ववत्) अश्व आदि उत्तम पशुओं के समान (वीरवत्) प्रशंसित वीरों के तुल्य (गोमन्तम्) उत्तम इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले (वाजम्) अन्नादिमय यज्ञ का (आभर) आश्रय रख और उस से संसार को (आ) अच्छे प्रकार (पवस्व) पवित्र कर ॥ ६३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अपने पुरुषार्थ से सुवर्ण आदि धन को इकट्ठा कर घोड़े आदि उत्तम पशुओं को रक्खें तदनन्तर वीरों को रक्खें क्योंकि जब तक इस सामग्री को नहीं रखते तब तक गृहाश्रम रूपी यज्ञ परिपूर्ण नहीं कर सकते इसलिये सदा पुरुषार्थ से गृहाश्रम की उन्नति करते रहें ॥ ६३ ॥

इस अध्याय में गृहस्थ धर्म सेवन के लिये ब्रह्मचारिणी कन्या को कुमार ब्रह्मचारी का स्वीकार गृहस्थ धर्म का वर्णन राज प्रजा और सभापति आदि का कर्त्तव्य कहा है इस लिये इस अध्यायोक्त अर्थ के साथ पूर्व अध्याय में कहे अर्थ की संगति जाननी चाहिये॥

इति श्रीयुत परिव्राजकाचार्य्यमहाविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वती स्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्येऽष्टमोऽध्यायः समाप्तिं गतः ॥ ८ ॥

॥ अथ नवमाऽध्यायारम्भः ॥

ओम् । विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव ।
यद् भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥

देवसवितरित्यस्य इन्द्राबृहस्पती ऋषी । सविता देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विद्वद्भिश्चक्रवर्त्ती कथं कथमुपदेष्टव्य इत्युपदिश्यते ॥

विद्वान् लोग चक्रवर्त्ती राजा को कैसा २ उपदेश करें इस विषय को अगले मंत्र में कहा है ॥

देव॑ सवितः॒ प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य । दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाजं॑ नः स्वदतु॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

देव॑ । सवि॒त॒रिति॑ सवितः । प्र । सु॒व । य॒ज्ञम् । प्र । सु॒व । य॒ज्ञप॑ति॒मिति॑ य॒ज्ञऽप॑तिम् । भगा॑य । दि॒व्यः । ग॒न्ध॒र्वः । के॒त॒पूरिति॑ केत॒ऽपूः । केत॑म् । नः॒ । पु॒नातु॒ । वा॒चःऽपति॑ः । वाज॑म् । नः॒ । स्व॒द॒तु॒ । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

पदार्थः—(देव) दिव्यगुणसंपन्न (सवितः) सकलैश्वर्यसंयुक्त सम्राट् (प्र) (सुव) ईर्ष्व (यज्ञम्) सर्वेषां सुखजनकं राजधर्मम् (प्र) (सुव) (यज्ञपतिम्) राजधर्मपालकम् (भगाय) समग्रैश्वर्याय (दिव्यः) प्रकाशमानेषु क्षत्रगुणेषु भवः (गन्धर्वः) गां पृथिवीं धरतीति । पृषोदरादिना गोशब्दस्य गन्भावः (केतपूः) यः केतं प्रज्ञां पुनाति पवित्रीकरोति सः (केतम्) प्रज्ञाम् । केतमिति प्रज्ञाना० । निघं० ३ । ९ (नः) अस्माकं प्रजाराजपुरुषाणाम् (पुनातु) शुन्धतु (वाचस्पतिः) अध्ययनाध्यापनोपदेशैर्वाण्याः पालकः (वाजम्) अन्नम् (नः) अस्माकम् (स्वदतु) आभुनक्तु (स्वाहा) वेदवाचा । अयं मंत्रः शत० ५ । १ । १ । १६ व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः—हे देव सवितस्त्वं भगाय स्वाहा यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं प्रसुव यतो दिव्यो गन्धर्वः केतपूर्वाचस्पतिः प्रजाराजजनः स्वाहा नः केतं पुनातु नः स्वाहा वाजं स्वदतु ॥ १ ॥

भावार्थः— न्यायेन प्रजापालनं विद्याप्रदानकरणमेव राज्ञां यज्ञोऽस्ति ॥ १ ॥

पदार्थः—हे (देव) दिव्यगुणयुक्त (सवितः) संपूर्ण ऐश्वर्यवाले राजन् आप (भगाय) सब ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) वेदवाणी से (यज्ञम्) सब को सुख देनेवाले राजधर्म का (प्र) (सुव) प्रचार और (यज्ञपतिम्) राजधर्म के रक्षक पुरुष को (प्र) (सुव) प्रेरणा कीजिये जिस से (दिव्यः) प्रकाशमान दिव्य गुणों में स्थित (गंधर्वः) पृथिवी को धारण और बुद्धि को शुद्ध करनेवाला (वाचस्पतिः) पढ़ने पढ़ाने और उपदेश से विद्या का रक्षक सभापति राजपुरुष है वह (नः) हमारी (केतम्) बुद्धि को (पुनातु) शुद्ध करे और हमारे (वाजम्) अन्न को सत्य वाणी से (स्वदतु) अच्छे प्रकार भोगे ॥ १ ॥

भावार्थः—न्याय से प्रजा का पालन और विद्या का दान करना ही राजपुरुषों का यज्ञ करना है ॥ १ ॥

ध्रुवसदंत्वेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। ध्रुवसदमिति पूर्वस्यार्षीपंक्तिश्छन्दः। पंचमः स्वरः। अप्सुसदमित्यस्य विकृतिश्छन्दः मध्यमः स्वरः ॥

मनुष्याः कीदृशं राजानं स्वीकुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य लोग किस प्रकार के पुरुष को राज्याऽधिकार में स्वीकार करें इस विषय को अगले मंत्र में कहा है ॥

ध्रुवसदं॑न्त्वा नृषदं॑म्मनः॒सदं॑मुपयामगृ॑हीतोऽसी॒न्द्राय॑ त्वा॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्ट॑तमम्। अ॒प्सु॒षदं॑न्त्वा घृत॒सदं॑ व्योम॒सदं॑मुपयामगृ॑हीतोऽसी॒न्द्राय॑ त्वा॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्ट॑तमम्। पृथिवि॒सदं॑न्त्वाऽन्तरिक्ष॒सदं॑न्दिवि॒सदं॑न्देव॒सदं॑न्नाक॒सदं॑मुपयामगृ॑हीतोऽसी॒न्द्राय॑ त्वा॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्ट॑तमम् ॥ २ ॥

ध्रुवसद॒मिति॑ ध्रुव॒ऽसदं॑म्। त्वा॒। नृ॒षदं॑म्। नृ॒सद॒मिति॑ नृ॒ऽसदं॑म्। म॒नः॒सद॒मिति॑ म॒नः॒ऽसदं॑म्। उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः। अ॒सि॒। इन्द्रा॑य।

त्वा । जुष्टम् । गृह्णामि । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । जुष्टतममिति जुष्टऽतमम् । अप्सुषदम् । अप्सुसदमित्यप्सुऽसदम् । त्वा । घृतसदमिति घृतऽसदम् । व्योमसदमिति व्योमऽसदम् । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । जुष्टम् । गृह्णामि । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । जुष्टतममिति जुष्टऽतमम् । पृथिविसदमिति पृथिविऽसदम् । त्वा । अन्तरिक्षसदमित्यन्तरिक्षऽसदम् । दिविसदमिति दिविऽसदम् । देवसदमिति देवऽसदम् । नाकसदमिति नाकऽसदम् । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । जुष्टम् । गृह्णामि । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । जुष्टतममिति जुष्टऽतमम् ॥२॥

पदार्थः—(ध्रुवसदम्) ध्रुवेषु विद्याविनयधर्मेषु सीदन्तम् (त्वा) त्वाम् (नृसदम्) नायकेषु सीदन्तम् (मनःसदम्) मनसि विज्ञाने तिष्ठन्तम् (उपयामगृहीतः) उपगतैर्यमानामिमैः सेवकैः पुरुषैः स्वीकृतः (असि) भवसि (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्ताय

जगदीश्वराय (त्वा) त्वाम् (जुष्टम्) जुषमाणम् (गृह्णामि) स्वीकरोमि (एषः) (ते) तव (योनिः) कारणम् (इन्द्राय) राज्यैश्वर्य्याय (त्वा) (जुष्टतमम्) अतिशयेन जुषमाणम् (अप्सुसदम्) जलेषु गच्छन्तम् (त्वा) (घृतसदम्) आज्यं प्राप्नुवन्तम् (व्योमसदम्) विमानैर्व्योम्नि गच्छन्तम् (उपयामगृहीतः) उपयामैः प्रजाराजजनैः स्वीकृतः (असि) (इन्द्राय) ऐश्वर्य्यधारणाय (त्वा) (जुष्टम्) प्रीतम् (गृह्णामि) (एषः) (ते) (योनिः) (इन्द्राय) दुष्टशत्रुविदारणाय (जुष्टतमम्) (पृथिविसदम्) पृथिव्यां गच्छन्तम्। अत्र इत्यापोः सञ्ज्ञाछन्दसोर्बहुलम् । अ० ६ । ३ । ६३ इति पूर्वपदस्य ह्रस्वः (त्वा) (अन्तरिक्षसदम्)अवकाशे गमकम्(दिविसदम्) न्यायप्रकाशे व्यवस्थितम् (देवसदम्) देवेषु धार्मिकेषु विद्वत्स्ववस्थितम्(नाकसदम्) अविद्यमानं कं सुखं यस्मिन् तदकमेतन्नास्ति यस्मिन्परमेश्वरे धर्मे वा तत्रस्थम् (उपयामगृहीतः) साधनोपसाधनैः संयुक्तः (असि) (इन्द्राय) विद्यायोगमोक्षैश्वर्य्याय(त्वा) (जुष्टम्) (गृह्णामि) (एषः) (ते) (योनिः) निवसतिः (इन्द्राय) सर्वैश्वर्य्यसुखप्राप्तये (त्वा) (जुष्टतमम्) अयं मंत्रः शत० ५ । १ । २ । ३-६ व्याख्यातः ॥ २ ॥

अन्वयः—हे सम्राडहमिन्द्राय यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि तं ध्रुवसदं नृषदं मनःसदं जुष्टं त्वा गृह्णामि । यस्यैष ते योनिरस्ति तं जुष्टतमं त्वेन्द्राय गृह्णामि । हे राजन्नहमिन्द्राय यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि तमप्सुसदं घृतसदं व्योमसदं जुष्टं त्वा गृह्णामि।हे सर्वरक्ष-

क समाध्यक्ष यस्यैष ते योनिरस्ति तं जुष्टतमं त्वेन्द्राय गृह्णामि। हे सार्वभौम राजन्नहमिन्द्राय यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि पृथिविसदमन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदं जुष्टं त्वा गृह्णामि । हे सर्वसुखप्रद प्रजापते यस्यैष ते योनिरस्ति तं जुष्टतमं त्वेन्द्राय गृह्णामि ॥ २ ॥

भावार्थः—हे राजप्रजाजना यथा सर्वव्यापकेन परमेश्वरेण सर्वैश्वर्याय जगन्निर्माय सर्वेभ्यः सुखं दीयते तथा यूयमप्याचरत यतो धर्मार्थकाममोक्षफलानां प्राप्तिः सुगमा स्यात् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे चक्रवर्ति राजन् मैं (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिये जो आप (उपयामगृहीतः) योगविद्या के प्रसिद्ध अङ्ग यम के सेवनेवाले पुरुषों ने स्वीकार किये (असि) हो। उस (ध्रुवसदम्) निश्चल विद्या विनय और योग धर्मों में स्थित (नृषदम्) नायक पुरुषों में अवस्थित (मनःसदम्) विज्ञान में स्थिर (जुष्टम्) प्रीतियुक्त (त्वा) आपका (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं। जिस (ते) आप का (एषः) यह (योनिः) सुखनिमित्त है उस (जुष्टतमम्) अत्यन्त सेवनीय (त्वा) आप का (गृह्णामि) धारण करता हूं। हे राजन् मैं (इन्द्राय) ऐश्वर्य्य धारण के लिये जो आप (उपयामगृहीतः) प्रजा और राजपुरुषों ने स्वीकार किये (असि) हो। उस (अप्सुसदम्) जलों के बीच चलते हुए (घृतसदम्) घी आदि पदार्थों को प्राप्त हुए और (व्योमसदम्) विमानादि यानों से आकाश में चलते हुए (जुष्टम्) सब के प्रिय (त्वा) आप का (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं। हे सब की रक्षा करनेहारे समाध्यक्ष राजन् जिस (ते) आप का (एषः) यह (योनिः) सुखदायक घर है उस (जुष्टतमम्) अतिप्रसन्न (त्वा) आप को (इन्द्राय) दुष्ट शत्रुओं के मारने के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं हे सब भूमि में प्रसिद्ध राजन् मैं (इन्द्राय) विद्या योग और मोक्षरूप ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये जो आप (उपयामगृहीतः) साधन उपसाधनों से युक्त (असि) हो उस (पृथिविसदम्) पृथिवी में भ्रमण करते हुए (अन्तरिक्षसदम्) अवकाश में चलनेवाले (दिविसदम्) न्याय के प्रकाश में नियुक्त (देवसदम्) धर्मात्मा और विद्वानों के मध्य में अवस्थित (नाकसदम्) सब दुःखों से रहित परमेश्वर और धर्म्म में स्थिर (जुष्टम्) सेवनीय (त्वा) आपका (गृह्णामि)

स्वीकार करता हूं। हे सब सुख देने और प्रजापालन करनेहारे राजपुरुष जिस (ते) तेरा (एषः) यह (योनिः) रहने का स्थान है उस (जुष्टतमम्) अत्यन्त प्रिय (त्वा) आप को (इन्द्राय) समग्र सुख होने के लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थः—हे राजप्रजाजनो जैसे सर्वव्यापक परमेश्वर सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य भोगने के लिये जगत् रच के सब के लिये सुख देता वैसा ही आचरण तुम लोग भी करो कि जिस से धर्म अर्थ काम और मोक्ष फलों की प्राप्ति सुगम होवे ॥ २ ॥

अपामित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। अतिशक्करी छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः प्रजाजनैः कथंभूतो जनो राजा माननीय इत्युपदिश्यते ॥

फिर प्रजाजनों को कैसा पुरुष राजा मानना चाहिये यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

अपाꣳरसमुद्वयसꣳसूर्ये सन्तꣳसमाहितम्। अपाꣳरसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ ३ ॥

अपाम्। रसम्। उद्वयसमित्युत्ऽवयसम्। सूर्ये। सन्तम्। समाहितमिति समऽआहितम्। अपाम्। रसस्य। यः। रसः। तम्। वः। गृह्णामि। उत्तममित्युत्ऽतमम्। उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। इन्द्राय। त्वा। जुष्टम्। गृह्णामि। एषः। ते। योनिः। इन्द्राय। त्वा। जुष्टतममिति जुष्टऽतमम् ॥ ३ ॥

पदार्थः–(अपाम्) जलानाम् (रसम्) सारम् (उद्वयसम्) उत्कृष्टं वयो जीवनं यस्मात्तम् (सूर्ये) सवितृप्रकाशे (सन्तम्) वर्त्तमानम् (समाहितम्) सम्यक् सर्वतो धृतम् (अपाम्) जलानाम् (रसस्य) सारस्य (यः) (रसः) वीर्यं धातुः (तम्) (वः) युष्मभ्यम् (गृह्णामि) (उत्तमम्) श्रेष्ठतम् (उपयामगृहीतः) साधनोपसाधनैः स्वीकृतः (असि) (इन्द्राय) परमेश्वराय (त्वा) (जुष्टम्) प्रीत्या वर्त्तमानम् (गृह्णामि) स्वीकरोमि (एषः) (ते) तव (योनिः) गृहम् (इन्द्राय) परमैश्वर्य्याय (त्वा) (जुष्टतमम्) अयं मन्त्रः । श० ५ । १ । २ । ७ । व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः–हे राजन्नहमिन्द्राय वः सूर्ये सन्तं समाहितमुद्वयसमपां रसं गृह्णामि । योऽपां रसस्य रसस्तमुत्तमं वो गृह्णामि । यस्यैष ते योनिरस्ति तमिन्द्राय जुष्टतमं त्वा गृह्णामि ॥ ३ ॥

भावार्थः–राजा स्वभृत्यप्रजाजनान् शरीरात्मबलवर्धनाय ब्रह्मचर्य्यौषधविद्यायोगाभ्याससेवने नियुञ्जीत यतः सर्वे रोगरहिताः सन्तः पुरुषार्थिनः स्युः ॥ ३ ॥

पदार्थः–हे राजन् मैं (इन्द्राय) ऐश्वर्य्यप्राप्ति के लिये (वः) तुम्हारे लिये (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में (सन्तम्) वर्त्तमान (समाहितम्) सब प्रकार चारों ओर धारण किये (उद्वयसम्) उत्कृष्ट जीवन के हेतु (अपाम्) जलों के (रसम्) सार का ग्रहण करता हूं (यः) जो (अपाम्) जलों के (रसस्य) सार का (रसः) सार वीर्य धातु है (तम्) उस (उत्तमम्) कल्याणकारक रस का तुम्हारे लिये

(गृह्णामि) स्वीकार करता हूं जो आप (उपयामगृहीतः) साधन तथा उपसाधनों से स्वीकार किये गये (असि) हो उस (इन्द्राय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (जुष्टम्) प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाले आप का (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं जिस (ते) आप का (एषः) यह (योनिः) घर है उस (जुष्टतमम्) अत्यन्त सेवनीय (त्वा) आप को (इन्द्राय) परम सुख होने के लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि अपने नौकर प्रजापुरुषों को शरीर और आत्मा के बल बढ़ने के लिये ब्रह्मचर्य ओषधि विद्या और योगाभ्यास के सेवन में नियुक्त करे। जिस से सब मनुष्य रोगरहित होकर पुरुषार्थी होवें ॥ ३ ॥

ग्रहा इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । राजधर्मराजादयो देवताः । भुरिक्कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

मनुष्यैराप्तं विद्वांसं सुपरीक्ष्य संगन्तव्य इत्युपदिश्यते ॥

मनुष्यों को चाहिये कि आप्त विद्वान् को अच्छे प्रकार परीक्षा करके सङ्ग करें यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

ग्रहा॑ ऊर्जाहुतयो॒ व्यन्तो॒ विप्रा॑य म॒तिम्। तेषां॒ विशि॑प्रियाणां वो॒ऽहमिष॒मूर्ज॑ꣳ स॒मग्र॑भमुपया॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्ट॑तमम् । स॒म्पृचौ॑ स्थ॒: सं मा॑ भ॒द्रेण॑ पृङ्क्तं वि॒पृचौ॑ स्थो॒ वि मा॑ पा॒प्मना॑ पृङ्क्तम् ॥ ४ ॥

ग्रहाः । ऊर्जाहुतय इत्यूर्जाऽआहुतयः । व्यन्तः ।

विप्राय । मतिम् । तेषाम् । विशिंप्रियाणामिति विऽशिंप्रियाणाम् । वः । अहम् । इषम् । ऊर्जम् । सम् । अग्रभम् । उपयामगृहीतइत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । जुष्टम् । गृह्णामि । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । जुष्टतममिति जुष्टऽतमम् । सम्पृचाविति समऽपृचौ । स्थः । सम् । मा । भद्रेण । पृङ्क्तम् । विपृचाविति विऽपृचौ । स्थः । वि । मा । पाप्मना । पृङ्क्तम् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(ग्रहाः) गृहीता गृहाश्रमिणः (ऊर्जाहुतयः) ऊर्जा बलप्राणनकारिका आहुतयो ग्रहणानि दानानि वा येषां ते (व्यन्तः) वेदविद्याम् व्याप्नुवन्तः (विप्राय) मेधाविने (मतिम्) बुद्धिम् (तेषाम्) (विशिप्रियाणाम्) विविधे धर्म्ये कर्मणि हनुनासिके येषाम् । शिप्रे हनुनासिके वा निरु० ६।७(वः) युष्मभ्यम् (अहम्) गृहस्थो राजा (इषम्) अन्नम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (सम्) (अग्रभम्) गृहीतवानस्मि (उपयामगृहीतः) राज्यगृहाश्रमनियमैर्स्वीकृतः (असि) (इन्द्राय) पुरुषार्थे द्रवणाय (त्वा) (जुष्टम्) सेवमानम् (गृह्णामि) (एषः) (ते)(योनिः) सुखनिमित्तम् (इन्द्राय)शत्रुविदारकाय बलाय (त्वा) (जुष्टतमम्) अतिशयेन प्रसन्नम् (सम्पृचौ) राजगृहाश्रमव्यवहाराणां सम्यक्

पृङ्क्तारौ राजप्रजाजनौ (स्थः) भवतम् (सम्) (मा) माम्(भद्रेण) भजनीयेन सुखप्रदेनैश्वर्येण (पृङ्क्तम्) स्पर्शी कुरुतम् (विपृचौ) विगतसम्पर्कौ (स्थः) स्यातम् (वि) (मा) माम् (पाप्मना) अधर्मात्मना जनेन (पृङ्क्तम्) अयं मंत्रः । शत० ५ । १ । २।८॥ व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः—हे प्रजापालपुरुष यथाऽहं विप्राय मतिं व्यन्त ऊर्जाहुतयो ग्रहाः सन्ति यथा तेषां विशिप्रियाणां मतिमिषमूर्जं च समग्रभं तथा त्वमपि गृहाण । हे विद्वन् यथा त्वमुपयामगृहीतोऽसि तथाऽहमपि भवेयं यथाहमिन्द्राय जुष्टं त्वा गृह्णामि तथा त्वमपि मां गृहाण । यस्यैष ते योनिरस्ति तमिन्द्राय जुष्टतमं त्वाहं यथा गृह्णामि तथा त्वमपि मां गृहाण । यथा स त्वं च युवां धर्म्ये व्यवहारे संपृचौ स्थस्तथा भद्रेण मा मां संपृङ्क्तम् । यथा युवां पाप्मना विपृचौ स्थस्तथाऽनेन मा मामपि विपृङ्क्तम् ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु० ।ये राजप्रजाजना गृहस्था मेधाविने सन्तानाय विद्यार्थिने वा विद्याप्रज्ञां जनयन्ति दुष्टाचारात्पृथक् स्थापयन्ति कल्याणकारकं कर्माचरयन्ति । असत्संगं विहाय सत्संगं सेवयन्ति त एवाभ्युदयनिःश्रेयसे लभन्ते नातो विपरीताः ॥ १ ॥

पदार्थः—हे राजप्रजापुरुष जैसे (अहम्) मैं गृहस्थ जन (विप्राय) बुद्धिमान् पुरुष के सुख के लिये (मतिम्) बुद्धि को देता हूं वैसे तू भी किया कर (व्यन्तः) जो सब विद्याओं में व्याप्त (ऊर्जाहुतयः) बल और जीवन बढ़ने के लिये दान देने और (ग्रहाः) ग्रहण करनेहारे गृहस्थ लोग हैं जैसे (तेषाम्) उन (विशिप्रियाणाम्)

अनेक प्रकार के धर्मयुक्त कर्मों में मुख और नासिकावालों के (मतिम्) बुद्धि (इ-षम्) अन्न आदि और (ऊर्जम्) पराक्रम को (समग्रभम्) ग्रहण कर चुका हूं वैसे तुम भी ग्रहण करो । हे विद्वान् मनुष्य जैसे तू (उपयामगृहीतः) राज्य और गृहाश्रम की सामग्री से सहित वर्त्तमान (असि) है वैसे मैं भी होऊं । जैसे मैं (इन्द्राय) उत्तम ऐश्वर्य्य के लिये (जुष्टम्) प्रसन्न (त्वा) आप को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं वैसे तू भी मुझे ग्रहण कर जिस (ते) तेरा (एषः) यह (योनिः) घर है उस (इन्द्राय) पशुओं को नष्ट करने के लिये (जुष्टतमम्) अत्यन्त प्रसन्न (त्वा) तुझे मैं जैसे वह और तम दोनों युक्त कर्म्म में (संपृचौ) संयुक्त (स्थः) हो वैसे (मद्रेण) सेवने योग्य सुखदायक ऐश्वर्य से (मा) मुझ को (संपृङ्क्तम्) संयुक्त करो जैसे तुम (पाप्मना) अधर्मी पुरुष से (विपृचौ) पृथक् (स्थः) हो इस से (मा) मुझ को भी (विपृङ्क्तम्) पृथक् करो ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—जो राजा और प्रजा में गृहस्थ लोग बुद्धिमान् सन्तान वा विद्यार्थी के लिये विद्या होने की बुद्धि देते दुष्ट आचरणों से पृथक् रखते कल्याणकारक कर्मों का सेवन करते और दुष्टसंग से अलग सत्सङ्ग कराते हैं वे ही इस लोक और परलोक के सुख को प्राप्त होते हैं इस से विपरीत नहीं ॥४॥

इन्द्रस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । सविता देवता । भुरिगष्टिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ किमर्थः सेनापतिरत्र प्रार्थनीय इत्याह ॥

अब किसलिये सेनापति की प्रार्थना यहां करनी चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

इन्द्रस्य वज्रोऽसि वाजसास्त्वयाऽयं वाजꣳ सेत् । वाजस्य नु प्रसवे मातरम्महीमदितिन्नामवचसा करामहे । यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्मं साविषत् ॥ ५ ॥

इन्द्रस्य । वज्रः । असि । वाजसा इति वाजऽसाः । त्वया । अयम् । वाजम् । सेत् । वाजस्य । नु । प्रसव इति प्रऽसवे । मातरम् । महीम् । अदितिम् । नाम । वचसा । करामहे । यस्याम् । इदम् । विश्वम् । भुवनम् । आविवेशेत्याऽविवेश । तस्याम् । नः । देवः । सविता । धर्म । साविषत् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्ययुक्तस्य राज्ञः पुरुषः (वज्रः) वज्र इव शत्रुच्छेदकः (असि) भवसि (वाजसाः) यो वाजान् संग्रामान् विभजति सः (त्वया) रक्षकेण सेनापतिना सह (अयम्) जनः (वाजम्) संग्रामम् (सेत्) सिनुयात् । अत्र सिञ् बन्धन इत्यस्माल्लिङि विकरणलुगडभावश्च (वाजस्य) संग्रामस्य (नु) क्षिप्रम् (प्रसवे) ऐश्वर्ये (मातरम्) मान्यप्रदाम् (महीम्) पृथिवीम् (अदितिम्) अखण्डिताम् (नाम) प्रसिद्धौ (वचसा) वेदोक्तन्यायोपदेशकवचनेन (करामहे) कुर्य्याम । अत्र लेटि व्यत्ययेन शप् । अथवा भ्वादिर्भिन्नक्रमः (यस्याम्) पृथिव्याम् (इदम्) प्रत्ययालम्बनम् (विश्वम्) सर्वम् (भुवनम्) जगत् (आविवेश) आविष्टमस्ति (तस्याम्) (नः) अस्माकम् (देवः) सर्वप्रकाशकः (सविता) सकलजगदुत्पादकः (धर्म) धारणम् (साविषत्) सवेत् । अत्र सिब्बहुलं णिदिति सिपि वृद्धिः । अयम्मंत्रः शत० ५ । १ । ४ । ३ व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे वीर यस्यां त्वमिन्द्रस्य वाजसा वज्रोऽसि तेन त्वया सहाऽयं वाजं सेधन्नेदं विश्वं भुवनमाविवेश यत्र देवः सविता नो धर्म साविषत्तस्यां नाम वाजस्य प्रसवे मातरमदितिं महीं वचसा नु करामहे ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या येयं भूमिर्भूतानां सौभाग्यजननी मातृवत्पालिकाऽऽधारभूता प्रसिद्धाऽस्ति तां विद्यान्याय धर्मयोगेन राज्याय यूयं सेवध्वम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे वीर पुरुष (यस्याम्) जिस में (त्वम्) आप (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्ययुक्त राजा के (वाजसाः) संग्रामों का विभाग करनेवाला (वज्रः) वज्र के समान शत्रुओं को काटनेवाले (असि) हो उस (त्वया) रक्षक आप के साथ (अयम्) यह पुरुष (वाजम्) संग्राम का (सेधन्) प्रबन्ध करे । जहां (इदम्) प्रत्यक्ष वर्त्तमान (विश्वम्) सब (भुवनम्) जगत् (आविवेश) प्रविष्ट है और जहां (देवः) सब का प्रकाशक (सविता) सब जगत् का उत्पादक परमात्मा (नः) हमारा (धर्म्म) धारण (साविषत्) करे (तस्याम्) उस में (नाम) प्रसिद्ध (वाजस्य) संग्राम के (प्रसवे) ऐश्वर्य्य में (मातरम्) मान्य देनेहारी (अदितिम्) अखंडित (महीम्) पृथिवी को (वचसा) वेदोक्त न्याय के उपदेशरूप वचन से हम लोग (नु) शीघ्र (करामहे) ग्रहण करें ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो जो यह भूमि प्राणियों के लिये सौभाग्य के उत्पन्न माता के समान रक्षा और सब को धारण करनेहारी प्रसिद्ध है उस का विद्या न्याय और धर्म्म के योग से राज्य के लिये तुम लोग सेवन करो ॥५॥

अप्स्वन्तरित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । अश्वो देवता । भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषैः कथं भवितव्यमित्याह ॥

फिर स्त्री पुरुषों को कैसा होना चाहिये यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान्वाजसास्तेनायं वाजꣳ सेत् ॥ ६ ॥

अप्स्वित्यप्ऽसु। अन्तः। अमृतम्। अप्स्वित्यप्ऽसु। भेषजम्। अपाम्। उत। प्रशस्तिष्विति प्रऽशस्तिषु। अश्वाः। भवत। वाजिनः। देवीः। आपः। यः। वः। ऊर्मिः। प्रतूर्त्तिरिति प्रऽतूर्तिः। ककुन्मानिति ककुत्ऽमान्। वाजसा इति वाजऽसाः। तेन। अयम्। वाजम्। सेत् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अप्सु) प्राणेषु (अन्तः) मध्ये (अमृतम्) मरणधर्मरहितं कारणमल्पमृत्युनिवारकं वा (अप्सु) जलेषु (भेषजम्) रोगनाशकमौषधम् (अपाम्) उक्तानाम् (उत) अपि (प्रशस्तिषु)गुणानां प्रशंसासु (अश्वाः) वेगवन्तः (भवत) (वाजिनः) वाजः प्रशस्तः पराक्रमो बलं वा येषान्ते (देवीः) दिव्यगुणाः (आपः) अन्तरिक्षे व्याप्तिशीलाः (यः) (वः) युष्माकम् (ऊर्मिः) आच्छादकस्तरंगः (प्रतूर्तिः) प्रकृष्टा तूर्णगतिर्यस्य सः (ककुन्मान्) प्रशस्ताः ककुतः लौल्या गुणा विद्यन्ते यस्मिन् । अत्र ककधातोरौणादिक उतिः (वाजसाः) वाजान् सङ्ग्रामान् सनन्ति संभजन्ति येन सः (तेन) (अयम्) सेनापतिः (वाजम्) संग्राममन्नं च (सेत्) संबध्नीयात् । अयं मंत्रः ५ । १ । ४ । ६ व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अन्वयः–हे देवीरापो देवा विद्वांसश्च यूयं यो वः समुद्रस्य ककुन्मान् वाजसाः प्रतूर्तिरूर्मिरिव पराक्रमोऽस्ति यदप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजं चास्ति येनायं वाजं सेत् तेनाऽपां प्रशस्तिषु वाजिनोऽश्वा इव भवत ॥ ६ ॥

भावार्थः–अत्र वाचकलु०–स्त्रियः सागर इव गंभीरा जलमिव शान्तस्वभावा वीरप्रसवाः सदौषधसेविन्यो जलादिपदार्थाभिज्ञाः स्युरेवं ये पुरुषा वायुजलवेतृभिः सह संप्रयुंजते तास्ते चारोगाः सन्तो विजयिनश्च स्युः ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे (देवीः) दिव्यगुणवाली (आपः) अन्तरिक्ष में व्यापक स्त्री पुरुष लोगो तुम (यः) जो (वः) तुम्हारा (समुद्रस्य) सागर के (ककुन्मान्) प्रशस्त चंचल गुणों से युक्त (वाजसाः) संग्रामों के सेवने का हेतु (प्रतूर्त्तिः) अतिशीघ्र चलनेवाला समुद्र के (ऊर्मिः) आच्छादन करनेहारे तरंगों के समान पराक्रम और जो (अप्सु) प्राण के (अन्तः) मध्य में (अमृतम्) मरण धर्मरहित कारण और जो (अप्सु)जलों के मध्य अल्पमृत्यु से छुड़ानेवाला(भेषजम्) रोगनिवारक औषध के समान गुण है जिस से (अयम्) यह सेनापति (वाजम्) संग्राम और अन्न का प्रबन्ध करे (तेन) उस से (अपाम्) उक्त प्राणों और जलों की (प्रशस्तिषु) गुण प्रशंसाओं में (वाजिनः) प्रशंसित बल और पराक्रम वाले (अश्वाः) कुलीन घोड़ों के समान वेगवाले (भवत) हूजिये ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु०—स्त्रियों को चाहिये कि समुद्र के समान गम्भीर जल के समान शान्तस्वभाव वीरपुत्रों को उत्पन्न करने नित्य ओषधियों को सेवने और जलादि पदार्थों को ठीक २ जाननेवाली होवें इसी प्रकार जो पुरुष वायु और जल के गुणों के वेत्ता पुरुषों से संयुक्त होते हैं वे रोगरहित होकर विजयकारी होते हैं ॥ ६ ॥

वातोवेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । सेनापतिर्देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः।

मनुष्या कथं किं कृत्वा वेगवन्तो भवेयुरित्याह ॥

मनुष्य लोग किस प्रकार क्या करके वेग वाले हों इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

वातो॑ वा॒ मनो॑ वा ग॒न्धर्वाः॒ स॒प्तवि॑ꣳशतिः । ते॒ऽअग्रे॒ऽश्व॑मयुञ्ज॒स्ते अ॒स्मिन् ज॒वमाद॑धुः ॥ ७ ॥

वातः॑ । वा॒ । मनः॑ । वा॒ । ग॒न्ध॒र्वाः । स॒प्तवि॑ꣳशति॒रिति॑स॒प्तऽवि॑ꣳशतिः । ते । अग्रे॑ । अश्व॑म् । अ॒यु॒ञ्ज॒न् । ते अ॒स्मिन् । ज॒वम् । आ । अ॒द॒धुः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(वातः) वायुः (वा) इव (मनः) स्वान्तम् (वा) इव (गन्धर्वाः) ये वायवइन्द्रियाणि च धरन्ति ते (सप्तविंशतिः) एतत्संख्याकाः (ते) (अग्रे) (अश्वम्) व्यापकत्ववेगादिगुण समूहम् (अयुञ्जन्) युञ्जन्ति (ते) (अस्मिन्) जगति (जवम्) वेगम् (आ) (अदधुः) अयं मंत्रः शत॰ ५ । १ । ४ । ८ व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः—ये विद्वांसो वातो वा मनो वा यथा सप्तविंशतिर्गन्धर्वा अस्मिन् जगत्यग्रेऽश्वमयुञ्जँस्ते खलु जवमादधुः ॥ ७ ॥

भावार्थः—यान्यंकः समष्टिर्वायुः प्राणाऽपानव्यानोदानसमानैनागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजया दश द्वादशं मनस्तत्सहचारितानि श्रोत्रादीनि दशेन्द्रियाणि पंचसूक्ष्मभूतानि च मिलित्वा सप्तविंशतिः

पूर्वमीश्वरेणास्मिन् जगति वेगवन्ति निर्मितानि यएतानि यथा-गुणकर्मस्वभावं विज्ञाय यथायोग्यं कार्य्येषु संप्रयुज्य स्वस्त्रीभि-रेव साकं रमन्ते तेऽखिलमैश्वर्य्यं जनयित्वा राज्यं कर्त्तुमर्हन्ति॥७॥

पदार्थः—जो विद्वान् लोग (वातः) वायु के (वा) समान (मनः) मन के (वा) समतुल्य और जैसे (सप्तविंशतिः) सत्ताईस (गन्धर्वाः) वायु इन्द्रिय और भूतों का धारण करने हारे (अस्मिन्) इस जगत् में (अग्रे) पहिले (अश्वम्) व्यापकता और वेगादि गुणों को (अयुञ्जन्) संयुक्त करते हैं (ते) वेही (जवम्) उत्तम वेग को (आदधुः) धारण करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो एक समिष्ट वायु, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, और धनंजय, (दश) बारहवां मन, तथा इस के साथ श्रोत्र आदि दश इन्द्रिय और पांच सूक्ष्म भूत ये सब २७ सत्ताईस पदार्थ ईश्वर ने इस जगत् में पहिले रचे हैं। जो पुरुष इन के गुण कर्म और स्वभाव को ठीक २ जान और यथायोग्य कार्य्यों में संयुक्त करके अपनी २ ही स्त्री के साथ क्रीड़ा करते हैं वे संपूर्ण ऐश्वर्य्य को संचित कर राज्य के योग्य होते हैं ॥ ७ ॥

वातरंहेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। भुरिक्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

तं राजानं विद्वांसः किंकिमुपदिशेयुरित्याह ॥

उस राजा को विद्वान् लोग क्या २ उपदेश करें यह विषय अगले मंत्र में कहा है

वातरꣳहा भव वाजिन्युज्यमान् इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि। युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसऽआ ते त्वष्टा पत्सु जवन्दधातु ॥ ८ ॥

वातंरᳬहाइतिवातंऽरᳬहाः । भव । वाजिन् । युज्यमान । इन्द्रस्येवेतीन्द्रस्यऽइव । दक्षिणः । श्रिया । एधि । युंजन्तु त्वा । मरुतः । विश्ववेदसइतिविश्वऽवेदसः । आ । ते । त्वष्टा । पत्स्वितिपत्ऽसु । जवम् । दधातु ॥ ८ ॥

पदार्थः–(वातरंहाः) वायुवद्रंहो वेगो यस्य सः (भव) (वाजिन्) शास्त्रोक्तक्रियाकुशलताबोधयुक्त (युज्यमानः) समाहितः सन् (इन्द्रस्येव) यथा परमैश्वर्ययुक्तस्य राज्ञः (दक्षिणः) दक्षः प्रशस्तं बलं गतिर्विद्यते यस्य तस्य (श्रिया) शोभायुक्तया राज्यलक्ष्म्या देदीप्यमानया राज्या वा (एधि) वृद्धो भव (युजन्तु) प्रेरताम् (त्वा) त्वाम् (मरुतः) विद्वांसो मनुष्याः (विश्ववेदसः) सकलविद्यावेत्तारः (आ) (ते) तव (त्वष्टा) वेगादिगुणविद्यावित् (पत्सु) पादेषु (जवम्) वेगम् (दधातु) अयं मंत्रः । शत० ५ । १ । ४ । ३ ॥ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अन्वयः–हे वाजिन् यं त्वा विश्ववेदसो मरुतो राज्यशिल्पकार्येषु युंजन्तु । त्वष्टा ते तव पत्सु जवमादधातु स त्वं वातरंहा भव युज्यमानस्त्वं दक्षिणइन्द्रस्येव श्रिया सहैधि ॥ ८ ॥

भावार्थः–अत्रोपमालं० हे राजस्त्रीपुरुषा यूयं निरभिमानिनो निर्मत्सरा भूत्वा विद्वत्सङ्गेन राज्य धर्मं पालयित्वा विमानादियानेषु स्थित्वाऽभीष्टदेशेषु गत्वागत्य जितेन्द्रियाः सन्तः प्रजाः सततं प्रसाध्य श्रीमन्तो भवत ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे (वाजिन्) शास्त्रोक्त क्रिया कुलशता के प्रशस्त बोध से युक्त सज्जन् जिस (त्वा) आप को (विश्व वेदसः) समस्त विद्याओं के जानने हारे (प्रशस्तः) विद्वान् लोग राज्य और शिल्प विद्याओं के कार्यों में (युञ्जन्तु) युक्त करें (त्वष्टा) वेगादि गुण विद्या का जानने हारा मनुष्य (ते) आप के (पत्सु) पगों में (जवम्) वेग को (आदधातु) अच्छे प्रकार धारण करे । वह आप (वातरंहाः) वायु के समान वेग वाले (भव) हूजिये और (यज्यमानः) सावधान होके (दाक्षिणः) प्रशंशित धर्म से चलने के वल से युक्त होके (इन्द्रस्येव) परम ऐश्वर्य्य वाले राजा के समान (श्रिया) शोभा युक्त राज्य संपत्ति वा राणी से सहित (एधि) वृद्धि को प्राप्त हूजिये ॥ ८ ॥

भवार्थः—इस मंत्र में उपमालंकार है । हे राजसम्बन्धी स्त्री पुरुषो आप लोग अभिमान रहित और निर्मत्सर अर्थात् दूसरों की उन्नति देखकर प्रसन्न होने वाले होकर विद्वानो के साथ मिल के राज धर्म की रक्षा किया करो तथा विमानादि यानों में बैठ के अपने अभीष्ट देशों में जा जितेन्द्रिय हो और प्रजा को निरन्तर प्रसन्न कर के श्रीमान् हुआ कीजिये ॥ ८ ॥

जव इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । वीरो देवता । धृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स राजा कीदृशो भवेदित्याह ॥

फिर वह राजा कैसा होवे यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तो अचरच्च वाते । तेन नो वाजिन्बलवान्बलेन वाजिच्च भव समने च पारयिष्णुः । वाजिनो वाजजितो वाजꣳ सरिष्यन्तो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत ॥ ९ ॥

जवः । यः । ते । वाजिन् । निहितइतिनिऽहितः ।
गुहा । यः । श्येने । परीत्तः । अचरत् । च । वाते ।
तेन । नः । वाजिन् बलवानितिबलऽवान् । बलेन ।
वाजजिदितिवाजऽजित् । च । भव । समने । च ।
पारयिष्णुः । वाजिनः । वाजजितइतिवाजऽजितः ।
वाजम् । सरिष्यन्तः । बृहस्पतेः । भागम् । अव ।
जिघ्रत ॥ ९ ॥

पदार्थः—(जवः) वेगः (यः) (ते) तव (वाजिन्) प्रशस्तशास्त्रयोगाभ्यासकृत्यसहित (निहितः) स्थितः (गुहा) गुहायां बुद्धौ (यः) वेगः (श्येने) पक्षिणीव (परीत्तः) सर्वतो वृत्तः (अचरत्) चरति (च) (वाते) वायाविव (तेन) (नः) अस्माकम् (वाजिन्) वेगवन् (बलवान्) बहुबलयुक्तः (बलेन) सैन्येन पराक्रमेण वा (वाजजित्) संग्रामं विजयमानः (च) (भव) (समने) संग्रामे (च)(पारयिष्णुः) दुःखात्पारयिता (वाजिनः) प्रशस्तवेगयुक्ताः (वाजजितः) संग्रामं जयन्तः (वाजम्) बोधमन्नादिकं वा (सरिष्यन्तः) प्राप्स्यन्तः (बृहस्पतेः) महतां वीराणां पालयितुःसेनाध्यक्षस्य (भागम्) सेवनम् (अव) अधोऽर्थे (जिघ्रत) सुगन्धान् बोधान् वा गृह्णीत । अयं मंत्रः शत० ५ । १ । ४ । १० व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे वाजिन् सेनाध्यक्ष राजन् ते तव यो जवो गुहा

निहितो यः श्येने इव परीत्तो वाते इवाचरश्च तेन नो बलेन बलवान् भव । हे वाजिन् तेन च समने पारयिष्णुर्वाजजिच्च भव । हे वाजिनो योद्धारो यूयं बृहस्पतेः सेवनं प्राप्य वाजं सरिष्यन्तः सन्तो भवत । सुगन्धानवजिघ्रत ॥ ९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु० । राजा पूर्णं शरीरात्मबलं सम्प्राप्य श्येनवद्वायुवच्छत्रुविजये यशस्वी भूत्वा स्वसभास्थान् सेनास्थान्सर्वान् भृत्याँश्च सुशिक्षितान् बलसुखयुक्तान् धार्मिकान् सततं रक्षेत् सर्वे राजप्रजाजनाः शत्रून् विजित्य परस्परं प्रीणन्तु ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे (वाजिन्) श्रेष्ठ शास्त्र बोध और योगाभ्यास से युक्त सेना वा सभा के स्वामी राजन् (ते) आपका (यः) जो (जवः) वेग (गुहा) बुद्धि में (निहितः) स्थित है (यः) जो (श्येने) पक्षी में जैसा (परीत्तः) सब ओर दिया हुआ (च) और जैसे (वाते) वायु में (अचरत्) विचरता है (तेन) उस से (नः) हम लोगों के (बलेन) सेना वा पराक्रम से (बलवान्) बहुत बल से युक्त (भव) हूजिये हे (वाजिन्) वेगयुक्त राज पुरुष उसी बल से (समने) संग्राम में (पारयिष्णुः) दुःख के पार करने और (वाजजित्) सङ्ग्राम के जीतने वाले हूजिये हे (वाजिनः) प्रशंसित बल से युक्त योद्धा लोगो तुम (बृहस्पतेः) बड़ों की रक्षा करने हारे सभापति की (भागम्) सेवा को प्राप्त हो के (वाजम्) बोध वा अन्नादि पदार्थों को (सरिष्यन्तः) प्राप्त होने हुए (वाजजितः) सङ्ग्राम के जीतने हारे हो ओ और सुगन्धि युक्त पदार्थों का (अवजिघ्रत) सेवन करो॥ ९ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु० । राजा को चाहिये कि शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को पा और शत्रुओं के जीतने में श्येन पक्षी और वायु के तुल्य शीघ्र कारी हो के अपने सब सभासद सेना के पुरुष और सब नौकरों को अच्छे शिक्षित बल तथा सुख से युक्त कर धर्मात्माओं की निरन्तर रक्षा करे और सब राजा प्रजा के पुरुषों को चाहिये कि इस प्रकार के हों और शत्रुओं को जीत के परस्पर प्रसन्न रहें ॥ ९ ॥

देवस्याहमित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । इन्द्राबृहस्पती देवते । विराडुत्कृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः । मनुष्यैर्विदुषामेवाऽनुकरणं कार्य्यं न मूढानामित्युपदिश्यते ॥

मनुष्य लोगों को उचित है कि विद्वानों का अनुकरण करें मूढों का नहीं यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकꣳ रुहेयम् । देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकꣳ रुहेयम् । देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमन्नाकमरुहम् । देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवस इन्द्रस्योत्तमन्नाकमरुहम् ॥ १० ॥

देवस्य । अहम् । सवितुः । सवे । सत्यसवसइति सत्यऽसवसः । बृहस्पतेः । उत्तममित्युतऽतमम् । नाकम् । रुहेयम् । देवस्य । अहम् । सवितुः । सवे । सत्यसवसइति सत्यऽसवसः । इन्द्रस्य । उत्तममित्युत्ऽतमम् । नाकम् । रुहेयम् । देवस्य । अहम् । सवितुः । सवे । सत्यप्रसवसइति सत्यऽप्रसवसः । बृहस्पतेः । उत्तममित्युत्तमम । नाकम्

अरुहम् । देवस्य । अहम् । सवितुः । सवे । सत्यप्रसवसइति सत्यऽप्रसवसः । इन्द्रस्य । उत्तममित्युत्ऽतमम् । नाकम् । अरुहम् ॥ १० ॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वतःप्रकाशमानस्य (अहम्) सभाध्यक्षो राजा (सवितुः) सकलजगत्प्रसवितुः परमेश्वरस्य (सवे) प्रसूते जगति (सत्यसवसः) सत्यं सवऐश्वर्यं जगतः कारणं कार्यं च यस्य तस्य(बृहस्पतेः) बृहतां प्रकृत्यादीनां पालकस्य (उत्तमम्) सर्वथोत्कृष्टम् (नाकम्) अविद्यमानदुःखं सर्वसुखयुक्तं तत्स्वरूपं मोक्षपदम् (रुहेयम्) (देवस्य) सर्वसुखप्रदातुः (अहम्) परोपकारी (सवितुः) सकलैश्वर्यप्रसवितुः (सवे) ऐश्वर्ये (सत्यसवसः) सत्यन्याययुक्तस्य (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यसहितस्य सम्राजः (उत्तमम्) प्रशस्तम् (नाकम्) अविद्यमानदुःखं भोगम्(रुहेयम्) (देवस्य)अखिलविद्याशुभगुणकर्मस्वभावद्योतकस्य(अहम्) विद्यामभीप्सुः (सवितुः) समग्रविद्याबोधप्रसवितुः (सवे) विद्याप्रचारैश्वर्ये (सत्यप्रसवसः) सत्योऽविनाशी प्रसवः प्रकटो बोधो यस्मात्तस्य (बृहस्पतेः)बृहत्यावेदवाण्या पालकस्य(उत्तमम्) (नाकम्) सर्वदुःखप्रणाशकमानन्दम् (अरुहम्) आरूढोऽस्मि (देवस्य) धनुर्वेदादियुद्धविद्याप्रापकस्य (अहम्) योद्धा (सवितुः) शत्रुविजयप्रसवितुः (सवे) प्रेरणे (सत्यप्रसवसः) सत्यानां न्यायविजयादीनां प्रसवो यस्मात् तस्य(इन्द्रस्य)दुष्टशत्रुविदारकस्य

(उत्तमम्)विजयाख्यम् (नाकम्) सर्वसुखप्रदम् (अरुहम्)आरूढोऽस्मि। अयं मंत्रः शत० ५ । १ । ५ । ४व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे प्रजाराजजना यथाऽहं सत्यसवसो देवस्य बृहस्पतेः सवितुर्जगदीश्वरस्य सवउत्तमं नाकं रुहेयम् । हे राजामात्यपुरुषा यथाऽहं सत्यसवसो देवस्य सवितुरिन्द्रस्य सम्राजः सवउत्तमं नाकं रुहेयम् । हे अध्येताध्यापका विद्याप्रिया जना यथाऽहं सत्यप्रसवसः सवितुर्देवस्य बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहं हे विजयाभिकांक्षिणो योद्धारो वीरा यथाहं सत्यप्रसवसो देवस्य सवितुरिन्द्रस्य सवउत्तमं नाकमरुहं तथा यूयमप्यारोहत ॥ १० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु० राजप्रजाजनैः परस्परमविरोधेनेश्वरचक्रवर्तिराज्यसमग्रविद्याः सम्भज्य सर्वाण्युत्तमानि सुखानि प्राप्तव्यानि प्रापयितव्यानि च ॥ १० ॥

पदार्थः— हे राजा और प्रजा के पुरुषो ! जैसे (अहम्) मैं सभाध्यक्ष राजा (सत्यसवसः) जिस का ऐश्वर्य और जगत् का कारण सत्य है उस (देवस्य) सब ओर से प्रकाशमान (बृहस्पतेः) बड़े प्रकृत्यादि पदार्थों के रक्षक (सवितुः) सब जगत् को उत्पन्न करने हारे जगदीश्वर के (सवे) उत्पन्न किये जगत् में (उत्तमम्) सब से उत्तम (नाकम्) सब दुःखों से रहित सच्चिदानन्द स्वरूप को (रुहेम्) आरूढ़ होऊं हे राजा के सभासद् लोगो ! जैसे (अहम्) मैं परोपकारी पुरुष (सत्यसवसः) सत्यन्याय से युक्त (देवस्य) सब सुख देने (सवितुः) संपूर्ण ऐश्वर्य के उत्पन्न करने हारे (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य के सहित चक्रवर्ती राजा के (सवे) ऐश्वर्य में (उत्तमम्) (प्रशंसा के योग्य (नाकम्) दुःख रहित भोग को प्राप्त हो के (रुहेयम्) आरूढ़ होऊं । हे पढ़ने पढ़ाने हारे विद्या प्रिय लोगो ! जैसे (अहम्) मैं विद्या चाहनेहारा जन (सत्यप्रसवसः) जिस से अविनाशी प्रकट बोध हो उस (देवस्य) संपूर्ण विद्या और शुभ गुण कर्म और स्वभाव के प्रकाश से युक्त (सवितुः) समग्र विद्या बोध के उत्पन्न कर्त्ता (बृहस्पतेः) उत्तम वेदवाणी की रक्षा करने हारे वेद वेदांगोपांगो

के पारदर्शी के (सवे) उत्पन्न किये विज्ञान में (उत्तमम्) सब से उत्तम (नाकम्) सब दुःखों से रहित आनन्द को (अरुहम्) आरूढ़ हुआ हूं हे विजयप्रिय लोगो ! जैसे (अहम्) मैं योद्धा मनुष्य (सत्यप्रसवसः) जिस से सत्य-न्याय विनय और विजयादि उत्पन्न हों उस (देवस्य) धनुर्वेद युद्ध विद्या के प्रकाशक (सवितुः) शत्रुओं के विजय में प्रेरक (इन्द्रस्य) दुष्ट शत्रुओं को विदीर्ण करने हारे पुरुष की (सवे) प्रेरणा में (उत्तमम्) विजय नामक उत्तम (नाकम्) सब सुख देने हारे संग्राम को (अरुहम्) आरूढ़ हुआ हूं वैसे आप भी सब लोग आरूढ़ हूजिये ॥ १० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु० सब राजा और प्रजा के पुरुषों को चाहिये कि परस्पर विरोध को छोड़ ईश्वर चक्रवर्ती राज्य और समग्र विद्याओं का सेवन करके सब उत्तम सुखों को आप प्राप्त हों और दूसरों को प्राप्त करें ॥ १० ॥

बृहस्पतइत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । इन्द्राबृहस्पती देवते । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथोपदेष्टृविषयमाह ॥

अब उपदेश करने और सुनने वालों का विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

बृह॑स्पते॒ वाजं॑ जय॒ बृह॒स्पत॑ये॒ वाचं॑ वदत॒ बृह॒स्पतिं॒ वाजं॑ जापयत । इन्द्र॒ वाजं॑ जयेन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद॒तेन्द्रं॒ वाजं॑ जापयत ॥ ॥ ११

बृह॑स्पते । वाज॑म् । जय॒ । बृह॒स्पत॑ये । वाच॑म् । वद॒त॒ । बृह॒स्पति॑म् । वाज॑म् । जाप॒यत॒ । इन्द्र॑ । वाज॑म् । जय॒ । इन्द्रा॑य । वाच॑म् । व॒दत॒ । इन्द्र॑म् । वाज॑म् । जाप॒यत ॥ ११ ॥

पदार्थः—(बृहस्पते) सकलविद्याप्रचारकोपदेशक (वाजम्) विज्ञानं संग्रामं वा (जय) (बृहस्पतये) अध्ययनाध्यापनाभ्यां विद्याप्रचाररक्षकाय (वाचम्) वेदसुशिक्षाजनितां वाणीम् (वदत) अध्यापयतोपदिशत वा (बृहस्पतिम्) सम्राजमनूचानमध्यापकं वा (वाजम्) विद्याबोधं युद्धं वा (जापयत) उत्कर्षेण बोधयत (इन्द्र) विद्यैश्वर्यप्रकाशक शत्रुविदारक वा (वाजम्) परमैश्वर्य शत्रुविजयाख्यं युद्धं वा (जय) उत्कर्ष (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्रापकाय (वाचम्) राजधर्मप्रचारिणीम् वाणीम् (वदत) (इन्द्रम्) (वाजम्) (जापयत) उत्कृष्टतां प्रापयत । अयं मंत्रः शत० ५। १ । ५ । ८ व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे बृहस्पते सर्वविद्याध्यापकोपदेशक वा त्वं वाजं जय । हे विद्वांसो यूयमस्मै बृहस्पतये वाचं वदतेमं बृहस्पतिं वाजं जापयत । हे इन्द्र त्वं वाजं जय । हे युद्धविद्याकुशला विद्वांसो यूयमस्माइन्द्राय वाचं वदतेममिन्द्रं वाजं जापयत ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालंकारः । राजा तथा प्रयतेत यथा वेदविद्याप्रचारः शत्रुविजयश्च सुगमः स्यात् । उपदेशका योद्धारश्चेत्थं प्रयतेरन् यतो राज्ये वेदादिशास्त्राध्ययनाऽध्यापनप्रवृत्तिः स्वराजा विजयाऽलङ्कृतो भवेद्येन धर्मवृद्धिरधर्महानिश्च सुतिष्ठेत् ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे (बृहस्पते) सम्पूर्ण विद्याओं का प्रचार और उपदेश करने हारे राजपुरुष आप (वाजम्) विज्ञान वा संग्राम को (जय) जीतो हे विद्वानो तुमलोग इस (बृहस्पतये) राजपुरुष के लिये (वाचम्) वेदोक्त सुशिक्षा से प्रसिद्ध वाणी को (वदत) पढ़ाओ और उपदेश करो इस (बृहस्पतिम्) राजा वा सर्वोत्तम अध्यापक को (वाजम्)

विद्या बोध वा युद्ध को (जापयत) बढ़ाओ और जिताओ हे (इन्द्र) विद्या के ऐश्वर्य्य का प्रकाश वा शत्रुओं को विदीर्ण करने हारे राजपुरुष आप (वाजम्) परम ऐश्वर्य्य वा शत्रुओं के विजय रूपी युद्ध को (जय) जीतो हे युद्धविद्या में कुशल विद्वानो तुमलोग इस (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य को प्राप्त करने वाले राजपुरुष के लिये (वाचम्) राजधर्म का प्रचार करने हारी वाणी को (वदत) कहो इस (इन्द्रम्) राजपुरुष को (वाजम्) संग्राम को (जापयत) जिताओ ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में श्लेषालं० । राजा को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिस से वेद विद्या का प्रचार और शत्रुओं का विजय सुगम हो और उपदेशक तथा योद्धा लोग ऐसा प्रयत्न करें कि जिस से राज्य में वेदादि शास्त्र पढ़ने पढ़ाने की प्रवृत्ति और अपना राजा विजयरूपी आभूषणों से सुशोभित होवे कि जिस से अधर्म का नाश और धर्म की वृद्धि अच्छे प्रकार से स्थिर होवे ॥ ११ ॥

एषावइत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । इन्द्राबृहस्पती देवते स्वराडतिधृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैः सर्वदा सर्वथा सत्यं वक्तव्यं श्रोतव्यं चेत्याह ॥

मनुष्यों को अति उचित है कि सब समय में सब प्रकार से सत्य ही बोलें यह उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजपताजीजपत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो वि मुच्यध्वम् । एषा वः सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो वि मुच्यध्वम् ॥ १२ ॥

एषा । वः । सा । सत्या । संवागिति सम्ऽवाक् । अभूत् । यया । बृहस्पतिम् । वाजम् । अजीजपत । अजीजपत बृहस्पतिम् । वाजम् । वनस्पतयः । वि ।

मुच्यध्वम् । एषा । वः । सा । सत्या । संवागिति सम्ऽवाक् । अभूत् । यया । इन्द्रम् । वाजम् । अजीजपत । अजीजपत । इन्द्रम् । वाजम् । वनस्पतयः । वि । मुच्यध्वम् ॥१२ ॥

पदार्थः—(एषा) उक्ता वक्ष्यमाणा च (वः) युष्माकम् (सत्या) यथार्थोक्ता (संवाक्) राजनीतिनिष्ठा सम्यग्वाणी (अभूत्) भवतु (यया) (बृहस्पतिम्) वेदशास्त्रपालकम् (वाजम्) वेदशास्त्रबोधम् (अजीजपत) उत्कर्षयत (अजीजपत) (बृहस्पतिम्) बृहतो राज्यस्य पालकम् (वाजम्) संग्रामम् (वनस्पतयः) वनस्य किरणसमूहस्येव न्यायस्य पालकाः। वनमिति रश्मिना० निघंटु० १ । ५ (वि) (मुच्यध्वम्) मुक्ता भवत । विकरणव्यत्ययेन श्यन् (एषा) पूर्वापरप्रतिपादिता (वः) युष्माकम् (सा) (सत्या) सत्यभाषणयुक्ता (संवाक्) विनयपुरुषार्थयोः सम्यक् प्रकाशिनी वाणी (अभूत्) भवेत् (यया) (अजीजपत) जापयत (अजीजपत) सम्यक्प्रापयत (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्ते पुरुषाय (वाजम्) युद्धम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तमुत्तमश्वप्रापकमुद्योगम् (वाजम्) वेगयुक्तम् (वनस्पतयः) वनानां जङ्गलानां पालकाः (वि) (मुच्यध्वम्) अयं मंत्र शत० ५ । १ । ५ । ९ ॥ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे वनस्पतयो यूयं यया बृहस्पतिं वाजमजीजपतबृहस्पतिमजीजपत सैषा वः संवाक् सत्याऽभूत । हे वनस्पतयो यूयं ययेन्द्रं वाजमजीजपते न्द्रमजीजपत सैषा वः संवाक् सत्याऽभूत् ॥१२॥

भावार्थः—नैव कदाचिदपि राजा राजाऽमात्यभृत्याः प्रजाजनाश्च स्वकीयां प्रतिज्ञां वाचं चासत्यां कुर्य्युः। यावतीं ब्रूयुस्तावतीं तथ्यामेव कुर्य्युः। यस्य वाणी सर्वदा सत्याऽस्ति स एव सम्राड् भवितुमर्हति यावदेवं न भवति तावद्राजप्रजाजना विश्वसिताः सुखस्योत्कर्षकाश्च भवितुं नार्हन्ति ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे (वनस्पतयः) किरणों के समान न्याय के पालने हारे राज पुरुषो तुम लोगो (यया) जिस से (बृहस्पतिम्) वेदशास्त्र के पालने हारे विद्वान् को (वाजम्) वेदशास्त्र के बोध को (अजीजपत).बढ़ाओ (बृहस्पतिम्) बड़े राज्य के रक्षक राज पुरुष के सङ्ग्राम को (अजीजपत) जिताओ (सा) वह (एषा) पूर्व कही वा आगे जिस को कहेंगे (वः) तुम लोगों की (समवाक्) राजनीति में स्थित अच्छी वाणी (सत्या) सत्य स्वरूप (अभूत्) होवे हे (वनस्पतयः) सूर्य्य की किरणों के समान न्याय के प्रकाश से प्रजा की रक्षा करने हारे राज पुरुषो तुम लोग (यया) जिस से (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य्य प्राप्त कराने हारे सेनापति को (वाजम्) युद्ध को (अजीजपत) जिताओ (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य्य युक्त पुरुष को (वाजम्) अत्युत्तम लक्ष्मी को प्राप्त कराने हारे उद्योग को (अजीजपत) अच्छे प्रकार प्राप्त करावें (सा) वह (एषा) आगे पीछे जिसका प्रतिपादन किया है (वः) तुम लोगों की (समवाक्) विनय और पुरुषार्थ का अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली वाणी (सत्या) सदा सत्य भाषणादि लक्षणों से युक्त (अभूत) होवे ॥ १२ ॥

भावार्थः—राजा उस के नौकर और प्रजापुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को असत्य होने कभी न दें जितना कहें उतना ठीक२ करें जिस की वाणी सब काल में सत्य होती है वही पुरुष राज्याधिकार के योग्य होता है जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उन राजा और प्रजा के पुरुषों का विश्वास और वे सुखों को नहीं बढ़ा सकते

देवस्याहमित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। सविता देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

राजपुरुषैर्धार्मिकजनानामनुकरणं कर्त्तव्यं नेतरेषामित्याह ॥

राजपुरुषों को चाहिये कि धर्मात्मा राज पुरुषों का अनुकरण करें अन्य तुच्छ बुद्धियों का नहीं यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

देवस्याहꣳसवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम् । वाजिनो वाजजितोऽध्वनस्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत ॥ १३ ॥

देवस्य । अहम् । सवितुः । सवे । सत्यप्रसवस इति सत्यऽप्रसवसः । बृहस्पतेः । वाजजित इति वाजऽजितः । वाजम् । जेषम् । वाजिनः । वाजजित इति वाजऽजितः । अध्वनः । स्कभ्नुवन्तः । योजनाः । मिमानाः । काष्ठाम् । गच्छत ॥ १३ ॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वप्रकाशकस्य जगदीश्वरस्य (अहम्) शरीरात्मबलयुक्तः सेनापतिः (सवितुः) सकलैश्वर्य्यप्रदस्य (सवे) उत्पादितेऽस्मिन्नैश्वर्य्ये (सत्यप्रसवसः) सत्यानिप्रसवांसि जगत्स्थानि कारणरूपेण नित्यानि यस्य तस्य (बृहस्पतेः) वेदवाण्याः पालकस्य (वाजजितः) संग्रामं विजयमानस्य (वाजम्) संग्रामम् (जेषम्) जयेयम् । लोडुत्तमैकवचने प्रयोगः (वाजिनः)विज्ञानवेगयुक्ताः (वाजजितः) संग्रामं जेतुं शीलाः (अध्वनः) शत्रोर्मार्गान् (स्कभ्नुवन्तः) प्रतिष्टम्भनं (कुर्वन्तः) (योजना) योजनानि बहून् क्रोशान् (मिमानाः) शत्रून् प्रक्षेपमाणाः (काष्ठाम्)दिशम् (गच्छत) अयं मंत्रः शत० ५ । १ । ५ । १५ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे वीरा यथाऽहं सत्य प्रसवसः सवितुर्देवस्य वाजजितो बृहस्पतेः सवे वाजं जेषन्तथा यूयमपि जयत । हे वाजिनो वाजजितो जना यथा यूयं योजना मिमाना अध्वनस्कभ्नुवन्तः काष्ठां गच्छत तथा वयमपि गच्छेम ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु० । योद्धारः सेनाऽध्यक्षसहायपालनाभ्यामेव शत्रून् जेतुं शक्नुवन्ति । शत्रूणां मार्गान् प्रतिबद्धुं च प्रभवन्ति यस्यान्दिशि शत्रवो विकुर्वते तत्र तान् वशं नयेयुः ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे वीर पुरुषो जैसे (अहम्) मैं शरीर और आत्मा के बल से पूर्ण सेनापति (सत्यप्रसवसः) जिस के बनाये जगत् में कारण रूप से पदार्थ नित्य हैं उस (सवितुः) सब ऐश्वर्य्य के देने (देवस्य) सब के प्रकाशक (वाजजितः) विज्ञान आदि से उत्कृष्ट (बृहस्पतेः) उत्तम वेदवाणी के पालने हारे जगदीश्वर के (सवे) उत्पन्न किये इस ऐश्वर्य्य में (वाजम्) संग्राम को (जेषम्) जीतूं वैसे तुम लोग भी जीतो हे (वाजिनः) विज्ञान रूपी वेग से युक्त (वाजजितः) संग्राम को जीतने हारे (योजना) बहुत कोशों में शत्रुओं को (मिमानाः) देख और (अध्वनः) शत्रुओं के मार्गों को रोकते हुए तुम लोग जैसे (काष्ठाम्) दिशाओं में (गच्छत) चलो हो वैसे हम लोग भी चलें ॥ १३ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु० । योद्धा लोग सेनाध्यक्ष के सहाय और रक्षा से ही शत्रुओं को जीत और उन के मार्गों को रोक सकते हैं । और इन अध्यक्षादि राजपुरुषों को चाहिये कि जिस दिशा में शत्रु लोग उपाधि करते हों वहीं जाके उन को वश में करें ॥ १३ ॥

एषस्यइत्यस्य दधिक्रावा ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । जगती छन्दः निषादः स्वरः ॥

यदा सेनासेनेशौ सुशिक्षितौ परस्परं प्रीतियुक्तौ स्यातां तदैव विजयलाभःस्यादित्याह ॥

जब सेना और सेनापति अच्छे शिक्षित होकर परस्पर प्रीति करने वाले होवें तभी विजय प्राप्त होवे यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि । क्रतुं दधिक्रा अनु सꣳसनिष्यदत्पथामङ्काꣳस्यन्वापनीफणत्स्वाहा ॥ १४ ॥

एषः । स्यः । वाजी । क्षिपणिम् । तुरण्यति । ग्रीवायाम् । बद्धः । अपिकक्ष इत्यपिऽकक्षे । आसनि । क्रतुम् । दधिक्राइति दधिऽक्राः । अनु । सꣳसनिष्यददिति समऽसनिष्यदत् । पथाम् । अङ्काꣳसि । अनु । आपनीफणदित्याऽपनीफणत् । स्वाहा ॥ १४ ॥

पदार्थः—(एषः) वीरः (स्यः) असौ । अत्र स्यश्छन्दसि बहुलमिति सोर्लोपः । (वाजी) वेगवान् (क्षिपणिम्) दूरे क्षिपन्ति शत्रून्यया तां सेनाम् (तुरण्यति) त्वरयति (ग्रीवायाम्) कण्ठे (बद्धः) (अपिकक्षे) निश्चितपार्श्वावयवे (आसनि) आस्ये (क्रतुम्) कर्म (दधिक्राः) यो दधीन् धारकान् क्राम्यति स दधिक्रा अश्वः । दधिक्राइत्यश्वना० निघं० १ । १४(अनु संसनिष्यदत्) अतिशयेन प्रस्रवन् । अत्र स्यन्दू धातोर्यङ्लुक् शतृ-

प्रत्ययेऽभ्यासस्य निक् निपात्यते (पथाम्) मार्गाणाम् (अंकांसि) लक्षणानि (अनु) (आपनीफणत्) अतिशयेन गच्छन् (स्वाहा) सत्यया वाचा । अयं मंत्रः श० ५ । १ । ५ । १९ ॥ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः--यथैष स्योऽसौ वाज्यासनि ग्रीवायां बद्धः क्रतुं संसनिष्यददपिकक्षेपथामंकांस्यन्वापनीफणद्दधिक्राः क्षिप्रंणिगच्छति तथा सेनेशः स्वाहा स्वसेनां पराक्रमयेत् ॥ १४ ॥

भावार्थः--अत्र वाचकलु० । सेनापतिरक्षिता वीरा अश्ववद्धावन्तः सद्यः शत्रून् हन्तुं शक्नुवन्ति सेनापतिः सुकर्मकारिभिः संशिक्षितैर्वीरैः सहैव युद्ध्यमानः सन् प्रशंसितो विजयते नाऽन्यथा ॥ १४ ॥

पदार्थः--जैसे (स्यः) वह (एषः) और यह (वाजी) वेगयुक्त (आसनि) मुख और (ग्रीवायाम्) कण्ठ में (बद्धः) बंधा (क्रतुम्) कर्म अर्थात् गति को (संसनिष्यदत्) अतीव फैलाता हुआ (पथाम्) मार्गों के (अंकांसि) चिन्हों को (अनु) समीप (आपनीफणत्) अच्छे प्रकार चलता हुआ (दधिक्राः) धारण करने हारों को चलाने हारा घोड़ा (क्षिप्रणिम्) सेना को जाता है वैसे ही (अपिकक्षे) इधर उधर के ठीक २ अवयवों में सेनापति अपनी सेना को (स्वाहा) सत्य वाणी से (तुरण्यति) वेग युक्त करता है ॥ १४ ॥

भावार्थ--इस मंत्र में वाचकलु० । सेनापति से रक्षा को प्राप्त हुए वीरपुरुष घोड़ों के समान दौड़ते हुए शीघ्र शत्रुओं को मार सकते हैं जो सेनापति उत्तम कर्म्म करने हारे अच्छे शिक्षित वीर पुरुषों के साथ ही युद्ध करता वह प्रशंसित हुआ विजय को प्राप्त होता है अन्यथा पराजय ही होता है ॥ १४ ॥

उतेत्यस्य दधिक्रावा ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । जगती छन्दः निषादः स्वरः ।

सेनापत्यादयः कथं पराक्रमेरन्नित्युपदिश्यते ।

सेनापति आदि राजपुरुष कैसा पराक्रम करें इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पूर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः । श्येनस्येव ध्रजतोऽङ्कसंपरि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा ॥ १५ ॥

उत । स्म । अस्य । द्रवतः । तुरण्यतः । पुर्णम् । न । वेः । अनु । वाति । प्रगर्धिनऽइति प्रऽगर्धिनः । श्येनस्येवेति श्येनस्यऽइव । ध्रजतः । अङ्कसम् । परि । दधिक्राव्णइति दधिऽक्राव्णः । सह । ऊर्जा । तरित्रतः । स्वाहा ॥ १५ ॥

पदार्थः—(उत) अपि (स्म) एव (अस्य) (द्रवतः) द्रवीभूतस्य (तुरण्यतः) शीघ्रं गच्छतः (पर्णम्) पत्रं पक्षो वा (न) इव (वेः) पक्षिणः (अनु) (वाति) गच्छति (प्रगर्द्धिनः) प्रकर्षेणाभिकाङ्क्षिणः (श्येनस्येव) (ध्रजतः) गच्छतः (अंकसम्) लक्षणान्वितं मार्गम् (परि) (दधिक्राव्णः) अश्वस्य (सह) (ऊर्जा) पराक्रमेण (तरित्रतः) अतिशयेन संप्लवतः (स्वाहा) सत्यया क्रियया । अयं मंत्रः । शत० ५ । १ । ५ । २० व्याख्यातः ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे राजजना य ऊर्जा स्वाहाऽस्य द्रवतस्तुरण्यतो वेः पर्णं नोत प्रगर्धिनो धृजतः श्येनस्येव तरित्रतो दधिक्राव्णइवांकसं पर्यनुयाति स्म स एव शत्रुं जेतुं शक्नोति ॥ १५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलु० । ये वीरा नीलकंठपक्षिवच्छ्येनवदश्ववच्च पराक्रमन्ते तेषां शत्रवः सर्वतो निलीयंते ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे राजपुरुषो जो (ऊर्जा) पराक्रम और (स्वाहा) सत्यक्रिया के (सह) साथ (अस्य) इस (द्रवतः) रसप्रद वृक्ष का पत्ता और (तुरण्यतः) शीघ्र उड़ने वाले (वेः) पक्षी के (पर्णम्) पंखों के (न) समान (उत) और (प्रगर्धिनः) अत्यन्त इच्छा करने (धृजतः) चाहते हुए (श्येनस्येव) बाज पक्षी के समान तथा (तरित्रतः) अति शीघ्र चलते हुए (दधिक्राव्णः) घोड़े के सदृश (अङ्कसम्) अच्छे लक्षण युक्त मार्ग में (परि) (अनु) (याति) सब प्रकार अनुकूल चलता है (स्म) वही पुरुष शत्रुओं को जीत सकता है ॥ १५ ॥

भावार्थ:—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलु० । जो वीर पुरुष नीलकण्ठ श्येनपक्षी और घोड़े के समान पराक्रमी होते हैं उन के शत्रु लोग सब ओर से विलाय जाते हैं ॥ १५ ॥

शन्न इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । भुरिक् पंक्ति श्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

के प्रजापालने शत्रुविनाशने च शक्तिमन्तो भवन्तीत्याह

कौन पुरुष प्रजा के पालने और शत्रुओं के विनाश करने में समर्थ होते हैं यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

शन्नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः । जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳ रक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥ १६ ॥

शम् । नः । भवन्तु । वाजिनः । हवेषु । देवतातेति-देवऽताता । मितद्रवइतिमितऽद्रवः । स्वर्काइतिसु-ऽअर्काः । जम्भयन्तः । अहिम् । वृकम् । रक्षांसि । सनेमि । अस्मत् । युयवन् । अमीवाः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(शम्) सुखम् (नः) अस्माकम् (भवन्तु) (वाजिनः) प्रशस्तयुद्धविद्याविदः सुशिक्षितास्तुरङ्गाः (हवेषु) सङ्ग्रामेषु (देवताता) देवानां विदुषां कर्मसु । अत्र देवात्तातिल् । सुपां सुलुगिति डादेशश्च (मितद्रवः) येपरिमितं द्रवन्ति गच्छन्ति ते (स्वर्काः) शोभनोऽर्कोऽन्नं सत्कारो वा येषान्ते । अर्क इत्यन्नना० निघं० २। ७ (जम्भयन्तः) गात्राणि विनमयन्तः (अहिम्) मेघमिव चेष्टमानमुन्नतम् (वृकम्) चोरम् (रक्षांसि) हिंसकान् दस्यून् (सनेमि) सनातनम् । सनेमीति पुराणना० । निघं० ३ । १७ (अस्मत्) (युयवन्) युवन्तु पृथक् कुर्वन्तु । अत्र लेटि शपः श्लुः (अमीवाः) ये रोगवद्वर्त्तमानाः शत्रवस्तान् । अयं मंत्र । शत० ५। १ । ५ । २० व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः—ये मितद्रवः स्वर्का अहिं वृकं रक्षांसि च जम्भयन्तो वाजिनो वीरा नो देवताता हवेषु सनेमि शम्भवन्तु तेऽस्मदमीवाइव वर्त्तमानाञ्छत्रून् युयवन् ॥ १६ ॥

पदार्थः—ये श्रेष्ठाः प्रजापालने तत्परा व्याधिवच्छत्रूणां विनाशका न्यायकारिणो राजजनाः सन्ति तएव सर्वेषां सुखं कर्त्तुमर्हन्ति ॥ १६ ॥

पदार्थः—जो (मितद्रवः) नियम से चलने (स्वर्काः) जिन का अन्न वा सत्कार सुन्दर होवे योद्धा लोग (अहिम्) मेघ के समान चेष्टा करते और बढ़े हुए (वृकम्) चोर और (रक्षांसि) दूसरों को क्लेश देने हारे डाकुओं के (जम्भयन्तः) हाथ पांव तोड़ते हुए (वाजिनः) श्रेष्ठ युद्ध विद्या के जानने वाले वीर पुरुष (नः) हम (देवताता) विद्वान् लोगों के कर्मों तथा (हवेषु) संग्रामों में (सनेमि) सनातन (शम्) सुखको (भवन्तु) प्राप्त होवें (अस्मत्) हमारे लिये (अमीवाः) लोगों के समान वर्त्तमान शत्रुओं को (युयवन्) पृथक् करें ॥ १६ ॥

भावार्थः-श्रेष्ठ प्रजा पुरुषों के पालने में तत्पर और रोगों के समान शत्रुओं के नाश करने हारे राज पुरुष ही सब को सुख दे सकते हैं अन्य नहीं ॥ १६ ॥

तेनइत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

प्रजाजनाः स्वरक्षार्थमेव करं दद्युस्तदर्थमेव राजजना गृह्णन्तु नान्यथेत्याह ॥

प्रजाजन अपनी रक्षा के लिये कर देवें और इसी लिये राजपुरुष ग्रहण करें अन्यथा नहीं यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

ते नोऽअर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः । सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनꣳसमिथेषु जभ्रिरे ॥ १७ ॥

ते । नः । अर्वन्तः । हवनश्रुतइतिहवनऽश्रुतः । हवम् । विश्वे । शृण्वन्तु । वाजिनः । मितद्रवइ

मितऽद्रव इति मितऽद्रवः। सहस्रसा इति सहस्रऽसाः। मेधसाता इति मेधऽसाता। सनिष्यवः। महः। ये। धनम्। समिथेष्विति समऽइथेषु। जभ्रिरे॥ १७॥

पदार्थः—(ते) (नः) अस्माकम् (अर्वन्तः) ज्ञानन्तः (हवनश्रुतः) ये हवनानि ग्राह्याणि शास्त्राणि शृण्वन्ति ते (हवम्) अध्ययनाध्यापनजन्यं बोधशब्दसमूहमर्थिप्रत्यर्थिनां विवादं च (विश्वे) सर्वे विद्वांसः (शृण्वन्तु)(वाजिनः) प्रशस्तप्रज्ञाः (मितद्रवः) ये मितं शास्त्रप्रमितं विषयं द्रवन्ति ते (सहस्रसाः) ये सहस्रं विद्याविषयान् सनन्ति ते (मेधसाता) मेधानां संगमानां सातिर्दानं येषु । अत्र सप्तमीबहुवचनस्य सुपां सुलुगिति डादेशः (सनिष्यवः) आत्मनः सनिं संविभागमिच्छवः सनिशब्दात्क्यचि लालसायां सुक् तत उः (महः) महत् (ये) (धनम्) श्रियम् (समिथेषु) सङ्ग्रामेषु । समिथ इति सङ्ग्रामना० । निघं० २।१७। (जभ्रिरे) भरेयुः । अत्राभ्यासस्य वर्णव्यत्ययेन बस्य जः अयंमन्त्रः शत० ५।१।५।२२ व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—येऽर्वन्तो हवनश्रुतो वाजिनो मितद्रवः सहस्रसाः सनिष्यवो राजजना मेधसाता समिथेषु नो महो धनं जभ्रिरे ते विश्वेऽस्माकं हवं शृण्वन्तु ॥ १७ ॥

भावार्थः—य इमे राजपुरुषा अस्माकं सकाशात्करं गृह्णन्ति तेऽस्मान् सततं रक्षन्तु नोचेन्मा गृह्णन्तु वयमपि तेभ्यः करं नैव दद्याम । अतः प्रजारक्षणायैव करदानं दुष्कर्मिभिः सह योद्धुं च नान्यदर्थमिति निश्चयः ॥ १७ ॥

पदार्थः—(ये) जो (अर्वन्तः) ज्ञानवान् (हवनश्रुतः) ग्रहण करने योग्य शास्त्रों को सुनने (वाजिनः) प्रशंसित बुद्धिमान् (मितद्रव) शास्त्रयुक्त विषय को प्राप्त होने (सहस्रसाः) असंख्य विद्या के विषयों को सेवने और (सनिष्यवः) अपने आत्मा की सुन्दर भक्ति करने हारे राजपुरुष (मेधसाता) समागमों के दान से युक्त (समिथेषु) संग्रामों में (नः) हमारे बड़े (धनम्) ऐश्वर्य्य को (जभ्रिरे) धारण करें वे (विश्वे) सब विद्वान् लोग हमारा (हवम्) पढ़ने पढ़ाने से होने वाले बोध शब्दों और वादी प्रतिवादियों के विवाद को (शृण्वन्तु) सुनें ॥ १७ ॥

भावार्थः—जो ये राजपुरुष हम लोगों से कर लेते हैं वे हमारी निरन्तर रक्षा करें नहीं तो न लें हम भी उन को कर न देवें । इस कारण प्रजा की रक्षा और दुष्टों के साथ युद्ध करने के लिये ही कर देना चाहिये अन्य किसी प्रयोजन के लिये नहीं यह निश्चित है ॥ १७ ॥

वाजेवाजइत्यस्य वसिष्ठऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथैते परस्परस्मिन् कथं वर्त्तेरन्नित्युपदिश्यते ॥

अब ये राजा और प्रजा के पुरुष आपस में कैसे वर्त्तें यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः । अस्य मध्वः पिबत मादयध्वन्तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः ॥ १८ ॥

वाजेवाजइति वाजेऽवाजे । अवत । वाजिनः । नः । धनेषु । विप्राः । अमृताः । ऋतज्ञाइत्यृतऽज्ञाः । अस्य । मध्वः ।

पिबत । मादयध्वम् । तृप्ताः । यात । पथिभिरिति पथिऽभिः । देवयानैरिति देवऽयानैः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(वाजेवाजे) सङ्ग्रामे सङ्ग्रामे (अवत) पालयत (वाजिनः) वेगवन्तः (नः) अस्मान् (धनेषु) (विप्राः) विद्यासुशिक्षाजातप्रज्ञाः (अमृताः) स्वस्वरूपेण नाशरहिताः प्राप्तजीवन्मुक्तिसुखाः (ऋतज्ञाः) ये ऋतं सत्यं जानन्ति ते (अस्य) प्रत्यक्षस्य (मध्वः) मधुनो मधुरस्य रसस्य । अत्र कर्मणि षष्ठी (पिबत) (मादयध्वम्) हृष्यत (तृप्ताः) प्रीणिताः (यात) गच्छत (पथिभिः) मार्गैः (देवयानैः) देवा विद्वांसो यान्ति यैर्मार्गैः । अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ५ । २४ व्याख्यातः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे ऋतज्ञा अमृता वाजिनो विप्रा यूयं वाजेवाजे नोऽवत । अस्य मध्वः पिबताऽस्माकं धनैस्तृप्ताः सन्तो मादयध्वम् । देवयानैः पथिभिः सततं यात ॥ १८ ॥

भावार्थः—राजपुरुषैः वेदादीनि शास्त्राण्यधीत्य सुशिक्षया यथार्थं बोधं प्राप्य धार्मिकाणां विदुषां मार्गेण सदा गन्तव्यं नेतरेषाम् । शरीरात्मबलपालनेनैव सततमानन्दितव्यं प्रजाजनाः स्वधनैरेतान् सततं तर्पयन्तु ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे (ऋतज्ञाः) सत्यविद्या के जानने हारे (अमृताः) अपने अपने स्वरूप से नाशरहित जीते ही मुक्ति सुख को प्राप्त (वाजिनः) वेगयुक्त (विप्राः) विद्या और अच्छी शिक्षा से बुद्धि को प्राप्त हुए विद्वान् राजपुरुषो तुम लोग (वाजे वाजे) संग्राम २ के बीच (नः हमारी) (अवत) रक्षा करो (अस्य) इस (मध्वः) मधुर रस को (पिबत) पीओ । हमारे धनों से (तृप्ताः) तृप्त होके (मा-

दयध्वम्) आनन्दित होओ। और (देवयानैः) जिन में विद्वान् लोग चलते हैं उन (पथिभिः) मार्गों से सदा (यात) चलो ॥ १८ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिये कि वेदादि शास्त्रों को पढ़ और सुन्दर शिक्षा से ठीक २ बोध को प्राप्त होकर धर्मात्मा विद्वानों के मार्ग से सदा चलें। अन्य मार्ग से नहीं तथा शरीर और आत्मा का बल बढ़ाने के लिये वैद्यक शास्त्र से परीक्षा किये और अच्छे प्रकार पकाये हुए अन्न आदि से युक्त रसों का सेवन कर प्रजा की रक्षा से ही आनन्द को प्राप्त होवें। और प्रजा पुरुषों को निरन्तर प्रसन्न रक्खें ॥ १८ ॥

आमावाजस्येत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। निचृद्धृतिश्छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

मनुष्यैर्धर्माचरणेन किं किमेष्टव्यमित्याह ॥

मनुष्यों को धर्माचरण से किस किस पदार्थ की इच्छा करनी चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे आ मा गन्तां पितरामातरा चा मा सोमो अमृतत्वेन गम्यात्। वाजिनो वाजजितो वाजंꣳ ससृवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः ॥ २९ ॥

आ। मा। वाजस्य। प्रसवऽइति प्रऽसवः। जगम्यात्। आ। इमेऽइतीमे। द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी। विश्वरूपेऽइति विश्वऽरूपे। आ। मा। गन्ताम्। पितरामातरा।

च । आ । मा । सोमः । अमृतत्वेनेत्यमृतऽत्वेन । गम्यात् । वाजिनः । वाजजित इति वाजऽजितः । वाजम् । ससृवांस इति ससृऽवांसः । बृहस्पतेः । भागम् । अव । जिघ्रत । निमृजाना इति निऽमृजानाः ॥ १९ ॥

पदार्थः-(आ) (मा) माम् (वाजस्य) वेदादिशास्त्रार्थप्रसूतज्ञानबोधस्य (प्रसवः) प्रकृष्टैश्वर्य्यसमूहः (जगम्यात्) भृशं प्राप्नुयात् (आ) (इमे) (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमी राज्यार्थे (विश्वरूपे) विश्वानि सर्वाणि रूपाणि ययोस्ते (आ) (मा) माम् (गन्ताम्) प्राप्नुतः । अत्र विकरणलुक (पितरामातरा) पिता च माता च ते। अत्र पितरामातरा च छन्दसि । अ० ६ । ३ । ३३ इति पूर्वपदस्याऽरङ् । उत्तरपदस्याऽकारादेशश्च निपात्यते (च) समुच्चये (आ) (मा) माम् (सोमः) सोमवल्ल्याद्योषधिगणः (अमृतत्वेन) सर्वरोगनिवारकत्वेन सह (गम्यात्) प्राप्नुयात् (वाजिनः) प्रशस्तबलिनः (वाजजितः) विजितसङ्ग्रामाः (वाजम्) सङ्ग्रामम् (ससृवांसः) प्राप्तवन्तः (बृहस्पतेः) बृहत्याः सेनायाः स्वामिनः (भागम्) भजनीयम् (अव) (जिघ्रत) (निमृजानाः) नितरां शुन्धन्तः अयं मंत्रः शत० ५ । १ । ५ । २६ व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः-हे पूर्वोक्ता विद्वांसो येषां भवतां सहायेन वाजस्य प्रसवो मा जगम्यात्समन्तात्प्राप्नुयादिमे विश्वरूपे द्यावापृथिवी चामृतत्वेन सोमो गम्यात् । पितरामातराचागन्ताम् । ते वाजिनो वाजजितो वाजं ससृवांसो निमृजानाः सन्तो यूयं बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत ॥ १९ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या विद्वत्संगेन विद्यासुशिक्षे प्राप्य धर्ममाचरन्ति तानिहामुत्र परमैश्वर्य्यसाधकं राज्यं विद्वांसौ मातापितरौ रोगराहित्यं च प्राप्नोति। ये विदुषां सेवनं कुर्वन्ति ते शरीरात्मबलं प्राप्ताः सन्तः सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्ति नातो विरुद्धाचरणा एतत्सर्वमाप्तुं शक्नुवन्ति ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे पूर्वोक्त विद्वान् लोगो जिन आप लोगों के सहाय से (वाजस्य) वेदादि शास्त्रों के अर्थों के बोधों का (प्रसवः) सुन्दर ऐश्वर्य्य (मा) मुझ को (जगम्यात्) शीघ्र प्राप्त होवे (इमे) ये (विश्वरूपे) सब रूप विषयों के सम्बन्धी (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि का राज्य (च) और (अमृतत्वेन) सब रोगों की निवृत्ति कारक गुण के साथ (सोमः) सोमवल्ली आदि ओषधी विज्ञान मुझ को प्राप्त हो और (पितरामातरा) विद्या युक्त पिता माता (आगन्ताम्) प्राप्त होवें वे आप (वाजिनः) प्रशंसित बलवान् (वाजजितः) सङ्ग्राम के जीतने वाले (वाजम्) संग्राम को प्राप्त होते हुए (निमृजानाः) निरन्तर शुद्ध हुए तुम लोग (बृहस्पतेः) बड़ी सेना के स्वामी के (भागम्) सेवने योग्य भाग को (अवजिघ्रत) निरन्तर प्राप्त होओ ॥ १९ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विद्वान् के साथ विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त हो के धर्म का आचरण करते हैं उन को इस लोक और परलोक में परमैश्वर्य्य का साधक राज्य विद्वान् मातापिता और आरोग्यता प्राप्त होती है। जो पुरुष विद्वानों का सेवन करते हैं वे शरीर और आत्मा की शुद्धि को प्राप्त हुए सब सुखों को भोगते हैं। इस से विरुद्ध चलने हारे नहीं ॥ १९ ॥

आपयइत्यस्य वसिष्ठऋषिः। प्रजापतिर्देवता। भुरिक्कृतिश्छन्दः। निषादः स्वरः ॥

विद्यासुशिक्षितया वाचा मनुष्याणां किं किं प्राप्नोतीत्याह ॥

विद्या और अच्छी शिक्षा संयुक्त वाणी से मनुष्यों को क्या २ प्राप्त होता है यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये

स्वाहाऽह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिन आन्त्यायनाय स्वाहाऽऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा ॥ २० ॥

आपये । स्वाहा । स्वापयइतिसुऽआपये । स्वाहा । अपिजायेत्यपिऽजाय । स्वाहा । क्रतवे । स्वाहा । वसवे । स्वाहा । अहर्पतये । अहःपतयइत्यहःऽपतये । स्वाहा । अन्हे । मुग्धाय । स्वाहा । मुग्धाय । वैनꣳशिनाय । स्वाहा । विनꣳशिनइति-विनꣳशिने । आन्त्यायनायेत्यान्त्यऽआयनाय । स्वाहा । आन्त्याय । भौवनाय । स्वाहा । भुवनस्य पतये । स्वाहा । अधिपतयइत्यधिपतये स्वाहा ॥ २० ॥

पदार्थः-(आपये) सकलविद्याप्राप्तये (स्वाहा) सत्या क्रिया (स्वापये) सुखानां सुष्ठुप्राप्तये (स्वाहा) धर्म्या क्रिया (अपिजाय) निश्चयेन जायमानाय (स्वाहा) पुरुषार्थयुक्ता क्रिया (क्रतवे) प्रज्ञायै (स्वाहा) अध्ययनाध्यापनप्रवर्त्तिका क्रिया (वसवे) विद्यानिवासाय (स्वाहा) सत्यां वाणीं (अहर्पतये) पुरुषार्थेन गणितविषया दिवस्पालकाय (स्वाहा) कालविज्ञापिका वाणी

(अह्ने) दिनाय (मुग्धाय) प्राप्तमोहनिमित्ताय (स्वाहा) विज्ञानयुक्ता वाक् (मुग्धाय) मूर्खाय (वैनंशिनाय) विनाशशीलेषु कर्मसु भवाय (स्वाहा) चेतयित्री वाणी (विनंशिने) विनष्टुं शीलाय (आन्त्यायनाय) अन्त्यं नीचमयनं प्रापणं यस्य तस्मै (स्वाहा) नष्टकर्मनिवारिका वाणी (आन्त्याय) अन्ते भवाय (भौवनाय) भुवनेषु प्रभवाय (स्वाहा) पदार्थविज्ञापिका वाक् (भुवनस्य) संसारस्य (पतये स्वामिन ईश्वराय (स्वाहा) योगविद्याजनिता प्रज्ञा (अधिपतये) सर्वाधिष्ठातॄणामुपरि वर्त्तमानाय (स्वाहा) सर्वव्यवहारविज्ञापिका वाक् । अयं मंत्रः शत० ५ । १ । ६ । २ व्याख्यातः ॥२० ॥

अन्वयः-हे विद्वांसो यूयं यथा मामापये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहा मुग्धायाह्ने स्वाहा मुग्धाय वैनंशिनाय स्वाहा । आन्त्यायनाय विनंशिने स्वाहाऽऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये च स्वाहा प्राप्नुयात् तथा प्रयतध्वम् । २० ॥

भावार्थः-मनुष्यैः सकलविद्याप्राप्त्यादिप्रयोजनाय विद्यासुशिक्षायुक्ता वाणी प्राप्तव्या । यतः सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयुः॥२०॥

पदार्थः-हे विद्वानो तुम लोग जैसे मुझ को (आपये) संपूर्ण विद्या की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) सत्य क्रिया (स्वापये) सुखों की अच्छी प्राप्ति के वास्ते (स्वाहा) धर्म युक्त क्रिया (क्रतवे) बुद्धि बढ़ने के लिये (स्वाहा) पढ़ाने की प्रवृत्ति कराने हारी क्रिया (वसवे) विद्या निवास के लिये (स्वाहा) सत्य वाणी (अहर्पतये) पुरुषार्थ पूर्वक गणित विद्या से दिन पालने के लिये काल गति को जनाने हारी वाणी (मुग्धाय) मोह प्राप्ति के निमित्त (अह्ने) दिन होने के लिये

(स्वाहा) विज्ञान युक्त वाणी (वैनंशिनाय) नष्ट स्वभाव युक्त कर्मों में रहने हारे (मुग्धाय) मूर्ख के लिये (स्वाहा) चिताने वाली वाणी (आन्त्यायनाय) नीच प्राप्ति वाले (विनंशिने) नष्ट स्वभाव युक्त पुरुष के लिये (स्वाहा) पदार्थों की जनाने हारी वाणी (भुवनस्यपतये) संसार के स्वामी ईश्वर के लिये (स्वाहा) योग विद्या को प्रकट करने हारी बुद्धि और (अधिप तये) सब अधिष्ठाताओं के ऊपर रहने वाले पुरुष के लिये (स्वाहा) सब व्यवहारों की जनाने हारी वाणी (गम्यात्)प्राप्त होवे। वैसा प्रयत्न आलस्य छोड़ के किया करो ॥ २० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सब विद्याओं की प्राप्ति आदि प्रयोजनों के लिये विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त वाणी को प्राप्त होवें कि जिस से सब सुख सदा मिलते रहें ॥ २० ॥

आयुर्यज्ञेनेत्यस्य वसिष्ठऋषिः । यज्ञो देवता । अत्यष्टिश्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ मनुष्यान्प्रतीश्वर आहेत्युपदिश्यते ।

पुनः मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश करता है यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

आयुर्यज्ञेनं कल्पतां प्राणो यज्ञेनं कल्पतां चक्षुर्यज्ञेनं कल्पताᳬ श्रोत्रं यज्ञेनं कल्पतां पृष्ठं यज्ञेनं कल्पताम् । यज्ञो यज्ञेनं कल्पतां प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम॥२१॥

आयुः । यज्ञेनं । कल्पताम् । प्राणः । यज्ञेनं । कल्पताम् । चक्षुः । यज्ञेनं । कल्पताम् । श्रोत्रम् । यज्ञेनं । कल्पताम् । पृष्ठम् । यज्ञेन । कल्पताम् ।

यज्ञः । यज्ञेन । कल्पताम् । प्रजापतेरितिप्रजाऽपतेः । प्रजा इतिप्रऽजाः । अभूम । स्वः । देवाः । अगन्म । अमृताः । अभूम ॥ २१ ॥

पदार्थः—(आयुः) जीवनम् (यज्ञेन) धर्म्येणेश्वराज्ञापालनेन (कल्पताम्) समर्थताम् (प्राणः) जीवनहेतुर्बलकारी (यज्ञेन) धर्म्येण विद्याभ्यासेन (कल्पताम्) (चक्षुः) चष्टेऽनेन तत् (यज्ञेन) शिष्टाचरितेन प्रत्यक्षविषयेण (कल्पताम्) (श्रोत्रम्) शृणोति येन तत् (यज्ञेन) शब्दप्रमाणाभ्यासेन (कल्पताम्) (पृष्ठम्) प्रच्छनम् (यज्ञेन) संवादाख्येन (कल्पताम्) यजधातोरर्थः (यज्ञेन) ब्रह्मचर्य्याद्याचरणेन (कल्पताम्) (प्रजापतेः) विश्वम्भरस्य जगदीश्वरस्यैव धार्म्मिकस्य राज्ञः (प्रजाः) तदधीनपालनाः (अभूम) भवेम (स्वः) सुखम् (देवाः) विद्वांसः (अगन्म) प्राप्नुयाम (अमृताः) प्राप्तमोक्षसुखाः (अभूम) भवेम (अयं मंत्रः । शत० ५ । १ । ६ । ४ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या युष्माकमायुः सततं यज्ञेन कल्पताम् । प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यथा वयं प्रजापतेः प्राजाअभूम देवाः सन्तोऽमृताअभूम स्वरगन्मेति यूयं निश्चिनुत ॥ २१ ॥

भावार्थः—ईश्वरः सर्वान् मनुष्यानिदमाज्ञापयति यूयं मत्सदृशस्य सत्यगुणकर्मस्वभावस्यैव प्रजा भवतेतरस्य क्षुद्राऽऽशयस्य च कदाचित्प्रजाभावं मा स्वीकुरुत । यथा मां न्यायाधीशं मत्वा मदाज्ञायां वर्त्तित्वा सर्वं स्वं धर्मेण सहचारितं कृत्वाऽऽभ्युदयिकनिःश्रेयसे सुखे नित्यं प्राप्नुतः । तथा यो हि धर्मेण न्यायेन युष्मान् निरंतरं पालयेत्तं च सभेशं राजानं मन्यध्वम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम्हारी (आयुः)अवस्था (यज्ञेन) ईश्वर की आज्ञा पालन से निरन्तर (कल्पताम्) समर्थ होवे (प्राणः) जीवने का हेतु बलकारी प्राण (यज्ञेन)धर्म युक्त विद्याभ्यास से (कल्पताम्) समर्थ होवे (चक्षुः) नेत्र (यज्ञेन) प्रत्यक्ष के विषय शिष्टाचार से (कल्पताम्) समर्थ हो (श्रोत्रम्) कान (यज्ञेन) वेदाभ्यास से (कल्पताम्) समर्थ हो और (पृष्ठम्) पूछना (यज्ञेन) संवाद से (कल्पताम्) समर्थ हो (यज्ञः) यज धातु का अर्थ (यज्ञेन) ब्रह्मचर्यादि के आचरण से (कल्पताम्) समर्थित हो जैसे हम लोग (प्रजापतेः) सब के पालन हारे ईश्वर के समान धर्मात्मा राजा के (प्रजाः) पालने योग्य सन्तानों के सदृश (अभूम) होवें तथा (देवाः) विद्वान् हुए (अमृताः) जीवन मरण से छूटे (स्वः) मोक्ष सुख को (अगन्म) अच्छे प्रकार प्राप्त होवें ॥ २१ ॥

भावार्थः—मैं ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता हूं कि तुम लोग मेरे तुल्य धर्म युक्त गुण कर्म और स्वभाव वाले पुरुष ही की प्रजा होओ अन्य किसी मूर्ख क्षुद्राशय पुरुष की प्रजा होना स्वीकार कभी मत करो जैसे मुझ को न्यायाधीश मान मेरी आज्ञा में वर्त और अपना सब कुछ धर्म के साथ संयुक्त करके इस लोक और परलोक के सुख को नित्य प्राप्त होते रहो वैसे जो पुरुष धर्म युक्त न्याय से तुम्हारा निरन्तर पालन करे उसी को सभापति राजा मानो ॥ २१ ॥

अस्मे इत्यस्य वासिष्ठऋषिः । दिशो देवताः । निचृदत्यष्टिश्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ईश्वराज्ञातो मनुष्यैरिह कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते ॥

ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल मनुष्यों को संसार में कैसे वर्त्तना चाहिये यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

अस्मे वो अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांᳬसि सन्तु वः । नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इयन्ते राड्यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः । कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥ २२ ॥

अस्मेइत्यस्मे । वः । अस्तु । इन्द्रियम् । अस्मेइत्यस्मे । नृम्णम् । उत । क्रतुः । अस्मेऽत्यस्मे । वर्चांᳬसि । सन्तु । वः । नमः । मात्रे । पृथिव्यै । नमः । मात्रे । पृथिव्यै । इयम् । ते । राट् । यन्ता । असि । यमनः । ध्रुवः । असि । धरुणः । कृष्यै । त्वा । क्षेमाय । त्वा । रय्यै । त्वा । पोषाय । त्वा ॥ २२ ॥

पदार्थः—(अस्मे) अस्माकमस्मभ्यं वा (वः) युष्माकं युष्मभ्यं वा (अस्तु) भवतु (इन्द्रियम्) मनआदीनि अमेस्मे (नृम्णम्) धनम् (उत) अपि (क्रतुः) प्रज्ञा कर्म वा अस्मे मे (वर्चांसि)

प्रकाशमानाध्ययनानि । वर्च इत्यन्ननाम० निघं० । २ । ७ । (सन्तु) (वः) युष्माकं युष्मभ्यं वा (नमः) अन्नादिकम् (मात्रे) मान्यनिमित्तायै (पृथिव्यै) विस्तृतायै भूमये (नमः) जलादिकम् (मात्रे) (पृथिव्यै) (इयम्) (ते) तव (राट्) राजमाना (यन्ता) नियन्ता (आसि) (यमनः) उपयन्ता (ध्रुवः) निश्चलः (असि) (धरुणः) धर्त्ता (कृष्यै) कृषन्ति विलिखन्ति भूमिं यया तस्यै (त्वा) त्वाम् (क्षेमाय) रक्षणाय (त्वा) (रय्यै) श्रियै (त्वा) (पोषाय) पुष्ट्यै (त्वा) अयं मंत्रः । शत० ५ । १ । ६ । १५ । व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याऽहमीश्वरः कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा नियुञ्जामि यस्त्वं ध्रुवो यन्तासि धरुणो यमनोऽसि यस्य ते तवेयं राडस्ति । अस्यै मात्रे पृथिव्यै नमोऽस्यै मात्रे पृथिव्यै नमो विधेहि । सर्वे यूयं यदस्मे इन्द्रियं तद्वोऽस्तु । यदस्मे नृम्णं तद्वोऽस्तु । उतापि योऽस्मे क्रतुः स वोऽस्तु । यान्यस्माकं वर्चांसि तानि वः सन्तु । यदेतत्सर्वं वोऽस्तु तदस्माकमस्त्वित्येवं परस्परं यूयं समाचरत ॥ २२ ॥

भावार्थः—मनुष्यान् प्रतीश्वरस्येयमाज्ञाऽस्ति भवन्तः सदैव सत्कर्मसु प्रवर्त्तताम् । आलस्यं माकुर्वताम् । पृथिव्याः सकाशादन्नादीन्युत्पाद्य संरक्ष्यैतत्सर्वं परस्परमुपकाराय यथास्यात्तथा ताद्धितं विदधताम् ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य मैं ईश्वर (कृष्यै) खेती के लिये (त्वा) तुझे (क्षेमाय) रक्षा के लिये (त्वा) तुझे (रय्यै) संपत्ति के लिये (त्वा) तुझे और (पोषाय)

पुष्टि के लिये (त्वा) तुझ को नियुक्त करता हूं। जो तू (ध्रुवः) दृढ़ (यन्ता) नियमों से चलने हारा (असि) है (धरुणः) धारण करने वाला (यमनः) उद्योगी (असि) है जिस (ते) तेरी (इयम्) यह (राट्) शोभा युक्त है इस (मात्रे) मान्य की हेतु (पृथिव्यै) विस्तारयुक्त भूमि से (नमः) अन्नादि पदार्थ प्राप्त हों इस (मात्रे) मान्य देने हारी (पृथिव्यै) पृथिवी को अर्थात् भूगर्भ विद्या को जान के इससे (नमः) अन्नजलादि पदार्थ प्राप्त कर तुम सब लोग परस्पर ऐसे कहो और वर्त्तो कि जो (अस्मे) हमारे (इन्द्रियम्) मन आदि इन्द्रिय हैं वे (वः) तुम्हारे लिये हों जो (अस्मे) हमारा (नृम्णम्) धन है वह (वः) तुम्हारे लिये हो (उत) और जो (अस्मे) हमारे (क्रतुः) बुद्धि वा कर्म हैं (वः) तुम्हारे हित के लिये हों जो हमारे (वर्चांसि) पढ़ा पढ़ाया और अन्न हैं वे (वः) तुम्हारे लिये (सन्तु) हों जो यह सब तुम्हारा है वह हमारा भी हो ऐसा आचरण आपस में करो ॥ २२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों के प्रति ईश्वर की यह आज्ञा है कि तुम लोग सदैव पुरुषार्थ में प्रवृत्त रहो और आलस्य मत करो और जो पृथिवी में अन्न आदि उत्पन्न हों उन की रक्षा करके यह सब जिस प्रकार परस्पर उपकार के लिये हो वैसा यत्न करो। कभी विरोध मत करो कोई अपना कार्य्य सिद्ध करे उस का तुम भी किया करो ॥ २२ ॥

वाजस्येत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । स्वराट्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तैरत्र कथं भवितव्यमित्याह ॥

फिर उन को इस विषय में कैसा होना चाहिये यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳ राजानमोषधीष्वप्सु । ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳ राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥ २३ ॥

वाजस्य । इमम् । प्रसवइतिप्रऽसवः । सुषुवे । सुसुवइतिसुसुवे । अग्रे । सोमम् । राजानम् ।

ओषधीषु । अप्स्वित्यप्ऽसु । ताः । अस्मभ्यम् । मधुमतीरितिमधुऽमतीः । भवन्तु । वयम् राष्ट्रे । जागृयाम । पुरोहिताइतिपुरःऽहिताः । स्वाहा ॥ २३ ॥

पदार्थः—(वाजस्य) बोधस्य सकाशात् (इमम्) (प्रसवः) ऐश्वर्य्ययुक्तः (सुसुवे) प्रसुवउत्पादये (अग्रे) पूर्वम् (सोमम्) सोममिव सर्वदुःखप्रणाशकं (राजानम्) विद्यान्यायविनयैः प्रकाशमानं स्वामिनम् (ओषधीषु) पृथिवीस्थासु यवादिषु (अप्सु) जलेषु वर्त्तमानाः (ताः) (अस्मभ्यम्) (मधुमतीः) प्रशस्ता मधवो मधुरादयो गुणा विद्यन्ते यासु ताः (भवन्तु) (वयम्) अमात्यादयो भृत्याः (राष्ट्रे) राज्ये (जागृयाम) सचेतना अनलसाः सन्तो वर्त्तेमहि (पुरोहिताः) सर्वेषां हितकारिणः (स्वाहा) सत्यया क्रियया सह । अयं मंत्रः शत० ५ । २ । १ । ५ । व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽहमग्रे प्रसवः सन् वाजस्येमं सोमं राजानं सुषुवे यथा तद्रक्षणेन या ओषधिष्वप्स्वोषधयः सन्ति ताः अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु । यथा स्वाहा पुरोहिता वयं राष्ट्रे सततं जागृयाम तथा यूयमपि वर्त्तध्वम् ॥ २३ ॥

भावार्थः—शिष्टा मनुष्याः सर्वविद्याचातुर्य्यारोग्यसहितं सौम्यादिगुणालङ्कृतं राजानं संस्थाप्य तद्रक्षको वैद्य एवं प्रवर्त्तेत यथाऽस्य शरीरे बुद्धावात्मनि च रोगावेशो न स्यात् । इत्थमेव राजवैद्यौ सर्वानमात्यादीन्भृत्यानरोगान् संपादयेताम् । यत एते राज्यस्य

सज्जनपालने दुष्टताड़ने सदा प्रयतेरन् राजा प्रजा च पिता पुत्रवत्सदा वर्त्तेयाताम् ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो जैसे मैं (अग्रे) प्रथम (प्रसवः) ऐश्वर्य युक्त होकर (वाजस्य) वैद्यक शास्त्र बोध सम्बन्धी (इमम्) इस (सोमम्) चन्द्रमा के समान सब दुःखों के नाश करने हारे (राजानम्) विद्या न्याय और विनयों से प्रकाशमान राजा को (सुसुवे) ऐश्वर्य युक्त करता हूं । जैसे उस की रक्षा में (ओषधीषु) पृथिवी पर उत्पन्न होने वाली यव आदि ओषधियों और (अप्सु) जलों के बीच में वर्त्तमान ओषधी हैं (ताः) वे (अस्मभ्यं) हमारे लिये (मधुमतीः) प्रशस्त मधुर गुण वाली (भवन्तु) हों जैसे (स्वाहा) सत्य क्रिया के साथ (पुरोहिताः) सब के हितकारी हम लोग (राष्ट्रे) राज्य मे निरन्तर (जागृयाम) आलस्य छोड़के जागते रहें वैसे तुम भी वर्त्ता करो ॥ २३ ॥

भावार्थः—शिष्ट मनुष्यों को योग्य है कि सब विद्याओं की चतुराई रोगरहित और सुन्दर गुणों में शोभायमान पुरुष को राज्याधिकार दे कर उस की रक्षा करने वाला वैद्य ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे इस के शरीर बुद्धि और आत्मा में रोग का आवेश न हो । इसी प्रकार राजा और वैद्य दोनों सब मंत्री आदि भृत्यों और प्रजा जनों को रोग रहित करें । जिस से ये राज्य के सज्जनों के पालने और दुष्टों के ताड़ने में प्रयत्न करते रहें राजा और प्रजा के पुरुष परस्पर पिता पुत्र के समान सदा वर्त्तें ॥ २३ ॥

वाजस्येमामित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । भुरिग्जगतीछन्दः । निषादः स्वरः ॥

राजा किमाश्रित्य केन किं कुर्य्यादित्युपादिश्यते ॥

राजा किसका आश्रय लेकर किस के साथ क्या करे यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

वाज॑स्येमां प्र॑स॒वः शि॑श्रिये॒ दिव॑मि॒मा च॒ विश्वा॒ भुव॑नानि स॒म्राट् । अदि॑त्सन्तं दापयति प्रजा॒नन्त्स

नो रयिं सर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा ॥ २४ ॥

वाजस्य । इमाम् । प्रसवइतिप्रऽसवः । शिश्रिये । दिवम् । इमा । च । विश्वा । भुवनानि । सम्राडिति सम्ऽराट् । अदित्सन्तम् । दापयति । प्रजानन्निति प्रऽजानन् । सः । नः । रयिम् । सर्ववीरमिति सर्वऽवीरम् । नि । यच्छतु । स्वाहा ॥ २४ ॥

पदार्थः—(वाजस्य) राज्यस्य (इमाम्) भूमिम् (प्रसवः) प्रसूतः (शिश्रिये) समाश्रये (दिवम्) देदीप्यमानां राजनीतिम् (इमा) इमानि (च) (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) गृहाणि (सम्राट्) यो राजधर्मे सम्यग्राजते सः (अदित्सन्तम्) राजकरं दातुमनिच्छन्तम् (दापयति) (प्रजानन्) प्रज्ञावान् सन् (सः) (नः) अस्माकं प्रजास्थानाम् (रयिम्) धनम् (सर्ववीरम्) सर्वे वीरा यस्मात्तत् (नि) नितराम् (यच्छतु) गृह्णातु (स्वाहा) धर्म्यया वाचा ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वाजस्य मध्ये प्रसवः सम्राडहमिमां दिवमिमा विश्वा भुवनानि च शिश्रिये तथा यूयमप्येनमेतानि चाश्रयत । यः स्वाहा प्रजानन्नदित्सन्तं दापयति स नः सर्ववीरं रयिं नियच्छतु ॥ २४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यो मूलस्य राज्यस्य मध्ये सनातनीं राजनीतिं विदित्वा राज्यं संरक्षितुं शक्नुयात । तमेव चक्रवर्तिनं राजानं कुरुत । यः करस्य दातारं करं दापयेत् सो ऽमात्यो भवितुमर्हेत् । यः शत्रून् निग्रहीतुं शक्नुयात् तं सेनापतिं कुरुत यो विद्वान् धार्मिको भवेत्तं न्यायाधीशं कोशाध्यक्षं वा कुरुत ॥ २४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो जैसे (वाजस्य) राज्य के मध्य में (प्रसवः) उत्पन्न हुए (सम्राट्) अच्छे प्रकार राजधर्म में प्रवर्तमान मैं (इमाम्) इस भूमि को (दिवम्) प्रकाशित और (इमा) इन (विश्वा) सब और (भुवनानि) घरों को (शिश्रिये) अच्छे प्रकार आश्रय करता हूं वैसे तुम भी इस को अच्छे प्रकार शोभित करो और जो (स्वाहा) धर्म युक्त सत्यवाणी से (प्रजानन्) जानता हुआ (अदित्सन्तम्) राज्य कर देने की इच्छा न करने वाले से (दापयति) दिलाता है (सः) सो (नः) हमारे (सर्ववीरम्) सब वीरों को प्राप्त कराने हारे (रयिम्) धन को (नियच्छतु) ग्रहण करे ॥ २४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्य लोगो मूल राज्य के बीच सनातन राजनीति को जान कर जो राज्य की रक्षा करने को समर्थ हो उसी को चक्रवर्त्ती राजा करो और जो कर देने वालों से कर दिलावे वह मंत्री होने को योग्य होवे जो शत्रुओं को बांधने में समर्थ हो उसे सेनापति करो और जो विद्वान् धार्मिक हो उसे न्यायाधीश वा कोशाध्यक्ष करो॥२४॥

वाजस्येत्यस्य वसिष्ठऋषिः प्रजापतिर्देवता । स्वराट्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनाराजा कीदृशो भवेदित्याह ॥

फिर राजा कैसा हो इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

वाजस्यनु प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः । सनेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मे स्वाहा ॥ २५ ॥

वाजस्य । नु । प्रसवइतिप्रऽसवः । आ । बभूव । इमा । च । विश्वा । भुवनानि । सर्वतः । सनेमि । राजा । परि । याति । विद्वान् । प्रजामितिप्रऽजाम् । पुष्टिम् । वर्धयमानः । अस्मेऽइत्यस्मे । स्वाहा ॥ २५ ॥

पदार्थः—(वाजस्य) वेदादिशास्त्रोत्पन्नबोधस्य (नु) शीघ्रम् (प्रसवः) यः प्रसूते सः (आ) समंतात् (बभूव) भवेत् (इमा) इमानि (च) (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) माण्डलिकराजनिवासस्थानानि (सर्वतः) (सनेमि) सनातनेन नेमिना धर्मेण सह वर्त्तमानं राज्यमण्डलम् (राजा) वेदोक्तराजगुणैः प्रकाशमानः (परि) (याति) प्राप्नोति (विद्वान्) सकलविद्यावित् (प्रजाम्) पालनीयाम् (पुष्टिम्) पोषणम् (वर्धयमानः) (अस्मे) अस्माकम् (स्वाहा) सत्यया नीत्या ॥ २५ ॥

अन्वयः—यो वाजस्य स्वाहा प्रसवो विद्वानाबभूवेमा विश्वा भुवनानि सनेमि च प्रजां पुष्टिं नु वर्धयमानः परियाति सो अस्मे राजा भवतु ॥ २५ ॥

भावार्थः—ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्या यूयं प्रशंसितगुणकर्मस्वभावो राज्यं रक्षितुं समर्थो भवेत्तं सभाध्यक्षं कृत्वाऽऽसनीस्था साम्राज्यं कुरुतेति ॥ २५ ॥

पदार्थः—जो (वाजस्य) वेदादिशास्त्रों से उत्पन्न बोध को (स्वाहा) सत्यनीति से (प्रसवः) प्राप्त होकर (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्या को जानने वाला पुरुष

(आ) अच्छे प्रकार (बभूव) होवे (च) और (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) मांडलिक राजनिवासस्थानों और (सनेमि) सनातन नियम धर्म सहित वर्त्तमान (प्रजाम्) पालने योग्य प्रजाओं को (पुष्टिम्) पोषण (नु) शीघ्र (वर्धयमान) बढ़ाता हुआ (परि) सब ओर से (याति) प्राप्त होता है वह (अस्मे) हम लोगों का राजा होवे ॥ २५ ॥

भावार्थ—ईश्वर सब से उपदेश करता है कि हे मनुष्य लोगो तुम जो प्रशंसित गुण कर्म स्वभाव वाला राज्य की रक्षा में समर्थ हो उस को सभापति करके आप्त-नीति से चक्रवर्त्तिराज्य करो ॥ २५ ॥

सोममित्यस्य तापस ऋषिः । सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्य्य-बृहस्पतयो देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

पुनः कीदृशं राजानं स्वीकुर्युरित्युपदिश्यते ॥

फिर कैसे राजा का स्वीकार करें इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

सोम॑ᳬ राजा॑नमव॑सेऽग्निम॒न्वार॑भामहे । आ॒दि॒त्या-न्विष्णु॒ᳬ सूर्यं॑ ब्र॒ह्माणं॑ च॒ बृह॒स्पति॒ᳬ स्वाहा॑ ॥ २६ ॥

सोम॑म् । राजा॑नम् । अव॑से । अ॒ग्निम् । अ॒न्वार॑भामह॒ इत्य॑नुऽआर॑भामहे । आ॒दि॒त्यान् । विष्णु॑म् । सूर्य॑म् । ब्र॒ह्माण॑म् । च॒ । बृह॒स्पति॑म् । स्वाहा॑ ॥२६॥

पदार्थः—(सोमम्)(सोमगुणसम्पन्नम्) (राजानम्) धर्माचरणेन प्रकाशमानम् (अवसे) रक्षणाद्याय (अग्निम्) अग्निमिव शत्रुदाहकम् (अन्वारभामहे) (आदित्यान्) विद्याऽर्जनाय कृताऽष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्य्यान् विदुषः (विष्णुम्) व्यापकं परमेश्वरम् (सूर्य्यम्) सूरिषु विद्वत्सु भवम् (ब्रह्माणम्) अधीतसाङ्गोपाङ्गचतुर्वेदम् (च) (बृहस्पतिम्) बृहतामाप्तानां पालकम् (स्वाहा) सत्यया वाण्या ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं स्वाहाऽवसे सह वर्त्तमानं विष्णुं सूर्य्यं ब्रह्माणं बृहस्पतिमग्निं सोमं राजानमादित्याँश्चान्वारभामहे तथा यूयमप्यारभध्वम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—ईश्वराज्ञाऽस्ति सर्वे मनुष्या रक्षणाद्याय ब्रह्मचर्य्यादिना विद्यापारगान् विदुषस्तन्मध्य उत्तमं सूर्य्यादिगुणसम्पन्नं राजानं च स्वीकृत्य सत्यां नीतिं वर्धयन्त्विति ॥ २९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो जैसे हम लोग (स्वाहा) सत्यवाणी से (अवसे) रक्षा आदि के अर्थ (विष्णुम्) व्यापक परमेश्वर (सूर्य्यम्) विद्वानों में सूर्यवद्विद्वान् (ब्रह्माणम्) साङ्गोपाङ्ग चार वेदों को पढ़ने वाले (बृहस्पतिम्) बड़ों के रक्षक (अग्निम्) अग्नि के समान शत्रुओं को जलाने वाले (सोमम्) शान्त गुण सम्पन्न (राजानम्) धर्माचरण से प्रकाशमान राजा और (आदित्यान्) विद्या के लिये जिन ने अड़तालीस वर्षतक ब्रह्मचर्य्य रह कर पूर्ण विद्या पढ़ सूर्यवत् प्रकाशमान विद्वानों के सङ्ग से विद्या पढ़ के गृहाश्रम का (आरभामहे) आरम्भ करें वैसे तुम भी किया करो ॥ २९ ॥

भावार्थः—ईश्वर की आज्ञा है कि सब मनुष्य रक्षा आदि के लिये ब्रह्मचर्य्य व्रतादि से विद्या के पारगन्ता विद्वानों के बीच जिस ने अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य पूरा किया हो ऐसे राजा को स्वीकार कर के सच्ची नीति को बढ़ावें ॥ २९ ॥

अर्य्यमणमित्यस्य तापस ऋषिः । अर्य्यमादिमन्त्रोक्ता देवताः । स्वराडनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनाराजा कान्कस्मिन्प्रेरयेदित्याह ॥
फिर राजा किन को किस में प्रेरणा करे इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

अर्य्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय । वाचं विष्णुꣳसरस्वतीꣳसवितारं च वाजिनꣳस्वाहा ॥ २७ ॥

अर्य्यमणम् । बृहस्पतिम् । इन्द्रम् । दानाय । चोदय । वाचम् । विष्णुम् । सरस्वतीम् । सवितारम् । च । वाजिनम् । स्वाहा ॥ २७ ॥

पदार्थः—(अर्यमणम्) पक्षपातराहित्येन न्यायकर्त्तारम् (बृहस्पतिम्) सकलविद्याध्यापकम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तम् (दानाय)(चोदय) प्रेरय (वाचम्) वेदवाणीं (विष्णुम्) सर्वाधिष्ठातारम् (सरस्वतीम्) बहुविधं सरो वेदादिशास्त्रविज्ञानं विद्यते यस्यास्तां विज्ञानयुक्तामध्यापिकां स्त्रियम्(सवितारम्) वेदविद्यैश्वर्य्योत्पादकम् (च) (वाजिनम्) प्रशस्तबलवेगादियुक्तं शूरवीरम् (स्वाहा) सत्यया नीत्या ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे राजँस्त्वं स्वाहा दानायार्य्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं वाचं विष्णुं सवितारं वाजिनं सरस्वतीं च सत्कर्मसु सदा चोदय ॥ २७ ॥

भावार्थः—ईश्वरोऽभिवदति राजा स्वयं धार्मिको विद्वान् भूत्वा सर्वान्न्यायाधीशान् मनुष्यान् विद्याधर्मवर्धनाय सततं प्रेरयेद्यतो विद्याधर्मवृद्ध्याऽविद्याऽधर्मौ निवृत्तौ स्याताम् ॥ २८॥

पदार्थः—हे राजन् आप (स्वाहा) सत्य नीति से (दानाय) विद्यादि दान के लिये (अर्यमणम्) पक्षपात रहित न्याय करने (बृहस्पतिम्) सब विद्याओं को पढ़ाने (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य युक्त (वाचम्) वेदवाणी (विष्णुम्) सब के अधिष्ठाता (सवितारम्) वेदविद्या तथा सब ऐश्वर्य उत्पन्न करने (वाजिनम्) अच्छे बल वेग से युक्त शूरवीर और (सरस्वतीम्) बहुत प्रकार वेदादि शास्त्र विज्ञान युक्त पढ़ाने वाली विदुषी स्त्री को अच्छे कर्मों में (चोदय) सदा प्रेरणा किया कीजिये ॥ २७ ॥

भावार्थः—ईश्वर सब से कहता है कि राजा आप धर्मात्मा विद्वान् हो कर सब न्याय के करने वाले मनुष्यों को विद्या धर्म्म बढ़ाने के लिये निरन्तर प्रेरणा करे जिस से विद्या धर्म की बढ़ती से अविद्या और अधर्म दूर हों ॥ २७ ॥

अग्न इत्यस्य तापस ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः स राजा किं किं कुर्य्यादित्याह ॥

फिर वह राजा क्या क्या करे यह विषय अगले मंत्र में कहा है ॥

अग्नेऽअच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव । प्र नो यच्छ सहस्रजित्त्वꣳहि धनदाऽअसि स्वाहा ॥ २८ ॥

अग्ने । अच्छ । वद । इह । नः । प्रति । नः । सुमना इति सुऽमनाः । भव । प्र । नः । यच्छ । सहस्रजिदिति सहस्रऽजित् । त्वम् । हि । धनदा इति धनऽदाः । असि । स्वाहा ॥ २८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् (अच्छ) सम्यक् निपातस्य चेति दीर्घः (वद) सत्यमुपदिश (इह) अस्मिन् समये (नः)

अस्मान् (प्रति) (नः) अस्मान् (सुमनाः) सुहृद्भावः (भव) (प्र) (नः) अस्मभ्यम् (यच्छ) देहि (सहस्रजित्) असहायः सन् सहस्रं योद्धॄन् जेतुं शीलः (त्वम्) (हि) यतः (धनदाः) ऐश्वर्यदाता (असि) (स्वाहा) सत्यया वाण्या ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वमिह स्वाहा नोऽच्छवद नोऽस्मान् प्रति सुमना भव। त्वं हि सहस्रजिद्धनदा असि तस्मान्नः सुखं प्रयच्छ ॥ २८ ॥

भावार्थः—ईश्वरआह राजा प्रजासेनाजनान्प्रति सदा सत्यं प्रियं च वदयाद्वदीत्वा शरीरात्मबलं वर्धित्वा नित्यं शत्रून् जित्वा धर्मेण प्रजाः पालयेदिति ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् आप (इह) इस समय में (स्वाहा) सत्य वाणी से (नः) हम को (अच्छ) अच्छे प्रकार (वद) सत्य उपदेश कीजिये (नः) हमारे ऊपर (सुमनाः) मित्र भाव युक्त (भव) हूजिये (हि) जिस से (सहस्रजित्) आप बिन सहाय हजार को जीतने (धनदाः) ऐश्वर्य देने वाले (असि) हैं इस से (नः) हमारे लिये (प्रयच्छ) दीजिये ॥ २८ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि राजा, प्रजा और सेनाजन मनुष्यों से सदा सत्य प्रिय वचन कहे उन को धन दे उन से धन ले शरीर और आत्मा का बल बढ़ा और नित्य शत्रुओं को जीतकर धर्म से प्रजा को पाले ॥ २८ ॥

प्रघद्रत्यस्य तापस ऋषिः। अर्यमादिमंत्रोक्ता देवताः। भुरिगार्षी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

राजा मात्रादयश्च प्रजाः किंकिमुपदिशेयुरित्याह ॥

प्रजा और सन्तानों से राजा और माता आदि कैसे वर्तें इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

प्र नो॑ यच्छत्व॒र्य्य॒मा प्र पू॒षा प्र बृह॒स्पतिः॑ । प्र वाग्दे॒वी द॑दातु नः॒ स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

प्र । नः॒ । य॒च्छ॒तु॒ । अ॒र्य्य॒मा । प्र । पू॒षा । प्र । बृह॒स्पति॒रिति॒ बृह॒स्पतिः॑ । प्र । वाक् । दे॒वी । द॒दा॒तु॒ । नः॒ । स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

पदार्थः—(प्र) (नः) अस्मभ्यम् (यच्छतु) ददातु (अर्य्यमा) न्यायाधीशः (प्र) (पूषा) पोषकः (प्र) (बृहस्पतिः) विद्वान् (प्र) (वाक्) विद्यासुशिक्षितवाणीयुक्ता (देवी) देदीप्यमानाऽध्यापिका माता (ददातु) (नः) अस्मभ्यम् (स्वाहा) सत्यविद्यायुक्तां वाणीम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—यथाऽर्य्यमा नोऽस्मभ्यं सुशिक्षां प्रयच्छतु यथा पूषा पुष्टिं प्रददातु यथा बृहस्पतिः स्वाहा प्राप्येयतु तथा वाग् देवी माताऽस्मभ्यं विद्यां ददातु ॥ २९ ॥

भावार्थः—अत्राऽऽह जगदीश्वरः । राजादयः सर्वे पुरुषा मात्रादिस्त्रियश्च सर्वदा प्रजाः पुत्रादीन् प्रति सत्यमुपदेशं कुर्य्युर्विद्यां सुशिक्षां च सततं ग्राहयेयुर्यतः प्रजाःसदा नन्दिताः स्युः ॥ २९॥

पदार्थः—जैसे (अर्य्यमा) न्यायाधीश (नः) हमारे लिये उत्तम शिक्षा (प्रयच्छतु) देवे जैसे (पूषा) पोषण करने वाला शरीर और आत्मा की पुष्टि की शिक्षा (प्र) अच्छे प्रकार देवे जैसे (बृहस्पतिः) विद्वान् (प्र) (स्वाहा) अत्युत्तम विद्या देवे वैसे (वाक्) उत्तम विद्या सुशिक्षा सहित वाणीयुक्त (देवी) प्रकाशमान पढ़ाने वाली माता हमारे लिये सत्य विद्या युक्त वाणी का (प्रददातु) उपदेश सदा किया करे ॥ २९ ॥

भावार्थः—यहां जगदीश्वर उपदेश करता है कि राजा आदि सब पुरुष और माता आदि स्त्री सदा प्रजा और पुत्रादिकों को सत्य सत्य उपदेश कर विद्या और अच्छी शिक्षा को निरन्तर ग्रहण करावें जिस से प्रजा और पुत्र पुत्री आदि सदा आनन्द में रहें ॥ २९ ॥

देवस्येत्यस्य तापस ऋषिः । सम्राट् देवता ।
जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनः क कीदृशं राजानं कुर्य्युरित्युपदिश्यते ॥

फिर कहां कैसे को राजा करें इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ ॥ ३० ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसवइतिप्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामितिबाहुभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् । सरस्वत्यै । वाचः । यन्तुः । यन्त्रिये । दधामि । बृहस्पतेः । त्वा । साम्राज्येनेतिसाम्ऽराज्येन । अभि । सिञ्चामि । असौ ॥ ३० ॥

पदार्थः—(देवस्य) प्रकाशमानस्य (त्वा) त्वाम् (सवितुः) सकलजगत्प्रसवितुरीश्वरस्य (प्रसवे) जगदुत्पादे (अश्विनोः) सूर्याचन्द्रमसोर्विलाकर्षणाभ्यामिव (बाहुभ्याम्) भुजाभ्यां (पूष्णः) पोषकस्य वायोर्धारणपोषणाभ्यामिव (हस्ताभ्याम्) कराभ्याम् (सरस्वत्यै) विज्ञानसुशिक्षायुक्तायाः । अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (वाचः) वेदवाण्याः (यन्तुः) नियन्तुः (यन्त्रिये) शिल्पविद्यासिद्धानां यंत्राणामर्हे योग्ये निष्पादने (दधामि) धरामि (बृहस्पतेः) परमविदुषः (त्वा) (साम्राज्येन) सम्राजो भावेन (अभि) आभिमुख्ये (सिंचामि) सुगन्धेन रसेन मार्ज्मि (असौ) अदोनामा ॥ ३० ॥

अन्वयः— हे अखिलशुभगुणकर्मस्वभावयुक्त ! विद्वन्नसावहं सवितुर्देवस्य जगदीश्वरस्य प्रसवे सरस्वत्यै वाचोऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्या त्वा दधामि यन्तुर्बृहस्पते र्यंत्रिये साम्राज्येन त्वाभिषिंचामि ॥ ३० ॥

भावार्थः--अत्र वाचकलु० । मनुष्यैरीश्वरप्रियं बलवीर्यपुष्टियुक्तं प्रगल्भं सत्यवादिनं जितेन्द्रियं धार्मिकं प्रजापालनक्षमं विद्वांसं सुपरीक्ष्य सभाया अधिष्ठातृत्वेनाभिषिच्य राजधर्म उन्नेयः ॥ ३० ॥

पदार्थः—हे सब अच्छे गुणकर्मस्वभावयुक्त विद्वन् (असौ) वह मैं (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करने वाले ईश्वर (देवस्य) प्रकाशमान जगदीश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये संसार में (सरस्वत्यै) अच्छे प्रकार शिल्प विद्या युक्त (वाचः) वेद वाणी के मध्य (अश्विनोः) सूर्य्य चन्द्रमा के समान धारण पोषण

गुण युक्त (हस्ताभ्याम्) हाथों से (त्वा) तुम को (दधामि) धारण करताहूं और (बृहस्पतेः) बड़े विद्वान् के (यंत्रिये) कारीगरी विद्या से सिद्ध किये राज्य में (साम्राज्येन) चक्रवर्ती राजा के गुण से सहित (त्वा) तुझ को (अभि) सब ओर से (सिंचामि) सुगन्धित रसों से मार्जन करताहूं ॥ ३० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि ईश्वर में प्रेमी बल पराक्रम पुष्टि युक्त चतुर सत्यवादी जितेन्द्रिय धर्मात्मा प्रजापालन में समर्थ विद्वान् को अच्छे प्रकार परीक्षा कर सभा का स्वामी करने के लिये अभिषेक करके राज धर्म की उन्नति अच्छे प्रकार नित्य किया करें ॥ ३० ॥

अग्निरेकेत्यस्य तापस ऋषिः । अग्न्यादयो मंत्रोक्ता देवताः । अत्यष्टिश्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

राजा प्रजाः प्रजाश्च राजानं सततं वर्द्धयेयुरित्याह ॥

राजा प्रजाओं को और प्रजा राजा को निरन्तर बढ़ाया करें इस० ॥

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतान्तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रींल्लोकानुदजयत्तानुज्जेषꣳसोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुज्जेषम् ॥ ३१ ॥

अग्निः । एकाक्षरेणेत्येकऽअक्षरेण ॥ प्राणम् । उत् । अजयत् । तम् । उत् । जेषम् । अश्विनौ । द्व्यक्षरेणेति द्विऽअक्षरेण । द्विपदइति द्विऽपदः । मनुष्यान् । उत् । अजयताम् । तान् । उत् । जेषम् । विष्णुः । त्र्यक्षरेणेति त्रिऽअक्षरेण । त्रीन् । लोकान् । उत् । अजयत् । तान् ।

उत् । जेषम् । सोमः । चतुरक्षरेणेति चतुःऽअक्षरेण । चतुष्पदः । चतुःपद इति चतुःऽपदः । पशून् । उत् । अजयत् । तान् । उत् । जेषम् ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(अग्निः) अग्निरिव वर्त्तमानो राजा (एकाक्षरेण) ओमित्यनेन विज्ञापकेन दैव्या गायत्र्या छन्दसा (प्राणम्) शरीरस्थं वायुमिव प्रजाजनम् (उत्) उत्कृष्टया नीत्या (अजयत्) जयेदुत्कर्षेत् (तम्) (उत्) (जेषम्) जयेयमुत्कर्षेयम् (अश्विनौ) सूर्याचन्द्रमसाविव राजराजपुरुषौ (द्व्यक्षरेण) दैव्या-उष्णिहा (द्विपदः) (मनुष्यान्) मननशीलान् (उत्) (अजयताम्) (तान्) (उत्) (जेषम्) (विष्णुः) परमेश्वर इव न्यायकारी (त्र्यक्षरेण) दैव्यानुष्टुभा (त्रीन्) जन्मस्थाननामवाच्यान् (लोकान्) दर्शनीयान् (उत्) (अजयत्) (तान्) (उत्) (जेषम्) (सोमः) ऐश्वर्य्यमिच्छुः (चतुरक्षरेण) दैव्या बृहत्या (चतुष्पदः) (पशून्) हिरण्यादीनारण्यान (उत्) (अजयत्) (तान्) उत् (जेषम्) ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे राजन्नग्निर्भवान्यथा एकाक्षरेण प्राणमिव यं प्रजाजनमुदजयत्तथा तमहमप्युज्जेषम् । हे राजजनावश्विनौ भवन्तौ यथा द्व्यक्षरेण यान् द्विपदो मनुष्यानुदजयताम् । तथा तानहमप्युज्जेषम् । हे सर्वप्रधानपुरुष विष्णुर्भवान् यथा त्र्यक्षरेण यान् त्रीँल्लोकानुदजयत् । तथा तानहमप्युज्जेषम् । न्यायाधीश सोमो भवान्यथा चतुरक्षरेण यांश्चतुष्पदः पशूनुदजयत् तथा तानहमप्युज्जेषम् ॥ ३१ ॥

भावार्थः—यदि राजा सर्वान्प्रजाजनानुन्नयेत्तर्हि प्रजापुरुषास्तं कथं नोन्नयेयुर्नोचेन्न ॥ ३१ ॥

पदार्थः-हे राजन् (अग्निः) अग्नि के समान वर्त्तमान आप जैसे (एकाक्षरेण) चिताने हारी एकअक्षर की दैवी गायत्री छन्द से (प्राणम्) शरीर में स्थित वायु के समान प्रजाजनों को (उत्) जेषम् उत्तम नीति से (अजयत्) उत्तम करे वैसे (तम्) उस को मैं भी (उत्) जेषम् उत्तम करूं । हे राजप्रजाजनो (अश्विनौ) सूर्य्य और चन्द्रमा के समान आप जैसे (द्व्यक्षरेण) दो अक्षर की दैवी उष्णिक् छन्द से जिन (द्विपदः) दो पैर वाले (मनुष्यान्) मननशील मनुष्यों को (उज्जयताम्) उत्तम करो वैसे (तान्) उन को मैं भी (उज्जेषम्) उत्तम करूं । हे सर्वप्रधान पुरुष (विष्णुः) परमेश्वर के समान न्यायकारी आप जैसे (त्र्यक्षरेण) तीन अक्षर की दैवी अनुष्टुप् छन्द से जिन (त्रीन्) जन्मस्थान और नामवाची (लोकान्) देखने योग्य लोकों को (उदजयत्) उत्तम करते हो वैसे (तान्) उन को मैं भी (उज्जेषम्) उत्तम करूं । हे (सोमः) ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले न्यायाधीश आप जैसे (पशून्) जिन पशुओं को (उदजयत्) उत्तम करते हो वैसे (तान्) उन को मैं भी (उज्जेषम्) उत्तम करूं ॥ ३१ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु० । जो राजा सब प्रजाओं को अच्छे प्रकार बढ़ावे तो उस को भी प्रजाजन क्यों न बढ़ावें और जो ऐसा न करें तो उस को प्रजा भी कभी न बढ़ावे ॥ ३१ ॥

पूषेत्यस्य तापस ऋषिः । पूषादयो मंत्रोक्ता देवताः
कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुना राजप्रजाजनाः किंवत्किं कुर्य्युरित्याह ॥

फिर राजा और प्रजाजन किन के दृष्टान्तों से क्या २ करें इस० ॥

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिश उदजयत्ता उज्जेष सविता षडक्षरेण षड् ऋतूनुदजयत्तानुज्जेषम् । मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान्पशूनुदजयँस्तानुज्जेषम् । बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् ॥३२॥

पूषा । पञ्चाक्षरेणेति पंचऽअक्षरेण । पंच । दिशः । उत् । अजयत् । ताः । उत् । जेषम् । सविता । षडक्षरेणेति षट्ऽअक्षरेण । षट् । ऋतून् । उत् । अजयत् । तान् । उत् । जेषम् । मरुतः । सप्ताक्षरेणेति । सप्तऽअक्षरेण । सप्त । ग्राम्यान् । पशून् । उत् । अजयन् । तान् । उत् । जेषम् । बृहस्पतिः । अष्टाक्षरेणेत्यष्टऽअक्षरेण । गायत्रीम् । उत् । अयजत् । ताम् । उत् । जेषम् ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(पूषा) चन्द्रइव सर्वस्य पोषकः (पंचाक्षरेण) दैव्या पंक्त्या (पंच) चतस्रः पार्श्वस्था एकाऽधऊर्ध्वस्था (दिशः) (उत) (जेषम्) (सविता) सूर्यइव (षडक्षरेण) दैव्या त्रिष्टुभा (षट्) (ऋतून्) वसन्तादीन् (उत) (अजयत्) (तान्) (उत) (जेषम्) (मरुतः) वायव इव (सप्ताक्षरेण) दैव्या जगत्या (सप्त) गोऽश्वमहिषोष्ट्राजाविगर्दभान् (ग्राम्यान्) ग्रामे भवान् (पशून् गवादीन् (उत) (अजयन्) (तान्) (उत) (जेषम्) (बृहस्पतिः) अनूचानो विद्वानिव (अष्टाक्षरेण) याजुष्याऽनुष्टुभा (गायत्रीम्) यया गायन्तं त्रायते तां गीतिम् (उत) (अजयत) (ताम्) (उत्) (जेषम्) ॥ ३२ ।

अन्वयः–हे राजन् पूषा भवान् यथा पंचाक्षरेण याः पंच दिशउदजयत्तथाऽहमपि ता उज्जेषम् । हे राजन् सविता भवान् यथा षडक्षरेण यान् षड्ऋतूनुदजयत्तथा तानहमप्युज्जेषम् । हे

सभ्या जना मरुतो भवन्तो यथा सप्ताक्षरेण यान् ग्राम्यान् सप्त पशूनुदजयंस्तथा तानहमप्युज्जेषम् । हे विद्वन् सभाध्यक्ष बृहस्पतिर्भवान् यथाऽष्टाक्षरेण यां गायत्रीमुदजयत्तामहमप्युज्जेषम् ॥ ३२॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु० यो राजा सर्वस्य पोषकः समस्तदिक्सुकीर्त्तिरैश्वर्य्यवान् सुसभ्यः पशुपालको वेदविद्भवेत्तं सर्वे राजप्रजासेनाजना उत्कर्षयेयुः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे राजन् (पूषा) चन्द्रमा के समान सब को पुष्ट करने वाले आप जैसे (पंचाक्षरेण) पांच अक्षर की दैवी पंक्ति से (पंच) पूर्वादि चार और एक ऊपर नीचे की (दिशः दिशाओं)को(उदजयत्) उत्तम कीर्ति से भरते हो वैसे (ताः) उन को मैं भी (उज्जेषम्) श्रेष्ठ कीर्त्ति से भरदेऊं । हे राजन् (सविता) सूर्य्य के समान आप जैसे (षडक्षरेण) छः अक्षरों की दैवी त्रिष्टुप् से जिन (षट्) छः (ऋतून) वसंतादि ऋतुओं को (उदजयत्) शुद्ध करते हो वैसे (तान्) उन को मैं भी (उज्जेषम्) शुद्ध करूं । हे सभाजनो (मरुतः) वायु के समान आप जैसे (सप्ताक्षरेण) सात अक्षरों की दैवी जगती से (सप्त) गाय, घोड़ा, भैंस, ऊंट बकरी, भेड़, और गधा इन सात (ग्राम्यान्) गांव के (पशून्) पशुओं को (उदजयत्) बढ़ाते हो वैसे (तान्) उन को मैं भी बढ़ाऊं । हे सभेश (बृहस्पतिः) समस्त विद्याओं के जानने वाले विद्वान् के समान आप जैसे (अष्टाक्षरेण) आठ अक्षरों की याजुषी अनुष्टुप् से जिस (गायत्रीम्) गान करने वाले की रक्षा करने वाली विद्वान् स्त्री की (उदजयत्) प्रतिष्ठा करते हो वैसे (ताम्) उस की मैं भी (उज्जेषम्) प्रतिष्ठा करूं ॥ ३२ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु० । जो राजा सब का पोषण जिस की सब दिशाओं में कीर्त्ति ऐश्वर्य्ययुक्त सभा के कामों में चतुर पशुओं का रक्षक और वेदों का ज्ञाता हो उस को राजा प्रजा और सेना के सब मनुष्य अपना अधिष्ठाता बना कर उन्नति देवें ॥ ३२ ॥

मित्र इत्यस्य तापस ऋषिः । मित्रादयो मंत्रोक्ता देवताः । कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ।

राज्ञः सत्याचाराऽनुकरणं प्रजया प्रजायाश्च राज्ञा कार्य्यमित्याह ॥

राजा के सत्याचार के अनुसार प्रजा और प्रजा के अनुसार राजा करे इस० ॥

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृत्तꣳ स्तोममुदजयत् तमुज्जेषम् । वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जेषमिन्द्र एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषम् । विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम् ॥ ३३ ॥ मित्रः । नवाक्षरेणेति नवऽअक्षरेण । त्रिवृतमिति त्रिऽवृत्तम् । स्तोमम् । उत् । अजयत् । तम् । उत् । जेषम् । वरुणः । दशाक्षरेणेति दशऽअक्षरेण । विराजमिति विऽराजम् । उत् । अजयत् । ताम् । उत् । जेषम् । इन्द्रः । एकादशाक्षरेणेत्येकादशऽअक्षरेण । त्रिष्टुभम् । त्रिस्तुभमिति त्रिऽस्तुभम् । उत् । अजयत् । ताम् । उत् । जेषम् । विश्वे । देवाः । द्वादशाक्षरेणेति द्वादशऽअक्षरेण । जगतीम् । उत् । अजयन् । ताम् । उत् जेषम् ॥३३॥

पदार्थः—(मित्रः) सर्वस्य सुहृत् (नवाक्षरेण) याजुष्या

बृहत्या (त्रिवृतम्) कर्मोपासनाज्ञानयुक्तम् (स्तोमम्) स्तोतुं योग्यम् (उत्) (अजयत्) (तम्) (उत्) (जेषम्) (वरुणः) श्रेष्ठः (दशाक्षरेण) याजुष्या पंक्त्या (विराजम्) विराट्छन्दोवाच्यम् (उत्) (अजयत्) (ताम्) (उत्) (जे(षम्) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (एकादशाक्षरेण) आसुर्या पंक्त्या (त्रिष्टुभम्) त्रिष्टुप्छन्दो वाच्यम् (उत्) (अजयत्) (ताम्) (उत्) (जेषम्)(विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (द्वादशाक्षरेण) साम्न्या गायत्र्या (जगतीम्) एतच्छन्दोऽभिहितां नीतिम् (उत्) (अजयत्) (ताम्) (उत्) (जेषम्) ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे राजन् मित्रो भवान् यथा नवाक्षरेण छन्दसा यं त्रिवृतं स्तोममुदजयत्तथा तमहमप्युज्जेषम् । हे प्रशंसनीय सभेश वरुणो भवान् यथा दशाक्षरेण छन्दसा यां विराजमुदजयत्तथाहमप्युज्जेषम् । हे परमैश्वर्यप्रदेन्द्रो भवान् यथैकादशाक्षरेण यां त्रिष्टुभमुदजयत्तथा तामहमप्युज्जेषम् । हे सभाजना विश्वे देवा भवन्तो यथा द्वादशाक्षरेण यां जगतीमुदजयँस्तामहमप्युज्जेषम् ॥ ३३ ॥

भावार्थः—राजजनाः सर्वेषु प्राणिषु मैत्रीं विधाय सुशिक्षयोत्कृष्टान् विदुषः संपादयेयुर्यतस्ते ऐश्वर्य्यभागिनो भूत्वा राजभक्ता भवेयुः ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे राजन् (मित्रः) सब के हितकारी आप जैसे (नवाक्षरेण) नव अक्षर की याजुषी बृहती से जिस (त्रिवृतम्) कर्म्म उपासना और ज्ञान के

(स्तोमम्) स्तुति के योग्य को (उदजयत्) उत्तमता से जानते हो वैसे (तम्) उस को मैं भी (उज्जेषम्) अच्छे प्रकार जानूं । हे प्रशंसा के योग्य सभेश (वरुणः) सब प्रकार से श्रेष्ठ आप जैसे (दशाक्षरेण) दश अक्षरों की याजुषी पंक्ति से जिस (विराजम्) विराट् छन्द से प्रतिपादित अर्थ को (उदजयत्) प्राप्त हुए हो वैसे (ताम्) उस को मैं भी (उज्जेषम्) प्राप्त होऊं (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य देने वाले आप जैसे (एकादशाक्षरेण) ग्यारह अक्षरों की आसुरी पंक्तिसे जिस (त्रिष्टुभम्) त्रिष्टुप् छन्द वाची को (उदजयत्) अच्छे प्रकार जानते हो वैसे (ताम्) उस को मैं भी (उज्जेषम्) अच्छे प्रकार जानूं । हे सभ्य जनो (विश्वे) सब (देवाः) विद्वानो आप जैसे (द्वादशाक्षरेण) बारह अक्षरों की साम्नी गायत्री से जिस (जगतीम्) जगती से कही हुई नीति का (उदजयत्) प्रचार करते हो वैसे (ताम्) उस को मैं भी (उज्जेषम्) प्रचार करूं ॥ ३३ ॥

भावार्थः—राज पुरुषों को चाहिये कि सब प्राणियों में मित्रता से अच्छे प्रकार शिक्षा कर इन प्रजाजनों को उत्तम गुणयुक्त विद्वान् करें जिस से ये ऐश्वर्य के भागी होकर राजभक्त हों ॥ ३३ ॥

वसव इत्यस्य तापस ऋषिः । वस्वादयो मंत्रोक्ता देवताः । वसव इत्यस्य निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः । आदित्या इत्यस्य निचृद्धृतिश्छन्दः ऋषभः स्वरः ॥

पुनरपि राजाप्रजाधर्मकृत्यमाह ॥

फिर भी राजा और प्रजा के धर्म्म कार्य्य का उप०

वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषम् । रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषम् । आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमदितिः षोडशा-

क्षरेण षोडशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् । प्रजापतिःसप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ॥ ३ ॥

वसवः । त्रयोदशाक्षरेणेति त्रयोदशऽअक्षरेण । त्रयोदशमिति त्रयःऽदशम् । स्तोमम् । उत् । अजयन् । तम् । उत् । जेषम् । रुद्राः । चतुर्दशाक्षरेणेति चतुर्दशऽअक्षरेण । चतुर्दशमिति चतुःऽदशम् । स्तोमम् । उत् । अजयन् । तम् । उत् जेषम् । आदित्याः । पंचदशाक्षरेणेति पंचदशऽअक्षरेण । पंचदशमिति पंचऽदशम् । स्तोमम् । उत् । अजयन् । तम् । उत् । जेषम् । अदितिः । षोडशाक्षरेणेति षोडशऽअक्षरेण । षोडशमिति षोडशम् । स्तोमम् । उत् । अजयत । तम् । उत् । जेषम् । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । सप्तदशाक्षरेणेति सप्तदशऽअक्षरेण । सप्तदशमिति सप्तऽदशम् । स्तोमम् । उत् । अजयत् । तम् । उत् । जेषम् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(वसवः) कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्य्येण गृहीतविद्याः (त्रयोदशाक्षरेण) आसुर्याऽनुष्टुभा (त्रयोदशम्) दशप्राणजीवमहत्तत्त्वानां संख्यापूरकमव्यक्तं कारणम् (स्तोमम्) स्तोतुं योग्यम् (उत) (अजयन्) (तम्) (उत्) (जेषम्) (रुद्राः) कृतेन चतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्य्येणाधीतविद्याः (चतुर्दशाक्षरेण) साम्न्युष्णिहा (चतुर्दशम्) दशेन्द्रियमनोबुद्धिचित्तानां संख्यापूरकमहङ्कारम् (स्तोमम्) स्तवनीयम् (उत) (अजयन्) (तम्) (उत्) (जेषम्) (आदित्याः) समाचरितेनाष्टचत्वारिंशद्वर्षपरिमितब्रह्मचर्य्येण गृहीतसमस्तविद्याः (पंचदशाक्षरेण) आसुर्या गायत्र्या (पंचदशम्) चत्वारो वेदाश्चत्वार उपवेदाः षडङ्गानि च मिलित्वा चतुर्दशविद्यास्तासां संख्यापूरकं क्रिया कौशलम् (स्तोमम्) स्तोतुमर्हम् (उत) (अजयन्) (तम्) (उत्) (जेषम्) (अदितिः) अविद्यमाना दितिर्नाशो यस्याः सा राजपत्नी (षोडशाऽक्षरेण) साम्न्यानुष्टुभा (षोडशम्) प्रमाणादिपदार्थसमूहम् (स्तोमम्) प्रशंसनीयम् (उत) (अजयत्) (तम्) (उत्) (जेषम्) (प्रजापतिः) प्रजायाः पालकः (सप्तदशाक्षरेण) निचृदार्च्या गायत्र्या (सप्तदशम्) चत्वारो वर्णाश्चत्वार आश्रमाः श्रवणमनननिदिध्यासनानि च कर्माणि । अलब्धस्य लिप्सा लब्धस्य प्रयत्नेन रक्षणं रक्षितस्य वृद्धिः वृद्धस्य सन्मार्गे सर्वोपकारके सत्कर्माणि व्ययकरणमेष चतुर्विधः पुरुषार्थः। मोक्षाऽनुष्ठानं चेति सप्तदशम् (स्तोमम्) अतिप्रशंसनीयम् (उत्) उत्कृष्टरीत्या (अजयत) उत्कर्षेत् (तम्) (उत) (जेषम्) उत्कर्षेयम्॥३४॥

अन्वयः—हे राजादयः सभ्या वसवो विद्वांसो जना भवन्तो यथा त्रयोदशाक्षरेण यं त्रयोदशं स्तोममुदजयँस्तथाऽहमप्युज्जेषम् । हे बलवीर्यवन्तः पुरुषार्थिनो रुद्रा भवन्तो यथा चतुर्दशाक्षरेण यं चतुर्दशं स्तोममुदजयँस्तथा तमहमप्युज्जेषम् । हे पूर्णविद्या शारीरात्माखिलबला आदित्या भवन्तो यथा पंचदशाऽक्षरेण यं पञ्चदशं स्तोममुदजयँस्तथा तमहमप्युज्जेषम् । हे सभाध्यक्षस्य राज्ञः पत्न्यदिते अखण्डितैश्वर्य्या भवती यथा षोडशाऽक्षरेण यं षोडशं स्तोममुदजयत् तथा तमहमप्युज्जेषम् । हे सर्वाऽभिरक्षक सज्जन नरेश प्रजापतिर्भवान् यथा सप्तदशाऽक्षरेण यं सप्तदशं स्तोममुदजयत् तथा तमहमप्युज्जेषम् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः एतैर्वसुभिरैश्वर्यवान् राजप्रजाधर्मो विहितस्तमनुष्ठाय यूयं सुखिनो भवत ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे राजादि सभ्य जनो (वसवः) चौबीस वर्षतक ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़ने वाले विद्वानो आप लोग जैसे (त्रयोदशाक्षरेण) तेरह अक्षरों की आसुरी अनुष्टुप् वेदस्थ छन्द से जिस (त्रयोदशम्) दश प्राण जीव महत्तत्व और अव्यक्त कारण रूप (स्तोमम्) प्रशंसा के योग्य पदार्थ समूह को (उदजयन्) श्रेष्ठता से जानें वैसे (तम्) उस को मैं भी (उज्जेषम्) उत्तमता से जानूं । हे बल पराक्रम और पुरुषार्थयुक्त (रुद्राः) चवालीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़ने हारे विद्वानों जैसे आप (चतुर्दशाक्षरेण) चौदह अक्षरों की साम्नी उष्णिक् छन्द से (चतुर्दशम्) दश इन्द्रिय मन बुद्धि चित्त और अहंकाररूप (स्तोमम्) प्रशंसा के योग्य पदार्थ विद्या को (उदजयन्) प्रशंसित करें वैसे मैं भी (तम्) उस को (उज्जेषम्) प्रशंसित करूं हे (आदित्याः) अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य से समस्तविद्याओं को ग्रहण करने हारे पूर्ण विद्या से शरीर और आत्मा के समस्त बल से युक्त सूर्य्य के समान प्रकाशमान विद्वानो आप लोग जैसे (पंचदशाक्षरेण) पंद्रह अक्षरों की आसुरी गायत्री से

(पंचदशम्) चार वेद चार उपवेद अर्थात् आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, (गानविद्या) तथा अर्थवेद (शिल्पशास्त्र) छःअंग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, मिल के चौदह उन का संख्यापूरक पंद्रहवां क्रिया कुशलता रूप (स्तोमम्) स्तुति के योग्य को (उदजयन्) अच्छे प्रकार से जानें वैसे मैं भी (तम्) उस को (उज्जेषम्) अच्छे प्रकार जानूं। हे (अदितिः) आत्मारूप से नाश रहित सभाध्यक्ष राजा की विदुषी स्त्री अखण्डित ऐश्वर्ययुक्त आप जैसे (षोडशाऽक्षरेण) सोलह अक्षरकी साम्नी अनुष्टुप् से (षोडशम्) प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क,निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थों की व्याख्या युक्त (स्तोमम्) प्रशंसा के योग्य को (उदजयत्) उत्तमता से जानें वैसे मैं भी (तम्) उस को (उज्जेषम्) उत्तमता से जानूं। हे नरेश (प्रजापतिः) प्रजा के रक्षक आप जैसे (सप्तदशाक्षरेण) सत्रह अक्षरों की निचृदार्षी गायत्री छन्द से (सप्तदशम्) चार वर्ण चार आश्रम सुनना, विचारना, ध्यानकरना अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त का रक्षण, रक्षित का बढ़ाना, बढ़े हुए को अच्छे मार्ग सब के उपकार में खर्च करना यह चार प्रकार का पुरुषार्थ और मोक्ष का अनुष्ठान रूप (स्तोमम्) अच्छे प्रकार प्रशंसनीय को उत्तमता से जानें वैसे मैं भी (उज्जेषम्) उत्तमता से जानूं ॥ ३४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्य लोगो इन चार मंत्रों से जितना राजा और प्रजा का धर्म कहा उस का अनुष्ठान कर तुम सुखी होओ ॥ ३४ ॥

एषतइत्यस्य वरुणऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृदुत्कृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

कीदृग्जनः साम्राज्यं सेवितुं योग्यो जायत इत्याह ॥

कैसा मनुष्य चक्रवर्त्ति राज्य सेवने को योग्य होता है इस० ॥

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहाऽग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा यमनेत्रेभ्यो

देवेभ्यो दाक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्यउत्तरासद्भ्यः स्वाहा सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्यउपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥

एषः । ते । निर्ऋतइति निःऽऋते । भागः । तम् । जुषस्व । स्वाहा । अग्निनेत्रेभ्यइत्यग्निऽनेत्रेभ्यः देवेभ्यः । पुरःसद्भ्यइति पुरःसत्ऽभ्यः । स्वाहा । यमनेत्रेभ्यइति यमऽनेत्रेभ्यः । देवेभ्यः । दक्षिणासद्भ्यइति दक्षिणासत्ऽभ्यः । स्वाहा । विश्वदेवनेत्रेभ्यइति विश्वदेवऽनेत्रेभ्यः । देवेभ्यः । पश्चात्सद्भ्यइति पश्चात्सत्ऽभ्यः । स्वाहा । मित्रावरुणनेत्रेभ्यइति मित्रावरुणऽनेत्रेभ्यः । वा मरुन्नेत्रेभ्यइति मरुन्ऽनेत्रेभ्यः । वा । देवेभ्यः । उत्तरासद्भ्यइत्युत्तरासत्ऽभ्यः । सोमनेत्रेभ्यइति सोमऽनेत्रेभ्यः । देवेभ्यः । उपरिसद्भ्यइत्युपरिसत्ऽभ्यः । दुवस्वत्ऽभ्यः । स्वाहा ॥ ३५ ॥

पदार्थः–(एषः) पूर्वापरप्रतिपादितः (ते) तव (निर्ऋते) नितरामृतं सत्यमाचरणं यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ (भागः) भजनीयः सेवितुं योग्यः (तम्) (जुषस्व) सेवस्व (स्वाहा) सत्यां वाचम् (अग्निनेत्रेभ्यः) अग्नेः प्रकाशइव नेत्रं नयनं येषान्तेभ्यः (देवेभ्यः) धार्मिकेभ्यो विद्वद्भ्यः (पुरःसद्भ्यः ये पुरः पूर्वं सभायां राष्ट्रे वा सीदन्ति तेभ्यः (स्वाहा) धर्म्यां क्रियाम् (यमनेत्रेभ्यः) यमस्य वायोर्नेत्रं नयनमिव नीतिर्येषां तेभ्यः (देवेभ्यः) विपश्चिद्भ्यः (दक्षिणासद्भ्यः) विश्वेषां देवानां विदुषां नेत्रं नीतिरिवनीतिर्येषां तेभ्यः (स्वाहा) दानक्रियाम् (विश्वदेवनेत्रेभ्यः) सर्वविद्वत्तुल्या नेत्रा नीतिर्येषांतेभ्यः (देवेभ्यः) दिव्यसुखप्रदेभ्यः (पश्चात्सद्भ्यः) ये पश्चात्सीदन्ति तेभ्यः (स्वाहा) उत्साहकारिकां वाचम् (मित्रावरुणनेत्रेभ्यः) प्राणापानतुल्येभ्यः (वा) पक्षान्तरे (मरुन्नेत्रेभ्यः) मरुतामृत्विजां प्रजास्थानां सज्जनानां वा नेत्रमिव नायकत्वं येषां तेभ्यः (वा) (देवेभ्यः) दिव्यन्याय प्रकाशकेभ्यः (उत्तरासद्भ्यः) य उत्तरस्यां दिशि सीदन्ति तेभ्यः (स्वाहा) दौत्यकुशलताम् (सोमनेत्रेभ्यः)सोमस्य चन्द्रस्यैश्वर्य्यवती नेत्रं नयनामिव नीतिर्येषां तेभ्यः (देवेभ्यः) सकलविद्याप्रचारकेभ्यः (उपरिसद्भ्यः) सर्वोपरि विराजमानेभ्यः (दुवस्वद्भ्यः) विद्याविनयधर्मेश्वरान् सेवमानेभ्यः (स्वाहा) आप्तवाणीम् ॥३५॥

अन्वयः—हे निर्ऋते राजँस्ते तव यएष भागो भजनीयो न्यायोऽस्ति तमग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा पुरःसद्भ्यो देवेभ्यः

स्वाहा । यमनेत्रेभ्यो दक्षिणासद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा । विश्वदेवनेत्रेभ्यः पश्चात्सद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा । मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेतेभ्यो वोत्तरासद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा । सोमनेत्रेभ्यः उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा च प्राप्य त्वं धर्मेण राज्यं सदा जुषस्व ॥ ३५ ॥

भावार्थः—हे राजन् सभाध्यक्ष यदा भवान् सर्वतो विद्वद्भ्यः परिवृतः प्राप्ताशिक्षः कृतसभो रक्षितसेनः सुसहायः सन्सनातन्या वेदोक्तया राजधर्मनीत्या प्रजाः पालयेत्तर्हीहामुत्र सुखमेव प्राप्नुयात् । एतद्विरुद्धश्चेत्तर्हि ते कुतः सुखमिति नहि मूर्खसहायः सुखमेधते न खलु विद्वदुपदेशानुगामी कदाचित्सुखं जहात्यस्माद्राजा सदैव विद्याधर्माप्तसहायेन राज्यं रक्षेत । यस्य सभायां राज्ये वा पूर्णविद्या धार्मिका वर्त्तन्ते मिथ्यावादिनो व्यभिचारिणोऽजितेन्द्रियाः परुषवाचोऽन्यायाचाराः स्तेना दस्यवश्च न सन्ति स्वयमप्येवं भूतोऽस्ति स एव चक्रवर्त्तिराज्यं कर्त्तुमर्हति नातो विरुद्धो जन इति बोध्यम् ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे (निर्ऋते) सदैव सत्याचरण युक्त राजन् (ते) आप का जो (एषः) यह (भागः) सेवने योग्य है उस को (अग्निनेत्रेभ्यः) अग्नि के प्रकाश के समान नीति युक्त (देवेभ्यः) विद्वानों से स्वाहा सत्य वाणी (पुरःसद्भ्यः) जो प्रथम सभा वा राज्य में स्थित हों उन (देवेभ्यः) न्यायाधीश विद्वानों से (स्वाहा) धर्म युक्त क्रिया (यमनेत्रेभ्यः) जिन की वायु के समान सर्वत्र गति (दक्षिणासद्भ्यः) जो दक्षिण दिशा में राजप्रबन्ध के लिये स्थित हों उन (देवेभ्यः) विद्वानों से (स्वाहा) दानक्रिया (विश्वदेवनेत्रेभ्यः) सब विद्वानों के तुल्य नीति के ज्ञानी (पश्चात्सद्भ्यः) जो पश्चिम दिशा में राज कर्मकारी हों उन (देवेभ्यः) दिव्य सुख देने हारे विद्वानों से (स्वाहा) उत्साह कारक वाणी (मित्रावरुणनेत्रेभ्यः) प्राण

और अपान के समान वा (मरुन्नेत्रेभ्यः) ऋत्वक् यज्ञ के कर्त्ता (वा) सत्पुरुष के समान न्याय कारक वा (उत्तरासद्भ्यः) जो उत्तर दिशा में न्यायाधीश हों उन (देवेभ्यः) विद्वानों से दूत कर्म की कुशला किया (सोमनेत्रेभ्यः) चन्द्रमा के समान ऐश्वर्य्य युक्त होकर सब को आनन्द दायक (उपरिसद्भ्यः) विद्या विनय धर्म्म और ईश्वर की सेवा करने हारे (देवेभ्यः) विद्वानों से (स्वाहा) आप्त पुरुषों की वाणी को प्राप्त हो के तू सदा धर्म का (जुषस्व) सेवन किया कर॥ ३५॥

भावार्थः—हे राजन् सभाध्यक्ष जब आप सब ओर से उत्तम विद्वानों से युक्त हो कर सब प्रकार की शिक्षा को प्राप्त सभा का करने हारे सेना का रक्षक उत्तम सहाय से सहित होकर सनातन वेदोक्त राज धर्म नीति से प्रजा का पालन करें इस लोक और परलोक में सुख ही को प्राप्त होवें जो कर्म से विरुद्ध रहैगा तो तुम को सुख भी न होगा कोई भी मनुष्य मूर्खों के सहाय से सुख की वृद्धि नहीं कर सकता और न कभी विद्वानों के अनुसार चलने वाला मनुष्य सुख को छोड़ देता है इस से राजा सर्वदा विद्या धर्म और आप्त विद्वानों के सहाय से राज्य की रक्षा किया करे जिस की सभा वा राज्य में पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक मनुष्य सभासद वा कर्मचारी होते हैं और जिस के सभा वा राज्य में मिथ्यावादी व्यभिचारी अजितेन्द्रिय कठोर वचनों के बोलने वाले अन्यायकारी चोर और डांकू आदि नहीं होते और आप भी इसी प्रकार का धार्मिक हो तो वही पुरुष चक्रवर्त्ती राज्य करने के योग्य होता है इस से विरुद्ध नहीं ॥ ३५ ॥

ये देवाइत्यस्य वरुण ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । विकृतिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

मनुष्याः सर्वत्र भ्रमणं विधाय विद्यां गृह्णीयुरित्यु० ॥

मनुष्य लोग सर्वत्र घूमघाम कर विद्या ग्रहण करें इस०

ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा । ये देवा यमनेत्रादक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा । ये देवा विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा । ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः

स्वाहा। ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३६ ॥

ये । देवाः । अग्निनेत्राइत्यग्निऽनेत्राः । पुरःसद इतिपुरःऽसदः । तेभ्यः । स्वाहा । ये । देवाः । यमनेत्राइतियमऽनेत्राः । दक्षिणासदइतिदक्षिणाऽसदः । तेभ्यः । स्वाहा । ये देवाः । विश्वदेवनेत्रा इतिविश्वदेवऽनेत्राः । पश्चात्सदइतिपश्चात्ऽसदः । तेभ्यः । स्वाहा । ये । देवाः । मित्रावरुणनेत्राइतिमित्रावरुणऽनेत्रा । वा । मरुन्नेत्राइतिमरुत्ऽनेत्राः । वा । उत्तरासदइत्युत्तराऽसदः । तेभ्यः । स्वाहा । ये । देवाः । सोमनेत्राइतिसोमऽनेत्राः । उपरिसदइत्युपरिऽसदः । दुवस्वन्तः । तेभ्यः । स्वाहा ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(ये) (देवाः) विद्वांसः (अग्निनेत्राः) अग्नौ विद्युदादौ नेत्रं नयनं विज्ञानं येषान्ते (पुरःसदः) ये सभायां राष्ट्रे वा पुरः पूर्वस्यान्दिशि सीदन्ति (तेभ्यः) (स्वाहाः) सत्यां वाचम् (ये) (देवाः) योगिनो न्यायाधीशाः (यमनेत्राः) यमेष्वहिंसादिषु योगाङ्गेषु नीतिषु वा नेत्रं प्रापणं येषां ते (दक्षिणासदः) ये दक्षिणस्यां दिश्यवतिष्ठन्ते (तेभ्यः) (स्वाहा) सत्यां क्रियाम् (ये) (देवाः) सर्वविद्याविदः (विश्वदेवनेत्राः) विश्वेषु देवेषु नेत्रं प्रज्ञानं येषान्ते (पश्चात्सदः) ये पश्चिमायां दि-

शि सीदन्ति (तेभ्यः) (स्वाहा) आन्वीक्षिकीं विद्याम् (ये) (देवाः) सर्वेभ्यः सुखदातारः (मित्रावरुणनेत्राः) प्राणोदानवत्स र्वान् धर्मं नयन्तः (वा) (मरुन्नेत्राः) मरुति ब्रह्माण्डस्थे वायौ नेत्रं नयनं येषां ते (वा) अधऊर्ध्वस्थाः (उत्तरासदः) ये प्रश्नोत्तराणि समादधाना उत्तरस्यान्दिशि सीदन्ति (तेभ्यः)(स्वाहा) सर्वोपकारिणीं विद्याम् (ये) (देवाः) आयुर्वेदविदः (सोमनेत्राः) सोमलतादिष्वोषधीषु नेत्रं नयनं येषान्ते (उपरिसदः) ये उपरि उत्कृष्टआसने व्यवहारे वा सीदन्ति ते (दुवस्वन्तः) दुवो बहुविद्याधर्मपरिचरणं विद्यते येषु (तेभ्यः) (स्वाहा) धर्मौषधिविद्याम्॥३६॥

अन्वयः—हे सभाध्यक्ष राजँस्त्वं येऽग्निनेत्राः पुरःसदो देवाः सन्ति तेभ्यः स्वाहा जुषस्व । ये यमनेत्रा दक्षिणासदो देवाः सन्ति तेभ्यः स्वाहा जुषस्व । ये पश्चात्सदो विश्वदेवनेत्रा देवाः सन्ति तेभ्यः स्वाहा जुषस्व । ये उत्तरासदो वाऽधऊर्ध्वस्था मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा देवाः सन्ति तेभ्यः स्वाहा जुषस्व ॥ ३६ ॥

भावार्थः—हे राजादयो मनुष्या यूयं यदा धार्मिकाः सुशीला विद्वांसो भूत्वा सर्वदिक्स्थानां सर्वविद्याविदामाप्तानां विदुषां परीक्षासत्कारार्थं सर्वा विद्याः प्राप्नुयात । तदैते भवत्समीपमागत्य युष्माभिः सह संगत्य धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिं कुर्युः । ये देशदेशान्तरं द्वीपद्वीपान्तरं विद्या विनयसुशिक्षाक्रियाकौशलानि गृह्णन्ति तएव सर्वेषां सुसुखैरलंकर्त्तारः स्युः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष राजन् आप (ये) जो (अग्निनेत्राः) बिजुली आदि पदार्थों के समान जानने वाले (पुरः सदः) जो सभा वा देश वा पूर्व की दिशा में स्थित (देवाः) विद्वान् हैं (तेभ्यः) उन से (स्वाहा) सत्यवाणी (ये) जो (यमने-

श्राः) अहिंसादि योगाङ्ग रीतियों में निपुण (दक्षिणासदः) दक्षिण दिशा मे स्थित (देवाः) योगी और न्यायाधीश हैं (तेभ्यः) उन से (स्वाहा) सत्यक्रिया (ये) जो (पश्चात्सदः) पश्चिम दिशा में (विश्वदेवनेत्राः) सब पृथिवी आदि पदार्थों के ज्ञाता (देवाः) सब विद्या जानने वाले विद्वान् हैं (तेभ्यः) उन से (स्वाहा) दण्डनीति (ये) जो (उत्तरासदः) प्रश्नोत्तरों का समाधान करने वाले उत्तर दिशा में (वा) नीचे ऊपर स्थित (मित्रावरुणनेत्राः) प्राण उदान के समान सब धर्मों के जताने वाले (वा) अथवा (मरुन्नेत्राः) ब्रह्माण्ड के वायु में नेत्र विज्ञान और (देवाः) सब को सुख देने वाले विद्वान् हैं (तेभ्यः) उन से (स्वाहा) सब के उपकारक विद्या को सेवन करो और (ये) जो (उपरिसदः) ऊंचे आसन वा व्यवहार में स्थित (दुवस्वन्तः) बहुत प्रकार से धर्म के सेवन से युक्त (सोमनेत्राः) सोम आदि ओषधियों के जानने तथा (देवाः) आयुर्वेद को मानने हारे हैं उन से (स्वाहा) अमृत रूपी ओषधीविद्या का सेवन कीजिये ॥ ३६ ॥

भावार्थः—हे राजा आदि मनुष्यो तुम लोग जब धार्मिक सुशील विद्वान् होकर सब दिशाओं में स्थित सब विद्याओं के जानने वाले आप्त विद्वानों की परीक्षा और सत्कार के लिये सब विद्याओं को प्राप्त होओ तब यह तुम्हारे समीप आके तुम्हारे साथ सङ्ग करके धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष, की सिद्धि करावें जो देश देशान्तर तथा द्वीप द्वीपान्तर में विद्या नम्रता अच्छी शिक्षा काम की चतुराई को ग्रहण करते हैं वे ही सब को अच्छे सुख कराने वाले होते हैं ॥ ३६ ॥

अग्नेसहस्वेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

पुनरपि राजादिभिः कथं वर्त्तितव्यमित्यु० ॥

फिर भी राजा आदि किस प्रकार वर्त्तें इस०॥

अग्ने सह॑स्व पृत॑ना अ॒भिमा॑तीरपा॑स्य । दु॒ष्टर॒स्तर॒न्नरा॑तीर्वर्चो॑ धा य॒ज्ञवा॑हसि ॥ ३७ ॥

अग्ने॑ । सह॑स्व । पृत॑नाः । अ॒भिमा॑ती॒रित्य॒भिऽमा॑तीः । अप॑ । अ॒स्य॒ । दु॒ष्टर॑ः । दु॒स्तर॒ इति॑ दुः॒ऽतर॑ः ।

तर॑न् । अरा॑तीः । वर्चः॑ । धाः । य॒ज्ञवा॑ह॒सीति॑ । य॒ज्ञऽवा॑हसि ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(अग्ने) सकलविद्याविद्विद्वन् राजन् (सहस्व) क्षमस्व (पृतनाः) बलसुशिक्षान्विता वीरमनुष्यसेनाः (अभिमातीः) अभिमानहर्षयुक्ताः (अप) (अस्य) दूरे प्रक्षिप (दुष्टरः) दुःखेन तरितुं संप्लवितुं योग्यः (तरन्) शत्रुबलं संप्लवन् (अरातीः) अदानशीलान् शत्रून् (वर्चः) विद्याबलन्यायदीपनम् (धाः) धेहि (यज्ञवाहसि) यज्ञान् संगतान् राजधर्मादीन् वहन्ति यस्मिन् राज्ये तस्मिन् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने दुष्टरस्तरँस्त्वं यज्ञवाहस्यभिमातीरपास्य वर्चोधाः ॥ ३७ ॥

भावार्थः—राजादयः समासेनाद्याः स्वकीयेन दृढेन विद्यासुशिक्षायुक्तेन धृतेन सैन्येन सहिताः स्वयमजयाःसन्तः शत्रून् विजयमानाः पृथिव्यां कीर्तिं प्रसारयेयुः ॥ ३७ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) सब विद्या जानने वाले विद्वान् राजन् (दुष्टरः) दुःख से तरने योग्य (तरन्) शत्रु सेना को अच्छे प्रकार तरते हुए आप (यज्ञवाहसि) जिस में राज धर्म युक्त राज्य में (अभिमातीः) अभिमान आनन्द युक्त (पृतनाः) बल और अच्छी शिक्षा युक्त वीरसेना को (सहस्व) सहो (अरातीः) दुःख देने वाले शत्रुओं को (अपास्य) दूर निकालिये और (वर्चः) विद्या बल और न्याय को (धाः) धारण कीजिये ॥ ३७ ॥

भावार्थः—राजादि सभा सेना के स्वामी लोग अपने दृढ़ विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त सेना के सहित आप अजय और शत्रुओं को जीतते हुए भूमि पर उत्तम यश का विस्तार करें ॥ ३७ ॥

देवस्यत्वेत्यस्य देववातऋषिः । रक्षोघ्नो देवता । स्वराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

प्रजाजना इह कीदृशं सभाधीशं राजानं स्वीकुर्युरित्याह ॥

प्रजा जन राज्य में कैसे सभाधीश का स्वीकार करें इस० ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । उपांशोर्वीर्येण जुहोमि हतꣳ रक्षः स्वाहा । रक्षसां त्वा बधायावधिष्म रक्षोऽवधिष्मामुमसौ हतः ॥३८॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसवइति प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् । उपांशोरित्युपऽअꣳशोः । वीर्येण । जुहोमि । हतम् । रक्षः । स्वाहा । रक्षसाम् । त्वा । बधाय । अवधिष्म । रक्षः । अवधिष्म । अमुम् । असौ । हतः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(देवस्य) प्रकाशितन्यायस्य (त्वा) त्वाम् (सवितुः) ऐश्वर्योत्पादकस्य सेनेशस्य (प्रसवे) ऐश्वर्ये (अश्विनोः) सूर्य्याचन्द्रमसोरिव सभासेनापत्योः (बाहुभ्याम्) (पूष्णः) पुष्टिकर्तुर्वैद्यस्य (हस्ताभ्याम्) (उपांशोः) उप समीपेऽनिति तस्य । अत्रान धातोरुः शुगागमश्च (वीर्य्येण) सामर्थ्येन (जुहोमि) गृह्णामि (हतम्) विनष्टम् (रक्षः) राक्षसम् । रक्षो रक्षितव्यमस्मादहसि क्षणोतीतिवा रात्रौ नक्षत इति वा । निरु०

४।१८ (स्वाहा) सत्यया क्रियया (रक्षसाम्) दुष्टानाम् (त्वा)त्वाम् (बधाय)विनाशाय (अबधिष्म) हन्याम (रक्षः) दुष्टाचारम् (अबधिष्म) ताडये (अमुम्) परोक्षम् (असौ) दूरस्थः (हतः) विनष्टः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे राजन्नहं स्वाहा सवितुर्देवस्य प्रसवऽउपांशोर्वीर्य्येणाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां रक्षसां बधाय त्वा जुहोमि यथा त्वया रक्षो हतं तथा वयमप्यबधिष्म । यथासौ हतः स्यात् तथा वयमेतमबधिष्म ॥ ३८ ॥

भावार्थः—प्रजास्थजनाः स्वरक्षणाय दुष्टनिवारणाय विद्याधर्मप्रवृत्तये च सुशीलं राजानं स्वीकुर्युः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—हे राजन् मैं (स्वाहा) सत्य क्रिया से (सवितुः) ऐश्वर्य्य के उत्पन्न करने वाले (देवस्य) प्रकाशितन्याय युक्त (प्रसवे) ऐश्वर्य्य में (उपांशोः) समीपस्थ सेना से (वीर्य्येण) सामर्थ्य से (अश्विनोः) सूर्य्य चन्द्रमा के समान सेनापति के (बाहुभ्याम्) भुजा से (पूष्णः) पुष्टिकारक वैद्य के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (रक्षः) राक्षसों के (बधाय) नाश के अर्थ (त्वा) आप को (जुहोमि) ग्रहण करता हूं जैसे तूने (रक्षः) दुष्ट को (हतम्) नष्ट किया वैसे हम लोग भी (अबधिष्म) दुष्टों को मारें जैसे (असौ) वह दुष्ट (हतः) नष्ट होजाय वैसे हम लोग इन सब को (अबधिष्म) नष्ट करें ॥ ३८ ॥

भावार्थः—प्रजाजनों को चाहिये कि अपने बचाव और दुष्टों के निवारणार्थ विद्या और धर्म की प्रवृत्ति के लिये अच्छे स्वभाव विद्या और धर्म के प्रचार करने हारे वीर जितेन्द्रिय सत्यवादी सभा के स्वामी राजा का स्वीकार करें ॥ ३८ ॥

सवितात्वेत्यस्यदेववात ऋषिः । रक्षोघ्नो देवता । भुरिगार्षी छन्दः । निषादः स्वरः ॥

सभ्यैर्मनुष्यैराजा कं कं प्रेरयितव्य इत्याह ।

सभ्य मनुष्य राजा को किस २ विषय में प्रेरणा करें इस० ॥

सविता त्वा सवानां सुवतामग्निर्गृहपतीनां सोमो वनस्पतीनाम् । बृहस्पतिर्वाचइन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम् ॥३९॥

सविता । त्वा । सवानाम् । सुवताम् । अग्निः । गृहपतीनामिति गृहपतीनाम् । सोमः । वनस्पतीनाम् । बृहस्पतिः । वाचे इन्द्रः । ज्यैष्ठ्याय । रुद्रः । पशुभ्य इति पशुऽभ्यः । मित्रः । सत्यः । वरुणः । धर्मपतीनामिति धर्मऽपतीनाम् ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(सविता) ऐश्वर्यस्य प्रसविता (त्वा) त्वाम् (सवानाम्) ऐश्वर्याणाम् (सुवताम्) प्रेरताम् । अत्र व्यत्ययेनात्मने पदम् (अग्निः) प्रकाशकः (गृहपतीनाम्) गृहाऽऽश्रमपालकानाम् (सोमः) सोम्यगुणसम्पन्नो वैद्यकविषयओषधीराजः (वनस्पतीनाम्) पिप्पलादीनाम् (बृहस्पतिः) पूर्णविद्यआप्तः (वाचे) वेदाऽऽशिक्षायुक्तवाणीविज्ञानाय (इन्द्रः) परमैश्वर्ययोगारूढो वृद्धः (ज्यैष्ठ्याय) अतिशयेन वृद्धस्य भावाय (रुद्रः) शत्रूणां रोदयिता शूरवीरः (पशुभ्यः) गवादीनाम् (मित्रः) सर्वस्य सुहृत् (सत्यः) सत्पुरुषेषु भवः (वरुणः) धर्म्माऽऽचरणेन श्रेष्ठः (धर्म्मपतीनाम्) धर्म्मस्य रक्षितॄणाम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे सभेश राजन् यस्त्वं सवानां सवितेव गृहपतीनामग्निरिव वनस्पतीनां सोमइव धर्मपतीनां सत्यो वरुणो मित्र इ-

व वाचे बृहस्पतिरिव ज्यैष्ठ्यायेन्द्र इव पशुभ्यो रुद्र इवासि तं त्वाम् उपदेष्टा प्रजापालने सुवताम् ॥ ३९ ॥

भावार्थः—हे राजँस्त्वं ये त्वामधर्मान्निवर्त्य धर्माऽनुष्ठाने प्रेरयेयुस्तेषामेव सङ्गं सदा कुरु नेतरेषाम् ॥ ३९ ॥

पदार्थः—हे सभापते राजन् जो तू (सवानाम्) ऐश्वर्य्यों के (सविता) सूर्य्य के समान प्रेरक (गृहपतीनाम्) गृहस्थों के उपकारक (अग्निः) पावक के सदृश (वनस्पतीनाम्) पीपल आदि वृक्षों में (सोमः) सोमवल्ली के सदृश (धर्म्मपतीनाम्) धर्म के पालने हारों के मध्य में (सत्यः) सज्जनों में सज्जन (वरुणः) शुभगुण कर्मों से श्रेष्ठ (मित्रः) सखा के तुल्य (वाचे) वेदवाणी के लिये (बृहस्पतिः) महाविद्वान् के सदृश (ज्यैष्ठ्याय) श्रेष्ठता के लिये (इन्द्रः) परमैश्वर्य्य से युक्त के तुल्य (पशुभ्यः) गौ आदि पशुओं के लिये (रुद्रः) शुद्ध वायु के सदृश है उस (त्वा) तुझ को धर्मात्मा सत्यवादी विद्वान् धर्म्म से प्रजा की रक्षा में (सुवताम्) प्रेरणा करें ॥ ३९ ॥

भावार्थः—हे राजन् जो आप को अधर्म से लौटाकर धर्म के अनुष्ठान में प्रेरणा करें उन्हीं का सङ्ग सदा करो औरों का नहीं ॥ ३९ ॥

इमं देवा इत्यस्य देववात ऋषिः । यजमानो देवता । भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कस्मै कस्मै प्रयोजनाय कथंभूतो राजा स्वीकार्य्य इत्याह
किस किस प्रयोजन के लिये कैसे राजा का स्वीकार करें इस० ॥

इमं देवाऽअसपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ ४० ॥

इमम् । देवाः । असपत्नम् । सुवध्वम् । महते । क्षत्राय । महते । ज्यैष्ठ्याय । महते । जानराज्यायेति जानंऽराज्याय । इन्द्रस्य । इन्द्रियाय । इमम् । अमुष्य । पुत्रम् । अमुष्यै । पुत्रम् । अस्यै । विशे । एषः । वः । अमी इत्यमी । राजा । सोमः । अस्माकम् । ब्राह्मणानाम् । राजा ॥ ४० ॥

पदार्थः—(इमम्) समक्षे वर्त्तमानम् (देवाः) धार्मिका विद्वांसः (असपत्नम्) अजातशत्रुम् (सुवध्वम्) निष्पादयत । (महते) महागुणविशिष्टाय (क्षत्राय) क्षत्रियाणां पालनाय (महते) (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठत्वाय (महते) (जानराज्याय) जनानां राजसु भावाय (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य पुरुषस्य (इन्द्रियाय) धनाय (इमम्) (अमुष्यपुत्रम्) प्रतिष्ठितस्य धार्मिकस्य विदुषः सन्तानम् (अमुष्यै) अमुष्या धार्मिकाया विदुष्याः (पुत्रम्) पवित्रमपत्यम् (अस्यै) वर्त्तमानायाः (विशे) प्रजायाः (एषः) सर्वैः स्वीकृतः (वः) युष्माकं क्षत्रियादीनाम् (अमी) परोक्षे वर्त्तमानाः (राजा) न्यायप्रकाशकः (सोमः) सोम इव प्रजासु वर्त्तमानः (अस्माकम्) (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वेदचतुष्टयस्य वा सेवकानाम् (राजा)॥ ४० ॥

अन्वयः—हे प्रजास्था देवा यूयं त एष सोमो वोऽस्माकं च ब्राह्मणानां राजा येऽमी परोक्षे वर्त्तन्ते तेषाञ्च राजाऽस्ति तमिममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश इममेव महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियायाऽसपत्नं सुवध्वम् ॥ ४० ॥

भावार्थः—हे राजप्रजाजना यो विद्वद्भ्यां मातापितृभ्यां सुशिक्षितः कुलीनो महागुणकर्मस्वभावो जितेन्द्रियत्वादि गुणयुक्तः सेविताऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यविद्यासुशिक्षः पूर्णशरीरात्मबलः प्रजापालनप्रियो विद्वानस्ति तं सभाध्यक्षं राजानं कृत्वा साम्राज्यं सेवध्वम् ॥ ४० ॥

अस्मिन्नध्याये राजधर्मवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति जानन्तु ॥

पदार्थः—हे प्रजास्थ (देवाः) विद्वान् लोगो तुम जो (एषः) यह (सोमः) चन्द्रमा के समान प्रजा में प्रियरूप (वः) तुम क्षत्रियादि और हम ब्राह्मणादि और जो (अमी) परोक्ष में वर्त्तमान हैं उन सब का राजा है उस (इमम्) इस (अमुष्य) उस उत्तम पुरुष का (पुत्रम्) पुत्र (अमुष्यै) उस विद्यादि गुणों से श्रेष्ठ धर्मात्मा विद्वान् स्त्री के पुत्र को (अस्यै) इस (विशे) प्रजा के लिये इसी पुरुष को (महते) बड़े (ज्यैष्ठ्याय) प्रशंसा के योग्य (महते) बड़े (जानराज्याय) धार्मिक जनों के राज्य करने (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्य युक्त (इन्द्रियाय) धन के वास्ते (असपत्नम्) शत्रुरहित (सुवध्वम्) कीजिये ॥ ४० ॥

भावार्थः—हे राजा और प्रजा के मनुष्यो तुम जो विद्वान् माता और पिता से अच्छे प्रकार सुशिक्षित कुलीन बड़े उत्तम २ गुण कर्म और स्वभाव युक्त जितेन्द्रियादि गुण युक्त ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्य से पूर्ण विद्या से सुशील शरीर और आत्मा के पूर्ण बल युक्त धर्म से प्रजा का पालक प्रेमी विद्वान् हो उस को सभापति राजा मान कर चक्रवर्त्ति राज्य का सेवन करो ॥ ४० ॥

इस अध्याय में राज धर्म के वर्णन से इस अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिते संस्कृतार्य्य-भाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये नवमोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

अथ दशमाध्यायारम्भः ।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ १ ॥

अपो देवा इत्यस्य वरुण ऋषिः । आपो देवताः । निचृदार्षीत्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ।

अथ मनुष्यैर्विदुषामनुकरणेन पदार्थेभ्य उपयोगो ग्राह्य इत्याह ।

इस के पश्चात् इस दशवें अध्याय के प्रथम मंत्र में मनुष्य लोग विद्वानों के अनुकूल चलें इस विषय का उपदेश किया है ॥

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः । याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः ॥ १ ॥

अपः । देवाः । मधुमतीरिति मधुऽमतीः । अगृभ्णन् । ऊर्जस्वतीः । राजस्वइति राजऽस्वः । चितानाः । याभिः । मित्रावरुणौ । अभि । असिञ्चन् । याभिः । इन्द्रम् । अनयन् । अति । अरातीः ॥ १ ॥

पदार्थः—(अपः) जलानि प्राणान्वा (देवाः) विद्वांसः (मधुमतीः) प्रशस्तमधुरादिगुणयुक्ताः (अगृभ्णन्) गृह्णीत

(ऊर्जस्वतीः) बलपराक्रमप्रदाः (राजस्वः) राजजनिकाः (चिताना:) संज्ञाकारिण्यः । अत्र विकरणलुग्व्यत्ययेनात्मनेपदं च (याभिः) (मित्रावरुणौ) प्राणोदानौ (अभि) (असिंचन्) सिंचन्ति (याभिः) क्रियाभिः (इन्द्रम्) विद्युतम् (अनयन्) प्राप्नुवन्ति (अति) (अरातीः) शत्रून् ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं विपश्चितो देवा याभिर्मित्रावरुणावभ्यसिंचन् याभिरिन्द्रमरातीश्चानयन् ताभिर्मधुमती ऊर्जस्वतीश्चिताना राजस्वोऽपोऽगृभ्णन् गृह्णीत ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्वत्सहायेनाऽपः सुपरीक्ष्योपयुज्यन्ताम् । शत्रून्निवर्त्य प्रजया सह प्राणवत्प्रियत्वे वर्त्तितव्यमाभ्य उपकारो नेयः ॥ १ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग (देवाः) चतुर विद्वान् लोग (याभिः) जिन क्रियाओं से (मित्रावरुणौ) प्राण तथा उदान को (अभ्यसिंचन्) सब प्रकार सींचते और जिन क्रियाओं से (इन्द्रम्) बिजुली को प्राप्त और (अरातीः) शत्रुओं को (अनयन) जीतते हैं उन क्रियाओं से (मधुमतीः) प्रशंसनीय मधुरादि गुण युक्त (ऊर्जस्वतीः) बल पराक्रम बढ़ाने (चितानाः) चेतनता देने और (राजस्वः) ज्ञान प्रकाश युक्त राज्य को प्राप्त कराने हारे (अपः) जल वा प्राणों को (अगृभ्णन्) ग्रहण करो ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों के सहाय से जल वा प्राणों की परीक्षा करके उन से उपयोग लेवें । शत्रुओं को निवृत्त करके प्रजाके साथ प्राणों के समान प्रीति से वर्तें । और इन जल तथा प्राणों से उपकार लेवें ॥ १ ॥

वृष्ण ऊर्मिरित्यस्य वरुण ऋषिः । वृषा देवता । स्वराड्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ।

अथ विद्वांसः कीदृशं राजानं प्रति किं किं याचेरन्नित्याह ॥

अब विद्वान् लोग कैसे राजा से क्या २ मांगें यह० ॥

वृष्णं ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा ।

वृष्णं ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि । वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा । वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ २ ॥

वृष्णः । ऊर्मिः । असि । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । देहि । स्वाहा । वृष्णः । ऊर्मिः । असि । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । देहि । वृषसेनइति वृषऽसेनः । असि राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । देहि । स्वाहा । वृषसेनइति वृषऽसेनः । असि । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः राष्ट्रम् । अमुष्मै । देहि ॥ २ ॥

पदार्थः—(वृष्णः) सुखवर्षकस्य विज्ञानस्य (ऊर्मिः) प्रापकः अर्तेरूच उ० ४। ४४ इति अत्रातोर्मिः (असि) (राष्ट्रदाः) राष्ट्रं ददातीति (राष्ट्रम्) राज्यम् (मे) मह्यम् (देहि) (स्वाहा) सत्यया नीत्या (वृष्णः) सुखवर्षकस्य राज्यस्य (ऊर्मिः) ज्ञाता (असि) (राष्ट्रदाः) राज्यप्रदाः (राष्ट्रम्) न्यायप्रकाशितम् (अमुष्मै) राज्यपालकाय (देहि) (वृषसेनः) वृषा बलयुक्ता सेना यस्य सः (असि) (राष्ट्रदाः) राज्ञां कर्मप्रदाः (राष्ट्रम्) राज्यम् (मे) प्रत्यक्षाय मह्यम् (देहि) (स्वाहा) सुष्ठुवाचा

(वृषसेनः) वृषपुष्टसेनः (असि) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) परोक्षाय जनाय (देहि) ॥ २ ॥

अन्वयः—हे राजन् यतस्त्वं वृष्ण ऊर्मीराष्ट्रदा असि तस्मान्मे स्वाहा राष्ट्रं देहि । वृष्णऊर्मी राष्ट्रदा असि । अमुष्मै राष्ट्रं देहि । राष्ट्रदा वृषसेनोसि स्वाहा राष्ट्रं देहि । राष्ट्रदा वृषसेनोऽसि त्वममुष्मै राष्ट्रं देहि ॥ २ ॥

भावार्थः—यो मनुष्यो दुष्टान् जित्वा प्रत्यक्षान् श्रेष्ठान् सत्कृत्य राज्याधिकारं राज्यश्रियं ददाति स चक्रवर्त्ती भवितुं योग्यो जायते ॥ २ ॥

पदार्थः—हे राजन् जिस कारण आप (वृष्णः) सुख के वर्षा कारक ज्ञान के प्राप्त कराने (राष्ट्रदाः) राज्य के देने हारे (असि) हैं इस से (मे) मुझे (स्वाहा) सत्य नीति से (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये (वृष्णः) सुख की वृष्टि करने वाले राज्य के (ऊर्मिः) जानने और (राष्ट्रदाः) राज्य प्रदान करने हारे (असि) हैं (अमुष्मै) उस राज्य की रक्षा करने वाले को (राष्ट्रम्) न्याय से प्रकाशित राज्य को (देहि) दीजिये राष्ट्रदाः) राजाओं के कर्मों के देने हारे वृषसेनः) बलवान् सेना से युक्त (असि) हैं (मे) प्रत्यक्ष वर्त्तमान मेरे लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये । तथा (राष्ट्रदाः) प्रत्यक्ष राज्य को देने वाले (वृषसेनः) आनन्दित पुष्टसेना से युक्त (असि) हैं इस से आप (अमुष्मै) उस परोक्ष पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये ॥ २ ॥

भावार्थः—जो राज पुरुष दुष्ट प्राणियों को जीत प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पुरुषों का सत्कार कर के अधिकार और शोभा को देता है उस के लिये चक्रवर्त्ती राज्य का अधिकार होना योग्य है ॥ २ ॥

अर्थेत इत्यस्य वरुण ऋषिः । अपां पतिर्देवता। पूर्वस्याभिकृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः । देहीत्यस्य निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनाराजाऽमात्यसेनाप्रजाजनाः परस्परं कथं वर्तेरन्नित्यु० ॥

राजा मंत्री सेना और प्रजा के पुरुष आपस में किस प्रकार वर्त्तें इस० ॥

अर्थेतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहार्थेतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौजस्वतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहौजस्वतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः परिवाहिणस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणीस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापाम्पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रम्मेदेहि स्वाहाऽपाम्पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदाराष्ट्रं मे देहि स्वाहाऽपाङ्गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ ३ ॥

अर्थेतइत्यर्थऽइतः । स्थ । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । अर्थेतइत्यर्थऽइतः । स्थ । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम । अमुष्मै । दत्त । ओजस्वतीः । स्थ । राष्ट्रदाइति राऽष्ट्रदाः ।

राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । ओजस्वतीः । स्थ । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । आपः । परिवाहिणीः । परिवाहिनीरिति परिऽवाहिनीः । स्थ । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । आपः । परिवाहिणीः । परिवाहिनीरिति परिऽवाहिनीः । स्थ । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । अपाम् । पतिः । असि । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । देहि । स्वाहा । अपाम् । पतिः । असि । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । देहि । अपाम् । गर्भः । असि । राष्ट्रदाइति राष्ट्रदाः । राष्ट्रम् । मे । देहि । स्वाहा । अपाम् । गर्भः । असि । राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । देहि ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अर्थेतः) येऽर्थं यन्ति (स्थ) भवत (राष्ट्रदाः) राज्यप्रदाः सभासदः (राष्ट्रम्) राज्यम् (मे) मह्यम् (दत्त) (स्वाहा) सत्यया वाचा (अर्थेतः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (ओजस्वतीः) विद्या-

बलपराक्रमयुक्ता राजस्त्रियः (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) मह्यम् (दत्त) (स्वाहा) न्याययुक्तया नीत्या (ओजस्वतीः) जितेन्द्रियाः (स्थ) राष्ट्रदाः (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (अपाम्) पूर्वोक्तानाम् (पतिः) पालकः (असि) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (देहि) (स्वाहा) प्रियया वाचा (अपाम्) प्राणानाम् (पतिः) रक्षकः (असि) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (देहि) (अपाम्) (गर्भः) अन्तर्हितः (असि) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (देहि) (स्वाहा) युक्तिमत्या वाचा (अपाम्) (गर्भः) स्तोतुं योग्यः (असि) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (देहि)॥३॥

अन्वयः हे मनुष्या ये यूयमर्थेतस्सन्तः स्वाहा राष्ट्रदाः स्थ ते मे राष्ट्रं दत्त। ये यूयमर्थेतः सन्तो राष्ट्रदाः स्थ तेऽमुष्मै राष्ट्रं दत्त या यूयं स्वाहौजस्विन्यः सत्यो राष्ट्रदाः स्थ ता मे राष्ट्रं दत्त। या ओजस्वतीराष्ट्रदाः स्थ ता अमुष्मै राष्ट्रं दत्त या यूयं स्वाहा परिवाहिणीराष्ट्रदाः स्थ ता मे राष्ट्रं दत्त। या यूयं परिवाहिणीरापो राष्ट्रदाः स्थ ता अमुष्मै राष्ट्रं दत्त। यस्त्वं राष्ट्रदा अपां पतिरसि सोऽमुष्मै राष्ट्रं देहि। यस्त्वं स्वाहा राष्ट्रदा अपां गर्भोऽसि स त्वं मे राष्ट्रं देहि। यस्त्वं राष्ट्रदा अपांगर्भोऽसि सोऽमुष्मै राष्ट्रं देहि ॥ ३ ॥

भावार्थः—ये पुरुषा राजानो या राजस्त्रियश्च स्युस्ताः स्वोत्कर्षं परोत्कर्षसहनं सर्वान्मनुष्यान् विद्यासुशिक्षायुक्तांश्च कृत्वा राज्यभागिनो राज्यसेविन्यश्च स्युः। न खल्वीर्ष्यया परेषां हानिकरणात् स्वराज्यभंगमाकारयेयुः ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो जो तुम लोग (अर्थेतः) श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त होते हुए (स्वाहा) सत्य नीति से (राष्ट्रदाः) राज्य सेवने हारे सभासद् (स्थ) होवें आप लोग (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये जो तुम लोग (अर्थेतः) पदार्थों को जानते हुए (राष्ट्रदाः) राज्य देने वाले (स्थ) हो वे तुम लोग अमुष्मै) राज्य के रक्षक उस पुरुष को (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये जो तुम लोग (स्वाहा) सत्य नीति के साथ (ओजस्वतीः) विद्या बल और पराक्रम से युक्त हुई रानी लोग आप (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारी (स्थ) हैं वे (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जो आप लोग (ओजस्वतीः) जितेन्द्रिय (राष्ट्रदाः) राज्य की देने वाली (स्थ) हैं वे आप लोग (अमुष्मै) विद्या बल और पराक्रम से युक्त पुरुष को (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जो तुम लोग (स्वाहा) सत्य नीति से (परिवाहिणीः) अपने समान प्यारी (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारी (स्थ) हैं वे आप लोग (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जो तुम लोग (परिवाहिणीः) अपने अनुकूल पतियों के साथ प्रसन्न होने वाली (आप) आत्मा के समान प्रिय (राष्ट्रदाः) राज्य देने वाली (स्थ) हैं वे आप (अमुष्मै) उस ब्रह्मचारी वीर पुरुष को (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे सभाध्यक्ष जो आप (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारे (अपाम्) जलाशयों के (पतिः) रक्षक (असि) हैं सो (मे) मुझे (स्वाहा) सत्य नीति के साथ (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये । हे सभापति जो आप (स्वाहा) सत्य वचनों से (राष्ट्रदाः) राज्य देने वाले (अपाम्) प्राणों के (पतिः) रक्षक (असि) हैं वे (अमुष्मै) उस प्राणियों के पोषक पुरुष को (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये । हे वीर पुरुष राजन् जो आप (स्वाहा) सत्य नीति के साथ (राष्ट्रदाः) राज्य देने वाले (अपाम्) सेनाओं के बीच (गर्भः) गर्भ के समान रक्षित (असि) हैं सो आप (मे) विचारशील मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये । हे राजन् जो आप (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारे (अपाम्) प्रजाओं के विषय (गर्भः) स्तुति के योग्य (असि) हैं सो आप (अमुष्मै) उस प्रशंसित पुरुष को (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो राज्य के अधिकारी पुरुष और उनकी स्त्रियां हों उन को चाहिये कि अपनी उन्नति के लिये दूसरों की उन्नति को सह के सब मनुष्यों को राज्य के योग्य करें । और आप भी चक्रवर्ती राज्य का भोग किया करें ऐसा न हो कि ईर्ष्या से दूसरों की हानि करके अपने राज्य का भङ्ग करें ॥ ३ ॥

सूर्य्यत्वचस इत्यस्य वरुण ऋषिः । सूर्य्यादयो मंत्रोक्ता देवताः । पूर्वस्य जगती छन्दः । निषादः स्वरः । सूर्यवर्चस इति द्वितीयस्य स्वराट् पङ्क्तिः छन्दः । पञ्चमः स्वरः । व्रजक्षित इति तृतीयस्य शविष्ठाइति चतुर्थस्य च स्वराट् विकृतिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः । व्रजाक्षितस्थेत्यस्य स्वराट् संकृतिश्छन्दः । गान्धारः स्वरः । शक्करीस्थेत्यस्य भुरिगाकृतिश्छन्दः । पंचमः स्वरः । मधुमतीरित्यस्य भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

मनुष्याः कीदृशा भूत्वा कस्मै २ किं २ प्रदद्युरित्याह ॥

मनुष्यों को कैसा हो के किस २ के लिये क्या २ देना चाहिये यह वि०

सूर्य्यत्वचसस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचसस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त सूर्यवर्चसस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यवर्चसस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा मान्दास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त व्रजक्षितस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षितस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा वाशास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शविष्ठास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै

दत्त शर्करीस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा शर्करीस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त जनभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा जनभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त विश्वभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः स्वराजं स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना अनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ॥ ४ ॥

सूर्यत्वचसइति सूर्यऽत्वचसः। स्थ। राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः। राष्ट्रम्। मे। दत्त। स्वाहा। सूर्यत्वचसइति सूर्यऽत्वचसः। स्थ। राष्ट्रदाइति राष्ट्रऽदाः। राष्ट्रम्। अमुष्मै। दत्त। सूर्यवर्चसइति सूर्यऽवर्चसः। स्थ। राष्ट्रदाइति राष्ट्रदाः। राष्ट्रम्। मे। दत्त। स्वाहा। सूर्यवर्चसइति सूर्यऽवर्चसः। स्थ। राष्ट्रदाइति राष्ट्रदाः। राष्ट्रम्। अमुष्मै। दत्त। मान्दाः। स्थ। राष्ट्रदाइति राष्ट्रदाः। राष्ट्रम्। मे। दत्त। स्वाहा।

मान्दाः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । व्रजक्षित इति व्रजक्षितः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । व्रजक्षित इति व्रजक्षितः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । वाशाः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । वाशाः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । शविष्ठाः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । शविष्ठाः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । शक्वरीः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । शक्वरीः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । जनभृत इति जनऽभृतः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । जनभृत इति जनऽभृतः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । विश्वभृत इति

विश्वऽभृतः। स्थ। राष्ट्रद इति राष्ट्रऽदाः। राष्ट्रम्। मे। दत्त। स्वाहा। विश्वभृत इति विश्वभृतः। स्थ। राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः। राष्ट्रम्। अमुष्मै। दत्त। आपः। स्वराज इति स्वऽराजः। स्थ। राष्ट्रदा इति राष्ट्रदाः। राष्ट्रम्। अमुष्मै। दत्त। मधुमतीरिति मधुऽमतीः। मधुमतीभिरिति मधुऽमतीऽभिः। पृच्यन्ताम्। महि। क्षत्रम्। क्षत्रियाय। वन्वानाः। अनाधृष्टाः। सीदत। सहौजसऽइति सहऽओजसः। महि। क्षत्रम्। क्षत्रियाय। दधतीः॥ ४॥

पदार्थः—(सूर्यत्वचसः) सूर्यस्य त्वचः संवार इव त्वचो येषान्ते (स्थ) भवथ (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (सूर्यत्वचसः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (सूर्यवर्चसः) सूर्यस्य प्रकाशइव वर्चो वि-द्याध्ययनं येषां ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (सूर्यवर्चसः) (स्थ) राष्ट्रदाः)(राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (मान्दाः) ये जनान् मन्दयन्त्यानन्दयन्ति तएवमान्दाः (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (मान्दाः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (व्रजाक्षितः) व्रजान् गवादिस्थितपर्थान् देशान् क्षियन्ति निवासयन्ति ते (स्थ)

(राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (व्रजाक्षितः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (वाशाः) यउाशन्ति कामयन्ते ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (वाशाः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (शविष्ठाः) अतिशयेन बलवन्तः (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (शविष्ठाः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (शक्करीः) शक्तिमत्यः (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (शक्वरीः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (जनभृतः) ये जनान् बिभ्रति ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) मे (दत्त) स्वाहा) (जनभृतः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (विश्वभृतः) ये विश्वं बिभ्रति ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) विश्वभृतः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (आपः) सकलविद्याधर्मव्यापिनः (स्वराजः) ये स्वं राजन्ते ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (मधुमतीः) मधुरादिगुणयुक्ता ओषध्यः (मधुमतीभिः) मधुरादिगुणयुक्ताभिर्वसन्तादिभिर्ऋतुभिः (पृच्यन्ताम्) परिपच्यन्ताम् (महि) महत्पूज्यं (क्षत्रम्) क्षत्रियाणां राज्यम् (क्षत्रियाय) क्षत्रस्य पुत्राय (वन्वानाः) याचमानाः (अनाधृष्टाः) शत्रुभिरधर्षिताः (सीदत) (सहौजसः) ओजसा बलेन सह वर्त्तमानाः (महि) (क्षत्रम्) (क्षत्रियाय) (दधतीः) धरमाणाः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे राजपुरुषा यतो यूयं सूर्य्यत्वचसः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदास्थः तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतः सूर्य्यत्वचसः सन्तो यूयं राष्ट्रदास्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं सूर्य्यवर्चसः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदास्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं सूर्य्यवर्चसो राष्ट्रदास्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं व्रजाक्षितः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदास्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं व्रजाक्षितः सन्तो राष्ट्रदास्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं वाशाः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदास्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं वाशा राष्ट्रदास्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं शविष्ठाः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदास्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं शविष्ठा राष्ट्रदास्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं शक्करीः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदास्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं शक्करी राष्ट्रदास्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं जनभृतः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदास्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं जनभृतो राष्ट्रदास्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त यतो यूयं विश्वभृतः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदास्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त यतोयूयं विश्वभृतो राष्ट्रदास्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यतो यूयमापः स्वराजः सन्तो राष्ट्रदास्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त यतो यूयमापः स्वराजस्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । हे सज्जनाः स्त्रियो युष्माभिः क्षत्रियाय महि क्षत्रं दधानाः सहौजसः क्षत्रियाय महि क्षत्रं दधतीरनाधृष्टा मधुमतीर्मधुमतीभिः सुखानि पृच्यन्ताम् । हे सज्जनाः पुरुषा यूयमीदृशीः स्त्रियः सीदत प्राप्नुत ॥ ४ ॥

भावार्थः-हे राजपुरुषा ये मनुष्याः सूर्यवन्न्यायप्रकाशकाः सूर्यइव विद्यादीपकाः सर्वेषामानन्दप्रदा गवादिपशुरक्षकाः शुभगुणैः कमनीया बलवन्तः स्वसदृशास्त्रियः विश्वम्भराः स्वाधीनाः सन्ति तेऽन्येभ्यो राज्यं दातुं सेवितुं च शक्नुवन्ति नेतर इति यूयं विजानीत ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे राजपुरुषो तुम लोग (सूर्यत्वचसः) सूर्य के समान अपने न्याय प्रकाश से सब तेज को ढाकने वाले होते हुए (स्वाहा) सत्य न्याय के साथ (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारे (स्थ) हो इस लिये (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे मनुष्यो जिस कारण (सूर्यत्वचसः) सूर्यप्रकाश के समान विद्या पढ़ने वाले होते हुए तुम लोग (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारे (स्थ) हो इस लिये (अमुष्मै) उस विद्या में सूर्यवत् प्रकाशमान पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे विद्वान् मनुष्यो (सूर्यवर्चसः) सूर्य के समान तेजधारी होते हुए तुम लोग (स्वाहा) सत्य वाणी से (राष्ट्रदाः) राज्य दाता (स्थ) हो इस कारण (मे) तेजस्वी मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये जिस कारण (सूर्यवर्चसः) सूर्य के समान प्रकाशमान होते हुए आप लोग (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारे (स्थ) हो इस लिये (अमुष्मै) उस प्रकाशमान पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण (मान्दाः) मनुष्यों को आनन्द देने हारे होते हुए आप लोग (स्वाहा) सत्य वचनों के साथ (राष्ट्रदाः) राज्य देने वाले (स्थ) हो इस लिये (मे) आनन्द देने हारे मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये जिस लिये आप लोग (मान्दाः) प्राणियों को सुख देने वाले होके (राष्ट्रदाः) राज्य दाता (स्थ) हो इस लिये (अमुष्मै) उस सुख दाता जन को (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप लोग (व्रजक्षितः) गौ आदि पशुओं के स्थानों को बसाते हुए (स्वाहा) सत्य क्रियाओं के सहित (राष्ट्रदाः) राज्य दाता (स्थ) हैं इस लिये (मे) पशु रक्षक मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप लोग (व्रजक्षितः) स्थान आदि से पशुओं के रक्षक होते हुए (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारे (स्थ) हैं इस से (अमुष्मै) उस गौ आदि पशुओं के रक्षक पुरुष के लिये राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस लिये आप लोग (वाशाः) कामना करते हुए (स्वाहा) सत्य नीति से (राष्ट्रदाः) राज्य दाता (स्थ) हैं इसलिये (मे) इच्छायुक्त मुझे

(राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप लोग (वाशः) इच्छा युक्त होते हुये (राष्ट्रदाः) राज्य देने वाले (स्थ) हैं इस लिये (अमुष्मै) उस इच्छायुक्त पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप लोग (शविष्ठाः) अत्यन्त बल वाले होते हुए (स्वाहा) सत्य पुरुषार्थ से (राष्ट्रदाः) राज्य दाता (स्थ) हैं इस कारण (मे) बलवान् मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप लोग (शविष्ठाः) अति पराक्रमी (राष्ट्रदाः) राज्यदाता (स्थ) हैं इसकारण (अमुष्मै) उस अति पराक्रमी जन के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे राणी लोगो जिस लिये आप (शक्वरीः) सामर्थ्य वाली होती हुई (स्वाहा) सत्य पुरुषार्थ से (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारी (स्थ) हैं इस लिये (मे) सामर्थ्यवान् मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप (शक्वरीः) सामर्थ्य युक्त (राष्ट्रदाः राज्य देने वाली (स्थ) हैं इस कारण (अमुष्मै) उस सामर्थ्ययुक्त पुरुष के लिये(राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस लिये आप लोग (जनभृतः) श्रेष्ठ मनुष्यों का पोषण करने हारी होती हुई (स्वाहा) सत्य कर्मों के साथ (राष्ट्रदाः) राज्य देने वाली (स्थ) हैं इस लिये (मे) श्रेष्ठ गुण युक्त मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस लिये आप (जनभृतः) सज्जनों को धारण करने हारी (राष्ट्रदाः) राज्य दाता (स्थ) हैं इस लिये (अमुष्मै) उस सत्य प्रिय पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को(दत्त) दीजिये । हे सभाध्यक्षादि राजपुरुषो! जिस लिये आप लोग (विश्वभृतः) सब संसार का पोषण करने वाले होते हुए (स्वाहा) सत्य वाणी के साथ (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारे (स्थ) हैं इस लिये (मे) सब के पोषक मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस लिये आप लोग (विश्वभृतः) विश्व को धारण करने हारे (राष्ट्रदाः) राज्यदाता (स्थ) हैं इस लिये (अमुष्मै) उस धारण करने हारे मनुष्य के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये जिस कारण आप लोग (आपः) सब विद्या और धर्म विषय में व्याप्ति वाले होते हुए (स्वाहा) सत्य क्रिया से (राष्ट्रदाः) राज्य देने हारे (स्थ) हैं इस कारण (मे) शुभ गुणो में व्याप्त मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस लिये आप लोग (आपः) सब विद्या और धर्म मार्ग को जानने हारे (स्वराजः) आपसे आप ही प्रकाशमान (राष्ट्रदाः) राज्य दाता (स्थ) हैं इस लिये (अमुष्मै) उसधर्मज्ञ पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे सज्जन स्त्री लोगो आप को चाहिये कि

(क्षत्रियाय) राजपूतों के लिये (महि) बड़े पूजा के योग्य (क्षत्रम्) क्षत्रियों के राज्य को (वन्वानाः) चाहती हुई (सहौजसः) बल पराक्रम के सहित वर्त्तमान (क्षत्रियाय) राजपूतों के लिये (महि) बड़े (क्षत्रम्) राज्य को (दधतीः) धारण करती हुई (अनाधृष्टाः) शत्रुओं के वश में न आने वाली (मधुमतीः) मधुर आदि रस वाली ओषधी (मधुमतीभिः) मधुरादिगुणयुक्त वसन्त आदि ऋतुओं से पृथिवी को (पृच्यन्ताम्) सिद्ध किया करें। हे सज्जन पुरुषो तुम लोग इस प्रकार की स्त्रियों को (सीदत) प्राप्त होओ ॥ ४ ॥

भावार्थः—हे स्त्री पुरुषो जो सूर्य्य के समान न्याय और विद्या का प्रकाश कर सब को आनन्द देने गौ आदि पशुओं की रक्षा करने शुभ गुणों से शोभायमान बलवान् अपने तुल्य स्त्रियों से विवाह और संसार का पोषण करने वाले स्वाधीन हैं वेही औरों के लिये राज्य देने और आप सेवन करने को समर्थ होते हैं अन्य नहीं ॥ ४ ॥

सोमस्येत्यस्य वरुणऋषिः। अग्न्यादयो मंत्रोक्ता देवताः। भुरिग्धृतिश्छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

राजन्यैराप्तराज्ञामेवाऽनुकरणं कार्य्यं नेतरेषां क्षुद्राशयलुब्धान्यायार्जितेन्द्रियाणामित्यु० ॥

राजालोगों को चाहिये कि सत्यवादी धर्मात्मा राजाओं के समान अपने सब काम करें और क्षुद्राशय, लोभी, अन्यायी, तथा लंपटी के तुल्य कदापि न हों इस० ॥

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्। अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॑ पू॒ष्णे स्वाहा॒ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ घोषा॑य॒ स्वाहा॒ श्लोका॑य॒ स्वाहा॒ऽꣳशा॑य॒ स्वाहा॒ भगा॑य॒ स्वाहा॑ऽर्य॒म्णे स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

सोमस्य । त्विषिः । असि । तवेवेतितवेइव । मे । त्विषिः । भूयात् । अग्नये । स्वाहा । सोमाय । स्वाहा । सवित्रे । स्वाहा । सरस्वत्यै । स्वाहा । पूष्णे स्वाहा । बृहस्पतये स्वाहा । इन्द्राय । स्वाहा । घोषाय । स्वाहा । श्लोकाय । स्वाहा । अंशाय । स्वाहा । भगाय । स्वाहा । अर्य्यम्णे । स्वाहा ॥ ५ ॥

पदार्थः—(सोमस्य) ऐश्वर्य्यस्य (त्विषिः) ज्योतिः (असि) (तवेव) यथाभवतस्तथा (मे) मम (त्विषिः) विज्ञानप्रकाशः (भूयात्) (अग्नये) विद्युदादये (स्वाहा) सत्यवाक्क्रियाचरणयुक्ता विद्या (सोमाय) औषधविज्ञानाय (स्वाहा) वैद्यकपुरुषार्थविद्या (सवित्रे) सूर्य्यविज्ञानाय (स्वाहा) ज्योतिर्विद्या (सरस्वत्यै) वेदार्थसुशिक्षाविज्ञापिकायै वाचे (स्वाहा) व्याकरणाद्यङ्गविद्या (पूष्णे) प्राणपशुपालनाय (स्वाहा) योगव्यवहारविद्या(बृहस्पतये) बृहतां प्रकृत्यादीनां पत्युरीश्वरस्य विज्ञानाय (स्वाहा) ब्रह्मविद्या (इन्द्राय) इन्द्रियाधिष्ठातुर्जीवस्य बोधाय (स्वाहा) विवेकविद्या (घोषाय) सत्यप्रियभाषणादियुक्तायै वाण्यै (स्वाहा)तथ्योपदेशो वक्तृत्वविद्या (श्लोकाय) तत्त्वसंघातसत्काव्यगद्यपद्यछन्दोनिर्माणादिविज्ञानाय (स्वाहा) तत्त्वकाव्यशास्त्रादिविद्या (अंशाय) परमाण्ववगमाय (स्वाहा) सूक्ष्मपदार्थविद्या (भगाय) ऐश्वर्याय (स्वाहा) पुरुषार्थविद्या (अर्य्यम्णे) न्यायाधीशत्वाय (स्वाहा) राजनीतिविद्या ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे राजन्यथा त्वं सोमस्य त्विषिरसि तथाहमप्यपि भवेयम्। यतस्तवेव मे त्विषिर्भूयाद्यथा भवताऽग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा बृहस्पतये स्वाहेन्द्राय स्वाहा घोषाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहांऽशाय स्वाहा भगाय स्वाहाऽर्य्यम्णे च स्वाहा गृह्यते तथा मयापि गृह्यते ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरिदमाशंसितव्यं यथाऽस्माकं राज्ञां शुभगुणस्वभावाः सन्ति तथैव नो भूयासुरिति ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे राजन् जैसे आप (सोमस्य) ऐश्वर्य्य के (त्विषिः) प्रकाश करने हारे (असि) हैं वैसा मैं भी होऊं जिससे (तवेव) आप के समान (मे) मेरा (त्विषिः) विद्याओं का प्रकाश होवे जैसे आप ने (अग्नये) बिजुली आदि के लिये (स्वाहा) सत्य वाणी और प्रियाचरण युक्त क्रिया (सोमाय) ओषधि जानने के लिये (स्वाहा) वैद्यक की पुरुषार्थ युक्त क्रिया (सवित्रे) सूर्य्य को समझने के लिये (स्वाहा) भूगोलविद्या (सरस्वत्यै) वेदों का अर्थ और अच्छी शिक्षा जानने वाली वाणी के लिये (स्वाहा) व्याकरणादि वेदों के अङ्गों का ज्ञान (पूष्णे) प्राण तथा पशुओं की रक्षा के लिये (स्वाहा) योग और व्याकरण की विद्या (बृहस्पतये) बड़े प्रकृति आदि के पति ईश्वर को जानने के लिये (स्वाहा) ब्रह्मविद्या (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा के लिये (स्वाहा) विचारविद्या (घोषाय) सत्य और प्रिय भाषण से युक्त वाणी के लिये (स्वाहा) सत्य उपदेश और व्याख्यान देने की विद्या (श्लोकाय) तत्वज्ञान का साधक शास्त्र श्रेष्ठ काव्य गद्य और पद्यआदि छन्द रचना के लिये (स्वाहा) छन्द और शुभमूलकाव्य शास्त्र आदि की विद्या (अंशाय) परमाणुओं के समझने के लिये (स्वाहा) सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान (भगाय) ऐश्वर्य्य के लिये (स्वाहा) पुरुषार्थज्ञान (अर्य्यम्णे) न्यायाधीश होने के लिये (स्वाहा) राजनीति समझ को ग्रहण करते हैं वैसे मुझे भी करना अवश्य है ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को ऐसी आशंसा (इच्छा) करनी चाहिये कि जैसे सत्यवादी धर्मात्मा राजा लोगों के गुण कर्म स्वभाव होते हैं वैसे ही हम लोगों के भी होवें ॥ ५ ॥

पवित्रेस्थ इत्यस्य वरुण ऋषिः । आपो देवताः । स्वराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

यथा कुमारा ब्रह्मचर्य्येण विद्या गृह्णीयुस्तथैव कुमार्योऽपि पठेयुरित्याह ॥

जैसे कुमार पुरुष ब्रह्मचर्य्य से विद्या ग्रहण करें वैसे कन्या भी करें इस० ॥

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः । अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः ॥ ६ ॥

पवित्रेऽइति पवित्रे । स्थः । वैष्णव्यौ । सवितुः । वः । प्रसवऽइति प्रऽसवे । उत् । पुनामि । अच्छिद्रेण । पवित्रेण । सूर्य्यस्य । रश्मिभिरिति रश्मिऽभिः । अनिभृष्टमित्यनिऽभृष्टम् । असि । वाचः । बन्धुः । तपोजाइति तपःऽजाः । सोमस्य । दात्रम् । असि । स्वाहा । राजस्वऽइति राजऽस्वः ॥६॥

पदार्थः—(पवित्रे) शुद्धाचरणे (स्थः) स्याताम् (वैष्णव्यौ) सकलविद्यासुशिक्षाशुभगुणस्वभावव्यापिन्यौ (सवितुः) सकलजगत्प्रसवितुरीश्वरस्य (वः) युष्मान् ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचारिणीर्विद्यार्थिनीः कुमारिकाः (प्रसवे) प्रसूतेऽस्मिन् जगति (उत) उत्कृष्टतया (पुनामि) पवित्री करोमि (अच्छिद्रेण) अविच्छिन्नेन निरन्तरेण (पवित्रेण) विद्यासुशिक्षाजितेन्द्रियत्वब्रह्मचर्य्यादिभिः

पवित्रीकारकेण व्यवहारेण (सूर्य्यस्य) अर्कस्य (रश्मिभिः) किरणैरिव (अनिभृष्टम्) नित्यं भृष्टं पतिरहितमाचरितवान् (असि) (वाचः) वेदवाण्याः (बन्धुः) भ्राता (तपोजाः) ब्रह्मचर्यादितपसा जातः (सोमस्य) ओषधिगणस्य (दात्रम्) दाति रोगान् येन तद्वान् (असि) (स्वाहा) सत्यक्रियया (राजस्वः) राजवीरप्रसविकाः ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे सभेश राजन् यतस्त्वं वाचो निभृष्टं बन्धुरसि सोमस्य दात्रं तपोजा असि । तवाज्ञया सवितुः प्रसवे वैष्णव्यौ पवित्रे स्थः । हे अध्यापिकपरिचारिका अध्येत्र्यश्च स्त्रियो यथाहं सवितुः प्रसवे सूर्य्यस्य रश्मिभिरिवाच्छिद्रेण पवित्रेण व उत्पुनामि तथा यूयं स्वाहा राजस्वो भवत ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु० । हे राजादयो राजपुरुषा यूयमस्मिन् जगति यथा कुमाराध्यापने सज्जना नियुज्यन्ते तथा पवित्रविद्यापरीक्षाकारिकाः स्त्रियः कन्यानामध्यापने नियुङ्ग्ध्वम् । यत एत इमाश्च विद्यासुशिक्षाः प्राप्य युवत्यः सत्यः स्वसदृशैः प्रियैर्वरैः पुरुषैः सह स्वयंवरं विवाहं कृत्वा वीरपुरुषान् जनयेयुः ॥६॥

पदार्थः—हे सभापति राजपुरुष जिस लिये आप (वाचः) वेदवाणी के (अनिभृष्टम्) भृष्टतारहित आचरण किये (बन्धुः) भाई (असि) हैं (सोमस्य) ओषधियों के काटने वाले (तपोजाः) ब्रह्मचर्य्यादि तप से प्रसिद्ध (असि) हैं आप की आज्ञा से (सवितुः) सब जगत्को उत्पन्न करने हारे ईश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न हुए जगत्में (वैष्णव्यौ) सब शिद्या अच्छी शिक्षा शुभ गुण कर्म और स्वभाव में व्यापन शील और (पवित्रे) शुद्ध आचरणवाली (स्थः) तुम दोनों हो । हे पढ़ाने परीक्षा करने और पढ़ने हारी स्त्री लोगो में (सवितुः) ईश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये इस जगत्में (सूर्य्यस्य) सूर्य्य की [रश्मिभि] किरणों के समान [अच्छिद्रेण]

छेद रहित (पवित्रेण) विद्या अच्छी शिक्षा धर्मज्ञान जितेन्द्रियता और ब्रह्मचर्य आदि करके पवित्र किये हुए से (वः) तुम लोगों को (उत्पुनामि) अच्छे प्रकार पवित्र करता हूं तुम लोग (स्वाहा) सत्य क्रिया से (राजस्वः) राजाओं में वीरों को उत्पन्न करने वाली हो ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु० । हे राजा आदि पुरुषो तुम लोग इस जगत् में कन्याओं को पढ़ाने के लिये शुद्ध विद्या की परीक्षा करने वाली स्त्री लोगों को नियुक्त करो । जिस से ये कन्या लोग विद्या और शिक्षा को प्राप्त हो के युवति हुई प्रियवर पुरुषों के साथ स्वयंवर विवाह करके वीर पुरुषों को उत्पन्न करें ॥ ६ ॥

सधमाद इत्यस्य वरुण ऋषिः । वरुणो देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

राज्ञामिदमावश्यकं यत्सर्वस्याः प्रजायाः स्वकुलस्य चापत्यानि ब्रह्मचर्येण विद्यासुशिक्षान्वितानि कार्य्याणीत्याह ॥

राजाओं को यह अवश्य चाहिये कि सब प्रजा और अपने कुल के बालकों को ब्रह्मचर्य्य के साथ विद्या और सुशिक्षा युक्त करें यह० ॥

सधमादो द्युम्निनीराप एता अनाधृष्टा अपस्यो वसानाः । पुस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपाᳬ शिशुर्मातृतमास्वन्तः ॥ ७ ॥

सधमाद इति सधऽमादः । द्युम्निनीः । आपः । एताः । अनाधृष्टाः । अपस्युः । वसानाः । पुस्त्यासु । चक्रे । वरुणः । सधस्थमिति सधऽस्थम् । अपाम् । शिशुः । मातृतमास्विति मातृऽतमासु । अन्तरित्यन्तः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(सधमादः) याः सह माद्यन्ति हृष्यन्ति ताः (द्युम्निनीः) प्रशस्तं द्युम्नं धनं यशो वा विद्यते यासां ताः (आपः) जलानीव शान्ताः (एताः) प्राप्तविद्यासुशिक्षाः (अनाधृष्टाः) धर्षितुमयोग्याः (अपस्यः) अपःसु कर्म्मसु साध्व्यः । अत्र सु पांसुलगिति शसः स्थाने सुः (वसानाः) वस्त्राभूषणैराच्छादिताः (पस्त्यासु) गृहशालासु (चक्रे) कुर्य्यात् (वरुणः) वरो राजा (सधस्थम्) सहस्थानम् (अपाम्) व्याप्तविद्यानां स्त्रीणाम् (शिशुः) बालकः (मातृतमासु) अतिशयेन शास्त्रोक्तशिक्षया मानकर्त्रीषु धात्रीषु (अन्तः) समीपे ॥ ७ ॥

अन्वयः—यो वरुणो राजा भवेत्तस्यैताः सधमादो द्युम्निनीरनाधृष्टा आपो वसानाः पस्त्यास्वपस्यः स्त्रियो विदुष्यो भवेयुस्तासामपां यः शिशुस्तं मातृतमास्वन्तःसधस्थं समीपस्थं शिक्षार्थं रक्षेत् ॥ ७ ॥

भावार्थः—राज्ञा प्रयत्नेन स्वराज्ये सर्वाः स्त्रियो विदुष्यः कार्य्यास्तासां सकाशाज्जाता बालका विद्यायुक्ता धाऽयधीनाः कार्य्याः । यतो न कस्याप्यपत्यं विद्यासुशिक्षाहीनं स्त्रीनिर्बला च स्यात्॥७॥

पदार्थः—जो (वरुणः) श्रेष्ठ राजा हो वह (एताः) विद्या और अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुई (सधमादः) एक साथ प्रसन्न होने वाली (द्युम्निनीः) प्रशंसनीय धन कीर्ति से युक्त (अनाधृष्टाः) जो किसी से न दबें (आपः) जल के समान शान्तियुक्त (वसानाः) वस्त्र और आभूषणों से ढपी हुई (पस्त्यासु) घरों के (अपस्यः) कामों में चतुर विद्वान् स्त्री होवें उन (अपाम्) विद्याओं में व्याप्त स्त्रियों का जो (शिशुः) बालक हो उस को (मातृतमासु) अति मान्य करने हारी धायियों के

(अन्तः) समीप (सधस्थम्) एक समीप के स्थान में शिक्षा के लिये रक्खें ॥ ७ ॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि अपने राज्य में प्रयत्न के साथ सब स्त्रियों को विद्वान् और उन से उत्पन्न हुए बालकों को विद्यायुक्त धाइयों के आधीन करे कि जिस से किसी के बालक विद्या और अच्छी शिक्षा के विना न रहें । और कोई भी निर्बल न हों ॥ ७ ॥

क्षत्रस्येत्यस्य वरुण ऋषिः । यजमानो देवता । स्वराट् कृतिश्छन्दः । निषादः स्वरः ।

सर्वाः प्रजाः सर्वथा योग्यं सभेशं राजानं सततं सर्वतो रक्षेयुरित्याह ॥

सब प्रजा पुरुषों को योग्य है कि सब प्रकार से योग्य सभापति राजा की निरन्तर सब ओर से रक्षा करें यह० ॥

क्षत्रस्योल्वंमसि क्षत्रस्यं जुराय्वंसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यांसि वरुणस्यासि त्वयायं वृत्रं वधेत् । दृवासिं रुजासिं क्षुमासिं । पातैनं प्राञ्चम्पातैनं प्रत्यञ्चम्पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात ॥ ८ ॥

क्षत्रस्यं । उल्वम् । असि । क्षत्रस्यं । जरायु । असि । क्षत्रस्यं । योनिः । असि । क्षत्रस्यं । नाभिः । असि । इन्द्रस्य । वार्त्रघ्नमिति वार्त्रऽघ्नम् । अ-

सि । मित्रस्य । असि । वरुणस्य । असि । त्वया । अयम् । वृत्रम् । वधेत् । दृवा । असि । रुजा । असि । क्षुमा । असि । पात । एनम् । प्राञ्चम् । पात । एनम् । प्रत्यञ्चम् । पात । एनम् । तिर्यञ्चम् । दिग्भ्य इति दिक्ऽभ्यः । पात ॥ ८ ॥

पदार्थः—(क्षत्रस्य) राजकुलस्य (उल्बम्) बलम् (असि) (क्षत्रस्य) क्षत्रियस्य (जरायु) वृद्धावस्थाप्रापकम् (असि) (क्षत्रस्य) राजन्यस्य (योनिः) निमित्तम् (असि) (क्षत्रस्य) राज्यस्य (नाभिः) बन्धनम् (असि) (इन्द्रस्य) सूर्यस्य (वार्त्रघ्नम्) मेघविनाशकम् (असि) (मित्रस्य) सुहृदः (असि) (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य (असि) (त्वया) (अयम्) वीरः (वृत्रम्) मेघमिवन्यायावरकं शत्रुम् (वधेत्) हन्यात् (दृवा) यः शत्रून् दृणाति । अत्रान्येषामपि दृश्यत इति कनिप् (असि) (रुजा) शत्रूणां रोगकारकः । अत्रौणादिकः कनिन् (असि) (क्षुमा) सत्योपदेशकः । अत्रौणादिको मनिन् किच्च (असि) (पात) रक्षत (एनम्) राजानम् (प्राञ्चम्) प्राक्प्रबन्धस्य कर्त्तारम् (पात) (एनम्) सेनाध्यक्षम् (प्रत्यञ्चम्) पश्चात्स्थितम् (पात) (एनम्) पार्श्वस्थं वीरम् (तिर्यञ्चम्) तिरश्चीनम् (दिग्भ्यः) सर्वाभ्य आशाभ्यः (पात) ॥८॥

अन्वयः—हे राजन् यस्त्वं क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जरायुरसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्य

मित्रोऽसि वरुणस्य वरोसि हत्रासि रुजासि तुमासि। यस्त्वया सह वृत्रं वधेत्। तमेनं प्राञ्चं सर्वे यूयं दिग्भ्यः पात। तमेनं प्रत्यञ्चं पात तमेनं तिर्यञ्चं पात ॥ ८ ॥

भावार्थः—यत्पुत्रीपुत्रेषु स्त्रीनरेषु च विद्यावर्धनं कर्मास्ति तदेव राज्यवर्धकं शत्रुविनाशकं धर्मादिप्रवर्त्तकं च भवति। अनेनैव सर्वेषु कालेषु सर्वासु दिक्षु रक्षणं भवति ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे राजन् जो आप (क्षत्रस्य) अपने राज कुल में (उल्बम्) बलवान् (असि) हैं (क्षत्रस्य) क्षत्रिय पुरुष को (जरायु) वृद्धावस्था देने हारे (असि) हैं (क्षत्रस्य) राज्य के (योनिः) निमित्त (असि) हैं (क्षत्रस्य) राज्य के (नाभिः) प्रबन्ध कर्त्ता (असि) हैं (इन्द्रस्य) सूर्य के (वार्त्रघ्नम्) मेघ का नाश करने हारे के समान कर्मकर्त्ता (असि) हैं (मित्रस्य) मित्र के मित्र (असि) हैं (वरुणस्य) श्रेष्ठ पुरुषों के साथ श्रेष्ठ (असि) हैं (हत्रा) शत्रुओं के विदारण करने वाले (असि) हैं (रुजा) शत्रुओं को रोगातुर करने हारे (असि) हैं और (तुमा) सत्य का उपदेश करने हारे (असि) हैं जो (अयम्) यह वीर पुरुष (त्वया) आप राजा के साथ (वृत्रम्) मेघ के समान न्याय के छिपाने वाले शत्रु को (वधेत्) मारे (एनम्) इस (प्राञ्चम्) प्रथम प्रबंध करने वाले (एनम्) राजपुरुष की तुम लोग (दिग्भ्यः) सब दिशाओं से (पात) रक्षा करो इस (तिर्यञ्चम्) तिर्छे खड़े हुए (एनम्) राज पुरुष की (पात) रक्षा करो ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो कन्या और पुत्रों में स्त्री और पुरुषों में विद्या पढ़ाने वाला कर्म है वही राज्य का बढ़ाने शत्रुओं का विनाश और धर्म आदि की प्रवृत्ति करने वाला होता है। इसी कर्म से सब कालों और सब दिशाओं में रक्षा होती है ॥ ८ ॥

आविर्मर्या इत्यस्य वरुण ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। भुरिग् त्रिष्टुप्छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

मनुष्यैः सुशीलतयाऽऽविद्वदादयोवश्यं प्राप्तव्या इत्याह ॥

मनुष्यों को चाहिये कि अपना स्वभाव अच्छा करके आप्त विद्वान् आदि को अवश्य प्राप्त होवें इस० ॥

आविर्मर्य्या आवित्तो अग्निर्गृहपतिरावित्त इन्द्रो वृद्धश्रवा आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदा आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्म्मा ॥ ९ ॥

आविः । मर्य्याः । आवित्तइत्याऽवित्तः । अग्निः । गृहपतिरितिगृहऽपतिः । आवित्तइत्याऽवित्तः । इन्द्रः । वृद्धश्रवाइतिवृद्धऽश्रवाः । आवित्तावित्याऽवित्तौ । मित्रावरुणौ । धृतव्रतावितिधृतऽव्रतौ । आवित्तइत्याऽवित्तः । पूषा । विश्ववेदाइति विश्वऽवेदाः । आवित्तेइत्याऽवित्ते । द्यावापृथिवीइति द्यावाऽपृथिवी । विश्वशम्भुवावितिविश्वऽशम्भुवौ । आवित्तेत्याऽवित्ता । अदितिः । उरुशर्म्मेत्युरुऽशर्म्मा ॥ ९ ॥

पदार्थः—(आविः) प्राकट्ये (मर्त्याः) मर्त्याइति मनुष्यना० निघं० २ । ५ । (आवित्तः) प्राप्तपूर्णभोगो लब्धप्रतीतो वा । वित्तोभोगप्रत्ययोः । अ० ८ । २ ५८ । अनेनायं निपातितः (अग्निः) पावकइव विद्वान् (गृहपतिः) गृहाणां पालकः (आवित्तः) (इन्द्रः) शत्रुविदारकः सेनाधीशः (वृद्धश्रवाः) वृद्धं श्रवः सर्वशास्त्रश्रवणं यस्य सः (आवित्तौ) (मित्रावरुणौ) सुहृद्वरौ (धृतव्रतौ) धृतानि व्रतानि सत्यादीनि याभ्यांतौ (आवित्तः) (पूषा) पोषको वैद्यः (विश्ववेदाः) विश्वं सर्व मौषधं विदितं येन सः (आवित्ते) (द्यावापृथिवी) विद्युद्भूमी (विश्वशम्भुवौ) विश्वस्मै शं सुखं भावुके (आवित्ता) (अदितिः) विदुषी माता (उरुशर्म्मा) उरूणि बहूनि सुखानि यस्याः सा ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मर्त्या युष्माभिर्यदि गृहपतिरग्निराविराविवित्तो वृद्धश्रवा इन्द्र आविराविर्त्तो धृतव्रतौ मित्रावरुणावाविराविवित्तौ विश्ववेदाः पूषाऽऽविराविर्त्तो विश्वशम्भुवौ द्यावापृथिवी आविराविराविते उरुशर्म्माऽदितिश्चाविराविवित्ता स्यात्तर्हि सर्वाणि सुखानि प्राप्यन्ते ॥ ९ ॥

भावार्थः—यावन्मनुष्याः सद्विदुषः सतीं विदुषीं मातरं सत्य पदार्थविज्ञानं च नाप्नुवन्ति तावत्सुखवृद्धिं दुःखनिवृत्तिं च कर्त्तुं न शक्नुवन्ति ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे (मर्त्याः) मनुष्यो तुम लोग जो (गृहपतिः) घरों के पालन करने हारे (अग्निः) प्रसिद्ध अग्नि के समान विद्वान् पुरुष को (आविः) प्रकटता से (आवित्तः) प्राप्त वा निश्चय करके जाना (वृद्धश्रवाः) श्रेष्ठता से सब शास्त्रों को सुने हुए (इन्द्रः) शत्रुओं के मारने हारे सेनापति को (आविः) प्रकटता से

(आवित्तः) प्राप्त हो वा जाना (धृतव्रतौ) सत्य आदि व्रतों को धारण करने हारे (मित्रावरुणौ) मित्र और श्रेष्ठ जनों को (आविः) प्रकटता से (आवित्तौ) प्राप्त वा जाना (विश्ववेदाः) सब ओषधियों को जानने हारे [पूषा] पोषण कर्त्ता वैद्य को (आविः) प्रसिद्धि से (आवित्तः) प्राप्त हुए (विश्वशम्भुवौ) सब के लिये सुख देने हारे (द्यावापृथिवी) बिजुली और भूमि को (आविः) प्रकटता से (आवित्ते) जाने (उरुशर्म्मा) बहुत सुख देने वाली (अदितिः) विद्वान् माता को प्रसिद्ध (आवित्ता) प्राप्त हुए तो तुम को सब सुख प्राप्त होजावें ॥ ९ ॥

भावार्थः — जबतक मनुष्य लोग श्रेष्ट विद्वानों उत्तम विद्वान् माता और प्रसिद्ध पदार्थों के विज्ञान को प्राप्त नहीं होते तब तक सुख की प्राप्ति और दुःखों की निवृत्ति करने को समर्थ नहीं होते ॥ ९ ॥

अवेष्टाइत्यस्य वरुण ऋषिः । यजमानो देवता । विराडार्षी पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कृत्वा किं किं प्राप्तव्यमित्यु० ॥

फिर मनुष्य क्या करके किस २ को प्राप्त हों यह वि०

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमारोह गायत्री त्वाऽवतु रथन्तरꣳ साम त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥

अवेष्टाइत्यवऽइष्टाः । दन्दशूकाः । प्राचीम् । आ । रोह । गायत्री । त्वा । अवतु । रथन्तरमिति रथम्ऽतरम् । साम । त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । स्तोमः । वसन्तः । ऋतुः । ब्रह्म । द्रविणम् ॥ १० ॥

पदार्थः — (अवेष्टाः) विरुद्धस्य संगन्तारः (दन्दशूकाः) परदुःखप्रदाय दंशनशीलाः (प्राचीम्) पूर्वां दिशम् (आ) (रोह) प्रसिद्धो भव (गायत्री) पठितं गायत्रीछन्दः (त्वा) त्वाम्(अवतु)

प्राप्नोतु (रथन्तरम्) रथैस्तरन्ति येन तत् (साम) सामवेदः (त्रिवृत्) त्रिभिर्मनोवाक्शरीरबलानां बोधकारकः (स्तोमः) स्तूयमानः (वसन्तः) (ऋतुः) (ब्रह्म) वेदो जगदीश्वरो ब्रह्मवित्कुलं वा (द्रविणम्) विद्याद्रव्यम् ॥ १० ॥

अन्वयः—हे राजन् यस्त्वं येऽवेष्टा दंदशूकाः सन्ति तान् जित्वा प्राचीं दिशमारोह तं त्वा गायत्री रथन्तरं साम त्रिवृत्स्तोमऋतुर्वसन्तो ब्रह्म द्रविणं चावतु ॥ १० ॥

भावार्थः—ये मनुष्या विद्यासु प्रादुर्भवन्ति ते शत्रून् विजित्यैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

पदार्थः—हे राजन् जो आप (अवेष्टाः) विरोधी के सङ्ग (दंदशूकाः) दूसरों को दुःख देने के लिये काट खाने वाले हैं उन को जीत के (प्राचीम्) पूर्व दिशा में (आरोह) प्रसिद्ध हों उस (त्वा) आप को (गायत्री) पढ़ा हुआ गायत्री छन्दः (रथन्तरम्) रथों से जिस के पार हों ऐसा बन (साम) सामवेद (त्रिवृत्) तीन मन वाणी और शरीर के बलों का बोध कराने वाला (स्तोमः) स्तुति के योग्य (वसन्तः) वसन्त (ऋतुः) ऋतु ब्रह्म) वेद ईश्वर और ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणकुलरूप (द्रविणम्) धन (अवतु) प्राप्त होवे ॥ १० ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विद्याओं में प्रसिद्ध होते हैं वे शत्रुओं को जीत के ऐश्वर्य को प्राप्त हो सकते हैं ॥ १० ॥

दक्षिणामित्यस्य वरुण ऋषिः । यजमानो देवता । आर्ची पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ।

पुनः स सभेशः किं कृत्वा किं कुर्यादित्याह ॥

फिर वह सभापति राजा क्या करके क्या करे यह वि० ॥

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम पंचदशस्तोमो ग्रीष्मऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥

दक्षिणाम् । आ । रोह । त्रिष्टुप् । त्रिस्तुबिति त्रिऽस्तुप । त्वा । अवतु । बृहत् । साम । पञ्चदशइति पंचऽदशः । स्तोमः । ग्रीष्मः । ऋतुः । क्षत्रम् । द्रविणम् ॥११॥

पदार्थः–(दक्षिणाम्) दिशम् (आ) (रोह) (त्रिष्टुप) एतच्छन्दोऽभिहितं विज्ञानम् (त्वा) त्वाम् (अवतु) प्राप्नोतु (बृहत) महत् (साम) सामवेदभागः (पंचदशः) प्राणेन्द्रियभूतानां पंचदशानां पूरकः (स्तोमः) स्तोतुं योग्यः (ग्रीष्मः) (ऋतुः) (क्षत्रम्) क्षत्रियधर्मरक्षकं कुलम् (द्रविणम्) राज्योद्भवं द्रव्यम् ॥११॥

अन्वयः–हे विद्वन् राजन् यं त्वा त्रिष्टुप् छन्दो बृहत्साम पंचदशस्तोमो ग्रीष्मऋतुः क्षत्रं द्रविणञ्चावतु स त्वं दक्षिणां दिशमारोह शत्रून् विजयस्व ॥११॥

भावार्थः–यो राजा प्राप्तविद्यः क्षत्रियकुलं वर्धयेत् स एव शत्रुभिः कदापि न तिरस्क्रियेत ॥११॥

पदार्थः–हे विद्वन् राजन् जिस (त्वा) आप को (त्रिष्टुप्) इस नाम के छन्द से सिद्ध विज्ञान (बृहत्) बड़ा (साम) सामवेद का भाग (पंचदशः) पांच प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, पांच इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, और घ्राण पांच भूत अर्थात्, जल, भूमि अग्नि, वायु, और आकाश इन पन्द्रह की पूर्ति करने हारा (स्तोमः) स्तुति के योग्य (ग्रीष्मऋतुः) ग्रीष्म ऋतु (क्षत्रम्) क्षत्रियों के धर्म का रक्षक क्षत्रियकुलरूप और (द्रविणम्) राज्य से प्रकट हुआ धन (अवतु) प्राप्त हो । वह आप (दक्षिणाम्) दक्षिण दिशा में (आरोह) प्रसिद्ध हूजिये । और शत्रुओं को जीतिये ॥ ११ ॥

भावार्थः—जो राजा विद्या को प्राप्त हुआ क्षत्रिय कुल को बढ़ावे उस का तिरस्कार शत्रुजन कभी न कर सकें ॥ ११ ॥

प्रतीचीमित्यस्य वरुण ऋषिः । यजमानो देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । गांधारः स्वरः ॥

राजपुरुषैर्नित्यं वैश्यकुलं वर्द्धनीयमित्याह ॥

राजपुरुषों को चाहिये कि वैश्य कुल को नित्य बढ़ावें यह वि० ॥

प्रतीचीमारोह जगती त्वाऽवतु वैरूपꣳ साम सप्तदशस्तोमो वर्षा ऋतुर्विड्द्रविणम् ॥ १२ ॥

प्रतीचीम् । आ । रोह । जगती । त्वा । अवतु । वैरूपम् । साम । सप्तदश इति सप्तऽदशः । स्तोमः । वर्षाः । ऋतुः । विट् । द्रविणम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(प्रतीचीम्) पश्चिमां दिशम् (आ) (रोह) (जगती) एतच्छन्दोभिहितमर्थम् (त्वा) त्वाम् (अवतु) (वैरूपम्) विविधानि रूपाणि यस्मिन् तत् (साम) सामवेदांशः (सप्तदशः) पंचकर्मेन्द्रियाणि पंचविषयाः पंच महाभूतानि कार्यं कारणं चेति सप्तदशानां पूरकः (स्तोमः) स्तुतिसमूहः (वर्षाः) (ऋतुः)(विट्) वणिग्जनः (द्रविणम्) द्रव्यम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे राजन् यं त्वा जगती वैरूपं साम सप्तदशस्तोम ऋतुर्वर्षा द्रविणं विट्चावतु स त्वं प्रतीचीं दिशमारोह धनं च लभस्व ॥ १२ ॥

भावार्थः—ये राजपुरुषा राजनीत्या वैश्यानुन्नयेयुस्ते श्रियमाप्नुयुः ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे राजपुरुष जिस (त्वा) आप को (जगती) जगती छन्द में कहा हुआ अर्थ (वैरूपम्) विविध प्रकार के रूपों वाला (साम) सामवेद का अंश (सप्तदशः) पांच कर्म इन्द्रिय पाँच शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, विषय पांच महाभूत अर्थात् सूक्ष्म भूत, कार्य्य और कारण इन सत्रह का पूरण करने वाला (स्तोमः) स्तुतियों का समूह (वर्षाः) (ऋतुः) वर्षा ऋतु (द्रविणम्) द्रव्य और (विट्) वैश्य जन (अवतु) प्राप्त हों। सो आप (प्रतीचीम) पश्चिम दिशा को (आरोह) आरूढ़ और धन को प्राप्त कीजिये ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो राजपुरुष राज नीति के साथ वैश्यों की उन्नति करें वे ही लक्ष्मी को प्राप्त होवें ॥ १२ ॥

उदीचीमित्यस्य वरुण ऋषिः। यजमानो देवता। आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनाराजादिनरैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर राजा आदि पुरुषों को क्या प्राप्त करना चाहिये यह वि० ॥

उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजꣳसामैकविꣳशस्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम्॥१३॥

उदीचीम्। आ। रोह। अनुष्टुप्। अनुस्तुबित्यनुऽस्तुप्। त्वा। अवतु। वैराजम्। साम। एकविꣳश इत्येकऽविꣳशः। स्तोमः। शरत्। ऋतुः। फलम्। द्रविणम् ॥१३॥

पदार्थः—(उदीचीम्) उत्तराम् (आ) (रोह) (अनुष्टुप्) यया पठित्वा पुनः सर्वा विद्या अन्येभ्यः स्तुवन्ति सा (त्वा) (अवतु) (वैराजम्) यद्विविधैरर्थे राजते तदेव (साम) (एकविंशः)

षोडश कलाश्चत्वारः पुरुषार्थाऽवयवाः कर्त्ता चेति तेषामेकविंशतेः पूरणः (स्तोमः) स्तुतिविषयः (शरत्) (ऋतुः) (फलम्) सेवाफलदं शूद्रकुलम् (द्राविणम्) ॥ १३

अन्वयः—हे सभापते त्वमुदीचीं दिशमारोह । यतोऽनुष्टुब्वैराजं सामैकविंशस्तोम ऋतुः शरद्द्रविणं फलं च त्वाऽवतु ॥१३॥

भावार्थः—ये जना आलस्यं विहाय सर्वदा पुरुषार्थमेवानुतिष्ठन्ते ते सच्छूद्रान् प्राप्य फलवन्तो जायन्ते ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे सभापति राजा आप (उदीचीम्) उत्तर की दिशा में (आरोह) प्रसिद्धि को प्राप्त हूजिये । जिस से (अनुष्टुप्) जिस को पढ़ के सब विद्याओं से दूसरों की स्तुति करें वह छन्द (वैराजम्) अनेक प्रकार के अर्थों से शोभायमान (साम) सामवेद का भाग (एकविंशः) सोलह कला चार पुरुषार्थ के अवयव और एक कर्त्ता इन इक्कीश का पूरण करने हारा (स्तोमः) स्तुति का विषय (शरत्) (ऋतुः) शरद् ऋतु (द्रविणम्) ऐश्वर्य और (फलम्) फलरूप सेवाकारक शूद्रकुल (त्वा) आप को (अवतु) प्राप्त होवे ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो पुरुष आलस्य को छोड़ सब समय में पुरुषार्थ का अनुष्ठान करते हैं वे अच्छे फलों को भोगते हैं ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वामित्यस्य वरुण ऋषिः । यजमानो देवता । भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

मनुष्यैरुत्कृष्टया विद्ययाऽनेके पदार्था विज्ञातव्या इत्याह ॥

मनुष्यों को चाहिये कि प्रबल विद्या से अनेक पदार्थों को जानें यह वि० ॥

ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणम्प्रत्यस्तन्नमुचेः शिरः ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वाम् । आ । रोह । पङ्क्तिः । त्वा । अवतु । शाक्वररैवतेऽइति शाक्वररैवते । सामनी इति सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिᳪशौ । त्रिनवत्रयस्त्रिᳪशाविति त्रिनवऽत्रयस्त्रिᳪशौ । स्तोमौ । हेमन्तशिशिरौ । ऋतूइत्यृतू । वर्चः । द्रविणम् । प्रत्यस्तमिति प्रतिऽअस्तम् । नमुचेः । शिरः ॥ १४

पदार्थः—(ऊर्ध्वाम्) दिशम् (आ) (रोह) (पङ्क्तिः) (त्वा) (अवतु) (शाक्वररैवते) शाक्वरं च रैवतं च ते (सामनी) (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) ये त्रयश्च कालाः नवाङ्कविद्याश्च त्रयश्च त्रिंशच्च वस्वादयः पदार्थाः व्याख्याता यथोक्तयोः पूरणौ तौ (स्तोमौ) स्तुतिविशेषौ (हेमन्तशिशिरौ) (ऋतू) (वर्चः) विद्याध्ययनम् (द्रविणम्) द्रव्यम् (प्रत्यस्तम्) प्रतीक्षितम् (नमुचेः) न मुंचति परपदार्थान् दुष्टाचारान् वा यः स्तेनस्तस्य (शिरः) उत्तमांगम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे राजन् यदूर्ध्वां दिशमारोह तर्हि त्वा पंक्तिः शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं चावतु नमुचेः शिरश्च प्रत्यस्तं स्यात् ॥ १४ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या अनृतु योग्याऽऽहारविहारास्सन्तोविद्यायोगाभ्यासस्सत्सङ्गान्समाचरन्ति ते सर्वेष्वृतुषु सुखं भुञ्जते । नचैभ्यो कश्चिच्चोरः पीडां दातुं शक्नोति ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे राजन् आप जो (ऊर्ध्वाम्) ऊपर की दिशा में (आरोह) प्रसिद्ध होवें तो (त्वा) आप को (पंक्तिः) पंक्ति नाम का पढ़ा हुआ छन्द (शाक्वररैवते) शक्वरी और रेवती छन्द से युक्त (सामनी) सामवेद के पूर्व उत्तर दो अवयव (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) तीन काल नव अङ्कों की विद्या और तैंतीस वसु आदि पदार्थ जिन दोनों से व्याख्यान किये गये हैं उनके पूर्ण करने वाले (स्तोमौ) स्तोत्रों के दो भेद (हेमन्तशिशिरौ) (ऋतू) हेमन्त और शिशिर ऋतु (वर्चः) ब्रह्मचर्य्य के साथ विद्या का पढ़ना और (द्रविणम्) ऐश्वर्य्य (अवतु) तृप्त करे और (नमुचेः) दुष्ट चोर का (शिरः) मस्तक (प्रत्यस्तम्) नष्ट भ्रष्ट होवे ॥ १४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सब ऋतुओं में समय के अनुसार आहार विहार युक्त हो के विद्या योगाभ्यास और सत्संगों का अच्छे प्रकार सेवन करते हैं । वे सब ऋतुओं में सुख भोगते हैं और इनको कोई चोर आदि भी पीड़ा नहीं देसकता ॥ १४ ॥

सोमस्येत्यस्य वरुणऋषिः । परमात्मा देवता । निचृदार्षी पंक्तिश्छन्दः पंचमः स्वरः ॥

राजप्रजाजनैरीश्वरवद्वर्त्तित्वा परस्परेषां रक्षणं विधेयमित्याह ॥

राज और प्रजा पुरुषों को उचित है कि ईश्वर के समान न्यायाधीश हो कर आपस में एक दूसरे की रक्षा करें यह वि० ॥

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात् । मृ॒त्योः पा॒ह्योजो॑ऽसि॒ सहो॑ऽस्य॒मृत॑मसि ॥ १५ ॥

सोम॑स्य । त्विषिः॑ । अ॒सि॒ । तवे॒वेति॒ तव॑ऽइव । मे॒ । त्विषिः॑ । भू॒या॒त् । मृ॒त्योः । पा॒हि । ओजः॑ । अ॒सि॒ । सहः॑ । अ॒सि॒ । अ॒मृत॑म् । अ॒सि॒ ॥ १५ ॥

पदार्थः—(सोमस्य) ऐश्वर्यस्य (त्विषिः) दीप्तिः (असि) (तवेव) (मे) (त्विषिः) (भूयात्) (मृत्योः) मरणात् (पाहि) (ओजः) पराक्रमयुक्तः (असि) (सहः) बलवान्

(असि) (अमृतम्) मरणधर्मरहितम् (असि) ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे परमाप्त यथा त्वं सोमस्य त्विषिरस्योजोऽसि सहोस्यमृतमसि तथाऽहं भवेयम् । तवेव मे त्विषिरोजः सहोऽमृतं च भूयात् । त्वं मृत्योर्मां पाहि ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे पुरुषा यथाऽऽप्ताः स्वेष्टं प्रजाभ्योऽपीच्छेयुः । यथा प्रजा राजपुरुषान् रक्षेयुस्तथा राजपुरुषा प्रजाजनान् सततं रक्षन्तु ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे परम आप्त विद्वन् जैसे आप (सोमस्य) ऐश्वर्य्य का (त्विषिः) प्रकाश करने हारे (असि) हैं (ओजः) पराक्रम युक्त (असि) हैं वैसा मैं भी होऊं (तवेव) आपके समान (मे) मेरा (त्विषिः) विद्या प्रकाश से भाग्योदय (भूयात्) हो आप मुझ को (मृत्योः) मृत्यु से (पाहि)बचाइये ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे पुरुषो जैसे धार्मिक विद्वान् अपने को जो इष्ट है उसी को प्रजा के लिये भी इच्छा करें जैसे प्रजा के जन राजपुरुषों की रक्षा करें वैसे राजपुरुष भी प्रजा जनों की निरंतर रक्षा करें ॥ १५ ॥

हिरण्यरूपावित्यस्य वरुणऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । स्वराडार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ विद्वद्भिर्निष्कपटतयाऽज्ञाः सत्यमुपदिश्य विद्वांसो मेधाविनः संपादनीया इत्याह ॥

अब विद्वानों को चाहिये कि आप निष्कपट हो औरअज्ञानी पुरुषों के लिये सत्य का उपदेश करके उन को बुद्धिमान् विद्वान् बनावें यह वि०

हिर॑ण्यरूपा उ॒षसो॑ विरो॒क उ॒भावि॑न्द्रा उदि॑थ॒: सूर्य॑श्च । आरो॑हतं वरुण मित्र॒ गर्त्तं॒ तत॑श्चाक्षाथा॒-

मदिंतिं दितिं च। मित्रोऽसि वरुंणोऽसि ॥ १६ ॥

हिरंण्यरूपाविति हिरंण्यऽरूपौ। उषसंः। विरोकइति विऽरोके। उभौ। इन्द्रौ। उत्। इथः। सूर्यः। च। आ। रोहतम्। वरुण। मित्र। गर्तम्। ततः। चक्षाथाम्। अदिंतिम्। दितिम्। च। मित्रः। असि। वरुंणः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(हिरण्यरूपौ) ज्योतिःस्वरूपौ (उषसः) प्रभातान् (विरोके) विविधतया रुचिकरे व्यवहारे (उभौ) (इन्द्रौ) परमैश्वर्य्यकारकौ (उत्) (इथः) प्राप्नुथः (सूर्य्यः) (च) चन्द्र इव (आ) (रोहतम्) (वरुण) शत्रुच्छेदकउत्कृष्टसेनापते (मित्र) सर्वस्य सुहृत् (गर्तम्) उपदेशकगृहम्। गर्त्तइति गृहना०। निघं० ३। ४। (ततः) तदनन्तरम् (चक्षाथाम्) उपदिशेताम् (अदितिम्) अविनाशिनं पदार्थम् (दितिम्) नाशवन्तम् (च) (मित्रः) सुखप्रदः (असि) (वरुणः) सर्वोत्तमः (असि) ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे उपदेशक मित्र यतस्त्वं मित्रोऽसि हे वरुण यतस्त्वं वरुणोऽसि ततस्तौ युवां गर्तमारोहतम्। अदितिं दितिं च चक्षाथाम्। हे हिरण्यरूपावुभाविन्द्रौ यथा विरोके सूर्य्यश्चन्द्रश्चोषसो विभातस्तथा युवामुदियो विद्याः प्रभातम् ॥ १६ ॥

भावार्थः—यत्र देशे सूर्यचन्द्रवदुपदेशका व्याख्यानैः सर्वा विद्याः प्रकाशयन्ति तत्र सत्याऽसत्यपदार्थबोधेन सहितत्वात्कोऽपि दप्यविद्यया न विमुह्यति यत्रेदं न भवति तत्राऽन्धपरम्पराग्रस्ता जनाः प्रत्यहमवनतिं प्राप्नुवन्ति ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे उपदेश करने हारे (मित्र) सब के सुहृद् जिस लिये आप (मित्रः) सुख देने वाले (असि) हैं तथा हे (वरुण) शत्रुओं को मारने हारे बलवान् सेनापति जिस लिये आप (वरुणः) सब से उत्तम (असि) हैं इसलिये आप दोनों (गर्त्तम्) उपदेश करने वाले के घर पर (आरोहतम्) जाओ (अदितिम्) अविनाशी (च) और (दितिम्) नाशमान पदार्थों का (चक्षाथाम) उपदेश करो हे (हिरण्यरूपौ) प्रकाश स्वरूप (उभौ) दोनों (इन्द्रा) परमैश्वर्य्य करने हारे जैसे (विरोके) विविध प्रकार की रुचि कराने हारे व्यवहार में (सूर्यः) सूर्य्य (च) और चन्द्रमा (उषसः) प्रातः और निशा काल के अवयवों को प्रकाशित करते हैं । वैसे तुम दोनों जन (उदिथः) विद्याओं का उपदेश करो ॥ १६ ॥

भावार्थः—जिस देश में सूर्य्य चन्द्रमा के समान उपदेश करने हारे व्याख्यानों से सब विद्याओं का प्रकाश करते हैं, वहां सत्याऽसत्य पदार्थों के बोध से सहित हो के कोई भी विद्याहीन होकर भ्रम में नहीं पड़ता । जहां यह बात नहीं होती वहां अन्ध परम्परा में फंसे हुए मनुष्य नित्य ही क्लेश पाते हैं ॥ १६ ॥

सोमस्येत्यस्य वरुण ऋषिः । क्षत्रपतिर्देवता । आर्षीपंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

एतत्प्रवृत्तये कीदृशो राजाभिषेचनीयइत्याह ॥

पूर्वोक्त कार्य्यों की प्रवृत्ति के लिये कैसे पुरुष को राज्याऽधिकार देना चाहिये यह वि०॥

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण । क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति दिद्यून् पाहि ॥ १७ ॥

सोम॑स्य । त्वा॒ । द्यु॒म्नेन॑ । अ॒भि । सि॒ञ्चा॒मि॒ । अ॒ग्नेः । भ्राज॑सा । सूर्य॑स्य । वर्च॑सा । इन्द्र॑स्य । इ॒न्द्रि॒येण॑ । क्ष॒त्राणा॑म् । क्ष॒त्रप॑ति॒रिति॑ क्ष॒त्रऽप॑तिः । ए॒धि॒ । अति॑ । दि॒द्यून् । पा॒हि॒ ॥ १७ ॥

पदार्थः—(सोमस्य) चन्द्रस्येव (त्वा) (द्युम्नेन) यशःप्रकाशेन (अभि) आभिमुख्ये (सिंचामि) अधिकरोमि (अग्नेः) अग्नितुल्येन (भ्राजसा) तेजसा (सूर्यस्य) सवितुरिव (वर्चसा) अध्ययनेन (इन्द्रस्य) विद्युत इव (इन्द्रियेण) मनआदिना (क्षत्राणाम्) क्षत्रकुलोद्गतानाम् (क्षत्रपतिः) (एधि) भव (अति) (दिद्यून्) विद्याधर्मप्रकाशकान् व्यवहारान् (पाहि) सततं रक्ष ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे प्रशस्तगुणकर्मस्वभावयुक्त राजन्यथाऽहं यं त्वां सोमस्येव द्युम्नेनाग्नेरिव भ्राजसा सूर्य्यस्येव वर्चसेन्द्रस्येवेन्द्रियेण त्वाऽभिषिंचामि । तथा स त्वं क्षत्राणां क्षत्रपतिरत्येधि दिद्यून् पाहि ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु॰ मनुष्या यः सोमादिगुणयुक्तो विद्वान् जितेन्द्रियो जनो भवेत्तं राजत्वे स्वीकुर्वन्तु । स च राज्यं प्राप्यातिप्रवृद्धः सन् विद्याधर्मप्रकाशकादीन् राजप्रजाजनान् सततमतिवर्द्धयेत् ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे प्रशंसित गुण कर्म और स्वभाव वाले राजा जैसे मैं जिस तुम को (सोमस्य) चन्द्रमा के समान (द्युम्नेन) यश रूप प्रकाश से (अग्नेः) अग्नि-

के समान (भ्राजसा) तेज से (सूर्यस्य) सूर्य के समान (वर्चसा) पढ़ने से और (इन्द्रस्य) बिजुली के समान (इन्द्रियेण) मन आदि इन्द्रियों के सहित (त्वा) आप को (अभिषिञ्चामि) राज्याऽधिकारी करता हूं । वैसे वे आप (क्षत्राणाम्) क्षत्रिय कुल में जो उत्तम हों उन के बीच (क्षत्रपतिः) राज्य के पालने हारे (अत्येधि) अति तत्पर हूजिये और (दिद्यून्) विद्या तथा धर्म का प्रकाश करने हारे व्यवहारों की (पाहि) निरन्तर रक्षा कीजिये ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु० मनुष्यों को चाहिये कि जो शान्ति आदि गुण युक्त जितेन्द्रिय विद्वान् पुरुष हो उस को राज्य का अधिकार देवें । और उस राजा को चाहिये कि राज्याऽधिकार को प्राप्त हो अतिश्रेष्ठ होता हुआ विद्या और धर्म आदि के प्रकाश करने हारे प्रजा पुरुषों को निरन्तर बढ़ावे ॥ १७ ॥

इमंदेवा इत्यस्य देवव्रात ऋषिः। यजमानो देवता । स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः

सत्योपदेशकैर्विद्वद्भिर्बाल्याऽवस्थामारभ्य सुशिक्षया सर्वे राजकन्याकुमाराःश्रेष्ठाचाराः संपादनीया इत्याह ॥

सत्य के उपदेशक विद्वानों को चाहिये कि बाल्यावस्था से लेके अच्छी शिक्षा से राजाओं की कन्या और पुत्रों को श्रेष्ठ आचार युक्त करें यह वि० ॥

इमन्देवा असपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा ॥१८॥

इमम् । देवाः । असपत्नम् । सुवध्वम् । महते । क्षत्राय । महते । ज्यैष्ठ्याय । महते । जानराज्याय । इति जानऽराज्याय । इन्द्रस्य । इन्द्रियाय । इमम् । अमुष्य । पुत्रम् । अमुष्यै । पुत्रम् । अस्यै । विशे । एषः । वः । अमी इत्यमी । राजा । सोमः । अस्माकम् । ब्राह्मणानाम् । राजा ॥ १८ ॥

पदार्थः—(इमम्) (देवाः) वेदशास्त्रविदः सेनापतयः (असपत्नम्) अजातशत्रुम् (सुवध्वम्) प्रेरयत (महते) महत्कर्त्तव्याय (क्षत्राय) क्षत्रियकुलाय (महते) (ज्यैष्ठ्याय) विद्याधर्मवृद्धानां भावाय (महते) (जानराज्याय) जनानां राज्ञां माण्डलिकानामुपरि प्रभवाय (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य्ययुक्तस्य धनिकस्य (इन्द्रियाय) धनवर्धनाय (इमम्) (अमुष्य) सद्गुणसम्पन्नस्य राजपुत्रस्य (पुत्रम्) तनयम् (अमुष्याः) प्रशंसनीयाया राजपुत्र्याः । अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (पुत्रम्) पवित्रगुणकर्मस्वभावैर्मातापितृपालकम् (अस्यै) वर्त्तमानायाः सुशिक्षितव्यायाः (विशे) प्रजायाः (एषः) (वः) युष्माकं पालनाय (अमी) धार्मिका राजपुरुषाः (राजा) सर्वत्रविद्याधर्मसुशिक्षाप्रकाशकः (सोमः) शुभगुणैः प्रसिद्धः (अस्माकम्) (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मवेदभक्तानाम् (राजा) वेदेश्वरोपासनया प्रकाशमानः ॥१८॥

अन्वयः—हे देवा यूयं य एष उपदेशकः सेनेशो वा वोऽस्माकं च ब्राह्मणानां राजाऽस्ति । येऽमी राजपुरुषाः सन्ति तेषां

सोमो राजाऽस्ति तमिममसुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशे महते क्षत्राय महते ज्येष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियायासपत्नं सुवध्वम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—यद्युपदेशका राजपुरुषाश्च सर्वस्योन्नतिं चिकीर्षेयुस्तर्हि प्रजाराजजना राजपुरुषोन्नतिं कुतो न कर्त्तुमिच्छेयुः । यदि राजप्रजाजना वेदेश्वराज्ञां विहाय स्वेच्छया प्रवर्त्तेरन् तर्ह्येषामनुन्नतिः कुतो न भवेत् ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे (देवाः) वेद शास्त्रों को जानने हारे सेनापति लोग आप जो (एषः) यह उपदेशक वा सेनापति (वः) तुम्हारा और (अस्माकम्) हमारा (ब्राह्मणानाम्) ईश्वर और वेद के सेवक ब्राह्मणों का (राजा) वेद और ईश्वर की उपासना से प्रकाशमान अधिष्ठाता है । जो (अमी) वे धर्मात्मा राजपुरुष हैं उन का (सोमः) शुभ गुणों से प्रसिद्ध (राजा) सर्वत्र विद्या धर्म और अच्छी शिक्षा का करने हारा है उस (इमम्) इस (अमुष्य) श्रेष्ठगुणों से युक्त राजपुत के (पुत्रम्) पुत्र को (अमुष्यै) प्रशंसा करने योग्य राजकन्या के (पुत्रम्) पवित्र गुण कर्म और स्वभाव से माता पिता की रक्षा करने वाले पुत्र और (अस्यै) अच्छी शिक्षा करने योग्य इस वर्त्तमान (विशे) प्रजा के लिये तथा (महते) सत्कार करने योग्य (क्षत्राय) क्षत्रिय कुल के लिये (महते) बड़े (ज्यैष्ठ्याय) विद्या और धर्म विषय में श्रेष्ठ पुरुषों के होने के लिये (महते) श्रेष्ठ (जानराज्याय) माण्डलिक राजाओं के ऊपर बलवान् समर्थ होने के लिये (इन्द्रस्य) सब ऐश्वर्यों से युक्त धनाढ्य के (इन्द्रियाय) धन बढ़ाने के लिये (असपत्नम्) जिस का कोई शत्रु न हो ऐसे पुत्र को (सुवध्वम्) उत्पन्न करो ॥१८॥

भावार्थः—जो उपदेशक और राजपुरुष सब प्रजा की उन्नति किया चाहें तो प्रजा के मनुष्य राजा और राजपुरुषों की उन्नति करने की इच्छा क्यों न करें । जो राजपुरुष और प्रजापुरुष वेद और ईश्वर की आज्ञा को छोड़ के अपनी इच्छा के अनुकूल प्रवृत्त होवें तो इन की उन्नति का विनाश क्यों न हो ॥१८॥

प्रपर्वतस्येत्यस्य देववात ऋषिः । विराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरत्र राजप्रजाजनैः कीदृशानि यानानि रचनीयानीत्याह ॥

फिर इस जगत् में राज और प्रजाजनों को किस प्रकार के यान बनाने चाहिये यह वि० ॥

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिचं इयानाः। ता आवंवृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः। विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥ ११ ॥

प्र। पर्वतस्य। वृषभस्य। पृष्ठात्। नावः। चरन्ति। स्वसिचइति स्वऽसिचः। इयानाः। ताः। आ। अवृत्रन्। अधराक्। उदक्ता इत्युत्ऽअक्ताः। अहिम्। बुध्न्यम्। अनु। रीयमाणाः। विष्णोः। विक्रमणमिति विऽक्रमणम्। असि। विष्णोः। विक्रान्तमिति विऽक्रान्तम्। असि। विष्णोः। क्रान्तम्। असि ॥ ११ ॥

पदार्थः—(प्र) (पर्वतस्य) मेघस्य। पर्वतइति मेघना० निघं० १। १० (वृषभस्य) वर्षकस्य (पृष्ठात्) उपरिभागात् (नावः) सागरोपरि नावइव विमानानि (चरन्ति) (स्वसिचः) याः स्वैर्जलैर्जलेन सिच्यन्ते ताः (इयानाः) गन्त्र्यः (ताः) (आ) (अवृत्रन्) अर्वाचीनो वृत्रइवाचरन् अत्राचार सुबन्तात्क्विप् (अधराक्) मेघादधस्तात् (उदक्ताः) पुनरूर्ध्वं गच्छन्त्यः (अ-

हिम्) मेघम् (बुध्न्यम्) बुध्नेऽन्तरिक्षे भवम् (अनु) पश्चात् (रीयमाणाः) चालनेन गच्छन्त्यः (विष्णोः) व्यापकस्येश्वरस्य (विक्रमणम्) विक्रमतेऽस्मिंस्तत् (असि) (विष्णोः) व्यापकस्य वायोः (विक्रान्तम्) विविधतया क्रान्तम् (असि) (विष्णोः) व्यापकस्य विद्युद्वस्तुनः (क्रान्तम्) क्रमाधिकरणम् (असि) ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे राजशिल्पिन् यदि त्वया याः स्वसिच इयाना उदक्ता अहिं बुध्न्यमनुरीयमाणा नावो वृषभस्य पर्वतस्य पृष्ठात् प्रचरन्ति याभिस्त्वं विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोः क्रान्तमसि या अधरागावर्त्तंस्ताः त्वं साध्नुहि ॥ १९ ॥

भावार्थः—यथा मेघो वर्षित्वा भूमितलं प्राप्याकाशमाप्नोति तज्जलं नदीर्गत्वाऽन्ततः समुद्रं प्राप्नोति तत्पृष्ठे नावो गच्छन्ति । या अप्स्वन्तर्यथासामुपर्यधो जलं भवति तद्वत्सर्वैः शिल्पिभिर्विमानानि नावश्च यानानि रचयित्वा भूमिजलाऽन्तरिक्षमार्गेणाभीष्टे देशे गमनागमने यथेष्टे कार्य्ये । यावदेतानि न प्रसाधन्ति तावद्द्वीपद्वीपान्तरं गन्तुं कश्चिदपि न शक्नोति यथा पक्षिण इदं शरीरमयं संघातं गमयन्ती तथैव विचक्षणैः शिल्पिभिरेतदाकाशं यानैर्विक्रमणीयम् ॥ १९ ॥

पदार्थः—हे राजा के कारीगर पुरुष जो तू (स्वसिचः) जिन को अपने लोग जल से सींचते हैं (इयानाः) चलते हुए (उदक्ताः) फिर २ ऊपर को आवें (अहिंबुध्न्यम्) अन्तरिक्ष में रहनेवाले मेघ के (अनुरीयमाणाः) पीछे २ चलाने से चलते हुए (नावः) समुद्र के ऊपर नौकाओं के समान चलते हुए विमान (वृषभस्य) वर्षा करने हारे (पर्वतस्य) मेघ के (पृष्ठात्) ऊपर के भाग से (प्रचरन्ति) चलते हैं जिनसे तू (विष्णोः) व्यापक ईश्वर के इस जगत में (विक्रमणम्) पराक्रम

सहित (असि) है (विष्णोः) व्यापक वायु के बीच (वि क्रान्तम्) अनेक प्रकार चलने हारा (असि) है और (विष्णोः) व्यापक बिजुली के बीच (क्रान्तम्)चलने का आधार (असि) है जो (अधराक्) मेघ से नीचे (आवबृत्रन्.मेघ के समान विचरते हैं उन विमानादि यानों को तू सिद्ध कर ॥ १९ ॥

भावार्थः—जैसे मेघ वर्षके भूमि के तले को प्राप्त हो के पुनः आकाश को प्राप्त होता है । वह जल नदियों में जाके पीछे समुद्र को प्राप्त होता है । जो जल के भीतर अर्थात् जिन के ऊपर नीचे जल होता है । वैसे ही सब कारीगरलोगों को चाहिये कि विमानादि यानों और नौकाओं को बना के भूमि जल और आकाश मार्ग से अभीष्ट देशों में यथेष्ट जाना आना करें।जब तक ऐसे यान नहीं बनाते तब तक द्वीप द्वीपान्तरों में कोई भी नहीं जासकता । जैसे पक्षी अपने शरीर रूप संघात को आकाश में उड़ा लेचलते हैं वैसे चतुर कारीगरलोगों को चाहिये कि इस अपने शरीर आदि को यानों के द्वारा आकाश में फिरावें ॥ १९ ॥

प्रजापत इत्यस्य देववात ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । स्वराडतिधृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मनुष्यैरीश्वरोपासनाऽऽज्ञापालनेन सर्वाः कामनाः प्राप्तव्याइत्याह ॥

मनुष्यों को चाहिये कि ईश्वर की उपासना और उस की आज्ञा पालने से सब कामनाओं को प्राप्त हों यह वि० ॥

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॒ परि॒ता ब॑भूव । यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्त्व॒यम॒मुष्य॑ पि॒ताऽसा॒वस्य॑ पि॒ता व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाꣳ स्वाहा॑ । रुद्र॒ यत्ते॒ क्रिवि॒ परं॒ नाम॒ तस्मि॑न् हु॒तम॑स्यमे॒ष्टम॑सि॒ स्वाहा॑ ॥ २० ॥

प्रजापत इति प्रजाऽपते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि । परि । ता । बभूव । यत्कामाइति यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । अयम् । अमुष्य । पिता । असौ । अस्य । पिता । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् । स्वाहा । रुद्र । यत् । ते । क्रिवि । परम् । नाम । तस्मिन् । हुतम् । असि । अमेष्टमित्यमाऽइष्टम् । असि । स्वाहा ॥ २० ॥

पदार्थः-(प्रजापते) प्रजायाः स्वामिन्नीश्वर (न) निषेधे (त्वत्) तव सकाशात् (एतानि) जीवप्रकृत्यादीनि वस्तूनि (अन्यः) भिन्नः पदार्थः (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) इच्छारूपादिगुणविशिष्टानि (परि) (ता) तानि (बभूव) अस्ति (यत्कामाः) यस्य २ कामः कामना येषान्ते (ते) तव (जुहुमः) गृह्णीमः (तत्) (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) भवतु (अयम्) (अमुष्य) प्रत्यक्षस्य जनस्य (पिता) पालकः (असौ) सः (अस्य) प्रत्यक्षवर्त्तमानस्य (पिता) रक्षकः (वयम्) (स्याम) भवेम (पतयः) स्वामिनः पालकाः (रयीणाम्) विद्याचक्रवर्त्तिराज्योत्पन्नाश्रियाम् (स्वाहा) सत्यया क्रियया (रुद्र) दुष्टानां रोदयितः (यत्) (ते) तव (क्रिवि) कृणोति हिनस्ति येन तत् । नकारस्थाने वर्णव्यत्ययेनेकारः(परम्)

प्रकृष्टम् (नाम) (तस्मिन्) (हुतम्) (असि) (अमेष्टम्) अमानां गृहे इष्टम (असि)(स्वाहा) सत्यया वाचा ॥ २० ॥

अन्वयः—हे प्रजापते यान्येतानि विश्वा रूपाणि सन्ति तानि त्वदन्यो न परिबभूव । ते तव सकाशाद्यत्कामाः सन्तो वयं जुहुमस्तत्तव कृपया नोऽस्तु यथा त्वममुष्य परोक्षस्य जगतः पिताऽसौ भवानस्य सामक्षस्य विश्वस्य पिताऽसि तथा वयं स्वाहा रयीणां पतयः स्याम । हे रुद्र ते तव यत् किवि परं नामाऽस्ति यस्मिंस्त्वं हुतमस्यमेष्टमासि तं वयं स्वाहा जुहुमः ॥ २० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे मनुष्या यः सर्वस्मिन् जगति व्याप्तः सर्वान्प्रति मातापितृवद्वर्त्तमानो दुष्टदण्डक उपासितुमिष्टोऽस्ति तं जगदीश्वरमेवोपाध्वमेवमनुष्ठानेन युष्माकं सर्वे कामा अवश्यं सेत्स्यन्ति ॥ २० ॥

पदार्थः—हे (प्रजापते) प्रजा के स्वामी ईश्वर जो (एतानि) जीव प्रकृति आदि वस्तु (विश्वा) सब (रूपाणि) इच्छा रूप आदि गुणों से युक्त हैं (ता) उन के ऊपर आप से (अन्यः) दूसरा कोई (न) नहीं (परिबभूव) जान सकता (ते) आप के सेवन से (यत्कामाः) जिस२ पदार्थ की कामना वाले होते हुए (वयम्) हम लोग (जुहुमः) आप का सेवन करते हैं । वह२ पदार्थ आप की कृपा से (नः) हम लोगों के लिये (अस्तु) प्राप्त होवे । जैसे आप (अमुष्य) उस परोक्ष जगत्के (पिता) रक्षा करने हारे हैं (असौ) सो आप इस प्रत्यक्ष जगत्के रक्षक हैं । वैसे हम लोग (स्वाहा) सत्य वाणी से (रयीणाम्) विद्या और चक्रवर्त्ति राज्य आदि से उत्पन्न हुई लक्ष्मी के (पतयः) रक्षा करने वाले (स्याम) हों । हे (रुद्र) दुष्टों को रुलाने हारे परमेश्वर (ते) आप का जो (किवि) दुःखों से छुड़ाने का हेतु (परम्) उत्तम (नाम) नाम है (तस्मिन्) उस में आप (हुतम्) स्वीकार किये (असि) हैं (अमेष्टम्) घर में इष्ट (असि) हैं उन आप को हम लोग (स्वाहा) सत्य वाणी से ग्रहण करते हैं ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मंत्र में वाचकलु०—हे मनुष्यो जो सब जगत् में व्याप्त सब के लिये माता पिता के समान वर्त्तमान दुष्टों को दण्ड देने द्वारा उपासना करने को इष्ट है उसी जगदीश्वर की उपासना करो। इस प्रकार के अनुष्ठान से तुम्हारी सब कामना अवश्य सिद्ध हो जावेंगी ॥ २० ॥

इन्द्रस्येत्यस्य देववात ऋषिः। क्षत्रपतिर्देवता। भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनर्विद्वद्भिः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर विद्वान् पुरुषों को क्या करना चाहिये इस०

इन्द्र॑स्य वज्रो॑ऽसि मित्रावरु॑णयोस्त्वा प्रशा॒स्त्रोः प्रशिषा॑ युनज्मि। अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वाऽरि॑ष्टो अर्जु॑नो मरुतां॑ प्रसवेन॑ जयापा॑म मन॑सा समि॑न्द्रियेण॑ ॥ २१ ॥

इन्द्र॑स्य। वज्रः। असि। मित्रावरु॑णयोः। त्वा। प्रशास्त्रोरिति॑ प्रऽशास्त्रोः। प्रशिषेति॑ प्रऽशिषा॑। युनज्मि। अव्यथायै। त्वा स्वधायै त्वा। अरिष्टः। अर्जु॑नः। मरुताम्। प्रसवेनेति॑ प्रऽसवेन॑। जय। अपाम॑। मन॑सा। सम्। इन्द्रियेण॑ ॥ २१ ॥

पदार्थः—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यस्य (वज्रः) विज्ञापकः (असि) (मित्रावरुणयोः) सभासेनेशयोः (त्वा) त्वाम् (प्रशास्त्रोः) सर्वस्य प्रकाशनकर्त्रोः (प्रशिषा) प्रशासनेन (युनज्मि) समादधे

(अव्यथायै) अविद्यमानपीडायै क्रियायै (त्वा) (स्वधायै) स्ववस्तु-धारणलक्षणायै राजनीत्यै (त्वा) (अरिष्टः) अहिंसितः (अर्जुनः) प्रशस्तं रूपं विद्यतेऽस्य सः । अर्शआदित्वादच् । अर्जुनमिति रूपना० निघं० ३ । ७ (मरुताम्) ऋत्विजाम् (प्रसवेन) प्रेरणेन (जय) उत्कर्ष (आपाम) आप्नुयाम (मनसा) मननशीलेन (सम्) (इन्द्रियेण) इन्द्रेण जीवेन जुष्टेन प्रीतेन वा ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे राजन् यस्त्वमरिष्टोऽर्जुन इन्द्रस्य वज्रोऽसि यं त्वाऽव्यथायै प्रशास्त्रोर्मित्रावरुणयोः प्रशिषाऽहं युनज्मि । मरुतां प्रसवेन स्वधायै यं त्वा युनज्मि । मनसेन्द्रियेण यं त्वा वयं समापाम स त्वं जय दुष्टान् जित्वोत्कर्ष ॥ २१ ॥

भावार्थः—विद्वद्भी राजा प्रजापुरुषाश्च धर्मार्थं सदा प्रशासनीयाः । यत एते पीडां राजनीतिविरुद्धं कर्म नाचरेयुः । सर्वतः प्राप्तबलाः शत्रून् जयेयुः येन कदाप्यैश्वर्यस्य हानिर्न स्यात्॥२१॥

पदार्थः—हे राजन् जो आप (अरिष्टः) किसी के मारने में न आने वाले (अर्जुनः) प्रशंसा के योग्य रूप से युक्त (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य्य वाले का (वज्रः) शत्रुओं के लिये वज्र के समान (असि) हैं जिस (त्वा) आप का (अव्यथायै) पीड़ा न होने के लिये (प्रशास्त्रोः) सब को शिक्षा देने वाले (मित्रावरुणयोः) सभा और सेना के स्वामी की (प्रशिषा) शिक्षा से मैं (युनज्मि) समाहित करता हूं (मरुताम्) ऋत्विज लोगों के (प्रसवेन) कहने से (स्वधायै) अपनी चीज को धारण करना रूप राजनीति के लिये जिस (त्वा) आप का योगाभ्यास से चिन्तन करता हूं (मनसा) विचारशील मन इन्द्रियेण)जीवसे सेवे हुए इन्द्रिय से जिस (त्वा) आप को हम लोग (समापाम) सम्यक् प्राप्त होते हैं। सो आप (जय) दुष्टों को जीत के निश्चिन्त उत्कृष्ट हूजिये॥२१॥

भावार्थः—विद्वानों को चाहिये कि राजा और प्रजा पुरुषों को धर्म और अर्थ की सिद्धि के लिये सदा शिक्षा देवें। जिस से ये किसी को पीड़ा देने रूप राजनीति से विरुद्ध कर्म न करें। सब प्रकार बलवान् हो के शत्रुओं को जीतें जिस से कभी धन सम्पत्ती की हानि न होवे ॥ २१ ॥

मातइत्यस्य देववातऋषिः। इन्द्रो देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

प्रजाजनैराजप्रसंगे कथं वर्त्तितव्यमित्याह ॥

प्रजापुरुषों को राजा के साथ कैसे वर्त्तना चाहिये यह वि० ॥

मा तं इन्द्र ते व॒यं तु॑राषाडयु॑क्तासो अब्रह्मता वि द॑साम। तिष्ठा रथ॒मधि॒ यं व॑ज्रहस्ता र॒श्मीन्दे॑व यमसे स्वश्वान् ॥ २२ ॥

मा। ते। इन्द्र। ते। व॒यम्। तु॒रा॒षा॒ट्। अयु॑क्तासः। अब्र॑ह्मता। वि। द॒सा॒म॒। तिष्ठ॑। रथ॑म्। अधि॑। यम्। व॒ज्र॒ह॒स्तेति॑ वज्रऽहस्त। आ। र॒श्मीन्। दे॒व॒। य॒म॒से॒। स्व॒श्वानिति॑ सुऽअश्वान् ॥ २२ ॥

पदार्थः—(मा) निषेधे (ते) तव (इन्द्र) सभेश राजन् (ते) तव (वयम्) राजप्रजाजनाः (तुराषाट्) तुरान् त्वरितान् शत्रून् सहते (अयुक्तासः) अधर्मकारिणः (अब्रह्मता) वेदेश्वरनिष्ठाराहित्येन (वि) (दसाम) उपक्षयेम (तिष्ठ) अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः (रथम्) (अधि) (यम्) (वज्रहस्त) वज्रतुल्यानि शस्त्राणि हस्तयोर्यस्य तत्संबुद्धौ (आ) (रश्मीन्) अश्वानियमार्थो रज्जूः (देव) (यमसे) नियच्छसि (स्वश्वान्) शोभनाश्च तेऽश्वाश्च तान् ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे देवेन्द्र राजन् वज्रहस्त वयन्ते तव सम्बन्धेऽयुक्तासो मा भवाम ते तवाब्रह्मता मास्तुविदसाम यस्तुराषाट् त्वं यान् रश्मीन् स्वश्वान् यमसे यं रथमधितिष्ठ । ताँस्तं च वयमप्यधितिष्ठेम ॥ २२ ॥

भावार्थः—राजप्रजाजना राज्ञा सहायोग्यं व्यवहारं कदाचिन्न कुर्य्युः । राजा चैतैः सहान्यायं न कुर्यात् । वेदेश्वराज्ञानुष्ठाना: सन्तः सर्वे समानयानासनव्यवहाराःस्युः । न कदाचिदालस्येप्रमादे वेदेश्वरनिन्दामये नास्तिकत्वे वा वर्त्तेरन् ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे (देव) प्रकाशमान (इन्द्र) सभापति राजन् (वज्रहस्त) जिस के हाथों में वज्र के समान शस्त्र हों उस आप के साथ (वयम्) हम राजप्रजा पुरुष (ते) आप के सम्बन्ध में (अयुक्तासः) अधर्मकारी (मा) न होवें (ते) आप की (अब्रह्मता) वेद तथा ईश्वर से रहित निष्ठा (मा) न हो और न (विदसाम्) नष्ट करें जो (तुराषाट्) शीघ्रकारी शत्रुओं को सहने हारे आप जिन (रश्मीन्) घोड़े के लगाम की रस्सी और (स्वश्वान्) सुन्दर घोड़ों को (यमसे) नियम से रखते हैं । और जिस (रथम्) रथ के ऊपर (अधितिष्ठ) बैठें उन घोड़ों और उस रथ के हम लोग भी अधिष्ठाता होवें ॥ २२ ॥

भावार्थः—राजा और प्रजा के पुरुषों को योग्य है कि राजा के साथ अयोग्य व्यवहार कभी न करें तथा राजा भी इन प्रजाजनों के साथ अन्याय न करे वेद और ईश्वर की आज्ञा का सेवन करते हुए सब लोग एक सवारी एक बिछौने पर बैठें और एकसा व्यवहार करने वाले होवें । और कभी आलस्य प्रमाद से ईश्वर और वेदों की निन्दा वा नास्तिकता में न फंसें ॥ २२ ॥

अग्नयइत्यस्य देववातऋषिः । अग्नयादयो मंत्रोक्ता देवताः जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ माताऽपत्यानि परस्परं कीदृशं संवदेयुरित्याह ॥

अब माता और पुत्र आपस में कैसे संवाद करें यह वि॰

अग्नये॑ गृहप॑तये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ वन॒स्पत॑ये॒ स्वाहा॑ म॒रुता॑मो॒जसे॒ स्वाहेन्द्र॑स्ये॒न्द्रि॒याय॒ स्वाहा॑ । पृथि॑वि मात॒र्मा मा॑ हि॒ꣳसी॒र्मो अ॒हं त्वाम् ॥ २३ ॥

अग्नये॑ । गृहप॑तय॒ इति॑ गृह॒ऽप॑तये । स्वाहा॑ । सोमा॑य । वन॒स्पत॑ये । स्वाहा॑ । म॒रुता॑म् । ओज॑से । स्वाहा॑ । इन्द्र॑स्य । इ॒न्द्रि॒याय॑ । स्वाहा॑ । पृथि॑वि । मात॒रिति॑ मातः । मा । मा॒ । हि॒ꣳसीः॒ । मो इति॒ मो । अ॒हम् । त्वाम् ॥ २३ ॥

पदार्थः—(अग्नये) धर्मविज्ञानाढ्याय (गृहपतये) गृहाश्रमस्वामिने (स्वाहा) सत्यां नीतिम् (सोमाय) सोमलताद्योषधिगणाय (वनस्पतये) वनानां पालकायाश्वत्थप्रभृतये । (स्वाहा) वैद्यकशास्त्रबोधजनितां क्रियाम् (मरुताम्) प्राणानामृत्विजां वा (ओजसे) बलाय (स्वाहा) योगशान्तिदां वाचम् (इन्द्रस्य) जीवस्य (इन्द्रियाय) नेत्राद्याय अन्तःकरणाय वा (स्वाहा) सुशिक्षायुक्तां वाचमुपदिष्टम् (पृथिवि) भूमिवत्पृथुशुभलक्षणे (मातः) मान्यकर्त्रि जननि (मा) निषेधे (मा) माम् (हिंसीः) कुशिक्षया मा हिंस्याः (मो) (अहम्) (त्वाम्)॥२३॥

अन्वयः—हे प्रजाजना यथा राजजना वयं गृहपतयेऽग्नये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा चरेम तथा यूयमप्याचरत । हे पृथिवि मातस्त्वं मा माहिंसीस्त्वामहं च मो हिंस्याम् ॥ २३ ॥

भावार्थः—राजादिराजजनैः प्रजाहिताय प्रजाजनैरेतेषां सुखाय सर्वस्योन्नतये च परस्परं वर्त्तितव्यम् । माता कुशिक्षयाऽविद्यादानेन स्वसन्तानान्नष्टबुद्धीन् कदाचिन्नकुर्य्यात् सन्तानाश्च मातुरप्रियं नाचरेयुः ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे प्रजा के मनुष्यो जैसे राजा और राजपुरुष हम लोग (गृहपतये) गृहाश्रम के स्वामी (अग्नये) धर्म और विज्ञान से युक्त पुरुष के लिये (स्वाहा) सत्यनीति (सोमाय) सोम लता आदि ओषधि और (वनस्पतये) वनों की रक्षा करने हारे पीपल आदि के लिये (स्वाहा) वैद्यक शास्त्र के बोध से उत्पन्न हुई क्रिया (मरुताम्) प्राणों वा ऋत्विज लोगों के (ओजसे) बल के लिये (स्वाहा) योगाभ्यास और शान्ति की देने हारी वाणी और (इन्द्रस्य) जीव के (इन्द्रियाय) मन इन्द्रिय के लिये (स्वाहा) अच्छी शिक्षा से युक्त उपदेश का आचरण करते हैं वैसे ही तुम लोग भी करो । हे (पृथिवि) भूमि के समान बहुत से शुभ लक्षणों से युक्त (मातः) मान्य करने हारी जननी तू (मा) मुझ को (मा) मत (हिंसीः) बुरी शिक्षा से दुःख दे और (त्वाम्) तुझ को (अहम्) मैं भी (मो) न दुःख देऊं ॥२३॥

भावार्थः—राजा आदि राज पुरुषों को प्रजा के हित प्रजा पुरुषों को राज पुरुषों के सुख और सब की उन्नति के लिये परस्पर वर्त्तना चाहिये । माता को योग्य है कि बुरी शिक्षा और मूर्खता रूप अविद्या देकर सन्तानों की बुद्धि नष्ट न करे । और सन्तानों को उचित है कि अपनी माता के साथ कभी द्वेष न करें ॥ २३ ॥

हंस इत्यस्य वामदेव ऋषिः । सूर्य्यो देवता । भुरिगार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

मनुष्यैरीश्वरोपासनेन न्यायसुशिक्षे कार्य्ये इत्याह ॥

मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना पूर्वक सब के लिये न्याय और अच्छी शिक्षा करें यह वि०

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥ २४ ॥

हꣳसः। शुचिषत्। शुचिसदिति शुचिऽसत्। वसुः। अन्तरिक्षसदित्यन्तरिक्षऽसत्। होता। वेदिषत्। वेदिसदिति वेदिऽसत्। अतिथिः। दुरोणसदिति दुरोणऽसत्। नृषत्। नृसदिति नृऽसत्। वरसदिति वरऽसत्। ऋतसदित्यृतऽसत्। व्योमसदिति व्योमऽसत्। अब्जा इत्यप्ऽजाः। गोजा इति गोऽजाः। ऋतजा इत्यृतऽजाः। अद्रिजा इत्यद्रिऽजाः। ऋतम्। बृहत्॥ २४॥

पदार्थः—(हꣳसः) यः संहन्ति सर्वान् पदार्थान् स जगदीश्वरः (शुचिषत्) यः शुचिषु पवित्रेषु पदार्थेषु सीदति सः (वसुः) वस्ता वासयिता वा (अन्तरिक्षसद्) योऽन्तरिक्षेऽवकाशे सीदति (होता) दाता ग्रहीताऽत्ता वा (वेदिषत्) वेद्यां पृथिव्यां सीदति (अतिथिः) अविद्यमाना तिथिर्यस्य तद्वन्मान्यः (दुरोणसत्) यो दुरोणे गृहे सीदति सः। दुरोणइति गृहना॰ निघं॰ ३। ४ (नृषत्) यो नृषु सीदति सः (वरसत्) यो वरेषूत्तमेषु पदार्थेषु सीदति सः (ऋतसत्) य ऋतेषु सत्येषु प्रकृत्यादिषु सीदति सः (व्योमसत्) यो व्योमनि सीदति सः (अब्जाः) योऽपो जनयति (गोजाः) यो गाः पृथिव्यादीन् जनयति (ऋतजाः)

यः सत्यविद्यामयं वेदं जनयति (अद्रिजाः) यो मेघपर्वतवृक्षादीन् जनयति सः (ऋतम्) सत्यस्वरूपम् (बृहत्) महद्ब्रह्म ॥२४॥

अन्वयः—हे मनुष्या भवन्तो यः परमेश्वरो हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसन्नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहदस्ति तमेवोपासीरन् ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वव्यापकं पवित्रकरं ब्रह्मैवोपास्यमस्ति । न खल्वेतस्योपासनेन विना किंचिदपि पूर्णं धर्मार्थकाममोक्षजं सुखं भवितुं शक्यम् ॥ २४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो आप लोगों को चाहिये कि जो परमेश्वर (हंसः) सब पदार्थों को स्थूल करता (शुचिषत्) पवित्र पदार्थों में स्थित (वसुः) निवास करता और कराता (अन्तरिक्षसत्) अवकाश में रहता (होता) सब पदार्थ देता ग्रहण करता और प्रलय करता (वेदिषत्) पृथिवी में व्यापक (अतिथिः) अभ्यागत के समान सत्कार करने योग्य (दुरोणसत्) घर में स्थित (नृषत्) मनुष्यों के भीतर रहता (वरसत्) उत्तम पदार्थों में बसता (ऋतसत्) सत्यप्रकृति आदि नाम वाले कारण में स्थित (व्योमसत्) पोल में रहता (अब्जाः) जलों को प्रसिद्ध करता (गोजाः) पृथिवी आदि तत्वों को उत्पन्न करता (ऋतजाः) सत्यविद्याओं के पुस्तक वेदों को प्रसिद्ध करता (अद्रिजाः) मेघ पर्वत और वृक्ष आदि को रचता (ऋतम्) सत्यस्वरूप और (बृहत्) सब से बड़ा अनन्त है उसी की उपासना करो ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि सर्वत्र व्यापक और पदार्थों की शुद्धि करने हारे ब्रह्म परमात्मा ही की उपासना करें क्योंकि उस की उपासना के विना किसी को धर्म अर्थ काम मोक्ष से होने वाला पूर्ण सुख कभी नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

इयदित्यस्य वामदेव ऋषिः । सूर्यो देवता । आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

मनुष्यैः किमर्थं ब्रह्मोपासनीयमित्यु० ॥
मनुष्य ईश्वर की उपासना क्यों करे यह वि०

इयंदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्ज्जम्मयि धेहि । इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहूऽअभ्युपावहरामि ॥ २५ ॥

इयत् । असि । आयुः । असि । आयुः । मयि । धेहि । युङ् । असि । वर्चः । असि । वर्चः । मयि । धेहि । ऊर्क् । असि । ऊर्जम् । मयि । धेहि । इन्द्रस्य । वाम् । वीर्यकृतइति वीर्यऽकृतः । बाहूइति बाहू । अभ्युपावहरामीत्यभिऽउपावहरामि ॥ २५ ॥

पदार्थः—(इयत्) एतावत्परिमाणम् (असि)(आयुः) जीवनम् (असि) (आयुः) (मयि) जीवात्मनि (धेहि) (युङ्) समाधाता (असि) (वर्चः) स्वप्रकाशम् (असि) (वर्चः) (मयि) (धेहि) (ऊर्क्) बलवान् (असि) (ऊर्जम्) (मयि) (धेहि) (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यस्य (वाम्) युवयोः राजप्रजाजनयोः (वीर्य्यकृतः) यो वीर्य्यं करोति तस्य (बाहू) बाधते याभ्यां बलवीर्य्याभ्यां तौ (अभ्युपावहरामि) योऽभितः सामीप्येऽर्वाक् स्थापयामि ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मंस्त्वमायुरसीयदायुर्मयि धेहि । त्वं युङ्ङसि वर्चोऽसि योगजं वर्चो मयि धेहि । त्वमूर्गस्यूर्जं मयि धेहि । हे राजप्रजाजनौ वीर्य्यकृत इन्द्रस्येश्वरस्याश्रयेण वां युवयोर्बाहू बलवीर्य्यं अहमभ्युपावहरामि ॥ २५ ॥

भावार्थः—य आत्मस्थं ब्रह्मोपासते ते शोभनं जीवनादिकमश्नुवते । नहि केनचिदीश्वरस्याश्रयमन्तरा पूर्णौ बलपराक्रमौ लभ्येते ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर आप (इयत्) इतना (आयुः) जीवन (मयि) मुझ में (धेहि) धरिये जिस से आप (युङ्) सब को समाधि कराने वाले (असि) हैं (वर्चः) स्वयं प्रकाश स्वरूप (असि) हैं इस कारण (ऊर्क्) अत्यन्त बलवान् (असि) हैं इस लिये (ऊर्जम्) बल पराक्रम को (मयि) मेरे में (धेहि) धारण कीजिये । हे राज और प्रजा के पुरुषो (वीर्य्यकृतः) बल पराक्रम को बढ़ाने हारे (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य्य और परमात्मा के आश्रय से (वाम्) तुम राज प्रजा पुरुषों के (बाहू) बल और पराक्रम को (अभ्युपावहरामि) सब प्रकार तुम्हारे समीप में स्थापन करता हूं ॥ २५ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य अपने हृदय में ईश्वर की उपासना करते हैं वे सुन्दर जीवन आदि के सुखों को भोगते हैं । और कोई भी पुरुष ईश्वर के आश्रय के विना पूर्ण बल और पराक्रम को प्राप्त नहीं हो सकता ॥२५॥

स्योनासीत्यस्य वामदेव ऋषिः । आसन्दी राजपत्नी देवता॥ भुरिगनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

स्त्रीणां न्यायो विद्यासुशिक्षे च स्त्रीभिरेव कार्य्ये नराणां नरैश्चेत्याह ॥

स्त्रियों का न्याय विद्या और उन को शिक्षा स्त्री लोग ही करें और पुरुषों के लिये पुरुष इस वि०

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि । स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥ २६ ॥

स्योना । असि । सुषदा । सुसदेति सुऽसदा । असि । क्षत्रस्य । योनिः । असि । स्योनाम् । आ । सीद । सुषदाम् । सुसदामिति सुऽसदाम् । आ । सीद । क्षत्रस्य । योनिम् । आ । सीद ॥ २६ ॥

पदार्थः—(स्योना) सुखरूपा (सुषदा) या शोभने व्यवहारे सीदति सा (असि) (क्षत्रस्य) राज्यन्यायस्य (योनिः) गृहे न्यायकर्त्री (असि) (स्योनाम्) सुखकारिकाम् (आ) (सीद) (सुषदाम्) शुभसुखदात्रीम् (आ) (सीद) (क्षत्रस्य) क्षत्रियकुलस्य (योनिम्) (आ) (सीद) ॥२६॥

अन्वयः—हे राज्ञि यतस्त्वं स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि तस्मात् स्योनां सुषदां क्षत्रस्य योनिं राजनीतिमासीद ॥ २६ ॥

भावार्थः—राजपत्नी सर्वासां स्त्रीणां न्यायशिक्षे च सदैव कुर्यात् । नैतासामेते पुरुषैः कारयितव्ये । कुतः पुरुषाणां समीपे स्त्रियो लज्जिता भीताश्च भूत्वा यथावद्वक्तुमध्येतुं च न शक्नुवन्त्यतः ॥ २६ ॥

पदार्थः—हे राणी जिस लिये आप (स्योना) सुखरूप (असि) हैं (सुषदा) सुन्दर व्यवहार करने वाली (असि) हैं (क्षत्रस्य) राज्य के न्याय के

(योनिः) करने वाली (असि) हैं । इस लिये आप (स्योनाम्) सुखकारक अच्छी शिक्षा में (आसीद) तत्पर हूजिये (सुषदाम्) अच्छे सुख देने हारी विद्या को (आसीद) अच्छे प्रकार प्राप्त कीजिये तथा कराइय और (क्षत्रस्य) क्षत्रिय कुल की (योनिः) राजनीति को (आसीद) सब स्त्रियों को जनाइये ॥ २६ ॥

भावार्थः—राजाओं की स्त्रियों को चाहिये कि सब स्त्रियों के लिये न्याय और अच्छी शिक्षा देवें और स्त्रियों का न्यायादि पुरुष न करें क्योंकि पुरुषों के सामने स्त्री लज्जित और भय युक्त होकर यथावत् बोल वा पढ़ ही नहीं सकती ॥ २६ ॥

निषसादेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । पिपीलिकामध्या विराड्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

राजवद्राजपत्नयोऽपि राजधर्ममाचरेयुरित्याह ॥

राजा के समान राणी भी राजधर्म का आचरण करे यह वि० ॥

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पुस्त्यास्वा । साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ २७ ॥

नि । ससाद । धृतव्रत इति धृतऽव्रतः । वरुणः । पुस्त्यासु । आ । साम्राज्यायेति साम्ऽराज्याय । सुक्रतुरिति सुऽक्रतुः ॥ २७ ॥

पदार्थः—(नि) नित्यम् (ससाद) सीदतु (धृतव्रतः) धृतानि सत्याचरणब्रह्मचर्यादीनि व्रतानि येन सः (वरुणः) पुरुषोत्तमः (पस्त्यासु) न्यायगृहेषु (आ) समन्तात् (साम्राज्याय) सम्राजां भवाय कर्मणे वा (सुक्रतुः) शोभना क्रतुः प्रज्ञा क्रिया वा यस्य सः ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे राज्ञि यथा तव धृतव्रतः सुक्रतुर्वरुणः पतिः साम्राज्याय पस्त्यास्वा निषसाद तथा तत्र त्वमपि न्यायं कुरु॥२७॥

भावार्थः—यथा सम्राट् साम्राज्यं पालितुं न्यायासने स्थित्वा पुरुषाणां सत्यं न्यायं कुर्य्यात्तथा राजपत्नी स्त्रीणां नित्यं न्यायं कुर्य्यात्। अतः किमागतं यादृशो नीतिविद्याधर्मयुक्तः स्वामी पुरुषाणां न्यायं कुर्य्यात्तादृश्येव तत्स्त्रिया भवितव्यमिति॥२७॥

पदार्थः—हे राणी जैसे आप का (धृतव्रतः) सत्य का आचरण और ब्रह्मचर्य्य आदि व्रतों का धारण करने हारा (सुक्रतुः) सुन्दर बुद्धि वा क्रिया से युक्त (वरुणः) उत्तमपति (साम्राज्याय) चक्रवर्त्ति राज्य होने और उस के काम करने के लिये (पस्त्यासु) न्यायघरों में (आ) निरन्तर (नि) नित्य ही (ससाद) बैठ के न्याय करे वैसे तू भी न्यायकारिणी हो॥२७॥

भावार्थः—जैसे चक्रवर्त्ती राजा चक्रवर्त्ती राज्य की रक्षा के लिये न्याय की गद्दी पर बैठ के पुरुषों का ठीक २ न्याय करे वैसे ही नित्यप्रति राणी लोग स्त्रियों का न्याय करें। इस से क्या आया कि जैसा नीति विद्या और धर्म से युक्त पति हो वैसी ही स्त्री को भी होना चाहिये॥२७॥

अभिभूरित्यस्य शुनःशेप ऋषिः। यजमानो देवता। धृतिश्छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनः स राजा कीदृशो भूत्वा कस्मै किं कुर्य्यादित्युप०

फिर वह राजा कैसा हो के किस के लिये क्या करे इस वि०

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्ताम्ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजाऽइन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य॥२८॥

अभिभूरित्यभिऽभूः । असि । एताः । ते । पञ्च । दिशः । कल्पन्ताम् । ब्रह्मन् । त्वम् । ब्रह्मा ॥ असि । सविता । असि । सत्यप्रसवइति सत्यऽप्रसवः । वरुणः । असि । सत्यौजाइति सत्यऽओजाः । इन्द्रः । असि । विशौजाः । रुद्रः । सुशेवइति सुऽशेवः । बहुकारेति । बहुऽकार । श्रेयस्कर । श्रेयःकरेति श्रेयःऽकर । भूयस्कर । भूयःकरेति भूयःऽकर । इन्द्रस्य । वज्रः । असि । तम् । मे । रध्य ॥ २८ ॥

पदार्थः—(अभिभूः) दुष्टानां तिरस्कर्त्ता (असि) (एताः) (ते) तव (पंच) पूर्वादयश्चतस्त्रोऽध ऊर्ध्वा चैका (दिशः) (कल्पन्ताम्) सुखयुक्ता भवन्तु (ब्रह्मन्) प्राप्तब्रह्मविद्य (त्वम्) (ब्रह्मा) चतुर्वेदाखिलराजप्रजासुखनिमित्तानां पदार्थानां निर्माता (असि) (सविता) ऐश्वर्योत्पादकः (असि) (सत्यप्रसवः) सत्येन कर्मणा प्रसव ऐश्वर्यं यस्य सः (वरुणः) वरस्वभावः (असि) (सत्यौजाः) सत्यमोजो बलं यस्य सः (इन्द्रः) सुखानां धाता । (असि) (विशौजाः) विशा प्रजया सहौजः पराक्रमो यस्य सः (रुद्रः) शत्रूणां दुष्टानां रोदयिता (असि) (सुशेवः) शोभनं शेवं सुखं यस्य सः । शेवमिति सुखना० निघं० ३ । ६ (बहुकार) बहूनां सुखानां कर्त्तः (श्रेयस्कर) कल्याणकर्त्तः (भूयस्कर) पुनःपुनरनुष्ठातः (इन्द्रस्य

ऐश्वर्यस्य (वज्रः) प्रापकः (असि) (तेन) (मे)मह्यम्(रध्य) संराध्नुहि ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे बहुकार श्रेयस्कर भूयस्कर ब्रह्मन् यथा यस्य ते तवैताः पंच दिशः कल्पेरन् तथा मम भवत्पत्न्याः कल्पन्ताम् । यथा त्वमभिभूरसि सवितासि सत्य प्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि विशौजाः सुशेवो रुद्रोसीन्द्रस्य वज्रोऽसि तथाऽहमपि भवेयं यथाऽहं येन तुभ्यमृद्धिसिद्धी कुर्यां तथा त्वं तेन मे रध्य ॥ २८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा पुरुषः सर्वदिक्सुकीर्त्तिर्वेदप्रवीणः सत्यकारी सर्वस्य सुखप्रदो धार्मिको जनो भवेत्तथा तत्पत्नी स्यात्ते राजधर्मे स्वीकृत्यास्मादृहु सुखं बहुश्रियं च प्राप्नुवन्तु ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे (बहुकार) बहुत सुखों (श्रेयस्कर) कल्याण और (भूयस्कर) बार २ अनुष्ठान करने वाले (ब्रह्मन्) आत्मविद्या को प्राप्त हुए जैसे जिस (ते)आपके (एताः) ये (पञ्च) पूर्व आदि चार और ऊपर नीचे एक (दिशः) पांच दिशा सामर्थ्य युक्त हों वैसे मेरे लिये आपकी पत्नी की कीर्ति से भी (कल्पन्ताम्) सुख युक्त होवें । जैसे आप (अभिभूः) दुष्टों का तिरस्कार करने वाले (असि) हैं (सविता) ऐश्वर्य के उत्पन्न करने हारे (असि) हैं (सत्यप्रसवः) सत्य की प्रेरणा से सुन्दर सुख युक्त (रुद्रः) शत्रु और दुष्टों को रुलाने वाले (असि) हैं (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य के (वज्रः) प्राप्त कराने हारे (असि) हैं वैसे मैं भी होऊं जैसे मैं आप के वास्ते ऋद्धि सिद्धि करूं वैसे (तेन) उस से (मे) मेरे लिये (रध्य) कार्य्य करने का सामर्थ्य कीजिये ॥ २८ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को चाहिये कि जैसा पुरुष सब दिशाओं में कीर्ति युक्त वेदों को जानने धनुर्वेद और अथर्ववेद की विद्या में प्रवीण सत्य करने और सब को सुख देने वाला धर्मात्मा पुरुष होवे उस की स्त्री भी वैसे ही होवे उन को राजधर्म में स्थापन करके बहुत सुख और बहुत सी शोभा को प्राप्त हों ॥ २८ ॥

अग्निरित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी जगती छन्दः । निषादःस्वरः ॥

पुनाराजप्रजाजनाः किंवत् किंकुर्युरित्याह ॥

फिर राजा और प्रजा के जन किस के समान क्या करें यह वि० ॥

अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणो अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा । स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वꣳसजातानां मध्यमेष्ठ्याय ॥२९॥

अग्निः । पृथुः । धर्मणः । पतिः । जुषाणः । अग्निः । पृथुः । धर्मणः । पतिः । आज्यस्य । वेतु । स्वाहा । स्वाहाकृता इति स्वाहाऽकृताः । सूर्यस्य । रश्मिभिरिति रश्मिऽभिः । यतध्वम् । सजातानामिति सऽजातानाम् । मध्यमेष्ठ्याय । मध्यमेस्थ्यायेति मध्यमेऽस्थ्याय ॥ २९ ॥

पदार्थः—(अग्निः) सूर्यइव (पृथुः) विस्तीर्णपुरुषार्थः (धर्मणः) धर्मस्य (पतिः) पालयिता (जुषाणः) सेवमानः (अग्निः) विद्युदिव (पृथुः) महान् (धर्मणः) न्यायस्य (पतिः) रक्षकः (आज्यस्य) घृतादेर्हविषः (वेतु) व्याप्नोतु (स्वाहा) सत्यया क्रियया (स्वाहाकृताः) याः स्वाहा सत्यां क्रियां कुर्वन्ति ताः (सूर्यस्य) (रश्मिभिः) (यतध्वम्) (सजातानाम्) जा

तैः सह वर्त्तमानानाम् (मध्यमेष्ठ्याय) मध्ये पक्षपातरहिते भवे न्याये तिष्ठति तस्य भावाय ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे राजन् राज्ञि वा यथा पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणोऽग्निः सजातानां मध्यमेष्ठ्याय स्वाहाऽऽज्यस्य वेति । सूर्य्यस्य रश्मिभिः सह हविः प्रसार्य्य सुखयति तथा धर्मणस्पतिः पृथुर्जुषाणोऽग्निर्भवान् राष्ट्रं वेतु तथा च हे स्वाहाकृताः सभासदः स्त्रियो यूयमपि प्रयतध्वम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—हे राजप्रजाजना यूयं यथा सूर्य्यप्रसिद्धविद्युदग्निवद्वर्त्तित्वा पक्षपातं विहाय समानजन्मसु मध्यस्थाः सन्तो न्यायं कुरुत । तथाऽयमग्निः सवितृप्रकाशो वायौ च सुगन्धं द्रव्यं प्राप्य वायुजलौषधिशुद्धिद्वारा सर्वान् प्राणिनः सुखयति तथा न्याययुक्तैः कर्मभिः सहचरिता भूत्वा सर्वाः प्रजाः सुखयत ॥ २९ ॥

पदार्थः—हे राजन् वा राणि जैसे (पृथुः) महापुरुषार्थ युक्त धर्म का (पतिः) रक्षक (जुषाणः) सेवक (अग्निः) बिजुली समान व्यापक (सजातानाम्) उत्पन्न हुए पदार्थों के साथ वर्त्तमान पदार्थों के (मध्यमेष्ठ्याय) मध्य में स्थित हो के (स्वाहा) सत्य क्रिया से (आज्यस्य) घृत आदि होम के पदार्थों को प्राप्त कराता हुआ (सूर्य्यस्य) सूर्य्य की (रश्मिभिः) किरणों के साथ होम किये पदार्थों को फैला के सुख देता है वैसे (धर्मणः) न्याय के (पतिः) रक्षक (पृथुः) बड़े (जुषाणः) सेवा करने वाला (अग्निः) तेजस्वी आप राज्य को (वेतु) प्राप्त हूजिये । वैसे ही हे (स्वाहाकृताः) सत्य काम करने वाले सभासद पुरुषो वा स्त्री लोगो तुम (यतध्वम्) प्रयत्न किया करो ॥ २९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलु० हे राज और प्रजा के पुरुषो तथा राजा वा राणी के सभासदो तुम लोग सूर्य्य प्रसिद्ध और विद्युत् अग्नि के समान वर्त्त

पक्षपात छोड़ एक जन्म में मध्यस्थ हो के न्यायकरो । वैसे यह अग्नि सूर्य्य के प्रकाश में और वायु में सुगन्धि युक्त द्रव्यों को प्राप्त करा वायु जल और ओषधियों की शुद्धि द्वारा सब प्राणिओं को सुख देता है वैसे ही न्याय युक्त कर्मों के साथ आचरण करने वाले हो के सब प्रजाओं को सुख युक्त करो ॥ २९ ॥

सवित्रेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । सवित्रादिर्मंत्रोक्ता देवताः । स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कीदृग्गुणैः सह राज्ञा राज्ञ्या वा भवितव्यमित्यु० ॥

राजा वा राणी को कैसे गुणों से युक्त होना चाहिये इस० ॥

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाऽग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि ॥ ३० ॥

सवित्रा । प्रसवित्रेति प्रऽसवित्रा । सरस्वत्या । वाचा । त्वष्ट्रा । रूपैः । पूष्णा । पशुभिरिति पशुऽभिः । इन्द्रेण । अस्मइत्यस्मे । बृहस्पतिना । ब्रह्मणा । वरुणेन । ओजसा । अग्निना । तेजसा । सोमेन । राज्ञा । विष्णुना । दशम्या । देवतया । प्रसूतइति प्रऽसूतः । प्र । सर्पामि ॥ ३० ॥

पदार्थः—(सवित्रा) प्रेरकेन वायुना (प्रसवित्रा) सकलचेष्टोत्पादकेनेव शुभकर्मणा (सरस्वत्या) प्रशस्तविज्ञानक्रियायुक्तया

(वाचा) वेदवाण्येव सत्यभाषणेन (त्वष्ट्रा) छेदकेन प्रतापिना सूर्य्येणेव न्यायेन (रूपैः) सुखस्वरूपैः (पूष्णा) पृथिव्या । पूषेति पृथिवीना० । निघं० १ । १ (पशुभिः) गवादिभिरिव प्रजायाः पालनेन (इन्द्रेण) विद्युदिवैश्वर्येण (अस्मे)अस्माभिः (बृहस्पातिना) बृहतां पालकेन चतुर्वेदविदा विदुषेव विद्यासुशिक्षाप्रचारेण (ब्रह्मणा) वेदार्थज्ञानेन ज्ञापनेनेवोपदेशकेन(वरुणेन) वरेण जलसमूहेनेव शान्त्या (ओजसा) बलेन (अग्निना) पावकेन (तेजसा) तीक्ष्णेन ज्योतिषेव शत्रुदाहकत्वेन (सोमेन) चन्द्रेण प्रकाशमानेनेवाह्लादकत्वेन (राज्ञा) प्रकाशमानेन (विष्णुना) व्यापकेन परमेश्वरेणेव शुभगुणकर्मस्वभावेन (दशम्या) दशानां पूरिकया (देवतया) देदीप्यमानया सह (प्रसूतः) प्रेरितः (प्र)प्रगतः (सर्पामि) चलामि॥ ३० ॥

अन्वयः—हे प्रजाराजजना यथाऽहंप्रसवित्रा सावित्रा सारस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे ब्रह्मणा बृहस्पतिनौजसा वरुणेन तेजसाऽग्निना राज्ञा सोमेन दशम्या देवतया विष्णुना च सह प्रसूतः सन् प्रसर्पामि तथा यूयमपि प्रसर्पत ॥ ३० ॥

भावार्थः—यो जनः सूर्यादिगुणयुक्तः पितृवत्प्रजापालकः स्यात् स राजा भवितुं योग्यः । यश्चैवं पुत्रवद्वर्त्तमानो भवेत्स प्रजा भवितुमर्हति ॥ ३० ॥

पदार्थः—हे प्रजा और राजपुरुषो जैसे मैं (प्रसवित्रा) प्रेरणा करने वाले वायु (सावित्रा) संपूर्ण चेष्टा उत्पन्न कराने हारे के समान शुभ कर्म (सरस्वत्या) प्रशंसित विज्ञान और क्रिया से युक्त (वाचा) वेद वाणी के समान सत्य भाषण (त्वष्ट्रा) छेदक और प्रताप युक्त सूर्य के समान न्याय (रूपैः) सुखरूप (पूष्णा) पृथिवी

(पशुभिः) गौ आदि पशुओं के समान प्रजा के पालन (इन्द्रेण) बिजुली (अस्मे) हम (बृहस्पतिना) बड़ों के रक्षक चार वेदों के जानने हारे विद्वान् के समान विद्या और सुन्दर शिक्षा के प्रचार (ओजसा) बल (वरुणेन) जल के समुदाय (तेजसा) तीक्ष्ण ज्योति के समान शत्रुओं के चलाने (अग्निना) अग्नि(राज्ञा)प्रकाशमान आनन्द के होने (सोमेन) चन्द्रमा (दशम्या) दशसंख्या को पूर्ण करने वाली (देवतया) प्रकाशमान और (विष्णुना) व्यापक ईश्वर के समान शुभ गुण कर्म और स्वभाव से (प्रसूतः) प्रेरणा किया हुआ मैं (प्रसर्पामि) अच्छे प्रकार चलता हूं। वैसे तुम लोग भी चलो ॥ ३० ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सूर्य्यादि के गुणों से युक्त पिता के समान रक्षा करने हारा हो वह राजा होने के योग्य है। और जो पुत्र के समान वर्त्तमान करे वह प्रजा होने योग्य है ॥ ३० ॥

अश्विभ्यामित्यस्य शुनःशेप ऋषिः। सभापतिर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः कीदृशा भूत्वा किं कुर्युरित्यु०॥

फिर मनुष्य कैसे हो के क्या करें यह वि० ॥

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व। वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्सोमो अतिस्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३१ ॥

अश्विभ्यामित्यश्विऽभ्याम्। पच्यस्व। सरस्वत्यै पच्यस्व। इन्द्राय। सुत्राम्णइति सुऽत्राम्णे। पच्यस्व। वायुः। पूतः। पवित्रेण। प्रत्यङ्। सोमः। अतिस्रुतइत्यतिऽस्रुतः। इन्द्रस्य। युज्यः। सखा ॥ ३१ ॥

पदार्थः-(अश्विभ्याम्) सूर्याचन्द्रमोभ्यामिवाऽध्यापकोपदेशकाभ्याम् (पच्यस्व) परिपक्वो भव (सरस्वत्यै) सुशिक्षितायै वाचे (पच्यस्व) (इन्द्राय) परमैश्वर्याय (सुत्राम्णे) सुष्ठु रक्षकाय (पच्यस्व) (वायुः) वायुरिव (पूतः) (पवित्रेण) शुद्धेन धर्माचरणेन निर्दोषः (प्रत्यङ्) प्रत्यंचतीति पूजितो भव (सोमः) ऐश्वर्यवान् सोमगुणसंपन्नो वा (अतिस्रुतः) अत्यंतज्ञानवान् (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (युज्यः) युक्तः (सखा) मित्रः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजन त्वमश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्व सुत्राम्णइन्द्राय पच्यस्व । पवित्रेण वायुरिव पूतः प्रत्यङ् सोमोऽतिस्रुत इन्द्रस्य युज्यः सखा भव ॥ ३१ ॥

भावार्थः—मनुष्या आप्तयोरध्यापकोपदेशकयोः सकाशात्सुशिक्षां प्राप्य शुद्धैर्धर्माचरणैः स्वात्मानं पवित्रीकृत्य योगाङ्गैरीश्वरमुपास्यैश्वर्याय प्रयतन्ते परस्परं सखायो भवन्तु ॥ ३१ ॥

पदार्थः—हे राजा तथा प्रजा पुरुषो तुम (अश्विभ्याम्) सूर्य चन्द्रमा के समान अध्यापक और उपदेशक (पच्यस्व) शुद्धबुद्धिवाले हो (सरस्वत्यै) अच्छी शिक्षा युक्त वाणी के लिये (पच्यस्व) उद्यत हो (सुत्राम्णे) अच्छी रक्षा करने हारे (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (पच्यस्व) दृढ़ पुरुषार्थ करो (पवित्रेण) शुद्धधर्म के आचरण से (वायुः) वायु के समान (पूतः) निर्दोष (प्रत्यङ्) पूजा को प्राप्त (सोमः) अच्छे गुणों से युक्त ऐश्वर्यवाले (अतिस्रुतः) अत्यन्त ज्ञान वान् (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (युज्यः) योगाभ्यास सहित (सखा) मित्र हो ॥ ३१ ॥

भावार्थः—मनुष्य को चाहिये कि सत्यवादी धर्मात्मा आप्त अध्यापक और उपदेशक से अच्छी शिक्षा को प्राप्त हो शुद्ध धर्म के आचरण से अपने आत्मा को पवित्र

योग के अङ्गों से ईश्वर की उपासना और संपत्ति होने के लिये प्रयत्न कर के आपस में मित्र भाव से वर्त्तें ॥ ३१ ॥

कुविदङ्गेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । सभापतिर्देवता । निचृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

राजादिसभ्यैः प्रजायै किंवत्किं किङ्कर्त्तव्यमित्याह ॥

राजा आदि सभा के पुरुष किस के तुल्य क्या२ करें यह वि० ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं विपूयं । इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति । उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३२ ॥

कुवित् । अङ्ग । यवमन्त इति यवऽमन्तः । यवम् । चित् । यथा । दान्ति । अनुपूर्वमित्यनुऽपूर्वम् । विपूयेति विऽपूय । इहेहेतीहऽइह । एषाम् । कृणुहि । भोजनानि । ये । बर्हिषः । नमउक्तिमिति नमःऽउक्तिम् । यजन्ति । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । अश्विभ्यामित्यश्विऽभ्याम् । त्वा । सरस्वत्यै । त्वा । इन्द्राय । त्वा । सुत्राम्णइति सुऽत्राम्णे ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(कुवित्) बह्वैश्वर्य्यः । कुविदिति बहुना० निघं० ३ । १ । (अङ्ग) योऽङ्गति जानाति तत्सम्बुद्धौ (यवमन्तः) बहवो यवा विद्यन्ते येषां ते कृषीबलाः (यवम्) (चित्) अपि (यथा) (दान्ति) लुनन्ति (अनुपूर्वम्) क्रमशः (वियूय) बुसादिकं पृथक्कृत्य (इहेह) अस्मिन्नस्मिन्व्यवहारे (एषाम्) कृषीबलानाम् (कृणुहि) कुरु (भोजनानि) (ये) (बर्हिषः) वृद्धाः (नमउक्तिम्) नमसोऽन्नस्योक्तिं वचनम् (यजन्ति) संगच्छन्ते (उपयामगृहीतः) ब्रह्मचर्यनियमैः स्वीकृतः (असि) (अश्विभ्याम्) व्याप्तविद्याभ्यां शिक्षकाभ्याम् (त्वा) त्वाम् (सरस्वत्यै) विद्यायुक्तवाचे (त्वा) (इन्द्राय) उत्तमैश्वर्य्याय (त्वा) (सुत्राम्णे) सुष्ठुत्राणाय ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे अंग राजन् यः कुवित्त्वमश्विभ्यामुपयामगृहीतोऽसि तं सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा वयं स्वीकुर्मः । ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति तेभ्यः सत्कारेण भोजनादीनि देहि । यथा यवमन्त इहेह यवमनुपूर्वं दान्ति बुसादियवं वियूय रक्षन्ति तथैषां सत्यासत्ये विविच्य रक्षणं कृणुहि ॥ ३२ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालं० यथा कृषीबलाः परिश्रमेण पृथिव्याः सकाशादनेकानि फलादीन्युत्पाद्य संरक्ष्य भुंजते निस्सारं त्यजन्ति यथा विहितं भागं राज्ञे ददाति तथैव राजादिभिर्जनैरतिश्रमेणैतान् संरक्ष्य न्यायेनैश्वर्य्यमुत्पाद्य सुपात्रेभ्यो दत्वाऽऽनन्दो भोक्तव्यः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे (अङ्ग) ज्ञानवान् राजन् जो (कुवित्) बहुत ऐश्वर्य्य वाले आप (अश्विभ्याम्) विद्या को प्राप्त हुए शिक्षक लोगों के लिये (उपयामगृहीतः) ब्रह्मचर्य्य के नियमों से स्वीकार किये (असि) हैं उन (सरस्वत्यै) विद्या युक्त वाणी के लिये (त्वा) आप को (इन्द्राय) उत्तम ऐश्वर्य्य के लिये (त्वा) आप को और (सुत्रामणे) अच्छी रक्षा के लिये (त्वा) आप को हम लोग स्वीकार करते हैं। उन के लिये सत्कार के साथ भोजन आदि दीजिये। जैसे (यवमन्तः) बहुत जौ आदि धान्य से युक्त खेती करने हारे लोग (इहेह) इस २ व्यवहार में (यवम्) यवादि अन्न को (अनुपूर्वम्) क्रम से (दान्ति) लुनते (काटते) हैं। भुस से (चित) भी (यवम्) जवों को (वियूय) पृथक् कर के रक्षा करते हैं वैसे सत्य असत्य को ठीक२ विचार के इन की रक्षा कीजिये ॥३२॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपमालं०—जैसे खेती करने वाले लोग परिश्रम के साथ पृथिवी से अनेक फलों को उत्पन्न और रक्षा करके भोगते और असार को फेंकते हैं और जैसे ठीक २ राज्य का भाग राजा को देते हैं वैसे ही राजा आदि पुरुषों को चाहिये कि अत्यन्त परिश्रम से इन की रक्षा न्याय के आचरण से ऐश्वर्य्य को उत्पन्न कर और सुपात्रों के लिये देतेहुए आनन्द को भोगें ॥ ३२ ॥

युवमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । अश्विनौ देवते । निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

सभासेनेशाभ्यां प्रयत्नतो वणिग्जनाः संरक्ष्याइत्याह ॥

सभा और सेनापति प्रयत्न से वैश्यों की रक्षा करें यह वि० ॥

युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा । विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥३३ ॥

युवम् । सुरामम् । अश्विना । नमुचौ । आसुरे

सचां । विपिपानेति विऽपिपाना । शुभः । पतीइति पती । इन्द्रम् । कर्मस्विति कर्मऽसु । आवतम् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(युवम्) युवाम् (सुरामम्) सुष्ठु रमन्ते यस्मिन् तम् (अश्विना) सूर्य्यचन्द्रमसाविव सभासेनेशौ (नमुचौ) न मुंचति स्वकीयं कर्म यस्तस्मिन् (आसुरे) असुरस्य मेघस्याऽयं व्यवहारस्तस्मिन् । असुरइति मेघना० निघं० १ । १० ॥ (सचा) सत्यसमवेतौ (विपिपाना) विविधं राज्यं रक्षमाणौ (शुभः) कल्याणकरस्य व्यवहारस्य (पती) पालयितारौ (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं धनिकम् (कर्मसु) कृष्यादिक्रियासु प्रवर्त्तमानम् (आवतम्) रक्षतम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे सचा विपिपाना शुभस्पती अश्विना युवं नमुचावासुरे कर्मसु वर्त्तमानं सुराममिन्द्रं सततमावतम् ॥ ३३ ॥

भावार्थः—दुष्टेभ्यः श्रेष्ठानां रक्षणायैव राजभावः प्रवर्त्तते । नहि राजरक्षणेन विना कस्यचित्कर्मचारिणः कर्मणि निर्विघ्नेन प्रवृत्तिर्भवितुं योग्याऽस्ति न च खलु प्रजाजनाऽनुकूल्यमन्तरा राजपुरुषाणां सुस्थिरता जायते तस्माद्गनसिंहवत्परस्परं सहायेन सर्वे राजप्रजाजनाः सदा सुखिनः स्युः ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे (सचा) मिले हुए (विपिपाना) विविध राज्य के रक्षक (शुभः) कल्याण कारक व्यवहार के (पती) पालन करने हारे (अश्विना) सूर्य्य चन्द्रमा के समान सभापति और सेनापति (युवम्) तुम दोनों (नमुची) जो अपने कर्म को न छोड़े (आसुरे) मेघ के व्यवहार में (कर्मसु) खेती आदि कर्मों में वर्त्तमान (सुरामम्) अच्छी तरह जिस में रमण करें ऐसे (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्य वाले धनी की निरन्तर (आवतम्) रक्षा करो ॥ ३३ ॥

भावार्थः—दुष्टों से श्रेष्ठों की रक्षा के लिये ही राजा होता है राज्य की रक्षा के विना किसी चेष्टावान् नर की कार्य में निर्विघ्न प्रवृत्ति कभी नहीं हो सकती । और न प्रजा जनों के अनुकूल हुए विना राजपुरुषों की स्थिरता होती है ॥ इसलिये वन के सिंहों के समान परस्पर सहायी हो के सब राज और प्रजा के मनुष्य सदा आनन्द में रहें ॥ ३३ ॥

पुत्रमिवेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । अश्विनौ देवते । भुरिक् पंक्तिश्छन्दः । पंचमः स्वरः ॥

राजप्रजे पितापुत्रवद्वर्त्तेयातामित्याह ॥

राजा और प्रजा को पिता पुत्र के समान वर्त्तना चाहिये यह वि० ॥

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंꣳसनाभिः । यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ३४ ॥

पुत्रमिवेति पुत्रम्ऽइव । पितरौ । अश्विना । उभा । इन्द्र । आवथुः । काव्यैः । दꣳसनाभिः । यत् । सुरामम् । वि । अपिबः । शचीभिः । सरस्वती । त्वा । मघवन्निति मघऽवन् । अभिष्णक् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(पुत्रमिव) यथाऽपत्यानि (पितरौ) जननीजनकौ (अश्विना) सभासेनेशौ (उभा) द्वौ (इन्द्र) सर्वसभेशराजन् (आवथुः) सर्वं राज्यं रक्षेथाम् (काव्यैः) कविभिः परमविद्वद्भिर्धार्मिकैर्निर्मितैः (दंसनाभिः) कर्मभिः (यत्) यः (सुरामम्) शोभन आरामो येन रसेन तम् (व्यपिबः) विविधतया

पिब (शचीभिः) प्रज्ञाभिः (सरस्वती) विद्यासुशिक्षितावागि-व पत्नी (त्वा) त्वाम् (मघवन्) पूजितधनवन् (अभिष्णक्) उपसेवताम् । भिष्णज्, उपसेवायामिति कण्ड्वादिधातोर्लङि वि-करणप्रत्ययेन यको लुक् । अन्यत्काण्वं स्पष्टम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे मघवन्निन्द्र यत्त्वं शचीभिः सुरामं व्यपिबस्तं त्वा सरस्वत्यभिष्णक् । हे अश्विना राजाज्ञापितावुभौ सेनापतिन्यायाधीशौ युवां काव्यैर्दंसनाभिः पितरौ पुत्रमिव राज्यमावथुः ॥ ३४ ॥

भावार्थः—सर्वशुभगुणयुक्तो राजधर्ममाश्रितः धार्मिकोऽध्यापको युवा सन् हृद्यां स्वसदृशीं विदुषीं सुलक्षणां रूपलावण्यादि-गुणैः सुशोभितां स्त्रियमुद्वहेत् । या सततं पत्यनुकूला भवेत् । स्वयं च तदनुकूलः स्यात् । सामात्यभृत्यस्त्रीकः प्रजास्वामिनरीत्या पितृवद्वर्त्तेत प्रजाश्च पुत्रवत् । एवं परस्परं प्रेम्णा सहाऽऽह्लादिताः सर्वे स्युरिति ॥ ३४ ॥

अत्र राजप्रजाधर्मोक्तत्वादेतदर्थस्य पूर्वाऽध्यायार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

पदार्थः—हे (मघवन्) विशेष धन के होने से सत्कार के योग्य (इन्द्र) सब सभाओं के मालिक राजन् (यत्) जो आप (शचीभिः) अपनी बुद्धियों के बल से (सुरामम्) अच्छा आराम देने हारे रस को (व्यपिबः) विविध प्रकार से पीवें उस आप का (सरस्वती) विद्या से अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुई वाणी के समान स्त्री (अभिष्णक्) सेवन करे (अश्विना) राजा से आज्ञा को प्राप्त हुए (उभा) तुम दोनों सेनापति और न्यायाधीश (काव्यैः) परम विद्वान् धर्मात्मा लोगों ने किये (दंसनाभिः) कर्मों से (पितरौ) जैसे माता पिता (पुत्रम्) अपने सन्तान की रक्षा करते हैं वैसे सब राज्य की (आवथुः) रक्षा करो ॥ ३४ ॥

भावार्थः—सब अच्छे २ गुणों से युक्त राजधर्म का सेवने हारा धर्मात्मा अध्यापक और पूर्ण युवा अवस्था को प्राप्त हुआ पुरुष अपने हृदय को प्यारी

अपने योग्य अच्छे लक्षणों से युक्त रूप और लावण्य आदि गुणों से शोभायमान विद्वान् स्त्री के साथ विवाह करे। जो कि निरन्तर पति के अनुकूल हो। और पति भी उस के संमति का हो। राजा अपने मंत्री नौकर और स्त्री के सहित प्रजाओं में सत्पुरुषों की रीति पर पिता के समान और प्रजा पुरुष पुत्र के समान राजा के साथ वर्तें। इस प्रकार आपस में प्रीति के साथ मिल के आनंदित होवें ॥ ३४ ॥

इस अध्याय में राजा प्रजा के धर्म का वर्णन होने से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां श्रीमत्परमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वती स्वामिना निर्मिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये दशमोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥ १० ॥